भा० दि० जैनसंघ-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य—

प्राकृत, संस्कृत आदि में निबद्ध दि० जैनागम, दर्शन,
साहित्य, पुराण आदि का यथा सम्भव हिन्दी
अनुवाद सहित प्रकाशन करना



सञ्चालक—

भा० दि० जैन संघ

ग्रन्थाङ्क १-१

प्राप्तिस्थान—

मैनेजर,
भा० दि० जैन संघ,
चौरासी, मथुरा

मुद्रक—हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, काशी

स्थापनाब्द] प्रति १००० [वी० नि० सं० २४६८

The D. Jain Sangh Granthamala No.

KASĀYA-PĀHUDAM

BY

GUNADHARĀCHĀRYA

WITH

THE CHURNI SUTRA OF YATIVRASHABHĀCHĀRYA

AND

THE COMMENTARY JAYADHAVALĀ OF VEERSENACHĀRYA UPON BOTH

[Pejjadosa Vihatti I.]

EDITED BY

Pandit Phul Chandra Siddhant Shastri,
EX-JOINT EDITOR OF DHAVALA.

Pandit Mahendra Kumar Nyayacharya,
JAIN PRACHINA NYAYATIRTH, LECTURER IN NYAYA,
SYADVAD VIDYALAYA, BENARES.

Pandit Kailash Chandra Siddhant Shastri,
NYAYATIRTHA, PRADHANADHYAPAK,
SYADVAD VIDYALAYA, BENARES.

PUBLISHED BY

Secretary, Publication Department

ALL-INDIA DIGAMBAR JAIN SANGHA
CHAURASI, MUTTRA.

VIKRAM YEAR 2000] VIR-SAMVAT 2470 [1944 A.D.

PRICE Rs. TEN ONLY.

THE D. JAIN SANGHA GRANTHMALA

The aim of this Series—

To published the D. Jain Agamas, Darshanas (philosophical books), Puranas, the Sahitya books etc. written in Prakrit, Samskrit, etc. (as far as possible with Hindi Commentary and translation.)

DIRECTOR :

THE BHARATWARSHIYA DIGAMBAR JAIN SANGHA

VOL. I. NO. I.

To be had from—

MANAGER,

THE D. JAIN SANGHA,

CHAURASI, MUTTRA.

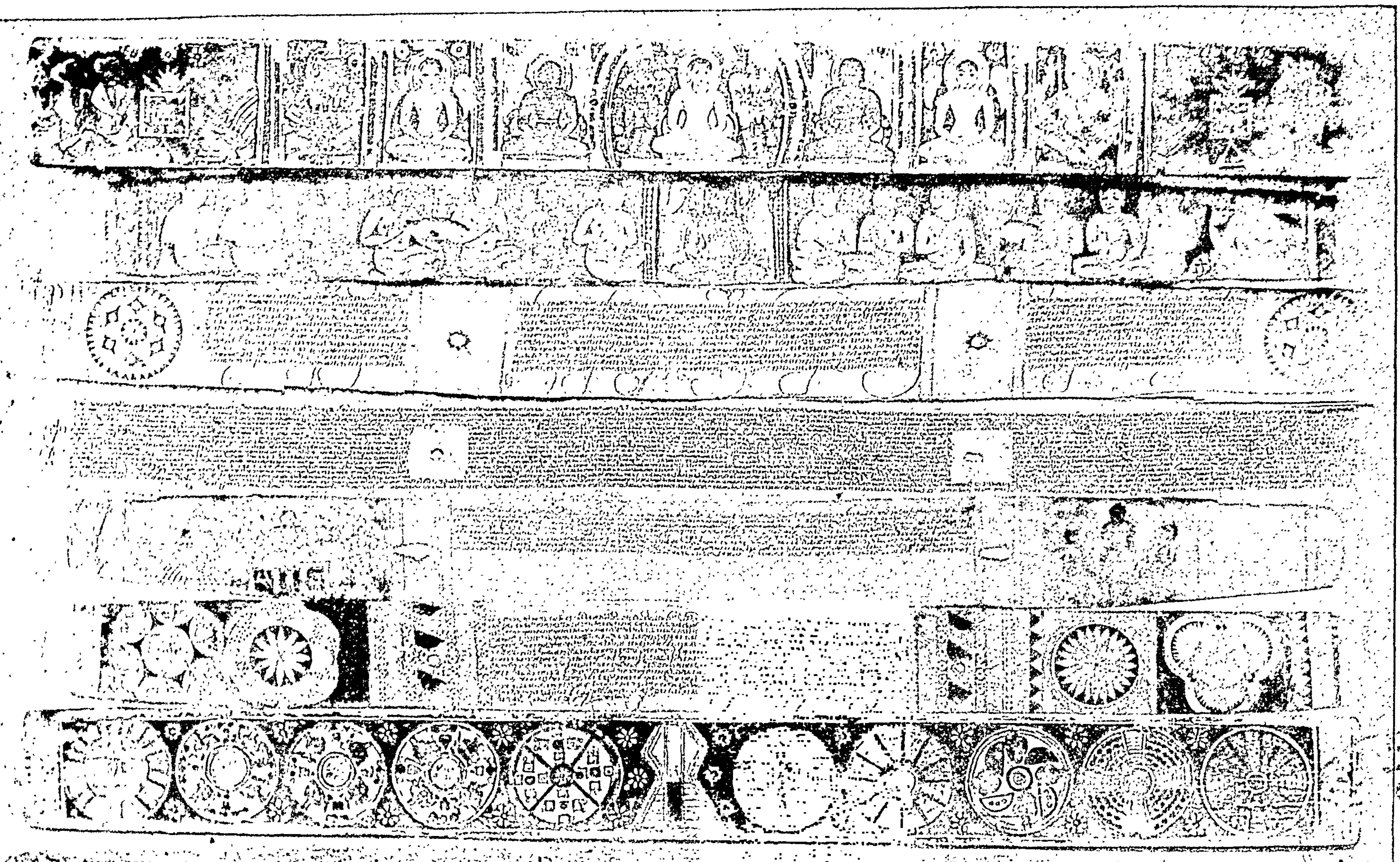
Printed by—RAMA KRISHNA DAS,

AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS, BENARES.

Foundation year.] **Copies 1000.** **[Vir Nirvan Samvat 2468.**

इस भागकी विषयसूची

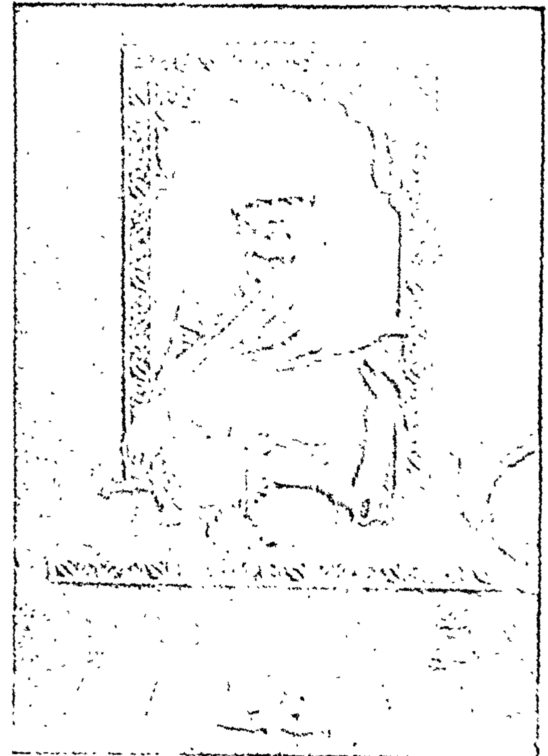




मूडबिद्रीमें सिद्धान्त ग्रंथोंके कुछ खुले हुए सचित्र व लिखित ताड़पत्र.



मूडबिद्रीके वर्तमान भट्टारक
चारुकीर्ति स्वामी



मूडबिद्रीके स्वर्गीय भट्टारक
चारुकीर्ति स्वामी

चित्रपरिचय

१ इस चित्रमें सात ताड़पत्र हैं। जिनमेंसे ऊपरसे नीचेकी ओर पहला, दूसरा और तीसरा ताड़पत्र श्रीधवलग्रन्थराजका है, चौथा और छठा ताड़पत्र श्रीमहाधवल ग्रन्थराजका है, तथा पाँचवाँ ताड़पत्र श्रीजयधवलग्रन्थका है। इस पत्रके बीचमें कनाडीका हस्तलेख तथा आजुबाजू चित्र हैं।

२ ये मूड़विद्रीके स्वर्गीय भट्टारक श्री चारुकीर्तिस्वामी हैं। आप संस्कृतके अच्छे ज्ञाता थे, तथा अन्य अनेक भाषाओंके भी जानकार थे। आपने कितने ही मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया व पंचकल्याणादि कराये। आपके ही समयमें श्रीधवल और जयधवलकी प्रतिलिपियाँ हुई थीं—और तीसरे सिद्धान्तग्रन्थ महाधवलकी प्रतिलिपिका कार्य भी प्रारम्भ हो गया था।

३ ये मूड़विद्रीके वर्तमान भट्टारक श्रीचारुकीर्तिस्वामी हैं। आप अनेक भाषाओंके ज्ञाता हैं। आपके ही समयमें श्रीमहाधवलकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई। आपके ही उदार विचारोंका यह सुफल है कि यहांकी पंचायत द्वारा श्रीमहाधवलकी प्रतिलिपि जिज्ञासु समाजको प्राप्त हो सकी है। तथा श्रीधवल और जयधवल सिद्धान्तग्रन्थोंके संशोधन और प्रकाशन कार्यमें आपकी ओरसे पूरी सहायता मिल रही है।



प्रकाशककी ओरसे

यह परम सन्तोषकी बात है कि दि० जैन संघ-ग्रन्थमालाका श्रीगणेश एक ऐसे महान ग्रन्थराजके प्रकाशनसे हो रहा है, जिसका श्रीवीर भगवानकी द्वादशाङ्ग वाणीसे साक्षात् सम्बन्ध है। जिस समय श्रीजयधवलाजीके प्रकाशनका विचार किया गया था उस समय भी यूरूपमें महाभारत मचा हुआ था। किन्तु सम्पादनका कार्य प्रारम्भ होनेके डेढ़ मास बाद ही भारतके पूर्वमें भी युद्धकी आग भड़क उठी और वह बढ़ती हुई कुछ ही समयमें भारतके द्वार तक आ पहुँची। उस समय एक ओर तो काशी खतरनाक क्षेत्र घोषित कर दिया गया, दूसरी ओर प्रयत्न करने पर भी कागजकी व्यवस्था हो सकना अशक्य सा जान पड़ने लगा। खैर, हिम्मत करके जिस किसी तरहसे कागजका प्रबन्ध किया गया और पटनासे बिल्टी भी बनकर आ गई। किन्तु उसके दो चार दिन बाद ही देशमें विप्लव सा मच गया। पटना स्टेशन और बी० एन० डब्ल्यू रेलवे पर जो कुछ बीती उसे सुनकर कागजके सकुशल बनारस आनेकी आशा ही जाती रही। किन्तु सौभाग्यसे कागज सकुशल आ गया, और इन अनेक कठिनाइयोंको पार करके यह पहला खण्ड छपकर प्रकाशित हो रहा है। कागजके इस दुष्कालमें पुस्तकोपयोगी वस्तुओंका मूल्य कितना अधिक बढ़ गया है और सरकारी नियन्त्रणके कारण कागजकी प्राप्ति कितनी कठिन है, यह आज किसीको बतलानेकी जरूरत नहीं है। फिर भी मूल्य वही रखा गया है, जो धवलाके लिये निर्धारित किया जा चुका है। इसका श्रेय जिन संकोचशील उदार दानीको है उनका ब्लाक वगैरह देकर हम उनका परिचय देना चाहते थे, किन्तु उन्होंने अपनी उदारतावश नाम भी देना स्वीकार नहीं किया। अतः उनके प्रति किन शब्दोंमें मैं अपनी कृतज्ञताका ज्ञापन करूँ। मैं उनका आभार सादर स्वीकार करता हूँ।

इस ग्रन्थके प्रकाशमें आनेका इतिहास धवलाके प्रथम भागमें दिया जा चुका है। यदि मूडबिद्रीके पूज्य भट्टारक और पंच महानुभावोंने सिद्धान्तग्रन्थोंकी रक्षा इतनी तत्परतासे न की होती तो कौन कह सकता है कि जैनवाङ्मयके अन्य अनेक ग्रन्थरत्नोंकी तरह ये ग्रन्थरत्न भी केवल इतिहासकी वस्तु न बन जाते। उन्हींकी उदारतासे आज मूलप्रतियोंके साथ मिलान होकर सिद्धान्तग्रन्थोंका प्रकाशन प्रामाणिकताके साथ हो रहा है। अतः मैं पूज्य भट्टारकजी तथा सम्माननीय पंचोंका आभार सादर स्वीकार करता हूँ।

काशीमें गङ्गा तटपर स्थित स्व० बा० छेदीलालजीके जिनमन्दिरके नीचेके भागमें जयधवलाका कार्यालय स्थित है और यह सब स्व० बाबू सा० के सुपुत्र धर्मप्रेमी बाबू गणेशदासजीके सौजन्य और धर्म प्रेमका परिचायक है। अतः मैं बाबू सा० का हृदयसे आभारी हूँ।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशीके अकलंक सरस्वतीभवनको पूज्य पं० गणेशप्रसादजीने अपनी धर्ममाता स्व० चिरोंजीबाईकी स्मृतिमें एक निधि समर्पित की है जिसके ब्याजसे प्रतिवर्ष विविधविषयोंके ग्रन्थोंका संकलन होता रहता है। विद्यालयके व्यवस्थापकोंके सौजन्यसे उस ग्रन्थसंग्रहका उपयोग जयधवलाके सम्पादन आदिमें किया जा सका है। अतः पूज्य पं० जी तथा विद्यालयके व्यवस्थापकोंका मैं आभारी हूँ।

इस प्रकाशन कार्यमें प्रारम्भसे ही धवलाके सम्पादक प्रो० हीरालालजी अमरावतीका प्रेमपूर्ण सहयोग रहा है। उन्हींके द्वारा पं० हीरालालजीसे जयधवलाकी प्रेस कापी प्राप्त हो सकी और उन्होंने मूडबिद्रीकी ताड़पत्रकी प्रतिके साथ उसके मिलानकी पूरी व्यवस्था की, तथा कुछ ब्लाक भी भेजनेकी उदारता दिखलाई। अतः मैं उनका तथा पं० हीरालालजीका आभारी हूँ।

प्रति मिलानका कार्य सरस्वतीभूषण पं० लोकनाथ जी शास्त्रीने अपने सहयोगी दो विद्वानोंके साथ बड़े परिश्रमसे किया है। किन्हीं स्थलोंका बारबार मिलान करवानेपर भी आपने बराबर मिलान करके भेजनेका कष्ट उठाया तथा मूडबिद्रीकी श्री जयधवलाकी प्रतियोंका परिचय भी लिखकर भेजा। अतः मैं पं० जी तथा उनके सहयोगियोंका आभारी हूँ।

सहारनपुरके स्व० लाला जम्बूप्रसादजीके सुपुत्र रायसाहब लाला प्रद्युम्नकुमारजीने अपने श्रीमन्दिरजी की श्री जयधवलाजी की उस प्रतिसे मिलान करने देनेकी उदारता दिखलाई जो उत्तर भारतकी आद्य प्रति है। अतः मैं लाला सा० का हृदयसे आभारी हूँ। जैनसिद्धान्तभवन आराके पुस्तकाध्यक्ष पं० भुजवलि शास्त्रीके सौजन्यसे भवनसे सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतियाँ तथा अन्य आवश्यक पुस्तकें प्राप्त हो सकी हैं। तथा पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीकी आज्ञासे सागर विद्यालयके भवनकी प्रतियाँ मंत्री पं० मुन्नालालजी रांधेलीयने देनेकी उदारता की है। अतः मैं उक्त सभी महानुभावोंका आभारी हूँ।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने राजाराम कालिज कोल्हापुरके कनाड़ीके प्रो० सा० से जयधवलाकी प्रतिके अन्तमें उपलब्ध कन्नड प्रशस्तिका अंग्रेजी अनुवाद कराकर भेजनेका कष्ट किया था जो इस भागमें नहीं दिया जा सका। अतः मैं प्रो० उपाध्ये तथा उनके मित्र प्रोफेसर सा० का हृदयसे आभारी हूँ। हिन्दू वि० वि० प्रेसके मैनेजर पं० प्यारेलाल भार्गवका भी मैं आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता, जिनके प्रयत्नसे कागजकी प्राप्ति होनेसे लेकर जिल्द बंधाई तक सभी कार्य सुकर हो सका।

सम्पादनकी तरह प्रकाशनका भी उत्तरदायित्व एक तरहसे हम तीनोंपर ही है। अतः मैं अपने सहयोगी सम्पादकों खास करके न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका आभार स्वीकार करके उनके परिश्रमको कम करना नहीं चाहता जो उन्होंने इस खण्डके प्रकाशनमें किया है। अन्तमें संघके प्राण उसके सुयोग्य प्रधानमंत्री पं० राजेन्द्रकुमारजीका भी स्मरण किये बिना नहीं रह सकता, जिनके कन्धोंपर ही यह सब भार है। हम लोगोंकी इच्छा थी कि इस खण्डमें उनका भी ब्लाक रहे किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

यह कार्य महान है और उसका भार तभी सम्हाला जा सकता है जब सभीका उसमें सहयोग रहे। अतः मेरा उक्त सभी महानुभावों और सज्जनोंसे इसी प्रकार अपना सहयोग बनाये रखनेका अनुरोध है। दूसरे भागका अनुवाद भी तैयार है। आशा है हम दूसरा भाग भी पाठकोंके करकमलोंमें शीघ्र ही दे सकेंगे।

काशी
कार्तिक पूर्णिमा
वी० नि० सं० २४७०

कैलाशचन्द्र शास्त्री

सम्पादकीय-वक्तव्य

दो वर्ष हुए, हम लोगोंने कार्तिकशुक्ला तृतीया वीर नि० संवत् २४६८ ता० २३ अक्टूबर सन् १९४० के दिन सर्वार्थसिद्धियोगमें जिनेन्द्रपूजनपूर्वक जयधवलाके सम्पादनका काम प्रारम्भ किया था। जिस दृढ़ संकल्पको लेकर हमलोग इस कार्यमें संलग्न हुए थे उसीके फलस्वरूप हम इस भागको पाठकोंके हाथोंमें कुछ दृढ़तासे सौंपते हुए किञ्चित् उल्लाघताका अनुभव कर रहे हैं। इस भागमें गुणधर आचार्यके कसायपाहुडकी कुछ गाथाएँ और उनपर यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्र भी मुद्रित हैं जिनपर जयधवला टीका रची गई है। इस सिद्धान्तग्रन्थका षट्खंडागम जितना ही महत्त्व है क्योंकि इसका पूर्वश्रुतसे सीधा सम्बन्ध है। हम लोगोंने इसका जिस पद्धतिसे सम्पादन किया है उसका विवरण इस प्रकार है–

संशोधनपद्धति तथा ग्रन्थके बाह्यस्वरूपके विषयमें अमरावतीसे प्रकाशित होनेवाले श्रीधवल-सिद्धान्तमें जो पद्धति अपनाई गई है साधारणतया उसी सरणिसे इसमें एकरूपता लानेका प्रयत्न किया है। हाँ, प्रयत्न करनेपर भी हमें क्राउन साइजका कागज नहीं मिल सका इसलिए इस ग्रन्थको सुपररायल साइजमें प्रकाशित करना पड़ा है।

हस्त लिखित प्रतियोंका परिचय–

इस भागका संस्करण जिन प्रतियोंके आधारसे किया गया है उनका परिचय निम्नप्रकार है–

(१) ता—यह मूडविद्रीकी मूल ताडपत्रीय प्रति है। इसकी लिपि कनाडी है। इसमें कुल पत्रसंख्या ५१८ है। प्रत्येक पत्रकी लम्बाई २ फुट ३ इंच और चौड़ाई २॥ इंच है। इसके प्रत्येक पत्रमें २६ पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग १३८ अक्षर हैं। प्रति सुन्दर और सचित्र है। अधिक त्रुटित नहीं है। २, ३ पत्रोंके कुछ अक्षर पानीसे भींगकर साफ हो गये हैं। आईग्लाससे भी वे नहीं बाँचे जा सकते हैं। यह प्रति श्री भुजबलिअण्णा श्रेष्ठीने लिखवाकर पद्मसेन मुनीन्द्रको दान की थी। इस परसे देवनागरी लिपिमें एक प्रति श्री गजपतिजी शास्त्रीने की है। जो वीर निर्वाण सं० २४३० में प्रारम्भ होकर माघ शुक्ला ४ वीर निर्वाण संवत् २४३७ में समाप्त हुई थी। तथा कनाडी लिपिमें दो प्रतियाँ और हुई हैं जो क्रमशः पं० देवराजजी श्रेष्ठी और पं० शान्तप्पेन्द्रजीने की थीं। ये सब प्रतियाँ मूडविद्रीके भण्डारमें सुरक्षित हैं। यद्यपि मूडविद्रीकी यह कनाडी प्रति संशोधनके समय हमारे सामने उपस्थित नहीं थी। फिर भी यहाँसे प्रेसकापी भेज कर उस परसे मिलान करवा लिया गया था।

(२) स—यह सहारनपुरकी प्रति है जो कागज पर है और जिसकी लिपि देवनागरी है। मूडविद्रीके ताडपत्रोंपरसे पं० गजपतिजी उपाध्यायने अपनी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाईजीके साहाय्यसे जो प्रति गुप्तरीतिसे की थी वह आधुनिक कनाडी लिपिमें कागज पर है। उसी परसे देवनागरीमें यह प्रति की गई है। वहाँ कागजपर देवनागरीमें एक प्रति और भी है। ये प्रतियाँ सहारनपुरमें श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईसके श्रीमन्दिरजीमें विराजमान हैं। हममेंसे पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने सहारनपुरकी इसी देवनागरी प्रतिके ऊपरसे मिलान किया है।

(३) अ, आ—ये अमरावती और आराकी प्रतियाँ हैं। यद्यपि अमरावतीकी मूल प्रति हमारे सामने उपस्थित नहीं थी। पर धवलाके भूतपूर्व सहायक सम्पादक पण्डित हीरालालजीसे

हमें जो प्रेसकापी प्राप्त हुई है वह अमरावतीकी प्रतिके आधारसे की गई है। आराकी प्रति जैन-सिद्धान्त भवन आराके अधिकारमें है। और वह हमें पं० के० भुजवलिजी शास्त्री अध्यक्ष जैन-सिद्धान्त भवन आराकी कृपासे प्राप्त हुई है। संशोधनके समय यह प्रति हम लोगोंके सामने थी। इनके अतिरिक्त पीछेसे श्री सत्तर्कसुधातरङ्गिणी दि० जैन विद्यालयकी प्रति भी हमें प्राप्त हो गई थी, इसलिये संशोधनमें थोड़ा बहुत उसका भी उपयोग हो गया है। तथा न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी कुछ शंकास्पद स्थल दिल्लीके धर्मपुरके नये मन्दिरजीकी प्रतिसे भी मिला लाये थे।

संशोधनकी विशेषताएँ–

(१) इस प्रकार इन उपर्युक्त प्रतियोंके आधारसे प्रस्तुत भागके सम्पादनका कार्य हुआ है। ये सब प्रतियां लगभग ३५ वर्षमें ही सारे भारतमें फैली हैं इसलिये मूल प्रतिके समान इन सबका बहुभाग प्रायः शुद्ध है। फिर भी इनमें जो कुछ गड़बड़ हुई है वह बड़े गुटालेमें डाल देती है। बात यह है कि ताडपत्रकी प्रतिमें कुछ स्थल त्रुटित हैं और उसकी सीधी नकल सहारनपुरकी प्रतिका भी यही हाल है। पर उसके बाद सहारनपुरकी प्रतिके आधारसे जो शेष प्रतियां लिखी गई हैं उन सबमें वे स्थल भरे हुए पाये जाते हैं। अमरावती, आरा, सागर और देहलीकी सभी प्रतियोंका यही हाल है। जबतक हमारे सामने मूडविद्री और सहारनपुरकी प्रतियोंके आदर्श पाठ उपस्थित नहीं थे तब तक हम लोग बड़ी असमंजसताका अनुभव करते रहे। वे भरे हुए पाठ विकृत और अशुद्ध होते हुए भी मूलमें थे इसलिये उन्हें न छोड़ ही सकते थे और असङ्गत होनेके कारण न जोड़ ही सकते थे। अन्तमें हम लोगोंको सुबुद्धि सूझी और तदनुसार सहारनपुर और मूडविद्रीकी प्रतियोंके मिलानका प्रयत्न किया गया और तब यह पोल खुली कि यह तो किसी भाईकी करामात है ऋषियोंके वाक्य नहीं। पाठक इन भरे हुए पाठोंका थोड़ा नमूना देखें—

(१) "[1]........................उच्छेदवादीया ॥" (ता०, स०)
"संसार दुःखसुखे ण वेवि उच्छेदवादीया ॥" (अ०, आ०)
"[2].........................
................य लक्खणं एयं ॥" (ता०, स०)
"उपज्जंति वियंति य भावा जियमेण णिच्छयणयस्स।
णेयमविणट्ठ दव्वं दव्वट्ठिय लक्खणं एयं ॥" (अ०, आ०)

इस प्रकार और भी बहुतसे पाठ हैं जो मूडविद्री और सहारनपुरकी प्रतियोंमें त्रुटित हैं पर वे दूसरी प्रतियोंमें इच्छानुसार भर दिये गये हैं। यह कारामात कब और किसने की यह पहेली अभी तो नहीं सुलझी है। संभव है भविष्यमें इस पर कुछ प्रकाश डाला जा सके।

इन त्रुटित पाठोंके हम लोगोंने तीन भाग कर लिए थे (१) जो त्रुटित पाठ उद्धृत वाक्य हैं और वे अन्य ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं उनकी पूर्ति उन ग्रन्थोंके आधारसे कर दी गई है। जैसे, नमूनाके तौर पर जो दो त्रुटित पाठ ऊपर दिये हैं वे सम्मतितर्क ग्रन्थकी गाथाएँ हैं। अतः वहाँसे उनकी पूर्ति कर दी गई है। (२) जो त्रुटित पाठ प्रायः छोटे थे, ५–७ अक्षरोंमें ही जिनकी पूर्ति हो सकती थी उनकी पूर्ति भी विषय और धवला जीके आधारसे कर दी गई है। पर जो त्रुटित पाठ बहुत बड़े हैं और शब्दोंकी दृष्टिसे जिनकी पूर्तिके लिए कोई अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं हुआ

(१) देखो मुद्रित प्रति पृ० २४९ और उसका टिप्पण नं० २।
(२) देखो मुद्रित प्रति पृ० २४८ और उसका टिप्पण नं० १।

उनके स्थानमें ....ऐसा करके उन्हें वैसा ही छोड़ दिया गया है। त्रुटित स्थलोंकी पूर्तिके लिए [ ] इस प्रकारके ब्रेकिटका उपयोग किया है। जहां त्रुटित पाठ नहीं भी भरे गये हैं वहां अनुवादमें संदर्भ अवश्य मिला दिया गया है ताकि पाठकोंको विषयके समझनेमें कठिनाई न जाय।

(२) जहां ताड़पत्र और सहारनपुरकी प्रतिमें त्रुटित पाठके न होते हुए भी अर्थकी दृष्टिसे नया पाठ सुचाना आवश्यक जान पड़ा है वहां हम लोगोंने मूल पाठको जैसाका तैसा रखकर संशोधित पाठ [ ] इस प्रकारके ब्रेकिटमें दे दिया है।

(३) मुद्रित प्रतिमें पाठक कुछ ऐसे स्थल भी पायेंगे जो अर्थकी दृष्टिसे असंगत प्रतीत हुए इसलिए उनके स्थानमें जो शुद्ध पाठ सुचाये गये हैं वे ( ) इस प्रकार गोल ब्रेकिटमें दे दिये हैं।

(४) मूडविद्रीकी प्रतिमें अनुयोगद्वारोंका कथन करते समय या अन्य स्थलोंमें भी मार्गणा स्थान आदिके नामोंका या उद्धृत वाक्योंका पूरा उल्लेख न करके ० इसप्रकार गोल विन्दी या = इस प्रकार बराबरका चिन्ह बना दिया है। दूसरी प्रतियां इसकी नकल होनेसे उनमें भी इसी पद्धति को अपनाया गया है। अतः मुद्रित प्रतिमें भी हम लोगोंने जहां मूडविद्रीकी प्रतिका संकेत मिल गया वहां मूडविद्रीकी प्रतिके अनुसार और जहां वहांका संकेत न मिल सका वहां सहारनपुरकी प्रतिके अनुसार इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। यद्यपि इन स्थलोंकी पूर्तिकी जा सकती थी। पर लिखनेकी पुरानी पद्धति इसप्रकारकी रही है इसका ख्याल करके उन्हें उसी प्रकार सुरक्षित रखा।

(५) शेष संशोधन आदिकी विधि धवला प्रथम भागमें प्रकाशित संशोधन संबन्धी नियमोंके अनुसार वर्ती गई है पर उसमें एकका हम पालन न कर सके। सौरसेनीमें शब्दके आदिमें नहीं आये हुए 'थ' के स्थानमें 'ध' हो जाता है। जैसे, कथम् कधं। धवलामें प्रायः इस नियमका अनुसरण किया गया है। पर मूडविद्रीसे मिलान करानेसे हम लोगोंको यह समझमें आया कि वहां 'थ' के स्थानमें 'थ' 'ध' दोनोंका यथेच्छ पाठ मिलता है अतः हमें जहां जैसा पाठ मिला, रहने दिया उसमें संशोधन नहीं किया।

(६) कोषके अनुसार प्राकृतमें वर्तमान कालके अर्थमें 'संपदि' शब्द आता है पर धवला जयधवलामें प्रायः सर्वत्र 'संपहि' शब्दका ही प्रयोग पाया जाता है। इसलिए हमने मुद्रित प्रतिके पृष्ठ ५ पर सिर्फ एक जगह संपहिके स्थानमें गोल ब्रेकिटमें 'संपदि' पाठ सुचाया है। अन्यत्र 'संपहि' ही रहने दिया है।

(७) यद्यपि पाठभेद सम्बन्धी टिप्पण ता० स०, अ० और आ० प्रतियोंके आधारसे दिये हैं। पर ता० प्रतिके पाठ भेदका वहीं उल्लेख किया है जहां उसके सम्बन्धमें हमें स्पष्ट निर्देश मिल गया है अन्यत्र नहीं। संशोधनके इस नियमका अधिकतर उपयोग ब्रेकिटमें नया शब्द जोड़ते समय या किसी अशुद्ध पाठके स्थानमें शुद्ध पाठ सुचाते समय हुआ है।

(८) ता० और स० प्रतिमें जहाँ जितने अक्षरोंके त्रुटित होनेकी सूचना मिली वहाँ उनकी संख्याका निर्देश टिप्पणमें (त्रु) इस संकेतके साथ कर दिया है। ऐसे स्थलमें यदि कोई नया पाठ सुचाया गया है तो इस संख्याका यथासंभव ध्यान रखा है।

अनुवाद—अनुवादमें हमारी दृष्टि मूलानुगामी अधिक रही है पर कहीं कहीं हम इस नियमका सर्वथा पालन न कर सके। जहाँ विषयका खुलासा करनेकी दृष्टिसे वाक्यविन्यासमें फेरबदल करना आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ हमने भाषामें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया है। तात्पर्य यह है कि अनुवाद करते समय हमारी दृष्टि मूलानुगामित्वके साथ विषयको खोलनेकी भी रही है

केवल मूलमें प्रयुक्त विभक्तिके अनुसार हिन्दीमें उसी विभक्तिके बिठानेकी नहीं। मूलानुगामित्वका अभिप्राय भी यही है कि मूलसे अधिक तो कहा न जाय पर जो कुछ कहा जाय वह विभक्तियोंका अनुवाद न होकर विषयका अनुवाद होना चाहिये। इसके लिये जहाँ आवश्यक समझा वहाँ विशेषार्थ भी दे दिये हैं। इनके लिखने में भी हमने प्राचीन ग्रन्थोंका और उनसे फलित होने वाले प्रमेयोंका ही अनुसरण किया है।

टिप्पण—वर्तमानमें सम्पादित होनेवाले ग्रन्थोंमें प्रायः ग्रन्थान्तरोंसे टिप्पण देनेकी पद्धति चल पड़ी है। यह पद्धति कुछ नई नहीं है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंमें भी हमें यह पद्धति अपनाई गई जान पड़ती है। इससे अनेक लाभ हैं। इससे अध्ययनको व्यापक और विशद बनानेमें बड़ी मदद मिलती है। प्रकृत विषय अन्यत्र कहाँ किस रूपमें पाया जाता है, यहाँ से वहाँ वर्णन क्रममें क्या सारूप्य, विभिन्नता या विशदता है, यह सब हम टिप्पणोंसे भली भाँति जान सकते हैं। इससे इस विषयके इतिहासक्रम और विकाश पर भी प्रकाश पड़ता है। तथा इससे प्रकृत ग्रन्थके हृदय खोलनेमें भी बड़ी मदद मिलती है। इन्हीं सब बातोंका विचार करके हम लोगोंने प्रस्तुत संस्करणमें भी टिप्पणोंको स्थान दिया है। प्रस्तुत संस्करणमें तीन प्रकारके टिप्पण हैं। एक पाठान्तरोंका संग्रह करनेवाले टिप्पण हैं। दूसरे जिनमें अवतरण निर्देश किया गया है ऐसे टिप्पण हैं और तीसरे तुलना और विषयकी स्पष्टताको प्रकट करनेवाले टिप्पण हैं। टिप्पणोंमें उद्धृत पाठ जिस ग्रन्थका है उसका निर्देश पहले कर दिया है। अनन्तर जिन ग्रन्थोंका निर्देश किया है उनमें उसी प्रकारका पाठ है ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु उनका नाम मुख्यतः विषयकी दृष्टिसे दिया है।

टाईप—इस संस्करणमें कसायपाहुड, उसके चूर्णिसूत्र और इन पर जयधवला टीका इस प्रकार तीन ग्रन्थ चलते हैं। तथा टीकामें बीच बीचमें उद्धृत वाक्य भी आ जाते हैं, अतः हमने इन सबके लिये विभिन्न टाईपोंका उपयोग किया है। कसायपाहुडकी गाथाएं काला बह्लिकमें, चूर्णिसूत्र ग्रेट नं० १ में, जयधवला ग्रेट नं० २ में और उद्धृतवाक्य ग्रेट नं० ४ में दिये हैं। मूडविद्रीकी प्रतिमें गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणा के पहले * इस प्रकार फूलका चिह्न है, फिर भी हमने मुद्रित प्रतिमें केवल चूर्णिसूत्र और उसके अनुवादके प्रारम्भमें ही * इस प्रकार फूलके चिह्नका उपयोग किया है। कसायपाहुडमें कुल गाथाएं २३३ और विषय सम्बन्धी १८० गाथाएं हैं। हमने गाथाके अन्तमें २३३ के अनुसार चालू नम्बर रखा है तथा जो गाथा १८० वालीं हैं उनका क्रमांक नम्बर गाथाके प्रारम्भमें दे दिया है। हिन्दी अनुवादमें भी कसाय पाहुडकी गाथाओं और चूर्णिसूत्रोंका अनुवाद ग्रेट नं० २ में और जयधवला टीका तथा उद्धृत वाक्योंका अनुवाद ग्रेट नं० ४ में दे दिया है। तथा उद्धृत वाक्योंको और उसके अनुवादको दोनों ओरसे इनवरटेड कर दिया है।

भाषा—जयधवला टीकाके मूल लेखक आ० वीरसेन हैं और इनकी भाषाके विषयमें धवला प्रथम खण्डमें पर्याप्त लिखा जा चुका है, अतः यहाँ इस विषयमें प्रकाश नहीं डाला गया है। तथा मूल कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंकी भाषाके विषयमें अभी लिखना उचित नहीं समझा, क्योंकि इस खण्डमें इन दोनों ग्रन्थोंका बहुत ही कम अंश प्रकाशित हुआ है।

कार्य विभागकी स्थूल रूपरेखा

श्री जयधवलाके सम्पादनमें मूलका संशोधन, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण, परिशिष्ट और भूमिका मुख्य हैं। हम लोगोंने इन कामोंका स्थूलरूपसे विभाग कर लिया था। फिर भी इन सबको

अन्तिम रूप देनेमें तीनोंका सम्मिलित प्रयत्न कार्यकारी है। प्रत्येकके कार्यको स्थूलरूपसे यों कहा जा सकता है। प्रारम्भमें मूलका यथासम्भव संशोधन तीनोंने मिलकर एक साथ किया है। उसमें जो कमी रह गई उसकी पूर्ति हिन्दी अनुवादके समय परस्परके विचारविनिमयसे होती गई। हिन्दी अनुवाद पं० फूलचन्द्रजीने किया है। तथा इसमें भाषा आदिकी दृष्टिसे संशोधनका कार्य प्रथमतः पं० कैलाशचन्द्रजीने और तदनन्तर कुछ विशिष्ट स्थलोंका पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है। टिप्पणोंका कार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है और इसमें थोड़ी बहुत सहायता पं० फूलचन्द्रजी और पं० कैलाशचन्द्रजीसे ली गई है। परिशिष्ट व विषयसूची आदि पं० फूलचन्द्रजीने बनाये हैं। भूमिकाके मुख्य तीन भाग हैं ग्रन्थ, ग्रन्थकार और विषय-परिचय। इनमेंसे आदिके दो स्तम्भ पं० कैलाशचन्द्रजीने लिखे हैं और अन्तिम स्तम्भ पं० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है। यहाँ हम लोग इस बातको फिर दुहरा देना चाहते हैं कि इस प्रकार यद्यपि कार्यविभाग है फिर भी क्या मूलका संशोधन, क्या अनुवाद और क्या प्रस्तावना आदि इन सबको अन्तिमरूप सबने मिल कर दिया है, इसलिये अभिमानपूर्वक यह कोई नहीं कह सकता कि यह कार्य केवल मेरा ही है। ग्रन्थ सम्पादनके प्रत्येक हिस्सेमें हम तीनोंका अनुभव और अध्यवसाय काम कर रहा है, अतः यह तीनोंके सम्मिलित प्रयत्नका सुफल है।

आभार—ग्रन्थ सम्पादनका कार्य प्रारम्भ होने पर उसमें हमें श्रीमान् ज्ञाननयन पं० सुखलालजी संघवी अध्यापक जैनदर्शन हिन्दूविश्वविद्यालय काशीसे बड़ी सहायता मिली है। मूल पाठके कई ऐसे संशोधन उनके सुझाये हुए हैं जो हम लोगोंकी दृष्टिके ओझल थे। प्रारम्भका कुछ भाग तो उन्हें बराबर दिखाया गया है और आगे जहाँ आवश्यकता समझी वहाँ उनसे सहायता ली गई है। प्रेसकापी प्रेसमें देनेके पहले श्रीमान् पं० राजेन्द्रकुमारजी प्रधानमन्त्री संघ यहाँ पधारे थे, इस लिये विचारार्थ उन्हें भी प्रारम्भका भाग दिखाया गया था। हमें उनसे अनेक संशोधन प्राप्त हुए थे। प्रेससे जब प्रारम्भके फार्म पेजिंग होकर प्राप्त हुए थे तब यहाँ श्रीमान् मुनि जिनविजयजी भी पधारे हुए थे। इसलिये पाठसंशोधन और व्यवस्था आदिमें उनके अनुभवका भी उपयोग हुआ है। प्राकृतव्याकरणके नियमोंके निर्णय करनेमें कभी कभी श्रीमान् पं० दलसुखजी मालवणियासे भी विचार विमर्श किया है। प्रस्तावनाके लिये उपयोगी पड़नेवाले त्रिलोक प्रज्ञप्तिके कुछ पाठ श्रीमान् पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यने भेजकर सहायता की। तथा पं० अमृतलाल जी शास्त्री स्नातक स्याद्वाद महाविद्यालयसे भी कई प्रवृत्तियोंमें सहायता मिलती रही। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट किये हुए जिन जिन महानुभावोंसे हम लोगोंको जिस जिस प्रकारकी सहायता मिली उसके लिये हम लोग उन सबके अन्तःकरणसे आभारी हैं। क्योंकि इनकी सत्कृपा और सहायतासे ही प्रस्तुत संस्करण वर्तमान योग्यतासे सम्पादित हो सका है। आशा है पाठक प्रस्तुत संस्करणके वर्तमानरूपसे प्रसन्न होंगे। आगेके भागोंके लिये भी हम लोगोंको इतना बल प्राप्त रहे इस कामनाके साथ हम अपने वक्तव्य को समाप्त करते हैं और इस अद्वितीय ग्रन्थराजको पाठकोंके हाथमें सौंपते हैं।

जयधवला कार्यालय
भदैनी बनारस
कार्तिकी पूर्णिमा
वीरनि० २४७०

सम्पादकत्रय

A GIST OF HINDI INTRODUCTION

FOR

ENGLISH READERS.

The contents of this edition.

According to Digambar Tradition the canon of the twelve Angas is forgotten but whatever of it has survived is preserved in the ancient scriptures known as Ṣatkhandāgama, Kasāya Pāhuḍa and Mahābandha. On the first two of these works Swāmi Virasenachārya of the 9th century A.D. wrote commentaries termed as Dhavalā and Jayadhavalā. The Dhavalā has been edited by Prof. Hirā Lāl Jain of Amaraoti and is being published in parts. As for the Jayadhavalā, its first part is before the readers. This edition contains the text of Kasāya Pāhuḍa, its Chūrni Sutras, and the exhaustive Commentary on both, known as Jayadhavalā.

Dates of Kasāya Pahuḍ, Churni Sutras and Jayadhavalā.

Āchārya Gunadhar first wrote the Kasāya Pāhuḍa in Gāthā sutras. Swami Virsen, the writer of the Jayadhavalā says that Acharya Yati Vrishabha wrote Churni Sutras on the Kasāya Pahuḍa after studying at the feet of Ārya Mankshu and Nāghasti who were the perfect knowers of the traditional meaning of the Kasāya Pahuḍa. Virsen further says that Āchārya Gundhar lived some time about 683 after Vīr Nirvāna. After comparing this date with the succession list given in Prākrit Pattāvali of Nandi Sangh and making a critical discussion on the references to Ārya Mankshu and Nāgahasti found in Shvetambar Jain succession lists and also having discussed the date of Yati Vrishabh in Hindi introduction we have concluded that Kasāya Pāhuḍa was written either in the second or in the third century A.D. And Ācharya Yati Vrishabha lived most probably in the sixth century A.D. Now as for the date of the commentary Jayadhavalā, the ending verses of it show that it was completed in 759 Shaka Samvat (that is 894 A.D.)

From the ending verses of the commentary as well as from other sources also it becomes clear that Swami Virsen died before the

completion of Jayadhavalā. He had written only one third of it, the remaining two thirds were written by his pupil Āchārya Jinasen. Jinasen was a scholar of his teacher's rank. Amoghavarsh, the King of the Rāshtrakūt dynasty was his pupil.

Glosses and commentaries on Kasāya Pāhuda.

According to the Shrutāvatār of Indra Nandi many glosses and commentaries were written on Kasāya prābhrit. First of them was the Churni Sutra of Yati Vrishabhācharya. On these Churni Sutras was written a gloss known as Uchcharanā Vritti by Uchcharaṇācharya. It was followed by one more Uchcharanā Vritti written by Bappadevācharya. A survey of Jayadhavalā makes it clear that its author had seen not only these Vrittis (glosses) referred to above but even many more. Further it should be specially noted that Virsen has made much and frequent use of the Uchcharanā Vritti of Uchcharanācharya.

Language.

The Language of the Kasāya prābhrit and the Churni Sutras is Prakrit but Jayadhavalā contains many Sanskrit expressions and sentences also strewn all over its Prakrit.

Subject matter of the work.

The doctrine of Karma is a fundamental tenet of Jain philosophy. Karma is of eight kinds. At the root of all is Mohaniya Karma. It is of two kinds—Darshan-mohaniya and Charitra mohaniya. Charitra mohaniya is again of two kinds—Kashāya and No-kashāya. Krodh, Mān, Māyā and Lobh are termed as Kashāya. It is the classification and detailed description of these Kashāyas that forms the subject matter of the fifteen chapters of this work.

प्रस्तावना

प्राक्कथन

हम जिस ग्रन्थका परिचय यहां करा रहे हैं उसका भगवान महावीरकी द्वादशाङ्गवाणीसे साक्षात् सम्बन्ध है।

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरके प्रधान गणधर श्री गौतमस्वामीने उनकी दिव्यध्वनिको अवधारण करके द्वादशाङ्ग श्रुतकी रचना की थी। उसके बारहवें अंगका नाम दृष्टिवाद था। यह अंग बहुत विस्तृत था। उसके पांच भेद थे-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। इनमेंसे पूर्वके भी चौदह भेद थे। ये चौदह पूर्व इतने विस्तृत और महत्त्वपूर्ण थे कि इनके द्वारा सम्पूर्ण दृष्टिवाद अंगका उल्लेख किया जाता था और ग्यारह अंग चौदह पूर्वसे सम्पूर्ण द्वादशाङ्गका ग्रहण किया जाता था। द्वादशाङ्गके पारगामी श्रुतकेवली कहे जाते थे। जैन परम्परामें ज्ञानियोंमें दो ही पद सबसे महान गिने जाते हैं—प्रत्यक्षज्ञानियोंमें केवलज्ञानीका और परोक्षज्ञानियोंमें श्रुतकेवलीका। जैसे केवलज्ञानी समस्त चराचर जगतको प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं वैसे ही श्रुतकेवली शास्त्रमें वर्णित प्रत्येक विषयको स्पष्ट जानते थे।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् तीन केवलज्ञानी हुए और केवलज्ञानियोंके पश्चात् पांच श्रुतकेवली हुए। जिनमेंसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। भगवान महावीरके तीर्थमें होनेवाले आरातीय पुरुषोंमें भद्रबाहु ही एक ऐसे व्यक्ति[1] हैं जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं अपना धर्मगुरु मानती हैं। किन्तु श्वेताम्बर अपनी स्थविरपरम्पराको भद्रबाहुके नामसे न चलाकर उनके समकालीन संभूतिविजय स्थविरके नामसे चलाते हैं। इसपर डा० जेकोबीका[2] कहना है कि पाटलीपुत्र नगरमें जैन संघने जो अंग संकलित[3] किये थे वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही थे समस्त जैन समाजके नहीं, क्योंकि उस संघमें भद्रबाहु स्वामी सम्मिलित न हो सके थे।

---

(१) "तं जहा–थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगुत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा–थेरे अज्जसंभूअविजए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जभद्दवाहू पाईणसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसंभूअविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगुत्ते।" श्री कल्पसूत्रस्थवि०। (२) "कल्पसूत्रनी प्रस्तावना" जै० सा० सं० भा० १। (३) भद्रबाहुके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़नेका उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें पाया जाता है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार भद्रबाहु स्वामी मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्तके साथ अपने संघको लेकर दक्षिण भारतको चले गये थे और वहां कटवप्र नामक पहाड़पर, जो वर्तमानमें चन्द्रगिरि कहलाता है और मैसूर स्टेटके श्रवणवेलगोला ग्राममें स्थित है, उनका स्वर्गवास हुआ था। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वे नैपालदेशकी ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो साधुसंघ पाटलीपुत्र नगरमें एकत्र हुआ। और सबकी स्मृतिके आधार पर ग्यारह अंगोंका सङ्कलन किया गया। किन्तु दृष्टिवाद अंगका सङ्कलन न हो सका। तब भद्रबाहुके बुलानेके लिये दो मुनियोंको भेजा गया। उन्होंने कहला दिया कि मैंने महाप्राण नामक ध्यानका आरम्भ किया है जिसकी साधनामें बारह वर्ष लगेंगे। अतः मैं नहीं आ सकता हूँ। इस पर संघने पुनः दो मुनियोंको भद्रबाहुके पास भेजा और उनसे कहा कि वहां जाकर भद्रबाहुसे पूछना कि जो मुनि संघके शासनको न मानें तो उसे क्या दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि वह कहें कि उसे संघबाह्य कर देना चाहिए तो उनसे कहना कि आप भी इसी दण्डके योग्य हैं। दोनों मुनियोंने जाकर भद्रबाहुसे वही प्रश्न किया और उन्होंने भी उसका वही उत्तर दिया। तब उन दोनों मुनियोंके अनुनय-विनयसे उन्होंने स्वीकार किया कि संघ उनके पास कुछ बुद्धिमान शिष्योंको भेजे तो वे उन्हें दृष्टिवादकी वाचना दे देंगे, आदि। परिशि० प० स० ९, श्लो० ५५–७६। तित्थोगाली पइन्नयमें लिखा है कि भद्रबाहुके उत्तरसे

अस्तु, जो कुछ हो, पर इससे इतना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें कोई ऐसी घटना जरूर घटी थी, जिसने आगे जाकर स्पष्ट संघभेदका रूप धारण कर लिया। भगवान महावीरका अचेलक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय जम्बूस्वामीके बाद ही बिना किसी विशेष कारणके अचेलकताको सर्वथा छोड़ बैठे और उसकी कोई चर्चा भी न रहे यह मान्यता बुद्धिग्राह्य तो नहीं है। अतः भद्रबाहुके समयमें संघभेद होनेकी जो कथाएँ दिगम्बर साहित्यमें पाई जाती है और जिनका समर्थन शिलालेखोंसे होता है उनमें अर्वाचीनता तथा स्थानादिका मतभेद होने पर भी उनकी कथावस्तुको एकदम काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। अस्तु,

श्रुतकेवली भद्रबाहुके अवसानके साथ ही अन्तके चार पूर्व विच्छिन्न हो गये और केवल दस पूर्वका ज्ञान अवशिष्ट रहा। फिर कालक्रमसे विच्छिन्न होते होते वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञानका भी लोप होनेका प्रसंग उपस्थित हुआ, तब दूसरे अग्रायणीय पूर्वके चयनलब्धि नामक अधिकारके चतुर्थ पाहुड कर्मप्रकृति आदिसे षट्खण्डागमकी रचना की गई और ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे पेज्ज-दोषप्राभृतसे कषायप्राभृतकी रचना की गई। और इस प्रकार लुप्तप्राय अंगज्ञानका कुछ अंश दिगम्बर परम्परामें सर्वप्रथम पुस्तकरूपमें निबद्ध हुआ जो आज भी अपने उसी रूपमें सुरक्षित है। श्वेताम्बर परम्परामें जो ग्यारह अंगग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, उन्हें वी० नि० सं० ९८० में (वि० सं० ५१०) देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणने पुस्तकारूढ़ किया था। यह बात मार्केकी है कि जो पूर्वज्ञान श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वथा लुप्त हो गया उसीका एक अंश दिगम्बर सम्प्रदायमें सुरक्षित है। अतः हम जिस कषायप्राभृत ग्रन्थके एक भागके प्रस्तुत संस्करणको प्रथमबार पाठकोंके करकमलोंमें अर्पित कर रहे हैं उसका द्वादशाङ्ग वाणीसे साक्षात सम्बन्ध है और इसलिये वह अत्यन्त आदर और विनयसे ग्रहण करनेके योग्य है।

कषायप्राभृतके इस प्रस्तुत संस्करणमें तीन ग्रन्थ एक साथ चलते हैं—कषायप्राभृत मूल, उसकी चूर्णिवृत्ति और उनकी विस्तृत टीका जयधवला। प्रस्तुत प्रस्तावनाके भी तीन मूल विभाग हैं–एक ग्रन्थपरिचय, दूसरा ग्रन्थकारपरिचय और तीसरा विषयपरिचय। प्रथम विभागमें उक्त तीनों ग्रन्थोंका परिचय कराया गया है। दूसरे विभागमें उनके रचयिताओंका परिचय कराकर उनके समयका विचार किया गया है, तथा तीसरे विभागमें उनमें चर्चित विषयका परिचय कराया गया है।

नाराज होकर स्थविरोंने कहा–संघकी प्रार्थनाका अनादर करनेसे तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा इसका विचार करो। भद्रबाहुने कहा–मैं जानता हूं कि संघ इस प्रकार वचन बोलनेवालेका बहिष्कार कर सकता है। स्थविर बोले–तुम संघकी प्रार्थनाका अनादर करते हो। ··इसलिए श्रमण संघ आजसे तुम्हारे साथ बारहों प्रकारका व्यवहार बंद करता है। आदि।

(१) आगे जाकर हमने इसलिए लिखा है कि दिगम्बर परम्परामें विक्रमराजाकी मृत्युके १३६ वें वर्षमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति होनेका उल्लेख मिलता है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वीर नि० सं० ६०९ (वि० सं० १३९) में अष्टम निन्हव दिगम्बर परम्पराकी उत्पत्ति होनेका उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में मौजूद है। दोनों उल्लेखोंमें केवल तीन वर्षका अन्तर है जो विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। मुनि कल्याणविजयजीने अपनी पुस्तक श्रमण भगवान महावीरमें आवश्यकनिर्युक्तिमें अष्टम निह्नवके उल्लेख होनेका निषेध किया है, किन्तु उसकी गा० २३८ में अष्टम निन्हवके उत्पत्तिस्थानका तथा गा० २४० में उसके कालका स्पष्ट उल्लेख है। पता नहीं, मुनि जी उन्हें क्यों छिपा गये हैं। शायद इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरपरम्परा निर्युक्तियोंका कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहुको मानती आती है और मुनिजी दिगम्बर सम्प्रदायका उद्भव विक्रमकी छठी शताब्दीमें सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वे उनमें

१ ग्रन्थपरिचय

१ कषायप्राभृत

प्रस्तुत[१] ग्रन्थका नाम कसायपाहुड है जिसका संस्कृत रूप कषायप्राभृत होता है। यह नाम इस ग्रन्थकी प्रथम गाथामें स्वयं ग्रन्थकारने ही दिया है[२]। तथा चूर्णिसूत्रकारने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें इस नामका उल्लेख किया है। जैसे–'कसायपाहुडे सुम्मत्तेति[३] अणिओगद्दारे' आदि। जयधवलाकारने भी अपनी जयधवला टीकाके प्रारम्भमें[४] कसायपाहुडका नामोल्लेख करते हुए उसके रचयिताको नमस्कार किया है। श्रुतावतारके कर्ता आचार्य इन्द्रनन्दिने भी इस ग्रन्थका यही नाम दिया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थका कसायपाहुड या कषायप्राभृत नाम निर्विवाद है।

नाम

इस ग्रन्थका एक दूसरा नाम भी[५] पाया जाता है। और वह नाम भी स्वयं चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रमें दिया है। यथा, "तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा, पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि"। अर्थात् उस प्राभृतके दो नाम हैं–पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत। इस चूर्णिसूत्रकी उत्थानिकामें जयधवलाकार लिखते हैं–'पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम–पहली गाथाके इस उत्तरार्द्धमें ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके दो नाम बताये हैं–पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत। ये दोनों नाम किस अभिप्रायसे बतलाये गये हैं, यह बतलानेके लिये यतिवृषभआचार्य दो सूत्र कहते हैं'। जयधवलाकारकी इस उत्थानिकासे यह स्पष्ट है कि उनके मतसे स्वयं ग्रन्थकारने ही प्रकृत ग्रन्थके दोनों नामोंका उल्लेख पहली गाथाके उत्तरार्द्धमें किया है। यद्यपि पहली गाथाका सीधा अर्थ इतना ही है कि–'ज्ञानप्रवाद नामक पांचवे पूर्वकी दसवीं वस्तुमें तीसरा पेज्जप्राभृत है उससे कषायप्राभृतकी उत्पत्ति हुई है'। तथापि जब चूर्णिसूत्रकार स्पष्ट लिखते हैं कि उस प्राभृतके दो नाम हैं तब वे दोनों नाम निराधार तो हो नहीं सकते हैं। अतः यह मानना पड़ता है कि पहली गाथाके उत्तरार्धके आधार पर ही चूर्णिसूत्रकारने इस ग्रन्थके दो नाम बतलाये हैं और इस प्रकार इन दोनों नामोंका निर्देश पहली गाथाके उत्तरार्द्धमें स्वयं ग्रन्थकारने ही किया है, जैसा कि जयधवलाकारकी उक्त उत्थानिकासे स्पष्ट है। इन्द्रनन्दिने[६] भी 'प्रायोदोषप्राभृतकापरसंज्ञं' लिखकर कषायप्राभृतके इस दूसरे नामका निर्देश किया है।

कषायप्राभृत का नामान्तर

इस प्रकार यद्यपि इस ग्रन्थके दो नाम सिद्ध हैं तथापि इन दोनों नामोंमेंसे कषायप्राभृत नामसे ही यह ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है और यही इसका मूल नाम जान पड़ता है। क्योंकि चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रोंमें और जयधवलाकारने अपनी जयधवला टीकामें इस ग्रन्थका इसी[७] नामसे उल्लेख किया है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं। धवला टीकामें तथा लब्धिसारकी टीकामें भी इस ग्रन्थका इसी नामसे उल्लेख है। पेज्जदोषप्राभृत इसका उपनाम जान पड़ता है जैसा कि इन्द्रनदिके 'प्रायोदोषप्राभृतकापरसंज्ञं' विशेषणसे भी स्पष्ट है। अतः इस ग्रन्थका मूल और प्रसिद्ध नाम कषायप्राभृत ही समझना चाहिये।

अष्टम निन्हवका उल्लेख मान लेते तो उनके काल्पनिक इतिहासकी भित्ति खड़ी न हो पाती। किन्तु अब तो मुनि जीको उसके स्वीकार करनेमें संकोच न होना चाहिए। क्योंकि अब निर्युक्तियोंका कर्त्ता दूसरे भद्रबाहुको कहा जाता है। (२) श्रव० भ० महा० पृ० २८९।

(१) कसायपा० पृ० १०। (२) कसायपा० प्रे० का० पृ० ६०७५। (३) कसायपा० पृ० ४। (४) श्लो० १५२। (५) कसायपा० पृ० १९७। (६) श्रुताव० श्लो० १५२। (७) षट्खण्डा०, पु० १ पृ० २१७ और २२१। (८) प्रथम गाथाकी उत्थानिका में।

नामपदोंका वर्णन करते हुए जयधवलाकारने इस ग्रन्थके दोनों नामोंका अन्तर्भाव गौण्य-नामपदमें किया है। जो नाम गुणकी मुख्यतासे व्यवहारमें आता है उसे गौण्यनामपद कहते हैं।

दोनों नामों की सार्थकता

इस ग्रन्थमें पेज्ज, दोष और कषायोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। इसलिये इसे पेज्जदोषप्राभृत या कषायप्राभृत कहते हैं। अतः ये दोनों नाम सार्थक हैं। पेज्ज रागको कहते हैं और दोषसे आशय द्वेषका है। राग और द्वेष दोनों कषायके ही प्रकार हैं। कषायके बिना राग और द्वेष रह नहीं सकते हैं। कषाय शब्दसे राग और द्वेष दोनोंका ग्रहण हो जाता है। किन्तु रागसे अकेले रागका और द्वेपसे अकेले द्वेपका ही ग्रहण होता है। इसीलिये चूर्णिसूत्रकारने[2] पेज्जदोषप्राभृत नामको अभिव्याहरणनिष्पन्न कहा है और कषायप्राभृत नामको नयनिष्पन्न कहा है। जिसका यह आशय है कि पेज्जदोषप्राभृत नाममें पेज्ज और दोष दोनोंके वाचक शब्दोंको अलग अलग ग्रहण किया है, किसी एक शब्दसे दोनोंका ग्रहण नहीं किया गया; क्योंकि पेज्ज शब्द पेज्ज अर्थको ही कहता है और दोष शब्द दोषरूप अर्थको ही कहता है। किन्तु कषायप्राभृत नाममें यह बात नहीं है। उसमें एक कषाय शब्दसे पेज्ज और दोष दोनोंका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे पेज्ज भी कषाय है और राग भी कषाय है। अतः यह नाम नयनिष्पन्न है। सारांश यह है कि इस ग्रन्थमें राग और द्वेषका विस्तृत वर्णन किया गया है और ये दोनों ही कषायरूप हैं। अतः दोनों धर्मोंका पृथक् पृथक् नामनिर्देश करके इस ग्रन्थका नाम पेज्जदोषप्राभृत रखा गया है। और दोनोंको एक कषाय शब्दसे ग्रहण करके इस ग्रन्थका नाम कषायप्राभृत रखा गया है। अतः ये दोनों ही नाम सार्थक हैं और दो भिन्न विवक्षाओंसे रखे गये हैं।

कषायप्राभृत की रचनाशैली

प्रकृत ग्रन्थकी रचना गाथासूत्रोंमें की गई है। ये गाथासूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं और उनमें प्रतिपाद्य विषयका सूचनमात्र कर दिया है। बहुतसी गाथाएँ तो मात्र प्रश्नात्मक ही हैं और उनमें प्रतिपाद्य विषयके बारेमें प्रश्नमात्र करके ही छोड़ दिया गया है। यथा—किस नयकी[3] अपेक्षा कौन कषाय पेज्जरूप है और कौन कषाय दोषरूप है? यदि चूर्णिसूत्रकार इन गाथासूत्रों पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना न करते तो इन गाथासूत्रोंका रहस्य उन्हींमें छिपा रह जाता। इन गाथासूत्रोंके विस्तृत विवेचनोंको पढ़कर यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने गागरमें सागर भर दिया है। असलमें ग्रन्थकारका उद्देश्य नष्ट होते हुए पेज्जदोस-[4]पाहुडका उद्धार करना था। और पेज्जदोसपाहुडका प्रमाण बहुत विस्तृत था। श्री जयधवलाकारके लेखानुसार उसमें १६ हजार मध्यम पद थे, जिनके अक्षरोंका प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी, इकसठ लाख सत्तावन हजार दो सौ बानवे करोड़, बासठ लाख, आठ हजार होता है। इतने विस्तृत ग्रन्थको केवल २३३ गाथाओंमें निबद्ध करना ग्रन्थकारकी अनुपम रचनाचातुरी और बहुज्ञताका सूचक है। शास्त्रकारोंने सूत्रका लक्षण करते हुए लिखा है– जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें प्रतिपाद्य विषयका सार भर दिया गया हो, जिसका विषय गूढ़ हो, जो निर्दोष सयुक्तिक और तथ्यभूत हो उसे सूत्र कहते हैं।' सूत्रका यह लक्षण कषायप्राभृतके गाथासूत्रोंमें बहुत कुछ अंशमें पाया जाता है। संभवतः इसीसे[6] ग्रन्थकारने प्रतिज्ञा करते हुए[5] स्वयं ही अपनी गाथाओंको सुत्तगाहा कहा है और जयधवलाकारने उनकी गाथाओंके सूत्रात्मक होनेका समर्थन किया है। चूर्णिसूत्रकारने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें प्रायः उन्हें 'सुत्तगाहा' ही लिखा है।

इसप्रकार संक्षिप्त होनेसे यद्यपि कषायप्राभृतकी सभी गाथाएं सूत्रात्मक हैं किन्तु कुछ

(१) कसायपा० पृ० ३६। (२) कसायपा० पृ० १९७–१९९। (३) गाथा २२। (४) कसायपा० पृ० १५१। (५) 'वोच्छामि सुत्तगाहा' गा० २। (६) कसायपा० पृ० १५५।

गाथाएं तो सचमुच ही सूत्रात्मक हैं; क्योंकि उनका व्याख्यान करनेके लिये स्वयं ग्रन्थकारको उनकी भाष्यगाथाएं बनानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। ये भाष्यगाथाएं भी कुल २३३ गाथाओंमें ही सम्मिलित हैं। इससे स्पष्ट है कि सूत्रात्मक गाथाओंकी रचना करके भी ग्रन्थकार उन विषयोंको स्पष्ट करनेमें बराबर प्रयत्नशील थे जिनका स्पष्ट करना वे आवश्यक समझते थे। और ऐसा क्यों न होता, जब कि वे प्रवचनवात्सल्यके वश होकर प्रवचनकी रक्षा और लोक कल्याणकी शुभ भावनासे ग्रन्थका प्रणयन करनेमें तत्पर हुए थे।

उनकी रचना शैलीका और भी अधिक सौष्ठव जाननेके लिये उनकी गाथाओंके विभाग क्रमपर दृष्टि देनेकी आवश्यकता है। हम ऊपर लिख आये हैं कि कषायप्राभृतकी कुल गाथा-संख्या २३३ है। इन २३३ गाथाओंमेंसे पहली गाथामें ग्रन्थका नाम और जिस पूर्वके जिस अवान्तर अधिकारसे ग्रन्थकी रचना की गई है उसका नाम आदि बतलाया है। दूसरी गाथामें गाथाओं और अधिकारोंकी संख्याका निर्देश करके जितनी गाथाएं जिस अधिकारमें आई हैं उनका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है।

चौथी, पांचवी, और छठी गाथामें बतलाया है कि प्रारम्भके पांच अधिकारोंमें तीन गाथाएं हैं। वेदक नामके छठे अधिकारमें चार गाथाएं हैं। उपयोग नामके सातवें अधि-कारमें सात गाथाएं हैं। चतुःस्थान नामके आठवें अधिकारमें सोलह गाथाएं हैं। व्यञ्जन नामके नौवें अधिकारमें पांच गाथाएं हैं। दर्शनमोहोपशामना नामके दसवें अधिकारमें पन्द्रह गाथाएं हैं। दर्शनमोहक्षपणा नामके ग्यारहवें अधिकारमें पाँच गाथाएं हैं। संयमासंयम-लब्धि नामके बारहवें और चारित्रलब्धि नामके तेरहवें अधिकारमें एक गाथा है। और चारित्रमोहोपशामना नामके चौदहवें अधिकारमें आठ गाथाएं हैं। सातवीं और आठवीं गाथामें चारित्रमोहक्षपणा नामके पन्द्रहवें अधिकारके अवान्तर अधिकारोंमें गाथासंख्याका निर्देश करते हुए अट्ठाईस गाथाएं बतलाईं हैं। नौवीं और दसवीं गाथामें बतलाया है कि चारित्रमोहक्षपणा अधिकार सम्बन्धी अट्ठाईस गाथाओंमें कितनी सूत्रगाथाएं हैं और कितनी असूत्रगाथाएं हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं गाथामें जिस जिस सूत्रगाथाकी जितनी भाष्यगाथाएं हैं, उनका निर्देश किया है। तेरहवीं और चौदहवीं गाथामें कषायप्राभृतके पन्द्रह अधिकारोंका नामनिर्देश किया है।

प्रारम्भकी इन गाथाओंके पर्यवेक्षणसे पता चलता है कि आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले जब अंगज्ञान एकदम लुप्त नहीं हुआ था किन्तु लुप्त होनेके अभिमुख था और ग्रन्थरचनाका अधिक प्रचार नहीं था, उस समय भी कसायपाहुडके कर्ताने अपने ग्रन्थके अधिकारोंका और उसकी गाथासूचीका निर्देश प्रारम्भकी गाथाओंमें कर दिया है। इससे पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि ग्रन्थकारकी रचनाशैली गूढ होते हुए भी कितनी क्रमिक और संगत है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि षट्खण्डागमकी रचना दूसरे पूर्वसे की गई है और कषाय-प्राभृतकी रचना पंचम पूर्वसे की गई है। षट्खण्डागममें विविध अनुयोगद्वारोंसे आठों कर्मोंके बन्ध बन्धक आदिका विस्तारसे वर्णन किया है और कषायप्राभृतमें केवल मोह-नीयकर्मका ही मुख्यतासे वर्णन है। षट्खण्डागमकी रचना प्रायः गद्य सूत्रोंमें की गई है जब कि कषायप्राभृत गाथासूत्रोंमें ही रचा गया है। दोनोंके सूत्रोंका तुल-नात्मक दृष्टिसे अध्ययन करने पर दोनोंकी परम्परा, मतैक्य या मतभेद आदि बातों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। यद्यपि अभी ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया तथापि धवला और जयधवलाके कुछ उल्लेखोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थोंमें किन्हीं

कषायप्राभृत और षट्-खण्डागम

किन्हीं मन्तव्योंके सम्बन्धमें मतभेद है। उदाहरणके लिये चूर्णिसूत्रमें दोषका उत्कृष्ट और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। इस पर जयधवलामें[1] शङ्का की गई कि जीवस्थानमें एक समय काल बतलाया है सो उसका और इसका विरोध क्यों नहीं है ? तो उसका समाधान करते हुए जयधवलाकारने[2] दोनोंके विरोधको स्वीकार किया है, और कहा है कि वह उपदेश अन्य आचार्यका है। तथा धवलामें मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके[3] क्षपणका विधान करते हुए धवलाकारने लिखा है कि यह उपदेश 'संतकम्मपाहुड' का है। कषायपाहुडके उपदेशानुसार तो पहले आठ कषायोंका क्षपण करके पीछे सोलह प्रकृतियोंका क्षपण[4] करता है। इस अन्तिम मतभेदका उल्लेख श्री नेमिचन्द्र[5] सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपने गोमट्टसार कर्मकाण्डमें 'केई' करके किया है। एक दूसरे स्थानपर चारों कषायोंका अन्तर छ मास बतलाया है और लिखा है कि इसमें पाहुडसुत्तसे व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि उसका उपदेश भिन्न है। यहां पाहुडसुत्तसे आशय कषायप्राभृतका ही प्रतीत होता है क्योंकि उसके व्याख्यानमें उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक एक वर्ष बतलाया है। यहां कषायप्राभृतके उपदेशको पट्खण्डागमसे भिन्न बतलानेसे धवलाकारका आशय ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थोंके रचयिताओंको प्राप्त उपदेशोंमें भेद था। यदि ऐसा न होता तो दोनोंके मन्तव्योंमें भेद नहीं हो सकता था।

हम ऊपर लिख आये हैं कि कषायप्राभृत ग्रन्थ २३३ गाथाओंमें निबद्ध है। इन गाथाओंमें कषायप्राभृत से 'सम्माइट्ठी सद्दहदि' और 'मिच्छाइट्ठी णियमा' आदि दो गाथाएं, जो कि दर्शनमोहो- और पशमना नामक दसवें अधिकारमें आती हैं, ऐसी हैं जो थोड़ेसे शब्दभेद या पाठव्यति- कर्म प्रकृति क्रमके साथ गोमट्टसार जीवकाण्डमें और अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं।

श्वेताम्बर साहित्यमें कर्मप्रकृति नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात) से प्रकाशित हो चुका है। इसके कर्ताका नाम शिवशर्मसूरि बतलाया जाता है मगर उनके समय आदिके बारेमें अभी तक कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है। इन्हें पूर्वधर कहा जाता है और यह अनुमान किया जाता है कि आगमोद्धारक श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणसे पहले हो गये हैं। कर्मप्रकृतिकी गाथासंख्या ४७५ है। पहली गाथामें ग्रन्थकारने आठ करणोंका तथा उदय और सत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है और उपान्त्य गाथामें[6] कहा है–'मैंने अल्पबुद्धि होते हुए भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिप्राभृतसे इस ग्रन्थका उद्धार किया। दृष्टिवादके ज्ञाता पुरुष स्खलितांशोंको सुधारकर उसका कथन करें।' टीकाकार श्री मलयगिरिने लिखा है कि अग्रायणीय पूर्वके पञ्चम वस्तुके अन्तर्गत कर्मप्रकृति नामके चौथे प्राभृतसे यह प्रकरण रचा गया है। इस कर्मप्रकृतिके संक्रमकरण नामक अधिकारमें कषायप्राभृतके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम अनुयोग द्वारकी १३ गाथाएं अनुक्रमसे पाई जाती हैं। कषायप्राभृतमें उनका क्रमिक नम्बर २७ से ३९ तक आता है और कर्मप्रकृतिमें[7] ११२ से १२४ तक आता है। तथा कर्मप्रकृतिके सर्वोपशमना नामक प्रकरणमें भी कषायप्राभृतके दर्शनमोहोपशमना नामक अधिकारकी चार गाथाएं पाई जाती हैं। कषायप्राभृतमें उनका क्रमिक नम्बर १००, १०३, १०४ और १०५ है और कर्मप्रकृतिमें ३३५ से ३३८ तक है। दोनों ग्रन्थोंमें उक्त गाथाओंके कुछ पदों और शब्दोंमें व्यतिक्रम तथा अन्तर भी पाया जाता है। कहीं कहीं वह अन्तर सैद्धान्तिक भेदको भी लिये हुए प्रतीत होता है। जैसे, कषायप्राभृतकी गाथा नम्बर ३२ का अन्तिम

(१) पृ० ३८५–३८६। (२) पट्खण्डा० पु० १, पृ० २१७। (३) गा० १२८। (४) गा० ३९१। (५) पट्खण्डा०, पु० ५, पृ० ११२। (६) 'इय कम्मप्पगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि। सोहियणाभोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥४७४॥' (७) ये नम्बर रतलाम संस्थासे प्रकाशित मूल कर्मप्रकृतिके आधारसे दिये गये हैं।

चरण 'विरदे मिस्से अविरदे य' है और कर्मप्रकृतिमें इसी गाथाका अन्तिम चरण 'णियमा दिट्ठीकए दुविहे' है। कषायप्राभृतकी गाथा नम्बर ३४ का अन्तिम चरण 'छक्के पणए च बोद्धव्वा' है और कर्मप्रकृतिमें इसी गाथाका अन्तिम चरण 'सत्तगे छक्क पणगे वा' है।

इन दोनों प्राचीन ग्रन्थोंकी कुछ गाथाओंमें समानता देखकर एकदम किसी निर्णयपर पहुँचना तो संभव नहीं है। फिर भी यह समानता ध्यान देने योग्य तो है ही। वैसे तो अग्रायणीयपूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतसे ही षट्खण्डागमका भी उद्भव हुआ है और इस दृष्टिसे षट्खण्डागम और कर्मप्रकृतिमें सादृश्य पाया जाना संभव था, किन्तु पञ्चमपूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे पेज्जदोषप्राभृतसे प्रादुर्भूत कषायप्राभृत और कर्मप्रकृतिका यह सादृश्य विचारणीय है। दोनोंके सादृश्यपर विचार करते समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि कषायप्राभृतमें केवल मोहनीयकर्मको लेकर ही वर्णन किया है अतः उसके संक्रम अनुयोगद्वारमें केवल मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके ही संक्रमका वर्णन किया है। कर्मप्रकृतिमें भी संक्रमकरणका वर्णन है किन्तु उसका वही अंश कसायपाहुडसे मेल खाता है जो मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके संक्रमणसे सम्बन्ध रखता है। तथा उपशमना प्रकरणमें भी यही बात है। किन्तु इतनी विशेषता है कि दर्शनमोहोपशमनाकी ही कुछ गाथाएँ परस्परमें समान हैं, चारित्रमोहोपशमना की नहीं।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[1] लिखा है कि गुणधर आचार्यने कषायप्राभृतकी रचना करके नागहस्ती और आर्यमंक्षु आचार्यको उनका व्याख्यान किया। उनके पासमें कषायप्राभृतको पढ़कर यतिवृषभ आचार्यने उसपर छह हजार प्रमाण चूर्णिसूत्रोंकी रचना की।

कषाय प्राभृत की टीकाएँ

यतिवृषभ आचार्यसे उन चूर्णिसूत्रोंका अध्ययन करके उच्चारणाचार्यने उनपर बारह हजार प्रमाण उच्चारणासूत्रोंकी रचना की। इस प्रकार गुणधराचार्यके गाथासूत्र, यतिवृषभ आचार्यके चूर्णिसूत्र और उच्चारणाचार्यके उच्चारणासूत्रोंके द्वारा कषायप्राभृत उपसंहृत किया गया।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ये दोनों ही सिद्धान्त ग्रन्थ गुरुपरिपाटीसे कुण्डकुन्द नगरमें श्री पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुए। उन्होंने षट्खण्डोंमेंसे आदिके तीन खण्डोंपर बारह हजार प्रमाण परिकर्म नामका ग्रन्थ रचा। उसके बाद कितना ही काल बीतनेपर शामकुण्ड आचार्यने दोनों आगमोंको पूरी तरहसे जानकर महाबन्ध नामके छठे खण्डके सिवा शेष दोनों ग्रन्थों पर बारह हजार प्रमाण प्राकृत संस्कृत और कर्णाटक भाषासे मिश्रित पद्धतिरूप ग्रन्थकी रचना की। उसके बाद कितना ही काल बीतनेपर तुम्बलूर ग्राममें तुम्बलूर नामके आचार्य हुए। उन्होंने भी षष्ट खण्डके सिवा शेष पांच खण्डोंपर तथा कषायप्राभृतपर कर्णाटक भाषामें ८४ हजार प्रमाण-चूड़ामणि नामकी महती व्याख्या रची। उसके बाद स्वामी समन्तभद्र हुए। उन्होंने भी षट्खण्डागमके प्रथम पांच खण्डों पर अति सुन्दर संस्कृत भाषामें ४८ हजार प्रमाण टीकाकी रचना की। जब वे दूसरे सिद्धान्त ग्रन्थ पर व्याख्या लिखनेको तैयार हुए तो उनके एक सधर्माने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया।

इस प्रकार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका व्याख्यानक्रम गुरुपरम्परासे आता हुआ शुभनन्दि और रविनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ। भीमरथी और कृष्णमेख नदियोंके बीचके प्रदेशमें सुन्दर उत्कलिका ग्रामके समीपमें स्थित प्रसिद्ध मगणवल्ली ग्राममें उन दोनों मुनियोंके पास समस्त सिद्धान्तका अध्ययन करके बप्पदेवने आदि सिद्धान्तके पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामकी

(१) तत्त्वानुशा० पृ० ८७-८९।

टीका लिखी और कषायप्राभृत पर भी टीका लिखी। इस टीकाका प्रमाण ६० हजार था और यह प्राकृत भाषामें थी। तथा छठे खण्डपर पांच हजार आठ श्लोकप्रमाण व्याख्या लिखी।

उसके बाद कितना ही काल बीतनेपर चित्रकूटपुरके निवासी एलाचार्य सिद्धान्तोंके ज्ञाता हुए। उनके पासमें सकल सिद्धान्तका अध्ययन करके श्री वीरसेन स्वामीने वाटग्राममें आनतेन्द्रके द्वारा बनवाये हुए चैत्यालयमें ठहर कर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामकी टीकाको पाकर षट्खण्डागमपर ७२ हजार प्रमाण धवला टीकाकी रचना की। तथा कषाय प्राभृतकी चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी। उसके बाद वीरसेन स्वामीका स्वर्गवास हो गया। तब उनके शिष्य जिनसेन स्वामीने शेष कषायप्राभृत पर चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी। इस प्रकार कषायप्राभृतकी टीका जयधवलाका प्रमाण ६० हजार हुआ। ये दोनों टीकाएं प्राकृत और संस्कृतसे मिश्रित भाषामें रची गई थीं।

श्रुतावतारके इस वर्णनसे प्रकट होता है कि कषायप्राभृतपर सबसे पहले आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। उसके बाद उच्चारणाचार्यने उन पर उच्चारणावृत्तिकी रचना की।[1] ये चूर्णिसूत्र और उच्चारणावृत्ति मूल कषायप्राभृतके इतने अविभाज्य अंग बन गये कि इन तीनोंकी ही संज्ञा कषायप्राभृत पड़ गई और कषायप्राभृतका उपसंहार इन तीनोंमें ही हुआ कहा जाने लगा।[2]

उसके बाद शामकुण्डाचार्यने पद्धतिरूप टीकाकी रचना की। तुम्बलूर आचार्यने चूडामणि नामकी व्याख्या रची। बप्पदेवगुरुने व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीकाकी रचना की। आचार्य वीरसेन तथा उनके शिष्य आचार्य जिनसेनने जयधवला टीकाकी रचना की। आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्रने कषायप्राभृतपर कोई टीका नहीं रची।

आचार्य यतिवृषभके चूर्णिसूत्र तो प्रस्तुत ग्रन्थमें ही मौजूद हैं। जयधवलाकारने उन्हें लेकर ही अपनी जयधवला टीकाका निर्माण किया है। मूल गाथाएं और चूर्णिसूत्रोंकी टीकाका नाम ही जयधवला है। इन चूर्णिसूत्रोंके विषयमें आगे विशेष प्रकाश डाला जायगा।

यतिवृषभके चूर्णिसूत्र

उच्चारणाचार्यकी इस उच्चारणावृत्तिका भी उल्लेख जयधवलामें बहुतायतसे पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वृत्ति बहुत विस्तृत थी। चूर्णिसूत्रकारने जिन विषयोंका निर्देश मात्र किया था या जिन्हें छोड़ दिया था, उनका भी स्पष्ट और विस्तृत वर्णन इस वृत्तिमें था। जयधवलाकारने ऐसे विषयोंका वर्णन करनेमें, खास करके अनुयोगद्वारके व्याख्यानमें उच्चारणाका खूब उपयोग किया है और उपयोग करनेके कारणोंका भी स्पष्ट निर्देश[3] कर दिया है। मालूम होता है यह वृत्ति उनके सामने मौजूद थी। आज भी यदि यह दक्षिणके किसी भण्डारमें अपने जीवनके शेष दिन बिता रही हो तो अचरज नहीं।

उच्चारणावृत्ति

(१) कषायप्राभृत और षट्खण्डागम शीर्षकमें पहले कषायोंके अन्तर कालको लेकर जिस मतभेदका उल्लेख किया है वह मतभेद जयधवलामें ही पाया जाता है। क्योंकि उसीमें कषायोंका उत्कृष्ट अन्तर एक वर्षसे अधिक बतलाया है और इसका निर्देश सम्भवतः उच्चारणावृत्तिके आधारपर किया गया है क्योंकि अनुयोगद्वारोंके वर्णनमें जयधवलाकारने उच्चारणाका ही बहुतायतसे उपयोग किया है। और उसका षट्खण्डागमकी टीकामें 'पाहुडसुत्त' करके उल्लेख किया है।

(२) "गाथाचूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य-।
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यैः॥१५९॥" श्रुताव०।

(३) "एवं जइवसहाइरियेण सूचिदस्स अत्थस्स उच्चारणाइरियेण परूविदवक्खाणं भणिस्सामो।" "एत्थ ताव मंदबुद्धिजणाणुग्गहट्ठमुच्चारणा वुच्चदे।" "एवं चुण्णिसुत्तत्थपरूवणं काऊण संपहि उच्चारणा- वुच्चदे।" ज. ध. प्रे. का. पृ. ११३४, १५०१, १९०३।

स्थितिविभक्ति नामक अधिकारमें जघन्य क्षेत्रानुगमका वर्णन करते हुए जयधवलाकारने एक स्थानपर लिखा है कि यहाँ मूलुच्चारणाके अभिप्रायसे ऐसा समझना चाहिए। यहाँ मूलुच्चारणासे अभिप्राय उच्चारणाचार्य निर्मित वृत्तिसे है या अन्य किसी उच्चारणासे है, यह अभी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। परन्तु उच्चारणाके पहले मूल विशेषण लगानेसे यह भी संभव हो सकता है कि उच्चारणाचार्यनिर्मित वृत्तिके लिये ही मूलुच्चारणा शब्दका प्रयोग किया हो, क्योंकि इन्द्रनन्दिके लेखके अनुसार कषायप्राभृत पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना हो जानेके बाद उच्चारणाचार्यने ही उच्चारणासूत्रोंकी रचना की थी और इसलिये वही मूल-आद्य उच्चारणा कही जा सकती है। किन्तु उस उच्चारणाका उल्लेख जयधवलामें एक सौसे भी अधिक बार होने पर भी जयधवलाकारने उसे कहीं भी मूलुच्चारणा नहीं कहा। उच्चारणा, उच्चारणागंथ, उच्चारणाइरियवयण या उच्चारणाइरियपरूविदवक्खाण शब्दसे ही यत्र तत्र उसका उल्लेख मिलता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मूलुच्चारणा कोई दूसरी उच्चारणा थी, और यदि उसका मूल विशेषण उसे आद्य उच्चारणा बतलानेके लिये लगाया गया हो तो कहना होगा कि उच्चारणाचार्यकी वृत्तिसे पहले भी कोई उच्चारणा मौजूद थी। किन्तु यह सब संभावना ही है, अन्य भी प्रमाण प्रकाशमें आने पर ही इसका निर्णय हो सकता है।

मूलुच्चारणा

स्थितिविभक्ति अधिकारमें ही कालानुगमका वर्णन करते हुए एक स्थानमें जयधवलाकारने वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणाका उल्लेख किया है। संभवतः यह वह वृत्ति है जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें किया है। परन्तु उन्होंने उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति बतलाया है और व्याख्याप्रज्ञप्तिका उल्लेख धवलामें आता है। यदि धवलामें उल्लिखित व्याख्याप्रज्ञप्तिके कर्ता वप्पदेवाचार्य ही हों तो कहना होगा कि उन्होंने षट्खण्डागमपर जो टीका रची थी उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था और कषायप्राभृत-पर जो टीका रची थी उसका नाम उच्चारणा था; क्योंकि व्याख्याप्रज्ञप्तिका उल्लेख धवलामें आता है और उनकी उच्चारणाका उल्लेख जयधवलामें आता है।

वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणा

ऊपर जयधवलामें वप्पदेवाचार्यरचित उच्चारणाके जिस उल्लेखका निर्देश किया है उस उल्लेखके साथ ही जयधवलाकारने 'अम्हेहि लिहिदुच्चारणा' का भी निर्देश किया है जिसका अर्थ 'हमारे द्वारा लिखी हुई उच्चारणा' होता है। यहाँ जयधवलाकारने चूर्णिसूत्र और वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणासे अपनी उच्चारणामें मतभेद बतलाया है। इस निर्देशसे तो यही प्रतीत होता है कि स्वामी वीरसेनने कषायप्राभृतपर उच्चारणा वृत्तिकी भी रचना की थी।

स्वामी वीरसेन लिखित उच्चारणा

स्थितिविभक्ति अधिकारमें ही उत्कृष्ट कालानुगम तथा अन्तरानुगमके अन्तमें जयधवला-कारने लिखा है कि यतिवृषभ आचार्यके देशामर्षक सूत्रोंका प्ररूपण करके अब उनसे सूचित अर्थका प्ररूपण करनेके लिए लिखित उच्चारणाका अनुवर्तन करते हैं। यहाँ उच्चारणाके साथ लिखित विशेषण लगानेसे जयधवलाकारका क्या अभिप्राय था यह स्पष्ट नहीं हो सका। यदि यह उच्चारणा भी वही उच्चारणा है जिसके अनुवर्तन-का उल्लेख जयधवलामें जगह जगह पाया जाता है तो जयधवलाकारने यहाँ उसके साथ लिखित विशेषण क्यों लगाया? यदि यह दूसरी उच्चारणा है तो संभव है लिखितके पहले उसके लिखने वालेका नाम प्रतियोंमें छूट गया हो। यदि ऐसा हो तो कहना होगा कि जयधवला-

लिखित उच्चारणा

(१) "एत्थ मूलुच्चारणाहिप्पाएण.......।" प्रे० का० पृ० १२८१। (२) "चुण्णिसुत्तम्मि वप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए च अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमओ उक्क० संखेज्जा समया० परूविदो।" जयध. प्रे. का. पृ. १३०३।

कारने चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान करनेके लिये उच्चारणाचार्य रचित उच्चारणाके सिवा अन्य उच्चारणाका भी उपयोग किया है।

उच्चारणाचार्य रचित वृत्तिका नाम उच्चारणावृत्ति है। इस वृत्तिको यह नाम सम्भवतः इसी लिये दिया गया था क्योंकि इसके कर्ताका[1] नाम उच्चारणाचार्य था। किन्तु कर्ताका उच्चारणाचार्य नाम असली मालूम नहीं होता। धवलामें सूत्राचार्य, निक्षेपाचार्य, व्याख्यानाचार्य आदि आचार्योंका उल्लेख आता है। ये सब यौगिक संज्ञाएँ या पदवियाँ प्रतीत होती हैं जो सूत्रोंके अध्यापन आदिसे सम्बन्ध रखती थीं। उच्चारणाचार्य भी कोई इसी प्रकारका पद प्रतीत होता है जो सम्भवतः सूत्रग्रन्थोंके उच्चारणकर्ताओंको दिया जाता था। उच्चारणावृत्तिके रचयिताको भी सम्भवतः यह पद प्राप्त था और वे उसी पदसे रूढ़ हो गये थे। इसीलिये उनकी वृत्ति उच्चारणावृत्ति कहलाई, या उन्होंने ही उसका नाम अपने नाम पर उच्चारणावृत्ति रखा। किन्तु अन्य आचार्योंकी वृत्तियोंकी भी उच्चारणा संज्ञा देखकर मन कुछ भ्रममें पड़ जाता है। सम्भव है उच्चारणाचार्य रचित उच्चारणा वृत्तिके पश्चात् आगमिक परम्परामें उच्चारणा शब्द अमुक प्रकारकी वृत्तिके अर्थमें रूढ़ हो गया हो और इस लिये उच्चारणा वृत्तिकी शैली पर रची गई वृत्तियोंको उच्चारणा कहा जाने लगा हो। यदि ये वृत्तियां प्रकाशमें आयें तो इस सम्बन्धमें विशेष प्रकाश पड़ सकता है।

इन्द्रनन्दिने गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणासूत्रोंमें कषायप्राभृतका उपसंहार हो चुकनेके पश्चात् उनपर जिस[2] प्रथम टीकाका उल्लेख किया है वह शामकुण्डाचार्यरचित पद्धति थी। जयधवलाकारके अनुसार जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रके अशेष अर्थोंका संग्रह किया गया हो ऐसे विवरणको वृत्तिसूत्र कहते हैं। वृत्तिसूत्रोंके विवरणको टीका कहते हैं और वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंका जिसमें भंजन-विश्लेषण किया गया हो उसे पंजिका कहते हैं। और सूत्र तथा उसकी वृत्तिके विवरणको पद्धति कहते हैं। पद्धतिके इस लक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि शामकुण्डाचार्यकी पद्धतिरूप टीका गाथासूत्र और चूर्णिसूत्रोंपर रची गई थी।

शामकुण्डाचार्यकी पद्धति

जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिके निम्न श्लोकके द्वारा कषायप्राभृतविषयक साहित्यका विभाग इस प्रकार किया गया है—

"गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम्।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धतिपञ्जिकाः ॥२६॥"

अर्थात्—सूत्र तो गाथा सूत्र हैं। चूर्णिसूत्र वार्तिक-वृत्तिरूप हैं। टीका श्री वीरसेनरचित है। और शेष या तो पद्धतिरूप हैं या पञ्जिकारूप हैं।

इसके द्वारा जयधवलाकारने गाथासूत्र, और वीरसेन रचित जयधवला टीकाके सिवा शेष विवरण ग्रन्थोंको पद्धति या पंजिका बतलाया है। यहां बहुवचनान्त 'शेषाः' शब्दसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कषायप्राभृतपर अन्य भी अनेक विवरण ग्रन्थ थे जिन्हें जयधवलाकार पद्धति या पञ्जिका कहते हैं। उन्हींमें शामकुण्डाचार्य रचित पद्धति भी हो सकती है। किन्तु उसका कोई उल्लेख जयधवलामें दृष्टिगोचर नहीं हो सका।

(१) षट्खण्डा० पु० १ की प्रस्ता० पृ० ५। (२) "सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो। ''वित्तिसुत्तविवरणाए टीकाववएसादो।''वित्तिसुत्तविसमपयभंजियाए पंजियाववएसादो। ''सुत्तवित्तिविवरणाए पद्धईववएसादो।" प्रे० का० पृ० ३९०।

इन्द्रनन्दिने शामकुण्डाचार्यरचित पद्धतिके पश्चात् तुम्बुलूराचार्य रचित चूड़ामणि नामकी व्याख्याका उल्लेख किया है और बतलाया है कि यह व्याख्या छठवें खण्डके सिवा शेष दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंपर थी और इसका परिमाण ८४ हजार था। तथा भाषा कनाडी थी। जयधवलामें इस व्याख्या या उसके कर्ताका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

तुम्बुलूराचार्यकृत चूड़ामणि

भट्टाकलङ्क नामके एक विद्वानने अपने कर्नाटक शब्दानुशासनमें[1] कनाडी भाषामें रचित चूड़ामणि नामक महाशास्त्रका उल्लेख किया है। और उसे तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान बतलाया है तथा उसका परिमाण भी ९६ हजार बतलाया है। फिर भी धवलाकी[2] प्रस्तावनामें यह विचार व्यक्त किया गया है कि यह चूड़ामणि तुम्बुलूराचार्यकृत चूड़ामणि ही जान पड़ती है।

श्रवणबेलगोलाके ५४ वे शिलालेखमें[3] चूड़ामणि नामक काव्यके रचयिता श्री वर्द्धदेवका स्मरण किया है और उनकी प्रशंसामें दण्डी कविके द्वारा कहा गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है। यथा—

> "चूडामणिः कवीनां चूडामणिनामसेव्यकाव्यकविः।
> श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्तुं॥

य एवमुपश्लोकितो दण्डिना—

> जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
> श्री वर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं॥"

सम्भवतः इसी परसे चूड़ामणि नामकी समानता देखकर कुछ[4] विद्वानोंने तुम्बुलूराचार्यका असली नाम वर्द्धदेव बतलाया है।

श्री युत पै[5] महाशयका कहना है कि भट्टाकलंकके द्वारा स्मृत चूड़ामणि तुम्बुलूराचार्यकृत चूड़ामणि नहीं हो सकता, क्योंकि पहले का परिमाण ९६ हजार बतलाया गया है और दूसरे का ८४ हजार। अतः पै महाशयका कहना है कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार की 'कर्णाटभाषयाकृत महतीं चूड़ामणिव्याख्याम्' पंक्ति अशुद्ध मालूम होती है। इसमें आये हुए 'चूड़ामणिं' पद को अलग न पढ़कर आगेके 'व्याख्यां' शब्दके साथ मिलाकर 'चूड़ामणिव्याख्याम्' पढ़ना चाहिये। तब उस पंक्तिका अर्थ ऐसा होगा—'तुम्बुलूराचार्यने कनड़ीमें चूड़ामणि की एक बड़ी टीका बनाई।' इसका आशय यह हुआ कि श्री वर्द्धदेवने तत्त्वार्थमहाशास्त्र पर कनड़ीमें चूड़ामणि नामकी टीका लिखी थी जिसका परिमाण ९६ हजार था और उस चूड़ामणिपर तुम्बुलूराचार्यने ८४ हजार प्रमाण टीका बनाई थी।

इस प्रकार पै महाशयने विभिन्न उल्लेखोंके समीकरण करनेका प्रयास किया है। किन्तु मालूम होता है उन्होंने श्रुतावतारके तुम्बुलूराचार्यविषयक उक्त श्लोकोंके सिवा उनसे ऊपरके श्लोक नहीं देखे; क्योंकि उन्होंने अपने लेखमें जो उक्त श्लोक उद्धृत किये हैं वे 'कर्नाटककविचरिते' परसे किये हैं। यदि वे पूरा श्रुतावतार देख जाते तो 'चूड़ामणिव्याख्याम्' का अर्थ चूड़ामणिकी व्याख्या न करते; क्योंकि श्रुतावतारमें सिद्धान्तग्रन्थोंके व्याख्यानोंका वर्णन किया है, तत्त्वार्थ महाशास्त्रके व्याख्यानोंका नहीं। अतः उनका उक्त प्रयास निष्फल ही साबित होता है।

(१) "न चैषा भाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रन्थसन्दर्भरूपस्य चूड़ामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य··।" (२) षट्खण्डा० पु० १, प्रस्ता० पृ० ४९। (३) जैनशिला० पृ० १०३। (४) समन्तभद्र पृ० १९०। (५) shre Vardhader and Tumblura-carya. Jain antiquary Vol. IV. No. IV.

यथार्थमें श्रीवर्द्धदेव, तुम्बुलूराचार्य और चूड़ामणि विषयक उक्त उल्लेख इस अवस्थामें नहीं हैं कि उनका समीकरण किया जा सके। शिलालेखमें श्री वर्द्धदेवको चूड़ामणि काव्यका रचयिता बताया है न कि चूड़ामणि नामक किसी व्याख्याका और वह भी तत्त्वार्थमहाशास्त्रकी। तथा दण्डि कविके द्वारा उनकी प्रशंसा किये जानेसे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीवर्द्धदेव एक बड़े भारी कवि थे और उनका चूड़ामणि नामक ग्रन्थ कोई श्रेष्ठ काव्य था जिसकी भाषा अवश्य ही संस्कृत रही होगी; क्योंकि एक संस्कृत भाषाके एक अजैन कविसे यह आशा नहीं होती कि वह धार्मिक ग्रन्थों पर टीका लिखनेवाले किसी कंनड़ कविकी इतनी प्रशंसा करे।

इसीप्रकार यदि भट्टाकलङ्कके शब्दानुशासनवाले उल्लेखमें कोई गल्ती नहीं है तो उसका भी तात्पर्य तुम्बुलूराचार्यकी चूड़ामणि व्याख्यासे नहीं जान पड़ता क्योंकि यदि श्लोक संख्याके प्रमाणके अन्तरका[1] महत्त्व न भी दिया जायें तो भी यह तो नहीं भुलाया जा सकता कि उसे भट्टाकलंक तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी टीका बतलाते हैं। हां, यदि उन्होंने भ्रमवश ऐसा उल्लेख कर दिया हो तो बात दूसरी है। राजावलिकथेमें भी तुम्बुलूराचार्यकी चूड़ामणि व्याख्याका उल्लेख है, उसकी भाषा भी कनडी बतलाई है, और प्रमाण भी ८४ हजार ही बतलाया है।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डराय पुराणमें, जो कि ई० स० ९७८ में कनडी पद्योंमें रचा गया था, तुम्बुलूराचार्यकी प्रशंसा की है। तुम्बुलूराचार्य और उनकी चूड़ामणि व्याख्याके सम्बन्धमें हमें केवल इतना ही ज्ञात हो सका है और उस परसे केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुम्बुलूराचार्य नामके कोई आचार्य अवश्य हो गये हैं, और उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थोंपर चूड़ामणि नामकी कनडी व्याख्या लिखी थी, जिसका प्रमाण ८४ हजार था।

अन्य व्याख्याएँ

[2]जयधवलामें कितने ही स्थलोंपर अन्य व्याख्यानाचार्योंका अभिप्राय दिया है। और उनके अभिप्रायोंकी आलोचना भी की है। कुछ स्थलों पर चिरंतनव्याख्यानाचार्योंके[3] मतोंका उल्लेख किया है और उच्चारणाचार्यके मतके साथ उनके मतकी तुलना करके उच्चारणाचार्यके मतको ही ठीक बतलाया है। ये चिरन्तन व्याख्यानाचार्य कौन थे यह तो कुछ कहा नहीं जासकेता। शायद इस नामके भी कोई व्याख्यानाचार्य हुए हों। किन्तु यदि चिरन्तन नाम न होकर विशेषण है ता चिरन्तन विशेषणसे ऐसा प्रतोत होता है कि अन्य व्याख्यानाचार्योंसे वे पुरातन थे अन्यथा उनके पहले चिरन्तन विशेषण लगानेकी आवश्यकता ही क्या थी? सम्भव है वे उच्चारणाचार्यसे भी प्राचीन हों। इन या इनमेंसे कुछ व्याख्यानाचार्योंने कषायप्राभृत या उसके चूर्णिसूत्रोंपर व्याख्याएँ लिखी थीं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि ऐसा न होता तो उनके व्याख्यानोंका कहीं कहीं शब्दशः उल्लेख जयधवलामें न होता। इनमेंसे कुछ व्याख्याएं तो उन व्याख्याओंसे अतिरिक्त प्रतीत होती है जिनका उल्लेख

(१) भट्टाकलंकके इस उल्लेखके आधार पर धवलाकी प्रस्तावनामें यह मान लिया गया है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रसिद्धि तत्त्वार्थमहाशास्त्र नामसे रही है। किन्तु जब तक इस प्रकारके अन्य उल्लेख न मिलें और यह प्रमाणित न हो जाय कि शब्दानुशासनमें जिस चूड़ामणि व्याख्याका उल्लेख है वह तुम्बूलूराचार्यकी सिद्धान्त ग्रन्थोंपर रची गई चूड़ामणि व्याख्या ही है तब तक यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी तत्त्वार्थ महाशास्त्रके नामसे प्रसिद्धि रही है। (२) "एसो उच्चारणाइरियाणमहिप्पाओ अण्णे पुण वक्खाणाइरिया एवं भणंति।" प्रे. का. पृ. ११३८। "एसा उच्चारणाप्पाबहुअस्स संविट्ठी संपहि चिरन्तवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअं वत्तइस्सामो।" प्रे. का. १४७९। (३) "चिरंतणाइरिवक्खाणं पि एत्थ अप्पणो पढमपुढविवक्खाणसमाणं।" प्रे. का. १४८३। अण्णेसिं वक्खाणाइरियाणमहिप्पाओ ....तं जहा....एदस्स भावत्थो। प्रे. का. ६५६३ पृ.।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें किया है, क्योंकि उनमेंसे उच्चारणावृत्ति, और वप्पदेवकी उच्चारणा-का उल्लेख तो जयधवलाकारने नाम लेकर किया है। रह जाती हैं शामकुण्डाचार्य की पद्धति और तुम्बुलूराचार्य की कनड़ी टीका। सो जहां तक इन्हीं दोनों व्याख्यानकारोंका उल्लेख 'अण्णे वक्खाणाइरिया' पदसे किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः कषायप्राभृत और चूर्णिसूत्रपर कुछ अन्य व्याख्याएं भी थीं. ऐसा प्रतीत होता है।

यह महती टीका इसी संस्करणमें मुद्रित है अतः उसका विस्तृत परिचय आगे पृथक् रूपसे कराया गया है। इस प्रकार यह मूलग्रन्थ कसायपाहुड का परिचय है। आगे उसके वृत्ति ग्रन्थ चूर्णिसूत्रका परिचय कराया जाता है।

जयधवला

२ चूर्णिसूत्र

आचार्य इन्द्रनन्दिने कषायप्राभृतपर रचे गये वृत्तिसूत्रोंमेंसे जिन वृत्तिसूत्रोंका सर्व प्रथम उल्लेख किया है वे आचार्य यतिवृषभके द्वारा रचे गये चूर्णिसूत्र ही हैं। आचार्य इन्द्रनन्दिने उन्हें चूर्णिसूत्र कहा है। जयधवलाकार भी अपनी[1] जयधवला टीकामें स्थान स्थानपर चूर्णि-सूत्रके नामसे उनका उल्लेख करते हैं। धवलामें भी उन्होंने[2] इसी नामसे उनका उल्लेख किया है। किन्तु जयधवलामें जो चूर्णिसूत्र पाये जाते हैं उनमें हमें यह नाम नहीं मिल सका। हो सकता है कि चूर्णिसूत्रोंकी जो प्रति रही हो उसमें यह नाम दिया हो, क्योंकि यतिवृषभके दूसरे ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिके अन्तमें[3] यह नाम दिया है और उसके आधारपरसे यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारने ही अपने वृत्तिसूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम दिया था। किन्तु यह नाम क्यों दिया गया? इस बारेमें कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। श्वेताम्बर आगमोंपर भी चूर्णियां पाई जाती हैं और इस तरह यह नाम आगमिकपरम्परामें टीका-विशेषके अर्थमें व्यवहृत होता आया है ऐसा प्रतीत होता है।

नाम

जयधवलाकारके अनुसार जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रके अशेष अर्थका संग्रह किया गया हो ऐसे विवरणको वृत्तिसूत्र कहते हैं। वृत्तिसूत्रका यह लक्षण चूर्णि-सूत्रोंमें अक्षरशः घटित होता है। उनकी शब्दरचना संक्षिप्त है इस बातका समर्थन इसीसे होता है कि उनपर उच्चारणाचार्यको उच्चारणावृत्ति बनानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई और जयधवलाकारको उनका विशेष खुलासा करनेके लिए जगह जगह उच्चा-रणाका अवलम्बन लेना पड़ा। इसे ही यदि दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो यूं कहना होगा कि चूर्णिसूत्रकारने छ हजार ग्रन्थ परिमाणके अन्दर जो कुछ कहा था उसका व्याख्यान जयधवलाके रूपमें ६० हजारमें समाया अर्थात् जिस बातके कहनेके लिए दस शब्दोंकी आवश्यकता थी उसे उन्होंने एक ही शब्दसे कह दिया।

रचना शैली

गाथा सूत्रोंके अशेष अर्थका संग्रह भी उनमें किया गया है। और यह बात इसीसे सिद्ध है कि कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके व्याख्याता जयधवलाकार, जिन्होंने वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण लिखा है, चूर्णिसूत्रोंको स्वयं वृत्तिसूत्र कहते हैं। यह भी संभव है कि चूर्णिसूत्रोंमें उक्त बातें देखकर ही उन्होंने वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण किया हो। अस्तु, जो कुछ हो, पर इतना निश्चित है कि चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैली अति संक्षिप्त और अर्थपूर्ण है और उनका रहस्य जयधवलाकार श्री वीरसेन स्वामी जैसे बहुश्रुत विद्वान् ही हृदयंगम कर सकते हैं। उदाहरणके लिये. चूर्णि-

(१) "सचुण्णिसुत्ताणं विवरणं कस्सामो। ... चुण्णिसुत्तस्स आदीए..."। कसायपा० पृ० ५. (२) "कथं णव्वदे? कसायपाहुडचुण्णिसुत्तादो।" धवला (आ०) प० ११२२ उ०। (३) "चुण्णिस्-रूवत्थकरणसरूवपमाण होदि किं जं तं ॥५१॥"

सूत्रकारने कहीं कहीं चूर्णिसूत्रोंके आगे अंक[1] भी दिये हैं और जयधवलाकारने उन अंकों तक की सार्थकताका समर्थन किया है। मूलपयडिविभत्तिमें एक स्थानपर शिष्य शङ्का करता है कि यतिवृषभ आचार्यने यहां यह दोका अङ्क क्यों रखा है ? तो जयधवलाकार उसका उत्तर देते हैं कि अपने मनमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये चूर्णिसूत्रकारने यहां दोका अंक स्थापित किया है। इसपर शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि उस अर्थका कथन अक्षरोंमें क्यों नहीं किया ? तो आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार वृत्तिसूत्रोंका अर्थ कहनेसे चूर्णिसूत्रग्रन्थ बेनाम हो जाता, इस भयसे चूर्णिसूत्रकारने अपने मनमें स्थित अर्थका कथन यहां अंकद्वारा किया, अक्षरद्वारा नहीं किया।' इस उदाहरणसे चूर्णिसूत्रोंकी संक्षिप्तता और अर्थ-गाम्भीर्यपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

जयधवलाकारने[2] अनेक स्थलोंपर चूर्णिसूत्रोंको देशामर्षक लिखा है। अर्थात् उन्हें विवक्षित कथनके एक देशका ग्रहण करने वाला बतलाया है। और इसलिये उन्होंने कहीं कहीं लिखा है कि इससे सूचित अर्थका कथन उच्चारणावृत्तिके साहाय्यसे और एलाचार्यके प्रसादसे करता हूँ। इससे भी चूर्णिसूत्रोंका गाम्भीर्य सिद्ध होता है। इसप्रकार संक्षिप्त और अर्थपूर्ण होने पर भी चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैली विशद और प्रसन्न है। भाषा और विषयका साधारण जानकार भी उनका पाठ रुचिपूर्वक कर सकता है। तथा उसमें गाथाके किसी आवश्यक अंशको अव्याख्यात नहीं छोड़ा है। यद्यपि कुछ गाथाएं ऐसी[3] भी हैं जिनपर चूर्णिसूत्र नहीं पाये जाते हैं, किन्तु उन्हें सरल और स्पष्ट समझकर ही चूर्णिसूत्रकारने छोड़ दिया है।

चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैलीके बारेमें और भी विशेष जाननेके लिए उनकी व्याख्यानशैली पर दृष्टि डालना चाहिये। सबसे प्रथम गाथा 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' आदि पर सबसे पहला चूर्णिसूत्र निम्न प्रकार है। 'णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो, तं जहा—आणुपुव्वी, णामं, पमाणं, वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि।'

व्याख्यानशैली

इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकारने ज्ञानप्रवाद नामक पांचवे पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत जिस तीसरे कसायपाहुडसे प्रकृत कषायप्राभृत ग्रन्थका उपसंहार किया गया है, उसके नाम, विषय, अधिकार आदिका ज्ञान करानेके लिये पांच उपक्रमोंका कथन किया है। जिस प्रकार दार्शनिकपरम्परामें ग्रन्थके आदिमें सम्बन्ध आदि निरूपणकी प्रथा है, उसी प्रकार आगमिक परम्परामें ग्रन्थके आदिमें उक्त पांच उपक्रमोंके कथन करनेकी प्रथा है, उससे श्रोताको ग्रन्थके नामादिका परिचय हो जाता है।

नामादिका निरूपण करके चूर्णिसूत्रकारने ग्रन्थके नाम पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुडमें आये हुए पेज्ज, दोस, कसाय और पाहुड शब्दोंके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये चारोंमें निक्षेपका वर्णन किया है। उसके बाद निक्षेपोंमें नययोजना करके यह बतलाया है कि कौन नय किस निक्षेपको चाहता है। इस प्रकार ग्रन्थका नाम, उसका अर्थ, उसके अधिकार आदिका निरूपण कर चुकनेके बाद चूर्णिसूत्रकार 'पेज्ज वा दोसं वा' इत्यादि बाईसवीं गाथासे प्रकृत अर्थका

---

(१) "जइवसहाइरियेण एसो दोण्हमंको किमट्ठमेत्थ ट्ठविदो? सगहियट्ठियअत्थस्स जाणावणट्ठं। सो अत्थो अक्खरेहि किण्ण परूविदो? वित्तिसुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे णिण्णामो गंथो होदि त्ति भएण ण परूविदो।" प्रे० का० पृ० ३८९। (२) "एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्तं जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उत्तुच्चारणावलेण एलाइरियपसाएण च सेसकम्माणं परूवणा कीरदे।" प्रे० का० पृ० १७१७। (३) "संपहि विदियादिगाहाणमत्थो सुगमोत्ति चुण्णिसुत्ते ण परूविदो।" प्रे० का० पृ० ३५९९। "अदो चेव चुण्णिसुत्तयारेण दोण्हमेदासिं मूलगाहाणं समुक्कित्तणा विहासा च णाढत्ता।" प्रे०का० पृ० ७५४५।

कथन प्रारम्भ करते हैं। इस गाथाके पहले 'एत्तो सुत्तसमोदारो' यह चूर्णिसूत्र है जो बतलाता है कि आगे अधिकारसंबंधी गाथासूत्रका अवतार होता है। उसके बाद उक्त गाथासूत्र है। उस गाथासूत्र पर पहला चूर्णिसूत्र है–'एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा।' अर्थात् इस गाथाके पूर्वार्द्धकी विभाषा करना चाहिये। सूत्रसे सूचित अर्थके विशेष विवरण करनेको विभाषा कहते हैं। इस प्रकार गाथाके पूर्वार्द्धका व्याख्यान करनेका विधान करके चूर्णिसूत्रकार आगे उसका व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। उनकी व्याख्यान शैलीका प्रायः यही क्रम है। वे पहले गाथासूत्रोंका अवतार करते हैं उसके बाद उनका व्याख्यान करते हैं। इसपर और भी प्रकाश डालनेके लिये आगेके अधिकारोंपर दृष्टि डालना जरूरी है।

वन्धक नामके अधिकारको लीजिये। इसके प्रारम्भका चूर्णिसूत्र है—'बंधगेत्ति एदस्स वे अणिओगद्दाराणि तं जहा–बंधो च संकमो च।' इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकार वन्धक अधिकारके प्रारम्भ होनेकी तथा उसके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोंकी सूचना करके आगे लिखते हैं—'एत्थ सुत्तगाहा' इसके बाद सूत्रगाथा आजाती है। उसके बाद गाथासे सूचित होनेवाले समुदायार्थका कथन करके 'पदच्छेदो तं जहा' लिखकर पदच्छेदके द्वारा गाथाके प्रत्येक अंशका व्याख्यान शुरू हो जाता है। इस अधिकारका मुख्य वर्णनीय विषय है संक्रम। अतः चूर्णिसूत्रकार संक्रमका वर्णन प्रारम्भ करनेके पहले उसके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये पांच उपक्रमोंका कथन करते हैं। और यह बतलाकर कि यहां प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन है वे लिखते हैं—'एत्थ तिण्णि सुत्तगाहाओ हवंति, तं जहा।' अर्थात् प्रकृतिसंक्रमके प्ररूपणमें तीन सूत्रगाथाएं हैं जो इस प्रकार हैं। उसके बाद गाथाएं आती हैं और उनके बाद वे पुनः लिखते हैं—'एदाओ तिण्णि गाहाओ पयडिसंकमे। एदासिं गाहाणं पदच्छेदो। तं जहा।' अर्थात् ये तीन गाथाएं प्रकृतिसंक्रम अनुयोगद्वारमें हैं, और इन गाथाओंका पदच्छेद—अवयवार्थ इस प्रकार है। अर्थ कह चुकनेके बाद चूर्णिसूत्र आता है—'एस सुत्तफासो।' जो इस बात की सूचना देता है कि यहां तक सूत्रगाथाओंके अवयवार्थका विचार किया। इस विवरणसे पाठक जान सकेंगे कि चूर्णिसूत्रकारकी व्याख्यानशैली कितनी क्रमबद्ध और स्पष्ट है। गाथासूत्रोंके विना भी पाठक यह जान सकता है कि कहां पर कौन गाथा है और किस गाथाका कौन अर्थ है? तथा गाथाके किस किस पदसे क्या क्या अर्थ लिया गया है?

अन्तिम पन्द्रहवें अधिकारमें सबसे अधिक गाथाएं हैं और उनमें कुछ सूत्रगाथाएं हैं और कुछ उनकी भाष्यगाथाएं हैं। चूर्णिसूत्रकारने प्रत्येक सूत्रगाथा और उससे सम्बद्ध भाष्यगाथाओंका निर्देश जिस क्रमबद्ध शैलीसे करके उनका व्याख्यान किया है उससे उनकी रुचिकर व्याख्यानशैलीपर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

अधिकार निर्देश

कसायपाहुडका परिचय कराते समय हम यह लिख आये हैं कि उसकी तेरहवीं और चौदहवीं गाथामें ग्रन्थकारने स्वयं ही कसायपाहुडके अधिकारोंका निर्देश कर दिया है। और चूर्णिसूत्रमें यह भी बतला दिया है कि किस अधिकारमें कितनी गाथाएँ हैं, फिर भी चूर्णिसूत्रकारने जो अधिकार निर्धारित किये हैं वे कसायपाहुडमें निर्दिष्ट अधिकारोंसे कुछ भिन्न हैं। कसायपाहुडमें अधिकारोंका निर्देश इस प्रकार किया है–

"पेज्जदोसविहत्ती ठिदि-अणुभागे च बंधगे चे य।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चे य ॥१३॥

(१) "सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसियूण भासा विहासा विवरणं ति वुत्तं होदि।" जयधवला प्रे० का० पृ० ३११९।

सम्मत्तदेसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥"

जयधवलाकारके द्वारा किये गये व्याख्यानके अनुसार १ पेज्जदोसविभक्ति, २ स्थिति-विभक्ति, ३ अनुभागविभक्ति, ४ बन्धक, ५ संक्रम, ६ वेदक, ७ उपयोग, ८ चतुःस्थान, ९ व्यंजन, सम्यक्त्व से १० दर्शनमोहकी उपशामना और ११ क्षपणा, १२ देसविरति, १३ संयम, १४ चारित्र मोहनीयकी उपशामना और १५ क्षपणा ये पन्द्रह अधिकार कसायपाहुडके रचयिताको इष्ट हैं। किन्तु चूर्णिसूत्रकारने इन गाथाओं पर जो चूर्णिसूत्र बनाये हैं उनमें वे अधिकारोंका निर्देश नम्बर डालकर इस प्रकार करते हैं—

"अत्थाहियारो पण्णारसविहो। तं जहा–पेज्जदोसे १। विहत्तिट्ठिदिअणुभागे च २। बंधगेत्ति बंधो च ३, संकमो च ४। वेदए त्ति उदओ च ५, उदीरणा च ६। उवजोगे च ७। चउट्ठाणे च ८। वंजणे च ९। सम्मत्ते त्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दंसणमोहणीयखवणा च ११। देसविरदी च १२। 'संजमे उवसामणा च खवणा च' चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४। .... अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५।"

दोनोंका अन्तर इस प्रकार है–'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदिअणुभागे च' से ग्रन्थकारको तीन अधिकार इष्ट हैं जब कि चूर्णिसूत्रकार उससे दो ही अधिकार लेते हैं। 'वेदग' पद से ग्रन्थकारको एक ही अधिकार इष्ट है किन्तु चूर्णिकार उससे दो अधिकार लेते हैं। 'संजम' पदसे ग्रन्थकारको संयम नामका एक अधिकार इष्ट है, किन्तु चूर्णिकार उसे सप्तम्यन्त रखकर उसका सम्बन्ध 'उवसामणा च खवणा च' से कर देते हैं। और उस कमीकी पूर्ति वे अद्धापरिमाणनिर्देशको स्वतन्त्र अधिकार मानकर करते हैं। इस प्रकार संख्या तो पूरी हो जाती है किन्तु अधिकारोंमें अन्तर पड़ जाता है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि कसायपाहुडके कर्ताने अपनी गाथाओंका अर्थ स्वयं तो किया नहीं और चूर्णिसूत्रोंके आधार पर ही जयधवलाकारने कसायपाहुड़का व्याख्यान किया है। अतः अधिकारसूचक गाथासूत्रोंका जो अर्थ चूर्णिसूत्रकारने किया है उसे ही कषायप्राभृतके कर्ताका अभिप्राय समझना चाहिये, न कि जो जयधवलाकारने किया है उसे? इस आशङ्काका समाधान कषायप्राभृतके उन गाथासूत्रोंसे हो जाता है जिनमें यह बतलाया गया है कि किस अधिकारमें कितनी गाथाएँ है? वे गाथासूत्र निम्नप्रकार हैं—

"पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदिअणुभागे च बंधगे चेव।
तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥३॥
चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ।
सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥४॥
दंसणमोहस्सुवसामणाए पण्णारस होंति गाहाओ।
पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥५॥
लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स।
दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥६॥
चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि।
ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए ॥७॥
चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स।
एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण ॥८॥"

इनमें से पहली गाथामें बतलाया है कि पांच अधिकारोंमें तीन गाथाएं हैं। इस गाथाके पूर्वार्द्धमें उन तीनों गाथाओंका तो निर्देश किया ही है, साथ ही साथ जिन पांच अधिकारोंमें वे तीन गाथाएं हैं उनका भी निर्देश इसी पूर्वार्धमें है। जयधवलाकारके व्याख्यानके अनुसार वे अधिकार हैं-१ पेज्जदोसविहत्ती, २ ट्ठिदिविहत्ति, ३ अणुभागविहत्ति, ४ बंधग और च पद से संक्रम। किन्तु चूर्णिसूत्रकार उससे चार ही अधिकार लेते हैं १ पेज्जदोस, २ विहत्तिट्ठिदि अणुभागे च, ३ बंध और ४ संकम।

दूसरी गाथामें बतलाया है कि वेदक अधिकारमें चार, उपयोग अधिकारमें सात, चतुःस्थान अधिकारमें सोलह और व्यंजन अधिकारमें पाँच गाथाएँ हैं। तीसरी गाथामें बतलाया है कि दर्शनमोह की उपशामना नामक अधिकारमें पन्द्रह और दर्शनमोहकी क्षपणा नामक अधिकारमें पांच सूत्र गाथाएँ हैं। चौथी गाथामें बतलाया है कि संयमासंयमकी लब्धि नामक अधिकारमें और चारित्रकी लब्धि नामक अधिकारमें एक ही गाथा है। और चारित्रमोहकी उपशामना नामक अधिकारमें आठ गाथाएं हैं।

पांचवी और छठी गाथामें चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अधिकारके अवान्तर अधिकारोंमें गाथा संख्याका निर्देश करके कुल गाथाएं २८ बतलाई हैं। इस प्रकार पन्द्रह अधिकारोंमें ग्रन्थकारने जब स्वयं गाथा संख्याका निर्देश किया है तब तो उक्त आशंकाके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता है।

इन गाथाओं पर चूर्णिसूत्र नहीं हैं। इस पर से यह आशङ्का की जा सकती है कि चूर्णिसूत्रकारके सामने ये गाथाएं नहीं थीं। यदि ऐसा होता तो अधिकारनिर्देशमें अन्तर पड़ने की समस्या सरलतासे सुलझ जाती। किन्तु इन गाथाओं पर चूर्णिसूत्र न रच कर भी चूर्णिसूत्रकारने इन गाथाओं का न केवल अनुसरण किया है किन्तु उनके पदों को भी अपने चूर्णिसूत्रों में लिया है और यह बात उनके चूर्णिसूत्रोंके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाती है।

जैसे, चूर्णिसूत्रकारने चारित्रलब्धि नामका अधिकार नहीं माना है फिर भी चौथी गाथाका 'लद्धी तहा चरित्तस्स' पद चूर्णिसूत्रमें पाया जाता है। यथा-'लद्धी तहा चरित्तस्सेत्ति अणिओगद्दारे पुव्वं गमणिज्जं सुत्तं। तं जहा, जा चेव संजमासंजमे भणिदा गाहा सा चेव एत्थ वि कायव्वा।' इससे स्पष्ट है कि उक्त गाथाएं चूर्णिसूत्रकारके सामने थीं। ऐसी परिस्थितिमें उन्होंने क्यों पृथक् अधिकारोंका निर्देश किया? यह प्रश्न एक जिज्ञासुके चित्तमें उत्पन्न हुए विना नहीं रहता।

जयधवलाकारने भी अपने विवरणमें[1] इस प्रश्न को उठाया है। प्रश्नकर्ताका कहना है कि जब गुणधर भट्टारकने स्वयं पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश कर दिया था तो चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आचार्यने उन्हें दूसरे प्रकारसे क्यों कहा और ऐसा करनेसे उन्हें गुरु की अवज्ञा करनेवाला क्यों न कहा जाय? इस प्रश्न का समाधान जयधवलाकारने यह कह कर किया है कि 'गुणधरभट्टारकने अधिकारोंकी दिशामात्र दरसाई थी अतः उनके बतलाये हुए अधिकारोंका निषेध न करके दूसरे प्रकारसे उनका निर्देश करनेसे यतिवृषभको गुणधर भट्टारकका अवज्ञा करनेवाला नहीं कहा जा सकता। अधिकारोंके और भी प्रकार हो सकते हैं'। श्री वीरसेन स्वामीके इस समाधानसे मनमें एक आकांक्षा शेष रह जाती है कि यदि वे उपस्थित होते तो उनके चरणारविन्दमें जाकर पूछते कि भगवन्! सूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंके रहते हुए भी वृत्तिकारने विना किसी खास कारणके क्यों अधिकारोंमें अन्तर किया?

चूर्णिसूत्रमें निर्दिष्ट अधिकारोंके सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि

(१) कसायपा० पृ० १८५।

जयधवलाकारने लिखा है कि चूर्णिसूत्रकार अपने द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंके अनुसार ही चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है किन्तु अद्धापरिमाणनिर्देश नामके उनके पन्द्रहवें अधिकारपर एक भी चूर्णिसूत्र नहीं मिलता। यों तो जयधवलामें इस नामका कोई अधिकार ही नहीं है किन्तु इसका कारण यह है कि जयधवलाकारने गुणधर आचार्यके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंका ही अनुसरण किया है। ऐसी परिस्थितिमें कहीं उस अधिकारको जयधवलाकारने छोड़ तो नहीं दिया ? किन्तु अद्धापरिमाणका निर्देश करने वाली गाथाओं पर चूर्णिसूत्र ही नहीं पाये जाते हैं अतः उक्त संभावना तो बेबुनियाद प्रतीत होती है। किन्तु यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि यदि अद्धापरिमाण निर्देशके सम्बन्धमें चूर्णिसूत्रकारने कुछ भी नहीं लिखा तो इस नामका पृथक् अधिकार ही क्यों रखा ? हो सकता है कि चूर्णिसूत्रकार अद्धापरिमाणनिर्देशको पृथक् अधिकार मानते हों किन्तु तत्सम्बन्धी गाथाओंको सरल समझकर उनपर चूर्णिसूत्र न रचे हों जैसा कि जयधवलाकारने कहा है। किन्तु ऐसी अवस्थामें उनके अधिकारोंमेंसे यही एक ऐसा अधिकार रह जाता है जिसपर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा।

चूर्णिसूत्रमें ग्रन्थ निर्देश– यों तो चूर्णिसूत्रमें किसी ऐसे ग्रन्थका निर्देश नहीं मिलता जो आज उपलब्ध हो, किन्तु आगम ग्रन्थोंका उल्लेख अवश्य मिलता है। चारित्रमोहकी उपशामना नामके अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने लिखा है कि अकरणोपशामनाका वर्णन कर्मप्रवादमें[1] है और देशकरणोपशामनाका वर्णन कर्मप्रकृतिमें[2] है। कर्मप्रवाद आठवें पूर्व का नाम है। और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पंचम वस्तु अधिकारके चौथे प्राभृतका नाम है। इसी प्राभृतसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। इन दो नामोंके सिवा उनमें अन्य किसी ग्रन्थका उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

उपयोग अधिकारकी चतुर्थ गाथाका व्याख्यान करके चूर्णिसूत्रकार लिखते हैं—

'एक्केण उवएसेण चउत्थीए गाहाए विहासा समत्ता भवदि। पवाइज्जंतेण उवएसेण चउत्थीए विहासा।'

चूर्णिसूत्रमें दो उपदेश परम्परा– अर्थात् 'एक उपदेशके अनुसार चतुर्थ गाथाका विवरण समाप्त होता है। अब पवाइज्जंत उपदेशके अनुसार चतुर्थ गाथाका व्याख्यान करते हैं।'

इसीप्रकार आगे भी कई विषयों पर चूर्णिसूत्रकारने पवाइज्जंत और अपवाइज्जंत उपदेशोंका उल्लेख किया है। यह पवाइज्जंत उपदेश क्या है ? यह बतलाते हुए जयधवलाकारने लिखा है[3]—'जो उपदेश सब आचार्योंको सम्मत होता है और चिरकालसे अविछिन्न सम्प्रदाय क्रमसे आता हुआ शिष्य परम्पराके द्वारा प्रवाहित होता है–कहा जाता है या लाया जाता है उसे पवाइज्जंत कहते हैं। अथवा यहां भगवान् आर्यमंक्षुका उपदेश अपवाइज्जंत है और नागहस्तिक्षपणकका उपदेश पवाइज्जंत है।'

इससे स्पष्ट है कि चूर्णिसूत्रकारको विविध विषयोंपर दो प्रकारके उपदेश प्राप्त थे। उनमेंसे एक उपदेश आचार्य परम्परासे अविच्छिन्न रूपसे चला आया होनेके कारण तथा सर्वाचार्य

(१) "एसा कम्मपवादे।" कसायपा. प्रे. का. पृ. ६५६२। (२) "एसा कम्मपयडीसु।" कसायपा. प्रे. का. पृ. ६५६७। (३) "सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतवो त्ति घेतव्वो।" कसायपा०प्रे०पृ०५९२०–२१।

सम्मत होनेके कारण पवाइज्जंत कहलाता था और दूसरा अपवाइज्जंत। उन दोनों उपदेशोंका संग्रह चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया है।

चूर्णिसूत्र और उच्चारणा

उच्चारणावृत्तिका परिचय कराते हुये हम लिख आये हैं कि चूर्णिसूत्रोंमें जिन विषयोंका निर्देश मात्र था या जिन्हें छोड़ दिया गया था उनका भी विस्तृत वर्णन इस वृत्तिमें था। जयधवलाकारने अपनी जयधवला टीकामें इस वृत्तिका खूब उपयोग किया है। उनके उल्लेखोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि न केवल चूर्णिसूत्रोंमें निर्दिष्ट अर्थका विस्तृत वर्णन ही उच्चारणामें किया गया है किन्तु उच्चारणाकी रचना ही चूर्णिसूत्रोंपर हुई थी और उसमें चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान तक किया गया था। जयधवलाके कुछ उल्लेख निम्न प्रकार हैं—

१ "एवं जइवसहाइरिएण सूचिदस्स अत्थस्स उच्चारणाइरियेण परूविदवक्खाणं भणिस्सामो" प्रे० का० पृ० १११४।

२ "एवं जइवसहाइरियसुत्तपरूवणं करिय एदेण चेव सुत्तेण देसामासिएण सूचिदत्थाणमुच्चारणा-इरियपरूविदवक्खाणं भणिस्सामो।" प्रे० का० पृ० १२९८।

३ "संपहि एदस्स सुत्तस्स उच्चारणाइरियकयवक्खाणं वत्तइस्सामो।" प्रे० का० पृ० १९५९।

४ "संपहि एदस्स अत्थसमप्पणासुत्तस्स····भगवदीए उच्चारणाए पसाएण पज्जवट्ठियपरूवणं भणिस्सामो।" प्रे० का० पृ० २९३६।

इन उल्लेखोंसे, खास करके तीसरे उल्लेखसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उच्चारणामें चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान भी था। यह संभव है कि सब सूत्रोंका व्याख्यान न हो किन्तु जो सूत्र देशामर्षक हैं उनका उसमें व्याख्यान अवश्य जान पड़ता है। इस प्रकार एक प्रकारसे चूर्णिसूत्रका वृत्तिग्रन्थ होते हुये भी उच्चारणा और चूर्णिसूत्रमें मतभेदोंकी कमी नहीं है। जयधवलाकारने उनके मतभेदोंका यथास्थान उल्लेख किया है। यथा—

१ "एसो चुण्णिसुत्तउवएसो, उच्चारणाए पुण वे उवएसा।" प्रे० का० पृ० १२३४।

२ "चुण्णिसुत्ते आणदादिसु सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं अवट्ठिदविहत्ती णत्थि एत्थ पुण उच्चारणाए अत्थि।" प्रे० का० पृ० १६२१।

३ "उच्चारणाए अभिप्पाएण असंखेज्जगुणा, जइवसहगुरूवएसेण संखेज्जगुणा।" प्रे०का०पृ०१९१७।

४ "णवरि एवंविहसंभवो उच्चारणाकारेण ण विवक्खिओ।" प्रे० का० पृ० ५२७८।

एक स्थानपर तो जयधवलाकारने स्पष्ट कह दिया है कि कहीं कहीं चूर्णिसूत्र और उच्चारणामें भेद है। यथा–

"संपहि चुण्णिसुत्तेण देसामासिएण सूइदमत्थमुच्चारणाइरिएण परूविदं वत्तइस्सामो। अपुणरुत्तत्थो चेव किण्ण वुच्चदे ? ण; कत्थवि चुण्णिसुत्तेण उच्चारणाए भेदो अत्थि त्ति तब्भेदपदुप्पायणदुवारेण पउणरुत्तियाभावादो।" प्रे० का० पृ० २८३४।

यह भेद केवल सैद्धान्तिक विषयोंको ही लेकर नहीं है, किन्तु अनुयोगद्वारोंके भी विषयमें है। वेदक अधिकारमें उदीरणास्थानोंके अनुयोगद्वारोंका वर्णन करते हुए चूर्णिसूत्रकारने संन्यास नामका भी एक अनुयोगद्वार रखा है। किन्तु जयधवलाकारका कहना है कि उच्चारणामें सन्यास अनुयोगद्वार नहीं है उसमें केवल सत्रह ही अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण किया है। यथा–

"उच्चारणाहिप्पाएण पुण सण्णियासो णत्थि तत्थ सत्तारसण्हमेवाणिओगद्दाराणं परूवणादो।" प्रे० पृ० ४८४७।

चूर्णिसूत्र की अन्य व्याख्याएँ– कुछ चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने उनके पाठान्तरोंकी चर्चा की है और लिखा है कि कुछ आचार्य ऐसा पाठ मानते हैं। यथा–

'संगह-ववहाराणं दुट्ठो सव्वदव्वेसु पियायदे सव्वदव्वेसु इदि केसिं पि आइरियाणं पाठो अत्थि'[1]।

आगे एक जगह लिखा है–

'अण्णे पुण 'तमुवरि हम्मदि' त्ति पाठंतरमवलंबमाणा एवमेत्थ सुत्तत्थसमत्थणं करेंति।' कसायपा० प्र० पृ० ६४२५।

अर्थात् 'अन्य आचार्य 'तमुवरि हम्मदि' ऐसा पाठान्तर मानकर इसप्रकार इस सूत्रके अर्थका समर्थन करते हैं।'

इन उल्लेखोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उच्चारणावृत्तिके सिवा चूर्णिसूत्रकी कुछ अन्य व्याख्याएँ भी जयधवलाकारके सम्मुख उपस्थित थीं। ये व्याख्याएं कसायपाहुडकी उन व्याख्याओंसे, जिनकी चर्चा पहले कर आये हैं, पृथक् थीं या अपृथक्, यह तो तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक उन्हें देखा न जाय, फिर भी इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रपर भी अनेक वृत्तियां लिखी गईं थीं और इसका कारण यह हो सकता है जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडको विना उसके चूर्णिसूत्रोंके समझना दुरुह था। अतः जो कसायपाहुडको पढ़ना या उसपर कुछ लिखना चाहता था उसे चूर्णिसूत्रोंका आश्रय अवश्य लेना पड़ता था। दूसरे, इन पाठान्तरोंसे यह भी ध्वनित होता है कि जयधवलाकी रचना होनेसे पहले आचार्यपरम्परामें चूर्णिसूत्रोंके पठन-पाठनका बाहुल्य था, क्योंकि ऐसा हुए विना पाठभेद और उन पर आचार्योंके मतोंकी सृष्टि नहीं हो सकती। जो हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि चूर्णिसूत्र एक समय बड़े लोकप्रिय रहे हैं।

कसायपाहुडका परिचय कराते हुए हम कसायपाहुड और षट्खण्डागमके मतभेदकी चर्चा कर आये हैं और यह भी लिख आये हैं कि धवलाकारने दोनोंके मतभेदकी चर्चा करते हुए कसायपाहुडके उपदेशको भिन्न बतलाया है। जब कसायपाहुडका ही उपदेश भिन्न है तो उसपर रचे गये चूर्णिसूत्रोंका भी षट्खण्डागमसे मतभेद होना संभव है।

चूर्णिसूत्र और षट्खण्डागम– जयधवलाकारने इस मतभेदकी चर्चा कई जगहकी है। प्रदेशविभक्तिमें मिथ्यात्वके जघन्य प्रदेशोंका अस्तित्व बतलानेवाले चूर्णिसूत्रका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकार लिखते हैं[2]–

"वेयणाए पलिदो० असंखे० भागेणूणियं कम्मट्ठिदिं सुहुमेइंदिएसु हिंडाविय तसकाइएसु उप्पाइदो। एत्थ पुण कम्मट्ठिदिं संपुण्णं भमाविय तसत्तं णीदो। तदो दोण्हं सुत्ताणं जहाविरोहो तहा वत्तव्वमिदि। जइवसहाइरियोवएसेण खविदकम्मंसियकालो कम्मट्ठिदिमेत्तो 'सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ' त्ति सुत्तणिद्देसण्णहाणुववत्तीदो। भूदवलिआइरियोवएसेण पुण खविदकम्मंसियकालोपलिदोवमस्स असंखेज्जभागेणूणं कम्मट्ठिदिमेत्तो।"

अर्थात् 'वेदनाखंडमें पल्यके असंख्यातवें भाग कम कर्मस्थितिप्रमाण सूक्ष्म एकेन्द्रियोंमें भ्रमण कराकर त्रसकायिक जीवोंमें उत्पन्न कराया है और यहां चूर्णिसूत्रमें सम्पूर्ण कर्मस्थिति-प्रमाण भ्रमण कराकर त्रसपर्यायको प्राप्त कराया है। अतः दोनों सूत्रोंमें जिस प्रकार अविरोध हो उस प्रकार कहना चाहिये। यतिवृषभ आचार्यके उपदेशसे क्षपितकर्मांशका काल कर्मस्थिति प्रमाण है, क्यों कि यदि ऐसा न होता तो 'सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ' ऐसा सूत्रका

(१) कसायपा० पृ० ३७२। (२) कसायपा० प्रे० का० २५२४।

नहीं हो सकता था। किन्तु भूतबलि आचार्यके उपदेशसे क्षपितकर्मांशका काल पल्यके असंख्यातवें भाग कम कर्मस्थितिमात्र है।'

इससे स्पष्ट है कि चूर्णिसूत्र और षट्खण्डागममें किन्हीं विषयोंको लेकर मतभेद है। आगे उपयोग अधिकारमें क्रोधादिकषायोंसे उपयुक्त जीवका काल बतलाते हुए जयधवलाकार लिखते हैं—

"कोहादिकसायोपजोगजुत्ताणं जहण्णकालो मरणवाघादेहि एकसमयमेत्तो त्ति जीवट्ठाणादिसु परूविदो सो एत्थ किण्ण इच्छिज्जदे ? ण; चुण्णिसुत्ताहिप्पाएण तहा संभवाणुवलंभादो।"[1]

शङ्का–क्रोधादिकषायोंके उपयोगसे युक्त जीवोंका जघन्यकाल मरण व्याघात आदिके होने पर एकसमयमात्र होता है ऐसा जीवस्थान आदिमें कहा है। वह यहां क्यों नहीं इष्ट है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि चूर्णिसूत्रके अभिप्रायसे वैसा संभव नहीं है।

जीवस्थान षट्खण्डागमका ही पहला खण्ड है। अतः इस शङ्का-समाधानसे भी स्पष्ट है कि चूर्णिसूत्र और षट्खण्डागमका अभिप्राय एकसा नहीं है। और ऐसा क्यों न हो, जब कि जयधवलाकार दोनोंको भिन्न उपदेश बतलाते हैं।

चूर्णिसूत्र और महाबन्ध

अभी तक हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिल सका है जिसके आधारपर निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि चूर्णिसूत्रकारके सामने प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ षट्खण्डागम उपस्थित था। कसायपाहुडके बन्धक[3] अधिकारमें एक चूर्णिसूत्र इस प्रकार आता है—

'सो पुण पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसबंधो बहुसो परूविदो।'

जयधवलाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'गाथाके पूर्वार्धसे सूचित प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका वर्णन ग्रन्थान्तरोंमें विस्तारसे किया है इसलिये उन्हें वहीं देख लेना चाहिये। यहां उनका वर्णन नहीं किया है।'

यद्यपि चूर्णिसूत्रके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः चूर्णिसूत्रकार अपने ही लिये ऐसा लिख रहे हैं कि स्वयं उन्होंने ही कहीं इन बन्धोंका विस्तारसे वर्णन किया है। किन्तु जयधवलाकारने इन बन्धोंका विस्तृत वर्णन महाबन्धके अनुसार कर लेनेका निर्देश किया है। इससे यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि चूर्णिसूत्रकारका संकेत भी महाबन्धकी ही ओर था किन्तु यदि ऐसा हो तो असंभव नहीं है, क्योंकि षट्खण्डागमकी तीसरी पुस्तककी प्रस्तावनामें महाबन्धके परिचयमें जो उसके थोड़ेसे सूत्र दिये गये हैं उनके साथ चूर्णिसूत्रोंकी तुलना करनेसे ऐसा लगता है कि चूर्णिसूत्रकारने महाबन्धको देखा था, क्योंकि न केवल दोनों ग्रन्थोंके सूत्रोंकी शैली और रचनामें ही साम्य झलकता है किन्तु शब्दसाम्य भी मालूम होता है। उदाहरणके लिये दोनोंके कुछ सूत्र नीचे दिये जाते हैं—

महाबन्ध	चूर्णिसूत्र
तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो,	[4]पयडिविहत्ती दुविहा मूलपयडिविहत्ती च
मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि।	उत्तरपयडिविहत्ती च। मूलपयडिविहत्तीए
तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो,	इमाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि। तं जहा।
जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो,	× × ×
एगेगुत्तरपयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडि-	[5]तदो उत्तरपयडिविहत्ती दुविहा, एगेगउत्तर-

(१) कसायपा० प्रे० का० पृ० ५८५७। (२) "एवं संते जहण्णदव्वादो उक्कस्सदव्वमसंखेज्जगुणं ति भणिदवेयणाचुण्णिसुत्तेहि विरोहो होदि त्ति ण पच्चवट्ठेयं, भिण्णोवदेसत्तादो।" प्रे० का० पृ० ७८९८। (३) प्रे० का० पृ० ३४६२। (४) प्रे० का० पृ० ३९६। (५) प्रे० का० पृ० ४०१।

बंधो चेदि। तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडि-
बंधो तस्स चउवीस अणिओगद्दाराणि
णादव्वाणि भवंति । तं जहा ।

पयडिविहत्ती चेव पयडिट्ठाणउत्तरपयडि-
विहत्ती चेव । तत्थ एगेगउत्तरपयडिविहत्तीए
इमाणि अणिओगद्दाराणि । तं जहा ।

यदि महाबन्धके साक्षात् दर्शन हो सके तो इसके सम्बन्धमें और भी प्रकाश डाला जा सकेगा ।

चूर्णिसूत्र और कर्मप्रकृतिकी चूर्णि-

कसायपाहुडके साथ जिस श्वेताम्बरीय ग्रन्थ कर्मप्रकृति की तुलना कर आये हैं उसी कर्मप्रकृतिपर एक चूर्णि भी है। किन्तु उसके रचयिताका पता नहीं लग सका है। जैसे कसायपाहुडके संक्रम अनुयोगद्वार की कुछ गाथाएँ कर्मप्रकृतिके संक्रमकरणसे मिलती हुई हैं उसी प्रकार उन्हीं गाथाओंपर की चूर्णिमें भी परस्परमें समानता है। हम लिख आये हैं कि कसायपाहुडके संक्रम अनुयोगद्वार की १३ गाथाएं कर्मप्रकृतिके संक्रमकरणमें हैं। इन गाथाओंमेंसे पहली ही गाथापर यतिवृषभने चूर्णिसूत्र रचे हैं। कर्मप्रकृतिमें भी उस गाथा तथा उसके आगेकी एक गाथापर ही चूर्णि पाई जाती है शेष ग्यारह गाथाओंपर चूर्णि ही नहीं है। उससे आगे फिर उन्हीं गाथाओंसे चूर्णि प्रारम्भ होती है जो कसायपाहुडमें नहीं हैं। यह सादृश्य काकतालीयन्यायसे अचानक ही हो गया है या इसमें भी कुछ ऐतिहासिक तथ्य है यह अभी विचाराधीन ही है। अस्तु, यह समानता तो चूर्णि की रचना करने और न करने की है। दोनों चूर्णियोंमें कहीं कहीं अक्षरशः समानता भी पाई जाती है। जैसे–कसायपाहुडके चारित्रमोहोपशामना नामक अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने उपशामनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

"उवसामणा दुविहा–करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा–देशकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु। जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि।"

इसकी तुलना कर्मप्रकृतिके उपशमनाकरणकी पहली और दूसरी गाथाकी निम्न चूर्णिसे करना चाहिये।

(१) "करणोवसामणा अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ। बितिया अकरणोवसामणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि–अकरणोवसामणा अणुदिन्नोवसामणा य।·····सा अकरणोवसामणा ताते अणुओगो वोच्छिन्नो।"

(२) "सा करणोवसामणा दुविहा–सव्वकरणोपसामणा देसकरणोपसामणा च। एक्केक्का दो दो णामा। सव्वोवसामणाते गुणोवसमणा पसत्थोपसमणा य णामा। देसोपसमणादे तासि विवरीया दो नामा–अगुणोपसमणा अपसत्थोपसमणा य।"

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि उपशमनाके ये भेद और उनके नाम कर्मप्रकृतिके उपशमनाकरणकी पहली और दूसरी गाथामें दिये हैं उन्हींके आधार पर चूर्णिकारने चूर्णिमें दिये हैं। किन्तु कसायपाहुडकी गाथाओंमें 'उवसामणा कदिविधा' लिखकर ही उसकी समाप्ति कर दी गई है। और चूर्णिसूत्रकारने स्वयं ही गाथाके इस अंश का व्याख्यान करनेके लिये उक्त चूर्णिसूत्र रचे हैं। दूसरी बात यह ध्यानमें रखने योग्य है कि चूर्णिसूत्रकार अकरणोपशामनाका वर्णन कर्मप्रवाद नामक पूर्वमें बतलाते हैं जब कि कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें लिखा है कि 'अकरणोपशामनाका अनुयोग विच्छिन्न हो गया' और कर्मप्रकृतिके रचयिता भी उससे अनभिज्ञ थे।

कसायपाहुडके उक्त अधिकारमें उपशमश्रेणिसे प्रतिपातका कारण बतलाकर यह भी बतलाया है कि किस अवस्थामें गिरकर जीव किस गुणस्थानमें आता है। गाथा निम्नप्रकार है-

"दुविहो खलु पडिवादो भवक्खयादुवसमक्खयादो दु।
सुहुमे च संपराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥११७॥"

इस पर चूर्णिसूत्र निम्न प्रकार हैं—

"दुविहो पडिवादो भवक्खयेण च उवसामणाक्खयेण च। भवक्खयेण पदिदस्स सव्वाणि करणाणि एगसमएण उग्घादिदाणि। पढमसमए चेव जाणि उदीरिज्जंति [कम्माणि ताणि उदयावलियं पवेसयाणि। जाणि ण उदीरिज्जंति] ताणि वि ओक्कडियूण आवलियबाहिरे गोवुच्छाए सेढीए णिक्खित्ताणि। जो उवसामणाक्खयेण पडिवडदि तस्स विहासा।"

इसका मिलान कर्मप्रकृतिके उपशमनाकरणकी ५७ वीं गाथा की निम्न चूर्णिसे कीजिये-

"इयाणि पडिवातो सो दुविहो-भवक्खएण उवसमद्धक्खएण य। जो भवक्खएण पडिवडइ तस्स सव्वाणि करणाणि एगसमतेण उग्घाडियाणि भवंति। पढमसमते जाणि उदीरिज्जंति कम्माणि ताणि उदयावलिगं पवेसयाणि। जाणि ण उदीरिज्जंति ताणि उक्कड्ढिऊण उदयावलियबाहिरतो उवरिं गोपुच्छागितीते सेढीते रतेति। जो उवसमद्धाक्खएणं परिपडति तस्स विहासा।"

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि प्रतिपातके इन भेदोंकी चर्चा कर्मप्रकृतिकी उस गाथामें तो है ही नहीं जिसकी यह चूर्णि है किन्तु अन्यत्र भी हमारी दृष्टिसे नहीं गुजर सकी। दूसरे 'तस्स विभासा' करके लिखने की शैली चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभकी ही है यह हम पहले उनकी व्याख्यान-शैलीका परिचय कराते हुए लिख आये हैं। कर्मप्रकृतिकी कमसे कम उपशमनाकरणकी चूर्णिमें तो 'तस्स विभासा' लिखकरके गाथाके व्याख्यान करनेका क्रम इसके सिवाय अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो सका। कर्मप्रकृतिके चूर्णिकार तो गाथाका पद देकर ही उसका व्याख्यान करते हैं। जैसे इसी गाथाके व्याख्यानमें-"उवसंता य अकरण त्ति-उवसंताता मोहपगडीतो करणा य ण भवंति।" उनका सर्वत्र यही क्रम है। तीसरे, एक दूसरे की रचनाको देखे विना इतना साम्य होना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मप्रकृतिके चूर्णिकारने कसायपाहुडके चूर्णि-सूत्रोंको देखा था।

३ जयधवला

इस संस्करणमें कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रोंके साथ जो विस्तृत टीका दी गई है उसका नाम जयधवला है। यों तो टीकाकारने इस टीकाकी प्रथम मंगलगाथाके आदिमें ही

नाम- 'जयइ धवलंगतेए-' पद देकर इसके जयधवला नामकी सूचना दे दी है। किन्तु अन्तमें तो उसके नामका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। यथा-

"एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवलासण्णिया टीका ॥ १ ॥"

अर्थात्-'तीनों लोकोंके भवनोंको धवलित करने वाली और प्रसिद्ध माहात्म्यवाली कसाय-पाहुडसूत्रोंकी यह जयधवला नामकी टीका यहाँ समाप्त होती है ॥ १ ॥

ऊपरके उल्लेखोंसे यह तो स्पष्ट होजाता है कि इस टीकाका नाम जयधवला है। किन्तु

इस नामका कारण- यह जाननेकी आकांक्षा बनी ही रहती है कि इसको यह नाम क्यों दिया गया? टीकाकारने स्वयं तो इस सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे कुछ भी नहीं लिखा, किन्तु उनके उल्लेखोंसे कुछ कल्पना जरूर की जा सकती है। टीकाके प्रारम्भमें टीकाकारने भगवान

चन्द्रप्रभ स्वामीकी जयकामना करते हुए उनके धवलवर्ण शरीरका उल्लेख किया है। ८ वें तीर्थङ्कर श्री चन्द्रप्रभ स्वामीके शरीरका वर्ण धवल-श्वेत था यह प्रकट ही है। अतः इस परसे यह कल्पना की जा सकती है कि जिस वाटग्रामपुरमें इस टीकाकी रचना हुई है उसके जिनालयमें चन्द्रप्रभ स्वामीकी कोई श्वेतवर्ण मूर्ति रही होगी, उसीके सान्निध्यमें होनेके कारण टीकाकारने अपनी टीकामें चन्द्रप्रभ भगवानका स्तवन किया है और उसीपरसे जयधवला नामकी सृष्टि की गई है। किन्तु यह कल्पना करते समय हमें यह न भुला देना चाहिये कि टीकाकार श्री वीरसेन स्वामीने इससे पहले प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ पट्खण्डागमपर धवला नामकी टीका बनाई थी। उसके पश्चात् इस जयधवला टीकाका निर्माण हुआ है। अतः इस नामका मूलाधार तो प्रथम टीकाका धवला नाम है। उसीपरसे इसका नाम जयधवला रखा गया है और दोनोंमें भेद डालने के लिये धवलाके पहले 'जय' विशेषण लगा दिया गया है। फिर भी यतः मूल नाम धवला है अतः उस नामकी कुछ सार्थकता तो इसमें होनी ही चाहिये, सम्भवतः इसीलिये इस टीकाके प्रारम्भमें धवलशरीर श्री चन्द्रप्रभ भगवानका स्तवन किया गया है।

पट्खण्डागमके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें उसकी टीका धवलाके नामकी सार्थकता बतलाते हुए लिखा है कि 'वीरसेन स्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रखा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये उन्होने यह नाम चुना हो।··· यह टीका कार्तिक मासके धवलपक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अत एव संभव है इसी निमित्तसे रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो।···यह टीका अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारम्भ कालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशयधवल' भी मिलती है।····संभव है उनकी यह उपाधि भी धवलाके नामकरणमें एक निमित्त कारण हुआ हो।'

उक्त संभावित तीनों ही कारण इस जयधवला टीकामें भी पाये जाते हैं। प्रथम, धवलाकी तरह यह भी विशद है ही। दूसरे, इसकी समाप्ति भी शुक्ल पक्षमें हुई है और तीसरे, वह अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य कालमें समाप्त हुई है। अतः यदि इन निमित्तोंसे टीकाका नाम धवला पड़ा हो तो उन्हीं निमित्तोंसे इसका नाम भी धवला रखकर भेद डालनेके लिये उसके पहले 'जय' विशेषण लगा दिया गया है। अस्तु, जो हो, किन्तु यह तो सुनिश्चित ही है कि नामकरण पहले धवलाका ही किया गया है और वह केवल किसी एक निमित्तसे ही नहीं किया गया। हमारा अनुमान है कि धवला टीकाकी समाप्तिके समय उसका यह नामकरण किया गया है और नामकरण करते समय भूतवलि पुष्पदन्तके धवलामल अङ्गको जरूर ध्यानमें रखा गया है।[1] भूतवलि पुष्पदन्तके शरीरकी धवलिमा, कुन्देंदुशंखवर्ण दो वृषभोंका स्वप्नमें धरसेनके पादमूलमें आकर नमना, धवलपक्षमें और 'अतिशय धवल' उपाधिके धारक राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें ग्रन्थकी समाप्ति होने आदि निमित्तोंसे पहली टीकाका नाम धवला रखना ही उपयुक्त प्रतीत हुआ होगा।

ये तो हुए बाह्य निमित्त। उसके अन्तरंग निमित्त अथवा धवला नामकी सार्थकताका उल्लेख तो ऊपर उद्धृत जयधवलाकी प्रशस्तिके प्रथम पद्यमें 'धवलियतिहुअणभवणा' विशेषणके द्वारा किया गया प्रतीत होता है। यद्यपि यह विशेषण जयधवला टीकाके लिये दिया गया है किन्तु इसे धवला टीकामें भी लगाया जा सकता है। यथार्थमें इन टीकाओंकी उज्ज्वल ख्यातिने तीनों लोकोंको धवलित कर दिया है। अतः इनका धवला नाम सार्थक है। इस प्रकार जब पहली टीकाका नाम धवला रख लिया गया तो दूसरी टीकाके नामकरणमें अधिक सोचने विचारनेकी

(१) "धवलामलबहुविहविणयविहूसियंगा" धवला, पृ० ६७।

आवश्यकता नहीं रही। धवलाके पहले जय विशेषण लगा कर उसका नाम जयधवला रख लिया गया। और टीकाका प्रारम्भ करते हुए 'जयइ धवलंग' आदि लिखकर उसकी सूचना दे दी गई। इस विवरणसे इस टीकाका नाम जयधवला क्यों रखा गया ? इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है।

धवलाकी प्रतियोंके अन्तमें एक वाक्य पाया जाता है–'एवं सिद्धान्तार्णवं पूर्तिमगमत्।' जयधवला अर्थात् इस प्रकार सिद्धान्तसमुद्र पूर्ण हुआ। उसके पश्चात निम्न गाथा दी हुई है–

सिद्धान्त ग्रन्थ "जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धंतमिदि (मिदं) हि अहिलहुंदी।
मह सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥"

अर्थात्–'जिसके प्रसादसे मैंने यह सिद्धान्त ग्रन्थ लिखा, वह एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हों।'

ऊपरके दोनों उल्लेखोंमें धवला टीकाको सिद्धान्त ग्रन्थ बतलाया है। किन्तु उसे सिद्धान्त संज्ञा क्यों दी गई यह नहीं बतलाया। जयधवला टीकाके अन्तमें इसका कारण बतलाते हुए लिखा है—

"सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक्।
सोऽनाद्यनन्तसन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ १ ॥"

अर्थ–'अन्तमें सिद्धोंका कथन किये जानेके कारण जो सिद्धान्त नामसे प्रसिद्ध है, वह अनादि-अनन्त सन्तानवाला सिद्धान्त हमारी चिरकाल तक रक्षा करे ॥ १ ॥'

इस श्लोकसे यह स्पष्ट है कि चूंकि धवला और जयधवला टीकाके अन्तमें सिद्धोंका कथन किया गया है इसलिये उन्हें सिद्धान्त कहा जाता है। उसके विना कोई ग्रन्थ सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। और सम्भवतः इसी लिये कसायपाहुडके अन्तमें सिद्धोंकी चर्चा की गई है।

बात यह है कि कसायपाहुडका व्याख्यान समाप्त करके जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रमें निरूपित पश्चिमस्कन्ध नामके अधिकारका वर्णन किया है। घातियाकर्मोंके क्षय हो जानेपर अघातियाकर्म स्वरूप जो कर्मस्कन्ध पीछेसे रह जाता है उसे पश्चिमस्कन्ध कहते हैं। क्योंकि उसका सबसे पीछे क्षय होता है इसलिये उसका नाम पश्चिमस्कन्ध न्याय्य है, आदि। इस पश्चिमस्कन्ध अधिकारका व्याख्यान करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि 'यहाँ ऐसी आशङ्का न करना कि कसायपाहुडके समस्त अधिकारों और गाथाओंका विस्तारसे वर्णन करके, उसे समाप्त करनेके पश्चात् इस पश्चिमस्कन्ध नामक अधिकारका यहाँ समवतार क्यों किया ? क्योंकि क्षपणा अधिकारके सम्बन्धसे ही पश्चिमस्कन्धका अवतार माना गया है। और अघातिकर्मोंकी क्षपणाके विना क्षपणाधिकार सम्पूर्ण होता नहीं है। अतः क्षपणा अधिकारके सम्बन्धसे ही यहाँ उसके चूलिका रूपसे पश्चिमस्कन्धका वर्णन किया जाता है इसलिये यह सुसम्बद्ध ही है। तथा ऐसी भी आशंका न करना कि यह अधिकार तो महाकर्मप्रकृति प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंसे सम्बद्ध है अतः उसका यहाँ कसायपाहुडमें कथन क्यों किया ? क्योंकि उसको दोनों ग्रन्थोंसे सम्बद्ध माननेमें कोई बाधा नहीं पाई जाती है[२]।'

(१) "पश्चाद्भवः पश्चिमः। पश्चिमश्चासौ स्कन्धश्च पश्चिमस्कन्धः। खीणेसु घादिकम्मेसु जो पच्छा समुवलब्भइ कम्मक्खंधो अघाइचउक्कसरूवो सो पच्छिमक्खंधो त्ति भण्णदे; सव्वेहिंतो हेट्ठा तस्स सव्वपच्छिमस्स तहा ववएससिद्धीए णाइयत्तादो।" कसायपा० प्रे. पृ० ७५६६। (२) जयधवला, प्रे. का. पृ. ७५६७।

इस शङ्का-समाधानसे यह स्पष्ट है कि जो पश्चिमस्कन्ध महाकर्मप्रकृतिप्राभृतसे सम्बद्ध है उसका कथन कसायपाहुडके अन्तमें चूर्णिसूत्रकारने इसलिये किया है कि उसके बिना कसायपाहुडका चारित्रमोहकी क्षपणा नामका अधिकार अपूर्ण सा ही रह जाता है। जयधवलाकारका यह भी कहना है कि यह पश्चिमस्कन्धनामका अधिकार सकल श्रुतस्कन्धके चूलिका रूपसे स्थित है अतः उसे शास्त्रके अन्तमें अवश्य कहना चाहिये। इस पश्चिमस्कन्धमें अघातिकर्मोंके क्षयके द्वारा सिद्धपर्यायकी प्राप्ति करनेका कथन रहता है। और जिसके अन्तमें सिद्धोंका वर्णन हो वही सिद्धान्त है। इसलिये धवला और जयधवलाको सिद्धान्त ग्रन्थ भी कहते हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागमका उद्भव तो महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे ही हुआ है अतः उसके अन्तमें तो पश्चिमस्कन्ध अधिकार होना आवश्यक ही है किन्तु कसायपाहुडका उद्गम महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे नहीं हुआ है और इसलिये उसके अन्तमें जो पश्चिमस्कन्धका वर्णन किया गया है वह इसलिये किया है कि उसके बिना उसकी सिद्धान्त संज्ञा नहीं बन सकती थी, क्योंकि सिद्धोंका वर्णन कसायपाहुडमें नहीं है। इस विवरणसे पाठक यह जान सकेंगे कि इन ग्रन्थोंको सिद्धान्त क्यों कहा जाता है?

सिद्धान्त शब्द पुल्लिंग है और धवला जयधवला नाम स्त्रीलिङ्ग हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दके साथ पुल्लिंग शब्दकी सङ्गति ठीक बैठती नहीं। इसलिये धवला और जयधवलाको धवल और जयधवल रूप देकरके धवल सिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्त नाम प्रचलित हो गया है।

(१) "सिद्धान्तु धवलु जयधवलु णाम।" महापु० १,९,८,।

(२) एक दो विद्वानोंका विचार है कि कुछ श्रावकाचारोंमें श्रावकोंके लिए जिन सिद्धान्त ग्रन्थोंके अध्ययनका निषेध किया गया है, वे सिद्धान्त ग्रन्थ यही हैं। अतः गृहस्थोंको उनके पढ़नेका अधिकार नहीं है। यह सत्य है कि कुछ श्रावकाचारोंमें श्रावकोंको सिद्धान्तके अध्ययनका अनधिकारी बतलाया हैं किन्तु उस सिद्धान्तका आशय इन सिद्धान्त ग्रन्थोंसे नहीं है। जिन श्रावकाचारोंमें उक्त चर्चा पाई जाती है उनमेंसे एकके सिवा अन्य किसी भी श्रावकाचारके रचयिताने यह नहीं लिखा कि सिद्धान्तसे उनका क्या आशय है? केवल पंडितप्रवर श्री आशाधरने अपने सागारधर्मामृतके सातवें अध्यायमें श्रावकोंको सिद्धान्तके अध्ययनका अनधिकारी बतलाकर उसकी टीकामें स्पष्ट किया है कि सिद्धान्तका क्या अभिप्राय है? सागारधर्मामृतका वह श्लोक और उसकी टीकाका आवश्यक अंश इस प्रकार है–

"श्रावको वीरचर्याहःप्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥"

टीका—न स्यात्। कोऽसौ, श्रावकः, किंविशिष्टः, अधिकारी योग्यः। क्व, वीरेत्यादि······। तथा सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य, रहस्यस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्याध्ययने पाठे श्रावको नाधिकारी स्यादिति सम्बन्धः ॥५०॥

इस श्लोकमें बतलाया है कि श्रावक वीरचर्या, दिनप्रतिमा, आतापन आदि योगका और सिद्धान्त तथा रहस्यके अध्ययनका भी अधिकारी नहीं है। तथा टीकामें सिद्धान्तका अर्थ सूत्ररूप परमागम किया है। जिसका मतलब यह है कि श्रावक गणधर देवके द्वारा रचित बारह अङ्गों और चौदह पूर्वोका अध्ययन नहीं कर सकता है। उनके अध्ययनका अधिकार मुनिजनोंको ही है। किन्तु उनसे उद्धृत जो उद्धारग्रन्थ हैं उन्हें वह पढ़ सकता है और उनके पढ़नेका विधान भी सागारधर्मामृतमें ही किया है। यथा–

"तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं,
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः।
आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः,
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्धन्यो निहन्त्यंहसी ॥२१॥"

रचनाशैली– जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें कुछ पद्य ऐसे आते हैं जिनसे जयधवलाकी रचनाशैलीपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनमें से एक पद्य इस प्रकार है–

"प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः ॥३७॥"

इसमें बतलाया है कि इस विस्तृत ग्रन्थकी रचना प्रायः प्राकृत भारतीमें की गई है, बीचमें कहीं कहीं उसमें संस्कृतका भी मिश्रण होगया है। प्राकृतके साथ संस्कृतका यह मेल ऐसा प्रतीत होता है मानों मणियोंकी मालाके बीचमें कहीं कहीं मूंगेके दाने पिरो दिये गये

टीका—············किं कृत्वा, अधीत्य-पठित्वा। कम्, अर्थसंग्रहम्–उद्धारग्रन्थम्। उपश्रुत्य सूत्रमपि, किंविशिष्टम्, आङ्गम्–आचाराङ्गादि द्वादशाङ्गाश्रितम्। न केवलमाङ्गं पौर्वं च चतुर्दशपूर्वगत-श्रुताश्रितम् ॥ २–२१॥

इस श्लोकमें मिथ्यादृष्टिकी आठ दीक्षान्वयक्रियाओंका वर्णन करते हुए बतलाया है कि धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके उपदेशसे जीवादिक तत्त्वोंको जानकर, पञ्च नमस्कार महामन्त्रके धारण पूर्वक देशव्रतकी दीक्षा लेकर, कुदेवोंका त्याग करके, और न केवल उद्धार ग्रन्थोंको ही पढ़कर, अपि तु बारह अङ्ग और चौदह पूर्वसे सम्बन्ध रखनेवाले सूत्र ग्रन्थोंको भी पढ़कर इतर मतके शास्त्रोंको अध्ययन करने वाला जो पुरुष प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीकी रात्रिमें प्रतिमायोग धारण करके पापोंका नाश करता है वह धन्य है।

इसमें जब इतर धर्मको छोड़कर जैनधर्मकी दीक्षा लेनेवाले श्रावकके लिए भी ऐसे शास्त्रोंके पढ़नेका विधान किया है जो द्वादशाङ्गसे साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि सिद्धान्तसे मतलब उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थोंसे ही है? उपलब्ध सिद्धान्तग्रन्थ तो पौर्व ग्रन्थ हैं जिनके पढ़नेका ऊपर स्पष्ट विधान किया है।

शायद कहा जाये कि पं० आशाधरजी उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थोंसे अपरिचित थे इसलिये उन्होंने अपनी टीकामें सिद्धान्तका अर्थ द्वादशाङ्गसूत्ररूप परमागम कर दिया है। किन्तु ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें उन्होंने प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ षट्खण्डागमसे एक सूत्र उद्धृत किया है। यथा–

"उक्तञ्च सिद्धान्तसूत्रे—'आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं बारसावत्तं चेदि।" अनगार० पृ० ६३८।

यह विद्वानोंसे अपरिचित नहीं है कि पं० आशाधरजी गृहस्थ थे। जब पं० आशाधरजी श्रावकको सिद्धान्तके अध्ययनका अनधिकारी बतलाकर स्वयं गृहस्थ होते हुए भी उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन कर सकते हैं तो इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्तसे मतलब इन सिद्धान्त ग्रन्थोंसे नहीं है। अतः उन्हें विद्वान् और शास्त्रस्वाध्यायके प्रेमी श्रावक बड़े प्रेमसे पढ़ सकते हैं। उनकी रचना ही इस शैलीमें की गई है कि मन्दसे मन्द बुद्धि जीवोंका भी उपकार हो सके और वे भी उसे सरलतासे समझ सकें। जयधवलाकारने जहां कहीं विस्तारसे वर्णन किया है वहां स्पष्ट लिख दिया है कि मन्दबुद्धिजनोंके अनुग्रहके लिए ऐसा किया जाता है। इस पहले खण्डमें ही पाठक ऐसे अनेक उल्लेख पायेंगे। यदि इनका पठन-पाठन श्रावकोंके लिये वर्जित होता तो जयधवलाकार जगह जगह "मंदबुद्धिजणाणुग्गहट्ठं" न लिखकर कमसे कम उनके पहले मुनि पद जरूर लगा देते। किन्तु प्राणिमात्रके उपकारकी भावनासे प्रेरित होकर शास्त्र रचना करने वाले उन उदार जैनाचार्योंने ऐसा नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उन्हें पढ़कर सब भाई जिनवाणीके कुछ कणोंका रसास्वादन करके आत्मिक सुखमें निमग्न होनेकी चेष्टा कर सकते हैं। तथा इन्हें सिद्धान्तग्रन्थ क्यों कहा जाता है इसे भी जयधवलाकारने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। अतः केवल सिद्धान्त कहे जानेके कारण गृहस्थोंके लिए इनका पठन-पाठन निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता।

हैं। मणि और मूंगेका यह मेल सचमुच हृदयहारी है। इस सिद्धान्त समुद्रमें गोता लगाने पर जब पाठककी दृष्टि प्राकृत भारतीरूपी मणियोंपरसे उतराती हुई संस्कृतरूपी प्रवालके दानों-पर पड़ती है तो उसे बहुत ही अच्छा मालूम होता है।

धवलाकी अपेक्षा जयधवला प्राकृतबहुल है। इसमें प्रायः दार्शनिक चर्चाओं और व्युत्पत्ति आदिमें ही संस्कृत भाषाका उपयोग किया है। सैद्धान्तिक चर्चाओंके लिये तो प्रायः प्राकृतका ही अवलम्बन लिया है। किन्तु फिर भी दोनों भाषाओंके उपयोगकी कोई परिधि नहीं है। ग्रन्थकार प्राकृतकी मणियोंके बीचमें जहां कहीं भी संस्कृतके प्रवालका मिश्रण करके उसके सौन्दर्यको द्विगुणित कर देते हैं। ऐसे भी अनेक वाक्य मिलेंगे जिनमें कुछ शब्द प्राकृतके और कुछ शब्द संस्कृतके होंगे। दोनों भाषाओंपर उनका प्रभुत्व है और इच्छानुसार वे दोनोंका उपयोग करते हैं। उनकी भाषाका प्रवाह इतना अनुपम है कि उसमें दूर तक प्रवाहित होकर भी पाठक थकता नहीं है, प्रत्युत उसे आगे बढ़नेकी ही इच्छा होती है।

टीकाकारका भाषापर जितना प्रभुत्व है उससे भी असाधारण प्रभुत्व तो उनका ग्रन्थमें चर्चित विषयपर है। जिस विषयपर वे लेखनी चलाते हैं उसमें ही कमाल करते हैं। ऐसा मालूम होता है मानों किसी ज्ञानकुबेरके द्वारपर पहुंच गये हैं जो अपने अटूट ज्ञानभण्डार-को लुटानेके लिये तुला बैठा है। वह किसीको निराश नहीं करना चाहता और इस लिये सिद्धान्तकी गहन चर्चाओंको शङ्काएं उठा उठाकर इतना स्पष्ट कर डालना चाहता है कि बुद्धिमें दरिद्रसे दरिद्र व्यक्ति भी उसके द्वारसे कुछ न कुछ लेकर ही लौटे। वह शब्दों और विकल्पोंके जालमें डालकर अपने पाठकपर अपनी विद्वत्ताकी धाक जमाना नहीं चाहता, किन्तु चर्चित विषयको अधिकसे अधिक स्पष्ट करके पाठकके मानसपर उसका चित्र खींच देना चाहता है। यही उसकी रचना शैलीका सौष्ठव है। इस लिये जयधवलाके अन्तका निम्न पद्य जयधवला-कारने यथार्थ ही कहा है–

"होइ सुगमं पि दुग्गममणिवुणवक्खाणकारदोसेण।
जयधवलाकुसलाणं सुगमं वि य दुग्गमा वि अत्थगई॥ ७॥"

अर्थात्–अनिपुण व्याख्याताके दोषसे सुगम बात भी दुर्गम हो जाती है। किन्तु जय-धवलामें जो कुशल हैं उनको दुर्गम अर्थका भी ज्ञान सुगम हो जाता है।

वास्तवमें जयधवलाकार कुशल व्याख्याता थे और उन्होंने अपनी रुचिकर व्याख्यान-शैलीसे दुर्गम पदार्थोंको भी सुगम बना दिया है, जैसा कि आगेके लेखसे स्पष्ट है।

हम पहले लिख आये हैं कि जयधवला कोई स्वतंत्र रचना नहीं है किन्तु कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रोंका सुविशद व्याख्यान है। जब कि कसायपाहुड २३३ गाथाओंमें निबद्ध है और चूर्णिसूत्र ६ हजार श्लोक प्रमाण है तब जयधवला ६० हजार श्लोक प्रमाण है। अर्थात् चूर्णिसूत्रोंसे उनकी टीकाका प्रमाण प्रायः दसगुना है। इसका कारण उसकी रचना-शैलीकी विशदता है। जिसका स्पष्ट आभास उनकी व्याख्यानशैलीमें मिलती है। अतः जरा उनकी व्याख्यानशैलीपर ध्यान दीजिये।

जयधवलाकी व्याख्यान शैली–

जयधवलाकार सबसे पहले स्वतंत्र भावसे गाथाका व्याख्यान करते हैं। उसके पश्चात् चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान करते हैं। गाथाका व्याख्यान करते हुए वे चूर्णिसूत्रोंपर आश्रित नहीं रहते, किन्तु गाथाओंका अनुगम करके गाथासूत्रकारका जो हृद्य है उसे ही सामने रखते हैं और जहां उन्हें गाथासूत्रकारके आशयसे चूर्णिसूत्रकारके आशयमें भेद दिखाई देता है वहां उसे वे स्पष्ट कर देते हैं और उसका कारण भी बतला देते हैं। जैसा कि अधिकारोंके मतभेदके सम्बन्धमें

हम चूर्णिसूत्रोंका परिचय कराते हुए लिख आये हैं। चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान करते समय वे उनके किसी भी अंशको दृष्टिसे ओझल नहीं होने देते। यहां तक कि यदि किन्हीं चूर्णिसूत्रोंके आगे १, २ आदि अङ्क पड़े हुए हों तो उन तकका भी स्पष्टीकरण करदेते हैं कि यहां ये अंक क्यों डाले गये हैं? उदाहरणके लिये अर्थाधिकारके प्रकरणमें प्रत्येक अर्थाधिकार सूत्रके आगे पड़े हुए अंकोंकी सार्थकताका वर्णन इसी भागमें देखनेको मिलेगा। जहां कहीं चूर्णिसूत्र संक्षिप्त होता है वहां वे उसके व्याख्यानके लिये उच्चारणावृत्ति वगैरहका अवलम्बन लेते हैं, और जहां उसका अवलम्बन लेते हैं वहां उसका स्पष्ट निर्देश कर देते हैं।

जयधवलाकी व्याख्यानशैलीकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जयधवलाकार गाथा-सूत्रकारका, चूर्णिसूत्रकारका, अन्य किसी आचार्यका या अपना किसी सम्बन्धमें जो मत देते हैं वह दृढ़ताके साथ अधिकारपूर्वक देते हैं। उनके किसी भी व्याख्यानको पढ़ जाइये, किसीमें भी ऐसा प्रतीत न होगा कि उन्होंने अमुक विषयमें झिझक खाई है। उनके वर्णनकी प्राञ्जलता और युक्तिवादिताको देखकर पाठक दंग रह जाता है और उसके मुखसे बरबस यह निकले बिना नहीं रहता कि अपने विषयका कितना प्रौढ असाधारण अधिकारी विद्वान था इसका टीकाकार। वह अपने कथनके समर्थनमें प्रमाण दिये बिना आगे बढ़ते ही नहीं, उनके प्रत्येक कथनके साथ एक 'कुदो' लगा ही रहता है। 'कुदो' के द्वारा इधर प्रश्न किया गया और उधर तड़ाक से उसका समाधान पाठकके सामने आगया। फिर भी यदि किसी 'कुदो' की संभावना बनी रही तो शंका-समाधानकी झड़ी लग जाती है। जब वे समझ लेते हैं कि अब किसी 'कुदो' की गुंजाइश नहीं है तब कहीं आगे बढ़ते हैं। उनके प्रश्नोंका एक प्रकार है–'तं कुदो णव्वदे'। जिसका अर्थ होता है कि तुमने यह कैसे जाना? इस प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए टीकाकार जहांसे उन्होंने वह बात जानी है उसका उल्लेख कर देते हैं। किन्तु कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिनके बारेमें कोई शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। उनके बारेमें वे जो उत्तर देते हैं वही उनकी दृढ़ता, बहुज्ञता और आत्मविश्वासका परिचायक है। यथा, इस प्रकारके एक प्रश्नका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—

"णत्थि एत्थ अम्हाणं विसिट्ठोवएसो किंतु एक्केक्कम्हि फालिट्ठाणे एक्को वा दो वा उक्कस्सेण असंखेज्जा वा जीवा होंति त्ति अम्हाणं णिच्छओ।" ज० ध० प्रे० पृ १८७८।

अर्थात्–'इस विषयमें हमें कोई विशिष्ट उपदेश प्राप्त नहीं है, किन्तु एक एक फालिस्थानमें एक अथवा दो अथवा उत्कृष्टसे असंख्यात जीव होते हैं ऐसा हमारा निश्चय है।'

एक दूसरे प्रश्नके उत्तरमें वे कहते हैं—

"एत्थ एलाइरियवच्छयस्स णिच्छओ" ज० ध० प्रे० पृ० १९५३।

"इस विषयमें एलाचार्यके शिष्य अर्थात् जयधवलाकार श्रीवीरसेनस्वामीका ऐसा निश्चय है।'

जो टीकाकार उपस्थित विषयोंमें इतने अधिकार पूर्वक अपने मतका उल्लेख कर सकता है उसकी व्याख्यानशैलीकी प्राञ्जलतापर प्रकाश डालना सूर्यको दीपक दिखाना है।

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि टीकाकारने आगमिक विषयोंमें मनमानी की है। आगमिक परम्पराको सुरक्षित रखनेकी उनकी बलवती इच्छाके दर्शन उनकी व्याख्यान-शैलीमें पद पदपर होते हैं। हम लिख आये हैं कि जयधवलामें एक ही विषयमें प्राप्त विभिन्न आचार्योंके विभिन्न उपदेशोंका उल्लेख है। उनमेंसे अमुक उपदेश असत्य है और अमुक उपदेश सत्य है ऐसा जयधवलाकारने कहीं भी नहीं लिखा। उदाहरणके लिये इसी भागमें आगत भगवान महावीरके कालकी चर्चाको ही ले लीजिये। एक उपदेशके अनुसार भगवान

महावीरकी आयु ७२ वर्ष है और दूसरे उपदेशके अनुसार ७१ वर्ष ३ माह २५ दिन बतलाई गई है। जब जयधवलाकारसे पूछा जाता है कि इन दोनोंमें कौन ठीक है तो वे कहते हैं-

"दोसु वि उवदेसेसु को एत्थ समंजसो ? एत्थ ण बाहइ जीब्भमेलाइरियवच्छओ अलद्धोवदेसत्तादो, दोण्हमेक्कस्स बाहाणुवलम्भादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं, तं च उवदेसं लहिय वत्तव्वं।" कसायपा० भा० १ पृ० ८१।

'इन दोनों उपदेशोंमें कौन ठीक है ? इस विषयमें एलाचार्यके शिष्यको अपनी जबान नहीं चलाना चाहिये, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी कोई बाधा नहीं पाई जाती है, किन्तु होना तो दोनोंमेंसे एक ही चाहिये और वह कौन है यह बात उपदेश प्राप्त करके ही कहना चाहिये।'

भला बताइये तो सही जो आचार्य इस प्रकारके उपदेशोंके विरुद्ध भी तबतक कुछ नहीं कहना चाहते जब तक उन्हें किसी एक उपदेशकी सत्यताके बारेमें परम्परागत उपदेश प्राप्त न हो, उनके बारेमें यह कल्पना करना भी कि वे आगमिक विषयोंमें मनमानी कर सकते हैं, पाप है। ऐसे निष्पक्षपात स्फुटबुद्धि आचार्योंके निर्णय कितने प्रामाणिक होते हैं यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है, अतः जयधवलाकी व्याख्यान शैलीकी विवेचनपरता, स्पष्टता और प्रामाणिकता आदिको दृष्टिमें रखकर यही कहना पड़ता है-"टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धतिपंजिकाः।" 'यदि कोई टीका है तो वह श्री वीरसेनस्वामी महाराजकी धवला और जयधवला है, शेष या तो पद्धति कही जानेके योग्य हैं या पंजिका।'

जयधवलामें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार-

जयधवलामें कसायपाहुड और उसके वृत्तिग्रन्थों तथा उनके रचयिताओंके जो नाम आये हैं उनका निर्देश पहले यथास्थान कर आये हैं तथा आगे भी समयनिर्णयमें करेंगे। उनके सिवा जिन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख आया है उनका परिचय यहां कराया जाता है।

महाकर्म प्रकृति और चौवीस अनुयोग द्वार

इस मुद्रित भागके[1] प्रारम्भमें मङ्गलचर्चामें यह कहा गया[2] है कि गौतम स्वामीने चौवीस अनुयोग द्वारके आदिमें मङ्गल किया है। तथा जयधवलाके अन्तमें पश्चिमस्कन्धमें कहा गया है कि यह अधिकार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौवीस अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध है। इससे स्पष्ट है कि महाकर्मप्रकृति प्राभृतके चौवीस अनुयोगद्वार थे। अतः ये दोनों एकही ग्रन्थके नाम हैं। मूलनाम महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है और उसमें चौवीस अनुयोगद्वार होनेसे उसे चौवीस अनुयोगद्वार भी कह देते हैं। यह महाकर्मप्रकृति प्राभृत अग्रायणीयपूर्वके चयनलब्धि नामक पांचवें वस्तु अधिकारका चौथा प्राभृत है। इसीके ज्ञाता धरसेन स्वामी थे। जिनसे अध्ययन करके भूतबलि और पुष्पदन्तने षट्खण्डागमकी रचना की। चूँकि यह महाकर्मप्रकृति पूर्वका ही एक अंश है और अङ्ग तथा पूर्वोंकी रचना गौतमगणधरने की थी, अतः उसके कर्ता गौतम स्वामी थे। जैसा कि धवलाके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

[3]"महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिआदिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स।"

संत कम्म-पाहुड और उसके खण्ड

जयधवलाके पन्द्रहवें अधिकारमें एक स्थानपर लिखा है—

"एत्थ एदाओ भवपच्चइयाओ एदाओ च परिणामपच्चइयाओ त्ति एसो अत्थविसेसो संतकम्म-पाहुडे वित्थारेण भणिदो। एत्थ पुण गंथगउरवभएण ण भणिदो।" प्रे० का० पृ० ७४४१।

(१) पृ० ८। (२) प्रे० का० प० ७५६८। (३) ध० आ० प० ५१२।

अर्थात्–"अमुक प्रकृतियाँ भवप्रत्यया हैं और अमुक प्रकृतियाँ परिणामप्रत्यया हैं यह अर्थविशेष संतकम्मपाहुड या सत्कर्मप्राभृतमें विस्तारसे कहा है। किन्तु यहां ग्रन्थगौरवके भयसे नहीं कहा।"

यह सत्कर्मप्राभृत[1] षट्खण्डागम का ही नाम है। उसपर इन्हीं ग्रन्थकार की धवला टीका है। यहां जयधवलाकारने संतकम्मपाहुडसे अपनी उस धवला टीका का ही उल्लेख किया प्रतीत होता है। उसीमें उक्त अर्थविशेष का विस्तारसे कथन कर चुकनेके कारण जयधवलामें उसका कथन नहीं किया है। यह संतकम्मपाहुड धवला टीकाके साथ अमरावतीसे प्रकाशित हो रहा है। इसके छह खण्ड हैं जीवट्ठाण,[2] खुद्दाबंध,[3] बंधसामित्तविचय, वेदना,[4] वर्गणा[5] और महाबंध[6]। जयधवलामें इनमेंसे बंधसामित्तविचय को छोड़कर शेष खण्डोंका अनेक जगह उल्लेख मिलता है। उनमें भी महाबंधका उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है। यह महाबंध संतकम्मपाहुडसे अलग है। इसके रचयिता भी भगवान् भूतबलि ही हैं। अभी तक यह ग्रन्थ मूडबिद्रीके भण्डारमें ही सुरक्षित था किन्तु अब मूड़बिद्रीके भट्टारकजी तथा पंचोंकी सदाशयतासे उसकी प्रतिलिपि होकर बाहर आ गई है। आशा है निकट भविष्यमें पाठक उसका भी स्वाध्याय करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।

एक स्थानमें[7] कहा है कि देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके लक्षण जैसे प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहे हैं वैसे ही यहां भी उनका कथन कर लेना चाहिये। यह प्रकृति अनुयोगद्वार वर्गणाखण्ड का ही एक अवान्तर अधिकार है।

चारित्रमोहकी उपशामना नामक चौदहवें अधिकारमें करणोंका वर्णन करते हुए लिखा है–

दसकरणि- "दसकरणीसंगहे पुण पयडिबंधसंभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणट्ठाणेसु वि बंधणाकरण-
संग्रह– मोवट्टणाकरणं च दो वि भणिदाणि।" प्रे० पृ० ६६००।

अर्थात्–"दसकरणीसंग्रह नामक ग्रन्थमें प्रकृतिबन्धके सम्भवमात्र की अपेक्षा करके वीतरागगुणस्थानोंमें भी बन्धनकरण और अपकर्षणकरण दोनों ही कहे हैं।"

इस दसकरणीसंग्रह नामक ग्रन्थ का पता अभी तक हमें नहीं चल सका है। इस ग्रन्थमें, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है, दस करणों का संग्रह है। ऐसा मालूम होता है कि करणोंके स्वरूप का इसमें विस्तारसे विचार किया गया होगा। दक्षिणके भण्डारोंमें इसकी खोज होनेकी आवश्यकता है।

प्रकृत[8] भागमें नयों की चर्चा करते हुए तत्त्वार्थसूत्रका उल्लेख किया है और उसका तत्त्वार्थसूत्र एक सूत्र इसप्रकार उद्धृत किया है–"प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः।"

आजकल तत्त्वार्थसूत्रके जितने सूत्रपाठ मिलते हैं सबमें "प्रमाणनयैरधिगमः" पाठ ही[9] पाया जाता है। यहाँ तक कि पूज्यपाद, भट्टाकलंक, विद्यानन्द आदि टीकाकारोंने भी यही पाठ अपनाया है। किन्तु धवला और जयधवला दोनों टीकाओंमें श्री वीरसेनस्वामीने उक्त पाठ को ही स्थान दिया है। इस अन्तर का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है।

(१) धवला १ भाग की प्रस्ता० पृ० ७०। (२) प्रे० का० पृ० ५८५७, ६३४६ तथा मुद्रित १ भा० पृ० ३८६। (३) प्रे० का० पृ० १८५८। (४) प्रे० पृ० १८७३, २५२४। (५) मुद्रित १ भा० पृ० १४। (६) प्रे० का० पृ० ११५, १३९४, १४०२, १६१३, २०८९, २३३५, २४५४। (७) मुद्रित १ भा० पृ० १७। (८) पृ० २०९। (९) "प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः इत्यनेन सूत्रेणापि नेदं व्याख्यानं विघटते।" ध० आ० प० ५४२।

प्रदेशविभक्ति अधिकारमें एक स्थानपर लिखा है[1]—

परिकर्म

"ण परियम्मेण वियहिचारो तत्थ कलासंखाए विवक्खाभावादो।"

अर्थात्–"परिकर्मसे व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि वहां कलाकी संख्या की विवक्षा नहीं है।" इससे स्पष्ट है कि यह परिकर्म गणितशास्त्रका ग्रन्थ है। धवलामें भी इसका उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है[2]। पहले धवलाके सम्पादकोंका विचार था कि यह परिकर्म कुन्द-कुन्दाचार्यकृत कोई व्याख्या ग्रन्थ है किन्तु बादको गणितशास्त्रविषयक उसके उद्धरणोंको देखकर उन्हें भी यही जंचा कि यह कोई गणितशास्त्रका ग्रन्थ है। इसकी खोज होना आवश्यक है।

सारसंग्रह

नयके विवरणमें[3] जयधवलाकारने नय का एक लक्षण उद्धृत करके उसे सारसंग्रह नामक ग्रन्थ का बतलाया है। धवलामें भी "सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः" करके यह लक्षण उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि श्री पूज्यपादस्वामी का सारसंग्रह नामक भी एक ग्रन्थ था। यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कहना शक्य नहीं है।

सिद्धसेनका सम्मइसुत्त

निक्षेपोंमें[4] नययोजना करते हुए जयधवलाकारने 'उत्तं च सिद्धसेणेण' लिखकर एक गाथा उद्धृत की है। यह गाथा सन्मतितर्कके प्रथमकाण्ड की छठवीं गाथा है। आगे उसी गाथाके सम्बन्धमें लिखा है। 'ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो।' अर्थात्–ऐसा माननेसे सन्मतिके उक्त सूत्रके साथ विरोध नहीं आता है। इससे स्पष्ट है कि सिद्धसेन और उनके सन्मतितर्क का उल्लेख किया गया है। जैन परम्परामें सिद्धसेन एक बड़े भारी प्रखर तार्किक हो गये हैं। आदिपुराण और हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें उनका स्मरण बड़े आदरके साथ किया गया है। दिगम्बर परम्परामें उनके सन्मतिसूत्र का काफी आदर रहा है। जयधवलाके प्रकृत मुद्रित भागमें ही उसकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत हैं।

तत्त्वार्थ-भाष्य

नयकी चर्चा करते हुए जयधवलाकारने[5] सारसंग्रहीय नयलक्षणके बाद तत्त्वार्थभाष्यगत नयके लक्षणको उद्धृत किया है। यथा—

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः। अस्यार्थ उच्यते–प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणपरिगृहीतानामित्यर्थः। तेषामर्थानामस्तित्वनास्तित्वनित्यानित्याद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः स नयः।"

यह नयका लक्षण श्री भट्टाकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिकका है। तत्त्वार्थसूत्रके पहले अध्यायके अन्तिम सूत्रकी पहली वार्तिक है—"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।" और ऊपर जो उसका अर्थ दिया गया है वह अकलंकदेवकृत उसका व्याख्यान है। श्री वीरसेन स्वामीने धवला और जयधवलामें अकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिकका खूब उपयोग किया है और सर्वत्र उसका उल्लेख तत्त्वार्थभाष्यके नामसे ही किया है।

धवलामें[6] एक स्थान पर नयका उक्त लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि–सामान्यलक्षणमिदमेव। तद्यथा–प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नय इति।" इसके आगे 'प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्' आदि उक्त व्याख्या भी दी है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार यहां 'पूज्यपाद भट्टारक' शब्दसे अकलंकदेवका ही उल्लेख कर रहे हैं, न कि सर्वार्थ-

(१) प्रे० का० पृ० २५६६। (२) षट्खण्डा० १ भा० प्रस्ता० पृ० ४६। (३) पृष्ठ २१०। (४) पृष्ठ २६०। (५) पृ० २१०। (६) ध० आ० प० ५४२।

सिद्धिके रचयिता पूज्यपाद स्वामीका। क्योंकि सर्वार्थसिद्धिमें नयका उक्त लक्षण नहीं पाया जाता है। यह ठीक है कि अकलंकदेवका उल्लेख 'पूज्यपाद भट्टारक' के नामसे अन्यत्र नहीं पाया जाता है, किन्तु जब धवलाकार उनका उल्लेख इस अत्यन्त आदरसूचक विशेषणसे कर रहे हैं तो उसमें आपत्ति ही क्या है ? एक बात और भी ध्यान देनेके योग्य है कि जयधवलाकारने पूज्यपाद स्वामीका उल्लेख केवल 'पूज्यपाद' शब्दसे ही किया है। अतः 'पूज्यपाद भट्टारक' में जो 'पूज्यपाद' पद है वह भट्टारकका विशेषण है, और उसके साथमें भट्टारक पद इसीलिये लगाया गया है कि उससे प्रसिद्ध पूज्यपाद स्वामीका आशय न ले लिया जाय। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यसे समन्तभद्ररचित गन्धहस्तीमहाभाष्यकी भी कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि यदि नयका उक्त लक्षण और उसका व्याख्यान तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध टीकाओंमें न पाया जाता तो उक्त कल्पनाके लिए कुछ स्थान हो भी सकता था किन्तु जब राजवार्तिकमें दोनों चीजें अक्षरशः उपलब्ध हैं तब इतनी क्लिष्ट कल्पना करनेका स्थान ही नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि राजवार्तिकका उल्लेख किसी भी आचार्यने तत्त्वार्थभाष्यके नामसे नहीं किया। न्यायदीपिकामें राजवार्तिककी वार्तिकोंका वार्तिकरूपसे और उसके व्याख्यानका भाष्यरूपसे उल्लेख पाया जाता है। अतः नयके उक्त लक्षणको पूज्यपाद स्वामीकी सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत बतलाकर उसे समन्तभद्रकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यका समझना भ्रमपूर्ण है।

प्रभाचन्द्र

नयके निरूपणमें जयधवलाकारने नयका एक लक्षण उद्धृत किया है और उसे प्रभाचन्द्रका बतलाया है, यथा—"अयं वाक्यनयः प्रभाचन्द्रीयः।"

धवलाके वेदनाखण्डमें भी नयका यह लक्षण 'प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि' करके उद्धृत है। यह प्रभाचन्द्र वे प्रभाचन्द्र तो हो ही नहीं सकते जिनके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र नामक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, क्योंकि प्रथम तो नयका उक्त लक्षण उन ग्रन्थोंमें पाया नहीं जाता, दूसरे उनका समय भी श्री वीरसेन स्वामीके पश्चात् सिद्ध हो चुका है। तीसरे अन्यत्र कहीं भी इन प्रभाचन्द्रका उल्लेख प्रभाचन्द्रभट्टारकके नामसे नहीं पाया जाता है।

हमारा अनुमान है कि यह प्रभाचन्द्र भट्टारक और आदिपुराण तथा हरिवंशपुराणके आदिमें स्मृत प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं। हरिवंशपुराणमें उनके गुरुका नाम कुमारसेन बतलाया है और विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीके अन्तमें लिखा है कि कुमारसेनकी उक्तिसे उनकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई है। इससे प्रतीत होता है कि यह अच्छे दार्शनिक थे अतः उनके शिष्य प्रभाचन्द्र भी अच्छे दार्शनिक होने चाहिये और यह बात उनके नयके उक्त लक्षणसे ही प्रकट होती है।

इस प्रकार जयधवलाका स्थूलदृष्टिसे पर्यवेक्षण करने पर जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका नाम उपलब्ध हो सका उनका परिचय यहां दिया गया है। यों तो जयधवलामें इनके सिवाय भी अनेकों ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये गये हैं। यदि उन सब ग्रन्थोंका पता लग सके तो जैन साहित्यकी अपार श्रीवृद्धिके होनेमें सन्देह नहीं है।

जयधवला और लब्धिसार—

लब्धिसार ग्रन्थकी प्रथम गाथा की उत्थानिकामें टीकाकार श्रीकेशववर्णीने लिखा है—

"श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती सम्यक्त्वचूडामणिप्रभृतिगुणनामाङ्कितचामुण्डरायप्रश्नानुसारेण कषायप्राभृतस्य जयधवलाख्यद्वितीयसिद्धान्तस्य पंचदशानां महाधिकाराणां मध्ये पश्चिमस्कन्धाख्यस्य पंचदशस्यार्थं संगृह्य लब्धिसारनामधेयं शास्त्रं······।"

(१) पृ० १२। (२) देखो जैन बोधक वर्ष ५९, अंक ४ में क्षुल्लक श्री सिद्धिसागर जी महाराजका लेख। (३) पृ० २१०।

अर्थात्–"सम्यक्त्वचूणामणि आदि सार्थक उपाधियोंसे विभूषित चामुण्डरायके प्रश्नके अनुसार जयधवलानामक द्वितीय सिद्धान्तग्रन्थ कषायप्राभृतके पन्द्रह महाअधिकारोंमेंसे पश्चिमस्कन्ध नामक पन्द्रहवें अधिकारके अर्थका संग्रह करके श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती लब्धिसार नामक शास्त्रको प्रारम्भ करते हैं।"

इससे प्रकट है कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने जैसे प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थका सार लेकर गोमट्टसारको रचा वैसे ही द्वितीय सिद्धान्तग्रन्थ और उसकी जयधवलाटीकाका सार लेकर उन्होंने लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थकी रचना की। लब्धिसार और क्षपणासारके अवलोकनसे भी इस बातका समर्थन होता है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि टीकाकारको सिद्धान्त ग्रन्थोंके अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका था क्योंकि यद्यपि यह ठीक है कि कषायप्राभृतमें पन्द्रह अधिकार हैं किन्तु पन्द्रहवाँ अधिकार चारित्रमोहकी क्षपणा नामका है, उसके पश्चात् पश्चिमस्कन्धको सकल श्रुतस्कन्धकी चूलिका मानकर अन्तमें उसका कथन किया गया है। तथा लब्धिसार और क्षपणासारकी रचना केवल इस अधिकारके आधारपर ही नहीं हुई है, क्योंकि पश्चिमस्कन्धमें तो केवल अघातिया कर्मोंके क्षपणका विधान है जब कि लब्धिसार-क्षपणासारमें दर्शनमोह और चारित्रमोहकी उपशमना और क्षपणाका भी विस्तृत कथन है। लब्धिसारमें तो केवल चारित्रमोहकी उपशमना तकका ही निरूपण है और क्षपणाका निरूपण क्षपणासारमें है। अतः इन ग्रन्थोंकी रचना मुख्यतया दर्शनमोहकी उपशमना, क्षपणा तथा चारित्र मोहकी उपशमना और क्षपणा नामक अधिकारोंके आधारपर की गई है इन अधिकारोंकी अनेक मूल गाथाएं लब्धिसार-क्षपणासारमें ज्यों की त्यों सम्मिलित कर ली गई हैं। जैसे धवला और जयधवला टीकाने प्रथम और द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थोंका स्थान लेकर मूलको अपनेमें छिपा लिया और प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ धवल, दूसरा सिद्धान्तग्रन्थ जयधवल और महाबंध महाधवल कहा जाने लगा। वैसे ही इन सिद्धान्त ग्रन्थोंका सार लेकर रचे गये कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासारने भी अपने उद्गम स्थानको जनताके हृदयसे विस्मृतसा करा दिया। अच्छी रचनाओंकी यही तो कसौटी है। यथार्थमें सिद्धान्त ग्रन्थोंको जैसा टीकाकार प्राप्त हुआ वैसा ही टीकाकारको संग्रहकार भी मिल गया। इसे जिनवाणीका सौभाग्य कहा जाये या उसके पाठकों का?

जयधवला और क्षपणासार

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीरचित क्षपणासारकी भाषाटीकामें गाथा नं० ३९२ का अर्थ करते हुए स्वर्गीय पं० टोडरमलजीने कुछ गाथाएँ इस प्रकार उद्धृत की हैं—

"कसायखवणो ठाणे परिणामो केरिसो हवे।
कसाय उवजोगो को लेस्सा वेदा य को हवे॥१॥

काणि वा पुव्वबद्धाणि को वा अंसेण बंधदि।
कदियावलि पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो॥२॥

केट्ठिय सेज्झीयदे पुव्वं बंधेण उदयेण वा।
अंतरं वा कहिं किच्चा के के संकामगो कहिं॥३॥

केट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
उक्कट्टिदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि॥४॥"

ये गाथाएं कषायप्राभृतके सम्यक्त्व अनुयोगद्वारकी हैं और उसमें इसी क्रमसे पाई जाती हैं। संभवतः लिपिकारोंके प्रमादसे कुछ पाठभेद होगया है जो अशुद्ध भी है। कषायप्राभृतमें ये निम्न रूपसे हैं—

"दंसणमोह उवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥१॥

काणि वा पुव्वबंधाणि के वा अंसे णिबंधदि।
कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो ॥२॥

के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा।
अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥३॥

किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टेतूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥४॥"

पं० जीकी भाषाटीकामें कषायप्राभृतकी उक्त गाथाओंको देखकर हमें यह जाननेकी उत्सुकता हुई कि आचार्य नेमिचन्द्ररचित ग्रन्थोंमें उक्त गाथाओंके नहीं होते हुए भी पं० जीको ये गाथाएं कहांसे प्राप्त हुईं? क्या उन्हें सिद्धान्तग्रन्थोंके अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था? किन्तु संदृष्टि अधिकारके अन्तमें उन्होंने जो ग्रन्थप्रशस्ति दी है उससे तो ऐसा प्रतीत नहीं हुआ; क्योंकि उसमें उन्होंने लब्धिसारकी रचनाके विषयमें वही बात कही है जो संस्कृत टीकाकार केशववर्णी ने लब्धिसारकी गाथाकी उत्थानिकामें कही है। यदि उन्होंने कषाय-प्राभृतका स्वयं अनुगम करके उक्त गाथाएं दी होतीं तो वे लब्धिसारकी रचना जयधवलके पन्द्रहवें अधिकारसे न बतलाते। और न सिद्धान्तग्रन्थोंके रचयिताओंके बारेमें यही लिखते—

"मुनि भूतबलि यतिवृषभ प्रमुख भए तिनिहूँनै तीन ग्रन्थ कीने सुखकार हैं।
प्रथम धवल, अर दूजो है जयधवल तीजो महाधवल प्रसिद्ध नाम धार हैं॥"

इस प्रकारकी बातें तो जनश्रुतिके आधार पर ही लिखी जा सकती हैं। अतः हमारी उत्सुकता दूर नहीं हो सकी।

अचानक ग्रन्थप्रशस्तिके निम्न छन्दोंपर हमारी निगाह पड़ी—

"उपशमश्रेणि कथन पर्यन्त, ताकी टीका संस्कृतवंत।
देखी देखे शास्त्रनि मांहि, संपूरण हम देखी नाहि ॥२४॥

माधवचन्दयतीकृत ग्रन्थ, देख्यो क्षपणासार सुपंथ।
संस्कृतधारामय सुखकार क्षपकश्रेणि वर्णनयुत सार ॥२५॥

वह टीका यह शास्त्र विचार, तिनिकरि किछू अर्थ अवधार।
लब्धिसारकी टीका करी, भाषामय अर्थन सौं भरी ॥२६॥"

पं० टोडरमलजीका कहना है कि लब्धिसारकी संस्कृतटीका उपशमश्रेणिके कथनपर्यन्त ही मुझे प्राप्त हो सकी, संपूर्णटीका प्राप्त नहीं हुई। तब हमने माधवचन्द्रयतिकृत क्षपणासारग्रन्थ देखा, जो संस्कृतमें रचा हुआ था और उसमें क्षपकश्रेणिका वर्णन था। उस ग्रन्थको तथा उपशमश्रेणिपर्यन्तकी संस्कृतटीकाको देखकर हमने लब्धिसारकी यह टीका बनाई।' यह माधवचन्द्र यति सम्भवतः आचार्यनेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य ही जान पड़ते हैं। उन्होंने संस्कृत क्षपणासारकी रचना कषायप्राभृत और जयधवलाको देखकर ही की होगी। उसीसे कषायप्राभृतकी उक्त गाथाएं पं० टोडलमलजीने अपनी भाषाटीकामें लीं, ऐसा जान पड़ता है। इस क्षपणासार ग्रन्थकी खोज होना आवश्यक है। राजपूतानेके किसी शास्त्रभण्डारमें उसकी प्रति अवश्य होनी चाहिये।



२ ग्रन्थकार परिचय

१-२. कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके कर्ता

श्री वीरसेनस्वामीने अपनी जयधवला टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए गुणधर भट्टारक, आर्यमंक्षु, नागहस्ति और यतिवृषभ नामक आचार्योंका निम्न शब्दोंमें स्मरण किया है-

आचार्य गुणधर और यतिवृषभ

"जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ ६ ॥
गुणहरवयणविणिग्गयगाहाणत्थोवहारिओ सव्वो ।
जेणज्जमंखुणा सो स णागहत्थी वरं देऊ ॥ ७ ॥
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ८ ॥"

अर्थात्-"जिन्होंने इस आर्यावर्तमें अनेक नयोंसे युक्त, उज्ज्वल और अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त कपायप्राभृतका गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया उन गुणधर भट्टारकको मैं वीरसेन आचार्य नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

जिन आर्यमंक्षु आचार्यने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारण किया, नागहस्ती आचार्यसहित वे आर्यमंक्षु आचार्य मुझे वर प्रदान करें ॥ ७ ॥

जो आर्यमंक्षु आचार्यके शिष्य हैं और नागहस्ती आचार्यके अन्तेवासी हैं, वृत्तिसूत्रके कर्ता वे यतिवृषभ आचार्य मुझे वर प्रदान करें ॥८॥"

उक्त गाथाओंसे स्पष्ट है कि कपायप्राभृतके रचयिता आचार्य गुणधर हैं, उन्होने गाथा-सूत्रोंमें कपायप्राभृतको निबद्ध किया था। उन गाथासूत्रोंके समस्त अर्थके जानने वाले आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्य थे। इनसे अध्यनन करके यतिवृषभने कपायप्राभृत पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। उक्त कपायप्राभृत और उसपर रचे गये चूर्णिसूत्रों पर ही श्री वीरसेनस्वामीने इस जयधवला नामक सिद्धान्तग्रन्थकी रचना की है, जैसा कि उनके निम्न प्रतिज्ञावाक्यसे स्पष्ट है-

"[1]णाणप्पवादामलदसमवत्थुतदियकसायपाहुडुवहिजलणिवहप्पक्खालियमइणाणलोयणकलावपच्चक्खी-कयतिहुवणेण तिहुवणपरिपालएण गुणहरभडारएण तित्थवोच्छेदभयेणुवइट्ठगाहाणं अवगाहिय सयलपाहुड-त्थाणं सचुण्णिसुत्ताणं विवरणं कस्सामो।"

अर्थात्—ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वकी निर्दोप दसवीं वस्तुके तीसरे कपायप्राभृतरूपी समुद्रके जलसमूहसे धोए गए मतिज्ञानरूपी लोचनोंसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है और जो तीनों लोकोंके परिपालक हैं, उन गुणधर भट्टारकके द्वारा तीर्थके विच्छेदके भयसे कही गई गाथाओंका, जिनमें कि सम्पूर्ण कपायप्राभृतका अर्थ समाया हुआ है, चूर्णिसूत्रोंके साथ मैं विवरण करता हूँ।

इस प्रकार कपायप्राभृत और उसपर रचे गये चूर्णिसूत्रोंका व्याख्यान करनेवाले जय-धवलाकार श्रीवीरसेन स्वामीके उक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि कपायप्राभृतके रचयिता श्रीगुणधर भट्टारक हैं और चूर्णिसूत्रोंके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। जयधवलाकारके पश्चाद्भावी

(१) कसायपा० भा० १, पृ० ४।

श्रुतावतारोंके रचयिता आचार्य इन्द्रनन्दि[1] और विबुध श्रीधरका[2] भी ऐसा ही अभिप्राय है।

जयधवलामें जो चूर्णिसूत्र हैं उनमें न तो कहीं कषायप्राभृतके कर्ताका नाम आता है और न चूर्णिसूत्रोंके कर्ताका ही नाम आता है। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें दो गाथाएं इस प्रकार पाई जाती हैं—

"पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं ।
दट्ठूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाढरवस (वसहं) ॥८०॥
चुण्णिसरूवत्थं करणसरूवपमाण होइ किं जत्तं ।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥८१॥"

पहली गाथामें ग्रन्थकारने श्लेषरूपमें अपना नाम दिया है और अपने नामके अन्तमें वसह-वृषभ शब्द होनेसे उसका अनुप्रास मिलानेके लिये द्वितीयाविभक्त्यन्त सब शब्दोंके अन्तमें वसह पदको स्थान दिया है। जिनवरवृषभ और गणधरवृषभका अर्थ तो स्पष्ट ही है। क्योंकि वृषभनाथ प्रथम तीर्थङ्कर थे और उनके प्रथम गणधरका नाम भी वृषभ ही था। किन्तु 'गुणवसहं' पद स्पष्ट नहीं है, यों तो 'गुणवसहं' को 'गणहरवसहं'का विशेषण किया जा सकता था, किन्तु यही गाथा जयधवलाके सम्यक्त्व अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमें पाई जाती है और इससे उसमें कुछ अन्तर है। गाथा इस प्रकार है—

"पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं ।
दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं ॥"

यहां 'गुणवसहं' के स्थानमें 'गुणहरवसहं' पाठ पाया जाता है। जो गुणधराचार्यका बोध कराता है। अतः यदि 'गुणवसहं' का मतलब गुणधराचार्यसे है तो स्पष्ट है कि यतिवृषभने कषायप्राभृतके कर्ता गुणधराचार्यका उल्लेख किया है। और इस प्रकार उनके मतसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि कषायप्राभृतके कर्ताका नाम गुणधर था। क्योंकि किसी दूसरे गुणधराचार्यका तो कोई अस्तित्व पाया ही नहीं जाता है, और यदि हो भी तो उनको स्मरण करनेका उन्हें प्रयोजन भी क्या था? दूसरी गाथाका पहला पाद[3] यद्यपि सदोष प्रतीत होता है फिर भी किसी किसी प्रतिमें 'त्थं करण'के स्थानमें 'छक्करण' पाठ भी पाया जाता है। और इस परसे यह अर्थ किया जाता है कि चूर्णिस्वरूप (?) और छक्करण स्वरूप ग्रन्थोंका जितना प्रमाण है उतना ही अर्थात् आठ हजार श्लोक प्रमाण त्रिलोकप्रज्ञप्तिका है। यहां 'चूर्णि' पदसे ग्रन्थकार सम्भवतः कषायप्राभृत पर रचे गये अपने चूर्णिसूत्रोंका उल्लेख करते हैं। अतः इससे प्रमाणित होता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिके रचयिता आचार्य यतिवृषभ ही चूर्णिसूत्रोंके भी रचयिता हैं।

कसायपाहुडकी गाथाओंकी कर्तृकतामें मतभेद

कसायप्राभृतकी कुल गाथाएं २३१ हैं, यह हम पहले लिख आये हैं, किन्तु दूसरी गाथा 'गाहासदे असीदे' के आदिमें ग्रन्थकारने १८० गाथाओंके ही रचनेकी प्रतिज्ञा की है। इसपर कुछ आचार्योंका[4] मत है कि १८० गाथाओंके सिवाय १२ सम्बन्धगाथाएं, ६ अद्धापरिमाणनिर्देशसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएं, और ३५ संक्रमसम्बन्धी गाथाएं नागहस्ति आचार्यकी बनाई हुई हैं। इसलिये 'गाहासदे असीदे' आदि जो प्रतिज्ञा

---

(१) तत्त्वानु० पृ० ८६, श्लो० १५०–१५३। (२) सिद्धान्तसा० पृ० ३१७। (३) जैं० सा०इ० पृ०६। (४) "असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देससंकमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे; संबंधगाहाहि अद्धापरिमाणणिद्देसगाहाहि संकमगाहाहि य विणा असीदिसदगाहाओ चेव भणंतस्स गुणहरभडारयस्स अयाणत्तप्पसंगादो। तम्हा पुव्वुत्तत्थो चेव घेतव्वो।" पृ० १८३।

है वह नागहस्ति आचार्यने की है। किन्तु जयधवलाकार इस मतसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'उक्त ५३ गाथाओंका कर्ता यदि नागहस्ति आचार्यको माना जायेगा तो ऐसी अवस्थामें गुणधराचार्य अल्पज्ञ ठहरेंगे। अतः २३३ गाथाओंके होते हुए भी जो 'गाहासदे असीदे' आदि प्रतिज्ञा की है वह पन्द्रह अधिकारोंमेंसे अमुक अमुक अधिकारमें इतनी इतनी गाथाएं हैं यह बतलानेके लिये की है। अर्थात् 'गाहासदे असीदे' के द्वारा ग्रन्थकारने कषायप्राभृतकी कुल गाथाओंका निर्देश नहीं किया है किन्तु जो गाथाएं पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बन्ध रखती हैं उनका ही निर्देश किया है। और ऐसी गाथाएं १८० हैं। शेष ५३ गाथाओंमेंसे १२ सम्बन्धगाथाएं किसी एक अधिकारसे सम्बद्ध नहीं हैं क्योंकि ये गाथाएं अमुक अमुक अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओंका निर्देश करती हैं। अद्धापरिमाणनिर्देशसे सम्बन्ध रखनेवाली ६ गाथाएं भी किसी एक अधिकारसे सम्बद्ध नहीं हैं क्योंकि अद्धापरिमाणनिर्देश न तो कोई स्वतंत्र अधिकार है और न किसी एक अधिकारका ही अंग है। रह जाती हैं शेष ३५ गाथाएं, सो ये गाथाएं तीन गाथाओंमें कहे गये पांच अधिकारोंमेंसे बन्धकनामके अधिकारमें प्रतिबद्ध हैं अतः उनको भी १८० में सम्मिलित नहीं किया है।'

जयधवलाकार श्री वीरसेनस्वामीका उक्त समाधान यद्यपि हृदयको लगता है फिर भी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि जब संक्रमवृत्ति सम्बन्धी ३५ गाथाएँ बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध हैं तो उनको १८० में सम्मिलित क्यों नहीं किया ? यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्री वीरसेनस्वामीने जयधवलामें जहाँ कहीं कसायपाहुडकी गाथाओंका निर्देश किया है वहाँ १८० का ही निर्देश किया है, समस्त गाथाओंकी गिनती करानेके सिवा अन्यत्र कहीं भी २३३ गाथाओंका उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। जब कि १८० का उल्लेख इसी खण्डमें अनेक जगह आता है। यहाँ यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि श्वेताम्बरग्रन्थ कर्मप्रकृतिमें कषायप्राभृतकी जो अनेक गाथाएं पाई जाती हैं वे संक्रमवृत्ति सम्बन्धी इन ३५ गाथाओंमें से ही पाई जाती हैं। और कुछ आचार्य इनका कर्ता नागहस्ति आचार्यको मानते हैं। श्वेताम्बरसम्प्रदायमें वाचकवंशके प्रस्थापक और कर्मप्रकृतिके वेत्ता एक नागहस्ति आचार्यका नाम आता है जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। शायद इसी लिये तो संक्रमवृत्ति सम्बन्धी कुछ गाथाएं उधर नहीं पाई जाती हैं ? अस्तु, जो कुछ हो। किन्तु इतना स्पष्ट है कि कसायपाहुडकी १८० गाथाओंके सम्बन्धमें तो उनके रचयिताको लेकर कोई मतभेद नहीं था, सभी उनका कर्ता गुणधर आचार्यको मानते थे। किन्तु शेष ५३ गाथाओंके रचयिताके सम्बन्धमें मतभेद था। कुछ आचार्य उनका कर्ता नागहस्ति आचार्यको मानते थे और कुछ गुणधराचार्यको ही मानते थे। आचार्य यतिवृषभका इस बारेमें क्या मत था यह उनके चूर्णिसूत्रोंसे ज्ञात नहीं होता।

कसायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधरके सम्बन्धमें यदि कुछ थोड़ा बहुत ज्ञात हो सकता है तो वह केवल जयधवला और श्रुतावतारोंसे ही ज्ञात हो सकता है। अन्यत्र उनका कुछ भी उल्लेख नहीं पाया जाता। श्वेताम्बर परम्परामें भी इस नामके किसी आचार्यके होनेका कोई सङ्केत नहीं मिलता। जयधवला भी केवल इतना ही बतलाती है कि महावीर भगवानके निर्वाणलाभके पश्चात् ६८३ वर्ष बीत जाने पर भरतक्षेत्रमें जब सभी आचार्य सभी अंगों और पूर्वोंके एकदेशके धारक होने लगे तो अंगों और पूर्वोंका एकदेश आचार्यपरम्परासे गुणधरको प्राप्त हुआ[1]। वे ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे कसायपाहुडरूपी समुद्रके

आचार्य गुणधर और उनका समय

(१) पृ० ८७

पारगामी थे। अङ्गज्ञानका दिन पर दिन लोप होते हुए देखकर उन्होंने श्रुतका विनाश हो जानेके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर प्रकृत कषायप्राभृतका उद्धार किया।

भगवान महावीररूपी हिमाचलसे उद्भूत होकर द्वादशाङ्गवाणीरूपी गङ्गा जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई आचार्य गुणधरको प्राप्त हुई उसका वर्णन करते हुए जयधवलाकारने लिखा है–

'भगवान महावीरने अपने गणधर आर्य इन्द्रभूति गौतमको अर्थका उपदेश किया। गौतम गणधरने उस अर्थको अवधारण करके उसी समय द्वादशाङ्गकी रचना की और सुधर्माचार्यको उसका व्याख्यान किया। कुछ कालके पश्चात् इन्द्रभूति गणधर केवलज्ञानको प्राप्त करके और बारह वर्षतक केवलीरूपसे विहार करके मोक्षको चले गये। जिस दिन वे मुक्त हुए उसी दिन सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी आदि अनेक आचार्योंको द्वादशाङ्गका व्याख्यान करके केवली हुए और बारह वर्ष तक विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। उसी दिन जम्बूस्वामी विष्णु आचार्य आदि अनेक ऋषियोंको द्वादशाङ्गका व्याख्यान करके केवली हुए और अड़तीस वर्ष तक विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। ये इस अवसर्पिणीकालमें अन्तिम केवली हुए।'

'इनके मोक्ष चले जानेपर सकल सिद्धान्तके ज्ञाता विष्णु आचार्य नन्दिमित्रआचार्यको द्वादशाङ्ग समर्पित करके देवलोकको चले गये। पुनः इसी क्रमसे अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये तीन श्रुतकेवली और हुए। इन पांचों ही श्रुतकेवलियोंका काल सौ वर्ष है। उसके बाद भद्रबाहु भगवान्के स्वर्ग चले जानेपर सकल श्रुतज्ञानका विच्छेद हो गया। किन्तु विशाखाचार्य आचार आदि ग्यारह अंगोंके और उत्पाद पूर्व आदि दस पूर्वोंके तथा प्रत्याख्यान, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार इन चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। पुनः अविच्छिन्न सन्तानरूपसे प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव, और धर्मसेन ये ग्यारह मुनिजन दस पूर्वोंके धारी हुए। उनका काल एकसौ तेरासी वर्ष होता है। भगवान् धर्मसेनके स्वर्ग चले जानेपर भारतवर्षमें दस पूर्वोंका विच्छेद हो गया। किन्तु इतनी विशेषता है कि नक्षत्राचार्य, जसपाल, पांडु, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाँच मुनिजन ग्यारह अंगके धारी और चौदह पूर्वोंके एक देशके धारी हुए। इनका काल दो सौ बीस वर्ष होता है। पुनः ग्यारह अंगोंके धारी कंसाचार्यके स्वर्ग चले जानेपर भरतक्षेत्रमें कोई भी ग्यारह अंगका धारी नहीं रहा।'

'किन्तु उसी समय परम्पराक्रमसे सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांगके धारी और शेष अंगों और पूर्वोंके एकदेशके धारी हुए। इन आचारांगधारियोंका काल एकसौ अठारह वर्ष होता है। लोहाचार्यके स्वर्ग चले जानेपर आचाराङ्गका विच्छेद हो गया। इन सब आचार्योंके कालोंका जोड़ ६८३ वर्ष होता है।'

'उसके बाद अंगों और पूर्वोंका एकदेश ही आचार्यपरम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। पुनः उन गुणधर भट्टारकने, जो ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे कषायप्राभृतके पारङ्गत थे, प्रवचनवात्सल्यके वशीभूत होकर ग्रन्थके विच्छेदके भयसे सोलह हजार पद प्रमाण पेज्जदोसपाहुडका एकसौ अस्सी गाथाओंके द्वारा उपसंहार किया। पुन: वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुईं। उनसे उन एकसौ अस्सी गाथाओंको भले प्रकार श्रवण करके प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारकने उनपर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी।'

(१) पृ० ८४।

है वह नागहस्ति आचार्यने की है। किन्तु जयधवलाकार इस मतसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'उक्त ५३ गाथाओंका कर्ता यदि नागहस्ति आचार्यको माना जायेगा तो ऐसी अवस्थामें गुणधराचार्य अल्पज्ञ ठहरेंगे। अतः २३३ गाथाओंके होते हुए भी जो 'गाहासदे असीदे' आदि प्रतिज्ञा की है वह पन्द्रह अधिकारोंमेंसे अमुक अमुक अधिकारमें इतनी इतनी गाथाएं हैं यह बतलानेके लिये की है। अर्थात् 'गाहासदे असीदे' के द्वारा ग्रन्थकारने कषायप्राभृतकी कुल गाथाओंका निर्देश नहीं किया है किन्तु जो गाथाएं पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बन्ध रखती हैं उनका ही निर्देश किया है। और ऐसी गाथाएं १८० हैं। शेष ५३ गाथाओंमेंसे १२ सम्बन्धगाथाएं किसी एक अधिकारसे सम्बद्ध नहीं है क्योंकि ये गाथाएं अमुक अमुक अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओंका निर्देश करती हैं। अद्धापरिमाणनिर्देशसे सम्बन्ध रखनेवाली ६ गाथाएं भी किसी एक अधिकारसे सम्बद्ध नहीं है क्योंकि अद्धापरिमाणनिर्देश न तो कोई स्वतंत्र अधिकार है और न किसी एक अधिकारका ही अंग है। रह जाती हैं शेष ३५ गाथाएं, सो ये गाथाएं तीन गाथाओंमें कहे गये पांच अधिकारोंमेंसे बन्धकनामके अधिकारमें प्रतिबद्ध हैं अतः उनको भी १८० में सम्मिलित नहीं किया है।'

जयधवलाकार श्री वीरसेनस्वामीका उक्त समाधान यद्यपि हृदयको लगता है फिर भी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि जब संक्रमवृत्ति सम्बन्धी ३५ गाथाएँ बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध हैं तो उनको १८० में सम्मिलित क्यों नहीं किया? यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्री वीरसेनस्वामीने जयधवलामें जहाँ कहीं कसायपाहुडकी गाथाओंका निर्देश किया है वहाँ १८० का ही निर्देश किया है, समस्त गाथाओंकी गिनती करानेके सिवा अन्यत्र कहीं भी २३३ गाथाओंका उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। जब कि १८० का उल्लेख इसी खण्डमें अनेक जगह आता है। यहाँ यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि श्वेताम्बरग्रन्थ कर्मप्रकृतिमें कषायप्राभृतकी जो अनेक गाथाएं पाई जाती हैं वे संक्रमवृत्ति सम्बन्धी इन ३५ गाथाओं-में से ही पाई जाती हैं। और कुछ आचार्य इनका कर्ता नागहस्ति आचार्यको मानते हैं। श्वेताम्बरसम्प्रदायमें वाचकवंशके प्रस्थापक और कर्मप्रकृतिके वेत्ता एक नागहस्ति आचार्यका नाम आता है जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। शायद इसी लिये तो संक्रमवृत्ति सम्बन्धी कुछ गाथाएं उधर नहीं पाई जाती हैं? अस्तु, जो कुछ हो। किन्तु इतना स्पष्ट है कि कसायपाहुडकी १८० गाथाओंके सम्बन्धमें तो उनके रचयिताको लेकर कोई मतभेद नहीं था, सभी उनका कर्ता गुणधर आचार्यको मानते थे। किन्तु शेष ५३ गाथाओंके रचयिताके सम्बन्धमें मतभेद था। कुछ आचार्य उनका कर्ता नागहस्ति आचार्यको मानते थे और कुछ गुणधराचार्यको ही मानते थे। आचार्य यतिवृषभका इस बारेमें क्या मत था यह उनके चूर्णिसूत्रोंसे ज्ञात नहीं होता।

कसायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधरके सम्बन्धमें यदि कुछ थोड़ा बहुत ज्ञात हो सकता है तो वह केवल जयधवला और श्रुतावतारोंसे ही ज्ञात हो सकता है। अन्यत्र उनका कुछ भी उल्लेख नहीं पाया जाता। श्वेताम्बर परम्परामें भी इस नामके किसी आचार्य-के होनेका कोई सङ्केत नहीं मिलता। जयधवला भी केवल इतना ही बतलाती है कि महावीर भगवानके निर्वाणलाभके पश्चात् ६८३ वर्ष बीत जाने पर भरतक्षेत्रमें जब सभी आचार्य सभी अंगों और पूर्वोंके एकदेशके धारक होने लगे तो अंगों और पूर्वोंका एकदेश आचार्यपरम्परासे गुणधरको प्राप्त हुआ। वे ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे कसायपाहुडरूपी समुद्रके

आचार्य गुणधर और उनका समय

(१) पृ० ८७

पारगामी थे। अङ्गज्ञानका दिन पर दिन लोप होते हुए देखकर उन्होंने श्रुतका विनाश हो जानेके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर प्रकृत कषायप्राभृतका उद्धार किया।

भगवान महावीररूपी हिमाचलसे उद्भूत होकर द्वादशाङ्गवाणीरूपी गङ्गा जिस[१] प्रकार प्रवाहित होती हुई आचार्य गुणधरको प्राप्त हुई उसका वर्णन करते हुए जयधवलाकारने लिखा है–

'भगवान महावीरने अपने गणधर आर्य इन्द्रभूति गौतमको अर्थका उपदेश किया। गौतम गणधरने उस अर्थको अवधारण करके उसी समय द्वादशाङ्गकी रचना की और सुधर्माचार्यको उसका व्याख्यान किया। कुछ कालके पश्चात् इन्द्रभूति गणधर केवलज्ञानको प्राप्त करके और बारह वर्षतक केवलीरूपसे विहार करके मोक्षको चले गये। जिस दिन वे मुक्त हुए उसी दिन सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी आदि अनेक आचार्योंको द्वादशाङ्गका व्याख्यान करके केवली हुए और बारह वर्ष तक विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। उसी दिन जम्बूस्वामी विष्णु आचार्य आदि अनेक ऋषियोंको द्वादशाङ्गका व्याख्यान करके केवली हुए और अड़तीस वर्ष तक विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। ये इस अवसर्पिणीकालमें अन्तिम केवली हुए।'

'इनके मोक्ष चले जानेपर सकल सिद्धान्तके ज्ञाता विष्णु आचार्य नन्दिमित्रआचार्यको द्वादशाङ्ग समर्पित करके देवलोकको चले गये। पुनः इसी क्रमसे अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये तीन श्रुतकेवली और हुए। इन पांचों ही श्रुतकेवलियोंका काल सौ वर्ष है। उसके बाद भद्रबाहु भगवान्के स्वर्ग चले जानेपर सकल श्रुतज्ञानका विच्छेद हो गया। किन्तु विशाखाचार्य आचार आदि ग्यारह अंगोंके और उत्पाद पूर्व आदि दस पूर्वोंके तथा प्रत्याख्यान, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार इन चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। पुनः अविच्छिन्न सन्तानरूपसे प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव, और धर्मसेन ये ग्यारह मुनिजन दस पूर्वोंके धारी हुए। उनका काल एकसौ तेरासी वर्ष होता है। भगवान् धर्मसेनके स्वर्ग चले जानेपर भारतवर्षमें दस पूर्वोंका विच्छेद हो गया। किन्तु इतनी विशेषता है कि नक्षत्राचार्य, जसपाल, पांडु, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाँच मुनिजन ग्यारह अंगके धारी और चौदह पूर्वोंके एक देशके धारी हुए। इनका काल दो सौ बीस वर्ष होता है। पुनः ग्यारह अंगोंके धारी कंसाचार्यके स्वर्ग चले जानेपर भरतक्षेत्रमें कोई भी ग्यारह अंगका धारी नहीं रहा।'

'किन्तु उसी समय परम्पराक्रमसे सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांगके धारी और शेष अंगों और पूर्वोंके एकदेशके धारी हुए। इन आचारांगधारियोंका काल एकसौ अठारह वर्ष होता है। लोहाचार्यके स्वर्ग चले जानेपर आचाराङ्गका विच्छेद हो गया। इन सब आचार्योंके कालोंका जोड़ ६८३ वर्ष होता है।'

'उसके बाद अंगों और पूर्वोंका एकदेश ही आचार्यपरम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। पुनः उन गुणधर भट्टारकने, जो ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे कषायप्राभृतके पारङ्गत थे, प्रवचनवात्सल्यके वशीभूत होकर ग्रन्थके विच्छेदके भयसे सोलह हजार पद प्रमाण पेज्जदोसपाहुडका एकसौ अस्सी गाथाओंके द्वारा उपसंहार किया। पुनः वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुईं। उनसे उन एकसौ अस्सी गाथाओंको भले प्रकार श्रवण करके प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारकने उनपर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी।'

(१) पृ० ८४।

श्री वीरसेन स्वामीके उक्त विवरणसे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभ करनेके पश्चात् ६८३ वर्ष तक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही। उसके बाद गुणधर भट्टारक हुए। उन्हें आचार्यपरम्परासे अंग और पूर्वोंका एक देश प्राप्त हुआ। ग्रन्थविच्छेदके भयसे उन्होंने ज्ञानप्रवाद पूर्वके तीसरे वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कसायपाहुडको संक्षिप्त करके उसे १८० गाथाओंमें निबद्ध किया।

श्री वीरसेन स्वामीके पश्चात्के आचार्य इन्द्रनन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें कषायप्राभृतकी उत्पत्तिका विवरण दिया है। प्रारम्भमें उन्होने भी महावीरके पश्चात् होने वाले अंगज्ञानके धारक आचार्योंकी परम्परा देकर ६८३ वर्ष तक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति बतलाई है। उसके बाद कुछ अन्य आचार्योंका उल्लेख करके उन धरसेन स्वामीका अस्तित्व बतलाया है, जिनसे अध्ययन करके आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने पट्खण्डागमकी रचना की थी[1]। पट्खण्डागमकी रचनाका इतिवृत्त देकर उन्होंने कषायप्राभृत सूत्रकी उत्पत्तिका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है और उसके आगे लिखा है कि ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरे प्राभृतके ज्ञाता गुणधर मुनीन्द्र हुए।

यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि भगवान महावीरके पश्चात् कब गुणधर आचार्य हुए। किन्तु उनके वर्णनसे भी यही प्रकट होता है अंगज्ञानियों की परम्पराके पश्चात् ही गुणधराचार्य हुए हैं। कितने काल पश्चात् हुए हैं इसका भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यदि गुणधराचार्य की गुरुपरम्परा का कुछ पता चल जाता तो उसपरसे भी सहायता मिल सकती थी। किन्तु इन्द्रनन्दि अपने श्रुतावतारमें स्पष्ट लिखते हैं—

"गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥"

अर्थात्–गुणधर और धरसेनके गुरुवंशका पूर्वापरक्रम हम नहीं जानते हैं; क्योंकि उनके अन्वयके कहने वाले आगम और मुनिजनोंका अभाव है।

श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमीका अनुमान[2] है कि श्रुतावतारके कर्ता वे ही इन्द्रनन्दि हैं जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ३९६ वीं गाथामें गुरुरूपसे किया है। उनके इस अनुमानका आधार क्या है? यह तो उन्होंने नहीं बतलाया। सम्भवतः श्रुतावतारका यथासम्भव जो प्रामाणिक वर्णन इन्द्रनन्दिने दिया है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण उक्त श्लोक है उसीके आधारपर प्रेमी जीने उक्त अनुमान किया हो। अस्तु, जो कुछ हो, किन्तु यह निश्चित है कि धवला और जयधवलाके रचयिता श्री वीरसेनस्वामी भी धरसेन और गुणधर आचार्य की गुरुपरम्परासे अपरिचित थे। सम्भवतः उनके समयमें भी इन दोनों आचार्योंकी गुरुपरम्पराको कहने वाला कोई आगम या मुनिजन नहीं थे। अन्यथा वे धवला और जयधवलाके प्रारम्भमें श्रुतावतारका इतिवृत्त लिखते हुए उसे अवश्य निबद्ध करते। अतः जब पट्खण्डागम और कषायप्राभृतके आदरणीय टीकाकारने ही उक्त दोनों आचार्योंकी गुरुपरम्पराके बारेमें कुछ भी नहीं लिखा तो उनके पश्चाद्भावी इन्द्रनन्दिको यदि यह लिखना पड़े कि हम गुणधर और धरसेनकी गुरुपरम्पराको नहीं जानते हैं तो इसमें अचरज ही क्या है?

जयधवलामें[3] एक स्थानपर गुणधर को वाचक लिखा है। यथा–

"एतेनाशङ्का द्योतिता आत्मीया गुणधरवाचकेन।"

(१) तत्त्वानु० श्रुताव० गा० १४–१५०। (२) तत्त्वानु० की प्रस्ता०। (३) पृ० ३६५।

वाचक शब्द वाचनासे बना है। और ग्रन्थ, उसके अर्थ अथवा दोनोंका देना वाचना कहलाता है। अर्थात् जो साधु शिष्योंको ग्रन्थदान और अर्थदान करते थे उन्हें शास्त्राभ्यास[1] कराते थे वे वाचक कहे जाते थे। वाचकशब्दका यौगिक अर्थ तो इतना ही है। श्वेताम्बर-साहित्यमें भी वाचकका यही अर्थ किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वाचक एक पद था और वह पद उन आचार्योंको दिया जाता था जो अङ्गों और पूर्वोंके पठन पाठनमें रत रहते थे। इन वाचकाचार्योंके द्वारा ही अर्थ और सूत्ररूप प्रवचन शिष्यप्रशिष्यपरम्परासे प्रवाहित होता था। श्वेताम्बरपरम्परामें तो वाचकका अर्थ ही पूर्ववित् रूढ़ होगया है। जो मुनि पूर्वग्रन्थोंका जानकार होता था उसे ही वाचक कहा जाता था। आचार्य गुणधर भी पूर्ववित् थे सम्भवतः इसीलिये वे वाचक कहे जाते थे।

जयधवलामें लिखा है कि गुणधराचार्यके द्वारा रची गई गाथाएं आचार्यपरम्परासे आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्योंको प्राप्त हुई। इन दोनों आचार्योंके मतोंका उल्लेख जयधवलामें अनेक जगह आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जयधवलाकारके सामने इन दोनों आचार्योंकी कोई कृति मौजूद थी या उन्हें गुरुपरम्परासे इन दोनों आचार्योंके मत प्राप्त हुए थे। क्योंकि ऐसा हुए विना निश्चित रीतिसे अमुक अमुक विषयोंपर दोनोंके जुदे जुदे मतोंका इसप्रकार उल्लेख करना संभव प्रतीत नहीं होता। इन दोनोंमें आर्यमंक्षु जेठे मालूम होते हैं क्योंकि सब जगह[2] उन्हींका पहले उल्लेख किया गया है। किन्तु जेठे होने पर भी आर्यमंक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण और नागहस्तीके उपदेशको पवाइज्जमाण कहा है। जो उपदेश सर्वाचार्यसम्मत होता है और चिरकालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्यपरम्पराके द्वारा लाया जाता है वह पवाइज्जमाण कहा जाता है। अर्थात् आर्यमंक्षुका उपदेश सर्वाचार्यसम्मत और अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे आया हुआ नहीं था किन्तु नागहस्ती आचार्यका उपदेश सर्वाचार्यसम्मत और अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आया हुआ था। पश्चिमस्कन्धमें एक जगह इसीप्रकार दोनों आचार्योंके मतों का उल्लेख करते हुए जयधवलाकारने लिखा है।

(मार्जिन: आर्यमंक्षु और नागहस्ती)

"एत्थ दुवे उवएसा अत्थि त्ति के वि भणंति। तं कथम् ? महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण लोगे पूरिदे आउगसमं णामागोदवेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामागोदवेयणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्ममंतोमुहुत्तपमाणं होदि। होतं पि आउगादो संखेज्जगुणमेत्तं ट्ठवेदित्ति। णवरि एसो वक्खाणसंपदाओ चुण्णिसुत्तविरुद्धो। चुण्णि सुत्ते मुत्तकंठमेव संखेज्जगुणमाउआदो त्ति णिद्दिट्ठत्तादो। तदो पवाइज्जंतोवएसो एसो चेव पहाणभावेणावलंबेयव्वो॥" प्रे० का० पृ० ७५८१।

अर्थात्–इसविषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं। वे उपदेश इसप्रकार हैं–महावाचक आर्यमंक्षु क्षपणके उपदेशसे लोकपूरण करने पर नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थितिको आयुके समान करता है। और महावाचक नागहस्ती क्षपणके उपदेशसे लोकपूरण करनेपर नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करनेपर भी आयुसे संख्यातगुणीमात्र करता है। इन दोनों उपदेशोंमेंसे पहला उपदेश चूर्णिसूत्रसे विरुद्ध है क्योंकि

(१) "वायंति सिस्साणं कालियपुव्वसुत्तं ति वायगा आचार्या इत्यर्थः। गुरुसण्णिधे वा सीसभावेण वाइतं सुत्तं जेहिं ते वायगा।" नं० चू०। "विनेयेभ्यः पूर्वगतं सूत्रमन्यच्च वाचयन्तीति वाचकाः।" नन्दी० हरि० वृ०। (२) "सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतवो त्ति घेतव्वो।" प्रे० का० पृ० ५९२०।

चूर्णिसूत्रमें स्पष्ट ही 'संखेज्जगुणमाउआदो' ऐसा कहा है। अतः दूसरा जो पवाइज्जंत उपदेश है उसीका मुख्यतासे अवलम्बन करना चाहिये।'

यद्यपि सम्यक्त्व अनुयोगद्वारमें दोनोंके ही उपदेशोंको पवाइज्जंत कहा है। यथा–

"पवाइज्जंतेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमंखुणागहत्थिमहावाचयमुहकमलविणिग्गयेण सम्मत्तस्स अट्ठवस्साणि।" प्रे० पृ० ६२६१।

किन्तु इसका कारण यह मालूम होता है कि यहां दोनों आचार्योंमें मतभेद नहीं है। अर्थात् आर्यमंक्षुका भी वही मत है जो नागहस्तीका है। यदि आर्यमंक्षुका मत नागहस्तीके प्रतिकूल होता तो यहां भी उसे अपवाइज्जंत ही कहा जाता। अतः यह स्पष्ट है कि जेठे होने पर भी आर्यमंक्षुकी अपेक्षा प्रायः नागहस्तीका मत ही सर्वाचार्यसम्मत माना जाता था, कमसे कम जयधवलाकारको तो यही इष्ट था। इन दोनों आचार्योंको भी जयधवलाकारने महावाचक लिखा है। और इन दोनों आचार्योंका भी उल्लेख धवला, जयधवला और श्रुतावतारके सिवाय उपलब्ध दिगम्बर साहित्यमें अन्यत्र नहीं पाया जाता है।

किन्तु कुछ श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें अज्जमंगु और अज्जनागहत्थीका उल्लेख मिलता है। नन्दिसूत्रकी पट्टावलीमें अज्जमंगुको नमस्कार करते हुए लिखा है—

"भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं॥२८॥"

अर्थात्–'सूत्रोंका कथन करनेवाले, उनमें कहे गये आचारका पालन करनेवाले, ध्यानी, ज्ञान और दर्शन गुणोंके प्रभावक तथा श्रुतसमुद्रके पारगामी धीर आर्यमंगुको नमस्कार करता हूँ।'

आगे नागहस्ती का स्मरण करते हुए लिखा है—

"वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरणकरणभंगियकम्मपयडीपहाणाणं॥३०॥"

अर्थात्–'व्याकरण, करण, चतुर्भङ्गी आदिके निरूपक शास्त्र तथा कर्मप्रकृतिमें प्रधान आर्य नागहस्तीका यशस्वी वाचक वंश बढ़े।'

नन्दिसूत्रमें आर्यमंगुके पश्चात् आर्य नन्दिलका स्मरण किया है और उसके पश्चात् नागहस्तीका। नन्दिसूत्रकी चूर्णि तथा हारिभद्रीय वृत्तिमें भी यही क्रम पाया जाता है। तथा दोनोंमें आर्यमंगुका शिष्य आर्यनन्दिल और आर्यनन्दिलका शिष्य नागहस्तीको बतलाया है। यथा–

"आर्यमंगुशिष्यं आर्यनन्दिलक्षपणं शिरसा वन्दे। ········आर्यनन्दिलक्षपणशिष्याणां आर्यनागहस्तीनां····।" हा० वृ०।

इससे आर्यमंगुके प्रशिष्य आर्यनागहस्ति थे ऐसा प्रमाणित होता है। तथा नागहस्तिको कर्मप्रकृतिमें प्रधान बतलाया है और उनके वाचक वंशकी वृद्धिकी कामना की है। कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें आर्यमंगुकी एक कथा भी मिलती है जिसमें लिखा है कि वे मथुरामें जाकर भ्रष्ट हो गये थे। नागहस्तीको वाचकवंशका प्रस्थापक भी बतलाया है इससे स्पष्ट है कि वे वाचक जरूर थे तभी तो उनकी शिष्य परम्परा वाचक कहलाई। इन सब बातोंपर दृष्टि देनेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बरपरम्पराके आर्यमंगु और नागहस्ती तथा धवला जयधवलाके महावाचक आर्यमंक्षु और महावाचक नागहस्ति सम्भवतः एक ही हैं किन्तु मुनि

(१) अभि० रा० को० में अज्जमंगु शब्द।

कल्याणविजय जी[1] आदिका कहना है कि आर्यमंगु और आर्यनन्दिलके बीचमें चार आचार्य और हो गये हैं। उनका यह भी कहना है कि नन्दिसूत्रकी पट्टावलीमें आर्यमंगु और आर्य-नन्दिलके बीचमें होनेवाले उन चार आचार्योंके सम्बन्धकी दो गाथाएं छूट गई हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस मतकी पुष्टिमें उनका कहना है कि आर्यमंगुका युगप्रधानत्व वीरनि० सम्वत् ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्यनन्दिलका समय आर्यमंगुसे बहुत पीछेका है क्योंकि वे आर्य-रक्षितके पश्चात्भावी स्थविर थे, और आर्यरक्षितका स्वर्गवास वीरनि० सम्वत् ५९७ में हुआ था। इसलिये आर्यनन्दिल ५९७ के पीछेके स्थविर हो सकते है। इस प्रकार मुनिजीकी कालगणनाके अनुसार आर्यमंगु और आर्यनन्दिलके बीचमें १२७ वर्षका अन्तर रहता है। और उसमें आर्य नन्दिलका समय और जोड़ देने पर आर्यमंगु और नागहस्तिके बीचमें १५० वर्षके लगभग अन्तर बैठता है। अतः आर्यमंगु और नागहस्ति समकालीन व्यक्ति नहीं हो सकते। किन्तु जयधवलाकार चूर्णिसूत्रोंके कर्ता आचार्य यतिवृषभको दोनोंका शिष्य बतलाते हैं। यथा—

"जो अज्जमंखुसिस्सो अंतेवासी वि नागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देउ ॥"

समयकी इस समस्याको सुलझानेके लिये यतिवृषभको आर्यमंक्षुका परम्पराशिष्य और आय नागहस्तिका साक्षात् शिष्य मान लिया जा सकता था और ऐसा माननेमें जयधवलाकारके उक्त उल्लेखसे कोई विरोध नहीं आता था। क्योंकि वे यतिवृषभको आर्यमंक्षुका शिष्य और नाग-हस्तीका अन्तेवासी वतलाते हैं। यद्यपि साधारण तौरपर शिष्य और अन्तेवासीका एक ही अर्थ माना जाता है फिर भी अन्तेवासीका शब्दार्थ निकटमें रहनेवाला भी होता है और इसलिये नाग-हस्तिका उन्हें निकटवर्ती-साक्षात् शिष्य और आर्यमंक्षुका शिष्य-परम्परा शिष्य मान लिया जा सकता था। किन्तु उससे भी समस्या नहीं सुलझती है। क्योंकि जयधवलाकारका कहना है कि गुणधररचित गाथाएँ आचार्य परम्परासे आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्यको प्राप्त हुईं और गुणधर आचार्य अङ्गज्ञानियोंकी परम्पराके पश्चात अर्थात् वीर नि० सम्वत् ६८३ के वादमें हुए। अब यदि आर्यमंक्षुका अन्त वी० सं० ४७० में ही हो जाता है तो उन्हें तो गुण-धरकी गाथाएं प्राप्त ही नहीं हो सकतीं; क्योंकि गुणधरका समय उनसे दो सौ वर्षसे भी वादमें पड़ता है। रह जाते हैं नागहस्ति। उनका युगप्रधानत्वकाल श्वेताम्बर परम्परामें ६९ वर्ष माना गया है। अतः यदि वे वी० नि० सं० ६२० में पट्टासीन होते हैं तो उनका समय ६८९ तक जाता है। यदि गुणधरको वी० नि० सं० ६८३ के लगभगका ही विद्वान् मानकर[2] सीधे गुणधरसे ही नागहस्तिको कसायपाहुडकी प्राप्ति हुई मान ली जाय जैसा कि इन्द्रनन्दिका मत है तो गुणधर और नागहस्तिका पौर्वापर्य ठीक बैठ जाता है। किन्तु उसमें एक दूसरी अड़चन उपस्थित हो जाती है।

जयधवलाकार और इन्द्रनन्दि दोनोंका कहना है कि आर्यमंक्षु और नागहस्तिके पासमें कषायप्राभृतका अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र रचे। किन्तु आचार्य यति-वृषभका समय, जैसा कि हम आगे वतलायेंगे, वी० निं० सं० १००० के लगभग वैठता है। अतः यदि जयधवलाके आर्यमंक्षु और नागहस्तीको श्वेताम्वर परम्पराके आर्यमंगु और नागहस्ति माना जाता है तो गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ति तथा यतिवृषभका वह पौवापर्य नहीं वैठता जिसका उल्लेख जयधवलाकारने किया है और जो श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनदिको भी अभीष्ट है। उनका ऐक्य माननेसे गुणधर और नागहस्तिका पौर्वापर्य वन जानेपर भी कमसे कम आर्यमंक्षु और

(१) वीरनिर्वाण सम्वत् और जैनकाल गणना, पृ० १२४। (२) तत्त्वानु० श्रुताव० श्लो० १५४।

नागहस्ति तथा यतिवृषभका गुरुशिष्यभाव तो छोड़ना ही पड़ता है। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्वयं यतिवृषभ इस तरहका कोई उल्लेख नहीं करते हैं। उन्होंने अपने गुरुका या कषायपाहुडसूत्रकी प्राप्ति होनेका कहीं कोई उल्लेख नही किया। अपने चूर्णिसूत्रोंमें वे पवाइज्जमाण और अपवाइज्जमाण उपदेशोंका निर्देश अवश्य करते हैं किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण है और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है इसकी कोई चर्चा नहीं करते। यह चरचा करते हैं जयधवलाकार श्री वीरसेन स्वामी, जिन्हें इस विषयमें अवश्य ही अपने पूर्वके अन्य टीकाकारोंका उपदेश प्राप्त था। ऐसी अवस्थामें एकदम यह भी कह देना शक्य नही है कि आर्यमंक्षु नागहस्ति और यतिवृषभके गुरुशिष्यभावकी कल्पना भ्रान्त है। तव क्या दिगम्बर परम्परामें इन नामोंके कोई पृथक् ही आचार्य हुए हैं जो महावाचक और क्षमाश्रमण जैसी उपाधियोंसे विभूषित थे? किन्तु इसका भी कहीं अन्यत्रसे समर्थन नहीं होता है।

हमने ऊपर जो यतिवृषभका समय वतलाया है वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति और चूर्णिसूत्रोंके रचयिता यतिवृषभको एक मानकर उनकी त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर लिखा है। यदि यह कल्पना की जाये कि चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ कोई दूसरे व्यक्ति थे जो नागहस्तिके समकालीन थे तो जयधवलाकारके उल्लेखकी संगति ठीक बैठ जाती है किन्तु इस नामके दो आचार्योंके होनेका भी अभी तक कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होसका है। दूसरे त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तकी एक गाथामें चूर्णिसूत्र और गुणधरका उल्लेख पाया जाता है। अतः दोनोंके कर्ता दो यतिवृषभ नहीं सकते। गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ति तथा यतिवृषभके पौर्वापर्यकी इस चर्चाको बीचमें ही छोड़ कर हम आगे यतिवृषभके समयका विचार करेंगे।

आचार्य यतिवृषभ अपने समयके एक बहुत ही समर्थ विद्वान थे। उनके चूर्णिसूत्र और त्रिलोकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ ही उनकी विद्वत्ताकी साक्षीके लिये पर्याप्त हैं। जयधवलाकारने जयधवलामें जगह जगह जो उनके मन्तव्यों की चर्चा की है, और चर्चा करते हुए उनके वचनोंसे यतिवृषभके प्रति जो आदर और श्रद्धा टपकती है उन सबसे भी इस बातका समर्थन होता है। उदाहरणके लिये यहाँ एक दो प्रसंग उद्धृत किये जाते हैं।

आचार्य यतिवृषभका समय

जयधवलाकारकी[1] यह शैली है कि वे अपने प्रत्येक कथनकी साक्षीमें प्रमाण दिये विना आगे नहीं बढ़ते। एक जगह कुछ चर्चा कर चुकने पर शङ्काकार उनसे प्रश्न करता है कि आपने यह कैसे जाना? तो उसका उत्तर देते हैं कि यतिवृषभ आचार्यके मुखकमलसे निकले हुए इसी चूर्णिसूत्रसे जाना। इस पर शङ्काकार पुनः प्रश्न करता है कि चूर्णिसूत्र मिथ्या क्यों नहीं हो सकता? तो उसका उत्तर देते हैं कि राग द्वेष और मोहका अभाव होनेसे यतिवृषभके वचन प्रमाण हैं, वे असत्य नहीं हो सकते'। कितना सीधा सादा और भावपूर्ण समाधान है।

इसी प्रकारके एक दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है—विपुलाचलके[2] शिखरपर स्थित महावीररूपी दिवाकरसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बुस्वामी आदि आचार्यपरम्परासे आकर, गुणधराचार्यको प्राप्त होकर गाथा रूपसे परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु-नागहस्तिके द्वारा यतिवृषभके मुखसे चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणोंसे हमने ऐसा जाना है।

(१) "कुदो णव्वदे ? एदम्हादो चेव जइवसहाइरियमुहकमलविणिग्गयचुण्णिसुत्तादो। चुण्णिसुत्तमण्णहा किण्ण होदि ? ण, रायदोसमोहाभावेण पमाणत्तमुवगयजइवसहवयणस्स असच्चत्तविरोहादो।" प्रे० पृ० १८५९। (२) "एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्जजम्बुसामियादिआइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहितो जइवसहमुहणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।" प्रे० पृ० १३७८।

यतिवृषभकी वीतरागता और उनके वचनोंकी भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके साथ एकरसता बतलानेसे यह स्पष्ट है कि आचार्यपरम्परामें यतिवृषभके व्यक्तित्वके प्रति कितना समादर था और उनका स्थान कितना महान और प्रतिष्ठित था।

इन यतिवृषभने अपनी त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात्की आचार्य-परम्परा और उसकी कालगणना इस प्रकार दी है–

"जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादे तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥६६॥
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुवद्धा ॥६७॥
वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकालो परिमाणं पिंडरूवेण ॥६८॥"

अर्थ–जिस दिन श्री वीर भगवानका मोक्ष हुआ उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञानी हुए। उनके सिद्ध होनेपर सुधर्मास्वामी केवली हुए। सुधर्मास्वामीके कृतकर्मोंका नाश कर चुकनेपर जम्बूस्वामी केवली हुए। उनके सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर कोई केवली नहीं हुआ। इन गौतम आदि केवलियोंके धर्मप्रवर्तनके कालका परिमाण पिण्डरूपसे ६२ वर्ष है ॥६६-६८॥

"णंदी य णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइं जाया (तईओ य)।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दवाहु त्ति ॥७२॥
पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा।
ते वारसअंगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स ॥७३॥
पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं।
वारिम्मि य पंचमए भरहे सुदकेवली णत्थि ॥७४॥"

अर्थ–नन्दि, दूसरे नन्दिमित्र, तीसरे अपराजित, चौथे गोवर्धन और पाँचवे भद्रवाहु, ये पांच पुरुषश्रेष्ठ श्रीवर्द्धमान स्वामीके तीर्थमें जगतमें प्रसिद्ध चतुर्दशपूर्वधारी हुए। ये द्वादशांगके ज्ञाता थे। इन पाँचोंका काल मिलाकर एकसौ वर्ष होता है। इनके वाद भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें और कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ ॥ ७२–७४ ॥

"पढमो विसाहणामो पुट्ठिल्लो खत्तिओ जओ णागो।
सिद्धत्थो धिदिसेणो विजओ बुद्धिल्लगंगदेवा य ॥७५॥
एक्करसो य सुधम्मो दसपुव्वधरा इमे सुविक्खादा।
पारंपरिउवगमदो तेसीदिसदं च ताण वासाणि ॥७६॥
सव्वेसु वि कालवसा तेसु अदीदेसु भरहखेतम्मि।
वियसंतभव्वकमला ण संति दसपुव्विदिवसयरा ॥७७॥"

अर्थ–विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य एकके वाद एक क्रमसे दसपूर्वके धारी विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। कालवशसे इन सबके अतीत हो जानेपर भरतक्षेत्रमें भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लितकरनेवाले दसपूर्वके धारक सूर्य नहीं हुए ॥ ७५–७७ ॥

"णक्खत्तो जयपालो पंडुव-धुवसेण-कंस आइरिया।
एक्कारसंगधारी पंच इमे वीरतित्थम्मि ॥७८॥
दोण्णिसया वीसजुदा वासाणं ताण पिंडपरिमाणं।
तेसु अतीदे णत्थि हु भरहे एक्कारसंगधरा ॥७९॥"

अर्थ–नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पांच आचार्य वीर भगवानके तीर्थमें ग्यारह अंगके धारी हुए। इनके समयका एकत्र परिमाण २२० वर्ष होता है। इनके वाद भरतक्षेत्रमें ग्यारह अंगोंका धारक कोई नहीं हुआ ॥ ७८-७९ ॥

"पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहु ।
तुरिमो य लोयणामो एदे आयारअंगधरा ॥८०॥

सेसेक्करसंगाणि (गाणं) चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा ।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥८१॥

तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहम्मि ।
गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसीदी ॥८२॥"

अर्थ—सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्गके धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष[1] ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके एक देशके ज्ञाता थे। इनके समयका परिमाण ११८ वर्ष होता है। इनके बाद भरतक्षेत्रमें आचाराङ्गके धारी नहीं हुए। गौतमगणधरसे लेकर इन सभी आचार्योंका काल ६८३ वर्ष हुआ ॥८०–८२॥

इस प्रकार त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें भगवान महावीरके बादकी जो आचार्यपरम्परा तथा कालगणना दी है उसका क्रम इस प्रकार होता है—

६२ वर्षमें ३ केवलज्ञानी
१०० वर्षमें ५ श्रुतकेवली
१८३ वर्षमें ११ ग्यारह अंग और दस पूर्वके धारी
२२० वर्षमें ५ ग्यारह अंगके धारी
११८ वर्षमें ४ आचारांगके धारी
———
६८३ वर्ष

(१) माननीय प्रेमीजीने 'लोक विभाग और तिलोयपण्णत्ति' नामक अपने लेखमें (जैनसा० इ०) इस अंशका अर्थ इस प्रकार किया है–'शेष कुछ आचार्य ग्यारह अंग चौदह पूर्वके एक अंशके ज्ञाता थे। ये सब ११८ वर्षमें हुए।' माननीय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने भी ऐसा ही अर्थ किया है। वे लिखते हैं–'त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इतना विशेष जरूर है कि आचारांगधारियोंकी ११८ वर्षकी संख्यामें अंग और पूर्वोंके एक देशधारियोंका भी समय शामिल किया है।' (समन्तभद्र० पृ० १६१)। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके ८४ वें श्लोकको या ब्रह्म हेमचन्द्रके श्रुतस्कन्धको दृष्टिमें रखकर उक्त अर्थ किया गया जान पड़ता है। क्योंकि उनमें लोहार्यके पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, और अर्हद्दत्त नामके चार आचार्योंको अंगों और पूर्वोंके एकदेशका धारी बतलाया है। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उक्त अंशका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसमें आचाराङ्गके धारक सुभद्र आदि चार आचार्योंको ही शेष ग्यारह अंगों और चौदह पूर्वोंके एक देशका धारी बतलाया है। 'सेस' पद 'एक्कारसंगाणं' के साथ समस्त है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अमुक अमुक अंगों और पूर्वोंके पूर्णज्ञाता आचार्योंके अवसानके बाद उन उन अंगों और पूर्वोंका एकदम लोप नहीं हो गया, किन्तु उनके एकदेशका ज्ञान अन्त तक बराबर चला आया, जैसा कि धवला (वेदना खण्ड) तथा जयधवला (पृ० ८५) में दिये गये श्रुतावतारसे स्पष्ट है। यदि ऐसा न होता तो पूर्वोंके एकदेशका ज्ञान धरसेन और गुणधर आचार्यों तक न आता और न षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी रचना होती, क्योंकि दूसरे अग्रायणीय पूर्वसे षट्खण्डागमका उद्गम हुआ है और पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वसे कषायप्राभृतका उद्गम हुआ है।'

जहाँ तक हम जानते हैं भगवान् महावीरके बादकी आचार्य परम्परा और कालगणनाका[1] यह उल्लेख कमसे कम दिगम्बर[2] परम्परामें तो सबसे[3] प्राचीन है। इसके बाद[4] हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदिपुराण, इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार और ब्रह्महेमचन्द्रके श्रुतस्कन्धमें भी उक्त उल्लेख पाया जाता है। जो प्रायः त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे मिलता जुलता है। किन्हीं किन्हीं आचार्योंके नामोंमें थोड़ा सा अन्तर है जो प्राकृत नामोंका संस्कृतमें रूपान्तर करनेके कारण भी हुआ जान पड़ता है। किन्तु सभी उल्लेखोंमें गौतम स्वामीसे लेकर लोहाचार्य तकका काल ६८३ वर्ष ही स्वीकार किया है। स्पष्टीकरणके लिये उक्त सभी उल्लेखोंकी तालिका नीचे दी जाती है–

त्रि० प्र०	धवला (वेदनाखण्ड)	ज० धवला	आदिपु०	श्रुतावतार	काल
१ गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	
२ सुधर्मा	लोहार्य[5]	सुधर्मा	सुधर्म	सुधर्म	३ केवली—६२ वर्ष
३ जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	
१ नन्दि[6]	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	
२ नन्दिमित्र	नन्दि	नन्दिमित्र	नन्दिमित्र	नन्दि	
३ अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	५ श्रुतकेवली—१०० वर्ष
४ गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	
५ भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	
१ विशाख	विशाख	विशाखाचार्य	विशाखाचार्य	विशाखदत्त	
२ प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	
३ क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
४ जय	जय	जयसेन	जयसेन	जयसेन	
५ नाग	नाग	नागसेन	नागसेन	नागसेन	
६ सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	११ दशपूर्वी—१८३ वर्ष
७ धृतिसेन	धृतिसेन	धृतसेन	धृतिसेन	धृतिषेण	
८ विजय	विजय	विजय	विजय	विजयसेन	
९ वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिमान्	
१० गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गङ्ग	
११ सुधर्म	धर्मसेन	धर्मसेन	धर्मसेन	धर्म	
१ नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	
२ जयपाल	जयपाल	जसपाल	जयपाल	जयपाल	
३ पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	५ एकादशांगधारी–२२० वर्ष
४ ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	द्रुमसेन	
५ कंसार्य	कंस	कंसाचार्य	कंसाचार्य	कंस	
१ सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	
२ यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	अभयभद्र	
३ यशोबाहु	यशोबाहु	यशोबाहु	भद्रबाहु	जयबाहु	४ आचारांगधारी–११८ वर्ष
४ लोहार्य	लोहाचार्य	लोहाचार्य	लोहार्य	लोहार्य	६८३

(१) सर्ग ६० श्लो० ४७९-४८१ तथा सर्ग ६६ श्लो० २२-२४; (२) पर्व २, श्लो० १३९-१५० (३) तत्त्वानुशा०, पृ० ८०। (४) तत्त्वानुशा० पृ० १५८-१५९। (५) लोहार्य सुधर्माचार्यका ही दूसरा नाम था। यह बात जम्बूद्वीवपण्णत्तिके एक उल्लेखसे स्पष्ट है। (६) सम्भवतः इनका पूरा नाम विष्णुनन्दि था, जिसका आधा अंश विष्णु और नन्दिके नामसे पाया जाता है। हरिवंशपुराणके छ्यासठवें सर्गमें भगवान महावीरसे लेकर लोहाचार्य तककी वही आचार्यपरम्परा दी है जो त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें पाई जाती है। अर्थात् ६२ वर्ष में तीन केवली, १०० वर्षमें पांच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वके

इस प्रकार वीर निर्वाणके वादकी आचार्य परम्पराका उल्लेख करके त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें वीर-निर्वाणके वादकी राजकाल गणना भी दी है, जो इस प्रकार है—

"जं काले वीरजिणो णिस्सेयससंपयं समावण्णो ।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥९५॥
पालकरज्जं सट्ठि इगिसयपणवण्णविजयवंसभवा ।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा दु पुस्समित्तम्मि ॥९६॥
वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं ।
नरवाहणो य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥९७॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति वादाला ।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जो दोण्णियसयाणि इगितीसा ॥९८॥
तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो ।
सत्तरिवरिसा आऊ विगुणिय-इगवीस रज्जत्तो ॥९९॥"

पाठी, २२० वर्षमें पांच ग्यारह अंगके धारी और फिर ११८ वर्षमें सुभद्र, जयभद्र, यशोवाहु और लोहार्य ये चार आचाराङ्गधारी हुए ।

उत्तरपुराणके छिहत्तरवें अध्यायमें भी यही आचार्य परम्परा दी है । विशेषता केवल इतनी है कि प्रथम श्रुतकेवलीका नाम नन्दि दिया है तथा आचाराङ्गके धारियोंमें यशोवाहुके स्थानमें भद्रवाहु नाम है जैसा कि आदिपुराणमें भी है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें भी यह आचार्यपरम्परा इसी प्रकार पाई जाती है ।

इस प्रकार त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें आचार्य यतिवृषभने भगवान महावीरसे लेकर लोहाचार्य तककी आचार्य-परम्परा और उसकी कालगणनाका जिस क्रमसे उल्लेख किया है उत्तरकालीन साहित्यमें वह उसी क्रमसे उपलब्ध होती है । उसके अनुसार भगवान वीरके वाद ६८३ वर्षतक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति सिद्ध होती है । यह तो हुए साहित्यिक उल्लेख, अब शिलालेख और पट्टावलियोंपर भी एक दृष्टि डाल जाना उचित है ।

इस समय नन्दिसंघ-वलात्कारगण-सरस्वतीगच्छकी प्राकृत पट्टावली, सेनगणकी पट्टावली और काष्ठासंघकी पट्टावली हमारे सामने हैं । उनमें भी उक्त क्रम ही पाया जाता है । केवल इतना अन्तर है कि तीनों पट्टावलियोंमें नन्दिकी जगह विष्णु नाम मिलता है, तथा नन्दिसंघ और काष्ठासंघकी पट्टावलीमें यशोवाहुके स्थानमें भद्रवाहु नाम मिलता है । सेनगणकी पट्टावलीमें दसपूर्वियोंके नौ ही नाम दिये हैं—सिद्धार्थ और नागसेनका नाम छूट गया है, तथा विशाखाचार्यके स्थानमें व्रतधर लिखा है । काष्ठासंघकी पट्टावलीमें दसपूर्वियोंके नामोंमें वुद्धिल नाम नहीं है, दस ही नाम हैं । मालूम होता है लेखकों आदिकी गल्तीसे ये नाम छूट गये हैं । काष्ठासंघकी पट्टावलीमें तो कालगणना दी ही नहीं गई है । सेनगणकी पट्टावलीमें तीन केवलियोंका काल ६२ वर्ष, पांच श्रुतकेवलियोंका १०० वर्ष, दसपूर्वियोंका १८० वर्ष, ग्यारह अंगके धारियोंका २२२ वर्ष, और आचारांगके धारियोंका ११८ वर्ष लिखा है । इस कालगणनामें दसपूर्वियोंके समयमें जो ३ वर्षकी कमी की है, उसमेंसे दो वर्ष तो ग्यारह अंगके धारियोंके कालमें वढ़ाकर पूरे किये हैं शेष एक वर्षकी कमी रह जाती है ।

नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें जो कालगणना दी गई है, वह उपर्युक्त सभी कालगणनाओंसे कई दृष्टिसे विशिष्ट है । प्रथम तो उसमें प्रत्येक आचार्यका पृथक् पृथक् काल वतलाया है । दूसरे ५ एकादशाङ्गधारियों और ४ आचाराङ्गधारियोंका काल २२० वर्ष वतलाकर भगवान महावीरसे लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष ही वतलाया है और शेष एक सौ अट्ठारह वर्षमें अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन और भूतवलि आचार्योंको गिनाया है । अर्थात् पट्टावलीकार भी गणना तो ६८३ वर्षकी परम्पराको ही मानकर करते हैं किन्तु वे ६८३ वर्ष भूतवलि आचार्य तक पूर्ण करते हैं । इस प्रकार इस पट्टावलीकी कालगणनामें अन्य गणनाओंसे ११८ वर्षका अन्तर है, जो विचारणीय है ।

अर्थ–जिस समय वीर भगवानने मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त किया, उसी समय अवन्तिके पुत्र पालकका अभिषेक हुआ। पालकका राज्य ६० वर्ष तक रहा। उसके बाद १५५ वर्ष तक विजय वंशके राजाओंने, ४० वर्ष तक मरुदय (मौर्य) वंशने, तीस वर्ष तक पुष्यमित्रने, ६० वर्ष तक वसुमित्र अग्निमित्रने, सौ वर्ष तक गंधर्व राजाओंने और ४० वर्ष तक नरवाहनने राज्य किया। उसके बाद भृत्यान्ध्र राजा हुए। उन भृत्यान्ध्र राजाओंका काल २४२ वर्ष होता है। उसके बाद २३१ वर्ष तक गुप्तोंने राज्य किया। उसके बाद इन्द्रका पुत्र चतुर्मुख नामका कल्की हुआ। उसकी आयु सत्तर वर्षकी थी और उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया। इस तरह सबको मिलानेसे ६०+१५५ ४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२=१००० वर्ष होते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीरके निर्वाणसे १००० वर्ष तकके राजवंशोंकी गणना करके त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पुनः लिखा है–

"आचारंगवरादो पणहत्तरिजुतदुसयवासेसु।
वोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्कीसणरवइणो ॥१००॥"

अर्थात्–आचारांगधारियोंके बाद २७५ वर्ष बीतनेपर कल्किराजाका पट्टाभिषेक हुआ। आचारांगधारियोंका अस्तित्व वीर नि० सं० ६८३ तक बतलाया है। उसमें २७५ जोड़नेसे ९५८ होते हैं। इसमें कल्किके राज्यके ४२ वर्ष मिलानेसे १००० बर्ष हो जाते हैं।

भगवान महावीरके निर्वाणसे एक हजार वर्ष तककी इस राजकाल गणनाके रहते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ता उससे पहले हुए हैं? यदि यह राजकालगणना काल्पनिक होती और उन राजवंशोंका भारतीय इतिहासमें कोई अस्तित्व न मिलता, जिनका कि उसमें निर्देश किया गया है तो उसे दृष्टिसे ओझल भी किया जा सकता था। किन्तु जब उन सभी राजवंशोंका अस्तित्व उसी क्रमसे पाया जाता है जिस क्रमसे वह त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें दिया गया है तो उसे कैसे भुलाया जा सकता है? खास करके आंध्रवश और गुप्तवंश तो भारतके प्रख्यात राजवंशोंमें हैं। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें गुप्तवंशके बाद कल्किके राज्यका निर्देश किया है और लिखा है—

(१) त्रिलोकप्रज्ञप्तिके ही आधारपर जिनसेनाचार्यने भी अपने हरिवंशपुराणमें इस राजकाल-गणनाको स्थान दिया है। प्राकृत शब्दोंका संस्कृत रूपान्तर करनेके कारण एक दो राजवंशके नामोंमें कुछ अन्तर पड़ गया है।

श्वेताम्बरग्रन्थ तित्थोगाली पइन्नयमें भी वीरनिर्वाणसे शककाल तक ६०५ वर्षमें होनेवाले राज-वंशोका उल्लेख इसीप्रकार किया है। यथा—

"जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए अभिसित्तो पालओ राया ॥
पालकरण्णो सट्ठि पुण पण्णसयं वियाण णंदाणं।
मुरियाणं सट्ठिसयं पणतीसा पुस्समित्ताणं ॥
बलमित्त भाणुमित्ता सट्ठी चत्ता य होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण पडिवन्नो तो सगो राया ॥"

अर्थात्–"जिस रातमें अर्हन्त तीर्थङ्करका निर्वाण हुआ उसी रात्रिमें अवंति–उज्जैनीमें पालकका राज्याभिषेक हुआ। पालकके ६०, नन्दवंशके १५०, मौर्योंके १६०, पुष्यमित्रके ३५, बलमित्र-भानुमित्रके ६०, नभःसेनके ४० और गर्दभिल्लोंके १०० वर्ष बीतनेपर शक राजा हुआ।"

श्वेताम्बरोंके तीर्थोद्धार प्रकरणमें वीरनिर्वाणसे विक्रमादित्यके राज्यारम्भ तक ४७० वर्षमें होनेवाले राजवंशोंकी कालगणना भी प्रायः इसी प्रकार दी है। यथा–

"जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतिवई अभिसित्तो पालओ राया॥
सट्ठी पालगरण्णो पणपण्णसयं तु होई णंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसं पुण पुस्समित्तस्स॥
बलमित्त भाणुमित्ता सट्ठि वरसाणि चत्त नरवहणो।
तह गद्दभिल्लरज्जो तेरस वरिसा सगस्स चउ॥"

अर्थात्–"पालकके ६०, नन्दोंके १५५, मौर्योंके १०८, पुष्यमित्रके ३०, बलमित्र-भानुमित्रके ६०, नरवाहनके ४०, गर्दभिल्लके १३ और शकके ४ वर्ष बीतनेपर वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य राजा हुआ।"

त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ताने वीर निर्वाणसे कल्किके समय तक १००० वर्षमें होने वाले राजवंशोंकी गणना की है और श्वेताम्बराचार्योंने वीरनिर्वाणसे शकसंवत् तथा विक्रम संवत्के प्रारम्भ तक क्रमशः ६०५ और ४७० वर्ष में होने वाले राजवंशोंकी कालगणना की है। दोनोंने वीरनिर्वाणके दिन उज्जैनीमें पालक राजाका अभिषेक तथा उसका राज्यकाल ६० वर्ष माना है। उसके बाद त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ता विजयवंश-का उल्लेख करते हैं जब कि श्वेताम्बराचार्योंने नन्दवंशको अपनी गणनाका आधार बनाया है। किन्तु दोनों वंशोंका काल समान है। अतः कालगणनामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। तित्थोगाली पइन्नयमें नन्दोंके १५० वर्ष लिखे हैं। शेष ५ वर्षकी कमी पुष्यमित्रके ३५ वर्ष लिखकर पूरी कर दी गई है।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें मौर्यवंशका राज्यकाल केवल ४० वर्ष लिखा है जब कि तित्थोगालीपइन्नयमें १६० तथा तीर्थोद्धारप्रकरणमें १०८ वर्ष लिखा है। भारतीय इतिहासके क्रमका विचार करते हुए १६० वर्षका उल्लेख ही ठीक जंचता है। आधुनिक इतिहासलेखक भी मौर्यवंशका राज्यकाल ३२५ ई० पू० से १८० ई० पू० तक के लगभग ही मानते हैं। तीर्थोद्धारके कर्ताने १६०–१०८ शेष ५२ वर्षकी कमी-को गर्दभिल्लोंके १५२ वर्ष मानकर पूर्ण कर दिया है, किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी गणनामें १२० वर्षकी कमी रह गई है।

जैनहितैषी भा० १३ अंक १२ में प्रकाशित 'गुप्तराजाओंका काल मिहिरकुल और कल्कि' शीर्षक प्रो० पाठकके लेखसे भी उक्त कमी प्रकट होती है। पाठक महोदयने मंदसौरके शिलालेख तथा हरिवंश-पुराणकी काल गणनाके आधारपर गुप्त साम्राज्यके नाशक मिहिरकुलको कल्कि सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। आपने लिखा है–'कुमारगुप्त राजा विक्रम सं० ४९३, गुप्त सं० ११७ और शकाब्द ३५८ में राज्य करता था।' अतः ४९३ में से ११७ वर्ष कम करनेपर वि० सं० ३७६ में गुप्त राज्य या गुप्तसंवत्-का प्रारम्भ होना सिद्ध होता है। अर्थात् डाक्टर फ्लीटके मतानुसार वि० तथा गुप्त सं० में ३७५ वर्षका अन्तर आता है। अब यदि वि० सं० से ४७० वर्ष ५ मास या ४७१ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण माना जाय जैसे कि वर्तमानमें प्रचलित है, तो वीर निर्वाणसे ४७१ + ३७६ = ८४७ वर्ष बाद गुप्तराज्य प्रारम्भ होना चाहिये। किन्तु त्रिलोक प्रज्ञप्तिके पालक राजासे गुप्त राज्यके प्रारम्भ तकके गणना अंकोंके जोड़नेसे ६० + १५५ + ४० + ३० + ६० + १०० + ४० + २४२ = ७२७ वर्ष ही होते हैं। अतः ८४७ – ७२७ = १२० वर्ष की कमी स्पष्ट हो जाती है। इस कमी का कारण क्या है?

त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें शकराजाके बारेमें कई मतोंका उल्लेख किया है। जिनमेंसे एक मत यह भी है कि वीर निर्वाणके ४६१ वर्ष बाद शक राजा हुआ। मालूम होता है ग्रन्थकारको यही मत अभीष्ट था। उन्होंने ६०५ – ४६१ = १४४ वर्ष कम करनेके लिये १२० वर्ष तो मौर्यकालमें कम किये, शेष २४ वर्ष

शककालके बादके गुप्त वंशके समयमें २३१ की जगह २५५ वर्ष रखकर पूर्ण किये। क्योंकि त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें लिखा है– "णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसट्ठिवासविच्छेदे।

जादो च सगणरिंदो रज्जं वस्सस्स दुसयवादाला ॥
दोण्णिसया पणवण्णा गुत्ताणं चउमुहस्स वादालं।
वस्सं होदि सहस्सं केई एवं परूवंति ॥"

अर्थात्–'वीरनिर्वाणके ४६१ वर्ष वीतनेपर शकराजा हुआ। उसके वंशजोंका राज्यकाल २४२ वर्ष तक रहा। उसके बाद गुप्तवंशीय राजाओंने २५५ वर्ष तक राज्य किया। फिर चतुर्मुख कल्कि ने ४२ वर्ष राज्य किया। कोई कोई इस तरह एक हजार वर्ष बतलाते हैं।' अतः ४६१ वर्षकी मान्यताके आधारपर मौर्यराज्यके समय में १२० वर्षकी कमी की गई जान पड़ती है, जो इतिहासके अनुकूल नहीं है।

मौर्योंके बाद पुष्यमित्र तथा वसुमित्र अग्निमित्र या बलमित्र भानुमित्रकी राज्यकाल गणनामें कोई अन्तर नही है।

वसुमित्र अग्निमित्रके बाद त्रिलोक प्रज्ञप्तिके कर्ता गंधर्वसेन और नरवाहनका उल्लेख करते हैं। जब कि श्वेताम्बराचार्य नभःसेन या नरवाहनके बाद गर्दभिल्लका राज्य बतलाते हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्तिकी किसी किसी प्रतिमें 'गद्दव्वया' पाठ भी पाया जाता है। जिसका अर्थ गर्दभिल्ल किया जा सकता है। हरिवंश पुराणकारने सम्भवतः इसी पाठके आधारपर गर्दभका पर्याय शब्द रासभ प्रयुक्त किया है। गन्धर्वसेन राजा गर्दभी विद्या जाननेके कारण गर्दभिल्ल नामसे ख्यात हुआ। हिन्दू धर्मके भविष्य पुराणमें भी विक्रम राजाके पिताका नाम गंधर्वसेन ही लिखा है। गर्दभिल्लोंके बाद ही नरवाहन या नहपानका राज्य होना इतिहाससे सिद्ध है। क्योंकि तित्थोगाली पइन्नयकी गणनाके अनुसार मौर्योंके १६० वर्ष मानकर यदि गर्दभिल्लोंसे प्रथम नरवाहनका राज्य मान लिया जाय तो गर्दभिल्ल पुत्र विक्रमादित्यका काल वीरनिर्वाणसे ५१० वर्ष बाद पड़ेगा। अतः इस विषयमें त्रिलोक प्रज्ञप्तिका क्रम ठीक प्रतीत होता है।

गर्दभिल्लोंके बाद शकराज नरवाहन या नहपानका राज्य ४० वर्ष तक बतलाया है। अन्त समय भृत्यवंशके गौतमीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने उसे जीतकर शकोंको जीतनेके उपलक्षमें वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ मास बाद शालिवाहन शकाब्द प्रचलित किया। त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें नरवाहनके बाद आन्ध्र-भृत्य राजाओंका राज्यकाल बतलाया है जो उक्त ऐतिहासिक मान्यताके अनुकूल है।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिके कर्ताने वीर निर्वाणसे कितने समय पश्चात् शकराजा हुआ इस बारेमें कई मतोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे एक मतके अनुसार ६०५ वर्ष ५ मास भी काल बतलाया है। हरिवंश पुराण तथा त्रिलोकसारके रचयिताओंने इसी मतको स्थान दिया है और इसीके अनुसार वर्तमानमें शक सम्वत् प्रचलित है। किन्तु म्हैसूरके आस्थान विद्वान श्री पं० ए० शान्तिराजैय्या इसे विक्रम सम्वत्के प्रारम्भका काल समझते हैं। अर्थात् आपका कहना है कि प्रचलित विक्रम सम्वत्से ६०५ वर्ष ५ माह पूर्व महावीरका निर्वाण हुआ है और त्रिलोकसारमें जो उल्लेख है वह भी विक्रम राजाके बारेमें ही है क्योंकि उसकी संस्कृत टीकामें शकका अर्थ विक्रमांक शक किया है। किन्तु ऐसा माननेसे तमाम कालगणना अस्त व्यस्त हो जाती है। बौद्ध ग्रन्थोंमें जो बुद्धके समकालमें महावीर भगवानके जीवनका उल्लेख पाया जाता है वह भी नहीं बनेगा। राजा श्रेणिक और भगवानकी समकालता भी भङ्ग हो जायेगी। अतः उक्त दि० जैन ग्रन्थोंमें जो शकका उल्लेख है वह शालिवाहन शकका ही उल्लेख है। शालिवाहन शकका भी उल्लेख विक्रमांक पदके साथ जैन परम्परामें पाया जाता है। जैसे, धवलामें उसका रचना काल बतलाते हुए लिखा है—'अट्ठतीसम्हि सत्तसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।'

यदि इसे भी ७३८ विक्रम सम्वत् मान लेते हैं तो प्रशस्तिमें दी हुई काल गणना और राजाओंका उल्लेख गड़बड़में पड़ जाता है। अतः यही मत ठीक है कि वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ माह बाद शालि-वाहन शक प्रचलित हुआ, न कि विक्रम सं०।

"अह साहियाण कक्की णियजोग्गे जणपदे पयत्तेण ।
सुक्कं जाचदि लुद्धो पिंडं (पिंडं) जाव ताव समणाओ ॥१०१॥

दादूणं पिंडग्गं समणा कालो य अंतराणं पि ।
गच्छंति ओहिणाणं उप्पज्जइ तेसु एक्कं पि ॥१०२॥

अह का वि असुरदेवा ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं ।
णादूणं तक्ककक्की मारेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥१०३॥

कक्किसुदो अजिदंजयणामो रक्खंति णमदि तच्चरणे ।
तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्जंति ॥१०४॥

तत्तो दोवे वासो सम्मं धम्मो पयट्टदि जणाणं ।
कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥१०५॥

एवं वस्ससहस्से पुह पुह कक्की हवेइ एक्केक्को ।
पंचसयवच्छरेसु एक्केक्को तहय उवकक्की ॥१०६॥"

अर्थात्–'प्रयत्न करके अपने योग्य देशोंको जीत लेनेपर कल्की लोभी बनकर जिस तिस श्रमण-जैनमुनिसे कर मांगने लगता है। तब श्रमण अपना पहला ग्रास दे देकर भोजनमें 'अन्तराय हो जानेसे चले जाते हैं। उनमेंसे एकको अवधिज्ञान हो जाता है। उसके बाद कोई असुरदेव अवधिज्ञानसे मुनियोंके उपसर्गको जानकर धर्मद्रोही समझकर उस कल्कीको मार डालता है। कल्किके पुत्रका नाम अजितञ्जय है वह उस असुरके चरणोंमें पड़ जाता है। असुर उसकी रक्षा करता है और उससे धर्मराज्य कराता है। उसके बाद दो वर्ष तक लोगोंमें धर्मकी प्रवृत्ति अच्छी तरह होने लगती है। किन्तु कालके प्रभावसे वह फिर दिनोंदिन घटने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक एक हजार वर्षके बाद एक कल्की होता है और क्रमशः प्रत्येक पांच सौ वर्षके बाद एक उपकल्कि होता है।'

इससे ऐसा मालूम होता है कि गुप्त राज्यको नष्ट करके कल्किने अपने राज्यका विस्तार किया था। इतिहाससे सिद्ध है कि गुप्तवंशके अन्तिम प्रसिद्ध राजा स्कन्दगुप्तके समयमें भारत-पर श्वेतहूणोंका आक्रमण हुआ। एक बार स्कन्दगुप्तने उन्हें परास्त कर भगा दिया किन्तु कुछ काल पश्चात् पुनः उनका आक्रमण हुआ। इस बार स्कन्दगुप्तको सफलता न मिली और गुप्त-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। किन्तु इसके बाद भी कुछ समय तक गुप्तराजाओंका नाम भारतमें चलता रहा। ५०० ई० के करीबमें हूणराजा तोरमाणने गुप्त साम्राज्यको कमजोर पाकर पंजाबसे मालवा तक अधिकार कर लिया, और गुप्त नरेश भानुगुप्तको तोरमाणके बेटे मिहिर-कुलको अपना स्वामी मानना पड़ा। यह मिहिरकुल बड़ा अत्याचारी था। इसने श्रमणोंपर बड़े अत्याचार किये थे। चीनी पर्यटक ह्वेन्त्सांगने अपने यात्रा विवरणमें उसका विस्तारसे वर्णन किया है। इस मिहिरकुलको विष्णुयशोधर्माने परास्त किया था। श्रीयुत स्व० के० पी० जाय-सवालका विचार था कि यह विष्णुयशोधर्मा ही कल्कि राजा है, क्योंकि हिन्दु पुराणोंमें कल्किको धर्मरक्षक और लोकहित कर्ता बतलाया है। किन्तु[2] जैन ग्रन्थोंमें उसे अत्याचारी और धर्मघातक बतलाया है अतः स्व० डा० के० बी० पाठकका मत है कि मिहिरकुल ही कल्कि है। किन्तु दोनों पुरातत्त्ववेत्ताओंने कल्किका एक ही काल माना है और वह भी दिगम्बर ग्रन्थोंके उल्लेखके आधार-

(१) "कल्कि अवतारकी ऐतिहासिकता" जै० हि० भा० १३, अं० १२।
(२) "गुप्त राजाओंका काल, मिहिरकुल और कल्कि" जै० हि०, भा० १३, अं० १२।

पर। यद्यपि कल्किके सम्बन्धमें जो बातें त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लिखी हैं उन सब बातोंका सम्बन्ध किसीके साथ नहीं मिलता है, फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिसे इतना ही मानकर चला जा सकता है कि गुप्त राज्यके बाद एक अत्याचारी राजाके होनेका उल्लेख किया गया है। स्व० जायसवाल[1] जीके लेखानुसार ईस्वी सन् ४६० के लगभग गुप्तसाम्राज्य नष्ट हुआ और उसके बाद तोरमाण और उसके पुत्र मिहिरकुलके अत्याचारोंसे भारतभूमि त्रस्त हो उठी। अतः त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी रचना जल्दीसे जल्दी इसी समयके लगभग हुई मानी जा सकती है। यह समय विक्रमकी छठी शताब्दीका उत्तरार्ध और शककी पांचवी शताब्दीका पूर्वार्ध पड़ता है। इससे पहले उसकी रचना माननेसे उसमें गुप्तराज्य और उसके विनाशक कल्किराज्यका उल्लेख होना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः इसे यतिवृषभके समयकी पूर्व अवधि माना जा सकता है। उत्तर अवधिके बारेमें और विचार करना होगा।

१. श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कर्मप्रकृति नामका एक ग्रन्थ है जो परम्परासे किन्हीं शिवशर्म सूरिके द्वारा रचित कहा जाता है। इन शिवशर्मसूरिको श्वेताम्बर[2] विक्रमकी पांचवी शताब्दीका विद्वान मानते हैं। कर्मप्रकृतिपर एक चूर्णि है जिसके रचयिताका पता नहीं है। इस चूर्णिकी तुलना चूर्णिसूत्रोंके साथ करके हम पहले[3] बतला आये हैं कि कहीं कहीं दोनोंमें कितना अधिक साम्य है। कर्मप्रकृतिके उपशमना करणकी ५७ वीं गाथाकी चूर्णि तो चूर्णिसूत्रसे बिल्कुल मिलती हुई है और खास बात यह है कि उस चूर्णिमें जो चर्चा की गई है वह कर्मप्रकृतिकी ५७ वीं गाथामें तो है ही नहीं किन्तु आगे पीछे भी नहीं है। दूसरी खास बात यह है कि उस चूर्णि-में 'तस्स विहासा' लिखकर गाथाके पदका व्याख्यान किया गया है जो कि चूर्णिसूत्रकी अपनी शैली है। कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें उस शैलीका अन्यत्र आभास भी नहीं मिलता। इन सब बातोंसे

(१) हम लिख आये हैं कि जिनसेनाचार्यने अपने हरिवंशपुराणमें त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ही राजकाल गणना दी है और भगवान महावीरके निर्वाणसे कल्किके राज्यकालके अन्त तक एक हजार वर्षका समय त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ही बतलाया है। किन्तु शक राजाकी उत्पत्ति महावीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास बाद बतलायी है और लिखा है कि महावीर भगवानके मुक्ति चले जानेके प्रत्येक एक हजार वर्षके बाद जैन धर्मका विरोधी कल्कि उत्पन्न होता है यथा—

"वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम्।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
मुक्ति गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः ॥५५२॥"

त्रिलोकसारमें भी महावीरके निर्वाणके ६०५ वर्ष पांच मास बाद शकराजाकी और १००० वर्ष बाद कल्किकी उत्पत्ति बतलाई है। यथा—

"पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सकराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥८५०॥"

त्रिलोक प्रज्ञप्तिके और इन ग्रन्थोंके कल्किके समयमें ४२ वर्षका अन्तर पड़जाता है। शकके ३९५ वर्ष बाद कल्किकी उत्पत्ति माननेसे कल्किका समय ३९५+७८=४७३ ई० आता है जो गुप्तसाम्राज्यके विनाश और उसके नाशक मिहिरकुल कल्किके समयके अधिक अनुकूल है।

(२) गुज० जै० सा० इ० पृ० १३९। (३) पृ० २४–२५।

हम इसी निर्णय पर पहुंच सके हैं कि चूर्णिकारने चूर्णिसूत्र अवश्य देखे हैं। अतः चूर्णिसूत्रोंकी रचना कर्मप्रकृतिकी चूर्णिसे पहले हुई है।

२. चूर्णिनामसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुतसा साहित्य पाया जाता है। जैसे आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि आदि। एक समय आगमिक ग्रन्थोंपर इस चूर्णि साहित्यके रचना करनेकी खूब प्रवृत्ति रही है। जिनदासगणि महत्तर एक प्रसिद्ध चूर्णिकार हो गये हैं जिन्होंने वि० सं० ७३३ में नन्दिचूर्णि बनाई थी[1]। किन्तु चूर्णिसाहित्यका सर्जन गुप्तकालसे ही होना शुरू हो गया था ऐसा श्वेताम्बर विद्वान मानते हैं। अतः चूर्णिसूत्र भी गुप्तकालके लगभगकी ही रचना होनी चाहिये।

३. आचाराङ्गनिर्युक्ति तथा विशेषावश्यक भाष्यमें भी चूर्णिसूत्रके समान ही कषायकी प्ररूपणाके आठ विकल्प किये गये हैं। निर्युक्तिमें तो विकल्पोंके केवल नाम ही गिनाये हैं किन्तु विशेषावश्यकमें[2] उनका वर्णन भी किया गया है। चूर्णिसूत्र निम्न प्रकार हैं—

"कसाओ ताव णिक्खिवियव्वो णामकसाओ ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तिय-कसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि।"

विशेषावश्यकमें लिखा है—

"नामं ठवणा दविए उप्पत्ती पच्चए य आएसे।
रस-भाव-कसाए वि य परूवणा तेसिमा होइ ॥२९८०॥"

इन विकल्पोंका निरूपण करते हुए भाष्यकार भी चूर्णिसूत्रकारकी ही तरह नामकषाय, स्थापनाकषाय और द्रव्यकषायको सुगम जानकर छोड़ देते हैं और केवल नोकर्मद्रव्यकषायका उदाहरण देते हैं और वह भी वैसा ही देते हैं जैसा चूर्णिसूत्रकारने दिया है[3]। यथा—"णोआ-गमदव्वकसाओ जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि।" चू० सू०। और वि० भा० में है—"सज्ज-कसायाईओ नोकम्मदव्वओ कसाओऽयं।"

इसके पश्चात् समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषायके स्वरूपमें शब्दभेद होते हुए भी आशयमें भेद नहीं है।

यहां तकके ऐक्य को देखकर यह कह सकना कठिन है कि किसने किसका अनुसरण किया है। किन्तु आगे आदेशकषायके स्वरूपमें अन्तर पड़ गया है। चूर्णिसूत्रकारका कहना है कि चित्रमें अङ्कित क्रोधी पुरुषकी आकृतिको आदेशकषाय कहते हैं। यथा[4]—

"आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रूसिदो तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण।"

अर्थात्—क्रोधके कारण जिसकी भृकुटि चढ़ गई है और मस्तकमें तीन वली पड़ गई हैं ऐसे रुष्ट मनुष्यकी चित्रमें अङ्कित आकृतिको आदेशकषाय कहते हैं।

किन्तु भाष्यकारका कहना है कि अन्तरंगमें कषायके नहीं होनेपर भी जो क्रोधी मनुष्यका छद्मरूप धारण किया जाता है जैसा कि नाटकमें अभिनेता वगैरहको स्वांग धारण करना पड़ता है वह आदेशकषाय है। आदेशकषायका यह स्वरूप बतलाकर भाष्यकार चूर्णिसूत्रमें निर्दिष्ट स्वरूपका 'केचित्' करके उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि वह स्थापनाकषायसे भिन्न नहीं है। अर्थात् चूर्णिसूत्रमें जो आदेशकषायका स्वरूप बतलाया है, भाष्यकारके मतसे उसका अन्तर्भाव स्थापनाकषायमें हो जाता है। यथा—

"आएसओ कसाओ कइयवकयभिउडिभंगुराकारो।
केई चित्ताइगओ ठवणाणत्यंतरो सोऽयं ॥२९८१॥"

---

(१) गुज० जै० सा० इ०, पृ० १३०। (२) पृ० २८३। (३) पृ० २८५। (४) पृ० ३०१।

इस प्रकार चूर्णिसूत्रगत आदेशकषायके स्वरूपपर भाष्यकारने जो आपत्ति की, उसका समाधान जयधवलामें देखनेको मिलता है। जयधवलाकारने आदेशकषाय और स्थापनाकषायके भेदको स्पष्ट किया है। अतः भाष्यकारने 'केई' करके आदेशकषायके जिस स्वरूपका निर्देश किया है वह चूर्णिसूत्रमें निर्दिष्ट स्वरूप ही है। अतः चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणसे पहले हुए हैं।

श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार क्षमाश्रमणजीका समय विक्रमकी सातवीं सदीका पूर्वार्ध माना जाता है। यह[2] भी मालूम हुआ है कि विशेषावश्यकभाष्यकी एक प्रतिमें उसका रचनाकाल शकसम्वत् ५३१ (वि० सं० ६६६) दिया है। अतः यतिवृषभ वि० सं० ६६६ के बादके विद्वान् नहीं हो सकते। इस प्रकार उनकी उत्तर अवधि विक्रम सं० की सातवीं शताब्दीका मध्य भाग निश्चित होती है।

इस विवेचनसे हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि यतः त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें गुप्तवंश और उसके नाशक कल्कि राजाका उल्लेख है अतः यतिवृषभ विक्रमकी छठी शताब्दीके उत्तरार्धसे पहलेके विद्वान् नहीं हो सकते। और यतः उनके मतका निर्देश विशेषावश्यकभाष्यमें पाया जाता है, जिसकी रचना वि० सं० ६६६ में होनेका निर्देश मिलता है अतः वे विक्रमकी सातवीं शताब्दीके मध्यभागके बादके विद्वान नहीं हो सकते। अतः वि० सं० ५५० से वि० सं० ६५० तकके समयमें यतिवृषभ हुए हैं।

यतिवृषभके इस समयके प्रतिकूल कुछ आपत्तियाँ खड़ी होती हैं अतः उनपर भी विचार करना आवश्यक है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें कषायप्राभृतपर चूर्णिसूत्रों और उच्चारणावृत्तिकी रचना हो जानेके बाद कुण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिको उसकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है। और उसके बाद शामकुण्डाचार्य, तुम्बुलूराचार्य, और समन्तभद्रको उसकी प्राप्ति होनेका उल्लेख किया है। यदि यतिवृषभका समय विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है तो ये सब आचार्य उसके बादके विद्वान ठहरते हैं जो कि मान्य नहीं हो सकता। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट क्रम कहाँ तक ठीक है। सबसे पहले हम कुण्डकुन्दपुरके आचार्य पद्मनन्दिको ही लेते हैं। यहाँ यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि कुण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिसे आचार्य कुन्दकुन्दका अभिप्राय लिया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द और यतिवृषभ

आचार्य कुन्दकुन्दको यतिवृषभके पश्चात्का विद्वान बतलानेवाला उल्लेख श्रुतावतारके सिवाय अन्यत्र हमारे देखने नहीं आया। इन्द्रनन्दिकी इस मान्यताका आधार क्या था यह भी उन्होंने नहीं लिखा है। यदि दोनों या किसी एक सिद्धान्त ग्रन्थपर आचार्य कुन्दकुन्दकी तथोक्त टीका उपलब्ध होती तो उससे भी इन्द्रनन्दिके उक्त कथनपर कुछ प्रकाश पड़ सकता था किन्तु उसके अस्तित्वका भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। ऐसी अवस्थामें इन्द्रनन्दिके उक्त कथनको प्रमाणकोटिमें कैसे लिया जा सकता है?

१. इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके सिवाय आचार्य कुन्दकुन्द और यतिवृषभके पौर्वापर्यपर त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे भी कुछ प्रकाश पड़ता है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें नौ अधिकार हैं। ग्रन्थके प्रारम्भमें तो ग्रन्थकारने पंच परमेष्ठीका स्मरण किया है, किन्तु आगे प्रत्येक अधिकारके अन्त और आदिमें

(१) पृ० ३०१। (२) श्रीमान् मुनि जिनविजयजीने जैसलमेर भंडारके विशेषावश्यकभाष्यकी एक प्रतिमें इस रचनासंवत्के होनेका उल्लेख पं० सुखलालजीके पत्रमें किया है।

क्रमशः एक एक तीर्थँकरका स्मरण किया है। जैसे प्रथम अधिकारके अन्तमें आदिनाथको नमस्कार किया है। दूसरे अधिकारके आदिमें अजितनाथको और अन्तमें सम्भवनाथको नमस्कार किया है। इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक अधिकारके आदि और अन्तमें एक एक तीर्थँकरको नमस्कार किया है। इस तरह नौवें अधिकारके प्रारम्भतक १६ तीर्थङ्करोंका स्तवन हो जाता है। शेष रह जाते हैं आठ तीर्थङ्कर। उन आठोंका स्तवन नौवें अधिकारके अन्तमें किया है। उसमें भगवान महावीरके स्तवनकी "एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं" आदि गाथा वही है जो कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके प्रारम्भमें पाई जाती है। अब प्रश्न यह है कि इस गाथाका रचयिता कौन है– कुन्दकुन्द या यतिवृषभ ?

प्रवचनसारमें इस गाथाकी स्थिति ऐसी है कि वहांसे उसे पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस गाथामें भगवान महावीरको नमस्कार करके उससे आगेकी गाथा 'सेसे पुण तित्थयरे' में शेष तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया गया है। यदि उसे अलग कर दिया जाता है तो दूसरी गाथा लटकती हुई रह जाती है। कहा जा सकता है कि इस गाथाको त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे लेकर भी उसके आधारसे दूसरी गाथा या गाथाएँ ऐसी बनाई जा सकती हैं जो सुसम्बद्ध हों। इस कथनपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मंगलगाथा भी दूसरे ग्रन्थसे उधार ली जा सकती है ? किन्तु यह प्रश्न त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी ओरसे भी किया जा सकता है कि जब ग्रन्थकारने तेईस तीर्थङ्करोंके स्तवनकी गाथाओंका निर्माण किया तो क्या केवल एक गाथाका निर्माण वे स्वयं नहीं कर सकते थे ? अतः इन सब आपत्तियों और उनके परिहारोंको एक ओर रखकर यह देखनेकी जरूरत है कि स्वयं गाथा इस सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालती है या नहीं ? हमें गाथाके प्रारम्भका 'एष' पद त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारकी दृष्टिसे उतना संगत प्रतीत नहीं होता जितना वह प्रवचनसारके कर्ताकी दृष्टिसे संगत प्रतीत होता है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें प्रथम तो अन्य किसी तीर्थङ्करके स्तवनमें 'एष' पद नहीं आया है। दूसरे नमस्कारको समाप्त करते हुए मध्यमें वह इतना अधिक उपयुक्त नहीं जँचता है जितना प्रारम्भ करते हुए जँचता है। तीसरे इस गाथाके बाद 'जयउ जिणवरिंदो' आदि लिखकर 'पणमह चउवीसजिणे' आदि गाथाके द्वारा चौबीसों तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया गया है। उधर प्रवचनसारमें उक्त गाथाके द्वारा सबसे प्रथम महावीर भगवानको नमस्कार किया गया है और उसके पश्चात् 'सेसे पुण तित्थयरे' के द्वारा शेष तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया गया है। शेष तीर्थङ्करोंको नमस्कार न करके पहले महावीरको नमस्कार क्यों किया ? इसका उत्तर गाथाका 'तित्थं धम्मस्स कत्तारं' पद देता है। चूंकि वर्तमानमें प्रचलित धर्मतीर्थके कर्ता भगवान महावीर ही हैं इसलिये उन्हें पहले नमस्कार करके 'पुण' उसके बाद शेष तीर्थङ्करोंको नमस्कार करना उचित ही है। प्रवचनसारमें पांच गाथाओंका कुलक है अतः उक्त प्रथम गाथाके 'एष' पदकी अनुवृत्ति पांचवी गाथाके अन्तके 'उपसंपयामि सम्मं'तक जाती है और बतलाती है कि वह मैं इन सबको नमस्कार करके वीतरागचरित्रको स्वीकार करता हूँ। इस सम्बन्धमें अधिक लिखना व्यर्थ है, दोनों स्थलोंको देखनेसे ही विद्वान पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि उक्त गाथा किस ग्रन्थकी हो सकती है ? इसके सिवा यदि प्रवचनसारकी यही एक गाथा त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाई जाती तो भी एक बात थी, किन्तु इसके सिवा भी अनेकों गाथाएं त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाई जाती हैं। उनमेंसे कुछ गाथाओंको प्राचीन मानकर दरगुजर किया जा सकता है किन्तु कुछ गाथाएं तो ऐसी हैं जो प्रवचनसारमें ही पाई जाती हैं और उसमें उनकी स्थिति आवश्यक एवं उचित है। जैसे, सिद्धलोक अधिकारके अन्तमें सिद्धपदकी प्राप्तिके कारणभूत कर्मोंको बतलानेवाली जो गाथाएं हैं उनमें अनेक गाथाएं प्रवचनसारकी ही हैं, वे अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं पाई जातीं। अतः ये मानना ही पड़ेगा कि

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी बहुत सी गाथाएं त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें हैं और इसलिये कुन्दकुन्द यतिवृषभके बादके विद्वान नहीं हो सकते।

असलमें त्रिलोकप्रज्ञप्तिके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक संग्रह ग्रन्थ है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारने उसमें चर्चित विषयके सम्बन्धमें पाये जानेवाले अनेक मतभेदोंका संग्रह तो किया ही है। साथ ही साथ उन्हें अपनेसे पूर्वके आचार्योंकी जो गाथाएँ उपयोगी और आवश्यक प्रतीत हुईं यथास्थान उनका भी उपयोग उन्होंने किया है। यद्यपि उनके आशयकी उन्हींके समकक्ष गाथाएँ वे स्वयं भी बना सकते थे, किन्तु पूर्वाचार्योंकी कृतिको महज इसलिये बदलना कि वह उनकी कृति कही जाय, उनके जैसे वीतरागी और आचार्य परम्पराके उपासक ग्रन्थकारको उचित प्रतीत नहीं हुआ होगा। क्योंकि उनकी ग्रन्थरचनाका उद्देश्य श्रुतकी रक्षा करना था न कि अपने कर्तृत्वको ख्यापन करना। अतः यदि उन्होंने कुन्दकुन्द जैसे आचार्यके वचनोंको अपने ग्रन्थमें संकलित किया हो तो कोई अचरजकी बात नहीं है।

२. कुर्ग इन्सक्रिप्शंसमें मर्करा[1]का एक ताम्रपत्र प्रकट हुआ है। उसमें कुन्दकुन्दान्वयके

---

(१) 'श्रमण भगवान महावीरमें' मुनि कल्याण विजयजीने कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी छठी शताब्दी माना है। यतः उक्त ताम्रपत्र आपकी इस मान्यताके विरुद्ध जाता है अतः आपका कहना है कि या तो उस पर पड़ा हुआ संवत् कोई अर्वाचीन सम्वत् है या फ़िर यह ताम्रपत्र ही जाली है। हमने कई इतिहासज्ञों से मालूम किया तो उनसे यही ज्ञात हुआ कि उस तरफके जितने भी ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं वे शक सम्वत्के ही पाये गये हैं। अतः प्रकृत ताम्रपत्र पर भी शक सम्वत् ही होना चाहिये। ताम्रपत्रको जाली कहना तो अतिसाहसका काम है। जब शक सम्वत् ३८८ के ताम्रपत्र में ही 'भट्टार' शब्द पाया जाता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि भट्टारकी युग विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पहले 'भट्टार' शब्द आदर सूचक शब्दके रूपमें व्यवहृत ही नहीं होता था। विक्रमकी पांचवीं शताब्दीके अन्तमें होनेवाले गुप्तवंशीनरेश कुमारगुप्तके सिक्कोंमें उन्हें परम भट्टारक लिखा हुआ मिलता है। अतः उसी समयके उक्त ताम्रपत्रमें 'भट्टार' शब्दका व्यवहार पाया जानेसे वह अर्वाचीन या जाली कैसे कहा जा सकता है?

मुनि जीने भट्टार शब्दकी ही तरह कुछ अन्य शब्दोंको कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमेंसे खोजकर उनके आधारपर अपनी मान्यताको पुष्ट करनेकी व्यर्थ चेष्टा की है।

कुन्दकुन्दाचार्यने अपने समयसारमें कहा है कि लोगोंके विचारमें प्राणियोंको विष्णु बनाता है। इसपर मुनिजीका कहना है कि विष्णुको कर्ता माननेवाले वैष्णव सम्प्रदायकी उत्पत्ति ई० स० की तीसरी शताब्दीमें हुई थी अतः कुन्दकुन्द उसके बादके हैं। किन्तु विष्णु देवता तो वैदिक कालीन है अतः वैष्णव सम्प्रदायकी उत्पत्तिसे पहले विष्णुको कर्ता नहीं माना जाता था इसमें क्या प्रमाण है? कर्तृत्ववादकी भावना बहुत प्राचीन है। इसी प्रकार शिव आदि भी पौराणिककालके देवता नहीं हैं। हिन्दतत्त्वज्ञाननो इतिहासमें लिखा है–

"आर्योना रुद्रनी अने द्राविडोना शिवनी भावनानुं सम्मेलन रामायण पहेला थयेलुं जणाय छे। ई० स० पू० ५०० ना आरसामां हिन्दुओनो वैदिकधर्म तामीलदेशमां प्रवेश पाम्यो त्यारे विष्णु अने शिवसंबंधी भक्तिभावना क्रमशः संसार अने त्यागने पोषनारी दाखल थवा पामी। बन्ने प्रणालिका अविरोधी भाव थी टकी रही। परन्तु ज्यारे बौद्धोअे अने जैनोए ते बे देवोनी भावनाने दबाववा प्रयत्न कर्या त्यारे प्रत्येक प्रणालिकाए पोतपोताना देवनी महत्ता वधारी अनुयायिओमां विरोध जगव्यो।"

इससे स्पष्ट है कि द्रविण देशमें कुन्दकुन्दके पहले से ही शिवकी उपासना होती थी। अतः यदि कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें विष्णु शिव आदि देवताओंका उल्लेख किया तो उससे कुन्दकुन्द पौराणिक कालके कैसे हो सकते हैं? प्रत्युत उन्हें उसी समयका विद्वान मानना चाहिये जिससमय तामिलमें उक्त भावना प्रबल थी।

इसी प्रकार चैत्यगृह, आयतन, प्रतिमाकी चर्चा करनेसे वे चैत्यवासके समयके और यंत्र तंत्र मंत्रका उल्लेख करनेसे तांत्रिक मतके समयके विद्वान नहीं कहे जा सकते हैं। जिनालय और जिनविम्बोंके निर्माणकी प्रथा चैत्यवाससे सम्बन्ध नहीं रखती। 'चैत्यवास चला' इससे ही स्पष्ट है कि चैत्य पहलेसे ही होते आये हैं। यंत्र तंत्र मंत्रके कारण दान देने की प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी सम्प्रदायके उद्भवसे सम्बन्ध न रखकर पंचमकालके मनुष्योंकी नैसर्गिक रुचिको द्योतित करती है। अतः इनके आधारपर भी कुन्दकुन्दको विक्रमकी छठी शताव्दीका विद्वान नहीं माना जा सकता। हां, रयणसार ग्रन्थसे जो कुछ उद्धरण दिये गये हैं वे अवश्य विचारणीय हो सकते थे। किन्तु उसकी भाषाशैली आदि परसे प्रो० ए० एन० उपाध्येने अपनी प्रवचनसारकी भूमिकामें उसके कुन्दकुन्दकृत होनेपर आपत्तिकी है। ऐसा भी मालूम हुआ है कि रयणसारकी उपलब्ध प्रतियोंमें भी बड़ी असमानता है। अतः जब तक रयणसारकी कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध न हो और उसकी कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ एकरसता प्रमाणित न हो तब तक उसके आधारपर कुन्दकुन्दको विक्रमकी छठी शताव्दीका विद्वान नहीं माना जा सकता।

जिस प्रकार मुनिजीने मर्कराके उक्त ताम्रपत्रको जाली कहनेका अतिसाहस किया है उसी प्रकार उन्होंने एक और भी अति साहस किया है। मुनि जी लिखते हैं–

'पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्दसे लोहाचार्य पर्यन्तके सात आचार्योका पट्टकाल निम्नलिखित क्रम से मिलता है–

१ कुन्दकुन्दाचार्य	५१५–५१९
२ अहिवल्याचार्य	५२०–५६५
३ माघनन्द्याचार्य	५६६–५९३
४ धरसेनाचार्य	५९४–६१४
५ पुष्पदन्ताचार्य	६१५–६३३
६ भूतवल्याचार्य	६३४–६६३
७ लोहाचार्य	६६४–६८७

'पट्टावलीकार उक्त वर्षोंको वीर निर्वाणसम्बन्धी समझते हैं, परन्तु वास्तवमें ये वर्ष विक्रमीय होने चाहियें, क्योंकि दिगम्बर परम्परामें विक्रमकी बारहवीं सदीतक बहुधा शक और विक्रम संवत् लिखनेका ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्योंने कहीं भी प्राचीन घटनाओंका उल्लेख वीर संवतके साथ किया हो यह हमारे देखनेमें नहीं आया तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्योका समय लिखनेमें उन्होंने वीर सम्वत्का उपयोग किया होगा। जान पड़ता है कि सामान्यरूपमें लिखे हुए विक्रम वर्षोंको पिछले पट्टावलीलेखकोंने निर्वाणाव्द मानकर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यताको यथार्थ मानकर पिछले इतिहासविचारक भी वास्तविक इतिहासको बिगाड़ बैठे हैं।' श्र० म० पृ० ३४५–३४६।

मुनि जी त्रिलोकप्रज्ञप्तिको कुन्दकुन्दसे प्राचीन मानते है, और त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें वीरनिर्वाणसे बादकी जो कालगणना दी है वह हम पहले लिख आये हैं। बादके ग्रन्थकारों और पट्टावलीकारोंने भी उसीके आधारपर कालगणना दी है। ६८३ वर्षकी परम्परा भी वीरनिर्वाण सम्वत्के आधारपर है। नन्दी संघकी पट्टावलीमें भी जो काल गणना दी है वह भी स्पष्ट रूपमें वीर निर्वाण सम्वत्के आधारपर दी गई है। मालूम होता है मुनि जीने इनमेंसे कुछ भी नहीं देखा। यदि देखा होता तो उन्हें यह लिखनेका साहस न होता कि प्राचीन दिगम्बराचार्योंने कहीं भी प्राचीन घटनाओंका उल्लेख वीर संवत्के साथ किया हो यह हमारे देखने में नहीं आया। आश्चर्य है कि मुनि जी जैसे

छह आचार्योंका उल्लेख है। तथा उसके लिखे जानेका समय सम्वत् ३८८ भी उसमें दिया है। इन छह आचार्योंका समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय तो ताम्रपत्रमें उल्लिखित अन्तिम श्री गुणनन्दि आचार्यका समय शक सं० २३८ (वि० सं० ३७३) के लगभग ठहरता है। ये गुणनन्दि कुन्दकुन्दान्वयके प्रथम पुरुष नहीं थे किन्तु कुन्दकुन्दान्वयमें हुए थे। इसका मतलब यह हुआ कि कुन्दकुन्दान्वय उससे भी पहलेसे प्रचलित थी। और इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द विक्रमकी तीसरी शताब्दीसे भी पहलेके विद्वान थे। किन्तु श्रीयुत प्रेमीजीका मन्तव्य है कि कुन्दकुन्दान्वयका अर्थ आचार्य कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परा न करके कौण्डकुन्दपुर ग्रामसे निकली हुई परम्परा करना चाहिये। उसका कारण यह है कि कुन्दकुन्दके नियमसारकी सतरहवीं गाथामें लोकविभाग नामक ग्रन्थका उल्लेख है। और वर्त्तमानमें जो संस्कृत लोकविभाग पाया जाता है, उसके अन्तमें लिखा है कि पहले सर्वनन्दी आचार्यने शक सं० ३८० में शास्त्र (लोकविभाग) लिखा था, उसीकी भाषाको परिवर्तित करके यह संस्कृत लोकविभाग रचा गया है। इस परसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यतः कुन्दकुन्दने अपने नियमसारमें शक सं० ३८० में रचे गये लोकविभाग ग्रन्थका उल्लेख किया है अतः वे मर्करा ताम्रपत्रमें उल्लिखित कुन्दकुन्दान्वयके प्रवर्तक नहीं हो सकते।

नियमसारकी वह गाथा तथा उससे पहलेकी गाथा इस प्रकार है—

"माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥१६॥
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥"

पद्मप्रभ मलधारी देवने इसकी टीकामें लिखा है कि इन चारगतिके जीवोंके भेदोंका विस्तार लोकविभाग नामके परमागममें देखना चाहिये।

वर्तमान लोक विभागमें अन्य गतिके जीवोंका तो थोड़ा बहुत वर्णन प्रसङ्गवश किया भी गया है किन्तु तिर्यञ्चोंके चौदह भेदोंका तो वहां नाम भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यदि नियमसारमें लोकविभाग नामके परमागमका उल्लेख है तो वह कमसे कम वह लोकविभाग तो नहीं है जिसकी भाषाका परिवर्तन करके संस्कृत लोकविभागकी रचना की गई है और जो शक सं० ३८० में सर्वनन्दिके द्वारा रचा गया था।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें भी लोकविभाग, लोकविनिश्चय आदि ग्रन्थोंके मतोंका उल्लेख जगह जगह मिलता है। लोकविभागके मतोंको वर्तमान लोकविभागमें खोजनेपर उनमेंसे अनेकोंके बारेमें हमें निराश होना पड़ा है। यहां हम उनमेंसे कुछको उद्धृत करते हैं—

१. त्रि. प्र. में लिखा है कि लोक विभागमें लोकके ऊपर वायुका घनफल अमुक बतलाया है। यथा—

"दो-छ-बारस भागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं।
लोयउवरिम्मि एवं लोयविभायम्मि पण्णत्तं ॥२८२॥"

किन्तु लोकविभागमें लोकके ऊपर तीनों वातवलयोंकी केवल मोटाई बतलाई है। यथा—

इतिहासलेखक कुछ भी देखे विना ही दूसरी परम्पराके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कल्पनाओंके आधारपर भ्रम फैलानेकी चेष्टा करते हैं और स्वयं वास्तविक इतिहासको विगाड़ कर पिछले इतिहास विचारकोंपर वास्तविक इतिहासको बिगाड़नेका लांछन लगाते हैं। किमाश्चर्यमतःपरम्।

"लोकाग्रे क्रोशयुग्मं तु गव्यूतिर्न्यूनगोरुतं ।
न्यूनप्रमाणं धनुषां पंचविंशचतुःशतम् ॥"

२. त्रि० प्र० में लिखा है कि लोकविभागमें लवणसमुद्रकी शिखापर जलका विस्तार दस हजार योजन है। यह बात वर्तमान लोकविभागमें पाई जाती है। किन्तु यहां त्रिलोकप्रज्ञप्तिकार लोकविभागके साथ 'संगाइणिए' विशेषणका प्रयोग करते हैं। यथा—

"जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा ।
एवं संगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं ॥४१॥"

यहां 'संगाइणिए' विशेषण सम्भवतः किसी अन्य लोकविभागसे इसका पृथक्त्व बतलानेके लिये लगाया गया है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह संगाइणी लोकविभाग ही वर्तमान लोकविभाग है; क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें संगाइणीके कर्ताके जो अन्य मत दिये हैं वे इस लोकविभागमें नहीं पाये जाते। यथा—

"पणुवीस जोयणाइं दारापमुहम्मि होदि विक्खंभा ।
संगायणिकत्तारो एवं णियमा परूवेदि ॥१८॥
बासट्ठि जोयणाइं दो कोसा होदि कुंडविच्छारो ।
संगायणिकत्तारो एवं णियमा परूवेदि ॥२०॥"

इनमें संगायणिके कर्ताके मतसे गंगाका विष्कंभ २५ योजन और जिस कुण्डमें वह गिरती है उस कुण्डका विस्तार ६२ योजन दो कोस बतलाया है। किन्तु लोकविभागमें गंगाका विष्कम्भ तो बतलाया ही नहीं और कुण्डका विस्तार भी ६० योजन ही बतलाया है। अतः प्रकृत लोकविभाग न तो वह लोकविभाग ही है और न संगायणी लोकविभाग ही है।

३. जिस तरह त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लोकविभाग और संगायणि लोकविभागका उल्लेख किया है उसी तरह एक लोगाइणि ग्रन्थका भी उल्लेख किया है। यथा—

"अमवस्साए उवही सरिसे भूमीए होदि सिदपक्खे ।
कम्म वड्ढेदि णहेण कोसाणि दोण्णि पुणमीए ॥३६॥
हायदि किण्हपक्खे तेण कमेणं च जाव वड्ढिगदं ।
एवं लोगाइणिए गंथपवरम्मि णिद्दिट्ठं ॥३७॥"

इसमें बतलाया है कि लोगाइणि ग्रन्थमें कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षमें लवण समुद्रके ऊपर प्रतिदिन दो कोस जलकी हानि और वृद्धि होती है ऐसा कहा है। किन्तु प्रकृत लोकविभागमें बतलाया है कि अमावस्यासे पूर्णमासी तक ५००० योजन जलकी वृद्धि होती है अतः पांच हजारमें १५ का भाग भाग देनेसे प्रतिदिन जलकी वृद्धिका परिमाण आजाता है।

४. त्रि० प्र० में अन्तर्द्वीपजोंका वर्णन करके लिखा है—

"लोयविभायाइरिया दीवाण कुमाणुसेहिं जुत्ताणं ।
अण्णसरूवेण ट्ठिदिं भासंते तप्परूवेमो ॥८४॥"

अर्थात्—लोकविभागके कर्त्ता आचार्य कुमनुष्योंसे युक्त द्वीपोंकी स्थिति अन्य प्रकारसे कहते हैं, उसका हम प्ररूपण करते हैं।

किन्तु प्रकृत लोकविभागमें अन्तर्द्वीपोंका जो वर्णन किया है वह त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे मिलता हुआ है और इसका एक दूसरा सबूत यह है कि उसके समर्थनमें संस्कृत लोकविभागके रचयिताने त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी गाथाएँ उद्धृत करते हुए उक्त गाथासे कुछ पहले तककी ही गाथाएं उद्धृत की हैं।

इसी तरहके अन्य भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं किन्तु उनसे ग्रन्थका भार व्यर्थ ही बढ़ेगा। अतः इतनेसे ही सन्तोष मानकर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि एक तो नियमसार और त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जिस लोकविभाग या लोकविभागोंकी चर्चा है वह यह लोकविभाग नहीं है। दूसरे, लोकविभाग नामके कई ग्रन्थ प्राचीन आचार्योंके द्वारा बनाए गये थे। कमसे कम वे दो अवश्य थे, और सर्वनन्दीके लोकविभागसे पृथक् थे। सम्भवतः इसीसे नियमसारमें बहुवचन 'लोयविभागेसु' का प्रयोग किया गया है; क्योंकि प्राकृतमें द्विवचनके स्थानमें भी बहुवचनका प्रयोग होता है। अतः लोकविभागके उल्लेखके आधारपर कुन्दकुन्दको शक सं० ३८० के बादका विद्वान् नहीं माना जा सकता, और इसलिये मर्कराके ताम्रपत्रमें जिस कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख है उसकी परम्परा कुन्दकुन्द ग्रामके नामपर न मानकर कुन्दकुन्दाचार्यके नामपर माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। जब कि आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघके अग्रणी विद्वान् कहे जाते हैं तो कुन्दकुन्दान्वयका उद्भव उन्हींके नामपर हुआ मानना ही उचित प्रतीत होता है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द यतिवृषभके बादके विद्वान् नहीं हो सकते। और इसलिये आचार्य इन्द्रनन्दिने जो आचार्य कुन्दकुन्दको द्विविध सिद्धान्तकी प्राप्ति होनेका उल्लेख किया है जिसमें आचार्य यतिवृषभके चूर्णिसूत्र और उच्चारणाचार्यकी वृत्ति भी सम्मिलित है वह ठीक नहीं है। यदि कुन्दकुन्दको दूसरा सिद्धान्तग्रन्थ प्राप्त हुआ होगा तो वह केवल गुणधररचित कषायप्राभृत प्राप्त हुआ होगा। किन्तु उसके सम्बन्धमें भी इन्द्रनन्दिके उल्लेखके सिवाय दूसरा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः श्रुतावतारका उक्त उल्लेख आचार्य यतिवृषभके उक्त समयमें बाधक नहीं हो सकता।

आचार्य इन्द्रनन्दिने कुन्दकुन्दके बाद शामकुण्डाचार्य, तुम्बुलूराचार्य और आचार्य समन्तभद्रको द्विविध सिद्धान्तकी प्राप्ति होनेका उल्लेख किया है। तथा बतलाया है कि इनमेंसे पहलेके दो आचार्योंने कषायप्राभृतपर टीकाएं भी लिखी थीं। इन टीकाओंके सम्बन्धमें हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। आचार्य कुन्दकुन्दकी तरह आचार्य समन्तभद्रकी भी किसी सिद्धान्त ग्रन्थपर कोई वृत्ति उपलब्ध नहीं है और न उसका किसी अन्य आधारसे समर्थन ही होता है। तथा समन्तभद्रको शामकुण्डाचार्य और तुम्बुलूराचार्यके पश्चात्का विद्वान मानना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अतः इन आचार्योंका उल्लेख भी यतिवृषभके उक्त समयमें तबतक बाधक नहीं हो सकता जबतक यह सिद्ध न हो जाये कि इन आचार्योंका उक्त पौर्वापर्य ठीक है तथा उनके सामने यतिवृषभके चूर्णिसूत्र मौजूद थे। अतः आचार्य यतिवृषभका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका उत्तरार्ध माननेमें कोई भी बाधक नजर नहीं आता। और यतः उनसे पहले कषायप्राभृतपर किसी अन्य वृत्तिके होनेका कोई उल्लेख नहीं मिलता अतः कषायप्राभृतपर जिन वृत्तिटीकाओंके होनेका उल्लेख पहले कर आये हैं वे सब विक्रमकी छठी शताब्दीके बादकी ही रचनाएं होनी चाहिये।

इस प्रकार यतिवृषभके समयपर विचार करके हम पुनः आचार्य गुणधरकी ओर आते हैं। गुणधरके समयपर विचार करते हुए यह भी देखनेकी जरूरत है कि षट्खण्डागम और कषायप्राभृतमेंसे किसकी रचना पहले हुई है। दोनों ग्रन्थोंकी तुलना करते हुए हम पहले लिख आये हैं कि अभी तक यह नहीं जाना जा सका है कि इन दोनोंमेंसे एकका दूसरेपर प्रभाव

(१) 'आचार्य कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन' शीर्षकसे अनेकान्त वर्ष २, कि० १ में लेख लिखकर सर्वप्रथम पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने ही आचार्य कुन्दकुन्दको यतिवृषभका पूर्ववर्ती विद्वान् बतलाया था। उनकी अन्य युक्तियोंका निर्देश उक्त लेखमें देखना चाहिये।

है। किन्तु दोनोंके मतभेदोंकी चर्चा धवला-जयधवलाकार स्वयं करते हैं तथा यह भी कहते हैं कि षट्खण्डागमसे कषायप्राभृतका उपदेश भिन्न है। इससे इतना ही स्पष्ट होता है कि भूतबलि पुष्पदन्तकी गुरुपरम्परासे गुणधराचार्यकी गुरुपरम्परा भिन्न थी। किन्तु दोनोंमें कौन पहले हुआ और कौन पीछे? इसपर कोई भी स्पष्ट प्रकाश नहीं डालता। दोनोंको ही वी० नि० ६८३ के बादमें हुआ बतलाते हैं।

श्रुतावतारमें पहले षट्खण्डागमकी उत्पत्तिका वर्णन किया है और उसके पश्चात् कषायप्राभृतकी उत्पत्तिका वर्णन किया है। श्रीवीरसेन स्वामीने भी षट्खण्डागमपर पहले टीका लिखी है और कषायप्राभृतपर बादमें। तथा श्रुतावतारोंके अनुसार षट्खण्डागम पुस्तकके रचे जानेपर ज्येष्ठ शुक्ल पंचमीके दिन उसका पूजा महोत्सव किया गया। इन सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए तो ऐसा लगता है कि षट्खण्डागमके बाद कषायप्राभृतकी रचना हुई है। किन्तु हमारी यह केवल कल्पना ही है। तो भी दोनोंके रचनाकालमें अधिक अन्तर नहीं होना चाहिये; क्योंकि दोनोंकी रचनाएं ऐसे समयमें हुई हैं जब अंगज्ञानके अवशिष्ट अंश भी लुप्त होते जाते थे और इस तरह परमागमके विच्छेदका भय उपस्थित हो चुका था। यों तो पूर्वोंका विच्छेद वीरनिर्वाणसे ३४५ वर्षके पश्चात् ही हो गया था किन्तु उनका आंशिक ज्ञान बराबर चला आता था। जब उस बचे खुचे आंशिक ज्ञानके भी लोपका प्रसंग उपस्थित हुआ तब उसे सुरक्षित रखनेकी चिन्ता हुई। जिसके फलस्वरूप षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी रचना हुई।

यतिवृषभके समयका विचार करते हुए हम त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें दी गई ६८३ वर्षकी अङ्ग ज्ञानियोंकी आचार्य परम्पराका उल्लेख कर आये हैं और फुटनोटमें यह भी बतला आये हैं कि नन्दिसङ्घकी पट्टावलीसे उसमें ११८ वर्षका अन्तर है। त्रिलोक प्रज्ञप्तिके अनुसार अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्य तक वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष होते हैं किन्तु नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार ५६५ वर्ष ही होते हैं। इसप्रकार दोनोंमें ११८ वर्षका अन्तर है। यदि अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्यके समयकी जांच हो सके तो इस अन्तरका स्पष्टीकरण हो सकता है। किंवदन्ती है कि इन लोहाचार्यने अग्रवालोंको जैन धर्ममें दीक्षित किया था। यदि अग्रोहाके टीलेसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सके तो शायद उससे इस समस्यापर कुछ प्रकाश पड़ सके। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यह विषय विवादग्रस्त बना ही रहेगा। फिर भी आचार्य कुन्दकुन्द वगैरहके समयको देखते हुए त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो ग्यारह अंगके धारी ५ आचार्योंका समय २२० वर्ष और आचारांगके धारी ४ आचार्योंका समय ११८ वर्ष दिया है वह ऊपरके अन्य आचार्योंके कालकी अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है और उससे पट्टावली प्रतिपादित १२३ और ९७ वर्ष का समय अधिक उपयुक्त जँचता है। यदि यही समय ठीक हो तो आचार्य गुणधरको वीर नि० सं० ५६५ के लगभगका आचार्य मानना होगा। यह समय श्वेताम्बर पट्टावली प्रतिपादित आर्य नागहस्तीके समयके भी अनुकूल है।

यदि आर्यमंक्षु नागहस्तीके दादागुरु रहे हों तो उन्हें भी आचार्य गुणधरका लघु समकालीन विद्वान होना चाहिए और उस अवस्थामें आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधरसे ही गाथाओंकी प्राप्ति होनी चाहिए न कि आचार्य परम्परासे। यदि ये सब सम्भावनाएं ठीक हों तो गुणधरका समय वीर नि० सं० ६०० तक, और आर्यमंक्षुका समय ६२० तक तथा नागहस्तिका समय ६२० से आगे समझना चाहिये। किन्तु इस अवस्थामें यतिवृषभ आर्यमंक्षु और नागहस्तिके शिष्य नहीं हो सकते, क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारसे वे वीर नि० सं० १००० के बादके विद्वान ठहरते हैं। यदि चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ उन्हीं नागहस्तिके अन्तेवासी हैं जिनका

उल्लेख श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें हैं तो वे कमसे कम वर्तमान स्वरूपमें उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्तिके[1] रचयिता तो हरगिज़ नहीं हो सकते। किन्तु यदि दिगम्बर परम्पराके आर्यमंक्षु और नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परासे भिन्न ही व्यक्ति हों तो उनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका अन्त और छठीका आदि होना चाहिये और गुणधरको विक्रमकी तीसरी शताब्दीका विद्वान् होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें गुणधरद्वारा रचित कषायप्राभृतकी प्राप्ति आर्यमंक्षु और नागहस्तीको आचार्य परम्परासे ही प्राप्त होनेका जो उल्लेख जयधवलाकारने किया है वह भी ठीक बैठ जाता है, और यतिवृषभ और आर्यमंक्षु तथा नागहस्तिका गुरुशिष्यभाव भी बन जाता है।

---

(१) वर्तमानमें त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ जिस रूपमें पाया जाता है उसी रूपमें आचार्य यतिवृषभने उसकी रचना की थी, इस बातमें हमें सन्देह है। हमें लगता है कि आचार्य यतिवृषभकृत त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें कुछ अंश ऐसा भी है जो बादमें सम्मिलित किया गया है और कुछ अंश ऐसा भी है जो किसी कारणसे उपलब्ध प्रतियोंमें लिखनेसे छूट भी गया है। हमारे उक्त सन्देहके कारण निम्न हैं–

१ त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तकी एक गाथामें उसका परिमाण आठ हजार बतलाया गया है, किन्तु हमारे सामने जो प्रति है उसकी श्लोक संख्याका प्रमाण ९३४० होता है। इतने पर भी उसमें देवलोक प्रज्ञप्ति और सिद्धलोकप्रज्ञप्तिका कुछ भाग छूटा हुआ है।

२ ज्योतिर्लोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें मनुष्यलोकके बाहरके ज्योतिर्बिम्बोंका परिमाण निकालनेका वर्णन गद्यमें किया गया है। यद्यपि इस प्रकारका गद्य भाग इस ग्रन्थमें यत्र तत्र पाया जाता है। किन्तु प्रकृत गद्यभाग धवलाके चतुर्थखण्डमें अक्षरशः पाया जाता है और उसमें कुछ इस प्रकारकी चर्चा है जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारकी अपेक्षा धवलाकारकी दृष्टिसे अधिक संगत प्रतीत होती है। उक्त गद्यका वह भाग इस प्रकार है—

"सयंभूरमणसमुद्दस्स परदो रज्जुछेदणया अत्थित्ति कुदो णव्वदे? वेछप्पण्णंगुलसदवग्गसुत्तादो। 'जत्तियाणि दीवसायररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च (छ) रूवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुछेदणाणि'त्ति परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे? एदेण सह विरुज्झदि किन्तु सुत्तेण सह ण विरुज्झदि। तेण एदस्स वक्खा-णस्स गहणं कायव्वं ण परियम्मस्स, तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। ण सुत्तविरुद्धं वक्खाणं होदि, अइप्पसंगादो। तत्थ जोइसिया णत्थि त्ति कुदो णव्वदे? एदम्हादो चेव सुत्तादो। एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीव-छेदणयसहिददीवसायररूवमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरियोवएसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारी जोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंबिजुत्तिवलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भबलविजंभितगुणप्रतिपन्नप्रतिबद्धासंख्येयावलिकावहारकालोपदेशवत् आयतचतु-रस्त्रलोकसंस्थानोपदेशवद्वा। तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेति एयंतपरिग्गहेण असग्गहो कायव्वो········।" ध०, खं० ४, पृ० १५५।

उक्त गद्यका भावार्थ शंका-समाधानके रूपमें निम्नप्रकार है—

शंका—स्वयंभुरमण समुद्रके परे राजुके अर्धच्छेद होते हैं, यह कैसे जाना?

समाधान—ज्योतिष्कदेवोंका प्रमाण निकालनेके लिये 'वेछप्पणंगुलसदवग्ग' आदि जो सूत्र कहा है उससे जाना।

शंका—'द्वीप और सागरोंकी जितनी संख्या है तथा जम्बूद्वीपके जितने अर्धच्छेद प्रतीत होते हैं छ अधिक उतने ही राजुके अर्धच्छेद होते हैं।' इस परिकर्मसूत्रके साथ यह व्याख्यान विरोधको क्यों नहीं प्राप्त होता है?

समाधान—उक्त व्याख्यान परिकर्मसूत्रके साथ भले ही विरोधको प्राप्त हो किन्तु उक्त सूत्रके साथ

विरोधको प्राप्त नहीं होता है। इसलिये इसी व्याख्यानको मानना चाहिये, परिकर्मको नहीं, क्योंकि वह सूत्रविरुद्ध है। और जो सूत्रविरुद्ध हो वह व्याख्यान नहीं है क्योंकि उसको व्याख्यान माननेसे अति प्रसंग दोष आता है।

शंका–स्वयंभुरमणसे परे ज्योतिष्कदेव नहीं है वह कैसे जाना ?

समाधान–'वेछप्पण्णंगुलसदवग्ग' आदि सूत्रसे ही जाना।

राजुके अर्धच्छेद लानेके योग्य संख्यात अधिक जम्बूद्वीपके अर्द्धच्छेद सहित द्वीप सागरोंकी संख्या प्रमाण राजुके अर्द्धच्छेदोंकी जो परीक्षाविधि दी है वह अन्य आचार्योंकी उपदेश परम्पराका अनुसरण नहीं करती है किन्तु केवल त्रिलोकप्रज्ञप्तिसूत्रका अनुसरण करनेवाली है और ज्योतिष्क देवोंका भागहार बतलाने वाले सूत्रका अवलम्बन करने वाली युक्तिके बलसे हमने उसका कथन किया है।'

ऊपर जो गद्य भाग दिया है वह धवलासे दिया है और यह भाग मामूली शब्द भेदके साथ जो कि अशुद्धियोंको लिये हुए है और लेखकोंके प्रमादका फल जान पड़ता है त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाया जाता है। उक्त गद्य भागसे यह स्पष्ट है कि ज्योतिष्क देवोंका प्रमाण निकालनेके लिये जो राजुके अर्द्धच्छेद धवलाकारने बतलाये हैं जो कि परिकर्मसे विरुद्ध हैं, यद्यपि वे त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें नहीं बतलाये गये, किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो ज्योतिष्क देवोंका प्रमाण निकालनेके लिये भागहार बतलाया है 'उसपरसे उन्होंने यह फलितार्थ निकाला है, जैसा कि उक्त गद्यके अन्तिम अंशसे स्पष्ट है। धवलामें 'अम्हेहि परूविदा'के आगे दो ऐसी बातें उदाहरणरूपमें और बतलाई हैं जिनका निरूपण केवल धवलाकारने ही किया है। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें वह अंश नहीं पाया जाता है और न 'अम्हेहि' पाया जाता है। उसमें–'पयद गच्छसाहणट्ठमेसा परूवणा परूविदा तदो ण एत्थ इदमेवेति एयंतपरिग्गहो कायव्वो' आदि पाया जाता है। इस परसे यह कहा जा सकता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी गद्यमें आवश्यक परिवर्तन करके उसे धवलाकारने अपना लिया है। किन्तु यदि उक्त गद्य त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी होती तो त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारको स्वयं ही ज्योतिर्बिम्बोंका प्रमाण निकालनेके लिये राजूके अर्धच्छेदोंको न कहकर अपनी ही त्रिलोकप्रज्ञप्तिके एक सूत्रके आधारपरसे उनके प्रमाणको फलित करनेकी क्या आवश्यकता थी और फलित करके भी यह लिखना कि 'राजूके अर्द्धच्छेदोंके प्रमाण की जो परीक्षाविधि है वह त्रिलोक प्रज्ञप्तिके अनुसार है और अमुक सूत्रका अवलम्बन लेकर युक्तिके बलसे प्रकृत गच्छका साधन करनेके लिये कही गई है' तथा 'प्रकृत व्याख्यान सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता है' आदि त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारकी दृष्टिसे बिल्कुल ही असंगत लगता है। यदि त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारने अपनी त्रिलोकप्रज्ञप्तिका कोई व्याख्यान भी रचा होता तब भी एक बात थी, किन्तु ऐसा भी नहीं है। अतः कमसे कम उक्त गद्य तो अवश्य ही किसीने धवलासे उठाकर आवश्यक परिवर्तनके साथ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें सामिलित कर दी है, ऐसा प्रतीत होता है।

३ धवला खं० ३, पृ० ३६ में लिखा है–

'दुगुण दुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगोत्ति' तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो य णव्वदे।

किन्तु प्रयत्न करनेपर भी उक्त गाथांश त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें हमें नहीं मिल सका।

४ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें वीर निर्वाणसे शक राजाका काल बतलाते हुए लिखा है कि ४६१ वर्ष पश्चात् शक राजा हुआ और उसके पश्चात् तीन मत और दिये हैं जिनके अनुसार ९७८५ वर्ष ५ मास बाद अथवा १४७९३ वर्ष बाद अथवा ६०५ वर्ष ५ मास बाद शक राजाकी उत्पत्ति बतलाई है। धवलाके वेदना खण्डमें भी शकराजाका उत्पत्तिकाल बतलाया है, किन्तु उसमें ६०५ वर्ष ५ मास वाली मान्यताको ही प्रथम स्थान दिया गया है और उसके सिवा दो मत और दिये हैं। एकके अनुसार वीर निर्वाणसे १४७९३ वर्ष बाद शक राजा हुआ। यह मत त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें भी दिया है। और दूसरेके अनुसार ७९९५ वर्ष ५ मास बाद शक राजा हुआ। यह मत त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें नहीं है। तथा त्रिलोक प्रज्ञप्तिके

जहां तक चूर्णिसूत्रकार आचार्य यतिवृषभकी आम्नायका सम्बन्ध है उसमें न तो कोई मतभेद है और न उसके लिये कोई स्थान ही है, क्योंकि उनकी त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें दी गई आचार्य परम्परासे ही यह स्पष्ट है कि वे दिगम्बर आम्नायके आचार्य थे। किन्तु कषायप्राभृतके रचयिता आचार्य गुणधरके सम्बन्धमें कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे उनकी आम्नायके सम्बन्धमें कुछ भ्रम हो सकता है या भ्रम फैलाया जा सकता है। अतः उन बातोंके सम्बन्धमें थोड़ा ऊहापोह करना आवश्यक है। वे बातें निम्न प्रकार हैं—

ग्रन्थकारोंकी आम्नाय

प्रथम, आचार्य गुणधरको वाचक कहा गया है। दूसरे, उनके द्वारा रची गई गाथाओं-की प्राप्ति आर्यमंक्षु और नागहस्तिको होनेका और उनसे अध्ययन करके यतिवृषभके उनपर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना करनेका उल्लेख पाया जाता है। तीसरे, धवला और जयधवलामें षट्खण्डागमके उपदेशसे कषायप्राभृतके उपदेशको भिन्न बतलाया है। इनमेंसे पहले वाचकपदको ही लेना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्रका जो पाठ श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है उसपर रचे गये तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्यके अन्तमें एक प्रशस्ति है। उस प्रशस्तिमें सूत्रकारने अपने गुरुओंको तथा अपनेको वाचक लिखा है। तत्त्वार्थसूत्रके अपने गुजराती अनुवादकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजीने सूत्रकार उमास्वातिकी परम्परा बतलाते हुए लिखा था—

'उमास्वामीके[1] वाचक वंशका उल्लेख और उसी वंशमें होनेवाले अन्य आचार्योंका वर्णन श्वेताम्बरीय पट्टावलियों पन्नवणा और नन्दीकी स्थविरावलीमें पाया जाता है।'

'ये दलीले वा० उमास्वातीको श्वेताम्बर परम्पराका मनवाती हैं और अब तकके समस्त श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी परम्पराका पहलेसे मानते आये हैं। ऐसा होते हुए भी उनकी परम्पराके सम्बन्धमें कितने ही वाचन तथा विचारके पश्चात् जो कल्पना इस समय उत्पन्न हुई है उसको भी अभ्यासियोंके विचारसे दे देना यहां उचित समझता हूं।'

'जब किसी महान नेताके हाथसे स्थापित हुए सम्प्रदायमें मतभेदके बीज पड़ते हैं, पक्षोंके मूल बंधते हैं और धीरे धीरे वे विरोधका रूप लेते हैं तथा एक दूसरेके प्रतिस्पर्धी प्रतिपक्ष रूपसे स्थिर होते हैं। तब उस मूल सम्प्रदायमें एक ऐसा वर्ग खड़ा होता है जो परस्पर विरोध करने वाले और लड़ने वाले एक भी पक्षकी दुराग्रही तरफदारी नहीं करता हुआ अपनेसे जहां तक बने वहां तक मूल प्रवर्तक पुरुषके सम्प्रदायको तटस्थरूपसे ठीक रखनेका और उस रूपसे ही समझानेका प्रयत्न करता है। मनुष्य स्वभावके नियमका अनुसरण करने वाली यह कल्पना यदि सत्य हो तो प्रस्तुत विषयमें यह कहना उचित जान पड़ता है कि जिस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों पक्षोंने परस्पर विरोधीपनेका रूप धारण किया और अमुक विषयसम्बन्धमें मतभेदके झगड़ेकी तरफ वे ढले उस समय भगवान् महावीरके शासनको मानने

शेष दो मत भी यहां तक कि ४६१ वर्ष वाला वह मत भी जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ताको मान्य है उसमें नहीं हैं। तथा तीनों मतोंके लिये जो गाथाएं उद्धृतकी गई हैं वे भी त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी नहीं हैं, किन्तु बिल्कुल जुदी ही हैं। इस परसे मनमें अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्तिके सामने होते हुए भी धवलाकारने उस मतको स्थान क्यों नहीं दिया जो उसके आदरणीय कर्ताको इष्ट था ? क्या त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें उक्त मत प्रक्षिप्त है ? आदि। यद्यपि नं० ४ की बातोंको अकेले उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता तथापि ऊपरकी बातोंके रहते हुए उन्हें दृष्टिसे ओझल भी नहीं किया जा सकता। अन्य भी कुछ इसी प्रकारकी बातें हैं, जिनके समाधानके लिये त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपलब्ध प्रतियोंकी सूक्ष्म दृष्टिसे जांच होना आवश्यक प्रतीत होता है। उसके बाद ही किसी निर्णय-पर पहुंचना उचित होगा।

(१) देखो अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ३९८।

वाला अमुक वर्ग दोनों पक्षोंसे तटस्थ रहकर अपनेसे जहां तक बने वहां तक मूल सम्प्रदायको ठीक रखनेके काममें पड़ा। इस वर्गका मुख्य काम परम्परासे चले आये हुए शास्त्रोंको कण्ठस्थ रख उन्हें पढ़ना पढ़ाना था और परम्परासे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान तथा आचारसे सम्बन्ध रखने वाली सभी बातोंका संग्रह रखकर उसे अपनी शिष्य परम्पराको दे देना था। जिस प्रकार वेदरक्षक पाठक श्रुतियोंको बराबर कण्ठस्थ रखकर एक भी मात्राका फेर न पड़े ऐसी सावधानी रखते और शिष्य परम्पराको सिखाते थे, उसी प्रकार यह तटस्थ वर्ग जैन श्रुतको कंठस्थ रखकर उसकी व्याख्याओंको समझता, उसके पाठभेदों तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कल्पनाको संभालता और शब्द तथा अर्थसे पठन-पाठन द्वारा अपने श्रुतका विस्तार करता था। यही वर्ग वाचक रूपसे प्रसिद्ध हुआ। इसी कारणसे इसे पट्टावलीमें वाचकवंश कहा गया हो ऐसा जान पड़ता है।'

इसप्रकार पं० जीने वाचक उमास्वाति को दिगम्बर तथा श्वेताम्बर इन दोनों पक्षोंसे बिल्कुल तटस्थ ऐसी एक पूर्वकालीन जैनपरम्पराका विद्वान बतलाकर तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्यसे ऐसी बहुत सी बातें भी प्रमाणरूपसे उपस्थित की थीं जिनके आधारपर उन्हें वाचकवंश-की तटस्थताकी कल्पना हुई थी। किन्तु इधर उनके तत्त्वार्थसूत्रके गुजराती अनुवादका जो हिन्दी भाषान्तर प्रकट हुआ है उसकी प्रस्तावनामेंसे उन्होने तटस्थताकी ये सब बातें निकाल दी हैं और जिन बातोंके आधारपर उक्त कल्पना की थी उनकी भी कोई चर्चा नहीं की है और न अपने इस मतपरिवर्तनका कुछ कारण ही लिखा है। उमास्वातिने अपनी तथोक्त स्वोपज्ञ प्रशस्तिमें अपनेको और अपने गुरुओंको वाचक जरूर लिखा है किन्तु वाचकवंशी नहीं लिखा है। इसीसे मुनि दर्शनविजय जीने लिखा था-'वाचक उमास्वाति जी वाचक थे किन्तु वाचकवंशके नहीं थे,[1]।

अतः वाचकवंशका सम्बन्ध भले ही श्वेताम्बर परम्परासे रहा हो किन्तु वाचक पदका सम्बन्ध किसी एक परम्परासे नहीं था। यदि ऐसा होता तो जयधवलाकार गुणधरको वाचक और अपने एक गुरु आर्यनन्दिको महावाचक पदसे अलंकृत न करते। अतः मात्र वाचक कहे जाने मात्रसे गुणधराचार्यको श्वेताम्बर परम्पराका विद्वान नहीं कहा जा सकता। अब रह जाती है समस्या आर्यमंक्षु और नागहस्तीकी, जिन्हें परंपरासे गुणधर आचार्यकृत गाथाएं प्राप्त हुई थीं। इन दोनों आचार्योंका नाम नन्दिसूत्रकी पट्टावलीमें अवश्य आता है और उसमें नागहस्तीको वाचकवंशका प्रस्थापक और कर्मप्रकृतिका प्रधान विद्वान भी कहा गया है। किन्तु इन दोनों आचार्योंके मन्तव्यका एक भी उल्लेख श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक या कर्मविषयक साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता, जब कि धवला और जयधवलामें उनके मतों-का उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः जयधवलाकारके सन्मुख इन दोनों आचार्योंकी कोई कृति रही हो। इन्हीं दोनों आचार्योंके पास कसायपाहुडका अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी, और बादको उन्हींके आधारपर अनेक आचार्योंने कसायपाहुडपर वृत्तियां आदि लिखीं थीं। सारांश यह है कि दिग-म्बरपरम्पराको कसायपाहुड और उसका ज्ञान आर्यमंक्षु और नागहस्तीसे ही प्राप्त हुआ था। यदि ये दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्पराके ही होते तो कसायपाहुड या तो दिगम्बर परम्पराको प्राप्त ही नहीं होता यदि होता भी तो श्वेताम्बर परम्परा उससे एक दम अछूती न रह जाती।

शायद कहा जाये, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, कि कषाय प्राभृतके संक्रम अनुयोग-द्वारकी कुछ गाथाएं कर्मप्रकृतिमें पाई जाती हैं अतः श्वेताम्बर परम्पराको उससे एकदम अछूता

(१) अनेकान्त वर्ष १, पृ० ५७८।

तो नहीं कहा जा सकता। इसके सम्बन्धमें हमारा मन्तव्य है कि प्रथम तो संक्रम अनुयोग द्वार-सम्बन्धी गाथाओंके गुणधर रचित होनेमें पूर्वाचार्योंमें मतभेद था। कुछ आचार्योंका मत था कि उनके रचयिता आचार्य नागहस्ति थे। यद्यपि जयधवलाकार इस मतसे सहमत नहीं हैं, फिर भी मात्र उतनी गाथाओंके कर्मप्रकृतिमें पाये जानेसे यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्य गुणधरका वारसा दिगम्बर परम्पराकी तरह श्वेताम्बर परम्पराको भी प्राप्त था। दूसरे, यह हम पहले बतला आये हैं कि कषायप्राभृतकी संक्रमवृत्ति सम्बन्धी जो गाथाएं कर्मप्रकृतिमें पाई जाती हैं, उनमें कषायप्राभृतकी गाथाओंसे कुछ भेद भी है और वह भेद सैद्धान्तिक मतभेदको लिये हुए है। यदि कषायप्राभृतमें उपलब्ध पाठ श्वेताम्बरपरम्पराको मान्य होता तो कर्मप्रकृतिमें उसे हम ज्योंका त्यों पाते, कमसे कम उसमें सैद्धान्तिक मतभेद तो न होता। अतः वाचक पदालङ्कृत होनेसे या आर्यमंगु और नागहस्ती नाम श्वेताम्बर परम्परामें पाया जानेसे कषायप्राभृतके रचयिता आचार्य गुणधरको श्वेताम्बर परम्पराका विद्वान नहीं माना जा सकता है।

अब रह जाती है शेष तीसरी बात। किन्तु उससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि षट्खण्डागमसे कषायप्राभृतकी आम्नाय ही भिन्न थी। एक ही आम्नायमें होने वाले आचार्योंमें बहुधा मतभेद पाया जाता है और इस मतभेदपरसे मात्र इतना ही निष्कर्ष निकाला जाता है कि उन आचार्योंकी गुरुपरम्पराएं भिन्न थीं। जिसको गुरुपरम्परासे जो उपदेश प्राप्त हुआ उसने उसीको अपनाया। कर्मशास्त्रविषयक इन मतभेदोंकी चर्चा दोनों ही सम्प्रदायोंमें बहुतायतसे पाई जाती है। अतः भिन्न उपदेश कहे जानेसे भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि षट्खण्डागमसे कषायप्राभृत भिन्न सम्प्रदायका ग्रन्थ है। अतः कषायप्राभृतके रचयिता दिगम्बर सम्प्रदायके ही आचार्य थे।

३ जयधवलाके रचयिता

जयधवलाके अन्तमें एक लम्बी प्रशस्ति है, जिसमें उसके रचयिता, रचनाकाल तथा रचनादेशके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है। रचयिता के सम्बन्धमें प्रशस्तिमें लिखा है—

"आसीदासीदवासन्नभव्यसत्त्वकुमुद्वतीम्।
मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशाङ्क इव पुष्कलः ॥१८॥
श्री वीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
पारदृश्वाधिविद्यानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥
प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः।
सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥२३॥
पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥२५॥

प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् ।
कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका ।
स्वयं वरीतुकामेव श्रौतिं मालामयूयुजत् ॥२८॥
येनानुचरिता (तं) बाल्याद्ब्रह्मव्रतमखण्डितम् ।
स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥
यो नातिसुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः ।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥
धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः ।
सूरीनाराधयंति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥३१॥
यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः ।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥३२॥
ये (यो) नाग्रहीत्कपिलिका नाप्यचिन्तयदञ्जसा ।
तथाप्यध्यात्मविद्याब्धेः परं पारमशिश्रियत् ॥३३॥
ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम् ।
ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
तेनेदमनतिप्रौढमतिना गुरुशासनात् ।
लिखितं विशदैरेभिरक्षरैः पुण्यशासनम् ॥३५॥
गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते ।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥३६॥"

इस प्रशस्तिके पूर्वार्धमें आचार्य वीरसेनके गुणोंका वर्णन किया गया है और उत्तरार्धमें उनके शिष्य आचार्य जिनसेनका। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य वीरसेन अपने समयके एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने अपनी दोनों टीकाओंमें जिन विविध विषयोंका संकलन तथा निरूपण किया है उन्हें देखकर यदि उस समयके भी विद्वानोंकी सर्वज्ञके सद्भाव विषयक शङ्का दूर हो गई थी तो उसमें अचरज नहीं है, क्योंकि इस समय भी उसे पढ़कर विद्वानोंको यह अचरज हुए विना नहीं रहता कि एक व्यक्तिको कितने विषयोंका कितना अधिक ज्ञान था। इसके साथ ही साथ वे दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके रहस्यके अपूर्व वेत्ता थे तथा प्रथम सिद्धान्थ ग्रन्थ षट्खण्डागमके छहों खण्डोंमें तो उनकी भारती भारती आज्ञाके समान अस्खलितगति थी। सम्भवतः वे प्रथम चक्रवर्ती भरतके ही समान प्रथम सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। उनके बादसे ही सिद्धान्तग्रन्थोंके ज्ञाताओंको यह पद दिया जाने लगा था। उनके आगमविषयक ज्ञान और बुद्धिचातुरीको देखकर विद्वान उन्हें श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ तक कहते थे। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वका पाठी न होने पर भी श्रुतावरण और वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे जो असाधारण प्रज्ञाशक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके कारण द्वादशांगके विषयोंका निःसंशय कथन किया जा सकता है उसे प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं। और उसके धारक मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं। श्री वीरसेनस्वामीकी इस प्रज्ञाशक्तिके दर्शन उनकी टीकाओंमें पद पद पर होते हैं। प्रशस्तिकारके इन उल्लेखोंसे पता चलता है कि अपने समयमें ही वे किस कोटिके ज्ञानी और संयमी समझे जाते थे। वे प्राचीन पुस्तकोंके पढ़नेके

आचार्य वीरसेन और जिनसेन

भी इतने प्रेमी थे कि वे अपनेसे पूर्वके सब पुस्तक पाठकोंसे बढ़ गये थे। उनकी टीकाओंमें जिन विविधग्रन्थोंसे उद्धरण लिये गये हैं और उनसे सिद्धान्त ग्रन्थोंकी जिन अनेक टीकाओंके संलोडनका परिचय मिलता है उससे भी उनके इस पुस्तकप्रेमका समर्थन होता है।

इन साक्षात् सर्वज्ञसम, प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ श्री वीरसेनस्वामीके शिष्य श्री जिनसेन भी अपने गुरुके अनुरूप ही विद्वान थे। मालूम होता है वे बाल्यकालसे ही गुरुकुलमें वास करने लगे थे इसीलिये उनका कनछेदन भी न हो सका था। वे शरीरसे कृश थे, अति सुन्दर भी नहीं थे, फिर भी उनके गुणोंपर मोक्षलक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही मुग्ध थीं। एक ओर वे अखण्ड ब्रह्मचारी और परिपूर्णसंयमी थे तो दूसरी ओर अनुपम विद्वान थे। इन दोनों गुरु-शिष्योंने ही इस जयधवला टीकाका निर्माण किया है। प्रशस्तिके ३५ वें श्लोक से यह स्पष्ट है कि यह प्रशस्ति स्वयं श्री जिनसेनकी बनाई हुई है क्योंकि उसमें वे लिखते हैं कि उस अनतिप्रौढमति जिनसेनने गुरुकी आज्ञासे यह पुण्य शासन–पवित्र प्रशस्ति लिखी।

प्रशस्तिके ३६ वें श्लोकमें लिखा है कि ग्रन्थका पूर्वार्ध गुरु वीरसेनने रचा था और उत्तरार्ध शिष्य जिनसेनने। किन्तु वह पूर्वार्ध कहां तक समझा जाय इसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है, न कहीं बीचमें ही कोई इस प्रकारका उल्लेख वगैरह मिल सका है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि यहां तक श्रीवीरसेन स्वामीकी रचना है। यद्यपि श्री जिनसेन स्वामीने जयधवलाके स्वरचित भागको पद्धति कहा है और श्रीवीरसेन-स्वामी रचित भागको टीका कहा है, फिर भी ग्रन्थके वर्णनक्रममें भी कोई ऐसी स्पष्ट भेदक शैली नहीं मिलती जिससे यह निर्णय किया जा सके कि किसने कितना भाग रचा था। हां, श्रुतावतारमें आचार्य इन्द्रनन्दिने यह अवश्य निर्देश किया है कि कषाय-प्राभृतकी चार विभक्तियोंपर बीस हजार प्रमाण रचना करके श्रीवीरसेन स्वामी स्वर्गको सिधार गये। उसके पश्चात् उनके शिष्य जयसेन गुरुने ४० हजार श्लोकप्रमाणमें उस टीकाको समाप्त किया और इस प्रकार वह टीका ६० हजार प्रमाण हुई। प्रशस्तिमें एक श्लोक निम्न प्रकार है:—

किसने कितना ग्रन्थ बनाया

"विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयः।
उपयोगश्च शेषस्तु तृतीयः स्कन्ध इष्यते ॥१०॥"

अर्थात्–इस ग्रन्थमें तीन स्कन्ध हैं। उनमेंसे विभक्ति तक पहला स्कन्ध है। संक्रम उदय और उपयोगाधिकार तक दूसरा स्कन्ध है और शेष भाग तीसरा स्कन्ध माना जाता है।

इसके अनुसार पेज्जदोषविभक्ति, प्रकृतिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, और प्रदेश विभक्ति तक पहला स्कन्ध होता है। और चूंकि झीणाझीण और स्थित्यन्तिक अधिकार प्रदेशविभक्ति अधिकारके ही चूलिका रूपसे कहे गये हैं तथा दूसरा स्कन्ध संक्रम अधिकारसे गिना है इस लिये इन्हें भी विभक्तिस्कन्धमें ही सम्मिलित समझना चाहिये।

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार पहले स्कन्धकी टीका श्री वीरसेन स्वामीने रची थी। यद्यपि वे चार विभक्तियोंपर टीका लिखनेका उल्लेख करते हैं किन्तु पेज्जदोषविभक्ति, स्थिति विभक्ति,

(१) "प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥१८२॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम्।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्।
जयधवलैवं षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥१८४॥"

अनुभागविभक्ति और प्रदेश विभक्तिमें उक्त सभी अधिकार गर्भित समझे जाते हैं अतः चार विभक्तिके उल्लेखसे उनका आशय प्रथम स्कन्धका मालूम होता है। किन्तु जयधवलाकी प्रतिके आधारसे गणना करनेपर विभक्ति अधिकार पर्यन्त ग्रन्थका परिमाण लगभग साढ़े २६ हजार श्लोक प्रमाण बैठता है। यहीं तक ग्रन्थका विवेचन विस्तृत और स्पष्ट भी प्रतीत होता है, आगे उतना विस्तृत वर्णन भी नहीं है। अतः सम्भवतः पहले स्कन्ध पर्यन्त श्री वीरसेन स्वामीकी रचना है। इन्द्रनन्दिने प्रत्येक स्कन्धको एक एक भाग समझकर मोटे रूपसे उसका परिमाण २० हजार लिख दिया जान पड़ता है। अथवा यह भी संभव है कि उन्होने चार विभक्तिसे केवल चार ही विभक्ति का ग्रहण किया हो और पूरे प्रथम स्कन्धका ग्रहण न किया हो। अस्तु, जो कुछ हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिके कथनानुसार एक भागके रचयिता श्री वीरसेन स्वामी थे और शेष दो भाग प्रमाण ग्रन्थ उनके शिष्य जिनसेनने रचकर समाप्त किया था। इस बारेमें जिनसेन स्वयं इतना ही कहते हैं कि बहुवक्तव्य पूर्वार्धकी रचना उनके गुरुने की और अल्पवक्तव्य पश्चार्धकी रचना उन्होने की। वह बहुवक्तव्य पूर्वार्धं विभक्ति अधिकार पर्यन्त प्रतीत होता है।

जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिके आरम्भमें उसकी रचनाका काल और स्थान बतलाते हुए लिखा है—

जयधवला का रचनाकाल

"इति श्री वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥
फाल्गुणे मासि पूर्वाण्हे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
एकान्नषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥११॥"

इसमें बतलाया है कि कषाय प्राभृतकी व्याख्या श्री वीरसेन रचित जयधवला टीका गुर्जरार्यके द्वारा पालित वाटग्रामपुरमें, राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें, फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाण्हमें जबकि नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जा रहा था, शकराजाके ७५९ वर्ष बीतनेपर समाप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि शक सम्वत् ७५९ के फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षकी दशमी तिथिको जयधवला समाप्त हुई थी। धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल शक सम्वत् ७३८ दिया है। शक सम्वत् ७३८ के कार्तिक मासके शुक्ल पक्षकी त्रयोदशीके दिन धवला समाप्त हुई थी। अतः धवलासे जयधवला अवस्थामें भी २१ वर्ष और चार मासके लगभग छोटी है।

धवलामें उस समय जगत्तुंगदेवका राज्य बतलाया है और अन्तके एक श्लोकमें यह भी लिखा है कि उस समय नरेन्द्र चूडामणि बोद्दणराय पृथ्वीको भोग रहे थे। किन्तु जयधवलामें स्पष्ट रूपसे अमोघवर्ष राजाके राज्यका उल्लेख किया है। यह राजा जैन था और स्वामी जिनसेनाचार्यका भक्त शिष्य था। जिनसेनके शिष्य श्री गुणभद्राचार्यने उत्तर पुराणके अन्तमें लिखा है कि राजा अमोघवर्ष स्वामी जिनसेनके चरणोंमें नमस्कार करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था। यथा—

"यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।

संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥१०॥"

अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेट थी। निजाम राज्यमें शोलापुरसे ९० मील दक्षिण-पूर्वमें जो मलखेड़ा ग्राम विद्यमान है, उसे ही मान्यखेट कहा जाता है। शक सं० ७३६ में इसका राज्यारोहण हुआ माना जाता है। इस हिसाबसे धवला उसके राज्यके दूसरे वर्षमें समाप्त हुई थी। जगत्तुङ्ग अमोघवर्षके पिताका नाम था, और वोद्दणराय सम्भवतः अमोघवर्षका नाम था। इतिहासज्ञोंका मत है कि अमोघवर्ष नाम नहीं था किन्तु उपाधि थी। परन्तु कालान्तरमें रूढ़ हो जानेके कारण वही नाम हो गया। सम्भवतः इसीलिए धवलाकी प्रशस्तिमें अमोघवर्ष नाम नहीं पाया जाता क्योंकि धवलाकी समाप्तिके समय अमोघवर्षका राज्यभिषेक हुए थोड़ा ही समय बीता था, और अमोघवर्ष नामसे उसकी ख्याति नहीं हो पाई थी। किन्तु जयधवलाकी समाप्तिके समय अमोघवर्षको राज्य करते हुए २३ वर्ष हो रहे थे। अतः उस समय वे इसी नामसे प्रसिद्ध हो चुके होंगे। यही कारण है कि जयधवलामें अमोघवर्ष राजेन्द्रके राज्यका उल्लेख मिलता है।

धवलाकी प्रशस्तिमें धवलाके रचनास्थानका निर्देश नहीं किया। किन्तु जयधवलाकी प्रशस्तिमें वाटग्रामपुरमें जयधवलाकी समाप्ति होनेका उल्लेख किया है और यह भी लिखा है कि वाटग्रामपुर गुर्जरार्य द्वारा पालित था। आगे प्रशस्तिके श्लोक नं० १२ से १५ तकमें गुर्जरनरेन्द्रकी बड़ी प्रशंसा की है और बतलाया है कि गुर्जरनरेन्द्रकी चन्द्रमाके समान स्वच्छ कीर्तिके मध्यमें पड़कर गुप्तनरेश शककी कीर्ति मच्छरके समान प्रतीत होती है। यह गुर्जरनरेन्द्र कौन था? और उससे पालित वाटग्रामपुर कहाँ है?

यह तो स्पष्ट ही है कि वह कोई गुजरातका राजा था, और उससे पालित वाटग्राम भी सम्भवतः गुजरातका ही कोई ग्राम होना चाहिये। किन्तु वह गुर्जरनरेन्द्र अमोघवर्ष ही था, या कोई दूसरा था?

अमोघवर्षके पिता गोविन्दराज तृतीयके समयके श० सं० ७३५ के एक ताम्रपत्रसे[1] प्रतीत होता है कि उसने लाटदेश-गुजरातके मध्य और दक्षिणी भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराजको वहाँका[2] राज्य दे दिया था। इसी इन्द्रराजने गुजरातमें राष्ट्रकूटोंकी दूसरी शाखा स्थापित की। शक सं० ७५७ का एक ताम्रपत्र बड़ौदासे मिला है। यह गुजरातके राजा महासमन्ताधिपति राष्ट्रकूट ध्रुवराजका है। इससे प्रकट होता है कि अमोघवर्षके चाचाका नाम इन्द्रराज था और उसके पुत्र कर्कराजने बगावत करने वाले राष्ट्रकूटोंसे युद्ध कर अमोघवर्षको राज्य दिलवाया था। कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि लाटके राजा ध्रुवराज प्रथमने अमोघवर्षके खिलाफ कुछ गड़बड़ मचाई थी। इसीसे अमोघवर्षको उसपर चढ़ाई करनी पड़ी और सम्भवतः इसी युद्धमें वह मारा गया। हमारा अनुमान भी ऐसा ही है। यद्यपि अमोघवर्षसे पहले उसके पिता गोविन्दराज तृतीयने ही गुजरातके कुछ भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराजको वहाँका राजा बना दिया था, किन्तु अमोघवर्षके राज्यकालमें लाटके राजा ध्रुवराजके द्वारा बगावत कीजानेपर अमोघवर्षको उसपर चढ़ाई करनी पड़ी और सम्भवतः गुजरात उसके राज्यमें आगया। यह घटना जयधवलाकी समाप्तिके कुछ ही समय पहलेकी होनी चाहिये; क्योंकि ध्रुवराज प्रथमका ताम्रपत्र श० सं० ७५७ का है और जयधवलाकी समाप्ति ७५९ श० सं० में हुई है। डा० आल्टे-

(१) भा० प्रा० रा०, भा० ३, पृ० ३८। (२) भा० प्रा० रा०, भा० ३, पृ० ४०।

करका अनुमान है कि यह वाटग्राम[1] बड़ौदा हो सकता है; क्योंकि बड़ौदाका प्राचीन नाम वटपद था और वह गुजरातमें भी है तथा वहाँसे राष्ट्रकूट राजाओंके कुछ ताम्रपत्र भी मिले हैं। वाटग्रामके गुजरातमें होने और गुजरातका प्रदेश उसी समयके लगभग अमोघवर्षके राज्यमें आनेके कारण ही सम्भवतः श्री जिनसेनने गुर्जरनरेन्द्र करके अमोघवर्षका उल्लेख किया है। हम ऊपर लिख आये हैं कि गुर्जरनरेन्द्रकी प्रशंसा करते हुए[2] उसकी कीर्तिके सामने गुप्तनरेशकी कीर्तिको भी अतितुच्छ बतलाया है। गुजरातके संजान स्थानसे प्राप्त एक ताम्रपत्रमें अमोघवर्षकी प्रशंसामें एक श्लोक इस प्रकार मिलता है—

"हत्वा भ्रातरमेवराज्यमहरत् देवीं च दीनस्तथा,
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजि तनुः स्वराज्यमसकृत् बाह्यार्थकैः का कथा,
ह्रीस्तस्योन्नति राष्ट्रकूटतिलक दातेति कीर्त्यामपि ॥४८॥"

इसमें बतलाया है कि जिस अमोघवर्ष राजाने अपना राज्य और शरीर तक त्याग दिया उसके सामने वह दीन गुप्तवंशी नरेश क्या चीज है जिसने अपने सहोदर भाईको ही मारकर उसका राज्य और पत्नी तकको हर लिया।

भारतीय इतिहाससे परिचित जन जानते हैं कि गुप्तवंशमें समुद्रगुप्तका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। इसने भारतसे शक राज्यको उखाड़ फेंका था। यह समुद्रगुप्तका छोटा बेटा था। समुद्रगुप्त इसीको अपना उत्तरधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु मंत्रियोंने बड़े पुत्र रामगुप्तको ही राज्य दिलवाया। उसके राज्य पाते ही कुषानवंशी राजाने गुप्त साम्राज्यपर चढ़ाई कर दी। रामगुप्त घिर गया। और अपनी रानी ध्रुवस्वामिनीको सौंप देनेकी शर्तपर उसने शत्रुसे छुटकारा पाया। तब चन्द्रगुप्तने कायर भाईको अपने मार्गसे हटाकर उसके राज्य और देवी ध्रुवस्वामिनीपर अपना अधिकार कर लिया। उक्त श्लोकमें अमोघवर्षकी प्रशंसा करते हुए इसी घटनाका चित्रण किया गया है। इस चित्रणके आधारपर हमारा अनुमान है कि जयधवलाकी प्रशस्तिके १२ वें श्लोकमें जिस गुप्तनृपतिका उल्लेख किया गया है वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही होना चाहिये। शकोंको भगानेके कारण उसकी उपाधि शकारि भी थी। सम्भवतः 'शकस्य' पदसे उसकी उसी उपाधिकी ओर या उसके कार्यकी ओर सङ्केत किया गया है[3]। इस परसे हमारे इस अनुमानकी और भी पुष्टी होती है कि गुर्जरनरेन्द्रसे आशय अमोघवर्षका ही है। अतः जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिसे यह स्पष्ट है कि जयधवलाकी रचना अमोघवर्षके राज्यमें शक सं० ७५९ में हुई थी।

(१) वी० नि० सं० २४३५ में प्रकाशित पार्श्वाभ्युदय काव्यकी प्रस्तावनामें डा० के० बी० पाठकने जयधवलाकी प्रशस्तिके जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें 'वाटग्रामपुरे' के स्थानमें 'मटग्रामपुरे' पाठ मुद्रित है। यह पाठ उपलब्ध प्रतियोंमें तो नहीं है। संभवतः यह पाठ स्वयं डा० के० बी० पाठकके द्वारा ही कल्पित किया गया है। चूंकि अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेट थी जिसे आजकल मलखेड़ा कहते हैं। उससे मिलता जुलता होनेसे वाटग्रामके स्थानमें उन्हें 'मटग्राम' पाठ शुद्ध प्रतीत हुआ होगा। यद्यपि इस सुधारसे हम सहमत नहीं हैं फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि डा० पाठक भी गुर्जरनरेन्द्रसे अमोघवर्षका ही ग्रहण करते थे। (२) एपि० इ०, जिल्द १८, पृ० २३५। इस उद्धरणके लिये हम हि० वि० वि० काशीमें प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभागके प्रधान डाक्टर आल्टेकरके आभारी हैं। (३) ऊपर हम लिख आये हैं कि अमोघवर्षका राज्यकाल श० सं० ७३६ से ७९९ तक माना जाता है। किन्तु इसमें एक बाधा आती है। वह यह कि जिनसेन स्वामीने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यके अन्तिमसर्गके ७० वें श्लोकमें

धवला और जयधवलाके रचनाकालसे आचार्य वीरसेन और जिनसेनके कार्यकालपर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह तो स्पष्ट ही है कि धवलाके समाप्तिकाल श० सं० ७३८ में वीरसेन जीवित थे। धवलाको समाप्त करके उन्होने जयधवलाको हाथमें लिया। किन्तु उसका पूर्वार्ध ही उन्होने बना पाया। उत्तरार्धकी रचना उनके शिष्य जिनसेनने पूर्ण की। जिस समय जयधवलाकी प्रशस्तिके ३५ वें श्लोकमें यह पढ़ते हैं कि गुरुकी आज्ञासे जिनसेनने उनका यह पुण्यशासन लिखा तो ऐसा लगता है कि शायद उस समय भी स्वामी वीरसेन जीवित थे किन्तु अतिवृद्ध हो जानेके कारण जयधवलाके लेखनकार्यको चलानेमें वे असमर्थ थे, इस लिये उन्होंने इसकार्यको पूर्ण करनेका भार अपने सुयोग्य शिष्य जिनसेनको सौंप दिया था। किन्तु जब उसी प्रशस्तिके ३६ वें श्लोकमें हम जिनसेन स्वामीको यह कहते हुए पाते हैं कि गुरुके द्वारा विस्तारसे लिखे गये पूर्वार्धको देखकर उसने (जिनसेनने) पश्चार्धको लिखा तो चित्तको एक ठेस सी लगती है और अन्तःकरणमें एक प्रश्न पैदा होता है कि यदि वीरसेन स्वामी उस समय जीवित होते तो जिनसेनको उनके बनाये हुए पूर्वार्धको ही देखकर पश्चार्धके पूरा करनेकी क्या आवश्यकता थी ? वे वृद्ध गुरुके चरणोंमें बैठकर उसे पूराकर सकते थे। अतः इससे यही निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि जयधवलाके कार्यको अधूरा ही छोड़कर स्वामी वीरसेन दिवंगत हो गये थे।

वीरसेन और जिनसेनका कार्यकाल

धवलाकी समाप्ति श० सं० ७३८ में हुई थी और जयधवलाकी समाप्ति उससे २१ वर्ष पश्चात्। यदि स्वामी वीरसेनने धवलाको समाप्त करके ही जयधवलामें हाथ लगा दिया होगा तो उन्होने जयधवलाका स्वरचित भाग अधिकसे अधिक ७ वर्षके लगभग श० सं० ७४५ में बना पाया होगा। इसी समयके लगभग उनका अन्त होना चाहिये।

शक सं० ७०५ में समाप्त हुए हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें स्वामी वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेनको स्मरण किया गया है। स्वामी वीरसेनको कवि चक्रवर्ती लिखा है और उनके शिष्य जिनसेनके विषयमें लिखा है कि पार्श्वाभ्युदय नामक काव्यमें की गई पार्श्वनाथ भगवानके गुणोंकी स्तुति उनकी कीर्तिका संकीर्तन करती है। इसका मतलब यह हुआ कि शक सं० ७०५ से पहले स्वामी वीरसेनके शिष्य स्वामी जिनसेनने न केवल ग्रन्थरचना करना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनकी कृतिका विद्वानोंमें समादर भी होने लगा था। किन्तु सम्भवतः उस

अमोघवर्षका उल्लेख किया है और पार्श्वाभ्युदयका उल्लेख श० सं० ७०५ में समाप्त हुए हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें पाया जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श० सं० ७०५ से पहले अमोघवर्षका राज्याभिषेक हो चुका था। किन्तु यह बात शिलालेखोंसे प्रमाणित नहीं होती। तथा हरिवंशपुराणके ही जिस श्लोकमें उसका रचनाकाल दिया है उसीमें उस समय दक्षिणमें कृष्णके पुत्र श्रीवल्लभका राज्य लिखा है। कोई इस श्रीवल्लभको गोविन्द द्वितीय कहते हैं और कोई गोविन्द तृतीय। गोविन्द द्वितीय अमोघवर्षके दादा थे और गोविन्द तृतीय पिता। इससे स्पष्ट है कि उस समय अमोघवर्ष राजा नहीं थे। तथा अमोघवर्षका राज्य शक सं० ७९९ तक होनेके उल्लेख मिलते हैं। अतः शक सं० ७०५ में तो उनका जन्म होनेमें भी सन्देह होता है। इन सब बातोंसे यही प्रतीत होता है कि पार्श्वाभ्युदयकी रचना तो शक सं० ७०५ से पहले ही हो गई थी किन्तु उसमें उक्त श्लोक बादमें अमोघवर्षके राज्यकालमें अपने शिष्यके प्रेमवश जोड़ा गया है।

(१) "जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥३९॥
यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः (र्ति) संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥"

समय तक उनके गुरुने सिद्धान्तग्रन्थोंकी टीका करनेमें हाथ नहीं लगाया था। हमारा अनुमान है कि पार्श्वाभ्युदय हरिवंशपुराणसे कुछ वर्ष पहले तो अवश्य ही समाप्त हो चुका होगा। अधिक नहीं तो हरिवंशकी समाप्तिसे ५ वर्ष पहले उसकी रचना अवश्य हो चुकी होगी। यदि हमारा अनुमान ठीक है तो शक सं० ७०० के आस पास उसकी रचना होनी चाहिये। उस समय जिनसेनाचार्यकी अवस्था कमसे कम बीस वर्षकी तो अवश्य रही होगी। जिनसेनाचार्यने अपनेको अविद्धकर्ण कहा है। इसका मतलब यह होता है कि कर्णवेध संस्कार होनेसे पूर्व ही वे गुरुचरणोंमें चले आये थे। तथा उन्होंने वीरसेनके सिवा किसी दूसरेको अपना गुरु नहीं बतलाया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विद्यागुरु और दीक्षागुरु वीरसेन ही थे। संभवतः होनहार समझकर गुरु वीरसेनने उन्हें बचपनसे ही अपने संघमें लेलिया था। यदि बालक जिनसेन ६ वर्षकी अवस्थामें गुरु चरणोंमें आया हो तो उस समय गुरु वीरसेनकी अवस्था कमसे कम २१ वर्षकी तो अवश्य रही होगी। अर्थात् गुरु और शिष्यकी अवस्थामें १५ वर्षका अन्तर था ऐसा हमारा अनुमान है। इसका मतलब यह हुआ कि श० सं० ७०० में यदि जिनसेन २० वर्षके थे तो उनके गुरु वीरसेन ३५ वर्षके रहे होंगे। यद्यपि गुरु और शिष्यकी अवस्थामें इतना अन्तर होना आवश्यक नहीं है, उससे बहुत कम अन्तर रहते हुए भी गुरु-शिष्य भाव आजकल भी देखा जाता है। किन्तु एक तो दोनोंके अन्तिमकालको दृष्टिमें रखते हुए दोनों की अवस्थामें इतना अन्तर होना उचित प्रतीत होता है। दूसरे, दोनोंमें जिस प्रकारका गुरुशिष्य भाव था–अर्थात् यदि बचपनसे ही जिनसेन अपने गुरुके पादमूलमें आगये थे और उन्हींके द्वारा उनकी शिक्षा और दीक्षा हुई थी तो इतना अन्तर तो अवश्य होना ही चाहिये क्योंकि उसके बिना बालक जिनसेनके शिक्षण और पालनके लिये जिस पितृभावकी आवश्यकता हो सकती है एक दम नव-उम्र वीरसेनमें वह भाव नहीं हो सकता। अतः श० सं० ७०० में वीरसेनकी अवस्था ३५ की और जिनसेनकी अवस्था २० की होनी चाहिये। धवला और जयधवलाके रचना कालके आधारपर यह हम ऊपर लिख ही चुके हैं कि वीरसेन स्वामीकी मृत्यु श० सं० ७४५ के लगभग होनी चाहिये। अतः कहना होगा कि स्वामी वीरसेनकी अवस्था ८० वर्षके लगभग थी। शक सं० ६६५ के लगभग उनका जन्म हुआ था और श० सं० ७४५ के लगभग अन्त। धवलाकी समाप्ति श० सं० ७३८ में हुई थी और जयधवलाकी समाप्ति उससे २१ वर्ष बाद श० सं० ७५९ में। यदि धवलाकी रचनामें भी इतना ही समय लगा हो तो कहना होगा कि श० सं० ७१७ से ७४५ तक स्वामी वीरसेनका रचनाकाल रहा है।

स्वामी जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयका ऊपर उल्लेख कर आये हैं और यह भी बतला आये हैं कि वह श० सं० ७०० के लगभगकी रचना होना चाहिये और उस समय जिनसेन स्वामीकी अवस्था कमसे कम २० वर्षकी अवश्य होनी चाहिए। इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति महापुराण है जिसके पूर्व भाग आदि पुराणके ४२ सर्ग ही उन्होंने बना पाये थे। शेषकी पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि पुराणकी रचना धवलाकी रचनाके बाद प्रारम्भकी गई थी, क्योंकि उसके प्रारम्भमें स्वामी वीरसेनका स्मरण करते हुए[1] उनकी धवला भारतीको नमस्कार किया है। अतः शक सं० ७३८ के पश्चात् उन्होंने आदि-

---

(१) "सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्।
मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥५७॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम्।
धवलीकृतनिःशेषभुवनं तं नमाम्यहम् ॥५७॥"

पुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। जयधवलाको बीचमें ही अधूरी छोड़कर स्वामी वीरसेनके स्वर्ग चले जानेके पश्चात् स्वामी जिनसेनको आदिपुराणको अधूरा ही छोड़कर उसमें अपना समय लगाना पड़ा होगा। क्योंकि उस समय उनकी अवस्था भी ६५ वर्षके लगभग रही होगी। अतः वृद्धावस्थाके कारण अपने आदिपुराणको समाप्त करके जयधवलाका कार्य पूरा करनेकी अपेक्षा उन्हें यह अधिक आवश्यक जान पड़ा होगा कि गुरुके अधूरे कामको पहले पूर्ण किया जाय। अतः उन्होंने जयधवलाका कार्य हाथमें लेकर श० सं० ७५९ में उसे पूरा किया। उसके पश्चात् उनका स्वर्गवास हो जानेके कारण आदिपुराण अधूरा रह गया और उसे उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने पूरा किया। इसप्रकार श० सं० ७०० से ७६० तक स्वामी जिनसेनका कार्यकाल समझना चाहिये। इन दोनों गुरु शिष्योंने जिन शासनकी जो महती सेवाकी है जैनवाङ्मयके इतिहासमें वह सदा अमर रहेगी।



३ विषयपरिचय

इस स्तम्भमें प्रथम ही साधारणतया कषायपाहुडका अधिकारोंके अनुसार सामान्य परिचय दिया जायगा। तदनन्तर इस प्रथम अधिकारमें आए हुए कुछ खास विषयोंपर ऐतिहासिक और तात्त्विकदृष्टिसे विवेचन किया जायगा। इस विवेचनका मुख्य उद्देश्य यही है कि पाठकोंको उस विषयकी यथासंभव अधिक जानकारी मिल सके।

१. कर्म और कषाय–

भारतमें आस्तिकताकी कसौटी इस जीवनकी कड़ीको परलोकके जीवनसे जोड़ देना है। जो मत इस जीवनका अतीत और भाविजीवनसे सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं वे ही प्राचीन समयमें इस भारतभूमिपर प्रतिष्ठित रह सके हैं। यही कारण है कि चार्वाकमत आत्यन्तिक तर्कबलपर प्रतिष्ठित होकर भी आदरका पात्र नहीं हो सका। बौद्ध और जैनदर्शनोंने वेद तथा वैदिक क्रियाकाण्डोंका तात्त्विक एवं क्रियात्मक विरोध करके भी परलोकके जीवनसे इस जीवनका अनुस्यूत स्रोत कायम रखनेके कारण लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे तो यहाँ तक लोकसंग्रही हुए कि एक समय वैदिक क्रियाकाण्डकी जड़ें ही हिल उठीं थीं।

इस जीवनका पूर्वापर जीवनोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये एक माध्यमकी आवश्यकता है। आजके किए गए अच्छे या बुरे कार्योंका कालान्तरमें फल देना बिना माध्यमके नहीं बन सकता। इसी माध्यमको भारतीय दर्शनोंमें कर्म, अदृष्ट, अपूर्व, वासना, दैव, योग्यता आदि नाम दिए हैं। कर्मकी सिद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण यही दिया जाता है कि—यदि कर्म न माना जाय तो जगत्में एक सुखी, एक दुःखी, एकको अनायास लाभ, दूसरेको लाख प्रयत्न करनेपर भी घाटा ही घाटा इत्यादि विचित्रता क्योंकर होती है? साध्वी स्त्रीके जुड़वा दो लड़कोंमें शक्ति ज्ञान आदिकी विभिन्नता क्यों होती है? उनमें क्यों एक शराबी बनता है और दूसरा योगी? दृष्ट कारणोंकी समानता होने पर एकको कार्यसिद्धि होना तथा दूसरेको लाभकी तो बात क्या मूलका भी साफ हो जाना यह दृष्ट कारणोंकी विफलता किसी अदृष्ट कारणकी ओर सङ्केत करती है। आज किसीने यज्ञ किया या दान दिया या कोई निषिद्ध कार्य किया, पर ये सब क्रियाएं तो यहीं नष्ट हो जाती हैं परलोक तक जाती नहीं हैं। अब यदि कर्म न माना जाय तो इनका अच्छा या बुरा फल कैसे मिलेगा? इस तरह भारतीय आस्तिक परम्परामें इसी कर्मवादके ऊपर धर्मका सुदृढ़ प्रासाद खड़ा हुआ है।

उस माध्यमके, जिसके द्वारा अच्छे या बुरे कर्मोंका फल मिलता है, विविधरूप भारतीय दर्शनोंमें देखे जाते हैं—प्रशस्तपादभाष्यकी व्योमवती टीका (पृ० ६३९) में पूर्वपक्षरूपसे एक मत यह उपलब्ध होता है कि धर्म या अदृष्ट अनाश्रित रहता है उसका कोई आधार नहीं है। न्यायमंजरी (पृ० २७९) में इस मतको वृद्धमीमांसकोंका बताया है। उसमें लिखा है कि—यागादि क्रियाओंसे एक अपूर्व उत्पन्न होता है। यह स्वर्गरूप फल और यागके बीच माध्यमका कार्य करता है। पर, इस अपूर्वका आधार न तो यागकर्त्ता आत्मा ही होता है और न यागक्रिया ही, वह अनाश्रित रहता है।

शवरऋषि यागक्रियाको ही धर्म कहते हैं। इसमें ही एक ऐसी सूक्ष्मशक्ति रहती है जो परलोकमें स्वर्ग आदि प्राप्त कराती है।

मुक्तावली दिनकरी (पृ० ५३५) में प्रभाकरोंका यह मत दिया गया है कि यागादि क्रियाएँ समूल नष्ट नहीं होतीं, वे सूक्ष्मरूपसे स्वर्गदेहके उत्पादक द्रव्योंमें यागसम्बन्धिद्रव्यारम्भकोंमें अथवा यागकर्त्तामें स्थित होकर फलको उत्पन्न करती हैं।

कुमारिलभट्ट[1] धर्मको द्रव्य गुण और कर्मरूप मानते हैं, अर्थात् जिन द्रव्य गुण और कर्मसे वेदविहित याग किया जाता है वे धर्म हैं। उनने तन्त्रवार्तिक (२।१।२) में "आत्मैव चाश्रयस्तस्य क्रियाप्यत्रैव च स्थिता" लिखकर सूचित किया है कि यागादिक्रियाओंसे उत्पन्न होनेवाले अपूर्व का आश्रय आत्मा होता है। यागादिक्रियाओंसे जो अपूर्व उत्पन्न होता है वह स्वर्ग की अङ्कुरावस्था है और वही परिपाककालमें स्वर्गरूप हो जाती है।

व्यासका सिद्धान्त है कि यज्ञादिक्रियाओंसे यज्ञाधिष्ठातृ देवताको प्रीति उत्पन्न होती है और निषिद्ध कर्मोंसे अप्रीति। यही प्रीति और अप्रीति इष्ट और अनिष्ट फल देती है।

सांख्य[2] कर्मको अन्तःकरणवृत्तिरूप मानते हैं। इनके मतसे शुक्ल कृष्ण कर्म प्रकृतिके विवर्त्त हैं। ऐसी प्रकृतिका संसर्ग पुरुषसे है अतः पुरुष उन कर्मोंके फलोंका भोक्ता होता है। तात्पर्य यह है कि जो अच्छा या बुरा कार्य किया जाता है उसका संस्कार प्रकृति पर पड़ता है और यह प्रकृतिगत संस्कार ही कर्मोंके फल देनेमें माध्यमका कार्य करता है।

न्याय-वैशेषिक[3] अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं। किसी भी अच्छे या बुरे कार्यका संस्कार आत्मा पर पड़ता है, या यों कहिए कि आत्मामें अदृष्ट नामका गुण उत्पन्न होता है। यह तब तक आत्मामें बना रहता है जब तक उस कर्मका फल न मिल जाय। इस तरह इनके मतमें अदृष्टगुण आत्मनिष्ठ है। यदि यह अदृष्ट वेदविहित क्रियाओंसे उत्पन्न होता है तब वह धर्म कहलाता है तथा जब निषिद्ध कर्मोंसे उत्पन्न होता है तब अधर्म कहलाता है।

बौद्धोंने[4] इस जगतकी विचित्रताको कर्मजन्य माना है। यह कर्म चित्तगत वासनारूप है। अनेक शुभ अशुभ क्रियाकलापसे चित्तमें ही ऐसा संस्कार पड़ता है जो क्षणविपरिणत होता हुआ भी कालान्तरमें होने वाले सुख दुःखका हेतु होता है।

इस तरह हम इस बातमें प्रायः अनेक दर्शनोंको एक मत पाते हैं कि अच्छे या बुरे कार्योंसे आत्मामें एक संस्कार उत्पन्न होता है। परन्तु जैन मतकी यह विशेषता है कि वह अच्छे या बुरे

(१) मी० श्लो० सू० १।१।२। श्लो० १९१। (२) सांख्यका० २३। सांख्यसू० ५।२५। (३) न्यायसू० ४।१।५२। प्रश० भा० पृ० २७२। न्यायकुसुमाञ्जलि प्रथम स्तवक। (४) "कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्"—अभिधर्मकोष।

कार्योंके प्रेरक विचारोंसे जहां आत्मामें संस्कार मानता है वहां सूक्ष्म पुद्गलोंका उस आत्मासे बन्ध भी मानता है। तात्पर्य यह है कि आत्माके शुभ अशुभ परिणामोंसे सूक्ष्म पुद्गल कर्मरूपसे परिणत होकर आत्मासे बँध जाते हैं और समयानुसार उनके परिपाकके अनुकूल सुख-दुःख रूप फल मिलता है। जैसे विद्युत्शक्ति विद्युद्ग्राहक तारोंमें प्रवाहित होती है और स्विचके दबानेपर बल्बमें प्रकट हो जाती है उसी तरह भावकर्मरूप संस्कारोंके उद्बोधक जो द्रव्यकर्मस्कंध समस्त आत्माके प्रदेशोंमें व्याप्त हैं वे ही समयानुसार बाह्य द्रव्य क्षेत्रादि सामग्रीकी अपेक्षा करते हुए उदयमें आते हैं तो पुराने संस्कार उद्बुद्ध होकर आत्मामें विकृति उत्पन्न करते हैं। संस्कारोंके उद्बोधक कर्मद्रव्यका सम्बन्ध माने बिना नियत संस्कारोंका नियत समयमें ही उद्बुद्ध होना नहीं बन सकता है?

सांख्य-योगपरम्परा अवश्य प्रकृति नामके विजातीय पदार्थका सम्बन्ध पुरुषसे मानती है। पर उसमें कर्मबन्ध पुरुषको न होकर प्रकृतिको ही होता है। प्रकृतिका आद्य विकार महत्तत्त्व ही, जिसे अन्तःकरण भी कहते हैं, अच्छे या बुरे विचारोंसे संस्कृत होता है। पर उसमें अन्य किसी बाह्य-पदार्थका सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि एक जैनपरम्परा ही ऐसी है जो प्रतिक्षण शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार बाह्य पुद्गल द्रव्यका आत्मासे सम्बन्ध स्वीकार करती है।

जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिकालसे बराबर चालू है। सभी दार्शनिक आत्माकी संसारदशाको अनादि ही स्वीकारते आए हैं। सांख्य प्रकृतिपुरुषके संसर्गको अनादि मानता है, न्यायवैशेषिकका आत्ममनःसंयोग अनादि है, वेदान्ती ब्रह्मको अविद्याक्रान्त अनादिकालसे ही मानता है, बौद्ध चित्तकी अविद्यातृष्णासे विकृतिको अनादि ही मानते हैं। बात यह है कि यदि आत्मा प्रारम्भसे शुद्ध हो तो उसमें मुक्त आत्माकी तरह विकृति हो ही नहीं सकती, चूँकि आज हम विकृति देख रहे हैं इसलिये यह मानना पड़ता है कि वह अनवच्छिन्न कालसे बराबर ऐसा ही विकारी चला आ रहा है।

आत्मामें स्वपर कारणोंसे अनेक प्रकारके विकार होते हैं। इन सभी विकारोंमें अत्यन्त-घातक मोह नामका विकार है। मोह अर्थात् विपरीताभिनिवेश या मिथ्यात्वसे अन्य सभी विकार बलवान् बनते हैं मोहके हट जाने पर अन्य विकार धीरे धीरे निष्प्राण हो जाते हैं। न्यायवैशेषिकोंका मिथ्याज्ञान, सांख्य योगोंका विवेकाज्ञान, बौद्धोंकी अविद्या या सत्त्वदृष्टि, इसी मोहके नामान्तर हैं। बन्धके कारणोंमें इसीकी प्रधानता है इसके बिना अन्य बन्धके कारण अपनी उत्कृष्ट स्थिति या तीव्रतम अनुभागसे कर्मोंको नहीं बाँध सकते।

न्यायसूत्रमें[1] दोषोंकी वे ही तीन जातियाँ बताई हैं जो आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (१।८४) में निर्दिष्ट की हैं। न्यायसूत्रमें इन तीन राशियोंमें मोहको सबसे तीव्र पापबन्धक कहा है। जैन कार्मिक-परम्परामें मोहका कर्मोंके सेनापति रूपसे वर्णन मिलता है। इस सेनानायकके बलपर ही समस्त सेनामें जोश और कार्यक्षमता बनी रहती है। इसके अभावमें धीरे धीरे अन्य कर्म निर्बल हो जाते हैं।

मोहनीय कर्मके दो भेद हैं–एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय। इनमें मोहनीयका दर्शन मोहनीय भेद राग, द्वेष, मोहकी त्रिपुटीमें मोहशब्दका वाच्य होता है। स्वामी समन्तभद्रने दर्शनमोही साधुसे निर्मोही गृहस्थको कल्याणमार्गका पथिक तथा उत्कृष्ट बताया है। दूसरा चारित्रमोहनीय भेद मूलतः कषाय और नोकषायोंमें विभाजित होता है। ये कषायें राग द्वेषमें विभाजित होकर एक मोहनीय कर्मको 'राग द्वेष मोह' इस त्रिरूपताका बाना पहिना देती हैं।

(१) "तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहानर्थान्तरभावात्। तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः।"–न्यायसू० ४।१।३, ६।

कषायोंका रागद्वेषमें विभाजन-

कषायपाहुडके चूर्णिसूत्र (पृ० ३६५) में क्रोध मान माया और लोभ इन चार कषायोंका नयदृष्टिसे राग और द्वेषमें विभाजन किया है। और इसी विभाजनकी प्रेरणाके फलस्वरूप कषायपाहुडका पेज्जदोसपाहुड भी पर्यायवाची नाम रखा गया है। चाहे कषायपाहुड कहिए या पेज्जदोसपाहुड दोनों एक ही बात हैं। क्योंकि कषाय या तो पेज्ज रूप होगी या फिर दोषरूप। यह रागद्वेषमें विभाजन प्रायः चित्तको अच्छा लगने या बुरा लगने आदिके आधारसे किया गया है।

नैगम और संग्रहनयकी दृष्टिसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं। व्यवहारनय मायाको भी द्वेष मानता है क्योंकि लोकमें मायाचारीकी निन्दा गर्हा आदि होनेसे इसकी दृष्टिमें यह द्वेषरूप है। ऋजुसूत्रनय क्रोधको द्वेषरूप तथा लोभको रागरूप समझता है। मान और माया न तो रागरूप हैं और न द्वेषरूप ही; क्योंकि मान क्रोधोत्पत्तिके द्वारा द्वेषरूप है तथा माया लोभोत्पत्तिके द्वारा रागरूप है, स्वयं नहीं। अतः यह परम्पराव्यवहार ऋजुसूत्रनयकी विषयमर्यादामें नहीं आता।

तीनों शब्दनय चारों कषायोंको द्वेषरूप मानते हैं क्योंकि वे कर्मोंके आस्रवमें कारण होती हैं। क्रोध मान और मायाको ये पेज्जरूप नहीं मानते। लोभ यदि रत्नत्रयसाधक वस्तुओंका है तो वह इनकी दृष्टिमें पेज्ज है और यदि अन्य पापवर्धक पदार्थोंका है तो वह पेज्ज नहीं है।

विशेषावश्यकभाष्य (गा० ३५३६-३५४४) में ऋजुसूत्रनय तथा शब्दनयोंकी दृष्टिमें यह विशेषता बताई है कि-चूंकि ऋजुसूत्रनय वर्तमानमात्रग्राही है अतः वह क्रोधको सर्वथा द्वेष रूप मानता है तथा मान माया और लोभको जब ये अपनेमें सन्तोष उत्पन्न करें तब रागरूप तथा जब परोपघातमें प्रवृत्ति करावें तब द्वेषरूप समझता है। इसतरह इन नयोंकी दृष्टिमें मान, माया और लोभ विवक्षाभेदसे रागरूप भी हैं और द्वेषरूप भी।

चूर्णिसूत्रमें आ० यतिवृषभने कषायोंके ये आठ भेद गिनाए हैं-नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, भावकषाय, प्रत्ययकषाय, समुत्पत्तिककषाय, आदेशकषाय और रसकषाय। ये भेद आचारांगनिर्युक्ति (गा० १९०) तथा विशेषावश्यकभाष्य में भी पाए जाते हैं। इन आठ भेदोंमें ऐसे सभी पदार्थोंका संग्रह हो जाता है जिनमें किसी भी दृष्टिसे कषाय व्यवहार किया जा सकता है। इनमें भावकषाय ही मुख्य कषाय है। इस कसायपाहुड ग्रन्थमें इस भावकषायका तथा इसको उत्पन्न करनेमें प्रबल कारण कषायद्रव्यकर्म अर्थात् प्रत्ययकषायका सविस्तर वर्णन है। मुख्यतः इस कसायपाहुडमें चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय कर्मका विविध अनुयोग द्वारोंमें प्ररूपण है। उसका अधिकारोंके अनुसार संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

२. कसायपाहुडका संक्षिप्त परिचय-

प्रकृत कषायप्राभृत पन्द्रह अधिकारोंमें बटा हुआ है। उनमेंसे पहला अधिकार पेज्जदोषविभक्ति है। मालूम होता है यह अधिकार कषायप्राभृतके पेज्जदोषप्राभृत दूसरे नामकी मुख्यतासे रखा गया है। अगले चौदह अधिकारोंमें जिस प्रकार कषायकी बन्ध, उदय, सत्त्व आदि विविध दशाओंके द्वारा कषायोंका विस्तृत व्याख्यान किया है उसप्रकार पेज्जदोषका विविध दशाओंके द्वारा व्याख्यान न करके केवल उदयकी प्रधानतासे व्याख्यान किया गया है। तथा अगले चौदह अधिकारोंमें कषायका व्याख्यान करते हुए यथासंभव तीन दर्शनमोहनीयको गर्भित करके और कहीं पृथक् रूपसे उनकी विविध दशाओंका भी जिसप्रकार व्याख्यान किया है उस प्रकार पेज्जदोषविभक्ति अधिकारमें नहीं किया गया है किन्तु वहाँ उसके व्याख्यानको सर्वथा छोड़ दिया गया है।

अगले चौदह अधिकार ये हैं—

स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीण-स्थित्यन्तिक, बन्धक, वेदक, उपयोग, चतुःस्थान, व्यञ्जन, दर्शनमोहोपशामना, दर्शनमोहक्षपणा, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, चारित्रमोहोपशामना, और चारित्रमोहक्षपणा।

इनमेंसे प्रारंभके तीन अधिकारोंमें सत्त्वमें स्थित मोहनीय कर्मका, बन्धकमें मोहनीयके बन्ध और संक्रमका, वेदक और उपयोगमें मोहनीयके उदय, उदीरणा और वेदक कालका, चतुःस्थानमें चार प्रकारकी अनुभाग शक्तिका, व्यञ्जनमें क्रोधादिकके एकार्थक नामोंका मुख्यतया कथन है। शेष सात अधिकारोंका विषय उनके नामोंसे ही स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेपमें इन अधिकारोंका बँटवारा किया जाय तो यह कहना होगा कि प्रारंभके आठ अधिकारोंमें संसारके कारणभूत मोहनीय कर्मकी विविध दशाओंका वर्णन है। अन्तिम सात अधिकारोंमें आत्मपरिणामोंके विकाशसे शिथिल होते हुए मोहनीय कर्मकी जो विविध दशाएं होती हैं उनका वर्णन है।

(२) स्थितिविभक्ति—जब कोई एक विवक्षित पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको आवृत करता है या उसकी शक्तिका घात करता है तब साधारणतया आवरण करनेवाले पदार्थमें आवरण करनेका स्वभाव, आवरण करनेका काल, आवरण करनेकी शक्तिका हीनाधिकभाव और आवरण करनेवाले पदार्थका परिमाण ये चार अवस्थाएं एक साथ प्रकट होती हैं। यह हम बता ही आये हैं कि आत्मा आव्रियमाण है और कर्म आवरण, अतः कर्मके द्वारा आत्माके आवृत होनेपर कर्मकी भी उक्त चार अवस्थाएं होती हैं जो कि आवरण करनेके पहले समयमें ही सुनिश्चित हो जाती हैं। आगममें इनको प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध कहा है। इसप्रकार कर्मकी चार अवस्थाएं हैं फिर भी गुणधर भट्टारकने प्रकृतिबन्धको स्वतन्त्र अधिकार नहीं माना है, क्योंकि प्रकृति, स्थिति और अनुभागका अविनाभावी है, अतः उसका उक्त अधिकारोंमें अन्तर्भाव कर लिया है। इसप्रकार यद्यपि दूसरे अधिकारका नाम स्थितिविभक्ति है पर उसमें प्रकृतिविभक्ति और स्थितिविभक्ति दोनोंका वर्णन किया है।

प्रकृतिविभक्ति- प्रकृति शब्दका अर्थ ऊपर लिख ही आये हैं। विभक्ति शब्दका अर्थ विभाग है। यह विभक्ति नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना, संस्थान और भावके भेदसे अनेक प्रकार की है। पर प्रकृतमें द्रव्यविभक्तिके तद्व्यतिरिक्त भेदका जो कर्मविभक्ति भेद है वह लिया गया है। यद्यपि इस कषायप्राभृतमें एक मोहनीय कर्मका ही विशद वर्णन है पर वह आठ कर्मोंमेंसे एक है अतः उसके साथ विभक्ति शब्दके लगानेमें कोई आपत्ति नहीं है। मोहनीयका स्वभाव सम्यक्त्व और चारित्रका विनाश करना है। इस प्रकृति विभक्तिके मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति ये दो भेद हैं।

इनमेंसे मूलप्रकृतिविभक्तिका सादि आदि अनुयोगद्वारोंके द्वारा विवेचन किया है। उत्तरप्रकृतिविभक्तिके एकैक उत्तरप्रकृतिविभक्ति और प्रकृतिस्थान उत्तरप्रकृतिविभक्ति ये दो भेद हैं। जहाँ मोहनीयकी अट्ठाईस प्रकृतियोंका पृथक् पृथक् कथन किया है उसे एकैक उत्तरप्रकृतिविभक्ति कहते हैं। तथा जहां मोहनीयके अट्ठाईस, सत्ताईस आदि प्रकृति रूप सत्त्वस्थानोंका कथन किया है उसे प्रकृतिस्थान उत्तरप्रकृतिविभक्ति कहते हैं। इनमेंसे एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्तिका समुत्कीर्तना आदि अनुयोगद्वारोंके द्वारा और प्रकृतिस्थान उत्तरप्रकृतिविभक्तिका स्थानसमुत्कीर्तना आदिके द्वारा कथन किया है।

स्थिति विभक्ति–जिसमें चौदह मार्गणाओंका आश्रय लेकर मोहनीयके अट्ठाईस भेदोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है उसे स्थितिविभक्ति कहते हैं। इसके मूलप्रकृतिस्थितिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिस्थितिविभक्ति इस प्रकार दो भेद हैं। एक समयमें मोहनीयके जितने कर्मस्कन्ध बंधते हैं उनके समूहको मूलप्रकृति कहते हैं और इसकी स्थितिको मूलप्रकृतिस्थिति कहते हैं। तथा अलग अलग मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी स्थितिको उत्तरप्रकृतिस्थिति कहते हैं। इनमेंसे मूलप्रकृतिस्थितिविभक्तिका सर्वविभक्ति आदि अनुयोगद्वारोंके द्वारा कथन किया है और उत्तर प्रकृतिस्थितिका अद्धाच्छेद आदि अनुयोगद्वारोंके द्वारा कथन किया है।

(३) अनुभाग विभक्ति—कर्मोंमें जो अपने कार्यके करनेकी शक्ति पाई जाती है उसे अनुभाग कहते हैं। इसका विस्तारसे जिस अधिकारमें कथन किया है उसे अनुभागविभक्ति कहते हैं। इसके भी मूलप्रकृति अनुभागविभक्ति और उत्तरप्रकृति अनुभागविभक्ति ये दो भेद हैं। सामान्य मोहनीय कर्मके अनुभागका विस्तारसे जिसमें कथन किया है उसे मूलप्रकृति अनुभागविभक्ति कहते हैं। तथा मोहनीयकर्मके उत्तर भेदोंके अनुभागका विस्तारसे जिसमें कथन किया है उसे उत्तरप्रकृति अनुभागविभक्ति कहते हैं। इनमेंसे मूलप्रकृति अनुभागविभक्तिका संज्ञा आदि अनुयोगद्वारोंके द्वारा और उत्तरप्रकृतिअनुभागविभक्तिका संज्ञा आदि अधिकारोंमें कथन किया है।

(४) प्रदेशविभक्ति–झीणाझीण-स्थित्यन्तिक—प्रदेशविभक्तिके दो भेद हैं–मूलप्रकृति प्रदेशविभक्ति और उत्तरप्रकृतिप्रदेशविभक्ति। मूलप्रकृतिप्रदेशविभक्तिका भागाभाग आदि अधिकारोंमें कथन किया है। तथा उत्तरप्रकृतिप्रदेशविभक्तिका भी भागाभाग आदि अधिकारोंमें कथन किया है।

झीणाझीण–किस स्थितिमें स्थित प्रदेश उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदयके योग्य और अयोग्य हैं, इसका झीणाझीण अधिकारमें कथन किया गया है। जो प्रदेश उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदयके योग्य हैं उन्हें झीण तथा जो उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदयके योग्य नहीं हैं उन्हें अझीण कहा है। इस झीणाझीणका समुत्कीर्तना आदि चार अधिकारोंमें वर्णन है।

स्थित्यन्तिक–स्थितिको प्राप्त होनेवाले प्रदेश स्थितिक या स्थित्यन्तिक कहलाते हैं। अतः उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त, जघन्य स्थितिको प्राप्त आदि प्रदेशोंका इस अधिकारमें कथन है। इसका समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अधिकारोंमें कथन किया है। जो कर्म बन्धसमयसे लेकर उस कर्मकी जितनी स्थिति है उतने काल तक सत्तामें रह कर अपनी स्थितिके अन्तिम समयमें उदयमें दिखाई देता है वह उत्कृष्ट स्थितिप्राप्त कर्म कहा जाता है। जो कर्म बन्धके समय जिस स्थितिमें निक्षिप्त हुआ है अनन्तर उसका उत्कर्षण या अपकर्षण होनेपर भी उसी स्थितिको प्राप्त होकर जो उदयकालमें दिखाई देता है उसे निषेकस्थितिप्राप्त कर्म कहते हैं। बन्धके समय जो कर्म जिस स्थितिमें निक्षिप्त हुआ है उत्कर्षण और अपकर्षण न होकर उसी स्थितिके रहते हुए यदि वह उदयमें आता है तो उसे अधानिषेकस्थितिप्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म जिस किसी स्थितिको प्राप्त होकर उदयमें आता है उसे उदयनिषेकस्थितिप्राप्त कर्म कहते हैं। इस प्रकार इन सबका कथन इस अधिकारमें किया है।

(५) बन्धक—बन्धके बन्ध और संक्रम इसप्रकार दो भेद हैं। मिथ्यात्वादि कारणोंसे कर्मभावके योग्य कार्मण पुद्गलस्कन्धोंका जीवके प्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाहसंबन्धको बन्ध कहते हैं। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। जिस अनुयोगद्वारमें इसका कथन है उसे बन्ध अनुयोगद्वार कहते हैं। इसप्रकार बंधे हुए कर्मोंका यथायोग्य अपने अवान्तर भेदोंमें संक्रान्त होनेको संक्रम कहते हैं। इसके प्रकृतिसंक्रम आदि अनेक भेद हैं।

इसका जिस अनुयोगद्वारमें विस्तारसे कथन किया है उसे संक्रम अनुयोगद्वार कहते हैं। बन्ध अनुयोगद्वारमें इन दोनोंका कथन किया है। बन्ध और संक्रम दोनोंकी बन्ध संज्ञा होनेका यह कारण है कि बन्धके अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध ये दो भेद हैं। नवीन बन्धको अकर्मबन्ध और बंधे हुए कर्मोंके परस्पर संक्रान्त होकर बंधनेको कर्मबन्ध कहते हैं। अतः दोनोंको बन्ध संज्ञा देनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस अधिकारमें एक सूत्रगाथा आती है, जिसके पूर्वार्ध द्वारा प्रकृतिबन्ध आदि चार प्रकारके बन्धोंकी और उत्तरार्ध द्वारा प्रकृतिसंक्रम आदि चार प्रकारके संक्रमोंकी सूचना की है। बन्धका वर्णन तो इस अधिकारमें नहीं किया है उसे अन्यत्रसे देख लेनेकी प्रेरणा की गई है, किन्तु संक्रमका वर्णन खूब विस्तारसे किया है। प्रारम्भमें संक्रमका निक्षेप करके प्रकृतमें प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन बतलाया है। और उसका निरूपण तीन गाथाओंके द्वारा किया है। उसके पश्चात् ३२ गाथाओंसे प्रकृतिस्थान संक्रमका वर्णन किया है। एक प्रकृतिके दूसरी प्रकृतिरूप होजानेको प्रकृतिसंक्रम कहते हैं, जैसे मिथ्यात्व प्रकृतिका सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतिमें संक्रम हो जाता है। और एक प्रकृतिस्थानके अन्य प्रकृतिस्थानरूप हो जानेको प्रकृतिस्थानसंक्रम कहते हैं। जैसे, मोहनीयकर्मके सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका संक्रम अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाले मिथ्यादृष्टिमें होता है। किस प्रकृतिका किस प्रकृतिरूप संक्रम होता है और किस प्रकृतिरूप संक्रम नहीं होता, तथा किस प्रकृतिस्थानका किस प्रकृतिस्थानमें संक्रम होता है और किस प्रकृतिस्थानमें संक्रम नहीं होता, आदि बातोंका विस्तारसे विवेचन इस अध्यायमें किया गया है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है।

(६) वेदक-इस अधिकारमें उदय और उदीरणाका कथन है। कर्मोंका अपने समयपर जो फलोदय होता है उसे उदय कहते हैं। और उपायविशेषसे असमयमें ही उनका जो फलोदय होता है उसे उदीरणा कहते हैं। चूँकि दोनों ही अवस्थाओंमें कर्मफलका वेदन-अनुभवन करना पड़ता है इसलिये उदय और उदीरणा दोनोंको ही वेदक कहा जाता है। इस अधिकारमें चार गाथाएँ हैं, जिनके द्वारा ग्रन्थकारने उदय-उदीरणाविषयक अनेक प्रश्नोंका समवतार किया है और चूर्णिसूत्रकारने उनका आलम्बन लेकर विस्तारसे विवेचन किया है। पहली गाथाके द्वारा प्रकृति उदय, प्रकृति उदीरणा और उनके कारण द्रव्यादिका कथन किया है। दूसरी गाथाके द्वारा स्थिति उदीरणा, अनुभाग उदीरणा, प्रदेश उदीरणा तथा उदयका कथन किया है। तीसरी गाथाके द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विषयक भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यका कथन किया है। अर्थात् यह बतलाया है कि कौन बहुत प्रकृतियोंकी उदीरणा करता है और कौन कम प्रकृतियोंकी उदीरणा करता है। तथा प्रति समय उदीरणा करनेवाला जीव कितने समय तक निरन्तर उदीरणा करता है, आदि। चौथी गाथाके द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशविषयक बंध, संक्रम, उदय, उदीरणा और सत्त्वके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। यह अधिकार भी विशेष विस्तृत है।

(७) उपयोग—इस अधिकारमें क्रोधादि कषायोंके उपयोगका स्वरूप बतलाया गया है। इसमें सात गाथाएँ हैं। जिनमें बतलाया गया है कि एक जीवके एक कषायका उदय कितने काल तक रहता है? किस जीवके कौनसी कषाय बार बार उदयमें आती है? एक भवमें एक कषायका उदय कितनी बार होता है और एक कषायका उदय कितने भवों तक रहता है? जितने जीव वर्तमानमें जिस कषायमें विद्यमान हैं क्या वे उतने ही पहले भी उसी कषायमें विद्यमान थे और क्या आगे भी विद्यमान रहेंगे? आदि कषायविषयक बातोंका विवेचन इस अधिकारमें किया गया है?

(८) चतुःस्थान–घातिकर्ममें शक्तिकी अपेक्षा लता आदि रूप चार स्थानोंका विभाग किया जाता है। उन्हें क्रमशः एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान कहते हैं। इस अधिकारमें क्रोध, मान, माया और लोभकषायके उन चारों स्थानोंका वर्णन है इसलिये इस अधिकारका नाम चतुःस्थान है। इसमें १६ गाथाएँ हैं। पहली गाथाके द्वारा क्रोध मान माया और लोभके चार चार प्रकार होनेका उल्लेख किया है और दूसरी, तीसरी तथा चौथी गाथाके द्वारा वे प्रकार बतलाये हैं। पत्थर, पृथिवी, रेत और पानीमें हुई लकीरके समान क्रोध चार प्रकारका होता है। पत्थरका स्तम्भ, हड्डी, लकड़ी और लताके समान चार प्रकारका मान होता है, आदि। चारों कषायोंके इन सोलह स्थानोंमें कौन किससे अधिक होता है कौन किससे हीन होता है? कौन स्थान सर्वघाती है और कौन स्थान देशघाती है? क्या सभी गतियोंमें सभी स्थान होते हैं या कुछ अन्तर है? किस स्थानका अनुभवन करते हुए किस स्थानका बंध होता है और किस स्थानका अनुभवन नहीं करते हुए किस स्थानका बंध नहीं होता? आदि बातोंका वर्णन इस अधिकारमें है।

(९) व्यञ्जन–इस अधिकारमें पाँच गाथाओंके द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभके पर्यायवाची शब्दोंको बतलाया है। जैसे, क्रोधके क्रोध, रोष, द्वेष आदि, मानके मद, दर्प, स्तम्भ आदि, मायाके निकृति वंचना आदि और लोभके काम, राग, निदान, आदि। इनके द्वारा ग्रन्थकारने यह बतलाया है किस किस कषायमें कौन कौन बातें आती हैं। इन पर्यायशब्दोंसे प्रत्येक कषायका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

(१०) दर्शनमोहोपशमना–इस अधिकारमें दर्शनमोहनीय कर्मकी उपशमनाका वर्णन है। दर्शमोहनीयकी उपशमनाके लिये जीव तीन करण करता है–अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। प्रारम्भमें ग्रन्थकारने चार गाथाओंके द्वारा अधःप्रवृत्तकरणके प्रथम समयसे लेकर नीचेकी और ऊपरकी अवस्थाओंमें होनेवाले कार्योंका प्रश्नरूपमें निर्देश किया है। जैसे पहली गाथामें प्रश्न किया गया है कि दर्शनमोहनीयकी उपशमना करनेवाले जीवके परिणाम कैसे होते हैं? उनके कौन योग, कौन कषाय, कौन उपयोग, कौन लेश्या और कौनसा वेद होता है आदि? इन सब प्रश्नोंका समाधान करके चूर्णिसूत्रकारने तीनों करणोंका स्वरूप तथा उनमें होनेवाले कार्योंका विवेचन किया है। इसके बाद पन्द्रह गाथाओंके द्वारा दर्शनमोहके उपशामककी विशेषताएं तथा सम्यग्दृष्टिका स्वभाव आदि बतलाया है।

(११) दर्शनमोहकी क्षपणा–इस अधिकारके प्रारम्भमें पांच गाथाओंके द्वारा बतलाया है कि दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य करता है। उसके कमसे कम तेजो लेश्या अवश्य होती है, क्षपणाका काल अन्तर्मुहूर्त होता है। दर्शनमोहकी क्षपणा होनेपर जिस भवमें क्षपणाका प्रारम्भ किया है उसके सिवाय अधिकसे अधिक तीन भव धारण करके मोक्ष हो जाता है आदि। दर्शनमोहके क्षपणके लिये भी अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका होना आवश्यक है। अतः चूर्णिसूत्रकारने इन तीनों करणोंका विवेचन तथा उनमें होनेवाले कार्योंका दिग्दर्शन इस अधिकारमें भी विस्तारसे किया है। और बतलाया है कि जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कब होता है तथा वह मरकर कहां कहां जन्म ले सकता है?

(१२) देशविरत–इस अधिकारमें संयमासंयमलब्धिका वर्णन है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयके अभावसे देशचारित्रको प्राप्त करनेवाले जीवके जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे संयमासंयमलब्धि कहते हैं। जो उपशम सम्यक्त्वके साथ संयमासंयमको प्राप्त करता है उसके तीनों ही करण होते हैं। किन्तु उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की है क्योंकि उसका अन्तर्भाव सम्य-

क्त्वकी उत्पत्तिमें ही कर लिया गया है। अतः उसे छोड़कर जो वेदक सम्यग्दृष्टि या वेदकप्रायोग्य मिथ्यादृष्टि संयमासंयमको प्राप्त करता है उसका प्ररूपण इस अधिकारमें किया है। उसके प्रारम्भके दो ही करण होते हैं, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। अतः इस अधिकारमें दोनों करणोंमें होने वाले कार्योंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इस अधिकारमें केवल एक ही गाथा है।

(१३) संयमलब्धि–जो गाथा १२ वें देशविरत अधिकारमें है वही गाथा इस अधिकारमें भी है। संयमासंयमलब्धिके ही समान विवक्षित संयमलब्धिमें भी दो ही करण होते हैं, जिनका विवेचन संयमासंयमलब्धिकी ही तरह बतलाया है। अन्तमें संयमलब्धिसे युक्त जीवोंका निरूपण आठ अनियोगद्वारोंसे किया है।

(१४) चारित्र मोहनीयकी उपशामना–इस अधिकारमें आठ गाथाएं हैं। पहली गाथाके द्वारा, उपशामना कितने प्रकारकी है, किस किस कर्मका उपशम होता है, आदि प्रश्नोंका अवतार किया गया है। दूसरी गाथाके द्वारा, निरुद्ध चारित्रमोह प्रकृतिकी स्थितिके कितने भागका उपशम करता है, कितने भागका संक्रमण करता है कितने भागकी उदीरणा करता है आदि प्रश्नोंका अवतार किया गया है। तीसरी गाथाके द्वारा, निरुद्ध चारित्रमोहनीय प्रकृतिका उपशम कितने कालमें करता है, उपशम करनेपर संक्रमण और उदीरणा कब करता है, आदि प्रश्नों का अवतार किया गया है। चौथी गाथाके द्वारा, आठ करणोंमेंसे उपशामकके कब किस करणकी व्युच्छित्ति होती है आदि, प्रश्नोंका अवतार किया गया है। जिनका समाधान चूर्णिसूत्रकारने विस्तारसे किया है। इस प्रकार इन चार गाथाओंके द्वारा उपशामकका निरूपण किया गया है और शेष चार गाथाओंके द्वारा उपशामकके पतनका निरूपण किया गया है, जिसमें प्रतिपातके भेद, आदिका सुन्दर विवेचन है।

(१५) चारित्रमोहकी क्षपणा–यह अधिकार बहुत विस्तृत है। इसमें क्षपकश्रेणिका विवेचन विस्तारसे किया गया है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके बिना चारित्रमोहका क्षय नहीं हो सकता, अतः प्रारम्भमें चूर्णिसूत्रकारने इन तीनों करणोंमें होनेवाले कार्योंका विस्तारसे वर्णन किया है। नौवें गुणस्थानके अवेदभागमें पहुंचने पर जो कार्य होता है उसका विवेचन गाथा सूत्रोंसे प्रारम्भ होता है। इस अधिकारमें मूलगाथाएं २८ हैं और उनकी भाष्य गाथाएं ८६ हैं। इस प्रकार इसमें कुल गाथाएं ११४ हैं। जिसका बहुभाग मोहनीयकर्मकी क्षपणासे सम्बन्ध रखता है। अन्तकी कुछ गाथाओंमें कषायका क्षय हो जानेके पश्चात् जो कुछ कार्य होता है उसका विवेचन किया है। अन्तकी गाथामें लिखा है कि जब तक यह जीव कषायका क्षय होजानेपर भी छद्मस्थ पर्यायसे नहीं निकलता है तब तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका नियमसे वेदन करता है। उसके पश्चात् दूसरे शुक्लध्यानसे समस्त घातिकर्मोंको समूल नष्ट करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर विहार करता है। कषायप्राभृत यहां समाप्त हो जाता है। किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जानेके बाद भी जीवके चार अघातिया कर्म शेष रह जाते हैं, अतः उनके क्षयका विधान चूर्णिसूत्रकारने पश्चिमस्कन्धनामक अनुयोगद्वारके द्वारा किया है। और वह द्वार चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अधिकारकी समाप्तिके बाद प्रारम्भ होता है। इसमें चार अघातिकर्मोंका क्षय बतलाकर जीवको मोक्षकी प्राप्ति होनेका कथन किया गया है। इस प्रकार संक्षेपमें यह कषाय प्राभृतके अधिकारोंका परिचय है।

---

३. मङ्गलवाद–

भारतीय वाङ्मयमें शास्त्रके आदिमें मंगल करनेके अनेक प्रयोजन तथा हेतु पाये जाते हैं। इस विषयमें वैदिक दर्शनोंका मूल आधार तो यह मालूम होता है कि मंगल करना एक वेद-विहित क्रिया है, और जब वह श्रुतिविहित[1] है तो उसे करना ही चाहिए। श्रुतियोंके[2] सद्भावमें जैसे प्रत्यक्ष एक प्रमाण है उसी तरह निर्विवाद शिष्टाचार भी उसका एक अन्यतम साधक होता है। जिस कार्यको शिष्टजन निर्विवाद रूपसे करते चले आए हों वह निर्मूलक तो नहीं हो सकता। अतः इस निर्विवाद शिष्टाचारसे अनुमान होता है कि इस मंगलकार्यको प्रतिपादन करनेवाला कोई वेदवाक्य अवश्य रहा है। भले ही आज उपलब्ध वेद भागमें वह न मिलता हो। इस तरह जब मंगल करना श्रुतिविहित है, तो "श्रौतात् साङ्गात् कर्मणः फलावश्यम्भावनियमात् अर्थात् पूर्ण विधिविधानसे किये गये वैदिक कर्मोंका फल अवश्य होता है।" इस नियमके अनुसार वह सफल भी अवश्य ही होगा।

किसी भी ग्रन्थकारको सर्व प्रथम यही इच्छा होती है कि मेरा यह प्रारम्भ किया हुआ ग्रन्थ निर्विघ्न[3] समाप्त हो जाय। अतः मंगल ग्रन्थपरिसमाप्तिकी कामनासे किए जानेके कारण काम्यकर्म है। जिस तरह अग्निष्टोम यज्ञ स्वर्गकी कामनासे किया जाता है तथा यज्ञ और स्वर्गमें कार्यकारणभावके निर्वाहके लिए अदृष्ट अर्थात् पुण्यको द्वार माना जाता है उसी तरह मंगल और ग्रन्थ परिसमाप्तिमें कार्यकारणभावकी शृंखला ठीक बैठानेके लिए विघ्नध्वंसको द्वार मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे यज्ञ पुण्यके द्वारा स्वर्गमें कारण होता है उसी तरह मंगल विघ्नध्वंसके द्वारा ग्रन्थकी समाप्तिका कारण होता है। जहाँ मंगल होने पर भी ग्रन्थपरिसमाप्ति नहीं देखी जाती वहाँ अगत्या यही मानना पड़ता है कि मंगल करनेमें कुछ न्यूनता रही होगी। और जहाँ मंगल न करने पर भी ग्रन्थपरिसमाप्ति देखी जाती है। वहाँ यही मानना चाहिए कि या तो वहाँ कायिक या मानस मंगल किया गया होगा या फिर जन्मान्तरीय मंगल कारण रहा है।

विघ्नध्वंस[4] स्वयं कार्य नहीं है, क्योंकि[5] पुरुषार्थ मात्र विघ्नध्वंसके लिए नहीं किया है किन्तु उसका लक्ष्य है ग्रन्थपरिसमाप्ति। एक पक्ष तो यह भी उपलब्ध होता है, जिसे नवीनोंका पक्ष कहा गया है कि मंगलका साक्षात् फल विघ्नध्वंस ही है, ग्रन्थकी परिसमाप्ति तो बुद्धि प्रतिभा अध्यवसाय आदि कारणकलापसे होती है।

मंगल करना[6] और उसे ग्रन्थमें निबद्ध करना ये दो वस्तुएं हैं। प्रत्येक शिष्ट ग्रन्थकार सदाचारपरिपालनकी दृष्टिसे मनोयोगपूर्वक मंगल करता ही है भले ही वह मंगल कायिक हो या वाचिक। उसे शास्त्रमें निबद्ध करनेका मूल प्रयोजन तो शिष्योंको उसकी शिक्षा देना है। अर्थात् शिष्य परिवार भी कार्यारम्भमें मंगल करके मंगलकी परम्पराको चालू रखें।

इन[7] मंगलोंमें मानस मंगल ही मुख्य है। इसके रहने पर कायिक और वाचनिक मंगलके अभावमें भी फलकी प्राप्ति हो जाती है पर मानस मंगलके अभावमें या उसकी अपूर्णतामें कायिक और वाचनिक मंगल रहने पर भी फल प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि मानस

(१) सांख्यसू० ५।१। (२) "प्रत्यक्षमिव अविगीतशिष्टाचारोऽपि श्रुतिसद्भावे प्रमाणमेव निर्मूलस्य च शिष्टाचारस्यासंभवात्। अप्रमाणमूलकस्य च प्रामाणिकविगानविरहानुपपत्तेः।" न्याय० ता० प० पृ० २६। (३) वैशे० उप० पृ० २। (४) मुक्तावली दिनकरी पृ० ६। वैशे० उप० पृ० २। तर्कदी० पृ० २। (५) मुक्तावली पृ० ६। (६) किरणावली पृ० ३। न्यायवा ता० टी० पृ० ३। (७) प्रश० व्यो० पृ० २०८।

मंगलसे मंगलकर्त्ताको धर्मविशेषकी उत्पत्ति होती है, उससे अधर्मका नाश होकर निर्विघ्न कार्य-परिसमाप्ति हो जाती है।

वेदान्तमें[1] व्यवहारदृष्टिसे सभी मंगलोंके यथायोग्य करनेका विधान है। इस तरह वैदिक परम्परामें मंगल श्रुतिविहित कार्य है। वह विघ्नध्वंसके द्वारा फलकी प्राप्ति अवश्य कराता है। और यतः वह श्रुतिविहित है अतः वह शिष्टजनोंको अवश्य कर्त्तव्य है। तथा शिष्य शिक्षाके लिए उसे यथासंभव ग्रन्थमें निबद्ध करनेका भी विधान है।

पातञ्जल महाभाष्य (१।१।१) में मंगलका प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि शास्त्रके आदि में मंगल करनेसे पुरुष वीर तथा आयुष्मान् होते हैं तथा अध्ययन करनेवालोंके प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। दण्डी आदि कवियोंने महाकाव्यके अंगके रूपमें मंगलकी उपयोगिता मानी है।

बौद्धपरम्परामें अपने[2] शास्ताका माहात्म्य ज्ञापन करना ही मंगलका मुख्य प्रयोजन है। यद्यपि शास्ताके गुणोंका कथन करनेसे उसके माहात्म्यका वर्णन हो जाता है फिर भी शास्ताको नमस्कार इसलिए किया जाता है जिससे नमस्कर्त्ताको[3] पुण्यकी प्राप्ति हो। इस परम्परामें सदाचार परिपालनको भी मंगल करनेका प्रयोजन बताया गया है।

तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० ७)में मंगलका प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि भगवान्के गुणोंके वर्णन करनेसे भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है और उससे मनुष्य अन्तिम कल्याणकी ओर झुकता है। भगवान् के गुणोंको सुनकर श्रद्धानुसारी शिष्योंको तत्काल ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रज्ञानुसारिशिष्य भी प्रज्ञादिगुणोंमें अभ्याससे प्रकर्ष देखकर वैसे अति-प्रकर्षगुणशाली व्यक्तिकी संभावना करके भगवान्में भक्ति और आदर करने लगते हैं। पीछे भगवान्के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंके पठन पाठन और अनुष्ठानसे निर्वाणकी प्राप्ति कर लेते हैं। अतः निर्वाण प्राप्तिमें प्रधान कारण भगवद्भक्ति ही हुई। और इस भगवत्विषयक चित्तप्रसाद-को उत्पन्न करनेके लिए शास्त्रकारको भगवान्के वचनोंके आधारसे रचे जानेवाले शास्त्रके आदिमें मंगल करना चाहिए। क्योंकि परम्परासे भगवान् भी शास्त्रकी उत्पत्तिमें निमित्त होते हैं। इस तरह इस परम्परामें मंगल करनेके निम्नलिखित प्रयोजन फलित होते हैं—शास्ताका माहात्म्य-ज्ञापन, सदाचारपरिपालन, नमस्कर्ताको पुण्यप्राप्ति, देवता विषयक भक्ति उत्पन्न करके अन्ततः सर्वश्रेयःसंप्राप्ति और चूँकि शास्ताके वचनोंके आधारसे ही शास्त्र रचा जा रहा है अतः परम्परासे निमित्त होनेवाले शास्ताका गुणस्मरण। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि जो वैदिक परम्परामें श्रुतिविहित होनेसे मंगलकी अवश्यकर्त्तव्यता तथा मंगलका निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्तिके प्रति कार्यकारणभाव देखा जाता है वह इस परम्परामें नहीं है। बौद्ध परम्परामें वेदप्रामाण्यका निरास करनेके कारण श्रुतिविहित होनेसे मंगलकी अवश्यकर्तव्यता तो बताई ही नहीं जा सकती थी पर उसका ग्रन्थपरिसमाप्तिके साथ कार्यकारणभाव भी नहीं जोड़ा गया है। फलतः इस परम्परामें अपने शास्ताके प्रति कृतज्ञता ज्ञापनार्थ अथवा लोककल्याणके लिए ही मंगल करना उचित बताया गया है।

जैन परम्परामें यतिवृषभाचार्यने त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें मंगलका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन्होंने उसका प्रयोजन बताते समय लिखा है[4] कि शास्त्रके आदि मध्य और अन्तमें जिनेन्द्रदेव

(१) गौडपा० शा० भा०। (२) "शास्त्रं प्रणेतुकामः स्वस्य शास्तुर्माहात्म्यख्यापनार्थं गुणाख्यान-पूर्वकं तस्मै नमस्कारमारभते।"–अभि० स्वभा० पृ० २। (३) स्फुटार्थ अभि० व्या० पृ० २। (४) त्रिलोकप्रज्ञप्ति गा० ३३।

का गुणगानरूपी मंगल समस्तविघ्नोंको उसीप्रकार नाश कर देता है जैसे सूर्य अन्धकारको। इसके सिवाय उन्होंने और भी लिखा है कि शास्त्रमें आदि मंगल इसलिए किया जाता है जिससे शिष्य सरलतासे शास्त्रके पारगामी हो जाँय। मध्यमंगल निर्विघ्न विद्याप्राप्तिके लिए तथा अन्तमंगल विद्याफलकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। इनके मतसे विघ्नविनाशके साथ ही साथ शिष्योंकी शास्त्रपारिगामिताकी इच्छा भी मंगलकी प्रयोजनकोटिमें आती है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा०२) में त्रिविध मंगल करनेका विधान है। विशेषावश्यकभाष्यमें (गा०१२-१४) मंगलके प्रयोजनोंमें विघ्नविनाश और महाविद्याकी प्राप्तिके साथही साथ आदिमंगलका प्रयोजन निर्विघ्नरूपसे शास्त्रका पारगामी होना, मध्यमंगलका प्रयोजन आदिमंगलके प्रसादसे निर्विघ्न समाप्त शास्त्रकी स्थिरताकी कामना तथा अन्तमंगलका प्रयोजन शिष्य प्रशिष्य परिवारमें शास्त्रकी आम्नायका चालू रहना बताया है। बृहत्कल्पभाष्यमें (गा० २०) मंगलका प्राथमिक प्रयोजन विघ्नविनाश लिखकर फिर शिष्यमें शास्त्रके प्रति श्रद्धा आदर, उपयोग निर्जरा सम्यग्ज्ञान भक्ति प्रभावना आदि अनेक रूपसे प्रयोजनपरम्परा बताई गई है। तार्किक ग्रन्थोंमें हरिभद्रसूरि अनेकान्तजयपताका (पृ० २) में मंगल करने का हेतु शिष्टसमयपालन और विघ्नोपशान्ति लिखते हैं। सन्मतितर्कटीका (पृ० १) में शिष्यशिक्षा भी मंगलके प्रयोजनरूपसे संगृहीत है। विद्यानन्द स्वामी श्लोकवार्तिक (पृ० १-२) में नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालन, धर्मविशेषोत्पत्तिमूलक अधर्मध्वंस और उससे होनेवाली निर्विघ्न शास्त्रपरिसमाप्ति आदि को माँगलिक प्रयोजन मानकर भी लिखते हैं कि शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे ही विघ्नध्वंस आदि होते हों ऐसा नियम नहीं है। ये प्रयोजन तो स्वाध्याय आदि अन्य हेतुओंसे भी सिद्ध सकते हैं। शास्त्रमें मोक्षमार्गका समर्थन किया है इससे नास्तिकताका परिहार किया जा सकता है, शास्त्रस्वाध्याय करके शिष्टाचार पाला जा सकता है। पात्रदान आदिसे पुण्यप्राप्ति पापक्षय और निर्विघ्न कार्यपरिसमाप्ति हो सकती है। अतः इन प्रयोजनों की सिद्धिके लिए शास्त्रके प्रारम्भमें परापरगुरुप्रवाहका नमस्काररूप मंगल ही करना चाहिए यह नियम नहीं बन सकता। इस तरह उन्होंने उक्त प्रयोजनों को माँगलिक मानकर भी मात्रमंगलजन्य ही नहीं माना है। अन्तमें वे अपना सहज तार्किक विश्लेषण कर लिखते हैं कि देखो उक्त सभी प्रयोजन तो अन्य पात्रदान स्वाध्याय आदि कार्योंसे सिद्ध हो जाते हैं इसलिए शास्त्रके प्रारम्भमें परापरगुरुप्रवाह का स्मरण उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापनके लिए किया जाता है। क्योंकि ये ही मूलतः शास्त्रकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं तथा इन्हींके प्रसादसे शास्त्रके गहनतम अर्थोंका निर्णय होता है। अतः प्रकृतग्रन्थकी सिद्धिमें चूँकि परापरगुरु निमित्त हैं अतः उनका स्मरण करना प्रत्येक कृतीके लिए प्रथम कर्त्तव्य है। उन्होंने इसका सुन्दर कार्यकारणभाव बतानेवाला यह श्लोक उद्धृत किया है—

"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥"

अर्थात् इष्टसिद्धि का प्रधान कारण सम्यग्ज्ञान है। वह सुबोध शास्त्रसे होता है तथा शास्त्र की उत्पत्ति आप्तसे होती है अतः शास्त्रके प्रसादसे जिन्होंने सम्यग्ज्ञान पाया है उनका कर्त्तव्य है कि उपकारस्मरणार्थ वे आप्तकी पूजा करें। अतः शास्त्रके आदिमें आप्तके स्मरणरूप मंगलका प्रधान प्रयोजन कृतज्ञताज्ञापन है। वादिदेवसूरिने (स्याद्वादरत्ना० पृ० ३) में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी पद्धतिसे ही मंगलका प्रयोजन बताया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें मंगलके अन्य प्रयोजनोंके साथ ही साथ "नास्तिकतापरिहार'को भी एक प्रयोजन अन्य आचार्यके मतसे

(१) आप्तप० पृ० ३।

बताया है। ज्ञात होता है कि यह मत किसी अन्य प्राचीन जैन आचार्यका है। संभवतः इसका प्रयोजन यह रहा हो कि अजैन लोगोंने जब जैनियोंसे यह कहना शुरू किया कि ये लोग बड़े नास्तिक हैं, ईश्वर भी नहीं मानते आदि, तो जैनाचार्योंने उनकी इस भ्रान्तिको मिटानेके लिए शास्त्रके आदिमें किए जानेवाले मंगलके प्रयोजनोंमें नास्तिकतापरिहारका खास तौरसे उल्लेख किया जिससे अन्य लोगोंको ईश्वरके न माननेके कारण ही जैनियोंमें नास्तिकताका भ्रम न रहे। यह तो जैनाचार्योंने ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वका प्रबल खंडन कर स्पष्ट कर दिया कि हम लोग ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते किन्तु उसे विशुद्ध परिपूर्ण ज्ञानादिरूप स्वीकार करते हैं। अनगारधर्मामृतकी टीकामें मंगलके यावत् प्रयोजनोंका संग्रह करनेवाला निम्नलिखित श्लोक है—

"नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्॥"

इसमें नास्तिकत्वपरिहार, शिष्टाचारपरिपालन, पुण्यावाप्ति और निर्विघ्न शास्त्रपरिसमाप्तिको मंगलका प्रयोजन बताया है।

प्रकृतमें आ० गुणधर तथा यतिवृषभने कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रके आदिमें मंगल नहीं किया है। इसके विषयमें वीरसेनस्वामी लिखते हैं[1] कि—यह ठीक है कि मंगल विघ्नोपशमनके लिए किया जाता है परन्तु परमागमके उपयोगसे ही जब विघ्नोपशान्ति हो जाती है तब उसके लिए मंगल करनेकी ही कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि परमागमका उपयोग विशुद्धकारण, विशुद्धकार्य तथा विशुद्धस्वरूप होनेसे कर्मनिर्जराका कारण है अतः विघ्नकर कर्मोंकी निर्जरा मंगलके बिना भी इस विशुद्ध परमागमके उपयोगसे ही हो जाती है और इसी तरह विघ्न भी उपशान्त हो जाते हैं। अतः शुद्धनयकी दृष्टिसे विशुद्ध उपयोगके प्रयोजक कार्योंमें मंगल करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने शब्दानुसारी तथा प्रमाणानुसारी शिष्योंमें देवताविषयक भक्ति उत्पन्न करनेको भी मंगलका प्रयोजन नहीं माना है। इस तरह वीरसेन स्वामीने मंगलके अनेक प्रयोजनोंमें विघ्नोपशमको ही मंगलका खास प्रयोजन माना है और उसमें उन्होंने गौतमस्वामी और गुणधर भट्टारकके अभिप्राय इस प्रकार दिए हैं—

(१) दोनोंके ही मतमें निश्चयनयसे परमागम उपयोग जैसे विशुद्ध कार्योंमें पृथक् मंगल करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये कार्य कर्मोंकी निर्जराके कारण होनेसे स्वयं मंगलरूप हैं।

(२) गौतमस्वामी व्यवहारनयसे व्यवहारी जीवोंकी प्रवृत्तिको सुचारु रूपसे चलानेके लिए सोना खाना जाना शास्त्र रचना आदि सभी क्रियाओंके आदिमें मंगल करनेकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं।

(३) पर, गुणधर भट्टारकका यह अभिप्राय है कि जो क्रियाएँ स्वयं मंगलरूप नहीं हैं उनके आदिमें मंगल फलकी प्राप्तिके लिए व्यवहारनयसे मंगल करना ही चाहिए, परन्तु जो शास्त्रप्रारम्भ आदि मांगलिक क्रियाएँ स्वयं मंगलरूप हैं और जिनमें मंगलका फल अवश्य ही प्राप्त होनेवाला है उनमें व्यवहारनयकी दृष्टिसे भी मंगल करनेकी कोई खास आवश्यकता नहीं है। अतः गुणधर भट्टारक तथा यतिवृषभ आचार्यने विशुद्धोपयोगके प्रयोजक इन परमागमोंके आदिमें निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे मंगल करनेकी कोई खास आवश्यकता नहीं समझी है और इसीलिए इनके आदिमें मंगल निबद्ध नहीं है।

---

(१) जयधवला० पृ० ५-९।

४. ज्ञानका स्वरूप–

ज्ञान गुण या धर्म है इस विषयमें प्रायः सभी दार्शनिक एकमत हैं। भूतचैतन्यवादी चार्वाक ज्ञानको स्थूल भूतोंका धर्म न मानकर सूक्ष्म भूतोंका धर्म मानता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य या ज्ञान दृश्य पदार्थका धर्म न होकर किसी अदृश्य पदार्थका धर्म है। आत्मवादी दर्शनोंमें इस विषयमें भी मतभेद है कि ज्ञानका आश्रय आत्मा माना जाय या अन्य कोई तत्त्व। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मवादी दर्शनोंमें चैतन्य और ज्ञानके भेदाभेदविषयक मतभेद भी मौजूद हैं। सांख्य चैतन्यको पुरुषका धर्म मानता है और ज्ञानको प्रकृतिका धर्म। पुरुषगत चैतन्य बाह्यविषयोंको नहीं जानता। बाह्यविषयोंका जाननेवाला बुद्धितत्त्व प्रकृतिका एक विकार है। इस बुद्धिको महत्तत्त्व भी कहते हैं। यह बुद्धि उभयतः प्रतिबिम्बी दर्पणके समान है, अतः इसमें एक ओर तो पुरुषगत चैतन्य प्रतिफलित होता है और दूसरी ओर पदार्थोंके आकार। इसीलिए इस बुद्धिरूपी माध्यमके द्वारा पुरुषको 'मैं रूपको देखता हूँ' आदि बाह्य पदार्थज्ञानविषयक मिथ्या अहं भान होने लगता है। इस तरह सांख्य विषयपरिच्छेदशून्य चैतन्यको पुरुषका धर्म मानता है तथा विषयपरिच्छेदक ज्ञानको प्रकृतिका धर्म।

न्याय-वैशेषिकोंने[1] पहिलेसे ही सांख्यके इस बुद्धि और चैतन्यके भेदको नहीं माना है। इन्होंने बुद्धि और चैतन्यको पर्यायवाची माना है। इस तरह न्याय-वैशेषिक चैतन्य और ज्ञानको पर्यायवाची मानकर उसे आत्माका गुण मानते तो अवश्य हैं पर वे उसे आत्माका स्वभावभूत धर्म नहीं मानते। वे उसे आत्ममनःसंयोग इन्द्रियमनःसंयोग, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला कहते हैं। जब मुक्त अवस्थामें मन इन्द्रिय आदिका सम्बन्ध नहीं रहता तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, उसकी धारा उच्छिन्न हो जाती है। उस अवस्थामें आत्मा स्वरूपमात्रमें प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके बुद्धि सुख दुःख आदि संयोगज विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें आत्मा स्वभावसे ज्ञानशून्य अर्थात् जड़ है। पर इन्द्रिय आदि बाह्य निमित्तोंसे उसमें औपाधिक ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। इस ज्ञानका आश्रय बाह्य जड़ पदार्थ न होकर आत्मा होता है। एक बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि ये यद्यपि सभी आत्माओंको स्वरूपतः जड़ मानते हैं पर ईश्वर नामकी एक आत्माको नित्यज्ञानवाली भी स्वीकार करते हैं। ईश्वरमें स्वरूपतः अनाद्यनन्त ज्ञानकी सत्ता इन्हें इष्ट है।

वेदान्ती ज्ञान और चितिशक्ति दोनोंको जुदा जुदा मानकर चैतन्यको ब्रह्मगत तथा ज्ञानको अन्तःकारणनिष्ठ मानते हैं। इनके मतमें भी ज्ञान औपाधिक है और शुद्ध ब्रह्ममें उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

मीमांसक (भाट्ट) ज्ञानको आत्मगत धर्म मानते हैं। ज्ञान और आत्मामें इन्हें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध इष्ट है।

बौद्ध परम्परामें ज्ञान नाम या चित्तरूप है। मुक्त अवस्थामें यदि निरास्रवचित्तसन्तति अविशिष्ट भी रह जाय तो भी उसमें विषयपरिच्छेदक ज्ञानकी सत्ता नहीं रहती।

जैन परम्परामें इस विषयमें सभी लोगोंकी एक मति है कि ज्ञान आत्मगत स्वभाव या गुण है। और वह मुक्त अवस्थामें अपनी स्वाभाविक पूर्णदशामें बना रहता है।

जैन परम्पराके दोनों सम्प्रदायोंमें ज्ञानके मति श्रुत आदि पाँच भेद निर्विवाद प्रचलित हैं।

(१) देखो–न्यायसू० १।१।१५। प्रश० भा० पृ० १७१।

इन भेदोंकी उत्पत्तिके विषयमें दिगम्बर परम्परामें वीरसेन स्वामीने[1] एक नया ही प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि जीवमें मूलतः एक केवलज्ञान है, इसे सामान्यज्ञान भी कहते हैं। इसी ज्ञान सामान्यके आवरणभेदसे मतिज्ञान आदि पाँच भेद हो जाते हैं।

ज्ञानके भेद

यद्यपि सर्वघाती केवलज्ञानावरण केवलज्ञान या ज्ञानसामान्यको पूरी तरह आवरण करता है फिर भी उससे रूपी द्रव्योंको जानने वाली कुछ ज्ञान किरणें निकलती हैं। इन्हीं ज्ञान किरणोंके ऊपर शेष मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि चार आवरण कार्य करते हैं। और इनके क्षयोपशमके अनुसार हीनाधिक ज्ञानज्योति प्रकट होती रहती है। जिस तरह क्षारद्रव्यसे अग्निको पूरी तरह ढक देने पर उससे भाफ निकलती रहती है उसी तरह केवलज्ञानावरणसे पूरी तरह आवृत होनेवाले ज्ञानसामान्यकी कुछ मन्द किरणें आभा मारती रहती हैं। इनमें जो ज्ञानकिरणें इन्द्रियादिकी सहायताके विना ही आत्ममात्रसे परके मनोविचारोंको जाननेमें समर्थ होती हैं वे मनःपर्यय तथा जो रूपी पदार्थोंको जानती हैं वे अवधिज्ञान कहलाती हैं। और जो ज्ञानकिरणें इन्द्रियादि सापेक्ष हो पदार्थज्ञान करती हैं वे मति श्रुत कहलाती हैं। जब केवलज्ञानावरण हट जाता है और पूर्ण ज्ञानज्योति प्रकट हो जाती है तब इन ज्ञानोंकी सत्ता नहीं रहती। आज कल हम लोगोंको जो मनःपर्ययज्ञान या अवधिज्ञान नहीं है उसका कारण तदावरण कर्मोंका उदय है। इस तरह ज्ञानसामान्य पर दुहरे आवरण पड़े हैं। फिर भी ज्ञानका एक अंश, जिसे पर्यायज्ञान कहते हैं, सदा[2] अनावृत रहता है। यदि यह ज्ञान भी आवृत हो जाय तो जीव अजीव ही हो जायगा। यद्यपि शास्त्रोंमें पर्यायज्ञानावरण नामके ज्ञानावरणका उल्लेख है। परन्तु यह आवरण पर्यायज्ञान पर अपना असर न डालकर तदनन्तरवर्ती पर्यायसमासज्ञान पर असर डालता है।

नन्दीसूत्र (४२) में बताया है कि जिस प्रकार सघन मेघोंसे आच्छन्न होने पर भी सूर्य और चन्द्रकी प्रभा कुछ न कुछ आती ही रहती है। कितने भी मेघ आकाशमें क्यों न छा जाँय पर दिन और रात्रिका विभाग तथा रात्रिमें शुक्ल और कृष्ण पक्षका विभाग बराबर बना ही रहता है उसी तरह ज्ञानावरण कर्मसे ज्ञानका अच्छी तरह आवरण होने पर भी ज्ञानकी प्रभा अपने प्रकाशस्वभावके कारण बराबर प्रकट होती रहती है। और इसी मन्दप्रभाके मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार भेद योग्यता और आवरणके कारण हो जाते हैं। मेघोंसे आवृत होने पर सूर्यकी जो धुंधली किरणें बाहिर आती हैं उनमें भी चटाई आदि आवरणोंसे जैसे अनेक छोटे बड़े खंड हो जाते हैं उसीतरह मत्यावरण श्रुतावरण आदि अवान्तर आवरणोंसे वे केवलज्ञानावरणावृत ज्ञानको मन्द किरणें मतिज्ञान आदि चार विभागोंमें विभाजित हो जाती हैं। केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग, जो अक्षरके अनन्तवें भागके नामसे प्रसिद्ध है सदा अनावृत रहता है। यदि यह भाग भी कर्मसे आवृत हो जाय तो जीव अजीव ही हो जायगा। उ० यशोविजयने ज्ञानबिन्दु (पृ० १) में केवलज्ञानावरणके दो कार्य बताए हैं। जिस प्रकार केवलज्ञानावरण पूर्णज्ञानका आवरण करता है उसी तरह वह मन्दज्ञानको उत्पन्न भी करता है। यही कारण है कि केवली अवस्थामें मतिज्ञानावरण आदिका क्षय होने पर भी मतिज्ञानादिकी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि मतिज्ञानादि रूपसे विभाजित होनेवाले मन्द ज्ञानको उत्पन्न करनेमें तो केवलज्ञानावरण कार्य करता है जबकि उसके मतिज्ञानादि विभाग एवं[3] अवान्तर तारतम्यमें मतिज्ञानावरण आदि चार अवान्तर आवरण कार्य करते हैं। चूँकि ये मतिज्ञानावरण आदि केवल-

(१) जयधवला पृ० ४४। धवला आ० पृ० ८६६। (२) "पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्मि।" —गो० जीव० गा० ३१९। (३) पंचम कर्मग्रन्थ टी० पृ० १२।

ज्ञानावरणसे आवृत अवस्थामें भी प्रकट होनेवाले ज्ञानदेशका घात करते हैं इसीलिए इनकी देशघाती संज्ञा है और ज्ञानके प्रचुर अंशोंको घातनेके कारण केवलज्ञानावरण सर्वघाती कहलाता है।

इस तरह जीवके ज्ञानसामान्य गुणपर प्रथम ही केवलज्ञानावरण पड़ा हुआ है और उससे निकलने वाली मन्दज्ञानकिरणोंपर मतिज्ञानावरणादि चार आवरण कार्य करते हैं। संसारी जीवोंके मतिज्ञान आदिके विषयभूत पदार्थोंका जो अज्ञान रहता है उसमें मतिज्ञानावरणादिका उदय हेतु है तथा मतिज्ञानादिके अविषय शेष अनन्त अतीन्द्रिय पदार्थोंके अज्ञानमें केवलज्ञानावरणका उदय निमित्त होता है। अतः जैन परम्परामें ज्ञान आत्माका गुण है और आवरण कर्मके कारण उसके पांच भेद हो जाते हैं। इसी अभिप्रायसे वीरसेन स्वामीने (जयध० पृ० ४४, धव० प० ८६६) में मतिज्ञानादिको केवलज्ञानका अवयव लिखा है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि परिपूर्णज्ञान केवलज्ञान है और मतिज्ञानादि उसी ज्ञानकी मन्दकिरणें होनेसे अवयवरूप हैं।

श्रुतज्ञानका सामान्य लक्षण यद्यपि शब्दजनित अर्थज्ञान या अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान है फिर भी श्रुत शब्द द्वादशांग आगमोंमें रूढ़ है। भ० महावीर अर्थके उपदेष्टा हैं और गणधरदेव उन्हीं अर्थोंको द्वादशांग रूपसे गूंथते हैं। इनमें बारहवें दृष्टिवाद अंगके उत्पाद पूर्व आदि १४ पूर्व होते हैं। दिगम्बर परम्पराके अनुसार भगवान् महावीरके निर्वाणके ६८३ वर्ष तक अंग और पूर्वोंकी परम्परा कालक्रमसे चली आई और अन्ततः अंग और पूर्वोंके एकदेशधारी ही आचार्य रहे, समग्र अंग पूर्वके पाठियोंका अभाव कालक्रमसे हो गया।

श्रुतज्ञान

श्वेताम्बरपरम्परामें आर्य वज्रस्वामी अन्तिम दशपूर्वके धारी थे। उसके बाद पूर्वज्ञान लुप्त हो गया पर अंग ज्ञान चालू रहा। जिस प्रकार बुद्धके निर्वाणके ६ माह बाद ही मुख्य मुख्य भिक्षु स्थविरोंकी प्रथम संगीति हुई और इसमें सर्वप्रथम त्रिपिटिकोंका संगायन हुआ और त्रिपिटिकका यथासंभव व्यवस्थित संकलन किया गया। इसके सिवाय बादमें भी और दो संगीतियाँ हुईं जिनमें त्रिपिटिकके पाठोंकी व्यवस्था हुई उसी तरह श्वेताम्बर परम्परा के उल्लेखानुसार सर्वप्रथम वीरनिर्वाणसे दूसरी शताब्दीमें श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय पाटलिपुत्र परिषद् हुई। इसमें भद्रबाहुके सिवाय प्रायः सभी स्थविर एकत्र हुए। इन्होंने कण्ठपरम्परासे आए हुए ग्यारह अंगोंकी वाचना करके उन्हें व्यवस्थित किया। इस समय बारहवाँ अंग दृष्टिवाद करीब करीब विच्छिन्न हो गया था। मात्र भद्रबाहु श्रुतकेवली ही इस समय चतुर्दशपूर्वधर थे। इनके पास स्थूलभद्र पूर्वज्ञान लेने गए। भद्रबाहुने दश पूर्व सार्थ तथा चार पूर्व मूलमात्र स्थूलभद्रको सिखाए। स्थूलभद्र वीरसंवत् २१९ में स्वर्गस्थ हुए थे। ये अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर थे। इस तरह वीरनिर्वाणकी दूसरी सदीसे ही श्रुत छिन्न भिन्न होने लगा था। खासकर दृष्टिवाद अंग तो अत्यन्त गहन होनेके कारण छिन्नप्राय हो चुका था। इसके बाद वीरनिर्वाणकी आठवीं सदीमें आर्यस्कन्दिल आदि स्थविरोंने माथुरी वाचना की।

इसके बाद वीरनिर्वाणसे दशवीं सदी (वीर सं० ९८०) में देवर्धिगणिक्षमाश्रमणने[2] वलभीपुरमें संघ एकत्रित करके जिन स्थविरोंको जो जो त्रुटित या अत्रुटित आगम याद थे उन्हें अपनी बुद्धिके अनुसार संकलन कर पुस्तकारूढ किया। सूत्रोंमें उस समयकी पद्धतिके अनुसार एक ही प्रकारके आलापक (सदृश पाठ) बार बार आते थे उन्हें एक जगह ही लिखकर अन्यत्र 'वण्णओ' के द्वारा संक्षिप्त किया। इस तरह आज जो अंग साहित्य उपलब्ध है वह देवर्धिगणि-

(१) महापरिनिब्बाणसुत्त। (२) जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ३६।

क्षमाश्रमण द्वारा संकलित एवं पुस्तकारूढ़ किया हुआ है। उसमें अनेक स्थलोंमें न्यूनाधिकता संभव है। पहिले की वाचनाओंके पाठभेद भी आजके आगमोंमें पाए जाते हैं। इस तरह अंग साहित्य तो किसी तरह देवर्धिगणिके महान् प्रयासके फलस्वरूप अपने वर्तमानरूपमें उपलब्ध भी होता है पर पूर्वसाहित्यका कुछ भी पता नहीं है। विशेषावश्यकभाष्य आदिमें कुछ गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं जिन्हें वहाँ पूर्वगत कहा गया है।

दिगम्बर परम्परानुसार गौतम[1] गणधरने सर्वप्रथम अन्तर्मुहूर्त कालमें ही द्वादशांगकी रचना की थी और फिर सुधर्मास्वामीको उसे सौंपा था। जब कि श्वेताम्बर परम्परामें द्वादशांग-ग्रथन जैसा महत्त्वका कार्य गौतमने न करके सुधर्मास्वामीने किया है। दि० जैन कथाग्रन्थोंमें श्रेणिकके प्रश्न पर गौतमस्वामी उत्तर देते हैं जब कि श्वे० परम्परामें यह सब साहित्यिक कार्य सुधर्मास्वामी करते रहे हैं इन्हीने ही सर्वप्रथम द्वादशांगकी रचना की थी।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि दि० परम्पराके उपलब्ध प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थ कषायपाहुड तथा षट्खंडागम जिन मूल कषायपाहुड और महाकर्मप्रकृतिपाहुडसे निकले हैं, वे दृष्टिवादके ही एक एक भाग थे और आ० गुणधर तथा पुष्पदन्त भूतबलिको उनका ज्ञान था। इस तरह आ० गुणधर तक परम्परासे आए हुए पूर्वसाहित्यके संकलनका प्रयत्न श्वे० परम्परामें प्रायः नहीं हुआ जब कि दि० परम्परामें उन्हींको संक्षिप्त करके ग्रन्थरचना करनेकी परम्परा है। श्वे० परम्परामें जो कर्मसाहित्य है, यद्यपि उसका उद्गम अग्रायणीय पूर्वसे बताया जाता है पर उनके रचयिता कार्मग्रंथिक आचार्योंको उस पूर्वका सीधा ज्ञान था या नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख देखनेमें नहीं आया।

दृष्टिवादके विषयमें श्वेताम्बर परम्परामें जो अनेक कल्पनाएं रूढ़ हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे दृष्टिवादसे पूर्ण परिचित न थे। यथा–प्रभावकचरित्र (श्लो० ११४) में लिखा है कि चौदह ही पूर्व संस्कृतभाषानिबद्ध थे, वे कालवश व्युच्छिन्न हो गए। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (विशेषा० गा० ५५१) तो भूतवाद अर्थात् दृष्टिवादमें समस्त वाङ्मयका समावेश मानते हैं। ग्यारह अंगोंकी रचनाको तो वे मन्दबुद्धिजन एवं स्त्री आदिके अनुग्रहके लिए बताते हैं। इस तरह भ० महावीरके द्वारा अर्थतः उपदिष्ट और गणधर द्वारा द्वादशांगरूपसे गूंथा गया श्रुत कालक्रमसे विच्छिन्न होता गया। श्वेताम्बर परम्परामें बौद्धोंकी भांति वाचनाएँ की गई। दिगम्बरपरम्परामें ऐसा कोई प्रयत्न हुआ या नहीं इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, जो प्राचीनश्रुत श्रुतानुश्रुतपरिपाटीसे चला आता था उसके आधारसे बहुमूल्य विविध विषयक साहित्य रचा गया है।

द्वादशांगके पदोंकी संख्याका दिगम्बर परम्परामें सर्वप्रथम कुन्दकुन्दकृत प्राकृतश्रुतभक्तिमें उल्लेख मिलता है। उसमें सर्वप्रथम आचारांगके १८ हजार पद बताए हैं। श्वे० परम्परामें नन्दीसूत्रमें आचारांगके १८ हजार तथा आगेके अंगोंके दूने दूने पदोंका निर्देश किया गया है। दिगम्बर परम्परामें यह गिनती मध्यमपदसे बताई गई है। एक मध्यमपद १६३४८३०७८८८ अक्षर प्रमाण बताया है। श्वेताम्बर परम्परामें यद्यपि टीकाकारोंने पदका लक्षण अर्थबोधक शब्द या विभक्त्यन्त शब्द किया है पर मलयगिरि आचार्य जिस पदसे अंगग्रन्थोंकी संख्या गिनी जाती है उस पदका प्रमाण बतानेमें अपनेको असमर्थ बताते हैं। वे कर्मग्रन्थटीका (१७) में लिखते हैं कि–

"पदं तु 'अर्थपरिसमाप्तिः पदम्' इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित् पदेन अष्टादशपदसहस्रादि-

(१) "भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं। चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमसुत्तेण विरचणा विहिदो॥"–श्रु० भ० गा० ७९।

प्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात् । तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते ।"

इस तरह श्वे० टीकाकार ऐसी आम्नायसे अपरिचित मालूम होते हैं[1] जिसमें कि अंग ग्रन्थोंके मापमें प्रयोजक पदके अक्षरोंका परिमाण बताया गया है। दि० ग्रन्थोंमें वैसी आम्नाय पहिलेसे देखी जाती है। सकलश्रुतकी अक्षरसंख्या निकालनेका जो प्रकार दिगम्बर परम्परामें है कि- प्रत्येक अक्षर ६४, और इनके एकसंयोगी आदि चौंसठ संयोगी जितने अक्षर हो सकें उतने ही श्रुतके सकल अक्षर होते हैं वैसा ही प्रकार श्रुतज्ञानके समस्त भेदोंके निकालनेका श्वे० परम्परामें भी आवश्यकनिर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा (१७) से सूचित होता है।

"पत्तेयमक्खराइं अक्खरसंजोगजत्तिया लोए ।
एवइया सुयनाणे पयडीओ होंति नायव्वा ॥"

ज्ञानकी उस परिपूर्ण निरावरण अवस्थाको केवल ज्ञान कहते हैं जिसमें यावज्ज्ञेय प्रतिविम्बित होते रहते हैं। भारतीय परम्पराओंमें केवल ज्ञान या सर्वविषयक ज्ञानके विषयमें अनेक मतभेद पाए जाते हैं। चार्वाक और मीमांसकको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनोंमें किसी न किसी रूपमें

केवलज्ञान

केवलज्ञान या सर्वविषयकज्ञान माना गया है। चार्वाक और मीमांसकोंके भी केवलज्ञान के निषेध करनेके जुदे जुदे दृष्टिकोण हैं। चार्वाक अतीन्द्रिय पदार्थ विषयक ज्ञान ही नहीं मानता है। उसका तो एकमात्र प्रत्यक्षप्रमाण इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है जो दृश्यजगतमें ही सीमित रहता है। मीमांसक अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान मानता तो है[2] पर ऐसा ज्ञान वह वेदके द्वारा ही मानता है साक्षात् अनुभवके रूपमें नहीं। शवरऋषि शाबरभाष्य (१।१।५) में स्पष्ट शब्दोंमें वेदके द्वारा अतीन्द्रियपदार्थविषयक ज्ञान स्वीकार करते हैं। मीमांसकको सर्व विषयक-[3] ज्ञानमें भी विवाद नहीं है। उसे अतीन्द्रियपदार्थोंका वेदके द्वारा तथा अन्य पदार्थोंका यथासंभव प्रत्यक्षादिप्रमाणों द्वारा परिज्ञान मानकर किसी भी पुरुषविशेषमें सर्वविषयकज्ञान माननेमें कोई विरोध नहीं। उसका विरोध तो धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको साक्षात् प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा जाननेमें है। क्योंकि वह धर्मके विषयमें किसी भी पुरुषके प्रत्यक्षज्ञानका हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकता। यही एक ऐसा विषय है जिसमें वेदका निर्बाध अधिकार है। अतः सर्वज्ञविरोधी चार्वाक और मीमांसकोंके दृष्टिकोणोंका आधार ही मूलतः भिन्न है।

न्यायवैशेषिक परम्परामें योगिज्ञान स्वीकार तो किया है पर वह प्रत्येक मोक्ष जानेवाले व्यक्तिको अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। इनके यहाँ योगी दो प्रकारके हैं—युक्तयोगी २ युञ्जानयोगी। युक्तयोगीको अपने ज्ञानबलसे वस्तुओंका सर्वदा भान होता रहता है जब कि युञ्जानयोगियोंको

(१) मुनि श्री कल्याणविजयजीने श्रमणभगवान् महावीर (पृ० ३३४-३३५) में दिगम्बराचार्य प्ररूपित पदपरिभाषाको एकदम अलौकिक निरी कल्पना तथा मनगढ़न्त बताया है। उन्हें आ० मलयगिरिके इस उल्लेखको ध्यानसे देखना चाहिए। वे निर्युक्तिकी "पत्तेयमक्खराइं" आदि गाथाकी ओर भी दृष्टिपात करें। उन्हें इनसे ज्ञात हो सकेगा कि क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराके आचार्योंका श्रुतज्ञानकी पदसंख्या और पदपरिभाषाके विषयमें प्रायः समान मत है। हाँ, श्वे० टीकाकार उस परम्परासे अपने को अपरिचित बताते हैं जब कि दिगम्बराचार्य उसका निर्देश करते हैं। क्या उनका उस प्राचीन परम्परासे परिचित होना ही निरी कल्पनाकी कोटिमें आता है ?

(२) "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् ।" (३) "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते"–मी० श्लो० चो० श्लो० १११।

विचार करने पर ही वस्तुओंका प्रतिभास होता है। इस तरह यह सर्वविषयकज्ञान जीवन्मुक्त-दशामें जिस किसी व्यक्तिको होता भी है तो वह मुक्त अवस्थामें नहीं रहता। क्योंकि इनके मतमें ज्ञान आत्ममनःसंयोगज गुण है। जब मुक्त अवस्थामें मनःसंयोग नहीं रहता, शुद्ध आत्मा ही रहता है तब यावज्ज्ञानादि गुणोंका उच्छेद हो जाता है और इसीलिए सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है। एक बात विशेष है कि—ये ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञत्व मानते हैं। ईश्वरकी सर्वज्ञता अनादि अनन्त है।

सांख्ययोगपरम्परा—योगशास्त्रमें ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञत्व मानकर भी अस्मदादिजनोंमें जो सर्वविषयक तारक विवेकजज्ञान माना है वह जन्य होनेके साथ ही साथ मुक्त अवस्थामें समाप्त हो जाता है। क्योंकि इनके मतमें इस ज्ञानका आधार शुद्ध सत्त्व गुण है। जब प्रकृति-पुरुषविवेक ज्ञानसे पुरुष मुक्त हो जाता है तब प्रकृतिके सत्त्वगुणका पर्याय विवेकजज्ञान भी नष्ट हो जाता है और पुरुष मुक्त अवस्थामें चैतन्यमात्रमें अवस्थित रह जाता है। इस तरह इस परम्परामें भी सर्वज्ञता एक योगजविभूति है, जो हरएकको अवश्य ही प्राप्त हो या इसके पाये विना मुक्ति न हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

वेदान्ती भी सर्वज्ञता अन्तःकरणनिष्ठ मानते हैं जो जीवन्मुक्तदशा तक रहकर मुक्त अवस्थामें छूट जाती है। उस समय ब्रह्मका शुद्ध सच्चिदानन्दरूप प्रकट हो जाता है।

बुद्धने स्वयं अपनी सर्वज्ञतापर भार नहीं दिया। उन्होंने अनेक अतीन्द्रिय पदार्थोंको अव्याकृत कहकर उनके विषयमें मौन ही रखा। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थका भी साक्षात्कार या अनुभव हो सकता है उसके लिए किसी धर्मपुस्तककी शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपनेको कभी सर्वज्ञ भी कहा है तो धर्मज्ञके अर्थमें ही। उनका तो स्पष्ट उपदेश था कि मैंने तृष्णाक्षयके मार्गका साक्षात्कार किया है उसे बताता हूँ। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति भी बुद्धमें मार्गज्ञता ही सिद्ध करते हैं वे असली अर्थमें सर्वज्ञताको निरुपयोगी बताते हैं। प्रमाणवार्तिकमें "कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते" अर्थात् मोक्षमार्गमें जिनका उपयोग नहीं ऐसे जगत्के कीड़े मकोड़ोंकी संख्याको जाननेसे क्या फायदा? परन्तु बौद्धमतमें जो भावनाप्रकर्षसे योगिज्ञानकी[1] उत्पत्ति मानी गई है तथा ज्ञेयावरणका समूल-विनाश होनेसे प्रभास्वरज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन[2] मिलता है। इससे इतना सार निकल आता है कि बौद्धोंको सर्वज्ञता इष्ट तो है पर वे उसे मोक्षमार्गमें निरुपयोगी मानते हैं। बौद्ध परम्परामें सर्वज्ञताके अर्थमें उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। धर्मकीर्तिके समयतक उसका अर्थ धर्मज्ञता ही रहा[3] है शान्तरक्षित बुद्धमें धर्मज्ञताके साथ ही साथ अन्य अशेषार्थविषयक ज्ञानको साधते हुए लिखते हैं कि—"हम मुख्यरूपसे बुद्धको मार्गज्ञ ही सिद्ध कर रहे हैं उनमें अशेषार्थपरिज्ञान तो प्रासङ्गिक ही सिद्ध किया जा रहा है क्योंकि भगवानके ज्ञानको अन्य अशेषार्थोंमें प्रवृत्त मान लेनेमें कोई बाधा नहीं है। इस तरह हम बुद्धमें सर्वज्ञत्वसिद्धि देखकर भी वस्तुतः इस परम्पराका विशेष लक्ष्य मार्गज्ञत्वकी ओर ही रहा है यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

जैन परम्परामें आरम्भसे ही त्रिकालत्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंका युगपत् साक्षात् परिज्ञान' इस अर्थमें सर्वज्ञता मानी गई तथा साधी गई है।

आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (गा० १।४७) में केवलज्ञान को त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों-का युगपत् जाननेवाला बताया है। वे आगे (गा० १।४७,४८) 'जो एक को जानता है वह सब

(१) न्यायबिन्दु पृ० २०। (२) तत्त्वसं० का० ३३३९। (३) तत्त्वसं० का० ३३०९।

को जानता है' इस परम्पराका, जिसकी झलक "य आत्मवित् स सर्ववित्" इत्यादि उपनिषदोंमें भी पाई जाती है, व्याख्यान करते हुए लिखते हैं कि—जो त्रिकाल त्रिलोकवर्ती पदार्थोंको नहीं जानता वह पूरीतरह एकद्रव्य को नहीं जानता, और जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जान सकता है ? जैसे घटज्ञानमें घटको जाननेकी शक्ति है। जो मनुष्य घट को जानता है वह अपने घटज्ञानके द्वारा घट पदार्थको जाननेके साथ ही साथ घटको जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानके स्वरूपको भी 'घटज्ञानवानहम्' इस सहव्यवसायसे जानता है। इसीतरह जो व्यक्ति घट जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूप परिच्छेद करता है वह घट को तो अर्थात् ही जान लेता है क्योंकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने विना हो ही नहीं सकता। इसीप्रकार आत्मामें संसारके अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति है। अतः जो संसारके अनन्त ज्ञेयोंको जानता है वह अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्तिके आधारभूत आत्मा या पूर्ण ज्ञान को भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जानता है। और जो अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी अनन्त शक्ति रखनेवाले आत्मा या पूर्णज्ञानके स्वरूपको यथावत् विश्लेषण पूर्वक जानता है वह उन शक्तियोंके उपयोगस्थानभूत अनन्त पदार्थोंको भी जान ही लेता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बाक्रान्त दर्पण को जानता है वह घट को भी जानता है तथा जो घट को जानता है वही दर्पणमें आए हुए घटप्रतिबिम्बका विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है।

जैन तर्कग्रन्थोंमें यह बताया है कि प्रत्येकपदार्थ स्वरूपसे सत् है स्वेतर पररूपोंसे असत् है। अर्थात् प्रत्येकपदार्थमें जिसप्रकार स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व है उसी तरह स्वसे भिन्न अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा नास्तित्व भी है। अतः किसी भी एक पदार्थके पूरे विश्लेषण पूर्वक यथावत् परिज्ञानके लिए जिसप्रकार उसके स्वरूपास्तित्वका परिज्ञान आवश्यक है उसी-तरह उस पदार्थमें रहनेवाले अनन्त पररूपोंके नास्तित्वोंके ज्ञानमें प्रतियोगिरूपसे अनन्त पररूपोंका ज्ञान भी अपेक्षित हो जाता है। इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि विवक्षित एक पदार्थका यथावत् पूर्णज्ञान संसारके अनन्त पदार्थोंके ज्ञानका अविनाभावी है जिसप्रकार कि संसारके अनन्त पदार्थोंका ज्ञान उस विवक्षित पदार्थके ज्ञानका अविनाभावी है।

इस तरह हम जैन परम्परामें प्रारम्भसे ही मुख्य अर्थमें सर्वज्ञता का समर्थन पाते हैं। उसमें न तो बौद्ध परम्पराकी तरह धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विश्लेषण ही किया है और न योगादि परम्पराओंकी तरह उसे विभूतिके रूपमें ही माना है। क्योंकि मुख्य सर्वज्ञता मान लेने पर धर्मज्ञता तो उसीके अन्तर्गत सिद्ध हो जाती है। तथा ज्ञानको आत्माका निजी मूलस्वभाव मान लेनेसे उसका विकसितरूप सर्वज्ञता योगजविभूति न होकर स्वाभाविक पूर्णतारूप होती है। जो अनन्तकाल तक जीवन्मुक्त अवस्थाकी तरह मुक्त अवस्थामें भी बनी रहती है। यह अवश्य है कि जिसप्रकार क्रमिक क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें यह घट है, यह पट है, इत्यादि सखण्ड रूपसे

(१) श्वे० आचारांगसूत्र (सू० १२३) में "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" यह सूत्र है। तथा इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक प्रवचनसारकी जयसेनीय टीका (पृ० ६४)में तथा इससे भी पहिले तत्त्वोपप्लवसिंह (पृ० ७९) एवं न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकामें उद्धृत है—

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥"

इसका अभिप्राय है कि "जो एक को जानता है वह सब को जानता है तथा जो सब को जानता है वह एकको जानता है।

शाब्दिक विकल्प होते हैं उसप्रकारसे केवलीके ज्ञानमें विकल्प नहीं होते। उसके ज्ञानदर्पणमें संसारके यावत् पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। पदार्थोंके जो भी निजीरूप हैं वे उस ज्ञानमें झलके बिना नहीं रह सकते।

आ० कुन्दकुन्दने नियमसार की इस[1] गाथामें सर्वज्ञताके विषयमें अपना दृष्टिकोण नयोंकी दृष्टिसे बताया है।

> "जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात् केवली भगवान् व्यवहारनयसे संसारके सब पदार्थोंको जानते और देखते हैं, पर निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको जानता और देखता है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञानको परपदार्थोंका जाननेवाला और देखनेवाला कहना भी व्यवहार की मर्यादामें है निश्चयसे तो वह स्वस्वरूपनिमग्न रहता है। निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थताको सामने रखकर यदि विचार किया जाय तो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्णज्ञानका पर्यवसान आत्मज्ञानमें ही होता है। आ० कुन्दकुन्दका यह वर्णन वस्तुतः क्रान्तदर्शी है।

सर्वज्ञता सिद्ध करनेके लिए वीरसेनस्वामीने अन्य अनेक युक्तियोंके साथ ही यह महत्त्वपूर्ण श्लोक[2] उद्धृत किया है—

> "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि।
> दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धरि॥"

इस श्लोकमें सर्वज्ञताके आधारभूत वे दो मुद्दे बड़ी मार्मिक उपमासरणिसे बताए गए हैं जिनके ऊपर सर्वज्ञताका महाप्रासाद खड़ा होता है। पहिले तो यह कि आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे 'ज्ञ' है और दूसरा यह कि उसके प्रतिबन्धक कर्म हट जाते हैं। प्रतिबन्धक कर्मके नष्ट हो जानेपर ज्ञानस्वभाववाला आत्मा किसी भी ज्ञेयमें अज्ञ कैसे रह सकता है? अग्निमें जलानेकी शक्ति हो और प्रतिबन्धक हट गए हों तब वह दाह्यपदार्थोंको क्यों न जलायगी?

दूसरी महत्त्वपूर्ण युक्ति जो वीरसेनस्वामीने दी है, अभी तकके उपलब्ध जैनवाङ्मयमें अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आई। वह युक्ति है केवलज्ञानको स्वसंवेदनसिद्ध बताना। इन्होंने दार्शनिक विश्लेषणके साथ लिखा है कि– देखो, हम लोगोंको जिसतरह घट पट आदि अवयवी पदार्थोंका साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष उसके कुछ हिस्सोंको देखकर ही होता है। उसके सम्पूर्ण भीतर बाहरके अवयवोंका प्रत्यक्ष करना हम लोगोंको शक्य नहीं है। इसी तरह केवलज्ञानरूपी अवयवीका प्रत्यक्ष भी हम लोगोंको उसके कुछ मतिज्ञानादि अवयवोंके स्वसंवेदनप्रत्यक्षके द्वारा हो जाता है। केवलज्ञान अवयवी अपने मतिज्ञानादि अवयवोंके स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा हमारे सांव्यवहारिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय होता है। केवलज्ञान तथा मतिज्ञानादिमें अवयव-अवयविभावकी कल्पना करके उसे प्रत्यक्षसिद्ध बताना वीरसेनस्वामीकी बहुश्रुत प्रतिभाका ही कार्य है।

---

५ कवलाहारवाद–

'केवली कवलाहार करते हैं या नहीं' यह विषय आज जितने और जैसे विवादका बन गया है शायद दर्शनयुगके पहिले उतने विवादका नहीं रहा होगा। 'सयोग केवली तक जीव आहारी होते हैं' यह सिद्धान्त दि० श्वे० दोनों परम्पराओंको मान्य है क्योंकि—

(१) गा० १५८। (२) यह श्लोक योगबिन्दुमें कुछ पाठभेदसे मिलता है।

"विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा ॥"

यह आहारी और अनाहारी जीवोंका विभाग करनेवाली गाथा दोनों ही परम्पराओंमें प्रचलित है। जीवसमास (गा० ८२) और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें यह विद्यमान है तथा धवलाटीकामें उद्धृत है। जीवकांडमें भी यह गाथा दर्ज है। षट्खंडागम मूलसूत्र (पृ० ४०९) में "आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति" यह सूत्र है। इससे सामान्यतः इस विषयमें दोनों परम्पराएँ एकमत हैं कि केवली आहारी होते हैं। विवाद है उनके कवलाहारमें। वे हम लोगोंकी तरह ग्रास लेकर आहार करते हैं या नहीं ?

श्वे० समवायांग (सू० ३४) में "पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा" अर्थात् केवलीके आहार और नीहार चर्मचक्षुओंके अगोचर होते हैं यह वर्णन है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५५) में कवलाहारवादके पूर्वपक्षमें लिखा है कि केवली समवसरणके दूसरे परकोटेमें बने हुए देवच्छन्दक नामक स्थानमें गणधरदेव आदिके द्वारा लाए गए आहारको भूख लगने पर खाते हैं। केवलीके हाथमें दिया गया भोजनका ग्रास तो दिखाई देता है पर यह नहीं दिखाई देता कि वे कैसे भोजन करते हैं क्योंकि सर्वज्ञके आहार नीहार मनुष्य तिर्यञ्चोंके लिए अदृश्य होते हैं। स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरिने न्यायकुमुदचन्द्रके उक्त वर्णनको सिद्धान्तरूपसे माना है। (स्या० र० पृ० ४६९) इसके सिवाय सूत्रकृतांग (आहारपरिज्ञा तृतीयाध्ययन) भगवतीसूत्र (१।१) प्रज्ञापनासूत्र (आहार पद) कल्पसूत्र (सू० २२०) आदिमें केवलीको कवलाहारी सिद्ध करनेवाले सूत्र हैं। भगवतीसूत्र (२।१।९०) में भगवान् महावीरको 'वियडभोती' विशेषणसे 'नित्यभोजी' सूचित किया है। इस तरह श्वेताम्बर परम्परामें केवलीको कवलाहारी बराबर प्राचीन कालसे मानते आते हैं।

दिगम्बर परम्परामें हम केवलीके कवलाहार निषेधक वाक्य कुन्दकुन्दके बोधपाहुडमें पाते हैं।

"जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाणखेलसेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥"

इस गाथामें केवलीको आहार और नीहारसे रहित बताया है। आ० यतिवृषभ त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गा० ५९) में भगवान महावीरको क्षुधा आदि परीषहोंसे रहित लिखते हैं। आ० पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि २।४) में केवलीको कवलाहार क्रियासे रहित तो बताते ही हैं साथ ही साथ वे यह भी स्पष्ट लिखते हैं कि भगवानको लाभान्तरायके समूलक्षय हो जानेसे प्रति समय अनन्त शुभ पुद्गल आते रहते हैं इनसे भगवानके शरीरकी स्थिति जीवनपर्यन्त चलती है। यही उन्हें क्षायिक लाभ है। इस तरह दिगम्बर परम्परा कवलाहारित्वका निषेध भी प्राचीन कालसे ही करती चली आई है। आगमोंमें जो केवलीको आहारी कहा है, उसके विषयमें विचारणीय मुद्दा यह है कि केवली कौनसा आहार लेते थे। दिगम्बर परम्परामें आहार छह प्रकारका बताया गया है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ ॥"

अर्थात् नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओज आहार, और मन आहार ये छह प्रकारके आहार हैं। न्यायकुमुदचन्द्रमें[२] इनमेंसे केवलीके नोकर्माहार और कर्माहार ये दो आहार स्वीकार किए गए हैं। परन्तु धवलाटीकामें मात्र नोकर्माहार ही माना है। लब्धिसार (गा० ६१४) में धवलाप्रतिपादित मत ही है। ऊपर आहारके छह भेद बतानेवाली गाथा इसी

(१) देखो सन्मतितर्क टी० टि० पृ० ६१३-१४। (२) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८५६। (३) "अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः।"–षट्खंडा० टी० पृ० ४०९।

रूपमें यद्यपि आ० देवसेनकृत भावसंग्रह (गा० ११०) में पाई जाती है परन्तु आहारको षड्-विध माननेकी परम्परा प्राचीन है क्योंकि इसके पहिले आ० वीरसेनने भी धवला (पृ० ४०९) में छह आहारोंका उल्लेख किया है।

श्वेताम्बर परम्परामें आहारके ओज आहार, लोम आहार और प्रक्षेपाहार ये तीन ही भेद[1] उपलब्ध होते हैं। एकेन्द्रिय, देव और नारकियोंको छोड़कर बाकी सभी संसारी जीवोंके प्रक्षेपाहार होता है। प्रक्षेपाहार कवलाहार कहलाता है। इस तरह श्वेताम्बर परम्परामें कर्म-नोकर्मके ग्रहणको आहार संज्ञा ही नहीं दी है। सभी अपर्याप्तक जीवोंको इस परम्परामें ओज आहारी स्वीकार किया है।

श्वे० परम्परामें केवलीके शरीरको परमौदारिक न मानकर साधारण औदारिक ही माना है। इन्होंने केवलीको साधारण मानवकी तरह कवलाहारी मानकर भी, आश्चर्य तो यह है कि केवलीके आहार और नीहारको चर्मचक्षुओंके अगोचर माना है। जब केवलीके शरीरमें हम लोगोंके शरीरसे कोई वैशिष्ट्य नहीं है तब क्या कारण है कि केवलीके हाथमें दिया जाने वाला आहारपिंड तो दिख जाय पर केवली कैसे खाते हैं यह नहीं दिखे ? अस्तु।

ज्ञात होता है कि यापनीयसंघके आचार्योंने जो स्वयं नग्न रहकर भी श्वे० आगमोंको तथा केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्तिके सिद्धान्तको युक्तिसंगत मानते थे, जब केवलिभुक्ति जैसे दिगम्बरपरम्परा-विरोधी सिद्धान्तोंका समर्थन प्रारम्भ किया तो दिगम्बरोंने इसका तीव्रतासे प्रतिवाद भी किया। हम केवलिभुक्तिका स्वतन्त्रभावसे समर्थन शाकटायनके केवलिभुक्ति प्रकरणमें व्यवस्थित रीतिसे पाते हैं। इसके पहिले भी संभव है हरिभद्रसूरिने बोटिकनिषेध प्रकरणमें दिगम्बरोंका खंडन करते समय[2] कुछ लिखा हो, पर शाकटायनने तो[3] इन दो सिद्धांतोंके स्वतन्त्रभावसे समर्थन करने वाले दो प्रकरण ही लिखे हैं। मलयगिरि आचार्यने इन शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है, दिगम्बराचार्योंका केवलिभुक्ति जैसे विवादग्रस्त विषयोंपर श्वेताम्बरोंसे उतना विरोध नहीं था जितना इन नग्न यापनीयोंसे था। यही कारण है कि प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें यापनीय शाक-टायनके केवलिभुक्तिप्रकरणका आनुपूर्वीसे खण्डन है। श्वेताम्बर तर्क ग्रन्थोंमें सन्मतितर्क टीका और उत्तराध्ययन पाइयटीकामें केवलिभुक्तिका समर्थन प्रायः यापनीयोंकी दलीलोंके आधार पर ही किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिने स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत युक्तियोंकी भी समालोचना की है।

वीरसेन स्वामीने जयधवलामें कवलाहारका निषेध करते हुए वही मुख्य युक्तियाँ दी हैं जिनका उत्तर ग्रन्थोंमें भी सविस्तर वर्णन है। अर्थात् वेदनीयकर्म चार घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही अपना कार्य करता है अतः मात्र वेदनीयकर्मके उदय होनेसे ही केवलीको क्षुधा तृषाका दुःख नहीं माना जा सकता है और न उसके निवारणार्थ कवलाहारका प्रयास ही। ज्ञान, ध्यान और संयमकी सिद्धिके लिए भी केवलीको भोजन करना उचित नहीं है क्योंकि पूर्णज्ञान, सकल यथाख्यात-चारित्र तथा शुक्लध्यानकी प्राप्ति उन्हें हो ही चुकी है।

इस तरह भुक्तिके बाह्य आभ्यन्तर कारणोंका अभाव होनेसे केवली कवलाहारी नहीं होते। कवलाहारका सविस्तर खंडन न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८५२, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ३००–, रत्नकरण्ड टीका पृ० ५, प्रवचनसार जयसेनीय टीका पृ० २८, आदिमें देखना चाहिए।

(१) "भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे। ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा। पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा॥ एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो। सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं॥"–सूत्रकृ० नि० गा० १७०—१७३।

(२) देखो जैनसाहित्यसंशोधक खंड २ अंक ३-४। (३) नन्दीसूत्रटीका पृ० १५।

६ नय-निक्षेपादिविचार

यों तो एकन्दरस्वरूपसे भारतीय संस्कृतियोंका आधार गौण-मुख्यभावसे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों हैं पर जैनसंस्कृतिका मूल पाया मुख्यतः आचार पर आश्रित है। तत्त्वज्ञान तो उस आचारके उद्गमन संपोषण तथा उपबृंहणके लिए उपयोगी माना गया है। आचारकी प्राण-प्रतिष्ठा बाह्य क्रियाकाण्डमें नहीं है अपि तु उस उत्प्रेरणा बीजमें है जिसके बल पर वीतरागता अङ्कुरित पल्लवित और पुष्पित होकर मोक्षफलको देनेवाली होती है। अहिंसा ही एक ऐसा उत्प्रेरक बीज है जो तत्त्वज्ञानके वातावरणमें आत्माकी उन्नतिका साधक होता है। कायिक अहिंसाके स्वरूपके संरक्षणके लिए जिस प्रकार निवृत्ति या यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिके विविध रूपोंमें अनेक प्रकारके व्रत और चारित्र अपेक्षित हैं इसी तरह वाचिक और मानसिक अहिंसाके लिए तत्त्वज्ञान और वचन प्रयोगके उस विशिष्ट प्रकारकी आवश्यकता है जो वस्तुस्पर्शी होनेके साथ ही साथ अहिंसाकी दिशामें प्रवाहित होता हो।

वचन प्रयोगकी दिशा तो वक्ताके ज्ञानकी दिशा या विचारदृष्टिके अनुसार होती है। या यों कहिये कि वचन बहुत कुछ मानस विचारोंके प्रतिबिम्बक होते हैं। मनुष्य एक समाजिक प्राणी है। वह व्यक्तिगत कितना भी एकान्तसेवी या निवृत्तिमार्गी क्यों न हो उसे अन्ततः संघनिर्माणके समय तो उन अहिंसाधारवाले सामान्य तत्त्वोंकी ओर दृष्टिपात करना ही होगा जिनसे विविध विचारवाले चित्रल व्यक्तियोंका एक एक संघ जमाया जा सके। यह तो बहुत ही कठिन मालूम होता है कि अनेक व्यक्ति एक वस्तुके विषयमें विरुद्ध दृष्टिकोण रखते हों और अपने अपने दृष्टिकोणके समर्थनके लिए ऐकान्तिकी भाषाका प्रयोग भी करते हों फिर भी एक दूसरेके प्रति मानस समता तथा वचनोंकी समतुला रख सकें। किन्तु कभी कभी तो इस दृष्टि-भेदप्रयुक्त वचनवैषम्यके फलस्वरूप कायिक हिंसा अर्थात् हाथापाई तकका अवसर आ जाता है। भारतीय जल्पकथाका इतिहास ऐसे अनेक हिंसा काण्डोंसे रक्त रंजित है। चित्तकी समताके होने पर तो वचनोंकी गति स्वयं ही ऐसी हो जाती है जो दूसरोंके लिए आपत्तिके योग्य नहीं हो सकती। यही चित्तसमता अहिंसाकी संजीवनी है।

जैन तत्त्वदर्शियोंने इसी मानस अहिंसाके स्थैर्यके लिए तत्त्वविचारकी वह दिशा बताई है जो वस्तुस्वरूपका अधिकसे अधिक स्पर्श करनेके साथ ही साथ चित्तसमताकी साधक है। उन्होंने बताया कि वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, उसका अखण्ड स्वरूप वचनोंके अगोचर है। पूर्णज्ञानमें ही वह अपने पूरे स्वरूपमें झलक सकता है, हम लोगोंके अपूर्णज्ञान और चित्तके लिए तो वह अपने यथार्थ पूर्ण रूपमें अगम्य ही है। इसीलिए उसे वाङ्मानसागोचर कहा है।

उस अनन्तधर्मा तत्त्वको हम लोग अनेक दृष्टियोंसे विचारके क्षेत्रमें उतारते हैं। हमारी प्रत्येक दृष्टियाँ या विचारकी दिशाएँ उस पूर्ण तत्त्वकी ओर इशारा मात्र करती हैं। कुछ ऐसी भी विकृत दृष्टियाँ होती हैं जो उस तत्त्वका अन्यथा ही भान कराती हैं। तात्पर्य यह है कि जैन तत्त्वदर्शियोंने अनन्तधर्मात्मक वाङ्मानसागोचर परिपूर्ण तत्त्वको अपूर्णज्ञान तथा वचनोंके गोचर बनानेके लिए वस्तुस्पर्शी साधार उपाय बताए हैं। इन्हीं उपायोंमें जैनतत्त्वज्ञानके प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि की चर्चाओंका विशिष्ट स्थान है।

निक्षेपका मुद्दा

जगत् में व्यवहार तीन प्रकार से चल रहे हैं—कुछ व्यवहार ऐसे हैं जो शब्दाश्रयी हैं कुछ ज्ञानाश्रयी और कुछ अर्थाश्रयी। उस अनन्तधर्मा वस्तुको संव्यवहारके लिए इन तीन व्यवहारोंका आधार बनाना निक्षेप है। तात्पर्य यह है कि उस अनेकान्तवस्तुको ऐसे विभागोंमें बाँट देना जिससे वह जगत्के विविध शब्दव्यवहारका विषय बन सके। अथवा, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेके लिए

उसकी शाब्दिक, आरोपित, भूत, भावी और वर्तमान आदि पर्यायोंका विश्लेषण करना निक्षेपका मुद्दा हो सकता है। प्राचीन जैनपरम्परामें किसी भी पदार्थका वर्णन करते समय उसके अनेक प्रकारसे विश्लेषण करने की पद्धति पाई जाती है। जब उस वस्तुका अनेक प्रकारसे विश्लेषण हो जाता है तब उसमें से विवक्षित अंशको पकड़नेमें सुविधा हो जाती है। जैसे 'घटको लाओ' इस वाक्यमें घट और लानाका विवेचन अनेक प्रकार से किया जायगा। बताया जायगा कि घटशब्द, घटाकृति अन्यपदार्थ, घट बननेवाली मिट्टी, फूटे हुए घटके कपाल, घटवस्तु, घटको जानने वाला ज्ञान आदि अनेक वस्तुएं घट कही जा सकती हैं, पर इनमें हमें वर्तमान घटपर्याय ही विवक्षित है। इसी तरह शाब्दिक, अरोपित भूत, भावि, ज्ञानरूप आदि अनेक प्रकारका 'लाना' हो सकता है पर हमें नोआगमभाव निक्षेपरूप लाना क्रिया ही विवक्षित है। इस तरह पदार्थके ठीक विवक्षित अंशको पकड़नेके लिए उसके संभाव्य विकल्पोंका कथन करना निक्षेपका लक्ष्य है। इसीलिए धवला (पु० १. पृ० ३०) में निक्षेपविषयक एक गाथा उद्धृत मिलती है, यह किंचित् पाठ भेदके साथ अनुयोगद्वार सूत्रमें भी पाई जाती है–

"जत्थ वहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा।
जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ ॥"

अर्थात् जहाँ बहुत जाने वहाँ उतने ही प्रकारोंसे पदार्थोंका निक्षेप करे तथा जहाँ बहुत न जाने वहाँ कमसे कम चार प्रकारसे निक्षेप करके पदार्थोंका विचार अवश्य करना चाहिए। यही कारण है कि मूलाचार षडावश्यकाधिकार (गा० १७) में सामायिकके तथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गा० १८) में मंगलके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे ६ निक्षेप किए हैं तथा आवश्यकनिर्युक्ति (गा० १२९) में इन छहमें वचनको और जोड़कर सात प्रकारके निक्षेप बताए गए हैं। इस तरह यद्यपि निक्षेपोंके संभाव्य प्रकार अधिक हो सकते हैं तथा कुछ ग्रन्थकारोंने किए भी हैं परन्तु नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूपसे चार निक्षेप माननेमें सर्वसम्मति हैं। पदार्थोंका यह विश्लेषण प्रकार पुराने जमानेमें अत्यन्त आवश्यक रहा है–आ० यतिवृषभ त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गा० ८२) में लिखते हैं[1] कि–जो मनुष्य प्रमाण नय और निक्षेपके द्वारा अर्थकी ठीक समीक्षा नहीं करता उसे युक्त भी अयुक्त तथा अयुक्त भी युक्त प्रतिभासित हो जाता है। धवला (पु० १-पृ० ३१) में तो स्पष्ट लिख दिया है कि निक्षेपके बिना किया जाने वाला तत्त्व-निरूपण वक्ता और श्रोता दोनोंको ही कुमार्गमें ले जा सकता है।

अकलङ्कदेव (लघी० स्व० वि० श्लो० ७३-७६) लिखते हैं कि श्रुतप्रमाण और नयके द्वारा जाने गए परमार्थ और व्यावहारिक अर्थोंको शब्दोंमें प्रतिनियत रूपसे उतारनेको न्यास या निक्षेप कहते हैं। इसी लघीयस्त्रय (श्लो० ७०) में निक्षेपोंको पदार्थोंके विश्लेषण करनेका उपाय बताया है। और स्पष्ट निर्देश किया है कि मुख्यरूपसे शब्दात्मक व्यवहारका आधार नाम-निक्षेप ज्ञानात्मक व्यवहारका आधार स्थापनानिक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहारके आश्रय द्रव्य और भाव निक्षेप होते हैं।

आ० पूज्यपादने (सर्वार्थसि० १।५) निक्षेपका प्रयोजन बताते हुए जो एक[2] वाक्य लिखा है, वह न केवल निक्षेपके फलको ही स्पष्ट करता है किन्तु उसके स्वरूप पर भी विशद प्रकाश डालता

(१) इसी आशयकी गाथा विशेषावश्यकभाष्य (गा० २७६४) में पाई जाती है। और संकृत श्लोक धवला (पृ० १५) में उद्धृत है। (२) "स किमर्थः–अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च।"–सर्वार्थसि० १।५।

है। उन्होंने लिखा है कि–अप्रकृतका निराकरण करके प्रकृतके निरूपण करनेके लिए निक्षेप करना चाहिए। भाव यह है कि निक्षेपमें वस्तुके जितने प्रकार संभव हो सकते हैं वे सब कर लिए जाते हैं और उनमेंसे विवक्षित प्रकारको ग्रहण करके बाकी छोड़ दिए जाते हैं। जैसे 'घटको लाओ' इस वाक्यमें आए हुए घटशब्दके अर्थको समझने के लिए घटके जितने भी प्रकार हो सकते हैं वे सब स्थापित कर लिए जाते हैं। जैसे—टेबिलका नाम घट रख दिया तो टेबिल नामघट हुई, घटके आकारवाले चित्रमें या चांवल आदि घटाकर शून्यपदार्थोंमें घटकी स्थापना करने पर वह चित्र और चांवल आदि स्थापनाघट हुए। जो मृत्पिंड घट बनेगा वह मृत्पिंड द्रव्यघट हुआ। जो घटपर्यायसे विशिष्ट है वह भावघट हुआ। जिस क्षेत्रमें घड़ा है उस क्षेत्रको क्षेत्रघट कह सकते हैं। जिस कालमें घड़ा विद्यमान है वह काल कालघट है। जिस ज्ञानमें घड़ेका आकार आया है वह घटाकार ज्ञान ज्ञानघट है। इस तरह अनेक प्रकारसे घड़ेका विश्लेषण करके निक्षेप किया जाता है। इनमें से वक्ताको लाने क्रियाके लिए भावघट विवक्षित है अतः श्रोता अन्य नामघट आदिका, जो कि अप्रकृत हैं निराकरण करके प्रकृत भावघटको लानेमें समर्थ हो जाता है।

कहीं पर भावनिक्षेपके सिवाय अन्य निक्षेप विवक्षित हो सकते हैं, जैसे 'खरविषाण है' यहाँ खरविषाण, शब्दात्मक स्थापनात्मक तथा द्रव्यात्मक तो हो सकता है पर वर्तमानपर्याय रूपसे तो खरविषाणकी सत्ता नहीं है अतः यहां भावनिक्षेपका अप्रकृत होनेके कारण निराकरण हो जाता है। तथा अन्य निक्षेपोंका प्रकृतनिरूपणमें उपयोग कर लिया जाता है। अतः इस विवेचनसे यही फलित होता है कि पदार्थके स्वरूपका यथार्थ निश्चय करनेके लिए उसका संभाव्य भेदोंमें विश्लेषण करके अप्रकृतका निराकरण करके प्रकृतका निरूपण करनेकी पद्धति निक्षेप कहलाती है। इस प्रकार इस निक्षेपरूप विश्लेषण पद्धतिसे वस्तुके विवक्षित स्वरूप तक पहुंचनेमें पूरी मदद मिलती है।

इसीलिए धवला[1] तथा विशेषावश्यकभाष्यमें[2] निक्षेप शब्दकी सार्थक व्युत्पत्ति[3] करते हुए लिखा है कि–जो निर्णय या निश्चयकी तरफ ले जाय वह निक्षेप है। धवला (पु० १ पृ० ३१) में निक्षेपका फल बतानेवाली एक प्राचीन गाथा उद्धृत है। उसमें अप्रकृतनिराकरण और प्रकृतनिरूपणके साथ ही साथ संशयविनाश और तत्त्वार्थावधारणको भी निक्षेपका फल बताया है। और लिखा है कि यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायार्थिक दृष्टिवाला है तो अप्रकृत अर्थका निराकरण करनेके लिए निक्षेप करना चाहिए। और यदि द्रव्यार्थिकदृष्टिवाला है तो उसे प्रकृतनिरूपणके लिए निक्षेपों की सार्थकता है। पूर्णविद्वान् या एकदेश ज्ञानी श्रोता तत्त्वमें यदि सन्देहाकुलित हैं तो सन्देहविनाशके लिए और यदि विपर्यस्त है तो तत्त्वार्थके निश्चय के लिए निक्षेपोंकी सार्थकता है।

अकलङ्कदेवने लघी० (श्लो० ७४) में निक्षेपके विषयके सम्बन्धमें यह कारिका लिखी है—

"नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्॥"

अर्थात्–नयाधीन निक्षेपोंसे, जो भेदज्ञानके उपायभूत हैं, अर्थ वचन और ज्ञानस्वरूप पदार्थभेदोंकी रचना करके······इस कारिकामें अकलङ्कदेवने निक्षेपोंको नयाधीन बतानेके साथ ही साथ निक्षेपोंकी विषयमर्यादा अर्थात्मक, वचनात्मक और ज्ञानात्मक भेदोंमें परिसमाप्त की है।

द्रव्य जाति गुण क्रिया परिभाषा आदि शब्दप्रवृत्तिके निमित्तोंकी अपेक्षा न करके इच्छा-

(१) पु० १ पृ० १०। (२) गा० ९१२। (३) "णिण्णए णिच्छए खिवदि त्ति णिक्खेवो।"

नुसार जिस किसी वस्तुका जो चाहे नाम रखनेको नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालककी गजराज. संज्ञा यह समस्त व्यवहारोंका मूल हेतु है। जाति गुण आदिके निमित्त किया जानेवाला शब्दव्यवहार नामनिक्षेपकी मर्यादामें नहीं आता है।[1] जो नाम रखा जाता है वस्तु उसीकी वाच्य होती है पर्यायवाची शब्दोंकी नहीं।[2] जैसे गजराज नामवाला करिस्वामी आदि पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य नहीं होगा।[3] पुस्तक पत्र चित्र आदिमें लिखा गया लिप्यात्मक नाम भी नामनिक्षेप है। जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकार वाली मूर्तिमें या चित्रमें स्थापना करना तदाकार या सद्भावस्थापना है। यह स्थापना लकड़ीमें बनाए गए, कपड़ेमें काढ़े गए, चित्रमें लिखे गए, पत्थरमें उकेरे गए तदाकारमें 'यह वही है' इस सादृश्यमूलक अभेदबुद्धिकी प्रयोजक होती है। भिन्न आकारवाली वस्तुमें उसकी स्थापना अतदाकार या असद्भाव स्थापना है। जैसे शतरंजकी गोटोंमें हाथी घोड़े आदिकी स्थापना।

निक्षेपोंके लक्षण

नाम और स्थापना यद्यपि दोनों ही साङ्केतिक हैं पर उनमें इतना अन्तर[4] अवश्य है कि नाममें नामवाले द्रव्यका आरोप नहीं होता जब कि स्थापनामें स्थाप्य द्रव्यका आरोप किया जाता है। नामवाले पदार्थकी स्थापना अवश्य करनी ही चाहिए यह नियम नहीं है, जब कि जिसकी स्थापना की जा रही है उसका स्थापनाके पूर्व नाम अवश्य ही रख लिया जाता है। नामनिक्षेपमें आदर और अनुग्रह नहीं देखा जाता जब कि स्थापनामें आदर और अनुग्रह आदि होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अनुग्रहार्थी स्थापना जिनका[5] आदर या स्तवन करते हैं उस प्रकार नामजिनका नहीं। अनुयोगद्वारसूत्र (११) और बृहत्कल्पभाष्यमें नाम और स्थापनामें यह अन्तर बताया है कि–स्थापना इत्वरा और अनित्वरा अर्थात् सार्वकालिकी और नियतकालिकी दोनों प्रकारकी होती है जब कि नामनिक्षेप नियमसे यावत्कथिक अर्थात् जबतक द्रव्य रहता है तबतक रहनेवाला सार्वकालिक ही होता है। विशेषावश्यकभाष्य (गा० २५) में नामको प्रायःसार्वकालिक कहा है। उसके टीकाकार कोट्याचार्यने उत्तरकुरु आदि अनादि नामोंकी अपेक्षा उसे यावत्कथिक अर्थात् सार्वकालिक बताया है।

भविष्यत् पर्यायकी योग्यता और अतीतपर्यायके निमित्तसे होनेवाले व्यवहारका आधार द्रव्यनिक्षेप होता है। जैसे अतीत इन्द्रपर्याय या भावि इन्द्रपर्यायके आधारभूत द्रव्यको वर्तमानमें इन्द्र कहना द्रव्यनिक्षेप है। इसमें इन्द्रप्राभृतको जाननेवाला अनुपयुक्तव्यक्ति, ज्ञायकके भूत भावि वर्तमानशरीर तथा कर्म नोकर्म आदि भी शामिल हैं। भविष्यत्में तद्विषयकशास्त्रको जो व्यक्ति जानेगा, वह भी इसी द्रव्यनिक्षेपकी परिधिमें आ जाता है।

वर्तमानपर्यायविशिष्ट द्रव्यमें तत्पर्यायमूलक व्यवहारका आधार भाव निक्षेप होता है। इसमें तद्विषयक शास्त्रका जाननेवाला उपयुक्त आत्मा तथा तत्पर्यायसे परिणत पदार्थ ये दोनों शामिल हैं। बृहत्कल्पभाष्यमें बताया है कि–द्रव्य और भावनिक्षेपमें भी पूज्यापूज्यबुद्धिकी दृष्टिसे अन्तर है। जिसप्रकार भावजिन श्रेयोऽर्थियोंके पूज्य और स्तुत्य होते हैं उस तरह द्रव्यजिन नहीं।

विशेषावश्यकभाष्य (गा० ५३–५५) में नामादिनिक्षेपोंका परस्पर भेद बताते हुए लिखा है कि–जिसप्रकार स्थापना इन्द्रमें सहस्रनेत्र आदि आकार, स्थापना करनेवालेको सद्भूत इन्द्रका अभिप्राय, देखनेवालोंको इन्द्राकार देखकर होनेवाली इन्द्रबुद्धि, इन्द्रभक्तोंके द्वारा की जानेवाली

(१) तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। (२) विशेषा० गा० २५। (३) जैनतर्कभाषा पृ० २५। (४) धवला पु० ५ पृ० १८५। (५) पीठिका गा० १३।

नमस्कार क्रिया तथा उससे होनेवाली पुत्रोत्पत्ति आदि फल ये सब होते हैं उस प्रकारके आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फल नामेन्द्रसे तथा द्रव्येन्द्रमें नहीं देखे जाते। जिसप्रकार द्रव्य आगे जाकर भावपरिणतिको प्राप्त हो जाता है या भावपरिणतिको प्राप्त था उसप्रकार नाम और स्थापना नहीं। द्रव्य भावका कारण है तथा भाव द्रव्यकी पर्याय है उसतरह नाम और स्थापना नहीं। जिसप्रकार भाव तत्पर्यायपरिणत या तदर्थोपयुक्त होता है, उसप्रकार द्रव्य नहीं। अतः इन चारोंमें परस्पर भेद है।

निक्षेपनय-योजना

कौन निक्षेप किस नयसे अनुगत है इसका विचार अनेक प्रकारसे देखा जाता है। आ० सिद्धसेन[1] और पूज्यपाद[2] सामान्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयोंके विषय नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोंको तथा पर्यायार्थिकनयोंके विषय केवल भावनिक्षेपको कहते हैं। इतनी विशेषता है कि सिद्धसेन, संग्रह और व्यवहारको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं, क्योंकि इनके मतसे नैगमनयका संग्रह और व्यवहारमें अन्तर्भाव हो जाता है। और पूज्यपाद नैगमनयको स्वतन्त्र नय माननेके कारण तीनोंको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। दोनोंके मतसे ऋजुसूत्रादि चारों ही नय पर्यायार्थिक हैं। अतः इनके मतसे ऋजुसूत्रादि चार नय केवल भावनिक्षेपको विषय करनेवाले हैं और नैगम, संग्रह और व्यवहार नाम, स्थापना और द्रव्यको विषय करते हैं।

आ० पुष्पदन्त भूतबलिने–षट् खंडागम प्रकृतिअनुयोद्वार आदि (पृ० ८६२) में तथा आ० यतिवृषभने[3] कषायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंमें इसका कुछ विशेष विवेचन किया है। वे नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयोंमें चारों ही निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं। भावनिक्षेपके विषयमें आ० वीरसेनने लिखा[4] है कि कालान्तरस्थायी व्यञ्जन पर्यायकी अपेक्षासे जो कि अपने कालमें होनेवाली अनेक अर्थ-पर्यायोंमें व्याप्त रहनेके कारण द्रव्यव्यपदेशको भी पा सकती है, भावनिक्षेप बन जाता है। अथवा, द्रव्यार्थिकनय भी गौणरूपसे पर्यायको विषय करते हैं अतः उनका विषय भावनिक्षेप हो सकता है। भावका लक्षण करते समय आ० पूज्यपादने वर्तमानपर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहा है। इस लक्षणमें द्रव्य विशेष्य है तथा वर्तमानपर्याय विशेषण, अतः ऐसा वर्तमानपर्यायसे उपलक्षित द्रव्य द्रव्यार्थिकनयोंका विषय हो ही सकता है।

ऋजुसूत्रनय स्थापनाके सिवाय अन्य तीन निक्षेपोंको विषय करता है।[5] चूँकि स्थापना सादृश्य-मूलक अभेदबुद्धिके आधारसे होती है और ऋजुसूत्रनय सादृश्यको विषय नहीं करता अतः स्थापना निक्षेप इसकी दृष्टिमें नहीं बन सकता। कालान्तरस्थायी व्यञ्जनपर्यायको वर्तमानरूपसे ग्रहण करनेवाले अशुद्ध ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप भी सिद्ध हो जाता है। इसीतरह वाचक शब्दकी प्रतीतिके समय उसके वाच्यभूत अर्थकी उपलब्धि होनेसे ऋजुसूत्रनय नामनिक्षेपका भी स्वामी हो जाता है।

तीनों शब्दनय नाम और भाव इन दो निक्षेपोंको विषय करते हैं। इन शब्दनयोंका विषय लिङ्गादिभेदसे भिन्न वर्तमानपर्याय है अतः इनमें अभेदाश्रयी द्रव्यनिक्षेप नहीं बन सकता।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विशेषावश्यकभाष्यमें[6] ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिक मानकर ऋजुसूत्र-नयमें भी चारों ही निक्षेप मानते हैं। वे ऋजुसूत्रनयमें स्थापना निक्षेप सिद्ध करते समय लिखते हैं कि जो ऋजुसूत्रनय निराकार द्रव्यको भावहेतु होनेके कारण जब विषय कर लेता है तब

(१) सन्मति० १।६। (२) सर्वार्थसि० १।६। (३) कषायपाहुड चु० जयधवला० पृ० २५९–२६४ (४) धवला० पु० १ पृ० १४, जयधवला पृ० २६०। (५) जयधवला पृ० २६३। धवला पु० १ पृ० १६। (६) गा० २८४७–५३। देखो नयोप० श्लो० ८३–जैनतर्कभा० पृ० २१।

साकार स्थापनाको विषय क्यों नहीं करेगा ? क्योंकि प्रतिमामें स्थापित इन्द्रके आकारसे भी इन्द्रविषयक भाव उत्पन्न होता है। अथवा, ऋजुसूत्रनय नाम निक्षेपको स्वीकार करता है यह निर्विवाद है। नाम निक्षेप या तो इन्द्रादि संज्ञा रूप होता है या इन्द्रार्थसे शून्य वाच्यार्थ रूप। अतः जब दोनों ही प्रकारके नाम भावके कारण होनेसे ही ऋजुसूत्र नयके विषय हो सकते हैं तो इन्द्राकार स्थापना भी भावमें हेतु होनेके कारण ऋजुसूत्रनयका विषय होनी चाहिए। इन्द्र संज्ञाका इन्द्ररूप भावके साथ तो वाच्यवाचकसम्बन्ध ही संभव है, जो कि एक दूरवर्ती सम्बन्ध है, परन्तु अपने आकारके साथ तो इन्द्रार्थका एक प्रकारसे तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है जो कि वाच्यवाचकभावसे सन्निकट है। अतः नामको विषय करनेवाले ऋजुसूत्रमें स्थापना निक्षेप बननेमें कोई बाधा नहीं है।

विशेषावश्यकभाष्यमें ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप सिद्ध करनेके लिए अनुयोगद्वार (सू० १४) का यह सूत्र प्रमाणरूपसे उपस्थित किया गया है–"उज्जुसुअस्स एगो अणुवजुत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ त्ति" अर्थात् ऋजुसूत्रनय वर्तमानग्राही होनेसे एक अनुपयुक्त देवदत्त आदिको आगमद्रव्यनिक्षेप मानता है। वह उसमें अतीतादि कालभेद नहीं करता और न उसमें परकी अपेक्षा पृथक्त्व ही मानता है। इसतरह जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके मतसे ऋजुसूत्रनयमें चारों ही निक्षेप संभव हैं। वे शब्दादि तीन नयोंमें मात्र भावनिक्षेप ही मानते हैं और इसका हेतु दिया गया है इन नयोंका विशुद्ध होना।

विशेषावश्यकभाष्यमें एक मत यह भी है कि ऋजुसूत्रनय नाम और भाव इन दो निक्षेपों को ही विषय करता है। एक मत यह भी है कि संग्रह और व्यवहार स्थापना निक्षेपको विषय नहीं करते। इस मतके उत्थापकका कहना है कि स्थापना चूँकि सांकेतिक है अतः वह नाममें ही अन्तर्भूत है। इसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब नैगमनय स्थापना निक्षेपको स्वीकार करता है और संग्रहिक नैगम संग्रहनयरूप और असंग्रहिक नैगम व्यवहारनयरूप है तो नैगमनयके विभक्तरूप संग्रह और व्यवहारमें स्थापना निक्षेप विषय हो ही जाता है।

इसतरह विवक्षाभेदसे नयोंमें निक्षेपयोजना निम्न प्रकारसे प्रचलित रही है—

नय	पुष्पदन्त भूतबलि यतिवृषभ	सिद्धसेन, पूज्यपाद	जिनभद्र
नैगम	चारों निक्षेप	(द्रव्यार्थिक) ३ नाम, स्थापना, द्रव्य	(द्रव्यार्थिक) चारों निक्षेप
संग्रह	,,	,, ,, ,,	,,
व्यवहार	,,	,, ,, ,,	,,
ऋजुसूत्र	३ नाम, द्रव्य, भाव	(पर्यायार्थिक) १ भाव	,,
शब्दादित्रय	२ नाम, भाव	१ ,,	(पर्यायार्थिक) १ भाव

विशेषावश्यकभाष्यके मतान्तर—

(१) संग्रह और व्यवहारमें स्थापना नहीं होती। (२) ऋजुसूत्रमें नाम और भाव होता है द्रव्य और स्थापना नहीं।

(१) जैनतर्कभाषा पृ० २८।

७. नयनिरूपण–

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि अनेकान्तदृष्टि जैनतत्त्वदर्शियोंकी अहिंसाका ही एक रूप है, जो विरोधी विचारोंका वस्तुस्थितिके आधारपर सत्यानुगामी समीकरण करती है। और उसी अनेकान्तदृष्टिका फलितवाद नयवाद है। स्याद्वाद तो उस अनेकान्तदृष्टिके वर्णनका वह निर्दोष प्रकार है जिससे वस्तुके स्वरूप तक अधिकसे अधिक पहुंच सकते हैं। वह भाषागत समताका एक प्रतीक है। अतः नयके वर्णनके पहिले वस्तुके स्वरूपका विचार कर लेना आवश्यक है जिसके आधारसे उस अहिंसामूलक अनेकान्तदृष्टिका विवेचन होता है।

वस्तुका स्वरूप

जैन वास्तवमें अनन्तपदार्थवादी हैं। अनन्त आत्मद्रव्य, अनन्त पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुद्रव्य इस तरह अनन्तानन्त पदार्थ पृथक् पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। किसी भी सत्का सर्वथा विनाश नहीं होता और न कोई नूतन सत् उत्पन्न ही होता है। जितने अनन्त सत् द्रव्य हैं उनमें धर्म अधर्म आकाश और कालाणु द्रव्य अपनी स्वाभाविक परिणतिमें परिणत रहते हैं। परन्तु जीव और पुद्गल इन दो प्रकारके द्रव्योंमें स्वाभाविक और वैभाविक दोनों ही परिणमन होते हैं। शुद्ध जीवमें वैभाविक परिणमन न होकर स्वाभाविक परिणमन ही होता है जब कि शुद्ध पुद्गलपरमाणु शुद्ध होकर भी फिर विभाव परिणमन करने लगता है।

प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायको धारण करता है। यह उसका स्वभाव है कि वह प्रतिसमय परिणमन करता रहे। इसतरह पदार्थ पूर्व पर्यायका विनाश उत्तर पर्यायका उत्पाद तथा ध्रौव्य इन तीन लक्षणोंको धारण करते हैं। ध्रौव्यका तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी निश्चित धारामें ही परिणमन करता है वह किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्याय रूपसे परिणमन नहीं करता। जैसे एक जीव अपनी ही उत्तरोत्तर पर्यायरूप प्रतिसमय परिणमन करता जायगा। वह न तो अजीव रूपसे परिणमन करेगा, और न अन्य जीव रूपसे ही। इस असांकर्यका प्रयोजक ही ध्रौव्य होता है। एक परमाणुद्रव्य परिणमन करता है तो उसमें उत्तर पर्याय होनेपर प्रथमका कोई भी अपरिवर्तित अंश अवशिष्ट नहीं रहता। वह अखंडका अखंड परिवर्तित होकर द्वितीय पर्यायकी शकलमें उपस्थित हो जाता है। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि ध्रौव्य अंश क्या रहा? इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि उस परमाणुद्रव्यका अपनी ही धाराके उत्तरक्षणरूप होनेमें जो प्रयोजक स्वभाव है वही ध्रौव्य है। इसके कारण वह किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरके रूपमें परिणमन नहीं कर पाता। इसतरह प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इस त्रिलक्षणरूप है। यही जैनियोंके परिणामका लक्षण है। और इसी लक्षणके अनुसार प्रत्येक पदार्थ परिणामी है।

योगदर्शन (३।१३) में जो परिणामका लक्षण[1] पाया जाता है वह उक्त परिणामके लक्षणसे भिन्न है। इसका खंडन अकलङ्कदेवने राजवार्तिक (पृ० २२६) में किया है। योगदर्शनके लक्षणमें द्रव्यकी अवस्थिति सदाकाल मानकर उसमें पूर्वधर्मका विनाश और उत्तर धर्मका उत्पाद इसतरह धर्मोंमें ही उत्पाद और विनाश माने हैं। जब कि जैनके परिणाममें पर्यायोंके परिवर्तित होने पर अपरिवर्तिष्णु अंश कोई नहीं रहता जिसे अवस्थित कहा जाय। यदि पर्यायोंके बदलते रहने

(१) "अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।"

पर भी कोई ऐसा अपरिवर्तनशील अंश रहता है जो कभी नहीं बदलता अर्थात् नित्य रहता है और ऐसे दो प्रकारके अंशोंका समुदाय ही द्रव्य कहा जाता है तो ऐसे द्रव्यमें सर्वथा नित्य तथा सर्वथा अनित्य पक्षमें आनेवाले दोनों दोषोंका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। फिर द्रव्य और पर्यायमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोंके परिवर्तित होने पर कोई ऐसा अंश रह ही नहीं सकता जो अपरिवर्तिष्णु हो। अन्यथा उस अपरिवर्तनशील अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी परिवर्तनशील नहीं हो सकेंगे। इस तरह कथञ्चितादात्म्यमें एक ही मार्ग रह जाता है। और वह है सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्यके बीचका मार्ग। इसी मध्यमार्गके विषयभूत स्वरूपको हम ध्रौव्य या द्रव्यांश कहते हैं। यह न तो सर्वथा अवस्थित अर्थात् अपरिवर्तनशील ही है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला, जिससे एक चेतन अपनी तच्चेतनत्वकी सीमाको लांघकर अचेतन या चेतनान्तर रूपसे परिणमन करने लग जाय। इसकी सीधे शब्दोंमें यही परिभाषा हो सकती है कि–किसी एक द्रव्यके परिणामी होने पर भी जिस स्वरूपके कारण वह दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं करके अपनी धारामें ही परिवर्तित होता है उस स्वरूपास्तित्वका नाम द्रव्यांश, ध्रौव्य या गुण है। परिणामी पदार्थमें ऐसा ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय यह त्रिलक्षणी रहती है।

योग तथा सांख्यका परिणाम[१] प्रकृति तक ही सीमित है पुरुष तत्त्व इस परिणामसे सर्वथा शून्य अर्थात् सदा एकरस कूटस्थ नित्य है। पर जैनदर्शनमें कोई भी ऐसा अपवाद नहीं है जो इस परिणामचक्रसे किसी भी समय अछूता रहता हो। द्रव्य या ध्रौव्यके त्रिकालानुयायित्वका अर्थ इतना ही है कि जिसके कारण अतीतपर्याय नष्ट होते समय वर्तमानपर्यायमें अपना सब कुछ सौंप देती है, और वर्तमानपर्यायमें भी वह शक्ति है जिससे वह आगे आनेवाली पर्यायको अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय अतीतका प्रतिबिम्ब तथा अनागतका बिम्ब है। यही उसकी त्रिकालानुयायिता है।

बौद्ध वस्तुको सर्वथा परिवर्तनशील मानते हैं सही, पर उन्होंने उन परिवर्तनशील स्वलक्षणक्षणोंमें ऐसी एक सन्तान मानी है जिससे नियत स्वलक्षणका पूर्वक्षण अपने उत्तरक्षणके साथ ही कार्यकारणभाव रखता है क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह है कि–इस सन्तानके कारण एक चेतनक्षण अपने उत्तर चेतनक्षणका ही समनन्तर कारण होता है विजातीय रूपक्षणका या सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। इस तरह जिस व्यवस्थाको जैनतत्त्ववेत्ता ध्रौव्यसे बनाते हैं उसी व्यवस्थाको बौद्धोंने सन्तानसे बनाया है। अतः सन्तान और ध्रौव्यके प्रयोजनमें कोई अन्तर नहीं मालूम होता है, हाँ उसके शाब्दिक निरूपणमें थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। वे इस सन्तानको सेना और वनकी तरह काल्पनिक या सांवृत कहते हैं जब कि जैनका ध्रौव्य पर्यायक्षणोंकी तरह वास्तविक है।

---

(१) योगभाष्य (३।१३)में जब प्रतिवादी द्वारा परिणामके लक्षणमें दोष दिया है तो उसके उत्तरमें लिखा है कि–"एकान्तानभ्युपगमात्, तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, कस्मात् ? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्" अर्थात् हम यदि एकान्तसे जगत्को चितिशक्तिकी तरह नित्य मानते या उसका एकान्तसे नाश मानते तो यह दोष होता। किन्तु हम एकान्त नहीं मानते। यह जगत् अपने अर्थक्रियाकारी स्वरूपकी अपेक्षा नष्ट होता है क्योंकि कार्यधर्मकी अपेक्षा जगत्को नित्य नहीं मानते। नष्ट होनेपर भी वह अपनी सूक्ष्मावस्थामें रहता है क्योंकि सर्वथा विनाशका प्रतिषेध है।" योगभाष्य का यह शंका समाधान अनेकान्त दृष्टिसे ही किया गया है। इसकी टीका करते समय वाचस्पतिमिश्रने तत्त्ववैशारदीमें "कथञ्चिन्नित्य" शब्दका प्रयोग किया है जो खासतौरसे द्रष्टव्य है।

इस तरह जैनका प्रत्येक सत् स्वतन्त्र द्रव्य है। दो सत् पदार्थोंमें रहनेवाला वास्तविक एक पदार्थ कोई नहीं है। जैसे न्याय वैशेषिक अनेक गो द्रव्योंमें रहने वाला एक गोत्व नामका स्वतन्त्र सामान्य पदार्थ मानते हैं, या अनेक चेतन अचेतन द्रव्यों तथा गुण कर्मादिमें एक सत्ता नामक स्वतन्त्र सामान्य पदार्थ मानते हैं, ऐसा अनेक पदार्थवृत्ति एक पदार्थ जैनियोंके यहाँ नहीं है। जैन तो दो सत् पदार्थोंमें 'सत् सत्' इस अनुगत प्रत्ययको सादृश्यनिमित्तक मानते हैं और यह सादृश्य उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकनिष्ठ है। पदार्थोंमें दो प्रकारके अस्तित्व हैं—एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। स्वरूपास्तित्वके कारण प्रत्येक पदार्थ अपनी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें 'यह वही है' इस एकत्व प्रत्यभिज्ञानका विषय होता है। 'देवदत्तः देवदत्तः' इस प्रकारके अनुगताकार प्रत्ययमें भी देवदत्तका अपनी पर्यायोंमें पाया जानेवाला स्वरूपास्तित्व ही प्रयोजक होता है। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। सादृश्यास्तित्वके कारण भिन्न सत्ताक दो द्रव्योंमें 'गौ गौ' इत्यादि प्रकारके अनुगत प्रत्यय होते हैं। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। इसी तरह दो भिन्न सत्ताक द्रव्योंमें विलक्षणताका प्रयोजक व्यतिरेक जातिका विशेष है तथा एक ही द्रव्यकी दो पर्यायोंमें विलक्षणताका कारण पर्याय जातिका विशेष है। इस तरह जैनियोंका पदार्थ उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेके साथ उक्त प्रकारसे सामान्य-विशेषात्मक भी है।

पदार्थकी सामान्य-विशेषात्मकता

भारतीय दर्शनोंमें पातञ्जल महाभाष्य (१।१।१) योगभाष्य (पृ० ३६६) मीमांसाश्लोकवार्तिक (पृ० ६१९) ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य, शास्त्रदीपिका (पृ० ३८७) आदिमें भी इसी उभयात्मक पदार्थका कथञ्चित् सामान्यविशेषात्मक या भिन्नाभिन्नात्मक रूपसे वर्णन मिलता है।

धर्मधर्मिभावके विषयमें साधारणतया पांच कोटियाँ दार्शनिकक्षेत्रमें स्वीकृत हैं–१ निरंश वस्तु वास्तविक है, उसमें धर्म अविद्या या संवृतिसे कल्पित हैं। २ वस्तु कल्पित है धर्म ही वास्तविक हैं। ३ धर्म और वस्तु हैं तो दोनों वास्तविक पर वे जुदे जुदे हैं और सम्बन्धके कारण धर्मोंकी धर्मीमें प्रतीति होती है। ४ धर्म और धर्मी दोनों ही अवास्तविक हैं। ५-धर्म और धर्मिका कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध है। पहिली कोटिको वेदान्ती स्वीकार करता है। दूसरी कोटि बौद्धोंकी है। इनके मतमें धर्मोंकी आधारभूत वस्तु विकल्पकल्पित है। निरंश पर्यायक्षण ही वास्तविक हैं। इसीमें संवृतिके कारण अनेक धर्मोंकी प्रतीति होती रहती है। वेदान्ती एक ब्रह्मके सिवाय अन्य घट पट आदि धर्मियोंको अविद्याकल्पित कहता है। तीसरी कोटिमें नैयायिक-वैशेषिक हैं, जो द्रव्य गुण आदि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानकर समवाय सम्बन्धसे गुणादिककी द्रव्यमें प्रतीति मानते हैं। चौथी कोटि तत्त्वोपप्लववादी और तथोक्तशून्यवादियोंकी है। पांचवा मत सांख्य योगपरम्परा, कुमारिलभट्टकी परम्परा तथा विशेषतः जैन परम्परामें प्रख्यात है। जैनपरम्परा वस्तुमें वास्तव अनन्तधर्मोंकी सत्ता स्वीकारती है, या यों कहिए कि अनन्तधर्ममय ही वस्तु है। इस अनन्तधर्मात्मक वस्तुको विभिन्न व्यक्ति अपने जुदे जुदे दृष्टिकोणोंसे देखते हैं और आहङ्कारिक वृत्तिके कारण अपने ज्ञानलवमें प्रतिविम्बित वस्तुके एक कणको वस्तुका पूर्णरूप मान लेते हैं। और इस तरह वस्तुका यथार्थज्ञान तो कर ही नहीं पाते पर अहङ्कारके कारण दूसरोंके दृष्टिकोणोंको मिथ्या कहकर हिंसात्मक अग्निको सुलगाते हैं। जैन तत्त्वदर्शियोंने प्रारम्भसे ही अहिंसकदृष्टि तथा यथार्थतत्त्वदर्शन होनेके कारण वस्तुके विराट् स्वरूपको स्वीकार किया है। और उसका यथावत् ज्ञान करनेके लिए हम सबके ज्ञानकणोंको अपर्याप्त बताया है। और यह स्पष्ट बताया कि अनन्त ज्ञानोदधिमें ही वह अनन्तधर्मा पदार्थ साक्षात् समा सकता है, हमारे ज्ञानपल्वलोंमें नहीं। प्रत्युत हमारे ज्ञान कहीं कहीं तो उस विराट् पदार्थके विषयमें अन्यथा ही कल्पना कर लेते हैं।

धर्मधर्मिभाव-का प्रकार

इस तरह जैनतत्त्वदर्शियोंने प्रत्येक वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, सामान्य-विशेषात्मक या अनन्तधर्मात्मक स्वीकार किया है। अनन्तधर्मात्मकका तात्पर्य यह है कि जिन धर्मोंमें हमें परस्पर विरोध मालूम होता है ऐसे अनेक विरोधी धर्म वस्तुमें रहते हैं। धर्मोंमें परस्पर विरोध होते हुए भी धर्मीकी दृष्टिसे वे अविरोधी हैं।

उस अनन्तधर्मा वस्तुमें सामान्यतः द्विमुखी कल्पनाएँ होती हैं। एक तो आत्यन्तिक अभेद-की ओर जाती है तथा दूसरी आत्यन्तिक भेदकी ओर। नित्य, व्यापी, एक, अखण्ड सत् रूपसे चरम अभेदकी कल्पना से ब्रह्मवादका विकास हुआ तथा क्षणिक, निरंश, परमाणु रूपसे अन्तिम भेदकी कल्पनासे क्षणिकवाद पनपा। इन दोनों आत्यन्तिक कोटियोंके बीचमें अनेक प्रकारसे पदार्थोंका विभाजन करनेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, चार्वाक आदि दर्शन हैं। सभी दर्शनों-का अपना एक एक दृष्टिकोण है। और वे अपने दृष्टिकोणके अनुसार पदार्थको देखते तथा उसका निरूपण करते हैं। जैनदर्शनका अपना दृष्टिकोण स्पष्ट है। उसका कहना है कि वस्तुकी स्वरूपमर्यादा अनन्त है। उसमें सभी दृष्टियोंके विषयभूत धर्मोंका समावेश हो सकता है बशर्ते कि वे दृष्टियाँ ऐकान्तिक आग्रह न करें। प्रत्येक दृष्टि यह समझे कि मैं वस्तुके एक क्षुद्र अंशका स्पर्श कर रही हूँ, दूसरी दृष्टियाँ भी जो मुझसे विरुद्ध हैं, वस्तुके ही किसी एक अंशको छू रही हैं। इस तरह परस्पर विरोधी दृष्टिकोणोंका वस्तुस्थितिके अनुसार समन्वय करना जैनदर्शनका दृष्टिकोण है और इसी लिए उसमें नयचर्चाका प्रमुख स्थान है।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि–विचारव्यवहार साधारणतया तीन भागोंमें बांटे जा सकते हैं–१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। अनेक ग्राम्य व्यवहार या लौकिक व्यवहार संकल्पके आधारसे ही चलते हैं। 'जैसे रोटी बनाने या कपड़ा बुनने की तैयारीके समय रोटी बनाता हूँ, कपड़ा बुनता हूं, इत्यादि व्यवहारोंमें संकल्पमात्रमें ही रोटी या कपड़ा व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्रकारके औपचारिक व्यवहार अपने ज्ञान या संकल्पके अनुसार हुआ करते हैं। दूसरे प्रकारके व्यवहार अर्था-श्रयी होते हैं–अर्थमें एक ओर एक, नित्य और व्यापी सन्मात्र रूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी। इन दोनों अन्तोंके बीच अनेक अवान्तर भेद और अभेदोंका स्थान है। अभेदकोटि औपनिषद् अद्वैतवादियोंकी है। दूसरी कोटि वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक-निरंश-परमाणुवादी बौद्धों की है। तीसरी कोटिमें पदार्थको अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि दर्शन हैं। तीसरे प्रकारके शब्दाश्रित व्यवहारोंमें भिन्नकालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्याय-वाले, विभिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थको या अर्थकी एक पर्यायको नहीं कह सकते। शब्द भेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। इस तरह इन ज्ञान अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए नयदृष्टियोंका उपयोग है।

नयोंका आधार

इनमें संकल्पाधीन यावत् ज्ञानाश्रित व्यवहारोंका नैगमनयमें समावेश होता है। आ० पूज्यपादने सर्वार्थसि० (१।३३) में नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही ही बताया है। तत्त्वार्थभाष्य में भी अनेक ग्राम्य व्यवहारोंका तथा औपचारिक लोकव्यवहारोंका स्थान इसी नयकी विषयमर्यादा में निश्चित किया है।

आ० सिद्धसेनने अभेदग्राही नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे नैगमको संकल्पमात्रग्राही न मानकर अर्थग्राही स्वीकार करते हैं। अकलङ्कदेवने यद्यपि राजवार्तिकमें पूज्यपादका अनुसरण करके नैगमनयको

संकल्पमात्रग्राही लिखा है फिर भी लघीयस्त्रय (का० ३९) में उन्होंने नैगमनयको अर्थके भेद को या अभेदको ग्रहण करनेवाला बताया है। इसीलिए इन्होंने स्पष्ट रूपसे नैगम आदि ऋजुसूत्रान्त चार नयोंको अर्थनय माना है।

अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" आदि उपनिषद्वाक्योंसे व्यक्त होता है, परसंग्रहनयमें अन्तर्भाव होता है। यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि–जैनदर्शनमें दो या अधिक द्रव्योंमें अनुस्यूत सत्ता रखनेवाला कोई सत् नामका सामान्यपदार्थ नहीं है। अनेक द्रव्योंका सद्रूपसे जो संग्रह किया जाता है वह सत्सादृश्यके निमित्तसे ही किया जाता है न कि सदेकत्वकी दृष्टिसे। हाँ, सदेकत्वकी दृष्टिसे प्रत्येक सत्की अपनी क्रमवर्ती पर्यायोंका और सहभावी गुणोंका अवश्य संग्रह हो सकता है। पर दो सत् में कोई एक अनुस्यूत सत्त्व नहीं है। इस परसंग्रहके आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमान कालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंका व्यवहारनयमें समावेश होता है। इन अवान्तर भेदोंको न्यायवैशेषिक आदि दर्शन ग्रहण करते हैं। अर्थको अन्तिम देशकोटि परमाणुरूपता तथा चरम कालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रकी परिधिमें आती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद तथा अभेदको ग्रहण करने वाले अभिप्राय बताये गए हैं। इसके आगे शब्दाश्रित विचारोंका निरूपण किया जाता है।

काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं, इस कालादिभेदसे शब्दभेद मानकर अर्थभेद माननेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेद माननेवाला समभिरूढनय है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियावाची हैं। गुणवाचक शुक्लशब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलतिशब्द चलनेरूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छाशब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दको आश्रय लेकर होनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है। यह समन्वय एक खास शर्त पर हुआ है। वह शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि या अभिप्राय अपने प्रतिपक्षी अभिप्रायका निराकरण नहीं कर सकेगा। इतना हो सकता है कि जहाँ एक अभिप्रायकी मुख्यता रहे वहाँ दूसरा अभिप्राय गौण हो जाय। यही सापेक्ष भाव नय का प्राण है, इसीसे नय सुनय कहलाता है। आ० समन्तभद्र आदिने सापेक्षको सन्नय तथा निरपेक्षको दुर्नय बताया ही है।

इस संक्षिप्त कथनमें यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोंका आलम्बन चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना भेद या अभेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारभूत दृष्टियोंको द्रव्यनय और पर्यायनय कहते हैं। अभेदको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिकनय है। इन्हें मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त नयोंके मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादिनय तो इन्हींकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, निश्चयनय, शुद्धनय आदि शब्द द्रव्यार्थिकके अर्थमें तथा उत्पन्नास्तिक, पर्यायास्तिक, व्यवहारनय, अशुद्धनय आदि पर्यायार्थिकके अर्थमें व्यवहृत होते हैं।

नयोंके भेद

आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें नयोंका कोई प्रकरणबद्ध वर्णन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हाँ, उनके ग्रन्थोंमें[1] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन मूलनयोंकी दृष्टिसे वस्तु विवेचन अवश्य है। उनके समयसारमें निश्चय और व्यवहार नयोंका प्रयोग इन्हीं मूलनयोंके अर्थमें हुआ जान पड़ता है।

समवायांग टीकामें द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, और उभयार्थिकके भेदसे तीन प्रकारका भी नय-विभाग मिलता है। इसी टीकामें संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दके भेदसे चार प्रकार भी नय पाए जाते हैं। तत्त्वार्थभाष्य सम्मत तत्त्वार्थसूत्र (१।३४) में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पांच भेद नयोंके किए हैं। भाष्यमें नैगमके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो उत्तरभेद तथा शब्दनयके साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन उत्तरभेद किए गए हैं।

षट्खंडागमके मूलसूत्रमें[2] जहाँ निक्षेपनययोजना की गई है वहाँ तीनों शब्दनयोंका एक शब्द-नयरूपसे भी निर्देश मिलता है तथा 'सद्दादओ' शब्द आदि रूपसे भी। कषायपाहुडके चूर्णिसूत्रों (१ भा० पृ० २५९) में तीनों शब्दनयोंको शब्दनय रूपसे ही निर्देश किया गया है।

आ० सिद्धसेन अभेदसंकल्पी नैगमका संग्रहमें तथा भेदसंकल्पी नैगमका व्यवहारमें अन्तर्भाव करके छह ही मूलनय मानते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बरसम्मत पाठमें, स्थानाङ्ग (सू० ५५२) में तथा अनुयोगद्वार सूत्र (१३६) में नैगमादि सात नयोंका कथन है।

धवला (प० ५४४) जयधवला (पृ० २४५) तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २६९) में नैगम-नयके द्रव्यनैगम, पर्यायनैगम, और द्रव्यपर्यायनैगम ये तीन भेद मानकर नवनयवादीके मतका भी उल्लेख है। इसीतरह द्रव्यनैगमके २ भेद पर्यायनैगमके ३ भेद और द्रव्यपर्यायनैगमके ४ भेद करके पंचदशनयवाद भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें वर्णित हैं।

विशेषावश्यकभाष्यकार[3] ऋजुसूत्रको भी द्रव्यार्थिक मानकर द्रव्यार्थिकनयके ऋजुसूत्र पर्यन्त चार भेद तथा पर्यायार्थिकके शब्द आदि तीन भेद मानते हैं। यही भाष्यकार आ० सिद्ध-सेनके मतका भी विशेषावश्यकभाष्य (गा० ७५) में उल्लेख करते हैं कि—संग्रह और व्यवहारनय द्रव्यार्थिक हैं। तथा ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक है। सिद्धसेनके सन्मतितर्क (१।५) में भी यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है। श्वे० परम्परामें इस मतको तार्किकोंका मत कहा गया है। क्योंकि अनुयोगद्वार (सू० १४) में ऋजुसूत्रनयको भी द्रव्यावश्यकग्राही बताया है।

दिगम्बर[4] परम्परामें हम पहिलेसे ही व्यवहारपर्यन्त नयोंको द्रव्यार्थिक तथा ऋजुसूत्रादि नयोंको पर्यायार्थिक माननेकी परम्परा देखते हैं। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि षट्खंडा-गम मूलसूत्र (ध० प० ५५४,५८७) तथा कसायपाहुडचूर्णिसूत्रों (पृ० २७७) में ऋजुसूत्रनयको द्रव्य-निक्षेपग्राही लिखा है। आ० वीरसेनस्वामीने इसका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि यतः ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक है, अतः वह व्यञ्जनपर्यायको, जो कि अनेक अवान्तरपर्यायोंको आक्रान्त करनेके कारण द्रव्यव्यवहारके योग्य हो जाती है, विषय करता है और इसीलिए वह पर्याया-र्थिक होकर भी व्यञ्जनपर्यायरूप द्रव्यग्राही हो जाता है। श्वे० आगमोंमें जिस द्रव्यग्राही ऋजु-

(१) नियमसार गा० १९। प्रवचनसार २।२२। (२) ध० आ० प० ५५४,५८७। (३) जैनतर्क-भाषा पृ० २१। (४) "तच्च वर्तमानं समयमात्रं तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः"—सर्वार्थसि० १।३३। लघी० का० ४३। जयध० पृ० २१९। त० श्लो० पृ० २६८।

सूत्रका आगमिक परम्परासे उल्लेख मिलता है उसकी तुलना षट्खंडागम और कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंसे करने पर यह मालूम होता है कि आगमिक परम्परामें ऋजुसूत्रको द्रव्यग्राही माननेका पक्ष प्राचीन कालमें अवश्य ही रहा है, जो षट्खंडागम और चूर्णिसूत्रोंमें भी स्पष्ट उल्लिखित है।

लघीयस्त्रय (श्लो० ७२) तथा विशेषावश्यकभाष्य (गा० २७५३) में ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयोंका अर्थनय तथा शब्दादि तीन नयोंका शब्दनय रूपसे भी विभाग किया गया है। जयधवला (पृ० २३५) में शब्दनयके स्थानमें व्यञ्जननय नाम दिया गया है।

विशेषावश्यक भाष्य (गा० २२६४) में एक एक नयके सौ सौ भेद करके विवक्षाभेदसे नयोंकी ५०० और ७०० संख्या बताई है। इसी गाथाकी टीकामें विवक्षा भेदसे ६००, ४००, तथा २०० संख्या भी नयोंकी निश्चितकी गई है। जयधवला (पृ० १४०) में अग्रायणीयपूर्वके वर्णनमें ७०० नयोंकी चरचाका उल्लेख है।

मल्लवादिके द्वादशारनयचक्र में तो विविध रीतिसे नयोंके अनेकों प्रकार चर्चित हैं। इस-तरहके विवक्षाभेदोंको ध्यानमें रखते हुए आ० सिद्धसेनने सन्मतितर्क (३।४७) में नयोंके भेदोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि–संसारमें जितने प्रकारके वचनमार्ग हो सकते हैं उतने ही प्रकारके नयवाद हैं। यतः ज्ञाताके अभिप्रायविशेषको नय कहते हैं तथा अभिप्रायके अनुसार ही वक्ता वचनप्रयोग करता है अतः अभिप्रायमूलक वचनोंके बराबर नयवाद तो होने ही चाहिए। नयोंकी कोई निश्चित संख्या नहीं बताई जा सकती। क्योंकि नयोंकी संख्या भी आखिर वक्ता अपने अपने अभिप्रायसे ही निश्चित करता है और अभिप्राय अनेक हो सकते हैं। अतः शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे नयोंके भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं।

तत्त्वार्थभाष्य (१।३३) में लिखा है कि नयोंके जो अनेक भेद हैं, वे तन्त्रान्तरीय नहीं हैं, अर्थात् इन एक एक नयोंको माननेवाले मतमतान्तर जगत् में मौजूद नहीं है, और न अपनी बुद्धिके अनुसार ही इनकी कल्पना की गई है, किन्तु ये पदार्थको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले अभिप्रायविशेष हैं। अतः नयोंके भेद प्रभेदोंका आधार अभिप्रायविशेष ही ज्ञात होता है।

नयोंके स्वरूपके विशेष विवेचनके लिए इसी ग्रंथके पृ० २०१,२२०,२२१,२२३ और २३२ आदिके विशेषार्थ ध्यानसे पढ़ना चाहिए। सकलादेश और विकलादेशका विवेचन पृ० २०४ के विशेषार्थमें किया गया है। दर्शन और ज्ञानके स्वरूपका निरूपण पृ० ३३८ के विशेषार्थमें है। अतः वहां से उन्हें पढ़ लेना चाहिए।

इस प्रकार इस भागमें आए हुए कुछ विशेष विषयोंके विवेचनके साथ इस प्रस्तावनाको यहीं समाप्त किया जाता है।

सम्पादनोपयुक्तग्रन्थ-सङ्केतविवरण

अ०	अमरावतीकी जयधवलाकी प्रति	
अंगप०	अंगपण्णत्ति सिद्धान्तसारादि-संग्रहान्तर्गत	[माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बंबई]
अंगप० चूलि०	अंगपण्णत्तिचूलिका ,,	[,, ,,]
अक० टि० / अकलंकग्र० टि०	अकलंकग्रन्थत्रयटिप्पण	[सिंधी जैन सीरिज कलकत्ता]
अनगार०	अनगारधर्मामृत	[माणिकचन्द्र ग्र० बंबई]
अनगार० टी०	अनगारधर्मामृतटीका	[,, ,,]
अनु०	अनुयोगद्वारसूत्र	[आगमोदय समिति सूरत]
अनु० चू०	अनुयोगद्वारचूर्णि	[ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम]
अनु० टी० / अनु० म० / अनु० मल०	अनुयोगद्वार मलधारिहेमचन्द्रटीका	[आगमोदय समिति सूरत]
अनु० ह०	अनुयोगद्वार हरिभद्रटीका	[ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम]
अनेकान्तज०	अनेकान्तजयपताका	[वड़ोदा ओरियंटल सीरिज]
अनेकान्तवाद०	अनेकान्तवादप्रवेश	[हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन]
अनेकान्तवाद० टि०	अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पण	[,, ,,]
अनेकार्थसं०	अनेकार्थसंग्रह	[चौखम्बा सीरिज़ काशी]
अन्ययोग०	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका (स्याद्वादमञ्जर्यन्तर्गत)	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
अभि० को० व्या०	अभिधर्मकोशस्फुटार्थव्याख्या	[बिब्लोथिका बुद्धिका सीरिज रूस]
अ० रा०	अभिधानराजेन्द्रकोश	[रतलाम]
अष्टश० अष्टसह०	अष्टशती अष्टसहस्र्यन्तर्गत	[निर्णयसागर बंबई]
अष्टसह०	अष्टसहस्री	[,, ,,]
आ०	आराके जैनसिद्धान्तभवनकी जयधवलाकी प्रति	
आचा० नि०	आचाराङ्गनिर्युक्ति	[सिद्धचक्र साहित्यप्रसारक समिति सूरत]
आचा० नि० शी० / आचा० शी०	आचाराङ्गनिर्युक्तिशीलाङ्कटीका	[,, ,,]
आदिपु०	आदिपुराण	[जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
आ० नि० / आव० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति	[आगमोदय समिति सूरत]
आ० नि० भा०	आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य	[,, ,,]
आप्तप०	आप्तपरीक्षा	[जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय बंबई]
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	[जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
आप्तस्व०	आप्तस्वरूप सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
आलापप०	आलापपद्धति नयचक्रादिसंग्रहान्तर्गत	[,, ,,]
आव० दी०	आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका	[विजयदान सूरीश्वर ग्रंथमाला सूरत]
आव० नि० टी०	आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिटीका	[आगमोदय समिति सूरत]
इन्द्र० / श्रुताव०	इन्द्रनन्दिकृतश्रुतावतार तत्त्वानुशासनादिसंग्रहान्तर्गत	[माणिकचंद्र ग्रन्थमाला बंबई]
उत्तरा० टी० / उत्तरा० पा० टी०	उत्तराध्ययन पाइयटीका	[देवचंद्र लालभाई सूरत]
उत्तरा० नि०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	[,, ,,]
उप०	उपदेशपद	[ऋषभदेव केशरीमलजी संस्था रतलाम]
उपा० अ०	उपासकाध्ययनसूत्र	[,, ,, ,, ,,]

ऋषि०	ऋषिभाषितानि	[ऋषभदेव केशरीमलजी संस्था रतलाम]
एपि० इ०	एपिग्राफिका इंडिका	
ओघनि०	ओघनिर्युक्ति	[आगमोदय समिति सूरत]
ओघनि० टी०	ओघनिर्युक्ति टीका	[,, ,,]
औप०, औपपा०	औपपातिक सूत्र	[प्र० भूरालाल कालीदास शाह बम्बई]
कर्म० अनु० ध० आ०	कर्मअनयोगद्वार, धवला आरा	
कर्मग्र०	कर्मग्रन्थ	[आत्मानन्द सभा भावनगर]
कर्मप्र० उदय०	कर्मप्रकृति उदयाधिकार	[मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई गुजरात]
कल्पभा०, बृहत्कल्पभा०, बृह० भा०	बृहत्कल्पभाष्य	[आत्मानन्द सभा भावनगर]
कल्पभा० पी० मलय०	कल्पभाष्यपीठिका मलयगिरिटीका	[" "]
कल्पसू०	कल्पसूत्र	[सूरत]
कल्पसूत्रस्थवि०	कल्पसूत्रस्थविरावली	["]
कषाय पा० उपजोगा०	कषायपाहुड-उपयोगाधिकार	
कषाय पा० चू०	कषायपाहुड चूर्णि	
काव्यानु०	काव्यानुशासन	[श्वेताम्बर जैन कानफ्रेंस बम्बई]
कृति० अनु० ध० आ०	कृति अनयोगद्वार धवला आरा	
क्षणभंगसि०	क्षणभंगसिद्धि	[रा० ए० सोसाइटी कलकत्ता]
गुज० जै० सा० इ०	गुजराती जैन साहित्यनो इतिहास	[श्वे० जैन कान्फ्रेंस बंबई]
गुरुतत्त्ववि०	गुरुतत्त्वविनिश्चय	[आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावनगर]
गो० क०, गो० कर्म०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	[जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
गो० कर्म० जी०	गोम्मटसार कर्मकांड जीव प्रबोधिनी टीका	[" "]
गो० जीव०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	[" "]
गो० जीव० जी०	गोम्मटसार जीवकांड जीव प्रबोधिनी टीका	[" "]
चरकसं०	चरकसंहिता	[निर्णयसागर बम्बई]
चारित्रप्रा०	चारित्रप्राभृत षटप्राभृतादिसंग्रहान्तर्गत	[मा० ग्रं० बम्बई]
जम्बूप०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति लिखित	[स्याद्वाद जैन महाविद्यालय बनारस]
जयध० आ०	जयधवला की प्रति लिखित	[जैनसिद्धान्त भवन आरा]
जयध० प्र०	जयधवला प्रेसकापी	[जयधवला कार्यालय बनारस]
जीवट्ठा० कालाणु०	जीवट्ठाण कालाणुओग	[जैनसाहित्योद्धारक फंड अमरावती]
जीवस०	जीवसमास	[ऋषभदेव केशरीमलजी रतलाम]
जैनतर्क०	जैनतर्कभाषा	[सिंघी जैन सीरीज़ कलकत्ता]
जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्तिक	[लाजरस कम्पनी काशी]
जैनशिला०	जैनशिलालेखसंग्रह	[माणिकचन्द्र ग्र० बंबई]
जैनेन्द्रमहा०	जैनेन्द्रमहावृत्ति	[लाजरस कम्पनी काशी]
जै० सा० इ०	जैनसाहित्य और इतिहास	[हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बंबई]
जै० सा० सं०	जैनसाहित्यसंशोधक	[पूना]
जै० हि०	जैन हितैषी	
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह	[बड़ौदा ओरियंटल सिरीज]
तत्त्वसं० पं०	तत्त्वसंग्रह पंजिका	[" " "]
तत्त्वानुशा०	तत्त्वानुशासनादिसंग्रह	[माणिकचंद्र ग्र० बंबई]
तत्त्वार्थश्लो०, त० श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	[गांधी नाथारंग ग्रन्थमाला सोलापुर]
तत्त्वार्थ सू०, त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र	
त० भा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
त० भा० टी०, त० सि०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सिद्धसेन-गणिटीका	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]

त० सार०	तत्त्वार्थसार	[प्रथम गुच्छक काशी]
त० हृ०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य हरिभद्रीय-टीका	[ऋषभदेव केशरीमलजी संस्था रतलाम]
ता०	ताड़पत्रीयप्रति, जयधवला, मूडविद्रीभंडार	
ति० प०	तिलोयपण्णत्ति लिखित	[स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस]
त्रिंशि० भा०	त्रिंशिकाभाष्य	[पेरिस]
त्रिविक्रम०	त्रिविक्रम प्राकृतव्याकरण	[चौखम्बा सीरीज़ काशी]
त्रिषष्ठि०	त्रिषष्ठिशलाका चरित्र	[आत्मानन्द सभा भावनगर]
दश० नि० दश०वै० नि०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
दश० नि० हरि०	दशवैकालिकनिर्युक्ति हरिभद्रटीका	[,, ,,]
दशवै०	दशवैकालिकसूत्र	[,, ,,]
दे० ना०	देशीनाममाला	[कलकत्ता युनिवर्सिटी]
द्रव्य सं०	द्रव्यसंग्रह	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई]
द्वादशानु०	द्वादशानुप्रेक्षा	[मा० ग्रं० बम्बई]
ध० ध० आ०	धवला की प्रति जैनसिद्धान्तभवन आरा	
ध० खे०	धवला खेत्ताणुओग	[जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती]
धम्मरसा०	धम्मरसायण सिद्धान्तसारादि संग्रहान्तर्गत	[मा० ग्र० बम्बई]
धर्मसं०	धर्मसंग्रहणी	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
ध० स०	धवला	[सहारनपुर प्रति, लिखित]
ध० सं०	धवला संतपरूवणा	[जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती]
नन्दी०	नन्दीसूत्र	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
नन्दी० चू० नं० चू०	नन्दीसूत्र चूर्णि	[ऋषभदेव केशरीमल जी संस्था रतलाम]
नन्दी० म०	नन्दीसूत्र मलयगिरिटीका	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
नन्दी० हृ०	नन्दीसूत्र हरिभद्रटीका	[ऋषभदेव केशरीमल जी संस्था रतलाम]
नयच०	नयचक्र, नयचक्रादिसंग्रहान्तर्गत	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
नयच० वृ०	नयचक्रवृत्ति सिंहक्षमाश्रमणकृत	[श्वे० मन्दिर रामघाट काशी]
नयप्र० नय प्रदी०	नयप्रदीप यशोविजय ग्रन्थमालान्तर्गत	[जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर]
नयरह०	नयरहस्य	[,, ,,]
नय वि० नय विव०	नयविवरण	[प्रथम गुच्छक भदैनीघाट काशी]
नयोप०	नयोपदेश	[आत्मवीर सभा भावनगर]
नि० चू० (अभि रा०)	निशीथचूर्णि	[अभिधानराजेन्द्रकोषोद्धृत]
नियम०	नियमसार	[जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई]
न्यायकु० न्यायकुमु०	न्यायकुमुदचन्द्र	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
न्यायकुमु० टि०	न्यायकुमुदचन्द्र टिप्पण	[,, ,,]
न्यायप्र० वृ० पं०	न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका	[बडौदा सिरीज]
न्यायम०	न्यायमञ्जरी	[विजयानगरम् संस्कृत सिरीज काशी]
न्यायवा० ता०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	[चौखम्बा सिरीज काशी]
न्यायवि०	न्यायविनिश्चय अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत	[सिंघी जैन सिरीज कलकत्ता]
न्यायसू०	न्यायसूत्र	
न्यायावता०	न्यायावतार	[श्वेताम्बर कानफ्रेंस बम्बई]
न्यायाव० टी०	न्यायावतार टीका	[,,]
पउम०	पउमचरिउ	
पंचव०	पंचवस्तुक	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
पञ्चा०	पंचास्तिकाय	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]

पंचा० जयसे०	पंचास्तिकाय जयसेनीय टीका	[रायचन्द्र शास्त्रमाला वंबई]
पंचा० तत्त्व०	,, तत्त्वप्रबोधिनी टीका	[,, ,,]
पद्मच०	पद्मचरित्र	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
पयडि अणु० ध० आ०	पयडिअणुओगद्दार धवला आरा	
परमलघु०	परमलघुमञ्जूषा	[चौखम्बा सिरीज काशी]
परिशिष्ट०	परिशिष्टपर्व	[जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर]
पात० महाभा०	पातञ्जलमहाभाष्य	[निर्णयसागर वंबई]
पाराशरोप०	पाराशरोप पुराण	
पिंड०	पिण्डनिर्युक्ति	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
पिंड० भा०	पिण्डनियुक्ति भाष्य	[,, ,,]
पुरुषा०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	[रायचन्द्र शास्त्रमाला वंबई]
प्रज्ञा०	प्रज्ञापना सूत्र	[आगमोदय समिति सूरत]
प्रज्ञा० मलय०	प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरिटीका	[,, ,,]
प्रमाणनय०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	[सिंघी जैन सीरीज़ कलकत्ता]
प्रमाणवार्तिकालं०	प्रमाणवार्तिकालङ्कार	[भिक्षु राहुलसांकृत्यायनकी प्रेस कापी]
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत	[सिंघीजैन सिरीज कलकत्ता]
प्रवचन०	प्रवचनसार	[रायचन्द्र शास्त्रमाला वंबई]
प्रव० टी०	प्रवचनसार टीका	[,, ,,]
प्रवचन० जय०	प्रवचनसार जयसेनीयटीका	[,, ,,]
प्रश० किरणा०	प्रशस्तपाद किरणावली	[चौखम्बा सीरीज काशी]
प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्य	[,, ,,]
प्रशम०	प्रशमरतिप्रकरण	[जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर]
प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादव्योमवती टीका	[चौखम्बा सीरीज़ काशी]
प्रा० गु०	प्राकृत व्याकरण गुजराती	[गुजरात पुरातत्त्व मंदिर अहमदाबाद]
प्रा० श्रुतभ०	प्राकृत श्रुतभक्ति	क्रियाकलापान्तर्गत—
वृहत्स्व०	वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र	प्रथमगुच्छकान्तर्गत (काशी)
वृहत्स्व० टी०	वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र टीका लिखित	जैनसिद्धान्त आरा
वृहद्द्रव्य०	वृहद्द्रव्य संग्रह	[रायचन्द्र शास्त्रमाला]
वृह० भा० टी०	वृहत्कल्पभाष्य टीका	[आत्मानन्दसभा भावनगर]
वोधिच०	वोधिचर्यावतार पञ्जिका	[रा. ए. सोसाइटी कलकत्ता]
भग०	भगवतीसूत्र	[ऋ० के० संस्था रतलाम, द्वितीय संस्करण]
भग० अभ०	भगवतीसूत्र अभयदेवी टीका	[,, ,,]
भग० आ० मूलारा०	भगवती आराधना	[सोलापुर]
भग० विज० मूलारा० विजय०	भगवती आराधना विजयोदया टीका	[,,]
भा०प्रा०रा०	भारत के प्राचीन राजवंश	[हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर वंबई]
भावप्रा०	भावप्राभृत षट्प्राभृतान्तर्गत	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वंबई]
भावसं० श्लो०	भावसंग्रह संस्कृत	[,, ,,]
मध्वभा०	मध्वभाष्य	
महापु०	महापुराण	[माणिकचन्द्र ग्र० वंबई]
मी० श्लो०	मीमांसा श्लोकवार्तिक	[चौखम्बा सीरीज़ काशी]
मी० श्लो० स्फो०	मीमांसाश्लोकवार्तिक स्फोटा०	[,, ,,]
मुग्धवो० टी०	मुग्धवोधव्याकरण टीका	
मू० टी०	मूलाचार टीका	[माणिकचन्द्र ग्र० वंबई]
मूला० मूलाचा०	मूलाचार	[,, ,,]
मूला० सम०	मूलाचार समयसाराधिकार	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वंबई]
मूलारा० द०	मूलाराधनादर्पण	[जैनबुकडिपो सोलापुर]

यश० उ०	यशस्तिलक उत्तरार्ध	[निर्णयसागर बंबई]
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
युक्त्यनु० टी०	युक्त्यनुशासन टीका	[" "]
योगबि०	योगविन्दु हरिभद्रसूरिग्रन्थसंग्रहान्तर्गत	[जैन ग्रन्थप्र० सभा राजनगर अहमदाबाद]
योगभा०	योगसूत्र व्यासभाष्य	
रत्नक०	रत्नकरण्डश्रावकाचार	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
रत्नक० टी०	रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका	[" "]
राजवा०	राजवार्तिक	[जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था]
लघी०	लघीयस्त्रय अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत	[सिंघी जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता]
लघी० स्व०	लघीयस्त्रय स्ववृत्ति "	[" "]
लघी० ता० टी०	लघीयस्त्रय तात्पर्य टीका	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
वाद० टी०	वादन्याय टीका	[महाबोधि सोसाइटी सारनाथ]
विंशति०	विंशतिविंशिका	[प्र० प्रो० अभ्यंकर अहमदाबाद]
विचार०	विचारसार प्रकरण	[आगमोदय समिति सूरत]
विधि० वि० टी० न्याय०	विधिविवेकटीका न्यायकणिका	[लाजरस क० काशी]
वि० बृह०	विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति	[यशोविजय ग्रन्थमाला काशी]
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य	[" "]
विशेषा० को०	विशेषावश्यकभाष्य कोट्याचार्य	[ऋषभदेव केशरीमल जी संस्था रतलाम]
वीरभ०	वीरभक्ति दशभक्त्यन्तर्गत	[सोलापुर]
वे० ध० आ०	वेदना खड धवला आरा	
वैयाकरणभू०	वैयाकरण भूषणसार	[चौखम्वा सीरिज काशी]
व्यव० भा०	व्यवहार भाष्य	[अहमदाबाद]
व्यवहारभा० पी०	व्यवहारभाष्य पीठिका	["]
शावरभा०	शावर भाष्य	[आनन्दाश्रम पूना]
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्तासमुच्चय	[गोडीजी जैन उपाश्रय पायधुनि बंबई]
शास्त्रवा० टी०	शास्त्रवार्तासमुच्चय यशोविजय टीका	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
श्रम० भ० महा०	श्रमण भगवान महावीर	[श्री क० वि० शास्त्रसमिति जलोर मारवाड़]
श्रावकप्र०	श्रावक प्रज्ञप्ति	[ज्ञानप्रसारक मंडल वम्बई]
षड्द० बृह०	षड्दर्शनसमुच्चय बृहद्वृत्ति	[आत्मानन्द सभा भावनगर]
स०	सहारनपुरीय जयधवला प्रति	
सं० श्रुत	संस्कृत श्रुतभक्ति क्रियाकलापान्तर्गत	[प्र० पं० पन्नालाल जी सोनी व्यावर]
सं० श्रुतभ० टी०	संस्कृत श्रुतभक्ति टीका	[" "]
सन्मति०	सन्मतितर्क प्रकरण	[गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर अहमदाबाद]
सन्मति० टी०	सन्मतितर्कटीका, अभयदेवकृत	[" "]
सप्तभ०	सप्तभङ्गितरङ्गिणी	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
सम० अभ०	समवायांग अभयदेवीय टीका	[अहमदाबाद]
समन्तभद्र	स्वामीसमन्तभद्र	[जैन ग्रन्थरत्नाकर वम्बई]
समय प्रा०	समय प्राभृत	[जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
समव०	समवशरणस्तोत्र	[मा० दि० जैन ग्रन्थमाला वम्बई]
सम० सू०	समवायांगसूत्र	[अहमदाबाद]
सर्वद०	सर्वदर्शनसंग्रह	[पूना]
सर्वा०, सर्वार्थ०, सर्वाऽसि०	सर्वार्थसिद्धि	[सोलापुर]
सर्वार्थ० टि०	सर्वार्थसिद्धि टिप्पण	["]
सांख्यका०	सांख्यकारिका	[चौखम्वा सिरीज काशी]
सांख्य० मा०	सांख्यकारिका माठरवृत्ति	[" "]
सांख्य सू०	सांख्यसूत्र	[कलकत्ता]
साहित्य द०	साहित्यदर्पण	[निर्णयसागर बंबई]
सिद्ध० द्वा०	सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका	
सिद्ध प्रा०	सिद्धप्राभृत	[आत्मानन्दसभा भावनगर]

सिद्धहेम०	सिद्धहेम व्याकरण	[अहमदाबाद]
सिद्धान्तसा०	सिद्धान्तसारादिसंग्रह	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चय	[पं० महेन्द्रकुमार स्या० वि० काशी]
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	[पं० सुखलालजी B. H. U.]
सुश्रुत०	सुश्रुतसंहिता	[निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
सूत्र० नि०	सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
सूत्र० शी०	सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्कटीका	[महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी राजकोट]
स्था०	स्थानाङ्गसूत्र	[अहमदाबाद द्वितीयावृत्ति]
स्था० टी०	स्थानाङ्ग सूत्रटीका	[,, ,,]
स्फोट० न्याय०	स्फोटसिद्धि न्यायविचार	[त्रिवेन्द्रं संस्कृत सीरिज]
स्फोट सि०	स्फोटसिद्धि	[मद्रास युनि० सीरिज]
स्या० म०	स्याद्वादमञ्जरी	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
स्या० र० } स्या० रत्ना० }	स्याद्वादरत्नाकर	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
स्वामिका०	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	[जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
हरि०	हरिवंशपुराण	[मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई]
हेतु वि० टी०	हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृत	[पं० सुखलालजी B. H. U.]
हेम० प्रा० व्या०	हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृतव्याकरण	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]

का०	कारिका
गा०	गाथा
त्रु०	त्रुटित अक्षर
प०	पत्र
पृ०	पृष्ठ
श्लो०	श्लोक
सू०	सूत्र
सूत्रगाथाङ्क	कसायपाहुडके गाथासूत्रोंके क्रमाङ्क

विषयसूची



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१०	१४	वस्तुमें पेज्ज–	वस्तुमें तीसरा पेज्ज-
३४	५	समासं तभू	समासंतभू
१०४	११	पहिग्रह	परिग्रह
११२	४	वदामि	वंदामि
१२२	७	इन इसलिये	इसलिये इन
१२८	१६	तथा किन्हींके	तथा किन्हीं
१४६	२६	अपकर्ष	अपकर्ष
१५५	१३	इस शंका	इस शंकाका
१५६	९	संकाभेदि	संकामेदि
१५६	२५	कर्मबन्धके ग्रहणकी अपेक्षा संक्तम	अकर्मबन्धके ग्रहणकी अपेक्षा बन्ध
१६७	३०	इन गाथाओंका	इन उपलविकारोंकी गाथाओंका
१७५	७	पद्धाणि०'	वद्धाणि०'
२००	१	एदन्तरङ्गनय–	एतदन्तरङ्गनय–
२३२	१८	प्रदेशयत्व	प्रदेशवत्त्व
२३३	१	और सर्वथा	और न सर्वथा
२५९	६	सुत्तमुच्चरिय	सुत्तमुच्चारिय (स०)
२६२	१९	निक्षेपोंको करता है।	निक्षेपोंको स्वीकार करता है।
२७९	२८	वाचकभावसे	वाच्य रूपसे
२८०	३०	उपभोगका	उपभोगको
२९१	१	अव्ववत्यावत्तीदो।	अव्ववत्यावत्तीदो।
२९३	७	क्कदिदर्थे	क्वचिदर्थे
२९५	१२	उत्पन्न	उत्पन्न
३०८	५	घडावणट्ठ	घडावणट्ठं
३१४	१	कसायकरसाणि	कसायरसाणि
३२८	२	पेज्जपाहुड और दोषपाहुडका	पेज्जदोषपाहुडका
३३३	२०	इससे जाता है	इससे जाना जाता है
३४५	११	खुद्धभवग्गहणं	खुद्दभवग्गहणं
३५१	८,२०	॥ १३४ ॥	॥ १३६ ॥
३५२	१	॥ १३५ ॥	॥ १३७ ॥
,,	५	॥ १३६ ॥	॥ १३८ ॥
,,	११	॥ १३७ ॥	॥ १३९ ॥
,,	१२	॥ १३५ ॥	॥ १३७ ॥
३५२	१८	॥ १३६ ॥	॥ १३८ ॥
३५६	१६	अनुभव रूप है	अनुभय रूप हैं
३६४	१	**पेज्जं वा**	**(३) पेज्जं वा**
३६४	२१	*** किस नयकी**	**किस नयकी**
३६९	८	क्रोधात्प्रीतिविनाशं	"क्रोधात्प्रीतिविनाशं
३७८	९	चेव	चेव

कसायपाहुडस्स

पेज्जदोसविहत्ती

पढमो अत्थाहियारो

मङ्गलाचरणम्

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं ।
दुसहपरीसहवसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं ॥ १ ॥

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ २ ॥

जो अज्जमंखुसीसो अन्तेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ३ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्तभट्टारकपृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥४ ॥

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारन्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलम्
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥ ५ ॥

तयोः सत्कीर्तिरूपां हि जयधवलभारतीम् ।
धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ॥ ७ ॥

सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक् ।
सोऽनाद्यनन्तसन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ ८ ॥

*　　　*　　　*　　　*

(१) जयध० सम्यक्त्व अनु० । (२) जयध० भा० १ पृ० ४ । (३) जयध० भा० १ पृ० ४
(४) संस्कृत महापुराण उत्थानिका । (५) प्रशस्ति उत्तरपुराण । (६) 'धवलां भारतीम्' के आधारसे
(७-८) प्रशस्ति जयधवला ।



सिरि-जइवसहाइरियविरइय-चुण्णिसुत्तसमण्णिदं

सिरि-भगवंतगुणहरभडारओवइट्ठं

कसायपाहुडं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरियविरइया टीका

जयधवला

तत्थ

पेज्जदोसविहत्ती णाम पढमो अत्थाहियारो



जयइ धवलंगतेएणाऊरिय-सयलभुवणभवणगणो ।
केवलणाणसरीरो अणंजणो णामओ चंदो ॥ १ ॥

अपने धवल शरीरके तेजसे समस्त भुवनोंके भवनसमूहको व्याप्त करनेवाले, केवलज्ञानशरीरी और अनंजन अर्थात् कर्मकलंकसे रहित चन्द्रप्रभ जिनदेव जयवंत हों ॥ १ ॥

विशेषार्थ– चन्द्रमा अपने धवल शरीरके मन्द आलोकसे मध्यलोकके कुछ ही

तित्थयरा चउवीस वि केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा ।
पसियंतु सिवसरूवा तिहुवणसिरसेहरा मज्झं ॥ २ ॥

भागको व्याप्त करता है, उसका शरीर भी पार्थिव है और वह सकलंक है। पर चन्द्रप्रभ जिनदेव अपने परमौदारिकरूप धवल शरीरके तेजसे तीनों लोकोंके प्रत्येक भागको व्याप्त करते हैं। उनका आभ्यन्तर शरीर पार्थिव न होकर केवलज्ञानमय है और वे निष्कलंक हैं, ऐसे चन्द्रप्रभ जिनदेव सदा जयवन्त हों। वीरसेन स्वामीने इसके द्वारा चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारकी स्तुति की है। 'धवलंगतेएण' इत्यादि पदके द्वारा उनकी वाह्य स्तुति की गई है। औदारिक नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ उनका औदारिक शरीर शुभ्रवर्ण था। उस शरीरकी प्रभा चन्द्रमाकी कान्तिके समान निस्तेज न हो कर तेजयुक्त थी। जो करोड़ों सूर्योंकी प्रभाको भी मात करती थी। 'केवलणाणसरीरो' इस पदसे भगवान्‌की आभ्यन्तर स्तुति की गई है। प्रत्येक आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनन्त गुणोंका पिंड है, इसलिये उन अनन्त गुणोंके समुदायको छोड़ कर आत्मा स्वतन्त्र और कोई वस्तु नहीं है। वाह्य शरीरादिके द्वारा जो आत्माकी स्तुति की जाती है, वह आत्माकी स्तुति न होकर किसी विशिष्ट पुण्यशाली आत्माका उस शरीरस्तुतिके द्वारा महत्त्व दिखलानामात्र है। यहां केवलज्ञान उपलक्षण है जिससे केवलदर्शन आदि अनन्त आत्मगुणोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा चार घातिया कर्मोंके नाशसे प्रकट होनेवाले आत्माके अनुजीवी गुणोंका ग्रहण होता है। 'अणंजणो' यह विशेषण भगवान्‌की अरहंत अवस्थाके दिखलानेके लिये दिया है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि यह स्तुति अरहंत अवस्थाको प्राप्त चन्द्रप्रभ जिनदेवकी है। इस स्तोत्रके प्रारंभमें आये हुए 'जयइ धवल' पदके द्वारा वीरसेन स्वामीने इस टीकाका नाम 'जयधवला' प्रख्यापित कर दिया है और चिरकाल तक उसके जयवंत रहनेकी कामना की है। जयधवला टीकाको प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम धवलवर्णवाले चन्द्रप्रभ जिनदेवकी स्तुति करनेका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिन्होंने अपने केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार कर लिया है, जो शिवस्वरूप हैं और तीनों लोकोंके अग्रभागमें विराजमान होने के कारण अथवा तीनों लोकोंके शलाकापुरुषोंमें श्रेष्ठ होने के कारण त्रिभुवनके सिरपर शेखररूप हैं, ऐसे चौवीसों तीर्थंकर भी मुझ पर प्रसन्न हों ॥ २ ॥

विशेषार्थ–इस गाथाके द्वारा चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुए उनके जयवंत होने की कामना की गई है। इससे वीरसेन स्वामीने यह प्रकट कर दिया है कि प्रत्येक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी कालमें चौवीस तीर्थंकर होते हैं, जो उस कालके समस्त महापुरुषोंमें प्रधानभूत होते हैं और आत्मकल्याणकारी तीर्थका प्रवर्तन करते हैं ॥ २ ॥

सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं ।
पुढ पदिबिंबं दीसइ वियसियसयवत्तगब्भगउरो[1] वीरो ॥ ३ ॥
अंगंगबज्झणिम्मी[2] अणाइमज्झंतणिम्मलंगाए ।
सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए ॥ ४ ॥
णमह गुणरयणभरियं सुअणाणामियजलोहगहिरमपारं ।
गणहरदेवमहोवहिमणेयणयभंगभंगितुंगतरंगं ॥ ५ ॥

जिसके केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल दर्पणमें लोक और अलोक विशद रूपसे प्रतिबिम्बकी तरह दिखाई देते हैं अर्थात् झलकते हैं, और जो विकसित कमलके गर्भ अर्थात् भीतरी भागके समान समुज्वल अर्थात् तपाए हुए सोनेके समान पीतवर्ण हैं, वे वीर भगवान् जयवन्त हों ॥ ३ ॥

विशेषार्थ–यद्यपि चौवीस जिनदेवोंकी स्तुतिमें वीर भगवान्की स्तुति हो ही जाती है फिर भी वर्तमानमें महावीर जिनदेवका तीर्थ होनेसे श्री वीरसेन स्वामीने उनकी पृथक् स्तुति की है ॥ ३ ॥

जिसका आदि मध्य और अन्तसे रहित निर्मल शरीर, अंग और अंगबाह्यसे निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती अर्थात् जाग्रतचक्षु है ऐसी श्रुतदेवी माताको नमस्कार हो ॥४॥

विशेषार्थ–श्रुत देवीकी स्तुति करते हुए वीरसेन स्वामीने प्रथम विशेषणके द्वारा यह प्रकट किया है कि श्रुत द्रव्यार्थिक दृष्टिसे अनादि-निधन है, उसका आदि, अन्त और मध्य नहीं पाया जाता है। तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे वह अंग और अंगबाह्यरूपसे प्रकट होता है। दूसरे विशेषणके द्वारा यह बतलाया है कि सन्मार्ग या मोक्षमार्गका दर्शन इस श्रुतके अभ्याससे ही हो सकता है, क्योंकि जो स्वयं नेत्रवान् होता है उसका आश्रय लेनेसे ही सन्मार्गकी प्रतीति होती है। यहाँ श्रुतदेवीको माताकी उपमा दी गई है। इसका यह कारण है कि जिसप्रकार माता अपनी सन्तानके भरण, पोषण, शिक्षण, लालन-पालन आदिका पूरा ध्यान रखती हुई उसे दुर्गुणों और बुरे सहवाससे बचाती है उसीप्रकार इस श्रुतदेवीका आश्रय लेकर प्रत्येक प्राणी अपनी आत्मीक उन्नति करता हुआ कुपथसे दूर रहता है ॥ ४ ॥

जो सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणरूपी रत्नोंसे भरे हुए हैं, और श्रुतज्ञानरूपी अमित जल-समुदायसे गंभीर हैं, जिनकी विशालताका पार नहीं मिलता है और जो अनेक नयोंके उत्तरोत्तर भेदरूपी उन्नत तरंगोंसे युक्त हैं ऐसे गणधरदेवरूपी समुद्रको तुम लोग नमस्कार करो ॥५॥

विशेषार्थ–गणधरदेव समुद्रके समान हैं। समुद्रमें रत्न होते हैं, उनमें भी अनेक गुणरूपी रत्न भरे हुए हैं। समुद्र अपार जलराशिसे पूर्ण अतएव खूब गहरा होता है, गणधरदेव भी श्रुतज्ञानरूपी जलसमुदायसे परिपूर्ण हैं, उनके ज्ञानकी थाह नहीं है।

(१) "पीतो गौरो हरिद्राभः" इत्यमरः। (२)–णिम्मि अणा–आ०

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ ६ ॥
गुणहरवयणविणिग्गयगाहाणत्थोवहारिओ सव्वो ।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ ॥ ७ ॥
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ८ ॥

§ १. णाणप्पवादामलदसमवत्थु-तदियकसायपाहुडुवहि-जलणिवहप्पक्खालिय-मइ-णाणलोयणकलावपच्चक्खीकयतिहुवणेण तिहुवणपरिवालएण गुणहरभडारएण तित्थवो-

समुद्रमें ऊँची ऊँची तरंगें उठा करती हैं, उनका श्रुतज्ञान भी नयभंगरूपी तरंगोंसे युक्त है। ऐसे गणधरदेवको सब लोग नमस्कार करो। इससे वीरसेन स्वामीने यह प्रकट किया है कि यह श्रुत गणधरदेवके द्वारा प्रकट हो कर चला आ रहा है ॥ ५ ॥

जिन्होंने इस आर्यावर्तमें अनेक नयोंसे युक्त, उज्ज्वल और अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त कषायप्राभृतका गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया उन गुणधर भट्टारकको मैं वीरसेन आचार्य नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

विशेषार्थ–जिन गुणधर भट्टारकने मूल कषायप्राभृतका मंथन करके एकसौ अस्सी गाथाओंमें इस कषायप्राभृतकी रचना की है उनकी उपर्युक्त गाथाके द्वारा स्तुति की गई है। इससे यह प्रकट किया है कि कषायप्राभृतके मूल उद्धारकर्ता गुणधर भट्टारक ही हैं। मूल कषायप्राभृतकी जो परंपरा उन तक आई वह आगे भी चलती रहे इसलिये गुणधर भट्टारकने सबसे पहले उसे एक सौ अस्सी गाथाओंमें निबद्ध किया ॥ ६ ॥

जिन आर्यमंक्षु आचार्यने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारण किया, नागहस्ती आचार्य सहित वे आर्यमंक्षु आचार्य हमें वर प्रदान करें ॥ ७ ॥

विशेषार्थ–इसमें आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्तीकी स्तुति की गई है और बतलाया है कि इन दोनों आचार्योंने उन एक सौ अस्सी गाथाओंका अभ्यास किया था ॥ ७ ॥

जो आर्यमंक्षु आचार्यके शिष्य हैं और नागहस्ती आचार्यके अन्तेवासी हैं, वृत्तिसूत्रके कर्ता वे यतिवृषभ आचार्य मुझे वर प्रदान करें ॥ ८ ॥

विशेषार्थ–इस गाथाके द्वारा चूर्णिसूत्रके कर्ता यतिवृषभ आचार्यकी स्तुति की गई है। इसमें स्पष्ट बतलाया है कि यतिवृषभ आचार्य ने आर्यमंक्षु और नागहस्तीके पास विद्याभ्यास किया था ॥ ८ ॥

§ १. ज्ञानप्रवाद पूर्वकी निर्दोष दसवीं वस्तुके तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्रके जलसमुदायसे धोए गये मतिज्ञानरूपी लोचनसमूहसे अथवा मति-मननशक्ति और ज्ञान-जाननेकी

च्छेदभएणुवइट्ठगाहाणं अवगाहियसयलपाहुडत्थाणं सचुण्णिसुत्ताणं विवरणं कस्सामो।

§ २. संपहि (पदि) गुणहरभंडारएण[1] गाहासुत्ताणमादीए जइवसहत्थेरेण वि चुण्णिसुत्तस्स आदीए मंगलं किण्ण कयं? ण एस दोसो; मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्जविग्घयरकम्म-

शक्तिरूपी लोचनसमूहसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है और जो तीनों लोकोंके परिपालक हैं ऐसे गुणधर भट्टारकके द्वारा परमागमरूप तीर्थकी व्युच्छित्तिके भयसे उपदेशी गई और जिनमें सम्पूर्ण कषायप्राभृत का अर्थ समाया हुआ है ऐसी गाथाओंका चूर्णिसूत्रोंके साथ मैं वीरसेन आचार्य विवरण करता हूं।

विशेषार्थ–समस्त द्रव्यश्रुत बारह अंगोंमें बटा हुआ है। उनमेंसे बारहवें अंग दृष्टिवादके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद हैं। इनमेंसे चौथे भेद पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं जिनमें पाँचवाँ भेद ज्ञानप्रवाद है। इसके बारह अर्थाधिकार (वस्तु) हैं, और प्रत्येक अर्थाधिकार बीस बीस प्राभृतसंज्ञक अर्थाधिकारोंमें विभक्त है। यहाँ पर इस पाँचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे पेज्जप्राभृत या कषायप्राभृतसे प्रयोजन है। गुणधर आचार्यको श्रुतपरंपरासे यही कषायप्राभृत प्राप्त हुआ था। जिसका अभ्यास करके गुणधर भट्टारकने श्रुतविच्छेदके भयसे उसे अतिसंक्षेप में एकसौ अस्सी गाथाओंमें निबद्ध किया। अनन्तर गुरुपरंपरासे प्राप्त उन एकसौ अस्सी गाथाओंका आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्तिने अभ्यास करके उन्हें यतिवृषभ आचार्यको पढ़ाया। उन्हें पढ़कर यतिवृषभ आचार्यने उन पर चूर्णिसूत्र लिखे। इसप्रकार कषायप्राभृत पर जो कुछ लिखा गया वह परम्परासे वीरसेन स्वामीको प्राप्त हुआ। वीरसेन स्वामीने उसका अभ्यास करके उस पर यह जयधवला नामकी विस्तृत टीका लिखी जिसके रचने की यहाँ प्रतिज्ञा की है।

§ २. **शंका**–गुणधर भट्टारकने गाथासूत्रोंके आदिमें तथा यतिवृषभ स्थविरने भी चूर्णिसूत्रोंके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रारंभ किये हुए कार्यमें विघ्नोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका विनाश करनेके लिये मंगल किया जाता है और वे कर्म परमागमके उपयोगसे ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् गाथासूत्र और चूर्णिसूत्र परमागमका सार लेकर बनाये गये हैं अतः परमागममें उपयुक्त होनेसे उनके कर्ताओंको मंगलाचरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि, जो काम मंगलाचरणसे होता है वही काम परमागमके उपयोगसे भी हो जाता है। इसलिये गुणधर भट्टारकने गाथासूत्रोंके और यतिवृषभ स्थविरने चूर्णिसूत्रोंके प्रारंभमें मंगल नहीं किया है।

(१)–भट्टार–आ०। (२) तुलना–"सत्थादिमज्झअवसाणएसु जिणत्तोत्त मंगलुच्चारो। णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रविव्व तिमिराइं॥"–ति० प० गा० ३२।

विणासणट्ठं । तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि । ण चेदमसिद्धं; सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो । उत्तं च–

"ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु पारिणमिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥ १ ॥"

ण च कम्मक्खए संते पारद्धकज्जविग्घस्स विज्जाफलाणुव[व]त्तीए वा संभवो; विरोहादो ।

यदि कोई कहे कि परमागमके उपयोगसे कर्मोंका नाश होता है यह वात असिद्ध है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, यदि शुभ और शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंका क्षय न माना जाय तो फिर कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता है । कहा भी है—

"औदयिक भावोंसे कर्मवन्ध होता है, औपशमिक, क्षायिक और मिश्र भावोंसे मोक्ष होता है । परन्तु पारिणामिकभाव वन्ध और मोक्ष इन दोनोंके कारण नहीं हैं ॥ १ ॥"

विशेषार्थ– ऊपर समाधान करते हुए शुद्ध परिणामोंके समान शुभ परिणामोंको भी कर्मक्षयका कारण वतलाया है, पर इसकी पुष्टिके लिये प्रमाण रूपसे जो गाथा उद्धृत की गई है उसमें औदयिक भावोंसे कर्मवन्ध होता है यह कहा है । इस प्रकार उक्त दोनों कथनोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि, शुभ परिणाम कषाय आदिके उदयसे ही होते हैं क्षयोपशम आदिसे नहीं । इसलिये जव कि औदयिकभाव कर्मवन्धके कारण हैं तो शुभ परिणामोंसे कर्मोंका वन्ध ही होना चाहिये, क्षय नहीं । इसका समाधान यह है कि यद्यपि शुभ परिणाममात्र कर्मवन्धके कारण हैं फिर भी जो शुभ परिणाम सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिके समय होते हैं और जो सम्यग्दर्शन आदिके सद्भावमें पाये जाते हैं वे आत्माके विकासमें वाधक नहीं होनेके कारण उपचारसे कर्मक्षयके कारण कहे जाते हैं । इसी-प्रकार क्षायोपशमिक भावोंमें भी प्रायः देशघाती कर्मोंके उदयकी अपेक्षा रहती है, इसलिये उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे आत्मामें जो विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे यद्यपि उदयजन्य मलिनतासे पृथक् नहीं किया जा सकता है फिर भी वह मलिनता क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन आदिका नाश नहीं कर सकती है और न कर्मक्षयमें वाधक ही हो सकती है, इसलिये गाथामें क्षायोपशमिक भावको भी कर्मक्षयका कारण कहा है ॥

यदि कहा जाय कि परमागमके उपयोगसे कर्मोंका क्षय होने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्यमें विघ्नोंकी और विद्यारूप फलके प्राप्त न होनेकी संभावना तो वनी ही रहती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अर्थात् जव कि परमागमके उपयोगसे विघ्नके और विद्याफलके प्राप्त न होनेके कारणभूत कर्मोंका नाश हो जाता है तव फिर उन कर्मोंके कार्यरूप विघ्नका सद्भाव और विद्याफलका अभाव वना ही रहे यह कैसे संभव है ? कारणके अभावमें कार्य नहीं होता यह सर्वमान्य नियम है । अतः यह

(१)–लाणवत्तीए अ०, ता०, स० ।

ण च सद्दाणुसारिसिस्साणं देवदाविसयभत्तिसमुप्पायणट्ठं तं कीरदे; तेण विणा वि गुरुवयणादो चेव तेसिं तदुप्पत्तिदंसणादो। ण च पमाणाणुसारिसिस्साणं तदुप्पायणट्ठं कीरदे; जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो। ण च भत्तिमंतेसु भत्तिसमुप्पायणं[1] संभवदि; णिप्पण्णस्स णिप्पत्तिविरोहादो। ण च सिस्सेसु सम्मत्तत्थित्तमसिद्धं; अहेदुदिट्ठिवादसुणणण्णहाणुववत्तीदो तेसिं तदत्थित्तसिद्धीदो। ण च लाहपूजासक्कारे पडुच्च सुणणकिरियाए वावद[2]सिस्सेहि वियहिचारो; सम्मत्तेण विणा सुणंताणं दव्वसवणं मोत्तूण भावसवणाभावादो। ण च दव्वसवणे एत्थ पओजणमत्थि; तत्तो

निश्चित हुआ कि परमागमके उपयोगसे विघ्नोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका नाश हो जाता है।

यदि कहा जाय कि शब्दानुसारी अर्थात् आगममें जो लिखा है या गुरुने जो कुछ कहा है उसका अनुसरण करनेवाले शिष्योंमें देवताविषयक भक्तिको उत्पन्न करानेके लिये मंगल किया जाता है सो भी नहीं है, क्योंकि, मंगलके विना भी केवल गुरुवचनसे ही उनमें देवताविषयक भक्तिकी उत्पत्ति देखी जाती है।

यदि कहा जाय कि प्रमाणानुसारी अर्थात् युक्तिके वलसे आगम या गुरुवचनको प्रमाण माननेवाले शिष्योंमें देवताविषयक भक्तिको उत्पन्न करनेके लिये मंगल किया जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किये विना मात्र गुरुवचनके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी माननेमें विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि शास्त्रके आदिमें किये गये मंगलसे भक्तिमानोंमें भक्तिका उत्पन्न किया जाना संभव है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो कार्य उत्पन्न हो चुका है उसकी पुनः उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। अर्थात् जिनमें पहलेसे ही श्रद्धामूलक भक्ति विद्यमान है उनमें पुनः भक्तिके उत्पन्न करनेके लिये मंगलका किया जाना निरर्थक है।

यदि कहा जाय कि शिष्योंमें सम्यक्त्व-श्रद्धाका अस्तित्व असिद्ध है, सो भी वात नहीं है, क्योंकि, अहेतुवाद अर्थात् जिसमें युक्तिका प्रयोग नहीं होता है ऐसे दृष्टिवाद अंगका सुनना सम्यक्त्वके विना वन नहीं सकता है, इसलिये उनके सम्यक्त्वका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा और सत्कारकी इच्छासे भी अनेक शिष्य दृष्टिवादको सुनते हैं, अतः 'अहेतुवादात्मक दृष्टिवादका सुनना सम्यक्त्वके विना वन नहीं सकता है' यह कथन व्यभिचारी हो जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सम्यक्त्वके विना श्रवण करनेवाले शिष्योंके द्रव्यश्रवणको छोड़कर भावश्रवण नहीं पाया जाता है। अर्थात् जो शिष्य सम्यक्त्वके न होने पर भी केवल लाभादिककी इच्छासे दृष्टिवादका श्रवण करते हैं उनका सुनना केवल सुननामात्र है उससे थोड़ा भी आत्मवोध नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ द्रव्यश्रवणसे ही प्रयोजन है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि,

(१)-यणट्ठं सं-आ०। (२) वापद-आ०।

अण्णाणणिराकरणदुवारेण कम्मक्खयणिमित्तसण्णाणुप्पत्तीए अभावादो। तदो एवं-विहसुद्धणयाहिप्पाएण गुणहर-जइवसहेहि ण मंगलं कदं[1] त्ति दट्ठव्वं। ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं[2]। ण च ववहारणओ चप्पलओ[3]; तत्तो[4] [ववहाराणुसारि-] सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।

§ ३. पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खयकंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; पुण्णबंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो, मंगलस्सेव सरागसंजमस्स वि परिच्चागप्पसंगादो। ण च एवं; तेण[5] [संजमपरिच्चागप्पसंग-] भावेण णिव्वुइगमणाभाव-

द्रव्यश्रवणसे अज्ञानका निराकरण होकर कर्मक्षयके निमित्तभूत सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः इस प्रकारके शुद्धनयके अभिप्रायसे गुणधर भट्टारक और यतिवृषभ स्थविरने गाथासूत्रों और चूर्णिसूत्रोंके आदिमें मंगल नहीं किया है। ऐसा समझना चाहिये। किन्तु गौतमस्वामीने व्यवहारनयका आश्रय लेकर कृति आदि चौवीस अनुयोगद्वारोंके आदिमें 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूपसे मंगल किया है।

यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उससे व्यवहारका अनुसरण करनेवाले शिष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय वहुत जीवोंका अनुग्रह करनेवाला है उसीका आश्रय करना चाहिये ऐसा मनमें निश्चय करके गौतम स्थविरने चौवीस अनुयोगद्वारोंके आदिमें मंगल किया है।

§ ३. यदि कहा जाय कि पुण्य कर्मके बाँधनेके इच्छुक देशव्रतियोंको मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मोंके क्षयके इच्छुक मुनियोंको मंगल करना युक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, पुण्य बन्धके कारणोंके प्रति उन दोनोंमें कोई विशेपता नहीं है। अर्थात् पुण्य बन्धके कारणभूत कामोंको जैसे देशव्रती श्रावक करता है वैसे ही मुनि भी करता है, मुनिके लिये उनका एकान्तसे निपेध नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिसप्रकार मुनियोंको मंगलके परित्यागके लिये यहाँ कहा जा रहा है उसीप्रकार उनके सरागसंयमके भी परित्यागका प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि, देशव्रतके समान सरागसंयम भी पुण्यबन्धका कारण है।

यदि कहा जाय कि मुनियोंके सरागसंयमके परित्यागका प्रसंग प्राप्त होता है तो

(१) वदंत्ति अ० आ०, स०। (२) "णमो जिणाणं १, णमो ओहिजिणाणं २, णमो परमोहिजिणाणं ३, णमो सव्वोहिजिणाणं ४, णमो अणंतोहिजिणाणं ५, ...णमो वड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स ४४।" –वे० ध० आ० प० ५१७–५३३। (३) "चप्फलं सेहरे असच्चे अ' –दे० ना० ३। २०। (४) तत्तो (त्रु० ९) सिस्साण ता०, तत्तो सेसाण अ०, आ०, स०। (५) ण च संजमप्पसंगभावेण अ०, आ०, ण च एवं तेण (त्रु० ८) भावेण ता०, ण च भावेण····णिव्वु–स०।

प्पसंगादो । सरागसंजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं, तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं; अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो । उत्तं च–

"अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ २ ॥"

§ ४. तेण सोवण-भोयण-पयाण-पच्चावण-सत्थपारंभादिकिरियासु णियमेण अरहंत-णमोक्कारो कायव्वो त्ति सिद्धं । ववहारणयमस्सिदूण गुणहरभडारयस्स पुण एसो अहिप्पाओ, जहा–कीरउ[3] अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंतणमोक्कारो, मंगलफलस्स पारद्धकिरियाए अणुवलंभादो । एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलं-भादो । एदस्स अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहरभडारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कयं ।

होओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, मुनियोंके सरागसंयमके परित्यागका प्रसंग प्राप्त होनेसे उनके मुक्तिगमनके अभावका भी प्रसंग प्राप्त होता है ।

यदि कहा जाय कि सरागसंयम गुणश्रेणी निर्जराका कारण है, क्योंकि, उससे बन्धकी अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा असंख्यातगुणी होती है, अतः सरागसंयममें मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि, अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराका कारण है, इस-लिये सरागसंयमके समान उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है । कहा भी है–

"जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंतको नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥"

§ ४. इसलिये सोना, खाना, जाना, वापिस आना और शास्त्रका प्रारंभ करना आदि क्रियाओंमें अरहंत नमस्कार अवश्य करना चाहिये । किन्तु व्यवहारनयकी दृष्टिसे गुणधर भट्टारकका यह अभिप्राय है कि परमागमके अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओंमें अरहंतनमस्कार नियमसे करना चाहिये, क्योंकि, अरहंतनमस्कार किये विना प्रारंभ की हुई क्रियामें मंगलका फल नहीं पाया जाता है । अर्थात् सोना, खाना आदि क्रियाएँ स्वयं मंगलरूप नहीं हैं, अतः उनमें मंगलका किया जाना आवश्यक है । किन्तु शास्त्रके प्रारंभमें मंगल करनेका नियम नहीं है, क्योंकि, परमागमके उपयोगमें ही मंगलका फल नियमसे प्राप्त हो जाता है । अर्थात् परमागमका उपयोग स्वयं मंगलस्वरूप होनेसे उसमें मंगलफलकी प्राप्ति अनायास हो जाती है । इसी अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये गुणधर भट्टारकने ग्रंथके आदिमें मंगल नहीं किया है ।

(१) "गुणो गुणगारो तस्स सेढी ओली पंती गुणसेढी णाम"–ध० आ० प० ७४९ । (२) मूलाचा० ७।५। तुलना–"अरहंतनमोक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ । भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाहो य ॥"–आ० नि० ९२३ । (३) कीरओ अ०, आ० ।

§ ५. संपहि एदस्स गंथस्स संबंधादिपरूवणट्ठं गाहासुत्तमागयं–

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥१॥

§ ६. संपहि एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे। तं जहा–अत्थि पुव्वसद्दो दिसावाचओ, जहा, पुव्वं गामं गदो त्ति। तहा कारणवाचओ वि अत्थि, मइपुव्वं सुदमिदि। जहा (तहा) सत्थवाचओ वि अत्थि, जहा, चोद्दसपुव्वहरो भद्दबाहु त्ति। पयरणवसेण एत्थ सत्थवाचओ घेत्तव्वो। 'पुव्वम्मि' त्ति वयणेण आचारादिहेट्ठिमएक्कारसण्हमंगाणं दिट्ठिवाद-अवयवभूद-परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-चूलियाणं च पडिसेहो कओ[1], तत्थ पुव्वववएसाभावादो। हेट्ठिमउवरिमपुव्वणिराकरणदुवारेण णाणप्पवादपुव्वग्गहणट्ठं 'पंचमम्मि' त्ति णिद्देसो कदो। वत्थुसद्दो जदि वि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे, तो वि पयरणवसेण सत्थवाचओ घेत्तव्वो। हेट्ठिमउवरिमवत्थुणिसेहट्ठं 'दसम'ग्गहणं कदं। तत्थतणवीसंपाहुडेसु सेसपाहुडणिवारणट्ठं 'तदियपाहुड'ग्गहणं कदं। तं तदियपाहुडं किण्णाममिदि वुत्ते

§ ५. अब इस ग्रन्थके सम्बन्ध आदिके प्ररूपण करनेके लिये गाथासूत्रको कहते हैं–

ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुमें पेज्जप्राभृत है उससे प्रकृत कषायप्राभृतकी उत्पत्ति हुई है ॥ १ ॥

§ ६. अब इस गाथाका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है–पूर्व शब्द दिशावाचक भी है। जैसे, वह पूर्व ग्रामको अर्थात् पूर्व दिशामें स्थित ग्रामको गया। तथा पूर्व शब्द कारणवाचक भी है। जैसे, मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। तथा पूर्व शब्द शास्त्रवाचक भी है। जैसे, चौदह पूर्वोंको धारण करनेवाले भद्रबाहु थे। प्रकरणवश इस गाथामें पूर्वशब्द शास्त्रवाचक लेना चाहिये। गाथामें आये हुए 'पुव्वम्मि' इस वचनसे आचारांग आदि नीचेके ग्यारह अंगोंका तथा दृष्टिवादके अवयवभूत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिकाका निषेध किया है, क्योंकि, इन उपर्युक्त ग्रन्थोंमें पूर्व शब्दका व्यपदेश नहीं पाया जाता है। अर्थात् ये ग्रन्थ पूर्व नामसे नहीं कहे जाते हैं। उत्पादपूर्व आदि नीचेके चार पूर्वोंका तथा सत्यप्रवाद आदि ऊपरके नौ पूर्वोंका निषेध करके पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वके ग्रहण करनेके लिये गाथामें 'पंचमम्मि' पदका निर्देश किया है। वस्तु शब्द यद्यपि अनेक अर्थोंमें रहता है तो भी प्रकरणवश यहाँ वस्तु शब्द शास्त्रवाचक लेना चाहिये। नीचेकी नौ और ऊपरकी दो वस्तुओंका निषेध करनेके लिये गाथामें 'दसमे' पदका ग्रहण किया है। उस दसवीं वस्तुके वीस प्राभृतोंमेंसे शेष प्राभृतोंका निराकरण करनेके लिये गाथामें 'पाहुडे तदिए' पदका ग्रहण किया है। उस तीसरे प्राभृतका क्या नाम है ऐसा पूछने पर गाथामें

(१) कदो अ०, आ०।

'पेज्जपाहुडं' त्ति तण्णामं भणिदं । 'तत्थ एदं कसायपाहुडं होदि' त्ति वुत्ते तत्थ उप्पण्णमिदि घेत्तव्वं ।

§ ७. कथमेकस्मिन्नुत्पाद्योत्पादकभावः ? न; उपसंहार्यादुपसंहारस्य कथञ्चिद्भेदोपलम्भतस्तयोरेकत्वविरोधात् । पेज्जदोसपाहुडस्स पेज्जपाहुडमिदि सण्णा कथं जुज्जदे ? वुच्चदे; दोसो पेज्जाविणाभावि त्ति वा जीवदव्वदुवारेण तेसिमेयत्तमत्थि त्ति वा पेज्जसद्दो पेज्जदोसाणं दोण्हं पि वाचओ सुप्पसिद्धो वा, [1]णामेगदेसेण वि णामिल्लविसयं (य) संपच्चओ सच्चभामादिसु, तेण पेज्जदोसपाहुडस्स पेज्जपाहुडसण्णा वि ण विरुज्झदे । एवमेदीए गाहाए कसायपाहुडस्स णामोवक्कमो चेव परूविदो । 'पाहुडम्मि दु' त्ति एत्थतण 'दु'

'पेज्जपाहुड' इसप्रकार उसका नाम कहा है । उस पेज्जप्राभृतमें यह कषायप्राभृत है इस कथनका, पेज्जप्राभृतसे कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये ।

विशेषार्थ–पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्वकी दसवीं वस्तुमें तीसरा पेज्जप्राभृत है । गुणधर भट्टारकने उसीके आधारसे यह प्रकृत कषायप्राभृत ग्रंथ लिखा है । अतः गाथामें आये हुए 'पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम' इस वाक्यका इस तीसरे पेज्जप्राभृतसे यह कषायप्राभृत निकला है यह अर्थ किया है ।

§ ७. **शंका**–एक ही पदार्थमें उत्पाद्य-उत्पादकभाव कैसे बन सकता है, अर्थात् पेज्ज और कषाय जब एक ही हैं तो फिर पेज्जप्राभृतसे कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ यह कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान–यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, उपसंहार्य और उपसंहारक इन दोनोंमें कथंचित् भेद पाया जाता है । इसलिये पेज्जप्राभृत और कषायप्राभृत इन दोनोंको सर्वथा एक माननेमें विरोध आता है । अर्थात् पेज्जप्राभृतका सार लेकर कषायप्राभृत लिखा गया है, इसलिये वे एक न होकर कथंचित् दो हैं । और इसीलिये पेज्जप्राभृतसे कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ यह कहा जा सकता है ।

शंका–पेज्जदोषप्राभृतका पेज्जप्राभृत यह नाम कैसे रखा जा सकता है ?

समाधान–एक तो दोष पेज्ज अर्थात् रागका अविनाभावी है; अथवा जीवद्रव्यकी अपेक्षा पेज्ज और दोष ये दोनों एक हैं; अथवा पेज्ज शब्द पेज्ज और दोष इन दोनोंका वाचक है, यह बात सुप्रसिद्ध है । तथा सत्यभामा आदि नामोंमें नामके एकदेश भामा आदिके कथन करनेसे उस नामवाली वस्तुका बोध हो जाता है, इसलिये पेज्जदोषप्राभृतका पेज्जप्राभृत यह नाम भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

इसप्रकार यद्यपि इस गाथामें कषायप्राभृतके नाम उपक्रमका ही कथन किया है तो भी गाथाके 'पाहुडम्मि दु' इस अंशमें आये हुए 'दु' शब्दसे अथवा देशामर्षकभावसे आनु-

(१) "णामेगदेसादो वि णामिल्लविसयणाणुप्पत्तिदंसणादो"-ध० आ० प० ५१८ ।

सद्देण पुण सेसउवक्कमा सूचिदा, देसामासियभावेण वा ।

§ ८. संपहि गाहाए दोहि पयारेहि सूचिदसेसोवक्कमाणं परूवणट्ठं जइवसहाइरियो चुण्णिसुत्तं भणदि–

पूर्वी आदि शेप चार उपक्रम सूचित हो जाते हैं ।

विशेपार्थ–उपक्रम पांच प्रकारका है–आनुपूर्वी, नाम प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । इनमेंसे गुणधर भट्टारकने नाम उपक्रमका तो 'कसायाण पाहुडं णाम' इस पदके द्वारा स्वयं उल्लेख किया है । पर शेप चार उपक्रमोंका उल्लेख नहीं किया है जिनके उल्लेख करनेकी आवश्यकता थी । इस पर वीरसेन स्वामीका कहना है कि या तो 'पाहुडम्मि दु' यहां आये हुए 'दु' शब्दसे आनुपूर्वी आदि शेप चार उपक्रमोंका ग्रहण हो जाता है । अथवा, 'कपायाण पाहुडं णाम' यह उपलक्षणरूप है, इसलिये इस पदके द्वारा देशामर्पकभावसे आनुपूर्वी आदि शेप चार उपक्रमोंका ग्रहण हो जाता है । उपलक्षणरूपसे आया हुआ जो पद या सूत्र अधिकृत विपयके एकदेशके कथन द्वारा अधिकृत अन्य समस्त विपयोंकी सूचना करता है, उसे देशामर्पक पद या सूत्र कहते हैं । इसका खुलासा मूलाराधना गाथा ११२३ की टीकामें किया है । वहां लिखा है कि 'जिसप्रकार 'तालपलंबं ण कप्पदि' इस सूत्रमें जो ताल शब्द आया है, वह वहां वृक्षविशेपकी अपेक्षा ताड़वृक्षका वाची न होकर वनस्पतिके एकदेशरूप वृक्षविशेपका वाची है । अर्थात् यहां पर ताल शब्द ताड़ वृक्षविशेपकी अपेक्षा ताड़वृक्षको सूचित नहीं करता है किन्तु समस्त वनस्पतिके एकदेशरूपसे ताड़वृक्षको सूचित करता है । अतएव ताल शब्दके द्वारा देशामर्पकभावसे सभी वनस्पतियोंका ग्रहण हो जाता है । उसीप्रकार गाथा नं० ४२१ के 'आचेलक्कुद्देसिय' इस अंश में आया हुआ चेल शब्द समस्त परिग्रहका उपलक्षणरूप है, अतः 'आचेलक' पदके द्वारा परिग्रहमात्रके त्यागका ग्रहण हो जाता है ।' मूलाराधनाके इस कथनानुसार प्रकृतमें कपायप्राभृत यह पद भी आनुपूर्वी आदि पांचों उपक्रमोंके एकदेशरूपसे गाथामें आया है इसलिये वह देशामर्पकभावसे आनुपूर्वी आदि शेप चार उपक्रमोंका भी सूचन करता है ।

§ ८. अब गाथामें दो प्रकारसे अर्थात् गाथामें आये हुए 'तु' शब्दसे या 'कसायाण पाहुडं णाम' इस पदके देशामर्पकरूप होनेसे, सूचित किये गये शेप उपक्रमोंके कथन करनेके लिये यतिवृपभ आचार्य चूर्णिसूत्र कहते हैं–

(१) "एदं देसामासिगसुत्तं; कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचियत्तादो ।"–ध० स० प० ४८६। "एदं देसामासियसुत्तं देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदाणेयत्थादो ।"–ध० स० प०५८९। "देसामासियसुत्तं आचेलक्कं ति तं खु ठिदिकप्पे । लुत्तोऽथवादिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥"–मूलारा० श्लो० ११२३। "अहवा एगग्गहणे गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं । तेणऽग्गपलंबेणं तु सूइया सेसगपलंवा ।"–बृह० भा० गा० ८५५।

* णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो। तं जहा–आणुपुव्वी, णामं, पमाणं, वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि ।

§ ९. उपक्रम्यते समीपीक्रियते श्रोत्रा अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः[2]। किमट्ठमुवक्कमो वुच्चदे ? ण; अणवगयणामाणुपुव्वि-पमाण-वत्तव्वत्थाहियारा मणुया किरियाफलट्ठं ण पयट्टंति त्ति तेसिं पयट्टावणट्ठं वुच्चदे ।

§ १०. संपहि एदस्स उवक्कमस्स पंचविहस्स परूवणट्ठं ताव गाहाचुण्णिसुत्तेहि सूचिदसुदक्खंधपरूवणं कस्सामो । तं जहा–णाणं पंचविहं मदि-सुदोहि-मणपज्जव-केवल-

* ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे प्राभृतका उपक्रम पाँच प्रकारका है। यथा–आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार ।

§ ९. जिसके द्वारा श्रोता प्राभृतको उप अर्थात् समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं। अर्थात् जिससे श्रोताको प्राभृतके क्रम, नाम और विषय आदिका पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है वह उपक्रम कहलाता है ।

शंका–उपक्रम किसलिये कहा जाता है ?

समाधान–जिन मनुष्योंने किसी शास्त्रके नाम, आनुपूर्वी, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार नहीं जाने हैं वे उस शास्त्रके पठन पाठन आदि क्रियारूप फलके लिये प्रवृत्ति नहीं करते हैं। अर्थात् नाम आदि जाने बिना मनुष्योंकी प्रवृत्ति प्राभृतके पठनपाठनमें नहीं होती है, अतः उनकी प्रवृत्ति करानेके लिये उपक्रम कहा जाता है ।

§ १०. अब पाँच प्रकारके इस उपक्रमका कथन करनेके लिये गाथासूत्र और चूर्णिसूत्रके द्वारा सूचित किये गये श्रुतस्कन्धका प्ररूपण करते हैं। वह इस प्रकार है–

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे ज्ञान पांच प्रकारका है। उनमेंसे जो ज्ञान पांच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है ।

(१) "सोवि उवक्कमो पंचविहो·········"–ध० सं० पृ० ७२। "से किं तं उवक्कमे ? छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–णामोवक्कमे ठवणोवक्कमे दव्वोवक्कमे खेत्तोवक्कमे कालोवक्कमे भावोवक्कमे····अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–आणुपुव्वी नामं पमाणं वत्तव्वया अत्थाहिगारे समोआरे ।"–अनु० सू० ६०, ७०। (२) "जेण करणभूदेण णामप्पमाणादीहिं गंथो अवगम्मदे सो उवक्कमो णाम ।"–ध० आ० प० ५३७। "प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ।।"–आदिपु० २।१०३।

"सत्थस्सोवक्कमणं उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा। सत्थसमीवीकरणं आणयणं नासदेसम्मि ।।" उप सामीप्ये, क्रमु पादविक्षेपे, उपक्रमणं दूरस्थस्य शास्त्रादिवस्तुनस्तैस्तैः प्रतिपादनप्रकारैः समीपीकरणं न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमित्युपक्रमः, उपक्रान्तं ह्युपक्रमान्तर्गतभेदैर्विचारितं विक्षिप्यते नान्यथेति भावः। उपक्रम्यते वा निक्षेपयोग्यं क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेति उपक्रमः। अथवा, उपक्रम्यते अस्मिन् शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रमः । यदि वा, उपक्रम्यते अस्माद् विनीतविनेयविनयादित्युपक्रमः, विनयेनाराधितो हि गुरुरुपक्रम्य निक्षेपयोग्यं शास्त्रं करोतीत्यभिप्रायः।"–वि० बृह० गा० ९११ । अनु० मलय०, सू० ५९ ।

णाणभेएण। तत्थ जं पंचिंदियमणेहिंतो उप्पज्जइ णाणं तं मदिणाणं णाम। ओग्गह-ईहावाय-धारणाभेएण तं चेव चउव्विहं। पंचिंदिय-मणणाणं अत्थ-वंजणोग्गह-ईहावाय-धारणाभेएण अट्ठावीसदिविहं। वहु-वहुविह-खिप्पाणिस्सियाणुत्त-धुवेयरभेयेण अट्ठावीसं-मदिणाणेसु पादिदेसु छत्तीसुत्तर-तिसयभेयं मदिणाणं होदि। खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ वि परूवेदव्वो।

वह मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है। इसप्रकार पांचों इन्द्रियजन्य मतिज्ञान और मानस मतिज्ञान ये छहों अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह (व्यंजनावग्रह मन और चक्षुसे नहीं होता है, इसलिये केवल चार इन्द्रियोंसे ग्रहण करना चाहिये) ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे अट्ठाईस प्रकारके हो जाते हैं। वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, और ध्रुव, तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, और अध्रुव इन वारह प्रकारके पदार्थोंको मतिज्ञान विषय करता है, अतः इन्हें पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकारके मतिज्ञानोंमें पृथक् पृथक् मिला देने पर मतिज्ञान तीन सौ छत्तीस प्रकारका हो जाता है। क्षिप्रावग्रह आदिका अर्थ जिसप्रकार वर्गणाखंडमें कहा है उसीप्रकार यहाँ भी प्ररूपण कर लेना चाहिए।

(१) "एवमाभिणिवोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स चउव्विहं वा चउवीसदिविधं वा अट्ठावीसदिविहं वा वत्तीसदिविधं वा अडदालीसदिविधं वा चोरालसदविहं वा अट्ठसट्ठिसदविधं वा वाणवुदिसदविधं वा वासदअट्ठासीदिविधं वा तिसदछत्तीसदिविधं वा तिसदचुलासीदिविधं वा णादव्वाणि भवंति।"–पयडिअणु०, ध० आ० प०८७०। 'तत्सामान्यादेकम्, इन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् द्विधा, अवग्रहादिभेदाच्चतुर्धा, तैरिन्द्रियगुणितैश्चतुर्विंशतिविधम्, तैरेव व्यञ्जनावग्रहाधिकैरष्टाविंशतिविधम्, तैरेव मूलभङ्गाधिकैः द्रव्यादिसहितैर्वा-द्वात्रिंशद्विधम्। त एते त्रयो विकल्पा वह्वादिभिः द्वादश (भिः) गुणिता द्वेशते अष्टाशीत्युत्तरे, त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि च भवन्ति।"–राजवा० पृ० ४९। गो० जीव० गा० ३१४। "एवमेतत् मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधमष्टाविंशतिविधमष्टषष्ठ्युत्तरशतविधं षट्त्रिंशत्त्रिशतविधं च भवति।" त० भा०, त० सि०, त० हृ०, १।१९। वि० भा० गा० ३०७ (२) सिप्पो अ०, आ०, ता० (३) "कोऽर्थावग्रहः? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। को व्यञ्जनावग्रहः? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। न स्पष्टग्रहणमर्थावग्रहः; अस्पष्टग्रहणस्य व्यञ्जनावग्रहत्वप्रसङ्गात्। भवतु चेत्, न; चक्षुष्यस्पष्टग्रहणदर्शनतो व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसङ्गात्।··नाशुग्रहणमर्थावग्रहः; शनैर्ग्रहणस्य व्यञ्जनावग्रहत्वप्रसङ्गात्।"–ध० आ० प० ८६७। गो०जीव० गा०३०७। "अत्थोवग्गहावरणीयं णाम कम्मं तं छव्विहं ॥२६॥ कुदो? सव्वेसु इंदिएसु अपत्तत्थग्गहणसत्तिसंभवादो··"–ध० आ० प० ८६८। "आशु अर्थग्राही क्षिप्रप्रत्ययः अभिनवशरावगतोदकवत्। शनैः परिच्छिन्दानः अक्षिप्रप्रत्ययः। वस्त्वेकदेशस्य आलम्वनीभूतस्य ग्रहणकाले एकवस्तुप्रतिपत्तिः वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकारक एव वा दृष्टान्तमुखेन अन्यथा वा अनवलम्वितवस्तुप्रतिपत्तिः, अनुसन्धानप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्च अनिःसृतप्रत्ययः।·· तत्प्रतिपक्षो निःसृतप्रत्ययः। क्वचित्कदाचिद्वस्त्वेकदेश एव प्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात् प्रतिनियतगुणविशिष्टवस्तूपलम्भकाल एव तदिन्द्रियानियतगुणविशिष्टस्य तस्योपलब्धिरनुक्तप्रत्ययः····एतत्प्रतिपक्षः उक्तप्रत्ययः।····नित्यत्वविशिष्टस्तम्भादिप्रत्ययः स्थिरः······विद्युत्प्रदीपज्वालादौ उत्पादविनाशविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽध्रुवः उत्पादव्ययध्रौव्यविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽपि अध्रुवः··"–ध० आ० प० ८७०।

विशेषार्थ—ऊपर की गई सूचनाके अनुसार अवग्रह आदिका कथन षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डकी धवला टीकाके अनुसार किया जाता है। अवग्रहके दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यंजनावग्रह और अप्राप्त अर्थके ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियसे सम्बद्ध हो कर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियां प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जान सकती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियां प्राप्त अर्थको जानती हैं, यह तो स्पष्ट है। पर युक्तिसे उनके द्वारा अप्राप्त अर्थका जानना भी सिद्ध हो जाता है। पृथिवीमें जिस ओर निधि पाई जाती है, एकेन्द्रियोंमें वनस्पतिकायिक जीवोंका उस ओर प्रारोहका छोड़ना देखा जाता है; इत्यादि हेतुओंसे जाना जाता है कि स्पर्शन आदि चार इन्द्रियोंमें भी अप्राप्त अर्थके जाननेकी शक्ति रहती है। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके ऊपर जो लक्षण कहे हैं उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहमें केवल शीघ्रग्रहण और मन्दग्रहणकी अपेक्षा अथवा व्यक्तग्रहण और अव्यक्तग्रहणकी अपेक्षा भेद नहीं है, क्योंकि, उक्त अवग्रहोंके इसप्रकारके लक्षण मानने पर दोनों ही अवग्रहोंके द्वारा वारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण प्राप्त नहीं होता है। ईहा, अवाय और धारणा अर्थावग्रहपूर्वक ही होते हैं, इसलिये प्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इस क्रमसे ज्ञान होते हैं। तथा अप्राप्त अर्थमें अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इस क्रमसे ज्ञान होते हैं। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विशेषकी आकांक्षारूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। निर्णयात्मक ज्ञानको अवाय कहते हैं। और कालान्तरमें न भूलनेके कारणभूत संस्कारात्मक ज्ञानको धारणा कहते हैं। इसप्रकार स्पर्शन आदि चार इन्द्रियोंकी अपेक्षा व्यंजनावग्रहके चार भेद तथा पांचों इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके चौवीस भेद ये सव मिलकर मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं। तथा ये अट्ठाईस मतिज्ञान निम्नलिखित वहु आदि वारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं, इसलिये मतिज्ञानके सव भेद तीन सौ छत्तीस हो जाते हैं। वहु, एक, वहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुव ये पदार्थोंके वारह भेद हैं। वहु शब्द संख्या और वैपुल्य दोनों अर्थोंमें आता है, अतः यहाँ वहुसे दोनों अर्थोंका ग्रहण कर लेना चाहिये। इससे विपरीतको एक या अल्प कहते हैं। वहुविधमें वहुत जातियोंके अनेक पदार्थ लिये हैं और एकविधमें एक जातिके पदार्थ लिये हैं। जहाँ व्यक्तियोंकी अपेक्षा वहुतका ज्ञान होता है वहाँ वह वहुज्ञान कहलाता है और जहाँ जातियोंकी अपेक्षा वहुतका ज्ञान होता है वहाँ वह वहुविधज्ञान कहलाता है, वहु और वहुविधमें यही अन्तर है। इसीप्रकार एक और एकविधमें या अल्प और अल्पविधमें भी अन्तर समझना चाहिये। नया सकोरा जिसप्रकार शीघ्र ही पानीको ग्रहण कर लेता है उसप्रकार अतिशीघ्र

§ ११. सुदणाणं ताव थप्पं ।

§ १२. अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थः । अवधिसहचरितं ज्ञानमवधिः । अवधिश्च सः ज्ञानं च तदवधिज्ञानम् । नातिव्याप्तिः; रूढिबलाधानवशेन क्वचिदेव ज्ञाने तस्यावधि-

अर्थके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको क्षिप्रज्ञान कहते हैं । और धीरे धीरे जाननेवाले ज्ञानको अक्षिप्रज्ञान कहते हैं । या शीघ्र चलनेवाली रेलगाड़ी और शीघ्र गिरनेवाली जलधारा क्षिप्रविषय कहलाता है और इससे विपरीत अक्षिप्र विषय कहलाता है और उनके ज्ञानको क्रमशः क्षिप्रज्ञान और अक्षिप्रज्ञान कहते हैं । वस्तुके एक देशके ग्रहणकालमें ही वस्तुका ज्ञान हो जाना, उपमाद्वारा उपमेयका ज्ञान होना, अनुसंधानप्रत्यय और प्रत्यभिज्ञानप्रत्यय ये सब अनिःसृतज्ञान हैं । इससे विपरीत निःसृतज्ञान कहलाता है । प्रतिनियत गुणविशिष्ट वस्तुके ग्रहण करनेके समय ही अनियत गुणविशिष्ट वस्तुके ग्रहण होनेको अनुक्तज्ञान कहते हैं । जैसे, जिस समय चक्षुसे मिश्रीको जाना उसीसमय उसके रसका ज्ञान हो जाना अनुक्तज्ञान है । इससे विपरीत ज्ञानको उक्तज्ञान कहते हैं । चिरकाल तक स्थिर रहनेवाले पदार्थके ज्ञानको ध्रुवज्ञान और इससे विपरीत ज्ञानको अध्रुवज्ञान कहते हैं । इसप्रकार इन ज्ञानोंकी अपेक्षा मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

§ ११. अब श्रुतज्ञानका वर्णन स्थगित करके पहले अवधिज्ञान आदिका वर्णन करते हैं—

§ १२. अवधि, मर्यादा और सीमा ये शब्द एकार्थवाची हैं । अवधिसे सहचरित ज्ञान भी अवधि कहलाता है । इसप्रकार अवधिरूप जो ज्ञान है वह अवधिज्ञान है। यदि कहा जाय कि अवधिज्ञानका इसप्रकार लक्षण करने पर मर्यादारूप मतिज्ञान आदि अलक्ष्योंमें यह लक्षण चला जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है, सो भी बात नहीं है. क्योंकि, रूढ़िकी मुख्यतासे किसी एक ही ज्ञानमें अवधि शब्दकी प्रवृत्ति होती है ।

विशेषार्थ—यहाँ यह शंका उठती है कि केवलज्ञानको छोड़कर शेष चारों ज्ञान सावधि—मर्यादासहित हैं, इसलिए केवल अवधिज्ञानका लक्षण सावधि करने पर इस लक्षणके मतिज्ञान आदि शेष तीन ज्ञानोंमें चले जानेसे अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है । पर इस शंकाका यह समाधान है कि यद्यपि मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान सावधि हैं फिर भी रूढ़िवश अवधि शब्दका प्रयोग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर मूर्ति पदार्थको

(१) "अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः"–सर्वा० १।९। "अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमादुभयहेतुसन्निधाने सति अवधीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्रं वावधिः । अवधिशब्दोऽधःपर्यायवचनः, यथा अधःक्षेपणम् अवक्षेपणमिति । अधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः । अथवा, अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्, तथाहि–वक्ष्यते रूपिष्ववधेरिति । सर्वेषां प्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशाद् व्यवस्थोपपत्तेः गोशब्दप्रवृत्तिवत् ।"–राजवा० पृ० ३२। (२) "अवधीयत इत्यधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेत्ति, अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम एव तदुपयोगहेतुत्वादित्यर्थः । अवधीयते अस्मादित्यवधिः तदावरणकर्मक्षयोपशम एव, अवधीयते तस्मिन्निति वेत्यवधिः भावार्थः पूर्ववदेव, अवधानं वा अवधिः विषयपरिच्छेदनमित्यर्थः । अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ।"–नन्दी० हृ० पृ० २५ । नन्दी० म० पृ० ६५ ।

शब्दस्य प्रवृत्तेः। किमट्ठं तत्थ ओहिसद्दो परूविदो? ण; एदम्हादो हेट्ठिमसव्वणाणाणि सावहियाणि उवरिमणाणं णिरवहियमिदि जाणावणट्ठं। ण मणपज्जवणाणेण वियहिचारो; तस्स वि अवहिणाणादो अप्पविसयत्तेण हेट्ठिमत्तब्भुवगमादो। पओगस्स पुण ट्ठाणविवज्जासो संजमसहगयत्तेण कयविसेसपदुप्पायणफलो त्ति ण कोच्छि(च्चि)दोसो।

§ १३. तमोहिणाणं तिविहं–देसोही परमोही[1] सव्वोही[2] चेदि। एदेसिं तिण्हं णाणाणं लक्खणाणि जहा पयडिअणिओगद्दारे[3] परूविदाणि तहा परूवेदव्वाणि।

प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानविशेषमें ही किया गया है, अतएव अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

शंका–अवधिज्ञानमें अवधि शब्दका प्रयोग किसलिये किया है?

समाधान–इससे नीचेके सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपरका केवलज्ञान निरवधि है, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अवधिज्ञानमें अवधि शब्दका प्रयोग किया है।

यदि कहा जाय कि इसप्रकारका कथन करने पर मनःपर्ययज्ञानसे व्यभिचार दोष आता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान भी अवधिज्ञानसे अल्पविषयवाला है, इसलिये विषयकी अपेक्षा उसे अवधिज्ञानसे नीचेका स्वीकार किया है। फिर भी संयमके साथ रहनेके कारण मनःपर्ययज्ञानमें जो विशेषता आती है उस विशेषताको दिखलानेके लिये मनःपर्ययको अवधिज्ञानसे नीचे न रखकर ऊपर रखा है, इस लिये कोई दोष नहीं है।

§ १३. वह अवधिज्ञान तीन प्रकारका है–देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इन तीनों ज्ञानोंके लक्षण जिसप्रकार प्रकृति नामके अनुयोगद्वारमें कहे गये हैं उसीप्रकार उनका यहाँ कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लेकर जो ज्ञान रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इस अवधिज्ञानके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इसप्रकार दो भेद हैं। यद्यपि सभी अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होने पर ही प्रकट होते हैं फिर भी जो क्षयोपशम भवके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। यद्यपि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत और महाव्रतके निमित्तसे होता है तो भी वह सभी

(१) "परमो ज्येष्ठः, परमश्चासौ अवधिश्च परमावधिः। कथमेदस्स ओहिणाणस्स जेट्ठदा? देसोहिं पेक्खिदूण महाविसयत्तादो, मणपज्जवणाणं व संजदेसु चेव समुप्पत्तीदो, सगुप्पण्णभवे चेव केवलणाणुप्पत्तिकारणत्तादो, अप्पडिवादित्तादो वा जेट्ठदा।"–ध० आ० प० ५२३। (२) "सर्वं विश्वं कृत्स्नमवधिर्मर्यादा यस्य स बोधः सर्वावधिः।"–ध० आ० प० ५२४। "जं ओहिणाणमुप्पण्णं संतं सुक्कपक्खचंदमंडलं व समयं पडि अवट्ठाणेण विणा वड्ढमाणं गच्छदि जाव अप्पणो उक्कस्सं पाविदूण उवरिमसमए केवलणाणे समुप्पण्णे विणट्ठं ति तं वड्ढमाणं णाम।"–ध० आ० प० ८८१। (३) ध० आ० पृ० ८८०–८८७।

सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और महाव्रती जीवोंके नहीं पाया जाता है, क्योंकि, असंख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत ही थोड़े हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके तथा गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। विषय आदिकी प्रधानतासे अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधिरूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों प्रकारका होता है। देशावधिका उत्कृष्ट विषय क्षेत्रकी अपेक्षा सम्पूर्ण लोक, कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्य, द्रव्यकी अपेक्षा ध्रुवहारसे एकवार भक्त कार्मणवर्गणा और भावकी अपेक्षा द्रव्यकी असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायें है। इसके अनन्तर परमावधिज्ञान प्रारंभ होता है। उत्कृष्ट देशावधिके ऊपर और सर्वावधिके नीचे जितने अवधिज्ञानके विकल्प हैं वे सब परमावधिके भेद हैं। अवधिज्ञानका सबसे उत्कृष्ट भेद सर्वावधि कहलाता है। उत्कृष्ट देशावधि, परमावधि और सर्वावधि संयतके ही होते हैं। तथा जघन्य देशावधि मनुष्य और तिर्यंच दोनोंके होता है। देशावधिके मध्यम विकल्प यथासंभव चारों गतियोंके जीवोंके पाये जाते हैं। वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, प्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्रके भेदसे भी अवधिज्ञान अनेक प्रकारका है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके समयसे लेकर केवलज्ञान उत्पन्न होने तक बढ़ता चला जाता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि और अवस्थानके विना घटता चला जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान प्राप्त होने तक अवस्थित रहता है वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी बढ़ता है, कभी घटता है और कभी अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है। इसके क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी इसप्रकार तीन भेद हैं। इसीप्रकार अननुगामी अवधिज्ञानके भी क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और क्षेत्रभवाननुगामी ये तीन भेद हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर समूल नष्ट हो जाता है वह प्रतिपाती अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके होने पर ही नष्ट होता है वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है। प्रतिपाती और अप्रतिपाती ये दोनों अवधिज्ञान सामान्यरूपसे कहे गये हैं, इसलिये इनका वर्धमान आदिमें अन्तर्भाव नहीं होता है। जो अवधिज्ञान शरीरके किसी एकदेशसे उत्पन्न होता है उसे एकक्षेत्र अवधिज्ञान कहते हैं। जो अवधिज्ञान शरीरके प्रतिनियत क्षेत्रके विना उसके सभी अवयवोंसे उत्पन्न होता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान कहलाता है। देव और नारकियोंके अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान ही होता है, क्योंकि देव और नारकी अपने शरीरके समस्त प्रदेशोंसे अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थोंको जानते हैं। इसीप्रकार तीर्थंकरोंके भी अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है। फिर भी शेष सभी

§ १४. मनसः पर्ययः मनःपर्ययः, तत्साहचर्याज्ज्ञानमपि मनःपर्ययः, मनःपर्ययश्च

जीव शरीरके एकदेशसे ही अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थोंको जानते हैं ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि, परमावधि और सर्वावधिके धारक गणधरदेव आदि मनुष्योंके भी अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान पाया जाता है। जिन जीवोंके एकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है उनके भी अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वांग ही होता है। यहाँ एकक्षेत्रका अभिप्राय इतना ही है कि जिसप्रकार प्रतिनियत स्थानमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियाँ मतिज्ञानकी प्रवृत्तिमें साधकतम कारण होती हैं उसीप्रकार नाभिसे ऊपर शरीरके विभिन्न स्थानोंमें स्थित श्रीवत्स आदि आकारवाले अवयवोंसे अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये वे अवयव अवधिज्ञानकी प्रवृत्तिमें साधकतम कारण हैं। इन स्थानोंमेंसे किसीके एक स्थानसे किसीके दो आदि स्थानोंसे अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ये स्थान तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके ही नाभिसे ऊपर होते हैं। किन्तु विभंगज्ञान नाभिसे नीचेके अशुभ आकारवाले स्थानोंसे प्रकट होता है। जब किसी विभंगज्ञानीके सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप विभंगज्ञानके स्थानमें अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब उसके अशुभ आकारवाले स्थान मिट कर नाभिके ऊपर श्रीवत्स आदि शुभ आकारवाले स्थान प्रकट हो जाते हैं, और वहांसे अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होने लगती है। इसीप्रकार जब किसी अवधिज्ञानीका अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनके अभावमें विभंगज्ञानरूपसे परिवर्तित हो जाता है तब उसके शुभ आकारवाले चिह्न मिटकर नाभिसे नीचे अशुभ आकारवाले स्थान प्रकट हो जाते हैं और वहाँसे विभंगज्ञानकी प्रवृत्ति होने लगती है। ऊपर कहे गये इन दश भेदोंमेंसे भवप्रत्यय अवधिज्ञानमें अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अनेकक्षेत्र ये पांच भेद संभव हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञानमें दसों भेद पाये जाते हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधिकी अपेक्षा देशावधिमें दसों भेद, परमावधिमें हीयमान, प्रतिपाती और एकक्षेत्र इन तीनको छोड़कर शेष सात भेद तथा सर्वावधिमें अनुगामी, अननुगागी, अवस्थित, अप्रतिपाती और अनेकक्षेत्र ये पांच भेद पाये जाते हैं। परमावधि और सर्वावधिमें अननुगामी भेद भवान्तरकी अपेक्षा कहा है।

§ १४. मनकी पर्यायको मनःपर्यय कहते हैं। तथा उसके साहचर्यसे ज्ञान भी मनः-

(१) "परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते, साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।–सर्वार्थ०, १।९। "मनः प्रतीत्य प्रतिसन्धाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः। परकीयमनसि गतोऽर्थो मन इत्युच्यते, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। स च को मनोगतोऽर्थः? भावघटादिः। तमर्थं समन्तादेत्य आलम्ब्य वा प्रसादादात्मनो ज्ञानं मनःपर्ययः।"–राजवा० १।९। "परिः सर्वतो भावे, अयनमयः गमनं वेदनमिति पर्यायाः। परि अयः पर्ययः पर्ययनं पर्यय इत्यर्थः। मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। स एव ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। अथवा मनसः पर्याया मनःपर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनादिप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्। तेषु ज्ञानं तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्।" –नन्दी० ह० पृ० २५।

सः ज्ञानं च तत् मनःपर्ययज्ञानम्। तं दुविहं–उजुमदी विउलमदी चेदि। एत्थ एदेसिं णाणाणं लक्खणाणि जाणिय वत्तव्वाणि।

पर्यय कहलाता है। इसप्रकार मनःपर्ययरूप जो ज्ञान है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। वह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका है। यहाँ पर इन ज्ञानोंके लक्षणोंको जान कर कथन कर लेना चाहिये।

विशेषार्थ–यहाँ अर्थके निमित्तसे होनेवाली मनकी पर्यायोंको मनःपर्यय और इनके प्रत्यक्ष ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहा है। इसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। इनमेंसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमनोगत, ऋजुवचनगत और ऋजुकायगत विषयकी अपेक्षा तीन भेद हैं। जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसीप्रकार चिन्तवन करनेवाले मनको ऋजुमन कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसीप्रकार कथन करनेवाले वचनको ऋजुवचन कहते हैं। तथा जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसे अभिनयद्वारा उसीप्रकार दिखलानेवाले कायको ऋजुकाय कहते हैं। इसप्रकार जो सरल मनके द्वारा विचारे गये मनोगत अर्थको जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। जो सरल वचनके द्वारा कहे गये और सरल कायके द्वारा अभिनय करके दिखलाये गये मनोगत अर्थको जानता है वह भी ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। वचनके द्वारा कहे गये और कायके द्वारा अभिनय करके दिखलाये गये मनोगत अर्थको जाननेसे मनःपर्ययज्ञान श्रुतज्ञान नहीं हो जाता है, क्योंकि, यह राज्य या राजा कितने दिन तक वृद्धिको प्राप्त होगा ऐसा विचार करके वचन या कायद्वारा प्रश्न किये जाने पर राज्यकी स्थिति तथा राजाकी आयु आदिको प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रहती है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी पहले मतिज्ञानके द्वारा दूसरेके अभिप्रायको जानकर अनन्तर मनःपर्ययज्ञानके द्वारा दूसरेके मनमें स्थित दूसरेका नाम, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवन, मरण, इष्ट अर्थका समागम, अनिष्ट अर्थका वियोग, सुख, दुःख, नगर आदिकी समृद्धि या विनाश आदि विषयोंको जानता है। तात्पर्य यह है कि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित व्यक्त मनवाले जीवोंसे संबन्ध रखनेवाले या वर्तमान जीवोंके वर्तमान मनसे संबन्ध रखनेवाले त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जानता है। अतीत मन और अनागत मनसे संबन्ध रखनेवाले

(१) "परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः, ऋज्वी अवक्रा। कथमृजुत्वम्? यथार्थमत्यारोहणात्, यथार्थमभिधानगतत्वात्, यथार्थमभिनयागतत्वाच्च ऋज्वी मतिर्यस्य स ऋजुमतिः। उज्जुवेण वचिकायगदमत्थमुज्जुवं जाणंतो तव्विवरीदमणुज्जुवमत्थमजाणंतो मणपज्जवणाणी उजुमदि त्ति भण्णदे।"–ध० आ० प० ५२७। सर्वार्थ०, राजवा० १।२३। गो० जीव० गा० ४४१। (२) "परकीयमतिगतोऽर्थो मतिः, विपुला विस्तीर्णा। कुतो वैपुल्यम्? यथार्थमनोगमनात् अयथार्थमनोगमनात् उभयथापि तदवगमनात्, यथार्थवचोगमनात् अयथार्थवचोगमनात् उभयथापि तत्र गमनात्, यथार्थकायगमनात् अयथार्थकायगमनात् ताभ्यां तत्र गमनाच्च वैपुल्यम्। विपुला मतिर्यस्य स विपुलमतिः।"–ध० आ० प० ५२७। सर्वार्थ०, राजवा० १।२३।

§ १५. केवलमसहायं इन्द्रियालोक-मनस्कारनिरपेक्षत्वात्। आत्मसहायमिति न

पदार्थोंको नहीं जानता है। यह ज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यरूपसे दो या तीन भवको जानता है। इसका यह अभिप्राय है कि यदि वर्तमान भवको छोड़ दिया जाय तो दो भवोंको और वर्तमान भवके साथ तीन भवोंको जानता है। तथा उत्कृष्टरूपसे यह ज्ञान वर्तमान भवके साथ आठ भवोंको और वर्तमान भवके विना सात भवोंको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्टरूपसे योजनपृथक्त्वप्रमाण क्षेत्रमें स्थित विषयको जानता है। एक गव्यूति दो हजार धनुषका होता है। और पृथक्त्व तीनसे लेकर नौ तक कहलाता है; पर यहाँ पृथक्त्वसे आठ लेना चाहिये। अर्थात् जघन्य ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान आठ गव्यूतिके घनप्रमाण क्षेत्रमें स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है। तथा उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान आठ योजनके घनप्रमाण क्षेत्रमें स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान ऋजु और अनृजु मन, वचन तथा कायके भेदसे छह प्रकारका है। इनमेंसे ऋजु मन, वचन और कायका अर्थ ऊपर कह आये हैं। तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मन, वचन और कायके व्यापारको अनृजु मन, वचन और काय कहते हैं। यहाँ आधे चिन्तवन या अचिन्तवनका नाम अनध्यवसाय है। दोलायमान प्रत्ययका नाम संशय है और विपरीत चिन्तवनका नाम विपर्यय है। विपुलमति वर्तमानमें चिन्तवन किये गये विषयको तो जानता ही है पर चिन्तवन करके भूले हुए विषयको भी जानता है। जिसका आगे चिन्तवन किया जायगा उसे भी जानता है। यह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी मतिज्ञानसे दूसरेके मानसको अथवा मतिज्ञानके विषयको ग्रहण करके अनन्तर ही मनःपर्ययज्ञानसे जानता है। कालकी अपेक्षा जघन्यरूपसे सात आठ भव और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंकी गतियों और आगतियोंको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे योजनपृथक्त्व और उत्कृष्टरूपसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतर स्थित जीवोंके मनोगत विषयोंको जानता है। मानुषोत्तर पर्वत यहाँ पेंतालीस लाख योजनका उपलक्षण है, इसलिये यह अभिप्राय हुआ कि इस ज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र पेंतालीस लाख योजन है जो मानुषोत्तर पर्वतके बाहर भी हो सकता है। धवला टीकाके इस कथनके अनुसार जो उत्कृष्ट मनःपर्ययज्ञानी मानुषोत्तर पर्वत और मेरु पर्वतके मध्यमें मेरु पर्वतसे जितनी दूर स्थित होगा उस ओर उसी क्रमसे उसका क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वतके बाहर बढ़ जायगा और दूसरी ओर उस मनःपर्ययज्ञानीके क्षेत्रसे मानुषोत्तर पर्वत उतना ही दूर रह जायगा।

§ १५. असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापारकी अपेक्षासे रहित है।

(१) "असहायमिति वा" –सर्वार्थ०, राजवा० १।३०। "केवलमसहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षं"–नन्दी० हृ० पृ० २५। (२) "मनस्कारश्चेतस आभोगः, आभुजनमाभोगः, आलम्बनेन येन चित्तनिम्-

तत्केवलमिति चेत्; न; ज्ञानव्यतिरिक्तात्मनोऽसत्त्वात् । अर्थसहायत्वान्न केवलमिति चेत्; न; विनष्टानुत्पन्नातीतानागतेर्थे (तार्थे) ष्वपि तत्प्रवृत्त्युपलम्भात् । असति प्रवृत्तौ खरविषाणेऽपि प्रवृत्तिरस्त्विति चेत्; न; तस्य भूत-भविष्यच्छक्तिरूपतयाऽप्यसत्त्वात् । वर्तमान-पर्यायाणामेव किमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत्; न; 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थ-

शंका–केवलज्ञान आत्माकी सहायतासे होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि ज्ञानसे भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिये केवल-ज्ञानको केवल अर्थात् असहाय कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

शंका–केवलज्ञान अर्थकी सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थोंमें और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थोंमें भी केवलज्ञानकी प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थकी सहायतासे होता है यह नहीं कहा जा सकता है ।

शंका–यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूपसे असत् पदार्थमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है तो खरविषाणमें भी उसकी प्रवृत्ति होओ ?

समाधान–नहीं, क्योंकि खरविषाणका जिसप्रकार वर्तमानमें सत्त्व नहीं पाया जाता है, उसीप्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत् शक्तिरूपसे भी सत्त्व नहीं पाया जाता है । अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थमें उसकी अतीत पर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूतशक्तिरूपसे विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो कि आगे होनेवाली हैं, भविष्यत् शक्तिरूपसे विद्यमान हैं उसतरह खरविषाण–गधेका सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूतशक्तिरूपसे उसकी सत्ता किसी पदार्थमें विद्यमान होती, अथवा वह आगे होनेवाला होता तो भविष्यत् शक्तिरूपसे उसकी सत्ता किसी पदार्थमें विद्यमान रहती। किन्तु खरविषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा । अतः उसमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

शंका–जब कि अर्थमें भूत पर्यायें और भविष्यत् पर्यायें भी शक्तिरूपसे विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्यायोंको ही अर्थ क्यों कहा जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वर्तमान पर्यायोंमें ही अर्थपना पाया जाता है ।

स्रीक्रियते, स पुनरालम्बनेन चित्तधारणकर्म । चित्तधारणं पुनः तत्रवा (तत्रैवा) लम्बने पुनः पुनश्चित्तस्याव-र्जनम् । एतच्च कर्म चित्तसन्ततेरालम्बननियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम्"–त्रिंशि० भा० पृ० २० । "विषये चेतस आवर्जनं (अवधारणं) मनस्कारः, मनः करोति आवर्जयतीति" –अभि० को० व्या० २।२४ । अक० टि० पृ० १५६ । "चित्ताभोगो मनस्कारः" इत्यमरः ।

(१) "अर्यत इत्यर्थः निश्चीयत इत्यर्थः"–सर्वार्थ० १।२।

त्वोपलम्भात्। तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेत्; न; तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थ-ग्रहणपूर्वकत्वात्। आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्।

शंका–यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीत पर्यायोंमें भी समान है। अर्थात् जिस प्रकार ऊपर कही गई व्युत्पत्तिके अनुसार वर्तमान पर्यायोंमें अर्थपना पाया जाता है उसी-प्रकार अनागत और अतीत पर्यायोंमें भी अर्थपना संभव है।

समाधान–नहीं, क्योंकि अनागत और अतीत पर्यायोंका ग्रहण वर्तमान अर्थके ग्रहणपूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत्-शक्तिरूपसे वर्तमान अर्थमें ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थके ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें अर्थ यह संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

अथवा, केवलज्ञान आत्मा और अर्थसे अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायककी अपेक्षासे रहित है, इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इसप्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये।

विशेषार्थ–बौद्ध ज्ञानकी उत्पत्तिमें चार प्रत्यय मानते हैं–समनन्तरप्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय, सहकारिप्रत्यय और आलम्बनप्रत्यय। घटज्ञानकी उत्पत्तिमें पूर्वज्ञान समनन्तरप्रत्यय होता है। इसी पूर्वज्ञानको मन कहते हैं। तथा मनके व्यापारको मनस्कार कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मनस्कार–पूर्वज्ञान नवीन ज्ञानकी उत्पत्तिमें समनन्तरप्रत्यय अर्थात् उपा-दान कारण होता है और इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय होती हैं। यद्यपि घटज्ञान चक्षु, पदार्थ और प्रकाश आदि अनेक हेतुओंसे उत्पन्न होता है पर उसे चाक्षुषप्रत्यक्ष ही कहते हैं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय उस ज्ञानका अधिपति–स्वामी है, अतः इन्द्रियोंको अधिपतिप्रत्यय कहते हैं। प्रकाश आदि सहकारी कारण हैं। पदार्थ आलम्बन कारण हैं, क्योंकि पदार्थका आलम्बन लेकर ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इसप्रकार बौद्धधर्ममें चित्त और चैतसिककी उत्पत्तिमें चार प्रत्यय स्वीकार किये गये हैं। इसीप्रकार नैयायिक और वैशेषिक दर्शनोंमें भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें आत्ममनःसंयोग, मनइन्द्रियसंयोग, और इन्द्रियअर्थसंयोगको कारण माना है। इनकी दृष्टिसे भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें आत्मा, मन, इन्द्रिय और पदार्थ कारण होते हैं। केवलज्ञानको केवल अर्थात् असहाय सिद्ध करते समय यहां इन चार कारणोंकी सहायताका निषेध किया है और यह बतलाया है कि केवलज्ञान इन्द्रिय, आलोक, मनस्कार और अर्थ इनमेंसे किसी भी प्रत्ययकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मा ज्ञाता है तथा अर्थ ज्ञेय है, इस-लिये अर्थ कथंचित् ज्ञेयरूपसे तथा आत्मा ज्ञातारूपसे केवलज्ञानमें कारण मान भी लिये जांय तो भी कोई बाधा नहीं है। इसी अभिप्रायसे आचार्यने उपसंहार करते समय आत्मा और अर्थसे भिन्न इन्द्रियादि कारणोंकी सहायताके निषेध पर ही जोर दिया है।

§१६. ओहि-मणपज्जवणाणाणि वियलपच्चक्खाणि, अत्थेगदेसम्मि विसदसरूवेण तेसिं पउत्तिदंसणादो । केवलं सयलपच्चक्खं, पच्चक्खीकयतिकालविसयासेसदव्वपज्जयभावादो । मदि-सुदणाणाणि परोक्खाणि, पाएण तत्थ अविसदभावदंसणादो । [१]मदिपुव्वं सुदं, मदिणाणेण विणा सुदणाणुप्पत्तीए अणुवलंभादो ।

§ १६. इन पांचों ज्ञानोंमें अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि पदार्थोंके एकदेशमें अर्थात् मूर्तीक पदार्थोंकी कुछ व्यंजनपर्यायोंमें स्पष्टरूपसे उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है । केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञान त्रिकालके विषयभूत समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानता है। तथा मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें प्रायः अस्पष्टता देखी जाती है । इनमें भी श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, क्योंकि मतिज्ञानके विना श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति नहीं पाई जाती है ।

विशेषार्थ—आगममें बताया है कि पाँचों ज्ञानावरणोंके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट होता है । इससे निश्चित होता है कि आत्मा केवलज्ञानस्वरूप है । तो भी ज्ञान पाँच माने गये हैं । इसका कारण यह है कि केवलज्ञानावरण कर्म केवलज्ञानका पूरी तरहसे घात नहीं कर सकता है, क्योंकि ज्ञानका पूरी तरहसे घात मान लेने पर आत्माको जड़त्व प्राप्त होता है, अतः केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञानके आवृत रहते हुए भी जो अतिमंद ज्ञान-किरणें प्रस्फुटित होती हैं, उनको आवरण करनेवाले कर्मोंको आगममें मतिज्ञानावरण आदि कहा है। तथा उनके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाले ज्ञानोंको मतिज्ञान आदि कहा है । ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको स्वतः प्रकाशित करना है, अतः चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे जिन ज्ञानोंका क्षयोपशमकी विशेषताके कारण यह धर्म प्रकट रहता है वे प्रत्यक्ष ज्ञान हैं और जिन ज्ञानोंका यह धर्म आवृत रहता है वे परोक्ष ज्ञान हैं । परोक्षमें पर शब्दका अर्थ इन्द्रिय और मन है, इसलिये यह अभिप्राय हुआ कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे प्रवृत्त होते हैं वे परोक्ष ज्ञान हैं । ऐसे ज्ञान मति और श्रुत ये दो ही हैं, क्योंकि अपने ज्ञेयके प्रति इनकी प्रवृत्ति स्वतः न होकर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होती है। यद्यपि इन ज्ञानोंकी प्रवृत्तिमें आलोक आदि भी कारण पड़ते हैं पर वे अव्यभिचारी कारण न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया गया है । मतिज्ञानको जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है उसका कारण व्यवहार है । प्रत्यक्षका लक्षण जो विशदता है वह एक देशसे मतिज्ञानमें भी पाया जाता है । मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते समय 'जो ज्ञान पर अर्थात् इन्द्रिय और मनकी सहायतासे प्रवृत्त होते हैं वे परोक्ष हैं' परोक्षके इस लक्षणकी प्रधानता नहीं रहती है, किन्तु वहाँ व्यवहारकी प्रधानता हो जाती है । अवधिज्ञान आदि

(१) "श्रुतं मतिपूर्वं ··"–त० सू० १।२०। "मइपुव्वं जेण सुअं न मई सुअपुव्विआ ।"–नन्दी० सू० २४।

§ १७. जं तं सुदणाणं तं दुविहं–अंगबाहिरमंगपविट्ठं चेदि। तत्थ अंगबाहिरं चोद्दसविहं–सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसीहियं

शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं, क्योंकि, ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायताके बिना स्वयं पदार्थोंको जाननेमें समर्थ हैं। इनमेंसे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इन ज्ञानोंमें मूर्तीक पदार्थ अपनी मर्यादित व्यंजन पर्यायोंके साथ ही प्रतिभासित होते हैं। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह त्रिकालवर्ती समस्त अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायोंके साथ सभी पदार्थोंको दूसरे कारणोंकी सहायताके बिना स्पष्ट जानता है।

§ १७. श्रुतज्ञान दो प्रकारका है–अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। उनमेंसे अंगबाह्य चौदह प्रकारका है–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका।

(१) "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। द्विभेदं तावदङ्गबाह्यम् अङ्गप्रविष्टमिति।"–त० सू०, सर्वार्थ० १।२०। "सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव"–स्था० २।१।७१। त० भा० १।२०। "तस्य साक्षाच्छिष्यैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्···आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात् संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्"–सर्वार्थ०, राजवा० १।२०। "गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा। धुवचलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं। इदमुक्तं भवति–गणधरकृतं पदत्रयलक्षणतीर्थकरादेशनिष्पन्नं ध्रुवं च यच्छ्रुतं तदंगप्रविष्टमुच्यते तच्च द्वादशाङ्गीरूपमेव। यत्पुनः स्थविरकृतमुत्कलार्थाभिधानं चलं च तदावश्यकप्रकीर्णकादि श्रुतमङ्गबाह्यम्"–वि० भा० गा० ५५०। (२) "अङ्गबाह्यमनेकविधं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि"–सर्वार्थ०, राजवा०, त० श्लो० १।२०। "तत्थ अंगबाहिरस्स चोदस अत्थाहियारा"–ध० सं० पृ० ९६। "सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा···मिदि चोदसमंगबाहिरयं।"– गो० जीव० गा० ३६७–६८। "अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च। आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–सामाइयं, चउवीसत्थओ वंदणयं पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं से त्तं आवस्सयं।···आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–कालियं च उक्कालियं च।··उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–दसवेआलिअं कप्पिआकप्पिअं चुल्लकप्पसुअं महाकप्पसुअं उववाइयं रायपसेणिअं जीवाभिगमो पण्णवणा महापण्णवणा पमायप्पमायं नंदी अणुओगदाराइं देविंदत्थओ तंदुलवेआलिअं चंदाविज्झयं सूरपण्णत्ती पोरिसिमंडलं मंडलपवेसो विज्जाचरणविणिच्छओ गणिविज्जा झाणविभत्ती आयविसोही वीयरागसुअं संलेहणासुअं विहारकप्पो चरणविही आउरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं एवमाइ।··कालिअं णेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–उत्तरज्झयणाइं दसाओ कप्पो ववहारो निसीहं महानिसीहं इसिभासिआइं जंबूदीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती खुड्डिआविमाणपविभत्ती महल्लिआविमाणपविभत्ती अंगचूलिआ वग्गचूलिआ विवाहचूलिआ अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए देविंदोववाए उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए नागपरिआवलिआओ णिरयावलियाओ कप्पिआओ कप्पवडिंसिआओ पुप्फिआओ पुप्फचूलिआओ वण्हीदसाओ एवमाइयाइं चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स··से त्तं कालियं से त्तं आवस्सयवइरित्तं से त्तं अणंगपविट्ठं।"–नन्दी० सू० ४३। "अङ्गबाह्यमनेकविधम्, तद्यथा–सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकम् उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितानीत्येवमादि"–त० भा० १।२०।

चेदि। एदेसिं विसओ जाणिय वत्तव्वो।

§१८. जं तमंगपविट्ठं तं [1]बारसविहं–आयारो सूदयदं [2]ठाणं समवाओ वियाहपण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयज्झयणं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं वि[3]वायसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि। एदेसिं बारसण्हमंगाणं विसयपरूवणा कादव्वा।

§१९. [4]दिट्ठिवादो पंचविहो–परियम्मं सुत्तं पढमाणिओओ पुव्वगयं चूलिया चेदि। एदेसिं पंचण्हमहियाराणं विसयपरूवणा जाणिय वत्तव्वा।

§२०. जं तं पुव्वगयं तं चो[5]द्दसविहं। तं जहा–उप्पायपुव्वं अग्गेणियं विरियाणुपवादो अत्थिणत्थिपवादो णाणपवादो सच्चपवादो आदपवादो कम्मपवादो पच्चक्खाणपवादो विज्जाणुप्पवादो कल्लाणपवादो पाणावाओ किरियाविसालो लोगबिंदुसारो चेदि। एदेसिं चोद्दसविज्जाट्ठाणाणं विसयपरूवणा जाणिय कायव्वा। [6]दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारस बारस बारस सोलस वीस तीस पण्णारस दस दस दस दस एत्तिय-

इनके विषयको जानकर कथन करना चाहिये।

§ १८. अंगप्रविष्ट बारह प्रकारका है–आचार, सूत्रकृत्, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इन बारह अंगोंके विषयका प्ररूपण कर लेना चाहिये।

§ १९. दृष्टिवाद पांच प्रकारका है–परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इन पांचों अधिकारोंके विषयका प्ररूपण जानकर कर लेना चाहिये।

§२०. उनमेंसे पूर्वगत चौदह प्रकारका है। यथा–उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल, और लोकबिन्दुसार। इन चौदह विद्यास्थानोंके विषयका प्ररूपण जानकर कर लेना चाहिये। इन चौदह पूर्वोंमें क्रमसे दस, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दस, दस, दस, और

(१) "अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्, तद्यथा–आचारः··"–सर्वार्थ०, राजवा० १।२०। गो० जीव० गा० ३५६–५७। प्रा० श्रुतभ० गा० २–६। ध० सं० पृ० ९९। नन्दी० सू० ४४। त० भा० १।२०। (२)ठाणो अ०, आ०, स०। (३) "विवागसुत्तं"–ध० सं० पृ०९९। (४) "दृष्टिवादः पञ्चविधः"–सर्वार्थ०, राजवा० १। २०। गो०जीव०गा०३६१-६२। नन्दी० सू०५६। (५) "तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्··"–सर्वार्थ०, राजवा० १।२०। ध० सं० पृ० ११४। गो० जीव० गा० ३४५-४६। "से किं तं पुव्वगए ? चउद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा–उप्पायपुवं १··विज्जाणुप्पवायं १० अवंझं ११ पाणाऊ १२ किरियाविसालं १३ लोकबिंदुसारं १४।" –नन्दी० सू० ५६। (६)तुलना–"दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च। वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं॥"–गो० जीव० गा० ३४५। प्रा० श्रुतभ० गा० ७-८। ध० सं० पृ० ११४–१२२। "दस चोदस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे अ वत्थूणि। सोलह तीसा वीसा पण्णरस अणुप्पवायंमि। बारस इक्कारसमे बारसमे तेरसेव वत्थूणि। तीसा पुण तेरसमे चोदसमे पण्णवीसाओ॥"–नन्दी० सू० ५६।

मेत्ताओ वत्थूओ चोद्दसण्हं पुव्वाणं जहाकमेण होंति । एक्केक्के वत्थूए वीसं वीसं पाहुडाणि । एक्केक्कम्मि पाहुडे चउवीसं चउवीसं अणियोगद्दाराणि होंति । एसो सव्वो वि सुदक्खंधो एदीए गाहाए सूचिदो त्ति चुण्णिसुत्तेण वि अणुवादो कदो ।

§ २१. एवं सुदक्खंधं जाणाविय पंचण्हमुवक्कमाणं संखापरूवणदुवारेण तेसिं परूवणट्ठमुत्तरसुत्तं जइवसहाइरियो भणदि–

* आणुपुव्वी तिविहा ।

दस इतनी वस्तुएँ अर्थात् महाअधिकार होते हैं। प्रत्येक वस्तुमें वीस वीस प्राभृत अर्थात् अवान्तर अधिकार होते हैं। और एक एक प्राभृतमें चौवीस चौवीस अनुयोगद्वार होते हैं। यह सर्व ही श्रुतस्कन्ध 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' इस गाथासे सूचित किया गया है, अतएव चूर्णिसूत्रसे भी उसका अनुवाद किया गया है।

विशेषार्थ–मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलंबन लेकर जो अन्य अर्थका ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। यह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। लिंगजन्य श्रुतज्ञानको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। और वह एकेन्द्रियोंसे लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवोंके होता है। तथा जो वर्ण, पद, वाक्यरूप शब्दोंके निमित्तसे श्रुतज्ञान होता है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारणसे ही उत्पन्न होता है। इसलिये क्षयोपशमकी अपेक्षा ग्रंथकारोंने श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास आदि वीस भेद कहे हैं। यहां अक्षरज्ञानका अर्थ एक अक्षरका ज्ञान नहीं है किन्तु सबसे जघन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानपतित वृद्धिके हो जानेपर उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञान मिलता है, उसे अनन्तगुणवृद्धिसे संयुक्त कर देने पर जो अक्षर नामका श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह यहां अक्षरज्ञानसे विवक्षित है। इसीप्रकार शेष क्षायोपशमिक ज्ञानोंका स्वरूप गोमट्टसार आदि ग्रंथोंसे जान लेना चाहिये। परंतु ग्रंथकी अपेक्षा यह श्रुतज्ञान बारह प्रकारका है। अर्थात् आचारांग आदि बारह प्रकारके अंगोंके निमित्तसे जो श्रुतज्ञान होता है वह अंग और पूर्वज्ञान कहलाता है। तथा निमित्तकी मुख्यतासे द्रव्यश्रुतको भी श्रुतज्ञान कहते हैं। इस द्रव्यश्रुतको तीर्थंकरदेव अपनी दिव्यध्वनिमें बीजपदोंके द्वारा कहते हैं और गणधरदेव उन्हें बारह अंगोंमें ग्रथित करते हैं। ऊपर इन्हीं बारह अंगोंके भेद प्रभेद बतलाये हैं।

§ २१. इसप्रकार श्रुतस्कन्धका ज्ञान कराके पांचों उपक्रमोंकी संख्याके कथनपूर्वक उनका विशेष प्ररूपण करनेके लिये यतिवृषभ आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं–

* आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है।

(१) "अनुना पश्चाद्भूतेन योगः अनुयोगः, अथवा अणुना स्तोकेन योगः अनुयोगः"–बृह० भा० टी० गा० १९०। (२)–परूवणादु–आ०। (३) "तिविहा आणुपुव्वी"–ध० सं० पृ० ७३। "जहातहानुपूर्वी"–

§ २२. एदस्स सुत्तस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा–पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि। जं जेण कमेण सुत्तकारेहि ठइदमुप्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम। तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुव्वी। जत्थ वा तत्थ वा अप्पणो इच्छिदमादिं कादूण गणणा जत्थतत्थाणुपुव्वी होदि। एवमाणुपुव्वी तिविहा चेव, अणुलोमपडिलोमतदुभएहि वदिरित्तगणणकमाणुवलंभादो।

§ २३. तत्थ पंचसु णाणेसु पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे विदियादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पढमादो विदियादो तदियादो चउत्थादो पंचमादो वा सुदणाणादो कसायपाहुडं णिग्गयं। अंग-अंगबाहिरेसु पुव्वाणुव्वीए पढमादो, पच्छाणुपुव्वीए विदियादो अंगपविट्ठादो कसायपाहुडं विणि-

§ २२. अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यत्रतत्रानुपूर्वी, ये आनुपूर्वीके तीन भेद हैं। जो पदार्थ जिस क्रमसे सूत्रकारके द्वारा स्थापित किया गया हो, अथवा, जो पदार्थ जिस क्रमसे उत्पन्न हुआ हो उसकी उसी क्रमसे गणना करना पूर्वानुपूर्वी है। उस पदार्थकी विलोम क्रमसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक गणना करना पश्चादानुपूर्वी है। और जहां कहींसे अपने इच्छित पदार्थको आदि करके गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी है। इसप्रकार आनुपूर्वी तीन प्रकारकी ही है, क्योंकि अनुलोम-क्रम अर्थात् आदिसे लेकर अन्त तक, प्रतिलोमक्रम अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक और तदुभयक्रम अर्थात् दोनों, इनके अतिरिक्त गणनाका और कोई क्रम नहीं पाया जाता है।

§ २३. पांचों ज्ञानोंमेंसे श्रुतज्ञानको पूर्वानुपूर्वीक्रमसे गिनने पर दूसरे, पश्चादानुपूर्वी-क्रमसे गिनने पर चौथे, और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे गिनने पर पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे अथवा पांचवें भेदरूप श्रुतज्ञानसे कषायप्राभृत निकला है। अंग और अंगबाह्यकी विवक्षा करने पर पूर्वानुपूर्वीकी अपेक्षा पहले और पश्चादानुपूर्वीकी अपेक्षा दूसरे अंगप्रविष्टसे कषाय-

ध० प० ५३८। "से किं तं आणुपुव्वी ? दसविहा पण्णत्ता, तं जहा–नामाणुपुव्वी ठवणाणुपुव्वी दव्वाणुपुव्वी खेत्ताणुपुव्वी कालाणुपुव्वी उक्कित्तणाणुपुव्वी गणणाणुपुव्वी संगणणाणुपुव्वी समाआरीआणुपुव्वी भावाणुपुव्वी। (सू० ७१) से किं तं उवणिया दव्वाणुपुव्वी ? तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी य। (सू० ९६) उक्कित्ताणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता (सू० ११५) गणणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी (सू० ११६)"–अनु०। वि० भा० गा० ९४१।

(१) "जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी"–ध० सं० पृ० ७३। पढमातो आरब्भा अणुपरिवाडीए जं भणिज्जति जाव चरिमं तं पुव्वाणुपुवी"–अनु०, चू० पृ० २९। "प्रथमात्प्रभृति आनुपूर्वी अनुक्रमः परिपाटी पूर्वानुपर्वी।"–अनु० ह० पृ० ४१। (२) "जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी"–ध० सं० पृ० ७३। 'चरिमा ओमत्थं गमन् अणुपरिवाडीए गणिज्जमाणं पच्छाणुपुव्वी।"–अनु० चू० पृ० २९।" पाश्चात्यात् चरमादारभ्य व्यत्ययेनैव आनुपूर्वी पश्चादानुपूर्वी।"–अनु० ह० पृ० ४१। (३) "अणुलोमविलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी।"–ध० सं० पृ० ७३। "अणाणुपुव्वि त्ति जा गणणा अणु त्ति पच्छाणुपुव्वी ण भवति, पुव्वि त्ति पुव्वाणुपुव्वी य ण भवति सा अणाणुपुव्वी।"–अनु० चू० पृ० २९। "न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी यथोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तरूपेत्यर्थः।"–अनु० ह० पृ० ४१।

ग्गयं। एत्थ जत्थतत्थाणुपुव्वी ण संभवइ; दुब्भावविवक्खादो। एक्कस्सेव विवक्खाए जत्थतत्थाणुपुव्वी किण्ण घेप्पदे? ण; एगविवक्खाए आणुपुव्वीपरूवणाए असंभवादो। बारससु अंगेसु पुव्वाणुपुव्वीए बारसमादो, पच्छाणुपुव्वीए पढमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए पढमादो बिदियादो तदियादो चउत्थादो पंचमादो छट्ठादो सत्तमादो अट्ठमादो णवमादो दसमादो एक्कारसमादो बारसमादो वा दिट्ठिवादादो कसायपाहुडं विणिग्गयं।

प्राभृत निकला है। अंग और अंगबाह्य केवल इन दो भेदोंकी अपेक्षा आनुपूर्वियोंका विचार करते समय यत्रतत्रानुपूर्वी संभव नहीं है, क्योंकि यहां दो पदार्थोंकी ही विवक्षा है।

शंका–केवल एक पदार्थकी ही विवक्षा होने पर यत्रतत्रानुपूर्वी क्यों नहीं ग्रहण की जाती है?

समाधान–नहीं, क्योंकि एक पदार्थकी विवक्षा होने पर आनुपूर्वीका कथन करना ही असंभव है। अर्थात् जहाँ केवल एक पदार्थकी ही गणना इष्ट होती है वहाँ जब आनुपूर्वी ही संभव नहीं तो यत्रतत्रानुपूर्वीका कथन तो किसी भी हालतमें संभव नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ–आनुपूर्वीका अर्थ क्रमपरंपरा और गणनाका अर्थ गिनती है। यदि कोई अनेक पदार्थोंमेंसे विवक्षित वस्तुकी संख्या जानना चाहे तो उसे या तो प्रारंभसे अन्ततक उन पदार्थोंकी गिनती करके विवक्षित वस्तुकी संख्या जान लेना चाहिये या अन्तसे आदि तक उन पदार्थोंकी गिनती करके विवक्षित वस्तुकी संख्या जान लेना चाहिये या मध्यकी किसी भी एक वस्तुको प्रथम मानकर उससे गिनती करते हुए उसके पूर्वकी वस्तु पर आकर गिनतीको समाप्त करके विवक्षित वस्तुकी संख्या जान लेना चाहिये। इसप्रकार गिनतीके ये तीन क्रम ही संभव हैं। इनमेंसे प्रथम गणनाक्रमको पूर्वानुपूर्वी, दूसरे गणनाक्रमको पश्चादानुपूर्वी और तीसरे गणनाक्रमको यत्रतत्रानुपूर्वी या यथातथानुपूर्वी कहते हैं। जहाँ एक ही पदार्थ होता है वहाँ कोई भी आनुपूर्वी संभव नहीं है, क्योंकि एक पदार्थमें क्रमपरंपरा ही संभव नहीं है। जहाँ दो पदार्थ विवक्षित होते हैं वहाँ प्रारंभकी दो आनुपूर्वियां ही संभव हैं, क्योंकि यत्रतत्रानुपूर्वी तीन या तीनसे अधिक पदार्थोंकी गणनामें ही घटित हो सकती है। दो पदार्थोंमें पहला आदि और दूसरा अन्तरूप है। अतः यदि पहलेसे गणना करते हैं तो वह पूर्वानुपूर्वी हो जाती है और दूसरे अर्थात् अन्तसे गणना करते हैं तो वह पश्चादानुपूर्वी हो जाती है। यत्रतत्रानुपूर्वी तो यहाँ बन ही नहीं सकती है। ऊपर अंग और अंगबाह्यकी अपेक्षा गणना करते समय यत्रतत्रानुपूर्वीके निषेध करनेका यही कारण है।

बारह अंगोंकी अपेक्षा विचार करने पर पूर्वानुपूर्वीक्रमसे बारहवें, पश्चादानुपूर्वीक्रमसे पहले और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें अथवा बारहवें दृष्टिवाद अंगसे कषायप्राभृत निकला है। दृष्टिवाद

तत्थ वि पुव्वाणुपुव्वीए चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए विदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए पढमादो विदियादो तदियादो चउत्थादो पंचमादो वा पुव्वगयादो कसायपाहुडं विणिग्गयं। पुव्वगए वि पुव्वाणुपुव्वीए पंचमादो, पच्छाणुपुव्वीए दसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए पढमादो विदियादो एवं जाव चोद्दसमादो वा णाणप्पवादादो कसायपाहुडं विणिग्गयं। तत्थ वि पुव्वाणुपुव्वीए दसमादो, पच्छाणुपुव्वीए तदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए पढमादो विदियादो एवं जाव बारसमादो वत्थूदो कसायपाहुडं विणिग्गयं। तत्थ वि पुव्वाणुपुव्वीए तदियादो, पच्छाणुपुव्वीए अट्ठारसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए पढमादो विदियादो एवं जाव वीसदिमादो वा पेज्जदोसपाहुडादो कसायपाहुडं विणिस्सरियं। एदं सव्वं पि सुत्तेण अवुत्तं कथं वुच्चदे ? ण; "पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। कसायपाहुडं होदि" इच्चेदेण गाहासुत्तेण सूचिदत्तादो। एवं परूविदे कसायपाहुडं आणुपुव्विदुवारेण सिस्साणमुवक्कंतं होदि। एवं कसायपाहुडस्स आणुपुव्विपरूवणा गदा।

* णामं छव्विहं।

अंगके भेदोंकी अपेक्षा विचार करने पर पूर्वानुपूर्वीक्रमसे चौथे, पश्चादानुपूर्वीक्रमसे दूसरे, और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे अथवा पाँचवें भेदरूप पूर्वगतसे कषायप्राभृत निकला है।

पूर्वगतके भेदोंकी अपेक्षा विचार करने पर पूर्वानुपूर्वीक्रमसे पाँचवें, पश्चादानुपूर्वीक्रमसे दसवें और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे पहले, दूसरे अथवा इसीप्रकार एक एक संख्या बढ़ाते हुए चौदहवें भेदरूप ज्ञानप्रवादपूर्वसे कषायप्राभृत निकला है। ज्ञानप्रवाद पूर्वमें भी वस्तुओंकी अपेक्षा विचार करने पर पूर्वानुपूर्वीक्रमसे दसवीं, पश्चादानुपूर्वीक्रमसे तीसरी और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे पहली, दूसरी आदि यावत् बारहवीं वस्तुसे कषायप्राभृत निकला है। दसवीं वस्तुमें भी प्राभृतोंकी अपेक्षा विचार करने पर पूर्वानुपूर्वीक्रमसे तीसरे, पश्चादानुपूर्वीक्रमसे अठारहवें, और यत्रतत्रानुपूर्वीक्रमसे पहले, दूसरे आदि यावत् बीसवें पेज्जदोषप्राभृतसे कषायप्राभृत निकला है।

शंका–सूत्रमें नहीं कही गई यह सब व्यवस्था यहाँ कैसे कही है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये, इस गाथासूत्रसे यह सब व्यवस्था सूचित हो जाती है।

इसप्रकार आनुपूर्वीकेद्वारा कथन करने पर कषायप्राभृत शिष्योंके बिलकुल समीपवर्ती हो जाता है। अर्थात् शिष्य उसकी स्थितिसे परिचित हो जाते हैं। इसप्रकार कषायप्राभृतकी आनुपूर्वी प्ररूपणा समाप्त हुई।

* नाम छह प्रकारका है।

§ २४. एदस्स सुत्तस्स अत्थपरूवणं कस्सामो। तं जहा–गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अवचयपदे उवचयपदे चेदि[1]। [2]गुणेण णिप्पण्णं गोण्णं। [जहा–सूरस्स तवण-भक्खर-] दिणयरसण्णाओ, वड्ढमाणजिणिंदस्स सव्वण्हु-वीयराय-अरहंत-जिणादिसण्णाओ। चंदसामी सूरसामी इंदगोव इच्चादिसण्णाओ णोगो[3]ण्णपदाओ, णामिल्लए पुरिसे णामत्थाणुवलंभादो। दंडी छत्ती मोली गब्भिणी अइहवा इ[4]च्चादि-

§ २४. अब इस सूत्रके अर्थका कथन करते हैं। वह इसप्रकार है–गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद ये नामके छह भेद हैं। इनमेंसे जो नाम गुणसे अर्थात् गुणकी मुख्यतासे उत्पन्न हो वह गौण्य नामपद है। जैसे, सूरजकी तपन, भास्कर और दिनकर संज्ञाएँ तथा वर्द्धमान जिनेन्द्रकी सर्वज्ञ, वीतराग, अरहंत और जिन आदि संज्ञाएँ गौण्य नामपद हैं, क्योंकि सूर्यके ताप और प्रकाश आदि गुणोंके कारण तपन आदि संज्ञाओंकी तथा वर्द्धमान जिनेन्द्रके सर्वज्ञता, वीतरागता आदि गुणोंकी मुख्यतासे सर्वज्ञ, वीतराग आदि संज्ञाओंकी निष्पत्ति हुई है। चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी और इन्द्रगोप इत्यादि नाम नोगौण्यपद हैं, क्योंकि इन नामवाले पुरुषोंमें उस उस नामका अर्थ नहीं पाया जाता है। अर्थात् जिन पुरुषोंके चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप आदि नाम रखे जाते हैं, उनमें न तो चन्द्र और सूर्यका स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्र उनका रक्षक ही होता है,। अतः ये नाम नोगौण्यपद कहे जाते हैं।

दंडी, छत्री, मौली, गर्भिणी और अविधवा इत्यादि नाम आदानपद हैं, क्योंकि 'यह

(१) "णामोवक्कमो दसविहो"–ध० आ० प० ५३८। "णामस्स दस ट्ठाणाणि भवंति। तं जहा–गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाधण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि।"–ध० सं० पृ० ७४। ध० आ० प० ५३८। "से किं दसणामे पण्णत्ते ? तं जहा–गोण्णे····"–अनु० १३०। (२) गुणेण णिप्पण्णं गोण्णं, णोगुणेण णिप्पण्णं णोगोण्णं। जहा–णयरसण्णाओ वड्ढमाणजिणिंदस्स सव्वण्णुवीयरायअरहंतजिणादिसण्णाओ चंदसामी··–अ०, आ०, गुणेण णिप्पण्ण गोण्णं (त्रु० १२) दिणयर–ता०, स०। "गुणेण णिप्पण्णं गोण्णं जहा सूरस्स तवणभक्खरदिणयरसण्णा, वड्ढमाणजिणिदस्स सव्वण्णुवीयरायअरहंतजिणादिसण्णाओ। चंदसामी सूरसामी इंदगोओ इच्चादिसण्णाओ णोगोण्णपदाणि, णामिल्लए पुरिसे सद्दत्थाणुवलंभादो··"–ध० आ० प० ५३८। "गुणानां भावो गौण्यम्, तद्गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि। यथा–आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि।"–ध० सं० पृ० ७४। ध० आ० प० ५३८। "खमई त्ति खमणो तवइ त्ति तवणो जलइ त्ति जलणो पवइ त्ति पवणो से तं गोण्णे। गुणाज्जातं गौणं, क्षमते इति क्षमण इति।"–अनु० चू०, हरि०, सू० १३०। "गुणैर्निष्पन्नं गौणं यथार्थमित्यर्थः"–अनु० म० सू० १३०। "गुणनिष्पन्नं गोण्णं··"–पिंड० भा० गा० १। (३) "नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा चन्द्रस्वामी··"–ध० सं० पृ० ७४। ध० आ० प० ५३८। "गुणनिष्पन्नं यन्न भवति तन्नोगौणम् अयथार्थमित्यर्थः। अकुंते सकुंते इत्यादि। अविद्यमानकुन्ताख्यप्रहरणविशेष एव सकुन्त त्ति पक्षी प्रोच्यते इत्ययथार्थता··"–अनु० म०, हरि० सू० १३०। (४) "आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम्।"–ध० सं० पृ० ७५। "आदीयते तत्प्रथमतया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्राद्यनेनेत्यादानं तच्च तत्पदं च आदानपदम्। शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेरयादिपदमित्यर्थः, तेन हेतुभूतेन किमपि नाम भवति,

सण्णाओ आदाणपदाओ, इदमेदस्स अत्थि त्ति[1] संबंधणिबंधणत्तादो[2]। [णाणी बुद्धिवं-] तो इच्चादीणि वि णामाणि आदाणपदाणि चेव; इदमेदस्स अत्थि त्ति विवक्खाणि-बंधणत्तादो। एदाणि गोण्णपदाणि किण्ण होंति? ण; गुणमुहेण दव्वम्मि पवुत्तीए संबंधविवक्खाए विणा अदंसणादो। [5]विहवा रंडा पोरा दुव्विहा इच्चाईणि णामाणि पडिवक्खपदाणि, इदमेदस्स णत्थि त्ति विवक्खाणिबंधणत्तादो। सिलीवदी गलगंडो

इसका है' इसप्रकारके संवन्धके निमित्तसे ये संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं। अर्थात् जो नाम किसी द्रव्य या गुणको ग्रहण करके उनके संवन्धके निमित्तसे व्यवहृत होते हैं उन्हें आदान-पद कहते हैं। जैसे, दण्डके ग्रहण करनेके कारण दण्डी, छत्रके ग्रहण करनेके कारण छत्री, मुकुट धारण करनेके कारण मौली, गर्भ धारण करनेके कारण गर्भिणी और पतिको स्वीकार करनेके कारण अविधवा आदि नाम व्यवहृत होते हैं। ज्ञानी, बुद्धिमान् इत्यादि नाम भी आदानपद ही हैं, क्योंकि 'यह इसका है' इसप्रकारकी विवक्षाके कारण ही ये संज्ञाएं व्यवहृत होती हैं।

शंका–ज्ञानी आदि नाम गौण्यपद क्यों नहीं हैं, क्योंकि इनके व्यवहृत होनेमें गुणोंकी मुख्यता देखी जाती है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि संवन्धकी विवक्षा किये विना केवल गुणोंकी मुख्यतासे इन नामोंकी द्रव्यमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है इसलिये ज्ञानी, बुद्धिमान् इत्यादि नाम गौण्यपद नहीं हो सकते हैं। अर्थात् ज्ञानी बुद्धिमान् आदि संज्ञाएं केवल गुणोंकी प्रधान-तासे ही व्यवहृत नहीं होती हैं किन्तु ज्ञान और बुद्धिके संवन्धकी विवक्षा होनेपर व्यवहृत होती हैं। अतः ये आदानपद ही हैं।

विधवा, रंडा, पोरा अर्थात् कुमारी और दुर्विधा इत्यादिक नाम प्रतिपक्षपद हैं, क्योंकि, यह इसका नहीं है इसप्रकारकी विवक्षाके निमित्तसे ये संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं। अर्थात् पतिके न होनेसे विधवा, रण्डा और कुमारी ये नाम व्यवहृत होते हैं। तथा सौभाग्यके न होनेसे स्त्री दुर्विधा कहलाती है।

तच्च आवंतीत्यादि। तत्र आवंतीत्याचारस्य पञ्चमाध्ययनम्, तत्र ह्यादावेव आवन्ती केयावन्तीत्यालापको विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम··"–अनु० म० सू० १३०।

(१) त्ति विवक्खाणिवं–अ०,आ०। "इदमेदस्स अत्थि त्ति विवक्खाए उप्पण्णत्तादो।"–ध० आ० प० ५३८ (२)–त्तादो (त्रु० ५) तो इच्चा–ता०, स०। –त्तादो जदि आदाणपदाओ सण्णाओ तो इच्चा–अ०, आ०। (३) "णाणी बुद्धिवंतो इच्चाईणि णामाणि आदाणपदाणि चेव इदमेदस्स अत्थि त्ति विवक्खाणिबंधण-त्तादो।"–ध० आ० प० ५३८। (४) अत्थि विव–अ०, आ०।" (५) "विहवा रंडा पोरो दुव्विहो इच्चाईणि पडिवक्खपदाणि अगब्भिणी अमउडी इच्चाईणि वा इदमेदस्स णत्थि त्ति विवक्खाणिबंधणत्तादो"–ध०, आ० प० ५३८। "प्रतिपक्षपदानि कुमारी वन्ध्येत्येवमादीनि आदानपदप्रतिपक्षनिवन्धनत्वात्"–ध० सं० पृ० ७६। "विवक्षितवस्तुधर्मस्य विपरीतो धर्मो विपक्षस्तद्वाचकं पदं विपक्षपदम्, तन्निष्पन्नं किञ्चिन्नाम भवति, यथा शृगाली अशिवापि अमाङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते"–अनु० म०, हरि० सू० १३०।

[1]दीहणासो लंबकण्णो इच्चेवमादीणि णामाणि [2]उवचयपदाणि, सरीरे उवचिदमवयवमवेक्खिय एदेसिं णामाणं पउत्तिदंसणादो। छिण्णकण्णो छिण्णणासो काणो कुंठो (टो) खंजो बहिरो इच्चाईणि णामाणि [3]अवचयपदाणि, सरीरावयवविगलत्तमवेक्खिय एदेसिं णामाणं पउत्तिदंसणादो।

§२५. [4]पाधण्णपदणामाणं कथं तब्भावो? [5]बलाए (लाहाए) काए च बहुसु वण्णेसु संतेसु धवला [6]बलाहा कालो काओ त्ति जो णामणिद्देसो सो गोण्णपदे णिवददि, गुणमुहेण दव्वम्मि पउत्तिदंसणादो। कयंबंबणिंबादिअणेगेसु रुक्खेसु तत्थ संतेसु जो एगेण रुक्खेण णिंबवणमिदि णिद्देसो सो आदाणपदे णिवददि; वणेणात्तरुक्खसंबंधेणेदस्स पउत्तिदंसणादो। [7]दव्व-खेत्त-काल-भाव-संजोयपदाणि रायासिधणुहर-सुरलोयणयर-

श्लीपदी, गलगण्ड, दीर्घनासा और लम्बकर्ण इत्यादिक नाम उपचयपद हैं, क्योंकि शरीरमें बढ़े हुए अवयवकी अपेक्षासे इन नामोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अर्थात् श्लीपद रोगसे जिसका पैर फूल जाता है उसे श्लीपदी कहते हैं। इसीतरह जिसके गलेमें गण्डमाला हो उसे गलगण्ड, लम्बी नाकवालेको दीर्घनासा और लम्बे कानवालेको लम्बकर्ण कहते हैं।

कनछिदा, नकटा, काना, लूला, लंगड़ा और बहरा इत्यादिक नाम अपचयपद हैं, क्योंकि शरीरके अवयवोंकी विकलताकी अपेक्षा इन नामोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

§२५. **शंका**–प्राधान्यपद नामोंका अर्थात् जो नाम किसीकी प्रधानताके कारण व्यवहृत होते हैं उनका इन उपर्युक्त नामपदोंमें ही अन्तर्भाव कैसे हो जाता है?

समाधान–बगुले और कौवेमें अनेक वर्णोंके रहने पर भी बगुला सफेद होता है और कौआ काला होता है, इसप्रकार जो नाम निर्देश किया जाता है वह गौण्यपद नामोंमें अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि गुणकी प्रधानतासे द्रव्यमें इन नामोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। वनमें कदम्ब, आम और नीम आदि अनेक वृक्षोंके रहने पर भी एक जातिके वृक्षोंकी बहुलतासे 'यह नीमवन है' इसप्रकारका जो निर्देश किया जाता है उसका आदानपदमें अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि, जिस वनमें नीमके वृक्षोंकी प्रधानता पाई जाती है वहाँ उसके संबन्धसे नीमवन संज्ञाकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

राजा, असिधर, धनुर्धर, सुरलोक, सुरनगर, भारतक, ऐरावतक, शारद, वासन्तक,

(१) दीहगब्भरो अ०, आ०। दीहण··ल– स०। (२) तुलना–ध० सं० पृ० ७७। ध० आ० प० ५३८। (३) तुलना–ध० सं० पृ० ७७। ध० आ० पृ० ५३८। (४) "प्राधान्यपदानि आम्रवनं निम्बवनमित्यादीनि।"–ध० सं० पृ० ७६। ध० आ० प० ५३८। "असोगवणे सत्तवण्णवणे चूअवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे, से तं पाहण्णयाए।" –अनु० सू० १३०। (५) बलाहकाए स०, अ०, आ०। (६) बलाहकालो स०, अ०, ता०। (७) "संजोगो दव्वखेत्तकालभावभेएण चउव्विहो। तत्थ धणुहासिपरसुआदिसंजोगेण संजुत्तपुरिसाणं धणुहासिपरसुणामाणि दव्वसंजोगपदाणि। भारहओ अइरावओ माहुरो मागहो त्ति खेत्तसंजोगपदाणि णामाणि। सारओ वासंतओ त्ति कालसंजोगपदणामाणि। णेरइओ तिरिक्खो कोही माणी बालो जुवाणो इच्चेवमाईणि भावसंजोगपदाणि।"–ध० आ० प० ५३८। ध० सं० पृ० ७७।

भारहय-अइरावय-सायर (सारय) वासंतय-कोहि-माणिइच्चाईणि णामाणि वि आदाणपदे चेव णिवदंति, इदमेदस्स अत्थि, एत्थ वा इदमत्थि त्ति विवक्खाए एदेसिं णामाणं पवुत्तिदंसणादो। अवयवपदणामाणि अवचय-उवचयपदणामेसु पविसंति; तेहिंतो तस्स भेदाभावादो। सुअणासा कंबुग्गीवा कमलदलणयणा चंदमुही बिंबोट्ठी इच्चाईणि तत्तो बाहिराणि अत्थि त्ति चे; ण एदाणि णामाणि; समासं तभू (तब्भू) द-इवसद्दत्थसंबं-

क्रोधी और मानी इत्यादि द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और भावसंयोगरूप नामपद भी आदानपदमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि, 'यह इसका है अथवा यहाँ यह है' इसप्रकारके संयोगसे इन नामों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

विशेषार्थ–राज्यका स्वामी होनेसे राजा, तलवार धारण करनेसे असिधर, धनुष धारण करनेसे धनुर्धर, देवताओंका निवास स्थान होनेसे सुरलोक और सुरनगर, भरतक्षेत्रमें जन्म लेनेसे भारतक, ऐरावत क्षेत्रमें जन्म लेनेसे ऐरावतक, शरद कालके संबन्धसे शारद, वसन्त कालके संबन्धसे वासन्तक, क्रोध भावके होनेसे क्रोधी, मान भावके होनेसे मानी संज्ञाका व्यवहार होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मुख्यतासे व्यवहृत होनेके कारण उक्त संज्ञाएँ आदानपदमें अन्तर्भूत हो जाती हैं।

अवयवपदनाम अपचयपदनामों और उपचयपदनामोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि अपचय और उपचयपदनामोंसे अवयवपदका भेद नहीं पाया जाता है। अर्थात् अवयवविशेषके कारण जो नाम पड़ता है उसे अवयवपद नाम कहते हैं। यह नाम या तो किसी अवयवके बढ़ जानेसे पड़ता है या घट जानेसे पड़ता है। जैसे, कनछिदा और लम्बकर्ण। अतः यह अवयवनामपद अपचयपद और उपचयपदमें गर्भित हो जाता है।

शंका–शुकनासा, कम्बुग्रीवा, कमलदलनयना, चन्द्रमुखी और बिम्बोष्ठी इत्यादि नाम तो अपचयपद और उपचयपद नामोंसे पृथक् पाये जाते हैं ?

समाधान–शुकनासा, कम्बुग्रीवा और कमलदलनयना इत्यादि संज्ञाएँ स्वतन्त्र नाम नहीं हैं, क्योंकि समासके अन्तर्भूत हुए इव शब्दके अर्थके सम्बन्धसे इनकी द्रव्यमें प्रवृत्ति देखी जाती है।

विशेषार्थ–जिस स्त्रीकी नाक तोतेकी नाककी तरह हो उसे शुकनासा कहते हैं। जिस स्त्रीकी गर्दन शंखके समान होती है उसे कम्बुग्रीवा कहते हैं। इसीतरह जिसकी

"संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–दव्वसंजोगे खेत्तसंजोगे कालसंजोगे भावसंजोगे।"–अनु० सू० १३०।

(१) कोही माणी इच्चा–स०, अ०, आ०। (२) अवयवपदानि यथा। सोऽवयवो द्विविधः–उपचितोऽपचित इति।"–ध० सं० पृ० ७७। "अवयवो दुविहो समवेदो असमवेदो चेदि...."–ध० आ० प० ५३८। "से किं तं अवयवेणं ? सिंगी सिही विसाणी दंडी पक्खी खुरी नही वाली। .."–अनु० सू० १३०।

धेण दव्वम्मि पउत्तीदो । अणादियसिद्धंतपदणामेसु[1] जाणि अणादिगुणसंबंधमवेक्खिय पयट्टाणि जीवो णाणी चेयणावंतो त्ति ताणि गोण्णपदे आदाणपदे च णिवदंति, जाणि णोगोण्णाणि ताणि णोगोण्णपदणामेसु णिवदंति । पमाणपदणामाणि[2] वि गोण्णपदे चेव णिवदंति, पमाणस्स[3] दव्वगुणत्तादो । अरविंदसद्दस्स[4] अरविंदसण्णा, णामपदा[5]; सा च अणादियसिद्धंतपदणामेसु पविट्ठा, अणादिसरूवेण तस्स तत्थ पवुत्तिदंसणादो । अणादियसिद्धंतपदणामाणं धम्माधम्मकालागासजीवपुग्गलादीणं छप्पदंतब्भावो पुव्वं

आँखें कमलकी पांखुरीकी तरह हों वह कमलदलनयना, जिसका मुख चन्द्रमाकी तरह गोल सुन्दर हो वह चन्द्रमुखी तथा जिसके ओष्ठ पके हुए विम्वफलकी तरह लाल हों वह विम्वोष्ठी कहलाती है। यह इन शब्दोंका अर्थ है। पर इनका उपयोग उपमामें ही किया जाता है, इसलिये ये स्वतन्त्ररूपसे अवयवपदनाम न होकर केवल प्रशंसारूप अर्थमें विशेषणरूपसे ही आते हैं।

अनादिसिद्धान्तपद नामोंमें जो नाम अनादिकालीन गुण और उसके सम्बन्धकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए हैं, जैसे जीव, ज्ञानी, चेतनावान, वे गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। तथा जो नाम नोगौण्य हैं, अर्थात् गुणकी अपेक्षासे व्यवहृत नहीं होते हैं वे नोगौण्यपद नामोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। शत, सहस्र इत्यादि प्रमाणपद नाम भी गौण्यपदमें ही अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि शतत्व आदि रूप प्रमाण द्रव्यका गुण है। यह प्रमेयमें ही पाया जाता है। अर्थात् इन नामोंसे उस प्रमाणवाली वस्तुका बोध होता है, इसलिये ये गौण्यपद नाम हैं।

अरविन्द शब्दकी अरविन्द यह संज्ञा नामपद नाम है, और उसका अनादिसिद्धान्तपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि अनादिकालसे अरविन्द शब्दकी अरविन्द इस संज्ञारूप अर्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है। अर्थात् अरविन्द शब्दका अनादि कालसे अरविन्द इस संज्ञामें ही व्यवहार होता आ रहा है, इसलिये अरविन्द शब्दकी अरविन्द संज्ञा अनादिसिद्धान्त पदनाम है। तथा धर्म, अधर्म, काल, आकाश, जीव और पुद्गल आदि अनादिसिद्धान्तपद नामोंका छह नामोंमें यथायोग्य अन्तर्भाव पहले कहा जा चुका है।

(१) "धम्मत्थिओ अधम्मत्थिओ कालो पुढवी आऊ तेऊ इच्चादीणि अणादियसिद्धंतपदाणि।"-ध० आ० प० ५३८। ध० सं० पृ० ७६। "धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए से तं अणाइयसिद्धंतेणं।"-अनु० सू० १३०। (२) "सदं सहस्समिच्चादीणि पमाणपदणामाणि संखाणिवंधणादो।"-ध० आ० प० ५३८। ध० सं० पृ० ७७। "से किं तं पमाणेणं? चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-नामप्पमाणे, ठवणप्पमाणे, दवप्पमाणे, भावप्पमाणे।"-अनु० सू० १३०। (३) समाण-अ०, आ०। (४)-दसंधस्स अ०, आ०। (५) "नामपदं नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति गोडान्ध्रद्रमिलभाषानामधामत्वात्।"-ध० सं० पृ० ७७। "अरविंदसद्दस्स अरविंदसण्णा णामपदं, णामस्स अप्पाणम्मि चेव पउत्तिदंसणादो।"-ध० आ० प० ५३८। "पिउपिआमहस्स नामेणं उन्नामिज्जए से तं नामेणंपित्रादेर्यद् बन्धुदत्तादि नाम आसीत् तत् पुत्रादेरपि तदेव विधीयमानं नाम्ना नामोच्यत इति तात्पर्यम्।"-अनु० म० सू० १३०।

परूविदो त्ति णेदाणिं परूविज्जदे। तदो णामं दसविहं चेव होदि त्ति एयंतग्गहो ण वत्तव्वो, किंतु छव्विहं पि होदि त्ति घेत्तव्वं।

§ २६. एदेसु छव्विहेसु णामेसु पेज्जदोसपाहुडं कसायपाहुडमिदि च जाणि णामाणि ताणि कत्थ णिवदंति? गोण्णपदेसु णिवदंति, पेज्जदोसकसायाणं धारणपोसणगुणेहिंतो

इसलिये इस समय उसका कथन नहीं करते हैं। अर्थात् अनादिसिद्धान्तपदनामोंका गौण्यपद, नोगौण्यपद आदि नामोंमें अन्तर्भाव करनेकी विधि ऊपर बतला आये हैं, तदनुसार इन उपर्युक्त संज्ञाओंका यथायोग्य अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, यहां अलगरूपसे उसके कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार ऊपर छह प्रकारके नामोंका कथन किया गया है और शेष नामोंका उनमें अन्तर्भाव कैसे हो जाता है यह बतलाया है। अतः नाम दस प्रकारका ही होता है ऐसा एकान्तरूपसे आग्रह करके कथन नहीं करना चाहिये। किन्तु नाम छह प्रकारका भी होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ–यद्यपि श्रीधवला आदिमें नामके दस भेद कहे हैं और यहां चूर्णिसूत्रकारने नामके कुल छह भेद ही कहे हैं। तो भी इन दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वहां नामके भेद गिनाते समय अधिकसे अधिक भेदोंके कथन करनेकी मुख्यतासे दस भेद कहे गये हैं। और यहां अन्तर्भाव करके छह भेद गिनाये गये हैं। किन किन नामोंका किन किन नामोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, यह ऊपर दिखला ही आये हैं, इसलिये विवक्षाभेदसे नामके दस या छह भेद समझना चाहिये।

§ २६. **शंका**–इन छह प्रकारके नामपदोंमेंसे पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत ये नाम किन नामपदोंमें अन्तर्भूत होते हैं?

समाधान–गौण्यपदनामोंमें ये दोनों नाम अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि पेज्ज, दोष और कषायके धारण और पोषण गुणकी अपेक्षा इन दोनों नामोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

विशेषार्थ–प्र और आ उपसर्ग पूर्वक भृञ् धातुसे प्राभृत शब्द बना है। भृञ् धातुका अर्थ धारण और पोषण करना है। तदनुसार पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत इन दोनों नामोंको गौण्य नामपदमें गर्भित किया है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इस पेज्जदोषप्राभृत या कषायप्राभृत शास्त्रमें जीवोंको पेज्ज, दोष और कषायके धारण करने और पोषण करनेका उपदेश दिया गया है। किन्तु यहाँ धारणका अर्थ आधार और पोषणका अर्थ विस्तारसे कथन करना है। अर्थात् यह पेज्जदोषप्राभृत या कषायप्राभृत पेज्ज, दोष और कषायोंके कथनका आधारभूत होनेसे धारण गुणवाला और उन्हींका विस्तारसे कथन करनेवाला होनेसे पोषण गुणवाला है। प्राभृतका सर्वत्र यही अर्थ करना चाहिये। जैसे, आकाशप्राभृतका अर्थ आकाशको धारण और पोषण करनेवाला शास्त्र होगा। यदि यहाँ धारण और पोषणसे जीवोंके द्वारा आकाशके धारण करने और पोषण करने रूप अर्थका

एदेसिं दोण्हं णामाणं पउत्तिदंसणादो। अणादिसरूवेण पयट्टाणि एदाणि दो णामाणि अणादियसिद्धंतपदेसु किण्ण णिवदंति ? ण; अणादियसिद्धंतपदस्स गोण्ण-णोगोण्ण-पदेसु अंतब्भावं गदस्स छप्पदणामेहिंतो पुधभावाणुवलंभादो। एवं णामपरूवणा गदा।

* [1]पमाणं सत्तविहं

§ २७. एदस्स सुत्तस्स अत्थविवरणं कस्सामो। तं जहा–णामपमाणं ट्ठवणपमाणं संखपमाणं दव्वपमाणं खेत्तपमाणं कालपमाणं णाणपमाणं चेदि। [2]प्रमीयतेऽनेनेति

ग्रहण किया जाय तो यह कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि न तो जीव आकाशको धारण ही कर सकते हैं और न पुष्ट ही। अतएव यही अर्थ होगा कि जो शास्त्र आकाशद्रव्यके कथन करनेका आधारभूत है और जिसमें विस्तारसे आकाशका कथन है वह आकाशप्राभृत है। इसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिये।

शंका–पेज्जदोपप्राभृत और कषायप्राभृत नाम अनादिकालसे पाये जाते हैं, अतः इनका अनादिसिद्धान्तपदनामोंमें अन्तर्भाव क्यों नहीं होता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अनादिसिद्धान्तपदका गौण्यपद और नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वह उक्त छह प्रकारके नामोंसे अलग नहीं पाया जाता है।

विशेषार्थ–ऊपर यह बतला आये हैं कि जो जीव आदि अनादिसिद्धान्तपद गुणकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्य पदनाममें और जो धर्म आदि अनादिसिद्धान्तपद गुणकी मुख्यतासे व्यवहृत नहीं होते हैं उनका नोगौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है। तदनुसार यहाँ उक्त दोनों नामोंका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव किया गया है।

इसप्रकार नामप्ररूपणा समाप्त हुई।

*** प्रमाण सात प्रकारका है।**

§ २७. अब इस सूत्रके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं। वह इसप्रकार है–नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, संख्याप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और ज्ञानप्रमाण, ये प्रमाण-के सात भेद हैं। जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। नामपद

(१) "प्रमाणं द्विविध लौकिकलोकोत्तरभेदात्। लौकिकं पोढा मानोन्मानावमानगणनाप्रतिमानतत्प्र-माणभेदात्··लोकोत्तरं चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्"–राजवा० ३।३८। "पमाणं पंचविहं दव्वखेत्तकाल-भावणयप्पमाणभेदेहि।··अथवा प्रमाणं छव्विहं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाणभेदात्।"–ध० सं० पृ० ८०, ८१। ध० आ० प० ५३८। "पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा दव्वपमाणे खेत्तप्पमाणे काल-प्पमाणे भावप्पमाणे। (१३१) भावप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–गुणप्पमाणे नयप्पमाणे संखप्पमाणे। गुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–जीवगुणप्पमाणे अजीवगुणप्पमाणे अ। जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–णाणगुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे।"–अनु० सू० १३१, १४३। (२) "प्रमीयते परिच्छिद्यते धान्यद्रव्याद्यनेनेति प्रमाणम् असतिप्रस्सृत्यादि, अथवा इदं [illegible] प्रति-नियतस्वरूपतया प्रत्येकं प्रमीयते परिच्छिद्यते यत्तत्प्रमाणं यथोक्तमेव, [illegible] परिच्छेदः स्वरूपावगमः प्रमाणम्"–अनु० म० सू० १३२।

प्रमाणम् । नामाख्यातपदानि नामप्रमाणं प्रमाणशब्दो वा । कुदो ? एदेहिंतो अप्पणो अण्णेसिं च दव्व-पज्जयाणं परिच्छित्तिदंसणादो । सो एसो त्ति अभेदेण कट्ठ-सिला-पव्वएसु अप्पियवत्थुण्णासो ट्ठवणापमाणं । कथं ठवणाए पमाणत्तं ? ण; ठवणादो एवंविहो सो त्ति अण्णस्स परिच्छित्तिदंसणादो । मइ-सुद-ओहि-मणपज्जव-केवलणाणाणं सब्भावासब्भावसरूवेण विण्णासो वा । सयं सहस्समिदि असब्भावट्ठवणा वा ठवण-पमाणं । सयं सहस्समिदि दव्वगुणाणं संखाणं धम्मो संखापमाणं । पल-तुला-कुडवा-दीणि दव्वपमाणं, दव्वंतरपरिच्छित्तिकारणत्तादो । दव्वपमाणेहि मविदजव-गोहूम-तगर-कुट्ठ-वालादिसु कुडव-तुलादिसण्णाओ उवयारणिबंधणाओ त्ति ण तेसिं पमाणत्तं किंतु

और आख्यातपद अथवा प्रमाणशब्द नामप्रमाण हैं, क्योंकि इनसे अपनी तथा दूसरे द्रव्य और पर्यायोंकी परिच्छित्ति होती देखी जाती है ।

'वह यह है' इस प्रकार अभेदकी विवक्षा करके काष्ट, शिला और पर्वतमें अर्पित वस्तुका न्यास स्थापनाप्रमाण है ।

शंका–स्थापनाको प्रमाणता कैसे है ?

समाधान–ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्थापनाके द्वारा 'वह इस प्रकारका है' इसप्रकार अन्य वस्तुका ज्ञान देखा जाता है ।

अथवा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका तदाकार और अतदाकार रूपसे निक्षेप करना स्थापना प्रमाण है । अथवा, 'यह सौ है, यह एक हजार है' इसप्रकारकी अतदाकार स्थापना स्थापनाप्रमाण है ।

द्रव्य और गुणोंके 'सौ हैं, एक हजार हैं' इसप्रकारके संख्यानरूप धर्मको संख्या-प्रमाण कहते हैं । अर्थात् द्रव्य और गुणोंमें जो संख्यारूप धर्म पाया जाता है उसे संख्या-प्रमाण कहते हैं । पल, तुला और कुडव आदि द्रव्यप्रमाण हैं, क्योंकि ये सोना, चांदी, गेहूँ आदि दूसरे पदार्थोंके परिमाणके ज्ञान करानेमें कारण पड़ते हैं । किन्तु द्रव्यप्रमाण-रूप पल, तुला आदि द्वारा मापे गये जौ, गेहूँ, तगर, कुष्ठनामकी एक दवा और वाला नामका एक सुगन्धित पदार्थ आदिमें जो कुडव और तुला आदि संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं वे उपचारनिमित्तक हैं । इसलिये उन्हें प्रमाणता नहीं है, किन्तु वे प्रमेयरूप ही हैं ।

विशेषार्थ–एक बहुत छोटी तौलको या चार तोलाको पल कहते हैं । तौलनेके साधन या तराजूको तुला कहते हैं और अनाज मापनेके एक मापको कुडव कहते हैं। परन्तु लोकमें तौले और मापे जानेवाले सोना और गेहूँ आदि पदार्थोंमें भी तुला और कुडव

(१) "सा दुविहा सब्भावासब्भावट्ठवणा चेदि"–ध० सं० पृ० २० । लघी० स्व० पृ० २६ । त० श्लो० पृ० १११ । अक० टि० पृ० १५३ । "अक्खे वराडए वा कट्ठे त्थे व चित्तकम्मे वा । सब्भावमसब्भावं ठवणापिंडं वियाणाहि ॥"–पिंड० गा० ७ । बृह० भा० गा० १३ । "सद्भावस्थापनया नियमः असद्भावेन वा अतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत् ।"–नयच० वृ० प० ३८१ ।

पमेयत्तमेव। अंगुलादिओगाहणाओ खेत्तपमाणं, 'प्रमीयन्ते अवगाह्यन्ते अनेन शेषद्रव्याणि' इति अस्य प्रमाणत्वसिद्धेः।

"खेत्तं खलु[2] आयासं, तव्विवरीयं च होदि णोखेत्तं ॥ ३ ॥"

इदि वयणादो खेत्तपमाणं दंडादिपमाणं च (व) दव्वपमाणे अंतब्भावं किण्ण गच्छदि? ण एस दोसो; दव्वमिदि उत्ते परिणामिदव्वाणं जीवपोग्गलाणमण्णेसिं परिच्छित्तिणिमित्ताणं गहणं, तत्थ पचयापचयभावदंसणादो संकोचविकोचत्तुवलंभादो च। ण च धम्माधम्मकालागासा परिणामिणो; तत्थ रूव-रस-गंध-पासोगाहण-संठाणंतरसंकंतीण-

आदि संज्ञाओंका व्यवहार देखा जाता है, इसलिये यहाँ द्रव्यप्रमाणसे सोने और गेहूँ आदिका ग्रहण न करके तौलने और मापनेके साधनोंका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सोना और गेहूँ आदि पदार्थ स्वयं तुला और कुडव आदि कुछ भी नहीं हैं। उनमें तो केवल तुला और कुडवरूप परिमाण देखकर तुला और कुडवरूप व्यवहार किया जाता है, इसलिये यह व्यवहार औपचारिक है, वास्तविक नहीं। वास्तवमें सोना और गेहूँ आदि पदार्थ प्रमेय ही हैं प्रमाण नहीं।

अंगुल आदिरूप अवगाहनाएँ क्षेत्रप्रमाण हैं, क्योंकि 'जिसके द्वारा शेष द्रव्य प्रमित किये जाते हैं अर्थात् अवगाहित किये जाते हैं उसे प्रमाण कहते हैं' प्रमाणकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार अंगुल आदिरूप क्षेत्रको भी प्रमाणता सिद्ध है।

शंका–"क्षेत्र नियमसे आकाश द्रव्य है और इससे विपरीत अर्थात् आकाशसे अतिरिक्त शेष द्रव्य नोक्षेत्र है ॥ ३ ॥"
इस वचनके अनुसार क्षेत्रप्रमाण जो कि आकाश द्रव्यस्वरूप है, दण्डादिप्रमाणके समान द्रव्यप्रमाणमें अन्तर्भावको क्यों नहीं प्राप्त होता है?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यप्रमाणमें द्रव्यपदसे अन्य पदार्थोंकी परिच्छित्तिमें कारणभूत परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गलका ही ग्रहण किया है। कारण कि जीव और पुद्गलमें वृद्धि और हानि तथा संकोच और विस्तार पाया जाता है। अर्थात् पुद्गल द्रव्यमें स्कन्धकी अपेक्षा वृद्धि और हानि होती रहती है तथा जीव और पुद्गल दोनोंमें संकोच और विस्तार पाया जाता है। इससे जाना जाता है कि यहां द्रव्य पदसे जीव और पुद्गलका ही ग्रहण किया है। किन्तु धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य उसप्रकार परिणामी नहीं हैं, क्योंकि इनमें रूपसे रूपान्तर, रससे रसान्तर, गन्धसे गन्धान्तर, स्पर्शसे

(१) "क्षेत्रप्रमाणं द्विविधम् अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति। तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्, एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपुद्‍लद्रव्यावगाह्येकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात्। विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चानेकविधम्–असंख्येयाकाशश्रेणयः, क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसंख्येयभागः··"–राजवा० ३।३८। "खेत्तपमाणे दुविहे पण्णत्ते पएसणिप्फण्णे अ विभागणिप्फण्णे अ"–अनु० सू० १३१। (२) "खेत्तं खलु आगासं तव्विवरीयं च होदि णोखेत्तं। जीवा य पोग्गला वि य धम्माधम्मत्थिया कालो ॥"–जीवस० गा० १६८। उद्धृतमिदम्–ध० खे० पृ० ७।

मणुवलंभादो। अथवा, अण्णपरिच्छित्तिहेउदव्वं दव्वपमाणं णाम। ण च खेत्तेण किरियाविरहिएण कुडवादिणेव दव्वंतरपरिच्छित्ती सक्किज्जदे काउं, किंतु खेत्तेण अण्णदव्वाणि ओगाहिज्जंति त्ति खेत्तस्स पमाणसण्णा, तेण खेत्तपमाणं दव्वपमाणे ण

स्पर्शान्तर, अवगाहनासे अवगाहनान्तर और आकारसे आकारान्तररूप परिवर्तन नहीं देखा जाता है। अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तो उनमें होते ही नहीं हैं। तथा उनकी अवगाहना और आकार भी अनादिकालसे एक ही चला आ रहा है, उनमें परिवर्तन नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गलमें यह बात नहीं है। पुद्गलमें रूप रसादिक बदलते रहते हैं। उसकी अवगाहना और आकार भी बदलता रहता है। संकोच और विस्तारके कारण जीवके भी अवगाहना और आकारमें परिवर्तन होता रहता है। अतः द्रव्यप्रमाणमें द्रव्य पदसे जीव और पुद्गलका ही ग्रहण किया है। अथवा, अन्य पदार्थोंके परिमाण करानेमें कारणभूत द्रव्य द्रव्यप्रमाण है, द्रव्यप्रमाणके इस लक्षणके अनुसार कुडव आदि ही द्रव्यप्रमाण कहे जा सकते हैं, क्योंकि कुडव आदिसे जिसप्रकार अन्य पदार्थोंका परिमाण किया जा सकता है उसप्रकार क्रियारहित आकाश क्षेत्रके द्वारा अन्य पदार्थोंका परिमाण नहीं किया जा सकता है। तो भी क्षेत्रका आश्रय लेकर अन्य द्रव्य अवगाहित होते हैं, इसलिये क्षेत्रको प्रमाण संज्ञा है और इसीलिये क्षेत्रप्रमाण द्रव्यप्रमाणमें अन्तर्भूत नहीं होता है यह सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—द्रव्यप्रमाणसे क्षेत्रप्रमाणको अलग गिनाया है। इस पर शंकाकारका कहना है कि जिसप्रकार दण्डादि प्रमाण द्रव्यस्वरूप होनेके कारण द्रव्यप्रमाणसे अलग नहीं माने गये हैं उसीप्रकार क्षेत्रको भी द्रव्यस्वरूप होनेके कारण द्रव्यप्रमाणसे अलग नहीं मानना चाहिये। इस शंकाका यह समाधान है कि द्रव्यप्रमाणमें सभी द्रव्योंका ग्रहण नहीं किया है। किन्तु जिन द्रव्योंमें गुणविकार और प्रदेशविकार देखा जाता है वे द्रव्य ही यहां द्रव्यप्रमाण पदसे ग्रहण किये गये हैं। ऐसे द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो ही हो सकते हैं; अन्य नहीं। अन्य द्रव्योंमें यद्यपि अगुरुलघु गुणोंकी अपेक्षा हानि और वृद्धिकृत परिणाम पाया जाता है पर वह परिणाम उनमें गुणविकारका कारण नहीं है। तथा जीव और पुद्गलमें जिसप्रकार प्रदेशविकार देखा जाता है उसप्रकारका प्रदेशविकार भी अन्य द्रव्योंमें नहीं होता है। अतः धर्मादि द्रव्य जीव और पुद्गलके समान दूसरे पदार्थोंके परिमाणके ज्ञान करानेमें कारण नहीं होते हैं, इसलिये द्रव्यप्रमाणमें केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंका ही ग्रहण किया है। ये दोनों द्रव्य यहां अशुद्ध ही लेने चाहिये। फिर भी आकाशके आश्रयसे अन्य पदार्थ अवगाहित होकर रहते हैं अतः आकाशको द्रव्यप्रमाणसे भिन्न प्रमाण माना है। आकाश केवल द्रव्य है इसलिये उसका द्रव्यप्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि द्रव्यप्रमाणकी हेतुभूत उपर्युक्त सामग्री आकाशमें नहीं पाई जाती है।

(१) णामदो च आ०, अ० स०।

णिवददि त्ति सिद्धं । समयावलिय-खण[1]-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मास-उडु[2]वयण-संवच्छर-जुग[3]-पुव्व-पव्व[4]-पल्ल-सागरादि कालपमाणं । ण च एदं दव्वपमाणे णिवददि; ववहार-कालग्गहणादो । ण च ववहारकालो दव्वं । उत्तं च–

"कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो ।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो[5] ॥ ४ ॥"

एदेण सुत्तेण ववहारकालस्स दव्वभावासिद्धीदो ।

समय, आवली, क्षण अर्थात् स्तोक, लव, मुहुर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्य, सागर आदि कालप्रमाण है । यह कालप्रमाण द्रव्यप्रमाणमें अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि यहां व्यवहारकालका ग्रहण किया गया है। और व्यवहार-काल द्रव्य नहीं है । कहा भी है–

"समय, निमिप आदि व्यवहारकाल जीव और पुद्गलके परिणामसे व्यवहारमें आता है, अतः वह परिणामसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है । तथा जीव और पुद्गलका परिणाम उसके निमित्तभूत द्रव्यकालके रहने पर ही उत्पन्न होता है, अतः वह द्रव्यकालके द्वारा उत्पन्न हुआ कहा जाता है । व्यवहारकाल और निश्चयकालका यही स्वभाव है । तथा व्यवहारकाल क्षणभंगुर है और निश्चयकाल नित्य है ॥ ४ ॥"

इस गाथासे व्यवहारकाल द्रव्य नहीं है यह सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ–छहों द्रव्योंकी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायके होनेमें अन्तरंग कारण प्रत्येक द्रव्यके अगुरुलघु गुण हैं और निमित्त कारण कालद्रव्य है । प्रत्येक द्रव्यकी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायके होनेमें जो काल लगता है उसे आगममें समय कहा है, जो कालद्रव्यकी वर्तनागुणसे उत्पन्न होनेवाली अर्थपर्याय है । यद्यपि अतिसूक्ष्म होनेके कारण क्षायोपशमिक ज्ञानोंके द्वारा इसका ग्रहण तो नहीं हो सकता है फिर भी मन्दगतिसे गमन करते हुए एक परमाणुके द्वारा एक कालाणुसे व्याप्त आकाशप्रदेशके व्यतिक्रम करनेमें जितना काल लगता है आगममें उस कालको समय कहा है, अतः इस कालमें जो समयका व्यवहार होता है वह पुद्गलनिमित्तक है और इसके समुदायमें आवली और निमिप आदि रूप व्यवहार तो स्पष्टतः जीव और पुद्गलके परिणमनके निमित्तसे होता है । अतः यह सब व्यवहारकाल कहा जाता है। इससे निश्चित हो जाता है कि इस व्यवहारकालका उपादान कारण काल-द्रव्य है और निमित्त कारण जीव और पुद्गलोंका, विशेषकर केवल ढाई द्वीपमें स्थित सूर्यमंडलका परिणमन है । अतः व्यवहारकाल द्रव्य न होकर पुद्गल और जीवद्रव्यके परि-णामसे व्यवहारमें आनेवाली कालद्रव्यकी औपचारिक पर्याय है । इसलिये उसे द्रव्यप्रमाणमें ग्रहण न करके स्वतन्त्र प्रमाण कहा है ।

(१) "थोवो खणो"–ध० आ० प० ८८२ । (२)–उडुअयण–स० । (३)–[illegible]–अ० । (४) "पुणो एदाणि एगपुव्ववस्साणि ठवेदूण लक्खगुणिदेण चउरासीदिवग्गेण गुणिदे पव्वं होदि ।"–ध० आ० प० ८८२ । (५) पञ्चा० गा० १०० ।

§ २८. णाणपमाणं पंचविहं, मदि-सुद-ओहि-मणपज्जव-केवलणाणभेएण। णाणस्स पमाणत्ते भण्णमाणे संसयाणज्झवसायविवज्जयणाणाणं पि पमाणत्तं पसज्जदे; ण; 'प'सद्देण तेसिं पमाणत्तस्स ओसारिदत्तादो। पमाणेसु णाणपमाणं चेव पहाणं; एदेण विणा सेसासेसपमाणाणमभावप्पसंगादो। इंदिय-णोइंदिएहि सद्द-रस-परिस-रूव-गंधादि-विसएसु ओग्गह-ईहावाय-धारणाओ मदिणाणं, इंदियट्ठसण्णिकरिससमणंतरमुप्पण्णत्तादो। मदिणाणपुव्वं सुदणाणं होदि मदिणाणविसईकयअट्ठादो पुधभूदट्ठविसयं, अण्णहा ईहादीणं पि मदिपुव्वत्तं पडि विसेसाभावेण सुदणाणत्तप्पसंगादो। तं च उवदेसाणुवदेसपुव्वं, ण च उवदेसपुव्वं चेवेत्ति णियमो अत्थि।

"पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणहिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो[2] ॥ ५॥"

§ २८. ज्ञानप्रमाण मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे पांच प्रकारका है।

शंका–ज्ञान प्रमाण है ऐसा कथन करने पर संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय ज्ञानोंको भी प्रमाणता प्राप्त होती है?

समाधान–नहीं, क्योंकि प्रमाणमें आये हुए 'प्र' शब्दके द्वारा संशय आदिकी प्रमाणताका निषेध कर दिया है।

चूर्णिसूत्रमें जो सात प्रकारके प्रमाण बतलाये हैं, उनमें ज्ञानप्रमाण ही प्रधान है, क्योंकि उसके बिना शेष समस्त प्रमाणोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

इन्द्रिय और मनके निमित्तसे शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गन्धादिक विषयोंमें अवग्रह ईहा, अवाय और धारणारूप जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षके अनन्तर उसकी उत्पत्ति होती है। जो ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और मतिज्ञानके द्वारा विषय किये गये अर्थसे पृथग्भूत अर्थको विषय करता है वह श्रुतज्ञान है। यदि ऐसा न माना जाय, अर्थात् यदि केवल मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले ज्ञानको ही श्रुतज्ञान माना जाय और उसका विषय मतिज्ञानसे पृथक् न माना जाय तो ईहादिक ज्ञानोंको भी श्रुतज्ञानत्वका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि श्रुतज्ञानकी तरह ईहादिक भी अवग्रहादि मतिज्ञानपूर्वक होते हैं। वह श्रुतज्ञान उपदेशपूर्वक भी होता है और विना उपदेशके भी होता है, इसलिये श्रुतज्ञान उपदेशपूर्वक ही होता है ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि–

"अनभिलाप्य पदार्थोंके अर्थात् जो पदार्थ शब्दोंके द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं उनके अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय अर्थात् प्रतिपादन करनेके योग्य पदार्थ हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुतनिबद्ध पदार्थ हैं ॥ ५ ॥"

(१)–सद्दपासरस–अ०, आ०। (२) गो० जीव० गा० ३३३। वि० भा० गा० १४१। बृह० भा० गा० ९६५।

त्ति गाहासुत्तेणेव[1] अणुवदेसपुव्वं पि सुदणाणमत्थि त्ति सिद्धीदो। पर[2]माणुपज्जंतासेस-पोग्गलदव्वाणमसंखेज्जलोगमेत्तखेत्तकालभावाणं कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय-जीव[3]....[जीवदव्वा-] णं च पच्चक्खेण........[परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं। चिंतिय-] अद्धचिंतिय-अचिंतियअत्थाणं पणदालीसजोयणलक्खब्भंतरे वट्टमाणाणं जं पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ, ओहिणाणादो थोवविसयं पि होदूण संजमाविणाभावित्तणेण गउर-वियं तं म[4]णपज्जवं णाम। घाइचउक्कक्खएण लद्धप्पसरूव-विसईकयतिकालगोयरासेसद-व्वपज्जय-करणक्कम (-[5]णक्कम) ववहाणाईयं खइयसम्मत्ताणंतसुह-विरिय-विरइ-केवलदंसणा-विणाभावि केवलणाणं णाम। एवं पमाणाणं सामण्णपरूवणा कदा।

§ २९. णय-दंसण-चरित्त-सम्मत्तपमाणाणि एत्थ किण्ण परूविदाणि? ण; तत्थ-

इस गाथासूत्रसे ही अनुपदेशपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है यह सिद्ध हो जाता है।

महास्कन्धसे लेकर परमाणुपर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्योंको, असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावोंको तथा कर्मके संबन्धसे पुद्गलभावको प्राप्त हुए जीवोंको जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

पैंतालीस लख योजनप्रमाण ढाई द्वीपके भीतर विद्यमान चिन्तित अर्धचिन्तित और अचिन्तित पदार्थोंको जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है और जो अवधिज्ञानसे अल्पविषयवाला होते हुए भी संयमका अविनाभावी होनेसे गौरवको प्राप्त है वह मनःपर्ययज्ञान है। चारों घातिया कर्मोंके क्षयसे जो उत्पन्न हुआ है जिसने आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है अर्थात् जो ज्ञान आत्मस्वरूप है, जिसने त्रिकालके विषयभूत समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय किया है; जो इन्द्रिय, क्रम तथा व्यवधानसे रहित है और जो क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तविरति तथा केवलदर्शनका अविनाभावी है वह केवलज्ञान है। इसप्रकार प्रमाणोंकी सामान्य प्ररूपणा कर दी गई है।

§ २९. शंका–नय, दर्शन, चरित्र और सम्यक्त्वको यहां प्रमाणरूपसे क्यों नहीं कहा?

समाधान–नहीं, क्योंकि नयादिकमें स्थित संख्याका संख्याप्रमाणमें अन्तर्भाव हो

(१)–सुत्तेण च अ–अ०, स०। (२) "अंतिमखंधंताइं परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं। जं पच्चक्खं जाणइ तमोहिणाणं ति णादव्वं।"–ति० प० प० ९२। (३)–जाव (त्रु०३) ण च पच्चक्खेण (त्रु० ६४) अ–ता०, स०,–जाव पोग्गलेण च पच्चक्खेण णाणविसेसं णत्थि त्ति सिद्धीए चेव पोग्गलदव्वमपरूविय अ–अ०, आ०। (४) "चिंताए अचिंताए अद्धं चिंताए विविहभेयगयं। जं जाणइ णरलोए तं वि य मणपज्जवं णाणं॥" –ति० प० प० ९२। (५)–"परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया। सो णेव ते विजाणदि उग्गह-पुव्वाहिं किरियाहिं॥ णत्थि परोक्खं किंचि वि समंतसव्वक्खगुणसमिद्धस्स। अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥"–प्रवचन० गा० २१–२२। "करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात्"–अष्टस० पृ० ४४। "तथाहि–सर्वद्रव्यपर्यायविषयमर्हत्प्रत्यक्षं क्रमातिक्रान्तत्वात्, क्रमातिक्रान्तं तत् मनोऽक्षानपेक्षत्वात्, मनोऽक्षानपेक्षं तत् सकलकलङ्कविकलत्वात्"–आप्तप० का० ९६। "असहायमणंतं लोयालोयेसु वितिमिरं । केवलमखंडभेदं केवलणाणं भणंति जिणा॥"–ति० प० प० ९२।

ट्ठियसंखाए संखपमाणे अंतब्भावादो, सव्वेसिं पज्जयाणं ववहारकालंतब्भावादो च।

§ ३०. संपहि पयदमस्सिदूण पमाणपरूवणं कस्सामो। एदेसु पमाणेसु काणि पमाणाणि एत्थ संभवंति त्ति? णाम-संखा-सुदणाणपमाणाणि तिण्णि चेव पयदम्मि संभवंति, अण्णेसिमणुवलंभादो। कथं णामसण्णिदाणं पद-वक्काणं पमाणत्तं? ण; तेसु विसंवादाणुवलंभादो। लोइयपद-वक्काणं कहिं पि विसंवादो दिस्सदि त्ति णागमपदवक्काणं विसंवादो वोत्तुं सक्किज्जदे, भिण्णजाईणमेयत्तविरोहादो। ण च विसईकयसयलत्थ-करण-कमववहाणादीद-वीयरायत्ताविणाभावि-केवलणाणसमुप्पण्णपदवक्काणं छदुमत्थपदवक्केहि समाणत्तमत्थि; विरोहादो।

§ ३१. ण च केवलणाणमसिद्धं; केवलणाणंसस्स ससंवेयणपच्चक्खेण णिव्वाहेणुवलं-

जाता है और सब पर्यायोंका व्यवहारकालमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये नयादिकका प्रमाणरूपसे पृथक् कथन नहीं किया है।

§ ३०. अब प्रकृत कषायप्राभृतका आश्रय लेकर प्रमाणका कथन करते हैं–

शंका–इन सातों प्रमाणोंमेंसे इस कषायप्राभृतमें कौन कौन प्रमाण संभव हैं?

समाधान–प्रकृत कषायप्राभृतमें नामप्रमाण, संख्याप्रमाण और श्रुतज्ञानप्रमाण ये तीन प्रमाण ही संभव हैं, क्योंकि अन्य प्रमाण प्रकृतमें नहीं पाये जाते हैं।

शंका–नाम शब्दसे बोधित होनेवाले पद और वाक्योंको प्रमाणता कैसे है?

समाधान–नहीं, क्योंकि इन पदों और वाक्योंमें विसंवाद नहीं पाया जाता है, इसलिये वे प्रमाण हैं। लौकिक पद और वाक्योंमें कहीं कहीं विसंवाद दिखाई देता है इसलिये आगमके पद और वाक्योंमें भी विसंवाद नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लौकिक पद और वाक्योंसे आगमके पद और वाक्य भिन्नजातिवाले होते हैं, अतः उनमें एकत्व अर्थात् अभेद माननेमें विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले, इन्द्रिय, क्रम और व्यवधान से रहित तथा वीतरागता के अविनाभावी केवलज्ञानके निमित्तसे उत्पन्न हुए पद और वाक्योंकी छद्मस्थके पद और वाक्योंके साथ समानता रही आओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि इन दोनों प्रकारके पद और वाक्योंमें समानता माननेमें विरोध आता है।

§ ३१. यदि कहा जाय कि केवलज्ञान असिद्ध है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरूप ज्ञानकी निर्बाधरूपसे उपलब्धि होती है। अर्थात् मति-

(१)–णाणत्तम–अ०। (२) "जीवो केवलणाणसहावो चेव, ण च सेसावरणाणमावरणिज्जाभावेण अभावो? केवलणाणावरणीएण आवरिदस्स वि केवलणाणस्स रूविदव्वाणं पच्चक्खग्गहणक्खमाणमवयवाणं संभवदंसणादो, ते च जीवादो णिप्पडिदणाणकिरणा पच्चक्खपरोक्खभेएण दुविधा होंति ..पुव्वं केवलणाणस्स चत्तारि वि णाणाणि अवयवा इदि वुत्तं तं कथं घडदे? णाणाणं सामण्णमवेक्खिय तदवयवत्तं पडि विरोहाभावादो"–ध० आ० प० ८६६। (३)–व्वाहेणुवलं–स०, अ०, आ०।

भादो। ण च अवयवे पच्चक्खे संते अवयवी परोक्खो त्ति वोत्तुं जुत्तं; चक्खिंदियविसयीकयअवयवत्थंभस्स वि परोक्खप्पसंगादो। ण च एवं, सव्वत्थ विसयववहारस्स अप्पमाणपुरस्सरत्तप्पसंगादो । ण च अप्पमाणपुरस्सरो ववहारो सच्चत्तमल्लियइ। ण च एवं, वाहविवज्जियसव्ववहाराणं सच्चत्तुवलंभादो । अवयविम्हि अप्पडिवण्णे तदवयवत्तं ण सिज्झदि त्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्तं; कुंभत्थंभेसु वि तथाप्पसंगादो। ण च अवयवीदो अवयवा एअंतेण पुधभूदा अत्थि; तथाणुवलंभादो, अवयवेहि विणा अवयविस्स वि णिरूवस्स अभावप्पसंगादो। ण च अवयवी सावयवो; अणवत्थाप्पसंगादो। ण च अवयवा साव-

ज्ञानादिक केवलज्ञानके अंशरूप हैं और उनकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सभीको होती है अतः केवलज्ञानके अंशरूप अवयवके प्रत्यक्ष होने पर केवलज्ञानरूप अवयवीको परोक्ष कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर चक्षु इन्द्रियके द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष किया गया है उस स्तंभको भी परोक्षताका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् वस्तुके किसी एक अवयवका प्रत्यक्ष होने पर शेष अवयवोंको तो परोक्ष कहा जा सकता है अवयवीको नहीं। यदि कहा जाय कि अवयवका प्रत्यक्ष होने पर भी अवयवी परोक्ष रहा आवे, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी ज्ञानोंमें 'यह प्रत्यक्षज्ञानका विषय है' आदि विषय-व्यवहारको अप्रमाणपुरस्सरत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। और अप्रमाणपूर्वक होनेवाला व्यवहार सत्यताको प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सभी व्यवहार अप्रमाणपूर्वक होनेसे असत्य मान लिये जाँय, सो भी बात नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार बाधारहित होते हैं उन सबमें सत्यता पाई जाती है।

यदि कोई ऐसा माने कि अवयवीके अज्ञात रहने पर 'यह अवयव इस अवयवीका है' यह सिद्ध नहीं होता है, सो उसका ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर घट और स्तंभमें भी इसीप्रकारके दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा घट और स्तंभरूप पूरे अवयवीका ज्ञान तो होता नहीं है, मात्र उसके अवयवका ही ज्ञान होता है, इसलिये वह अवयव इस घट या स्तंभका है यह नहीं कहा जा सकेगा।

यदि कहा जाय कि अवयवीसे अवयव सर्वथा भिन्न हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अवयवीसे अवयव सर्वथा भिन्न नहीं पाये जाते हैं। फिर भी यदि अवयवीसे अवयवोंको सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो अवयवोंको छोड़कर अवयवीका और कोई दूसरा रूप न होनेसे अवयवीके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि अवयवी सावयव है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अवयवीको सावयव मानने पर अनवस्था दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जिन अवयवोंसे अवयवी सावयव है उन अवयवोंमें वह एकदेशसे रहता है या संपूर्णरूपसे ? यदि एकदेशसे रहता है तो जितने अवयवोंमें उसे रहना है उतने ही देश उस अवयवीके मानना होंगे। फिर उन देशोंमें वह अन्य उतने ही दूसरे

(१)-चविपरो-अ०, आ०।

यवा; पुव्वुत्तदोसप्पसंगादो । ण च णिरवयवा; गद्दहसिंगेण समाणत्तप्पसंगादो । ण च अवयवी अवयवेसु वट्टइ; अवयविस्स कमाकमेहि वट्टमाणस्स सावयवाणवत्थेगदव्व-उत्ति-सेसावयवाणवयवत्ताभाव-वहिलंवउत्तिआदिअणेयदोसप्पसंगादो ।

देशोंसे रहेगा इसतरह अन्य अन्य देशोंकी कल्पनासे अनवस्था नामका दूषण आ जाता है।

यदि कहा जाय कि अवयव सावयव हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अवयवोंको सावयव मानने पर पूर्वोक्त अनवस्था दोपका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जिन अवयवोंसे विवक्षित अवयव सावयव माने जायंगे वे अवयव भी अन्य अवयवोंसे ही सावयव होंगे। इसप्रकार पूर्व पूर्व अवयवोंकी सावयवताके लिये उत्तरोत्तर अवयवान्तरोंकी कल्पना करने पर अनवस्था दोपका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि अवयव स्वयं निरवयव हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, अवयवोंको निरवयव मानने पर उनमें गधेके सींगके साथ समानताका प्रसंग आ जायगा। अर्थात् जिस तरह गधेके सींगकी सत्ता नहीं पाई जाती है, उसीप्रकार अवयवोंको निरवयव मानने पर उनकी भी सत्ता नहीं पाई जायगी। यदि कहा जाय कि अवयवी अपने अवयवोंमें रहता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अवयवी अपने अवयवोंमें क्रमसे रहता है या अक्रमसे रहता है ये दो विकल्प उत्पन्न होते हैं, और इन दोनों विकल्पोंके मानने पर अवयवीको सावयवत्व, अनवस्था, एकद्रव्य-वृत्ति, शेप अवयवोंको अनवयवपना, अभाव और वहिर्लम्ववृत्ति आदि अनेक दोपोंका प्रसंग प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–यहाँ क्रम कालकी अपेक्षा न लेकर देशकी अपेक्षा लेना चाहिये। अर्थात् अवयवी अपने अवयवोंमें क्रमसे-एकदेशसे रहता है या अक्रमसे-संपूर्णरूपसे या सकल देशों-से रहता है ? यदि एकदेशसे रहता है तो जितने अवयव होंगे उतने ही प्रदेश अवयवीके मानने होंगे। ऐसी हालतमें अवयवी सावयव हो जायगा। फिर उन प्रदेशोंमें भी वह अवयवी अन्य प्रदेशोंके द्वारा रहेगा, अन्य प्रदेशोंमें भी तदन्य प्रदेशों द्वारा रहेगा इसतरह अनवस्था नामका दूषण क्रमपक्षमें आ जाता है। यदि अवयवी पूरे स्वरूपसे एक अवयवमें रह जाता है तो एक अवयवमें ही उस पूरे अवयवीकी वृत्ति माननी होगी। ऐसी अवस्थामें शेप अवयव उस अवयवीके नहीं कहे जा सकेंगे। आदि शब्दसे इस पक्षमें अवयविबहुत्व नामका दोप भी समझ लेना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक अवयवमें यदि अवयवी पूरे स्वरूपसे रहता है तो जितने अवयव होंगे उतने ही अवयवी मानना होंगे। इसीतरह

(१) "एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद् बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥" –आप्तमी० श्लो० ६२। युक्त्यनु० श्लो० ५५। लघी० स्व० श्लो० ३९। न्यायकुमु० पृ० २२७। "पत्ते-यमवयवेसुं देसेणं सव्वहा व सो होज्जा। देसेणं सावयवोऽवयविवहुत्तं अदेसेणं ॥"–धर्मसं० गा० ६९५। सन्मति० टी० पृ० ६६६। "यदि सर्वेषु कायोऽयमेकदेशेन वर्तते। अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत्सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु। कायास्तावन्त एव स्युः यावन्तस्ते करादयः ॥"–बोधिच० पृ० ४९५। वाद० टी० पृ० ३०। तत्त्वसं० पृ० २०२।

§ ३२. ण च समवाओ अवयवावयवीणं घडावओ अत्थि; विसयीकयसमवायपमाणाभावादो। ण पच्चक्खं; अमुत्ते णिरवयवे अदव्वे इंदियसण्णिकरिसाभावादो। ण च इंदियसण्णिकरिसेण विणा पच्चक्खपमाणस्स पउत्ती; अणब्भुवगमादो। ण च 'इहेदं'पच्चयगेज्झसमवाओ; तहाविहपच्चओवलंभाभावादो, आहाराहेयभावेण हिदकुंडवदरेसु चेव तदुवलंभादो। 'इह कवालेसु घडो इह तंतुसु पडो' त्ति पच्चओ वि उप्पज्ज-

यदि अवयवी एक ही अवयवमें पूरे रूपसे रह जाता है तो चालनी न्यायसे सभी अवयवोंमें अनवयवताका प्रसङ्ग प्राप्त होता है, अर्थात् जिस समय वह एक नंबरके अवयवमें पूरे रूपसे रहता है उस समय शेष २-३-४ नंबरवाले अवयवोंमें अनवयवता प्राप्त होकर उनका अभाव हो जायगा, और जिस समय वह दो नंबरवाले अवयवमें रहेगा उस समय शेष १ नंबर तथा ३ और ४ नंबरवाले अवयवोंमें अनवयवता आकर उनका अभाव कर देगी। इसतरह क्रम क्रमसे सभी अवयवोंका अभाव हो जाने पर निराधार अवयवीका भी अभाव हो जायगा। अवयवोंके अभाव होने पर भी यदि अवयवी बना रहता है तो उसे किसी बाह्य आलम्बनमें ही रहना पड़ेगा। अथवा अवयवीका परिमाण तो बड़ा होता है और अवयवका छोटा। यदि अवयवी पूरे रूपसे एक अवयवमें रहना चाहता है तो उसे अपने अवशिष्ट भागको किसी बाह्य आलम्बनमें रखना होगा। इसतरह अवयवीमें बाह्यालम्बवृत्ति नामका दूषण आता है। आदि शब्दसे अवयवोंमें यदि भिन्न अवयवी आकर रहता है तो अवयवों का वजन तथा परिमाण बढ़ जाना चाहिये आदि दोषोंका ग्रहण कर लेना चाहिये।

§ ३२. यदि कहा जाय कि समवायसंबन्ध अवयव और अवयवीका घटापक अर्थात् संबन्ध जोड़नेवाला है, सो भी नहीं हो सकता है, क्योंकि समवायको विषय करनेवाला प्रमाण नहीं पाया जाता है। प्रत्यक्षप्रमाण तो समवायको विषय कर नहीं सकता है, क्योंकि समवाय स्वयं अमूर्त है, निरवयव है और द्रव्यरूप नहीं है, इसलिये उसमें इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियसन्निकर्षके बिना भी प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है, सो ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि यौगमतमें इन्द्रियसन्निकर्षके बिना प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति स्वीकार नहीं की गई है।

यदि कहा जाय कि 'इन अवयवोंमें यह अवयवी है' इसप्रकारके 'इहेदम्' प्रत्ययसे समवायका ग्रहण हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसप्रकारका प्रत्यय नहीं पाया जाता है। यदि पाया भी जाता है तो आधार-आधेयभावसे स्थित कुण्ड और बेरोंमें ही 'इस कुण्डमें ये बेर हैं' इसप्रकारका 'इहेदम्' प्रत्यय पाया जाता है, अन्यत्र नहीं।

शंका-'इन कपालोंमें घट है, इन तन्तुओंमें पट है' इसप्रकार भी 'इहेदम्' प्रत्यय

(१)-घवाअवय-अ०, आ०। (२) अप्पदव्वे अ०, आ०। (३) तुलना-"इहेदमिति विज्ञानम् अबाध्याद् व्यभिचारि तत्। इह कुण्डे दधीत्यादि विज्ञानेनास्तविद्विषा॥"-आप्तप० श्लो० ४८।

माणो दीसइ त्ति चे; ण; घडावत्थाए खप्पराणं पडावत्थाए तंतूणं च अणुवलंभादो। घडस्स पद्धंसाभावो खप्पराणि पडस्स पागभावो तंतवो, ण ते घड-पडकालेसु संभवंति; घडपडाणमभावप्पसंगादो।

§ ३३. णाणुमाणमवि तग्गाहयं; तदविणाभाविलिंगाणुवलंभादो, समवायासिद्धीए अवयवावयविसमूहसिद्धलिंगाभावादो च। ण च अत्थावत्तिगम्मो समवाओ; अणुमाणपुधभूदत्थावत्तीए अभावादो। ण चागमगम्मो; वादि-पडिवादिपसिद्धागमाभावादो। ण च कज्जुप्पत्तिपदेसे पुव्वं समवाओ अत्थि; संबंधीहि विणा संबंधस्स अत्थित्तविरोहादो। ण च अण्णत्थ संतो आगच्छदि; किरियाए विरहियस्स आगम-

उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि घटरूप अवस्थामें कपालोंकी और पटरूप अवस्थामें तन्तुओंकी उपलब्धि नहीं होती है। इसका कारण यह है कि घटका प्रध्वंसाभाव कपाल हैं और पटका प्रागभाव तन्तु हैं। अर्थात् घटके फूटने पर कपाल होते हैं और पट बननेसे पहले तन्तु होते हैं। वे कपाल और तन्तु घट और पटरूप कार्यके समय संभव नहीं हैं। यदि घट और पटरूप कार्यकालमें भी कपालोंका और तन्तुओंका सद्भाव मान लिया जाय तो घट और पटके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष तो समवायका ग्राहक हो नहीं सकता है।

§ ३३. यदि कहा जाय कि अनुमान प्रमाण समवायका ग्राहक है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि समवायका अविनाभावी कोई लिंग नहीं पाया जाता है। तथा समवायकी सिद्धि न होनेसे अवयव-अवयवीका समूहरूप प्रसिद्ध लिंग भी नहीं पाया जाता है, अतः अनुमान प्रमाणसे भी समवायकी सिद्धि नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि अर्थापत्ति प्रमाणसे समवायका ज्ञान हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान प्रमाणसे पृथग्भूत कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है; इसलिये अर्थापत्तिसे भी समवायकी सिद्धि नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि आगम प्रमाणसे समवायका ज्ञान होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों मानते हों, ऐसा कोई एक आगम भी नहीं है, अतः आगम प्रमाणसे भी समवायकी सिद्धि नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि घट, पटरूप कार्यके उत्पत्ति-प्रदेशमें कार्यके उत्पन्न होनेसे पहले समवाय रहता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संबन्धियोंके विना संबन्धका अस्तित्व स्वीकार कर लेनेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि समवाय कार्योत्पत्तिके

(१) घडादव्वाए अ०, आ०। (२)–विसम्मोहिसि–स०। (३) अट्टावत्ति–अ०, आ०। (४) तुलना–"उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्"–सर्वा० १।११। त० भा० १।१२। "अर्थापत्तिरनुमानात् प्रमाणान्तरं न वेति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्।"–लघी० स्व० श्लो० २१। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१। (५)–पदेसपुव्वं अ०, आ०।

णाणुववत्तीदो। ण च समवाओ किरियावंतो; अणिच्चंदव्वत्तप्पसंगादो। ण च अण्णेण आणिज्जदि; अणवत्थाप्पसंगादो। तदो जच्चंतरत्तं सव्वत्थाणमिच्छिदव्वं। तदो ण एगो उव (एगोव) लंभो; दोण्हमक्कमेणुवलंभादो।

§ ३४. करणजणिदत्तादो णेदं णाणं केवलणाणमिदि चे; ण; करणवावारादो पुव्वं

पहले अन्यत्र रहता है और कार्यकालमें वहाँ आ जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय स्वयं क्रियारहित है, इसलिये उसका आगमन नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि समवायको क्रियावान् मान लिया जाय, सो भी बात नहीं है, क्योंकि समवायको क्रियावान् मानने पर उसे अनित्यद्रव्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–वैशेषिकमतमें द्रव्यवृत्ति अर्थात् द्रव्यमें रहनेवाले अवयविद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पांच पदार्थ हैं। इनमें सिर्फ अवयविद्रव्य ही क्रियावान् है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यमें रहनेवाला क्रियावान् पदार्थ अनित्य द्रव्य होता है। अतः यदि समवायको क्रियावान् माना जाता है तथा वह द्रव्यमें रहता है तो उसे अनित्य द्रव्यत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अथवा क्रियावान् होनेसे समवाय द्रव्य सिद्ध हुआ। क्रियावान् द्रव्य दो प्रकारके होते हैं एक परमाणुरूप और दूसरे कार्यरूप। इनमेंसे समवाय परमाणुरूप तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि समवायको परमाणुरूप मानने पर वह एक साथ अनेक सम्बन्धियोंमें समवायी व्यवहार नहीं करा सकेगा। ऐसी अवस्थामें समवायको कार्यरूप द्रव्य ही मानना पड़ेगा और ऐसा माननेसे उसमें अनित्यत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि समवाय स्वयं तो नहीं आता है, किन्तु अन्यके द्वारा लाया जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्थादोषका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जिसप्रकार समवाय दूसरेके द्वारा लाया जाता है उसीप्रकार वह दूसरा भी किसी तीसरेके द्वारा लाया जायगा और इसतरह अनवस्थादोष प्राप्त होता है। अतः अवयव-अवयवी आदि समस्त पदार्थोंका जात्यन्तर संबन्ध अर्थात् कथंचित् तादात्म्य-संबन्ध स्वीकार करना चाहिये। इसलिये केवल एक अवयव या अवयवीकी उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु कथंचित् तादात्म्यसंबन्ध होनेसे दोनोंकी एकसाथ उपलब्धि होती है।

इसप्रकार ऊपर केवलज्ञानके अवयवभूत मतिज्ञानादिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होनेसे अवयवीरूप केवलज्ञानके अस्तित्वका भी ज्ञान हो जाता है यह सिद्ध किया जा चुका है। अब आगे प्रकारान्तरसे केवलज्ञानकी सिद्धि करते हैं–

§ ३४. **शंका**–इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान आदिको केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान इन्द्रियोंसे ही पैदा होता है, ऐसा मान लिया

(१) द्रव्यवृत्तिक्रियावतः पदार्थस्य अनित्यद्रव्यत्वनियमात्।

णाणाभावेण जीवाभावप्पसंगादो। अत्थि तत्थ णाणसामण्णं ण णाणविसेसो तेण जीवाभावो ण होदि त्ति चे; ण; तब्भावलक्खणसामण्णादो पुधभूदणाणविसेसाणुवलंभादो। तदो जावदव्वभाविणाणदंसणलक्खणो जीवो ण जायइ ण मरइ; जीवत्तणिबंधणणाणदंसणाणमपरिच्चागदुवारेण पज्जयंतरसंकंतीदो। ण च णाणविसेसदुवारेण

जाय तो इन्द्रियव्यापारके पहले जीवके गुणस्वरूप ज्ञानका अभाव हो जानेसे गुणी जीवके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

शंका—इन्द्रियव्यापारके पहले जीवमें ज्ञानसामान्य रहता है ज्ञानविशेष नहीं, अतः जीवका अभाव नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तद्भावलक्षण सामान्यसे अर्थात् ज्ञानसामान्यसे ज्ञानविशेष पृथग्भूत नहीं पाया जाता है। अतः यावत् द्रव्यमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है, क्योंकि जीवत्वके कारणभूत ज्ञान और दर्शनको न छोड़कर ही जीव एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें संक्रमण करता है।

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। वस्तुके अनुवृत्ताकार धर्मको सामान्य और व्यावृत्ताकार धर्मको विशेष कहते हैं। सामान्यके तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य इसप्रकार दो भेद हैं। एक ही समयमें नाना पदार्थगत सामान्यको तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे, रंग आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व सामान्यका अन्वय पाया जाता है। एक पदार्थकी पूर्वोत्तर अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहनेवाले सामान्यको ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे, एक मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थाओंमें उसीके मनुष्यत्वसामान्यका अन्वय पाया जाता है। विशेष भी पर्याय और व्यतिरेकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे एकद्रव्यमें जो क्रमसे परिवर्तन होता है उसे पर्यायविशेष कहते हैं। जैसे, एक ही आत्मामें क्रमसे होनेवाली अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानधाराएँ। एक पदार्थसे दूसरे पदार्थकी विलक्षणताका ज्ञापक परिणाम व्यतिरेकविशेष कहलाता है। जैसे स्त्री और पुरुषमें पाया जानेवाला विलक्षण धर्म। इनमेंसे तिर्यक्सामान्य अनेक पदार्थोंके एकत्वका और व्यतिरेकविशेष एक पदार्थसे दूसरे पदार्थके भेदका ज्ञापक है। तथा ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेष ये प्रत्येक पदार्थको उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप सिद्ध करते हैं। ऊर्ध्वतासामान्य जहाँ प्रत्येक पदार्थके ध्रुवत्वका बोध कराता है वहाँ पर्यायविशेष उसके उत्पाद और व्ययभावका ज्ञान कराता है। इससे इतना सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा दूसरेके समान है, किसी अपेक्षा दूसरेसे विलक्षण है। तथा किसी अपेक्षा ध्रुवस्वभाव और किसी अपेक्षा उत्पाद-व्ययस्वभाव है। इसप्रकार एक पदार्थके कथंचित् सदृश, कथंचित् विसदृश, कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य सिद्ध हो जाने पर जीवका ज्ञानधर्म भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ज्ञानका जीवसे सर्वथा भेद नहीं पाया जाता है, अतः जीवमें जिसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म बन जाते हैं उसीप्रकार ज्ञानमें भी

उप्पज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि; पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्ध-जीवणाणंसाणं पि केवलणाणत्ताभावप्पसंगादो। ण च संसारावत्थाए केवलणाणंसो इंदियदुवारेणेव उप्पज्जदि त्ति णियमो; तेहि विणा वि सुदणाणुप्पत्तिदंसणादो। ण मदिणाणपुव्वं चेव सुदणाणं; सुदणाणादो वि सुदणाणुप्पत्तिदंसणादो। ण च ववहियं कारणं; अणवत्थाप्पसंगादो। ण च इंदिएहिंतो चेव जीवे णाणमुप्पज्जदि; अप-

गुणकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व धर्म बन जाता है। इसप्रकार ज्ञानके सामान्यरूपसे नित्य और विशेषरूपसे अनित्य सिद्ध हो जाने पर अपने मतिज्ञानादि विशेषोंको छोड़कर ज्ञानसामान्य सर्वथा स्वतन्त्र वस्तु है यह नहीं कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ यही समझना चाहिये कि मतिज्ञानादि अनेक अवस्थाओंमें जो ज्ञानरूपसे व्याप्त रहता है वही तद्भावलक्षण ज्ञानसामान्य है और मतिज्ञानादिरूप विशेष अवस्थाएँ ज्ञानविशेष हैं। ये दोनों एक दूसरेको छोड़कर सर्वथा स्वतन्त्र नहीं रहते हैं। तथा आत्मा भी इन अवस्थाओंके द्वारा ही परिवर्तन करता है। स्वयं वह न उत्पन्न ही होता है और न मरता ही है।

यदि कहा जाय कि केवलज्ञानका अंश ज्ञानविशेषरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये उसका केवलज्ञानत्व ही नष्ट हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमेयके निमित्तसे परिवर्तन करनेवाले सिद्ध जीवोंके ज्ञानांशोंको भी केवलज्ञानत्वके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् यदि केवलज्ञानके अंश मतिज्ञानादि ज्ञानविशेषरूपसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवलज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है तो प्रमेयके निमित्तसे सिद्ध जीवोंके भी ज्ञानांशोंमें परिवर्तन देखा जाता है अतः उन ज्ञानांशोंमें भी केवलज्ञानत्व नहीं बनेगा।

यदि कहा जाय कि संसार अवस्थामें केवलज्ञानका अंश इन्द्रियद्वारा ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंके विना भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कहा जाय कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, अतः परंपरासे श्रुतज्ञान भी इन्द्रियपूर्वक ही सिद्ध होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है। अर्थात् जब 'घट' इसप्रकारके शब्दको सुन कर घट पदार्थका ज्ञान होता है और उससे जलधारण आदि घटसंबन्धी दूसरे कार्योंका ज्ञान होता है तब श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है जिसमें इन्द्रियाँ कारण नहीं पड़ती हैं। अतः संसार अवस्थामें ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही उत्पन्न होता है ऐसा एकान्तसे नहीं कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि यद्यपि मतिज्ञान आगे श्रुतसे व्यवहित हो जाता है फिर भी वह द्वितीय श्रुतकी उत्पत्तिमें कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहितको कारण मानने पर अनवस्था अर्थात् कार्यकारण-भावकी अव्यवस्थाका प्रसंग प्राप्त होता है। थोड़ी देरको यदि यावत् श्रुतको मतिज्ञान-पूर्वक मान भी लें तो भी इन्द्रियोंसे ही जीवमें ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहना ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अपर्याप्त कालमें इन्द्रियोंका अभाव होनेसे

ज्जत्तकाले इंदियाभावेण णाणाभावप्पसंगादो। ण च एवं; जीवदव्वाविणाभाविणाण-दंसणाभावे जीवदव्वस्स वि विणासप्पसंगादो। ण च अचेयणालक्खणो जीवो; अजीवे-हिंतो वयिसेसियलक्खणाभावेण जीवदव्वस्स अभावप्पसंगादो। णेदं वि; पमाणाभावेण सयलपमेयाभावप्पसंगादो। ण चेदं; तहाणुवलंभादो। किंच, पोग्गलदव्वं पि जीवो होज्ज; अचेयणत्तं पडि विसेसाभावादो। ण च अमुत्ताचेयणलक्खणो जीवो; धम्मदव्वस्स वि जीवत्तप्पसंगादो। ण चाचेयण (णा) मुत्तासव्वगयलक्खणो जीवो; तेणेव वियहि-चारादो। ण च सव्वगयामुत्ताचेयणलक्खणो; आयासेण वियहिचारादो। ण च चेयण-

ज्ञानके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि अपर्याप्त अवस्थामें ज्ञानका अभाव होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यावत् जीव द्रव्यमें रहने-वाले और उसके अविनाभावी ज्ञान दर्शनका अभाव मानने पर जीव द्रव्यके भी विनाशका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि ज्ञान और दर्शनका अभाव होने पर भी जीवका अभाव नहीं होगा, क्योंकि जीवका लक्षण अचेतना है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अजीव द्रव्योंसे भेद करानेवाले जीवके विशेष लक्षण ज्ञान और दर्शनका अभाव हो जानेसे जीव द्रव्यके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि इसतरह जीव द्रव्यका अभाव होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्यका अभाव होनेसे ज्ञान प्रमाणका अभाव प्राप्त होता है और ज्ञापक प्रमाणके अभावसे सकल प्रमेयोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् समस्त प्रमेयोंका अभाव प्रतीत नहीं होता है। दूसरे यदि जीवका लक्षण अचेतना माना जायगा तो पुद्गल द्रव्य भी जीव हो जायगा, क्योंकि अचेतनत्वकी अपेक्षा इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है। पुद्गलसे जीवको जुदा करनेके लिये यदि जीवका लक्षण अमूर्त और अचेतन माना जाय, सो भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर धर्मद्रव्यको भी जीवत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। जीवका लक्षण अचेतन, अमूर्त और असर्वगत भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसी धर्म द्रव्यसे यह लक्षण व्यभिचरित अर्थात् अतिव्याप्त हो जाता है। जो लक्षण लक्ष्यके सिवाय अलक्ष्यमें चला जाता है उसे व्यभिचरित या अतिव्याप्त कहते हैं। जीवका लक्षण अचेतन, अमूर्त और असर्वगत मानने पर वह धर्मद्रव्यमें भी पाया जाता है, अतः यहां लक्षणको अतिव्याप्त कहा है। उसीप्रकार जीवका लक्षण सर्वगत, अमूर्त और अचेतन भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर आकाशसे यह लक्षण व्यभिचरित अर्थात् अतिव्याप्त हो जाता है। और चेतन द्रव्यका अभाव किया नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा स्पष्टरूपसे चेतन द्रव्यकी उपलब्धि होती है। तथा समस्त पदार्थ

(१)-गयमुत्ता-अ०, आ०।

दव्वाभावो; पच्चक्खेण बाहुवलंभादो, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्सुवलंभादो च । उत्तं च–

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पायधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवइ एक्का ॥ ६ ॥" त्ति ।

अपने प्रतिपक्ष सहित ही उपलब्ध होते हैं, इसलिये भी अचेतन पदार्थके प्रतिपक्षी चेतन द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है । कहा भी है–

"सत्ता समस्त पदार्थोंमें स्थित है, विश्वरूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, व्यय, उत्पाद और ध्रुवात्मक है, तथा अपने प्रतिपक्षसहित है और एक है ॥ ६ ॥"

विशेषार्थ–पदार्थ न सर्वथा नित्य ही हैं और न क्षणिक ही हैं किन्तु नित्यानित्यात्मक हैं । उनमें स्वरूपका अवबोधक अन्वयरूप जो धर्म पाया जाता है उसे सत्ता कहते हैं । वह सत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप समस्त पदार्थोंके सादृश्यकी सूचक होनेसे एक है । समस्त पदार्थोंमें 'सत्' इसप्रकारका वचनव्यवहार और 'सत्' इसप्रकारका ज्ञान सत्तामूलक ही पाया जाता है इसलिये वह समस्त पदार्थोंमें स्थित है । समस्त पदार्थ रूप अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन त्रिलक्षणात्मक स्वभावके साथ विद्यमान हैं, इसलिये वह सत्ता सविश्वरूप है । अनन्त पर्यायोंसे वह जानी जाती है, इसलिये अनन्तपर्यायात्मक है । यद्यपि सत्ता इसप्रकारकी है फिर भी वह सर्वथा स्वतन्त्र न होकर अपने प्रतिपक्षसहित है। अर्थात् सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है, त्रिलक्षणात्मकत्वका प्रतिपक्ष अत्रिलक्षणात्मकत्व है, वह समस्त पदार्थोंमें स्थित है इसका प्रतिपक्ष एक पदार्थस्थितत्व है, सविश्वरूपत्वका प्रतिपक्ष एकरूपत्व है और अनन्त पर्यायात्मकत्वका प्रतिपक्ष एक पर्यायात्मकत्व है । इस कथनसे यह निष्पन्न होता है कि सत्ता दो प्रकारकी है महासत्ता और अवान्तरसत्ता । महासत्ताका स्वरूपनिर्देश तो ऊपर किया जा चुका है । अवान्तरसत्ता प्रतिनियत वस्तुमें रहती है, क्योंकि इसके बिना प्रतिनियत वस्तुके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता है । अतः महासत्ता अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्ताकी अपेक्षा असत्ता है । वस्तुका जिस रूपसे उत्पाद होता है वह उस रूपसे उत्पादात्मक ही है। जिस रूपसे व्यय होता है उस रूपसे वह व्ययात्मक ही है । तथा जिस रूपसे वस्तु ध्रुव है उस रूपसे वह ध्रौव्यात्मक ही है। इसप्रकार वस्तुके उत्पन्न होनेवाले, नाशको प्राप्त होनेवाले और स्थित रहनेवाले धर्म त्रिलक्षणात्मक नहीं हैं, अतः त्रिलक्षणात्मक सत्ताकी अत्रिलक्षणात्मक सत्ता प्रतिपक्ष है। एक पदार्थकी जो स्वरूपसत्ता है वह अन्य पदार्थोंकी नहीं हो सकती है, अतः प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाली स्वरूप सत्ता सर्व पदार्थोंकी सर्वथा एकत्वरूप महासत्ताकी प्रतिपक्ष है। 'यह घट है पट नहीं' इसप्रकारका प्रतिनियम प्रतिनियत पदार्थमें स्थित सत्ताके द्वारा ही

(१) तुलना–"अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना । संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः, नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात् अहेत्वभिधानवत् ।"–आप्तमी०, अष्टश० श्लो० २७ । (२) पञ्चा० गा० ८ ।

§३५. ण चाजीवादो जीवस्सुप्पत्ती; दव्वस्सेअंतेण उप्पत्तिविरोहादो। ण च जीवस्स दव्वत्तमसिद्धं; मज्झावत्थाए अक्कमेण दव्वत्ताविणाभावितिलक्खणत्तुवलंभादो। जीवदव्वस्स इंदिएहिंतो उप्पत्ती मा होउ णाम, किंतु तत्तो णाणमुप्पज्जदि त्ति चे; ण;

किया जा सकता है अन्यथा नहीं, अतः सर्व पदार्थस्थित महासत्ताकी अवान्तर सत्ता प्रतिपक्ष है। प्रतिनियत एकरूप सत्ताके द्वारा ही वस्तुओंका प्रतिनियत स्वरूप पाया जाता है, अतः प्रतिनियत सत्ता सविश्वरूप सत्ताकी प्रतिपक्ष है। प्रत्येक पर्यायमें रहनेवाली सत्ताओंके द्वारा ही पर्यायें अनन्तताको प्राप्त होती हैं, अतः एक पर्यायमें स्थित सत्ता अनन्त पर्यायात्मक सत्ताकी प्रतिपक्ष है। इससे निश्चित होता है कि पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित है। इसीप्रकार चेतन और अचेतन पदार्थोंमें भी समझ लेना चाहिये।

§३५. यदि कहा जाय कि अजीवसे जीवकी उत्पत्ति होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यकी सर्वथा उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि जीवका द्रव्यपना किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मध्यम अवस्थामें द्रव्यत्वके अविनाभावी उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप त्रिलक्षणत्वकी युगपत् उपलब्धि होनेसे जीवमें द्रव्यपना सिद्ध ही है।

विशेषार्थ–चार्वाक अजीवसे जीवकी उत्पति मानता है। उसका कहना है कि आद्य चैतन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टयसे उत्पन्न होता है। अनन्तर मरण तक चैतन्यकी धारा प्रवाहित होती रहती है। और इसीलिये उसने परलोक आदिका भी निषेध किया है। पर विचार करने पर उसका यह कथन युक्तियुक्त प्रतिभासित नहीं होता है, क्योंकि जिसप्रकार मध्यम अवस्थाके अर्थात् जवानीके चैतन्यमें अनन्तर पूर्ववर्ती बचपनके चैतन्यका विनाश, जवानीके चैतन्यका उत्पाद और चैतन्य सामान्यकी स्थिति इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप त्रिलक्षणत्वकी एक साथ उपलब्धि होती है, उसीप्रकार जन्मके प्रथम समयका चैतन्य भी त्रिलक्षणात्मक ही सिद्ध होता है। प्रथम चैतन्यको त्रिलक्षणात्मक माने विना मध्यम अवस्थाके चैतन्यके समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतःजन्मके प्रथम क्षणके चैतन्यमें भी जन्मान्तरके चैतन्यविशेषका विनाश, प्रथम समयवर्ती चैतन्य विशेषका उत्पाद और चैतन्य सामान्यकी स्थिति मान लेना चाहिये। अतः जीवकी उत्पत्ति अजीव पूर्वक सिद्ध न होकर जन्मान्तरके चैतन्यपूर्वक ही सिद्ध होती है। इसतरह जीव स्वतंत्र द्रव्य है यह सिद्ध हो जाता है।

शंका–इन्द्रियोंसे जीव द्रव्यकी उत्पत्ति मत होओ, किन्तु उनसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह तो मान ही लेना चाहिये ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जीवसे अतिरिक्त ज्ञान नहीं पाया जाता है, इसलिये इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मान लेने पर उनसे जीवकी भी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है।

(१) "उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो। विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया॥"–पञ्चा० गा ११०। "एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।"–पञ्चा० गा० १९।

जीववदिरित्तणाणाभावेण जीवस्स वि उप्पत्तिप्पसंगादो। होदु चे; ण; अणेयंतप्पयस्स जीवदव्वस्स पत्तजच्चंतरभावस्स णाणदंसणलक्खणस्स एअंतवाइविसईकय-उप्पाय-वय-धुवत्ताणमभावादो जीवदव्वेरिसं चेवेत्ति घेत्तव्वं, अण्णहा अवयवावयवि-णिच्चाणिच्च-सामण्णविसेस-एयाणेय-विहिणिसेह-चेयणाचेयणादिवियप्पचउक्कमहापायाले णिवदि-यस्स सयलपमाणसरूवस्स जीवदव्वस्स अभावप्पसंगादो।

§३६. ण च इंदियमवेक्खिय जीवदव्वं परिणमदि त्ति तस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि; सयलत्थे अवेक्खिय परिणममाणस्स सव्वपज्जयस्स वि अकेवलत्तप्पसंगादो। ण च सुहुम-ववहिअ-विप्पकिट्ठत्थे अक्कमेण ण गेण्हदि त्ति केवलणाणं ण होदि, कयावि सुहुमव (मवव)-

शंका–यदि इन्द्रियोंसे जीवकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अनेकान्तात्मक, जात्यन्तरभावको प्राप्त और ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले जीवमें एकान्तवादियोंके द्वारा माने हुए सर्वथा उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वका अभाव है। अर्थात् जीवका न तो सर्वथा उत्पाद ही होता है, न सर्वथा विनाश ही होता है और न वह सर्वथा ध्रुव ही है, अतः उसकी इन्द्रियोंसे उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

अतएव जीव द्रव्य अनेकान्तात्मक, जात्यन्तरभावको प्राप्त और ज्ञानदर्शनलक्षणवाला ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा अवयव-अवयवी, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध और चेतन-अचेतन आदि सम्बन्धी विकल्परूप चार महापातालोंमें पड़ जानेसे सकलप्रमाणस्वरूप जीव द्रव्यके अभावका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

विशेषार्थ–जीव द्रव्य अनेकान्तात्मक, जात्यन्तर भावको प्राप्त और ज्ञान-दर्शनलक्ष-णवाला है। यदि उसे ऐसा न माना जावे तो उसे या तो अवयवरूप या अवयवीरूप या उभयरूप या अनुभयरूप इन चार विकल्पोंमेंसे किसी एक विकल्परूप मानना पड़ेगा। पर विचार करनेसे इनमें से सर्वथा किसी एक विकल्परूप जीवकी सिद्धि नहीं होती है अतः जीवका अभाव हो जायगा। इसीप्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध और चेतन-अचेतन इनमें भी उक्त प्रकारसे होनेवाले चार विकल्पोंमेंसे किसी एक विकल्परूप जीव द्रव्यको मानने पर उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः ऊपर जीव द्रव्यका जो स्वरूप बतलाया गया है उसरूप ही जीव द्रव्यको मानना चाहिये।

§३६. यदि कहा जाय कि जीवद्रव्य इन्द्रियोंकी अपेक्षासे (मतिज्ञानादिरूप) परिणमन करता है, इसलिये उसके इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें केवलज्ञानपना अर्थात् असहाय ज्ञानपना नहीं बन सकता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यद्यपि केवलज्ञान समस्त पर्यायरूप है तो भी वह समस्त पदार्थोंकी अपेक्षासे परिणमन करता है अतः उसे भी अकेवलज्ञानत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

यदि कहा जाय कि जीवद्रव्य परमाणु आदि सूक्ष्म अर्थोंको, मेरु आदि व्यवहित अर्थोंको और राम आदि विप्रकृष्ट अर्थोंको एकसाथ ग्रहण नहीं करता है इसलिये वह केवल-

हियविप्पकिट्ठत्थेसु वि अक्कमेण वावदस्स जीवदव्वस्सुवलंभादो। ण च समुदायकज्जमेगंसे ण दीसदि त्ति तस्स तदंसत्तं फिट्टदि; हत्थकज्जमकुणमाणियाए कालंगुलियाए वि हत्थावयवत्ताभावप्पसंगादो। तदो केवलणाणं ससंवेयणपच्चक्खसिद्धमिदि द्विदं।

§३७. एदस्स पमाणस्स वड्ढि-हाणि-तर-तमभावो ण ताव णिक्कारणो; वड्ढि-हाणिहि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं; तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणि-तर-तमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं। आवरणं चावरिज्जमाणेण विणा ण होदि त्ति केवलणाणसेसावयवाणमत्थित्तं गम्मदे। तदो आवरिदावयवो सव्वपज्जवो पच्चक्खाणुमाणविसओ होदूण सिद्धो।

§३८. कम्मं पि सहेउअं तव्विणासण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो

ज्ञानरूप नहीं हो सकता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कभी कभी जीवद्रव्य सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अर्थोंमें भी युगपत् प्रवृत्ति करता हुआ पाया जाता है। यदि कहा जाय कि समुदायसाध्य कार्य उसके एक अंशमें नहीं दिखाई देता है, अर्थात् समुदाय जो कार्य कर सकता है वह कार्य उसका एक अंश नहीं कर सकता है इसलिये वह ज्ञानविशेष केवलज्ञानका अंश नहीं रहता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर हाथका कार्य नहीं कर सकनेवाली हाथकी एक अंगुलीको भी हाथका अवयव नहीं माना जा सकेगा। इसलिये केवलज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है यह निश्चित हो जाता है।

§३७. इस ज्ञानप्रमाणका वृद्धि और हानिके द्वारा जो तर-तमभाव होता है वह निष्कारण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि ज्ञानप्रमाणमें वृद्धि और हानिसे होनेवाले तर-तमभावको निष्कारण मान लेने पर वृद्धि और हानिरूप कार्यका ही अभाव हो जाता है और ऐसी अवस्थामें वृद्धि और हानिके न होनेसे ज्ञानके एकरूपसे स्थित रहनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि ज्ञान एक रूपसे अवस्थित रहता है तो रहने दो सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एकरूपसे अवस्थित ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है, अतः ज्ञानप्रमाणमें होनेवाली वृद्धि और हानिके सकारण सिद्ध हो जाने पर उसमें जो हानिके तर-तमभावका कारण है वह आवरण कर्म है, यह सिद्ध हो जाता है। तथा आवरण उस पदार्थके विना नहीं बनता है जिसका कि आवरण किया जाता है इसलिये केवलज्ञानके प्रकट अंशोंके अतिरिक्त शेष अवयवोंका अस्तित्व जाना जाता है, अतः सर्वपर्यायरूप केवलज्ञान अवयवी, जिसके कि प्रकट अंशोंके अतिरिक्त शेष अवयव आवृत हैं, प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सिद्ध है अर्थात् उसके प्रकट अंश स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा सिद्ध हैं और आवृत अंश अनुमान प्रमाणके द्वारा सिद्ध हैं।

§३८. तथा यदि कर्मोंको अहेतुक माना जायगा तो उनका विनाश बन नहीं सकता है,

(१)-माणियायेकालंगु-स०, अ०, आ०।

असिद्धो; वाल-जोव्वण-रायादिपज्जायाणं विणासण्णहाणुववत्तीए तव्विणाससिद्धीदो। कम्मम[1]कट्टिमं किण्ण जायदे ? ण; अकट्टिमस्स विणासाणुववत्तीदो। तम्हा कम्मेण कट्टिमेण चेव होदव्वं।

§ ३९. तं पि मुत्तं चेव। तं कथं णव्वदे? मुत्तोसहसंबंधेण[2] परिणामंतरगमणण्णहाणुववत्तीदो। ण च परिणामंतरगमणमसिद्धं; तस्स तेण विणा जर-कुंट्ठ[3]-क्खयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो।

§ ४०. तं च कम्मं जीवसंबद्धं चेव। तं कुदो णव्वदे? मुत्तेण सरीरेण कम्मकज्जेण जीवस्स [4]संबंधणण्णहाणुववत्तीदो। कम्मेहिंतो पुधभूदो जीवो किण्ण इच्छिज्जदे? ण; कम्मे-

इस अन्यथानुपपत्तिके बलसे कर्म भी सहेतुक हैं यह जाना जाता है। यदि कहा जाय कि कर्मोंका विनाश किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोंके कार्यभूत बाल, यौवन और राजा आदि पर्यायोंका विनाश कर्मोंका विनाश हुए विना बन नहीं सकता है, इसलिये कर्मोंका विनाश सिद्ध है।

शंका–कर्म अकृत्रिम क्यों नहीं हैं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अकृत्रिम पदार्थका विनाश नहीं बन सकता है, इसलिये कर्मको कृत्रिम ही होना चाहिए।

§ ३९. कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्त ही है।

शंका–यह कैसे जाना जाता है कि कर्म मूर्त ही है ?

समाधान–यदि कर्मको मूर्त न माना जाय तो मूर्त औषधिके संबन्धसे परिणामान्तरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् रुग्णावस्थामें औषधिका सेवन करनेसे रोगके कारणभूत कर्मोंमें जो उपशान्ति वगैरह देखी जाती है वह नहीं बन सकती है, इससे मालूम पड़ता है कि कर्म मूर्त ही है।

यदि कहा जाय कि मूर्त औषधिके सम्बन्धसे रोगके कारणभूत कर्ममें परिणामान्तरकी प्राप्ति किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परिणामान्तरकी प्राप्तिके विना ज्वर, कुष्ट और क्षय आदि रोगोंका विनाश बन नहीं सकता है, इसलिये कर्ममें परिणामान्तरकी प्राप्ति होती है यह सिद्ध हो जाता है।

§ ४०. इसप्रकार ऊपर जो कर्म सिद्ध कर आये हैं वह जीवसे संबद्ध ही है।

शंका–कर्म जीवसे संबद्ध ही है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यदि कर्मको जीवसे संबद्ध न माना जाय तो कर्मके कार्यरूप मूर्त शरीरसे

(१)–मकिट्टि–अ०, आ०,। (२) "तदपि पौद्गलिकमेव तद्विपाकस्य मूर्तिमत्सम्बन्धनिमित्तत्वात्। दृश्यते हि व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसम्बन्धप्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम्, तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात् पौद्गलिकमित्यवसेयम्।"–सर्वार्थ०, राजवा० ५।१९। न्यायकु० पृ० ८१०। (३)–कुट्ठक्खय–ता०, अ०, आ०। (४) संबंधस्सण्ण–स०, ता०, आ०।

हिंतो पुधभावेण अमुत्तत्तमुवगयस्स जीवस्स सरीरोसहेहि मुत्तेहि सह संबंधाणुववत्तीदो। ण च संबंधो णत्थि; सरीरे छिज्जमाणे जीवस्स दुक्खुवलंभादो। ण च अण्णम्हि छिज्ज-माणे अण्णस्स दुक्खमुप्पज्जदि; अव्ववत्थापसंगादो। जीवे गच्छंते ण सरीरेण गंतव्वं; दोण्हमेयत्ताभावादो। ण चोसहपाणं जीवस्सारोग्गकारणं; सरीरेण पीदत्तादो। ण च अण्णेण पीदमोसहमण्णस्स आरोग्गं जणेदि; तहाणुवलंभादो। जीवे रुट्ठे कंप-दाह-गल-सोसक्खिराय-भिंउडि-पुलउग्गम-वम्मादओ सरीरम्मि ण होज्ज; भिण्णत्तादो। जीविच्छाए सरीरस्स गमणागमणं हत्थ-पाद-सिरंगुलीणं चालो वि ण होज्ज, पुधभावादो। सव्वेसिं जीवाणं केवलणाण-दंसण-विरिय-विरइ-सम्मत्तादओ होज्ज; कम्मसरीरेहि पुधभावादो

जीवका संवन्ध नहीं वन सकता है, इस अन्यथानुपपत्तिसे प्रतीत होता है कि कर्म जीवसे संवद्ध ही है।

शंका–जीव कर्मोंसे भिन्न है ऐसा क्यों नहीं माना जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि यदि कर्मोंसे जीवको भिन्न माना जावे तो कर्मोंसे भिन्न होनेके कारण अमूर्तत्वको प्राप्त हुए जीवका मूर्त शरीर और औषधिके साथ संवन्ध नहीं वन सकता है। इसलिये जीव कर्मोंसे संवद्ध ही है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये।

शरीर आदिके साथ जीवका संवन्ध नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के छेदे जाने पर जीवको दुःखकी उपलब्धि होती है, इसलिये शरीरके साथ जीवका संवन्ध सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि अन्यके छेदे जानेपर उससे भिन्न दूसरेके दुःख उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर अव्यवस्थाका प्रसंग प्राप्त होता है। यथा, यदि जीव और शरीरमें एकक्षेत्रावगाह-रूप सम्वन्ध नहीं माना जायगा तो जीवके गमन करने पर शरीरको गमन नहीं करना चाहिये, उसीप्रकार औषधिका पीना जीवके आरोग्यका कारण नहीं होना चाहिये, क्योंकि औषधि शरीरके द्वारा पीई जाती है। यदि कहा जाय कि अन्यके द्वारा पीई गई औषधि उससे भिन्न दूसरेके आरोग्यको उत्पन्न कर देती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारकी कहीं भी उपलब्धि नहीं होती है। उसीप्रकार जीवके रुष्ट होने पर शरीरमें कंप, दाह, गले का सूखना, आखों का लाल होना, भौंका चढ़ना, रोमाञ्च का होना, पसीना आना आदि कार्य नहीं होने चाहिये; क्योंकि शरीरसे जीव भिन्न है। तथा जीवकी इच्छासे शरीरका गमन और आगमन तथा हाथ, पैर, सिर और अंगुलियोंका सञ्चालन भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि जीव से शरीरका सम्वन्ध नहीं है। तथा संपूर्ण जीवोंके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त विरति और सम्यक्त्व आदि गुण हो जाने चाहिये, क्योंकि जिसप्रकार सिद्धजीव कर्म और शरीर से पृथक् हैं उसीप्रकार संपूर्ण जीव भी कर्म और शरीरसे

(१)–भिउदिपु–स०, अ०, आ०।

सिद्धाणं व । सिद्धाणं वा तदो चेव अणंतणाणादिगुणा ण होज्ज । ण च एवं; तहाणब्भुवगमादो । तदो जीवादो अभिण्णाइं कम्माइं त्ति सद्दहेयव्वं ।

§ ४१. [१]अमुत्तेण जीवेण मुत्ताणं कम्माणं कथं संबंधो? ण; [२]अणादिबंधणभावब्भुवगमादो । होज्ज दोसो जदि सादिबंधो इच्छिज्जदि । जीवकम्माणं अणादिओ बंधो त्ति कथं णव्वदे? वट्टमाणकाले उवलब्भमाणजीवकम्मबंधण्णहाणुववत्तीदो । मुत्तो जीवो त्ति किण्ण घेप्पदे? ण; थूलसरीरपमाणे जीवे कुढारीए छिज्जमाणे जीवबहुत्तप्पसंगादो जीवाभावप्पसंगादो वा । ण च मुत्तं दव्वं सव्वावत्थासु ण छिज्जदि त्ति णियमो अत्थि; तहाणुवलंभादो ।

पृथक् माने हैं। अथवा, यदि संसारी जीवोंके शरीर और कर्मोंसे पृथग्भूत रहते हुए भी अनन्तज्ञानादि गुण नहीं पाये जाते हैं तो सिद्धोंके भी नहीं होने चाहिये । यदि कहा जाय कि अनन्तज्ञानादि गुण सिद्धोंके नहीं होते हैं तो मत होओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं माना गया है। अतः इस प्रकारकी अव्यवस्था न हो, इसलिये जीवसे कर्म अभिन्न अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको प्राप्त हैं ऐसा श्रद्धान करना चाहिये ।

§ ४१. **शंका**–अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्मोंका संबन्ध कैसे हो सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जीव और कर्मोंका अनादि सम्बन्ध स्वीकार किया है । यदि सादि बंध स्वीकार किया होता तो उपर्युक्त दोष आता ।

शंका–जीव और कर्मोंका अनादिकालीन संबन्ध है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यदि जीवका कर्मोंके साथ अनादिकालीन संबन्ध स्वीकार न किया जावे तो वर्तमान कालमें जो जीव और कर्मोंका संबन्ध उपलब्ध होता है वह बन नहीं सकता है, इस अन्यथानुपपत्तिसे जीव और कर्मोंका अनादिकालसे संबन्ध है यह जाना जाता है ।

शंका–जीव मूर्त है, ऐसा क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि स्थूलशरीरप्रमाण जीवको कुल्हाड़ीसे काटनेपर या तो बहुत जीवोंका प्रसंग प्राप्त हो जायगा या जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त हो जायगा, इसलिये जीव मूर्त न होकर अमूर्त है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

यदि कहा जाय कि मूर्त द्रव्य अपनी सभी अवस्थाओंमें छिन्न नहीं होता है ऐसा नियम है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रमाणसे इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

(१) तुलना–"कथं पुनरमूर्तस्य सम्बन्धः कर्मणेति चेत्; [illegible] मूर्तिः [illegible] । मलैर्निसर्गाद् बध्येत जीवोऽमूर्तिः स्वदोषतः । जीवस्य मूर्तिं कल्पयित्वापि स्वदोषा[illegible] दिपत्, ततः पुनः अमूर्तस्य चेतनस्य नैसर्गिकाः मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवः ।"–सिद्धिवि० प० ४। (२) "अना-दिसम्बन्धे च"–त० सू० २।४१ । पञ्चा० गा० १२८-१३० । "[illegible] जीवकर्मणोरनादिसम्बन्ध [illegible] भवति।"–सर्वार्थ० ८।२ । "तत्कर्मागन्तुकं तस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० [illegible] । "[illegible]भूदाणि कम्माणि संसारम्मि अणादिए । मोह[illegible] [illegible] ॥"–[illegible]

§ ४२. तं च कम्मं सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराणं पि बंधप्पसंगादो। कम्मस्स कारणं किं मिच्छत्तासंजमकसाया होंति, आहो सम्मत्तसंजमविरायदाओ? ण ताव विदियपक्खो; जावदव्वाविणाभाविणाणवड्ढीए अविरुद्धभावेण जीवगुणत्तेण अवगयाणं सरूवविणासहेउत्तविरोहादो। तदो मिच्छत्तासंजमकसाया कम्मकारणमिदि सिद्धं, अण्णेसिं जीवगुणविरोहियाणं जीवेऽणुवलंभादो। उत्तं च-

"जे बन्धयरा भावा, मोक्खयरा चावि जे दु अज्झप्पे।
जे चावि [1]बंधमोक्खाणकारया ते वि विण्णेया ॥ ७ ॥
ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणमिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥ ८ ॥
[2]मिच्छत्ताविरदी वि य कसायजोगा य आसवा होंति।
संजम-विराय-दंसण-जोगाभावो य संवरओ ॥ ९ ॥

§ ४२. इसप्रकार जो मूर्त कर्म जीवद्रव्यसे संबद्ध है उसे सहेतुक ही मानना चाहिये। यदि उसे सहेतुक न माना जायगा तो जो जीव निर्व्यापार अर्थात् योगक्रियासे रहित हैं उनके भी कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं-कर्मके कारण मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं, या सम्यक्त्व, संयम और विरागता हैं? इन दो विकल्पोंमेंसे दूसरा पक्ष तो बन नहीं सकता है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और विरागता आदिकका यावत् जीवद्रव्यके अविनाभावी ज्ञानकी वृद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है अर्थात् सम्यक्त्वादिकके होने पर ज्ञानकी वृद्धि ही देखी जाती है अतः वे जीवके गुणरूपसे अवगत हैं, इसलिये उन्हें आत्माके स्वरूपके विनाशका कारण माननेमें विरोध आता है। अर्थात् सम्यक्त्वादिक आत्माके स्वरूपके विनाशके कारण नहीं हो सकते हैं। अतएव मिथ्यात्व, असंयम और कषाय कर्मोंके कारण हैं यह सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मिथ्यात्वादिसे अतिरिक्त जीवगुणके विरोधी और दूसरे धर्म जीवमें नहीं पाये जाते हैं। कहा भी है-

"अध्यात्ममें अर्थात् आत्मगत जो भाव बन्धके कारणभूत हैं और जो मोक्षके कारणभूत हैं उन्हें जान लेना चाहिये। उसीप्रकार जो भाव बन्ध और मोक्ष इन दोनोंके कारणभूत नहीं हैं उन्हें भी जान लेना चाहिये ॥ ७ ॥"

"औदयिक भाव बन्धके कारणभूत हैं। औपशामिक, क्षायिक और मिश्रभाव मोक्षके कारण हैं। तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनोंके कारण नहीं हैं ॥ ८ ॥"

"मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारों आस्रवरूप अर्थात् आस्रवके कारण हैं। तथा संयम, वैराग्य, दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन और योगका अभाव ये संवररूप अर्थात् संवरके कारण हैं ॥ ९ ॥"

(१) "बंधमोक्खे अकारया"-ध० आ० प० ३७३। (२) तुलना-"मिच्छत्ताविरदीहि य कसाय-

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि दढ-वय-फलहेहि रुंभंति ॥१०॥"

§ ४३. ण च कम्मेहि णाणस्स दंसणस्स वा णिम्मूलविणासो कीरइ; जावदव्वभाविगुणाभावे जीवाभावप्पसंगादो। ण च एवं, दव्वस्स तिकोडिपरिणाम(मा)जहउत्तीए परिणममाणस्स णिम्मूलविणासाणुववत्तीदो। ण च दव्वत्तमसिद्धं; दव्वलक्खणुवलंभादो।

§ ४४. अकट्टिमत्तादो कम्मसंताणे ण वोच्छिज्जदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं; अकट्टिमस्स वि बीजंकुरसंताणस्स वोच्छेदुवलंभादो। ण च कट्टिमसंताणविदिरित्तो संताणो णाम अत्थि जस्स अकट्टिमत्तं वुच्चेज्ज। ण चासेसासवपडिवक्खे सयलसंवरे समुप्पण्णे वि कम्मागमसंताणे ण तुट्टदि त्ति वोत्तुं जुत्तं; जुत्तिवाहियत्तादो। सम्मत्त-

"सम्यक्त्वरूपी दृढ़कपाटसे मिथ्यात्वरूपी आस्रवका द्वार रोका जाता है तथा व्रतरूपी दृढ़ फलकों अर्थात् लकड़ीके तख्तोंसे हिंसादिरूप द्वार भी रोके जाते हैं ॥१०॥"

§ ४३. यदि कहा जाय कि कर्म ज्ञान और दर्शनका निर्मूल विनाश कर देते हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर यावत् जीवद्रव्यमें पाये जानेवाले गुणोंका अभाव हो जायगा। और उनका अभाव हो जाने पर जीवद्रव्यके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणमनकी इन तीन कोटियोंको न छोड़ता हुआ ही परिणमन करता है, इसलिये उसका निर्मूल विनाश बन ही नहीं सकता है। यदि कहा जाय कि जीवमें द्रव्यत्व ही किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवमें द्रव्यका लक्षण पाया जाता है।

§ ४४. यदि कहा जाय कि अकृत्रिम होनेसे कर्मकी सन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज और अंकुरकी सन्तानका विनाश पाया जाता है। दूसरे, कृत्रिम सन्तानीसे भिन्न सन्तान नामकी कोई वस्तु ही नहीं है जिसे अकृत्रिम कहा जाय। यदि कहा जाय कि अशेष आस्रवके विरोधी सकल संवरके उत्पन्न हो जाने पर भी कर्मोंकी आस्रवपरंपरा विच्छिन्न नहीं होती है, अर्थात् बराबर चालू

जोगेहि जं च आसवदि। दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं दु णासवदि ॥"–मूला० ५।४४। "मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।"–द्वादशानु० गा० ४७। मूला० ५।४०। मूलारा० गा० १८२५। गो० क० गा० ७८६। "बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ"–कर्मग्रं० ४।५०।

(१) मूला० गा० ३।४२। मूलारा० गा० १८३५। (२) "पूर्वाकारपरित्यागा[illegible]रान्वयप्रत्यय··"–अष्टस० पृ० ६५। (३) "विपक्षप्रकर्षगमनात् कर्मणां सन्तानस्य [illegible]। न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शः क्वचिद् विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षपर्यन्तगमनान्निर्मूलं [illegible], नापि कार्यकारणरूपतया बीजाङ्कुरसन्तानोऽनादिरपि प्रतिपक्ष[illegible]यते इति वक्तुं शक्यं यतः कर्मभूभृतां सन्तानोऽनादिरपि [illegible]।"–आप्तप० का० ११०। न्यायकुमु० पृ० ८११, टि० ८।

संजम-विराय-जोगणिरोहाणमक्कमेण सरूवलाहो ण होदि चेवेत्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्तं; तेसिमक्कमवुत्तीए विरोहाभावादो, सम्मत्त-संजम-वइरग्ग-जोगणिरोहाणमक्कमेण पउत्ति-दंसणादो च। ण च दिट्ठे अणुववण्णदा णाम। असंपुण्णाणमक्कमवुत्ती दीसइ ण संपुण्णाणं चे; ण; अक्कमेण वट्टमाणाणं सयलत्तकारणसाणिज्झे संते तदविरोहादो। संवरो सव्वकालं संपुण्णो ण होदि चेवेत्ति ण वोत्तुं जुत्तं; वड्ढमाणेसु कस्स वि कत्थ वि णियमेण सगसगुक्कस्सावत्थावत्तिदंसणादो। संवरो वि वड्ढमाणो उवलब्भए तदो कत्थ वि संपुण्णेण होदव्वं वाहुज्झियतालरुक्खेणेव। आसवो वि कहिं पि णिम्मूलदो विणस्सेज्ज,

रहती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहना युक्तिसे बाधित है, अर्थात् सकल प्रतिपक्षी कारणके होने पर कर्मका विनाश अवश्य होता है, अतः आस्रवके प्रतिपक्षी संवरके होने पर भी आस्रवका चालू रहना युक्तिसे बाधित है। सकल संवररूप सम्यक्त्व, संयम, वैराग्य और योगनिरोध इनका एक साथ स्वरूपलाभ नहीं होता है अर्थात् ये धर्म आत्मामें एक साथ नहीं रहते हैं, ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इनकी युगपत् वृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। दूसरे, सम्यक्त्व, संयम, वैराग्य और योग-निरोध इनकी एक साथ प्रवृत्ति देखी भी जाती है, और देखी हुई वस्तुमें 'यह नहीं बन सकता है' ऐसा कहना युक्त नहीं है।

शंका–संवरके पूर्णताको नहीं प्राप्त हुए सम्यक्त्व आदि सभी कारणोंकी वृत्ति एक साथ भले ही देखी जाओ किन्तु परिपूर्णताको प्राप्त हुए उन सम्यक्त्वादिकी वृत्ति एक साथ नहीं देखी जाती है?

समाधान–नहीं, क्योंकि जो सम्यक्त्वादिक अपरिपूर्ण अवस्थामें एकसाथ रह सकते हैं वे परिपूर्णताके कारण मिल जाने पर परिपूर्ण होकर भी अक्रमसे रह सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

यदि कहा जाय कि संवर सर्वकालमें अर्थात् कभी भी परिपूर्ण नहीं होता है, सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो वर्द्धमान हैं उनमेंसे कोई भी कहीं भी नियमसे अपनी अपनी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ देखा जाता है। यतः संवर भी एक हाथ प्रमाण तालवृक्षके समान वृद्धिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है, इसलिये किसी भी आत्मामें उसे परिपूर्ण होना ही चाहिये। तथा जिसप्रकार खानसे निकले हुए स्वर्णपाषाणका

(१) "स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता॥"–प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० ६८। (२) वट्टमा–अ०, आ०। (३) "दोषावरणयोर्हानिर्निशेषास्त्यतिशायनात्।"–आप्तमी० श्लो० ४। "शुद्धिः प्रकर्षमायाति परमं क्वचिदात्मनि। प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात् कनकादिविवृद्धिवत्॥"–त० श्लो० पृ० ३१५। आप्तप० श्लो० ११२। न्यायकुमु० पृ० ८११ टि० १०। तुलना–"अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत्।"–योगभा० १।२५। (४) विवट्टमा–अ०, आ०।

हाणे तरतमभावण्णहाणुववत्तीदो आयरकणओवलावलीणमलकलंको व्व।

§ ४५. पुव्वसंचियस्स कम्मस्स कुदो खओ? ट्ठिदिक्खयादो। ट्ठिदिखंडओ कत्तो? कसायक्खयादो। उत्तं च–

"कम्मं जोअणिमित्तं बज्झइ कम्मट्ठिदी कसायवसा।
ताणमभावे बंधट्ठिदीणभावा सदइ सत्तं ॥११॥"

अथवा तवेण पोराणकम्मक्खओ। उत्तं च–

"णाणं पयासयं तवो सोहओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि समाजोए मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥१२॥"

§ ४६. आवरणक्खए संते वि परिमियं चेय पयासइ केवली णिरावरणसुज्जमंडलं

अन्तरंग और बहिरंग मल निर्मूल नष्ट हो जाता है उसीप्रकार आस्रव भी कहीं पर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है, अन्यथा आस्रवकी हानिमें तर-तमभाव नहीं बन सकता है।

§ ४५. **शंका**–पूर्वसंचित कर्मका क्षय किस कारणसे होता है?

समाधान–कर्मकी स्थितिका क्षय हो जानेसे उस कर्मका क्षय हो जाता है।

शंका–स्थितिका विच्छेद अर्थात् स्थितिबन्धका अभाव किस कारणसे होता है?

समाधान–कषायके क्षय होनेसे स्थितिका विच्छेद होता है अर्थात् नवीन कर्मोंमें स्थिति नहीं पड़ती है। कहा भी है–

"योगके निमित्तसे कर्मोंका बन्ध होता है और कषायके निमित्तसे कर्मोंमें स्थिति पड़ती है। इसलिये योग और कषायका अभाव हो जानेपर बन्ध और स्थितिका अभाव हो जाता है और उससे सत्तामें विद्यमान कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥११॥"

अथवा, तपसे पूर्वसञ्चित कर्मोंका क्षय होता है। कहा भी है–

"ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम गुप्ति करनेवाला है। तथा ज्ञान, तप और संयम इन तीनोंके मिलने पर मोक्ष होता है ऐसा जिन शासनमें कहा है ॥१२॥"

§ ४६. "यदि कहा जाय कि आवरणके क्षय होजानेपर भी केवली निरावरण सूर्यमंडलके समान परिमित पदार्थको ही प्रकाशित करते हैं। सो ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि

(१)–कणओवलीणमल–स०। (२) "कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा। अपरिणउ-च्छिण्णेसु य बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥"–सन्मति० १।१९। "कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिई कसाय-वसा। सुहजोयम्मी अकासायभावओऽवेइ तं खिप्पं ॥"–उप० गा० ४७०। (३) "संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं। कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥"–पञ्चा० गा० १४४। "तपसा निर्जरा च।"–त० सू० ९।३। (४)–यं तं दो अ०, आ०। "णाणं पयासओ तवो सोधओ..."–मूला० [illegible] गा० ८। "णाणं पयासओ सोवओ तवो..."–भग० आ० गा० ७६९। "सोधओ तवो–[illegible] तपः"–भग० वि०। "नाणं पयासयं सोहओ तवो..."–आव० नि० गा० १०३। "[illegible] किन्तदित्याह–तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपः तत् शोधकत्वे नोपयुज्यते।"–आव० नि० टी०।

वेत्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्तं; सावरणे वि जीवे असेसट्ठविसयबोहस्स सव्वमुप्पायवयधुवप्पयं, सव्वं विहिणिसेहप्पयं, सव्वं सामण्णविसेसप्पयं, सव्वमेयाणेयप्पयं, सत्तण्णहाणुववत्तीदो इच्चाइहेऊहिंतो समुप्पण्णस्स उवलंभादो। ण चावरणस्स विहलत्तं; विसेसविसए तव्वावारादो। तम्हा णिरावरणो केवली भूदं भव्वं भवंतं सुहुमं ववहियं विप्पइट्ठं च

सर्व पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक हैं। सर्व पदार्थ विधि-निषेधात्मक हैं, सर्व पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं और सर्व पदार्थ एकानेकात्मक हैं, यदि ऐसा न माना जाय तो उनका अस्तित्व नहीं बन सकता है इत्यादि हेतुओंसे उत्पन्न हुए समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि सावरण जीवमें भी पाई जाती है। इससे निश्चित होता है कि केवली सर्व पदार्थोंको जानते हैं।

यदि कहा जाय कि जब सावरण जीव भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक आदिरूपसे समस्त पदार्थोंको जानता है तो आवरण कर्म निष्फल हो जायगा। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष विषयमें आवरणका व्यापार होता है अर्थात् आवरणके क्षय हो-जानेपर जिसप्रकार केवलीको समस्त पदार्थोंकी उन उन अवस्थाओंका पृथक् पृथक् रूपसे ज्ञान होता है उसप्रकार सावरण मनुष्यको उनका ज्ञान नहीं होता है। इसी विशेषज्ञानको रोकनेमें आवरणका व्यापार है, अतएव वह सफल है। इसलिये निरावरण केवली भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी पदार्थोंको जानते हैं यह सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ–ऊपर केवलज्ञानकी अस्तित्व-सिद्धिका जिन प्रमाणोंके द्वारा विचार किया गया है वे निम्न प्रकार हैं–(१) घटादि पदार्थोंमें पूरे अवयवीका प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर जितना भाग दृष्टिगोचर होता है उतने भागका ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है फिर भी उससे पूरा अवयवी प्रत्यक्ष माना जाता है। समस्त जगतका यही व्यवहार है। इसे असत्य भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इससे अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति देखी जाती है। इसीप्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशभूत मत्यादि ज्ञानका ग्रहण होनेसे केवलज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। (२) यद्यपि छद्मस्थोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है फिर भी उससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ज्ञानमात्रकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है पर संसारी जीवोंका ज्ञान सावरण होनेके कारण वह स्वयं अर्थोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ है, अतः उसे अपने ज्ञेयके प्रति प्रवृत्ति करनेमें इन्द्रियोंकी सहायताकी जरूरत पड़ती है, इससे इसका यह अर्थ कभी भी नहीं हो सकता कि ज्ञानमात्रकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है। यदि ज्ञानकी उत्पत्ति सर्वथा इन्द्रियोंसे मानी जायगी तो इन्द्रियव्यापारके पहले ज्ञानका अभाव हो जानेसे जीव द्रव्यका भी अभाव हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है, अतः निरावरण ज्ञान इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षाके विना ही स्वयं अपने

सव्वं जाणदि त्ति सिद्धं । ण पत्तमत्थं चेव गेण्हदि; तस्स सव्वगयत्तप्पसंगादो । ण चेदं; संघार-विसप्पणहेउजोगस्स तत्थाभावादो । ण चेगावयवेण चेव गेण्हदि; सयला-

ज्ञयमें प्रवृत्ति करता है यह मानना चाहिये । इसप्रकार भी केवलज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । (३) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाववाला होता है वह द्रव्य कहा जाता है । द्रव्यका यह लक्षण जीवमें भी पाया जाता है इसलिये वह द्रव्य सिद्ध होता है । तथा उसमें ज्ञान और दर्शनरूप विशेष लक्षणके पाये जानेके कारण वह पुद्गलादि अजीव द्रव्योंसे भिन्न सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार जीव द्रव्यकी स्वतन्त्र सिद्धि हो जाने पर उसके धर्म-रूपसे केवलज्ञानकी भी सिद्धि हो जाती है । (४) यदि सूक्ष्मादि पदार्थोंका ज्ञान न माना जाय तो उनका अस्तित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है । तथा परमाणुओंके बिना स्कन्ध द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इत्यादि हेतुओंके द्वारा यद्यपि सूक्ष्मादि पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है, फिर भी जो पदार्थ कभी किसीके प्रत्यक्ष न हुए हों उनमें अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं होती है इस नियमसे सूक्ष्मादि पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । यह कहना कि सूक्ष्मादि पदार्थोंका क्रमसे ज्ञान भले ही हो जाओ पर उनका एकसाथ ज्ञान नहीं होता, युक्त नहीं है, क्योंकि जिनका क्रमसे ज्ञान हो सकता है उनका युगपत् ज्ञान माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है । इसप्रकार सूक्ष्मादि पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । (५) ज्ञानावरण कर्ममें वृद्धि और हानि होनेसे जो तरतमभाव दिखाई देता है उससे भी केवलज्ञानके अंश सिद्ध हो जाते हैं, जो अपने अव-यवीके अस्तित्वका ज्ञान कराते हैं । इसप्रकार अनुमानसे भी केवलज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । (६) जिसप्रकार सूर्य परिमित पदार्थोंको ही प्रकाशित करता है उसीप्रकार ज्ञान भी परिमित पदार्थोंको ही एकसाथ जान सकता है त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको नहीं, यदि ऐसा माना जाय तो त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रुवस्वभाव हैं, सामान्य-विशेषात्मक हैं, नित्यानित्य हैं, एकानेकात्मक हैं, विधिनिषेधरूप हैं, इसप्रकारका ज्ञान नहीं हो सकेगा । इससे भी त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाले केवलज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । यद्यपि सभी पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं इत्यादि ज्ञान छद्मस्थोंके भी पाया जाता है पर इससे केवलज्ञानका अभाव नहीं हो जाता है, क्योंकि सामान्यरूपसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान करना अपने ज्ञानविशेषोंमें अनुस्यूत ज्ञानसामान्यका काम है और विशेषरूपसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान करना ज्ञानविशेष अर्थात् केवलज्ञानका कार्य है । इसलिये आवरण कर्मके अभाव होने पर केवलज्ञान समस्त पदार्थोंको एकसाथ जानता है यह सिद्ध हो जाता है ।

यदि कहा जाय कि केवली प्राप्त अर्थात् सन्निकृष्ट अर्थको ही ग्रहण करता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर केवलीको सर्वगतत्वका प्रसंग प्राप्त हो जाता है । यदि कहा जाय कि केवलीको सर्वगतत्वका प्रसंग प्राप्त होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संकोच और विस्तारके कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाले योगका

वयवगयआवरणस्स णिम्मूलविणासे संते एगावयवेणेव गहणविरोहादो। तदो पत्त-मपत्तं च अक्कमेण सयलावयवेहि जाणदि त्ति सिद्धं।

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धरि ॥१३॥"

वहाँ अभाव है। यदि कहा जाय कि केवली आत्माके एकदेशसे पदार्थोंका ग्रहण करता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माके सभी प्रदेशोंमें विद्यमान आवरण कर्मके निर्मूल विनाश हो जानेपर केवल उसके एक अवयवसे पदार्थोंका ग्रहण माननेमें विरोध आता है। इसलिये प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थोंको युगपत् अपने सभी अवयवोंसे केवली जानता है यह सिद्ध हो जाता है। कहा भी है–

"प्रतिबन्धकके नहीं रहने पर ज्ञाता ज्ञेयके विषयमें अज्ञ कैसे रह सकता है। अर्थात् प्रतिबन्धक कारणके नहीं रहने पर ज्ञान स्वभाव होनेसे ज्ञाता ज्ञेय पदार्थको अवश्य जानेगा। फिर भी यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थको न जाने तो प्रतिबन्धक (मणि मंत्रादि) के नहीं रहने पर दाह स्वभाव होनेसे अग्निको भी दाह्य पदार्थको नहीं जलाना चाहिये ॥१३॥"

विशेषार्थ–ऊपर यह सिद्ध कर ही आये हैं, कि जैसे जैसे सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धि होती जाती है तदनुसार ज्ञानांशोंके प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव भी होता जाता है, इसप्रकार अन्तमें ज्ञानांशोंके आवारक कर्मोंका पूरी तरहसे अभाव हो जाने पर समस्त ज्ञानांश प्रकट हो जाते हैं। तथा समस्त ज्ञानांशोंके प्रकट हो जाने पर केवल एक अंशसे केवली जानते हैं शेष अंशोंसे नहीं यह कैसे संभव है। शेष ज्ञानांशोंके आवारक कर्मोंके विद्यमान रहने पर ही उनकी प्राप्त और अप्राप्त पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति न हो यह तो संभव है पर यह संभव नहीं कि प्रतिबन्धक कारण भी नष्ट हो जायँ फिर भी ज्ञान अपने ज्ञेयमें प्रवृत्ति न करे। सूखे ईंधनके रहते हुए भी अग्नि तभी तक उसे नहीं जलाती है जब तक उसके प्रतिबन्धक मणि मंत्रादि वहाँ पर विद्यमान रहते हैं। पर मणि मंत्रादिके वहाँसे हटते ही अग्नि अपने कार्यको उसी समय करने लगती है, यदि प्रतिबन्धक कारण वहाँसे हटा लिये जायँ और फिर भी अग्नि जलानेरूप अपने कार्यको न करे तो वह अग्नि ही नहीं कही जा सकती है। यही बात ज्ञानके संबन्धमें भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि केवली अपने ज्ञानके एक अंशसे नहीं जानते हैं किंतु वे समस्त ज्ञानांशोंसे युगपत् अपने ज्ञेयको ग्रहण करते हैं।

---

(१) "ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते। अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ॥"–न्यायवि० श्लो० ४६५। सिद्धिवि० पृ० १९४। (२)–मज्ञं स्या–अ०, –मज्ञ स्या–आ०, ध० आ० प० ५५३। उद्धृतोऽयम्–"...असति प्रतिबन्धने" ध० आ० प० ५३५। अष्टसह० पृ० ५०। "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात्कथमप्रतिबन्धकः ॥"–योगबि० श्लो० ४३१।

§ ४७. ण च एसो असंतं भणदि; एदम्हि अलीयकारणरायदोसमोहाणमभावादो।[1]

§ ४८. एसो एवंविहो वड्ढमाणभयवंतो किं सयलकम्मकलंकादीदो, आहो णेदि? णादिपक्खो; सयलकम्माभावेण असरीरत्तमुवगयस्स उवदेसाभावादो। णेयरपक्खो वि; सकलंकस्स देवत्ताभावेण तदुवइट्ठवयणकलावस्स आगमत्ताणुववत्तीदो। ण चादेववयणमागमो; रच्छादु(धु)त्तवयणाणं पि आगमत्तप्पसंगादो त्ति।

§ ४९. एत्थ परिहारो वुच्चदे। ण पढमपक्खो; अणब्भुवगमादो। ण विदियपक्खणिक्खेवोत्तदोसो वि संभवइ; देवत्तविणासयकलंकाभावेण सयलदेवभावुप्पत्तीदो घाइचउक्केण सयलावगुणणिबंधणेण देवत्तं विणासिज्जदि, ण च तं तत्थ अत्थि, जेण वड्ढमाणभयवंतस्स देवत्ताभावो होज्ज। उत्तं च–

§ ४७. यदि कहा जाय कि केवली अभूतार्थका प्रतिपादन करते हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि असत्यके कारणभूत राग, द्वेष और मोहका उनमें अभाव है।

§ ४८. **शंका**–इसप्रकारके वे महावीर भगवान् सकल कर्मकलंकसे रहित हैं, या नहीं? इनमेंसे पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान महावीरको सकल कर्मोंसे रहित मान लेने पर वे अशरीर हो जायँगे और इसलिये उनका उपदेश नहीं बन सकेगा। इसीप्रकार वे सकल कर्मसे युक्त हैं यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सकलंक मान लेने पर उनमें देवत्व नहीं बन सकेगा और इसलिये उनके द्वारा उपदिष्ट वचनकलाप आगम नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि अदेवका वचन भी आगम हो जाओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मुहल्ले-गलीकूचोंमें घूमनेवाले आवारा और धूर्त पुरुषके वचनको भी आगमपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा?

§ ४९. **समाधान**–आगे पूर्वोक्त शंकाका परिहार करते हैं। उपर्युक्त दो पक्षोंमेंसे 'वे सकल कर्म कलंकसे रहित हैं' यह पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जिन शासनमें अरहंत अवस्थाको प्राप्त भगवान् महावीरको सकल कर्मकलंकसे रहित नहीं माना है। इसीप्रकार दूसरे पक्षमें दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि देवत्वका नाश करनेवाले चार घातियारूपी कर्मकलंकके अभावसे उनमें पूर्णरूपसे देवपनेकी उत्पत्ति हो गई है। सकल अवगुणोंके कारणभूत चार घातिकर्मोंसे देवत्वका विनाश होता है, परन्तु अरहंत अवस्थाको प्राप्त वर्द्धमान जिनमें चार घातिकर्म नहीं हैं जिससे वर्द्धमान भगवानके देवत्वका अभाव होवे। अर्थात् चार घातिकर्मोंके अभाव हो जानेके कारण उनके देवत्वका अभाव नहीं कहा जा सकता है। कहा भी है–

(१) "रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं"–नियम० गा० ५६। [illegible] पानयमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥"–[illegible] ३० पृ० [illegible]। [illegible] श्लो० ४। "सत्यं वदन्ति ते तस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।"–[illegible] सू० ११।१९। [illegible] न तूपालेख्यसंभवात्"–सांख्य० मा० पृ० १३। (२)–[illegible]–[illegible]।

"खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाइतिए ।
सम्मत्तणाणविरिया खइया ते होंति केवलिणो[1] ॥१४॥
उप्पण्णम्मि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे ।
देविंददाणविंदा करेंति पूजं जिणवरस्स ॥१५॥"[2]

§५०. अघाइचउक्कमत्थि त्ति ण तस्स देवत्ताभावो; देवभावं घाइदुमसमत्थे अघाइचउक्के संते वि देवत्तस्स विणासाभावादो। अघाइचउक्कं देवत्तविरोहि[3] ण होदि त्ति कथं णव्वदे ? तस्स अघाइसण्णण्णहाणुववत्तीदो।

§५१. किं च, ण च णाम-गोदाणि अवगुणकारणं; खीणमोहम्मि राय-दोससंभवाभावादो। ण च आउअं तक्कारणं; खेत्तजणिददोसाभावादो, लोअसिहरगमणं पडि सिद्धस्सेव उक्कंठाभावादो च। ण च वेयणीयं तक्कारणं; असहेज्जत्तादो। घाइचउक्क-

"दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके क्षय हो जाने पर तथा इसीप्रकार शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जाने पर केवली जिनके सम्यक्त्व, ज्ञान और वीर्य ये क्षायिक भाव प्रकट होते हैं ॥१४॥"

"क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जाने पर और अनन्त ज्ञानके उत्पन्न होने पर देवेन्द्र और दानवेन्द्र जिनवरकी पूजा करते हैं ॥१५॥"

§ ५०. चार अघातिया कर्म विद्यमान हैं, इसलिये वर्द्धमान जिनके देवत्वका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि चार अघातिया कर्म देवत्वके घात करनेमें असमर्थ हैं, इसलिये उनके रहने पर भी देवत्वका विनाश नहीं हो सकता है।

शंका–चार अघातिया कर्म देवत्वके विरोधी नहीं हैं, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–चार अघातिया कर्म यदि देवत्वके विरोधी होते तो उनकी अघातिसंज्ञा नहीं बन सकती थी, इससे प्रतीत होता है कि चार अघातिया कर्म देवत्वके विरोधी नहीं हैं।

इसीका और भी स्पष्टीकरण करते हैं–

§ ५१. नामकर्म और गोत्रकर्म तो अवगुणके कारण हैं नहीं, क्योंकि जिन क्षीणमोह हैं, इसलिये उनमें नाम और गोत्रके निमित्तसे राग और द्वेष संभव नहीं हो सकते हैं। आयुकर्म भी अवगुणका कारण नहीं है, क्योंकि क्षीणमोह जिन भगवानमें वर्तमान क्षेत्रके निमित्तसे द्वेष नहीं उत्पन्न होता है और आगे होनेवाले लोकशिखरपर गमनके प्रति सिद्धके समान उनके उत्कण्ठा नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि केवली जिनके विद्यमान आयुकर्म

(१) "दंसणमोहे णट्ठे घादितिदए चरित्तमोहम्मि। सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होंति खइयाइं ॥"–ति० प० १।७३। उद्धृतेयम्– ध० सं० पृ० ६४। ध० आ० प० ५३५। (२) "जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदम्मि णाणम्मि। णवविहपदत्थसारा दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थं ॥"–ति० प० १।७४। उद्धृतेयम्–ध० सं० पृ० ६४। ध० आ० प० ५३५। "उप्पन्नंमि अणंते नट्ठम्मि अ छाउमत्थिए नाणे। राईए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे ॥ एगंते य विवित्तो उत्तरपासम्मि जन्नवाडस्स। तो देवदाणविंदा करिंति महिमं जिणिंदस्स ॥"–आ० नि० गा० ५३९, ५४१। (३)–रोही ण–अ०, आ०।

सहेज्जं संतं वेयणीयं दुक्खुप्पाययं। ण च तं घाइचउक्कमत्थि केवलिम्हि, तदो ण सकज्जजणणं वेयणीयं जलमट्टियादिविरहियबीजं वेत्ति। वेयणीयस्स दुक्खमुप्पाएंतस्स घाइचउक्कं सहेज्जयमिदि कथं णव्वदे? तिरयणपउत्तिअण्णहाणुववत्तीदो।

§ ५२. घाइकम्मे णट्ठे संते वि जइ वेयणीयं दुक्खमुप्पायइ तो सतिसो सभुक्खो केवली होज्ज? ण च एवं; भुक्खातिसासु कूर-जलविसयतण्हासु संतीसु केवलिस्स समोहदा-वत्तीदो। तण्हाए ण भुंजइ, किंतु तिरयणट्ठमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; तत्थ पत्तासेससरूवम्मि तदसंभवादो। तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ; पत्तकेवलणाणभावादो। ण च केवल-

अवगुणोंका कारण नहीं है। तथा वेदनीय कर्म भी अवगुणोंका कारण नहीं है, क्योंकि यद्यपि केवली जिनके वेदनीय कर्मका उदय पाया जाता है फिर भी वह असहाय होनेसे अवगुण उत्पन्न नहीं कर सकता है। चार घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही वेदनीय कर्म दुःखको उत्पन्न करता है, परन्तु केवली जिनके चार घातिया कर्म नहीं है, इसलिये जल और मिट्टीके विना वीज जिसप्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता है उसीप्रकार वेदनीय भी घातिचतुष्कके विना अपना कार्य नहीं कर सकता है।

शंका–दुःखको उत्पन्न करनेवाले वेदनीय कर्मके दुःखके उत्पन्न करानेमें घातिचतुष्क सहायक है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–यदि चार घातिया कर्मोंकी सहायताके विना भी वेदनीय कर्म दुःख देनेमें समर्थ हो तो केवली जिनके रत्नत्रयकी निर्बाध प्रवृत्ति नहीं बन सकती है इससे प्रतीत होता है कि घातिचतुष्ककी सहायतासे ही वेदनीय अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है।

§ ५२. घातिकर्मके नष्ट हो जाने पर भी वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है यदि ऐसा माना जावे तो केवली जिनको भूख और प्यासकी बाधा होनी चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि भूख और प्यासमें भातविषयक और जलविषयक तृष्णाके होने पर केवली भगवान्‌को मोहीपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है।

यदि कहा जाय कि केवली जिन तृष्णावश भोजन नहीं करते हैं किन्तु रत्नत्रयके लिये भोजन करते हैं, सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि केवली जिन पूर्णरूपसे आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये 'वे रत्नत्रय अर्थात् ज्ञान, संयम और ध्यान के लिये भोजन करते हैं' यह बात संभव नहीं है। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं. केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो भोजन करते नहीं हैं. क्योंकि उन्होंने केवलज्ञानको

(१) "घादि व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं"–गो० क० गा० १९। "मोहनीयकर्मसहायं हि वेदनीयकर्म क्षुदादिकार्यकरणे अविकलसामर्थ्यं भवति।"–न्यायकुमु० पृ० ८५९। प्रमेयक० टी० पृ० [illegible]। रत्नक० टी० पृ० ६। भावसं० श्लो० २१६। (२) "[illegible]"–प्रमेयक० पृ० ३००। (३) तुलना–"किमर्थञ्चासौ भुङ्क्ते–शरीरोपचयार्थम्, [illegible] वा, [illegible]र्थं वा, प्राणत्राणार्थं वा?" प्रमेयक० पृ० ३०६। न्यायकुमु० पृ० ८६३। प्रमेयक० टी० पृ० [illegible]। (४)–णाणभावा–अ०, ता०।

णाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाणमत्थि जेण तदट्ठं केवली भुंजेज्ज । ण संजमट्ठं; पत्तजहाक्खादसंजमादो । ण ज्झाणट्ठं; विसईकयासेसतिहुवणस्स ज्झेयाभावादो । ण भुंजइ केवली भुत्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धं ।

प्राप्त कर लिया है । तथा केवलज्ञानसे बड़ा और कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य है नहीं जिससे उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये केवली जिन भोजन करें । इससे यह निश्चित हो जाता है कि केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो भोजन करते नहीं हैं । संयमके लिये केवली जिन भोजन करते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उन्हें यथाख्यात संयमकी प्राप्ति हो चुकी है, ध्यानके लिये केवली जिन भोजन करते हैं यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने पूर्णरूपसे त्रिभुवनको जान लिया है, इसलिये उनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा है । अतएव भोजन करनेका कोई कारण नहीं रहनेसे केवली जिन भोजन नहीं करते हैं यह सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ–आगममें घातिया अघातियाके भेदसे कर्म दो प्रकारके बतलाये हैं । उनमेंसे जो जीवके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व आदि क्षायिक भावोंका और मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक भावोंका घात करते हैं उन्हें घातिया कर्म कहते हैं । तथा जो जीवके अव्याबाध और अवगाहनत्व आदि प्रतिजीवी गुणोंका घात करते हैं । तथा जिनके उदयका प्रधानतया कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीका प्रस्तुत करना है उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं । इसप्रकार दोनों प्रकारके कर्मोंके कार्योंका विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि घातियाकर्म ही देवत्वके विरोधी हैं अघातिया कर्म नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता, वीतरागता, निर्दोषता और हितोपदेशिता ये देवकी विशेषताएँ हैं जो घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर ही प्रकट होती हैं । अतः अरहंत परमेष्ठीके चारों अघातिया कर्मोंका उदय पाये जानेपर भी उनसे उनके देवत्वमें कोई बाधा नहीं आती है । यद्यपि नामकर्मके उदयसे शरीरादि और गति आदि रूप अनेक प्रकारके कार्य होते हैं तथा गोत्रकर्मके उदयसे उच्च और नीचपनेके भाव उत्पन्न होते हैं । पर केवली भगवान्‌के इन शरीरादिकमें राग और द्वेष उत्पन्न करनेके कारणभूत मोहनीय कर्मका अभाव हो गया है, इसलिये नाम और गोत्रकर्मके कार्य उनमें रहते हुए भी उन कार्योंमें उनके राग और द्वेष-भाव उत्पन्न नहीं होता है । आयुकर्म अवगाहनत्व नामक प्रतिजीवी गुणको प्रकट नहीं होने देता है, आयुकर्मके निमित्तसे उनके क्षेत्रजनित दोषोंकी संभावना की जा सकती है और अन्य क्षेत्रके प्रति जानेकी उत्कंठा भी कही जा सकती है । पर मोहनीयका अभाव हो जानेके कारण केवल आयु कर्मके निमित्तसे उनके न तो जिस क्षेत्रमें वे रहते हैं उस क्षेत्रके संसर्गसे दोष ही उत्पन्न होते हैं और न ऊर्ध्वगमनके प्रति उत्कंठा ही पाई जाती है ।

(१) भुक्तिका–अ०,आ० । "भगवति बुभुक्षा नास्ति तत्कारणमोहाभावात् ।"–न्यायकुमु० पृ० ८५९ ।

§ ५३. अह जइ सो भुंजइ तो बलाउ-सादु-सरीरुवचय-तेज-सुहट्ठं चेव भुंजइ संसारिजीवो व्व; ण च एवं, समोहस्स केवलणाणाणुववत्तीदो। ण च अकेवलिवयणमागमो, रागदोसमोहकलंकंकिए हरि-हर-हिरण्णगब्भेसु व सच्चाभावादो। आगमाभावे ण तिरयणपउत्ति त्ति तित्थवोच्छेदो चेव होज्ज, ण च एवं, तित्थस्स णिव्वाहबोहविसयीकयस्स उवलंभादो। तदो ण वेयणीयं घाइकम्मणिरवेक्खं फलं देदि त्ति सिद्धं।

§ ५४. तम्हा सेयं-मल-रय-रत्तणयण-कदक्खसरमोक्खादिसरीरगयदोसविरहिएण

इसीप्रकार वेदनीय कर्म भी उनके सुख और दुःखरूप बाधाका कारण नहीं है, क्योंकि वेदनीय कर्म स्वयं सुख और दुखके उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। जबतक उसे चारों घातिया कर्मोंकी और प्रधानतया मोहनीय कर्मकी सहयता नहीं मिलती है तबतक जीवको भूख और प्यास आदिरूप बाधाएँ उत्पन्न नहीं होती हैं। आगममें केवली जिनके जो क्षुधा आदि ग्यारह परीषहोंका सद्भाव बतलाया है उसका कारण केवली जिनके वेदनीय कर्मका पाया जानामात्र है। पर वेदनीय कर्म मोहनीयके बिना स्वयं कार्य करनेमें असमर्थ है, इसलिये वहाँ ग्यारह परीषह उपचारसे ही समझना चाहिये वास्तवमें नहीं। वेदनीयको मोहनीयके पहले कहनेका भी यही कारण है। इसप्रकार चारों अघातिया कर्मोंके उदयके रहते हुए भी वे देवत्वके बाधक नहीं हैं यह सिद्ध हो जाता है।

§ ५३. यदि केवली जिन भोजन करते हैं तो संसारी जीवोंके समान वे बल, आयु, स्वादिष्ट भोजन, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिये ही भोजन करते हैं ऐसा मानना पड़ता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर वे मोहयुक्त हो जायँगे और इसलिये उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि जब कि जिनदेवको केवलज्ञान नहीं होता है तो केवलज्ञानसे रहित जीवके वचन ही आगम हो जावें, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर राग, द्वेष और मोहसे कलंकित उनमें विष्णु, महादेव और ब्रह्माकी तरह सत्यताका अभाव हो जायगा और सत्यताका अभाव होनेसे उनके वचन आगम नहीं कहे जा सकेंगे। तथा इसप्रकार आगमका अभाव हो जाने पर रत्नत्रयकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी जिससे तीर्थका व्युच्छेद ही हो जायगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञात तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि घातिकर्मोंकी अपेक्षाके बिना वेदनीय कर्म अपने फलको नहीं देता है।

§ ५४. इसलिये पसीना, मल, रज अर्थात् बाह्य कारणोंसे शरीर पर चढ़ा हुआ मैल, रक्त नयन, और कटाक्षरूप बाणोंका छोड़ना आदि शरीरगत समस्त दोषोंसे रहित, [illegible]

(१) तुलना-"ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं। [illegible]" -मूलाचा० ६।६२। (२) तुलना-" [illegible]" -मूलाचा० ६।६२। (३)-कलंकीते स०, आ०। (४) [illegible]

समचउरससंठाण-वज्जरिसहसंघडण-दिव्वगंध-पमाणणहरोम-णिराहरणभासुरसोम्मवयण-णिरंबर-मणोहर-णिराउअ-सुणिब्भयादिणाणागुणसहियदिव्वदेहधरेण, रायदोसकसायिंदियचउव्विहोवसग्ग-बावीसपरीसहादिसयलदोसविरहिएण, जोयणंतरदूरसमीवत्थट्ठारसदेसभासकुभासाजुद-देव-तिरिक्ख-मणुस्साणं सगसगभासाजुद-हीणाहियभावविरहिय-महुर-मणोहर-गंभीर-विसदवागा(ग)दिसयसंपण्णेण, भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय-सोहम्मीसाणादिकप्पवासिय-चक्कवट्टि-बल-णारायण-विज्जाहर-रायाहिराय-मंडलीय-महामंडलीय-इंदग्गि-वाउभूदि-सिंघ-वालादि-देव-मणुव-मुणि-मइंदेहिंतो पत्तपूजादिसयेण सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरियावगाहणागुरुवलहुअ-अव्वाबाह-सुहुमत्तादिगुणेहि सिद्धसारिच्छेण वड्ढमाणभडारएण उवइट्ठत्तादो पमाणं दव्वागमो। उत्तं च–

संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, दिव्यगंध, योग्य प्रमाणरूपसे स्थित नख और रोम, आभरणोंसे रहितपना, देदीप्यमान और सौम्य मुख, वस्त्रसे रहितपना, मनोहर, आयुधसे रहितपना, और अत्यन्त निर्भयपना आदि नानागुणोंसे युक्त दिव्य देहको धारण करनेवाले; राग-द्वेष कषाय और इन्द्रियोंसे तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग, और बाईस परीषह आदि समस्त दोषोंसे रहित; एक योजनके भीतर दूर या समीप बैठे हुए नानादेशसंबन्धी अठारह महाभाषा और (सातसौ) लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे देव, तिर्यंच और मनुष्योंकी, अपनी अपनी भाषारूपसे परिणत, तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गंभीर और विशद इन भाषाके अतिशयोंसे युक्त; भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, सौधर्म ऐशान आदि कल्पवासी, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, विद्याधर, राजा, अधिराजा, मंडलीक, महामंडलीक, इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सिंह, व्याल आदि देव मनुष्य मुनि और तिर्यञ्चोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त हुए और क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अवगाहनत्व, अगुरुलघु, अव्याबाध और सूक्ष्मत्व आदि गुणोंसे सिद्धके समान वर्द्धमानभट्टारकके द्वारा उपदिष्ट होनेसे द्रव्यागम प्रमाण है। कहा भी है–

मोक्खेहि। इयपहुदिदेहदोसेहिं संततमदूसिदसरीरो ॥ आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो। दिव्ववरगंधधारी पमाणट्ठिदरोमणखरूवो ॥ णिब्भूसणायुधंबरभीदी सोम्माणणादिदिव्वतणू। अट्ठब्भहियसहस्सपमाणवरलक्खणोपेदो ॥ चउविहउवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो। छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं ॥ जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो। मिदमधुरगभीरतरा विसदविसयसयलभासाहिं ॥ अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा। अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ। एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं। परिहरिय एककालं भव्वजणाणंदकरभासो। भावणवेंतरजोयसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं। विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहि णरेहि तिरिएहि ॥ एदेहिं अण्णेहि विरचिदचरणारविन्दजुगपूजो। दिट्ठसयलट्ठसारो महावीरो अत्थकत्तारो ॥"–ति० प० १।५४-६४। औपपा० सू० १०।

(१)–बलिणाराय–स०। (२) "पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिदिदिसो। रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महराजा ॥ दुसहस्समउडबद्धभुववसहो तच्च अद्धमंडलिओ। चउराजसहस्साणं अहिणाउ होइ मंडलियं ॥ महमंडलिओ णामो अट्ठसहस्साणमहिवई ताणं ॥"–ति० प० १।४५–४७। (३) "इन्द्राग्निवायुभूत्याख्याः कौडिन्याख्याश्च पण्डिताः। इन्द्रनोदनयायाताः समवस्थानमर्हतः ॥"–हरि० २।६८।

"णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो ।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥१६॥"

§ ५५. कत्थ कहियं ? सेणियराए सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं [1]भुंजंते मगहामंडल-[2]तिलओवमरायगिहणयर-णेरयिदिसमहिट्ठिय-विउलगिरिपव्वए सिद्धचारण-सेविए बारह[3]गणपरिवेढ्ढिएण कहियं । उत्तं च–

"पंचसेलपुरे रम्मे, विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणादुमसमाइण्णे सिद्धचारणसेविदे[4] ॥१७॥
[5]ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः ।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ [6]त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥१८॥
[7]धनुषा(रा)कारश्छिन्नो [8]वारुण-वायव्य-सोमदिक्षु ततः ।
वृत्ताकृतिरीशाने पांडुस्सर्वे कुशाग्रवृताः ॥१९॥"

"जिन्होंने धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियोंको निःसंशय किया, जो वीर हैं अर्थात् जिन्होंने विशेषरूपसे समस्त पदार्थसमूहको प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनोंमें श्रेष्ठ हैं, तथा राग, द्वेष और भयसे रहित हैं ऐसे भगवान् महावीर धर्मतीर्थके कर्ता हैं ॥१६॥"

§ ५५. **शंका**–भगवान् महावीरने धर्मतीर्थका उपदेश कहाँ पर दिया ?

समाधान–जब महामंडलीक श्रेणिक राजा अपनी चेलना रानीके साथ सकल पृथिवी मंडलका उपभोग करता था तब मगधदेशके तिलकके समान राजगृह नगरकी नैऋत्य दिशामें स्थित तथा सिद्ध और चारणोंके द्वारा सेवित विपुलगिरि पर्वतके ऊपर बारह गणों अर्थात् सभाओंसे परिवेष्टित भगवान् महावीरने धर्मतीर्थका कथन किया । कहा भी है–

"पंचशैलपुरमें अर्थात् पांच पहाड़ोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास स्थित, नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, सिद्ध तथा चारणोंसे सेवित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे अति-रमणीक विपुलाचल पर्वतके ऊपर भव्यजनोंके लिये भगवान् महावीरने धर्मतीर्थका प्रतिपादन किया । ऐन्द्र अर्थात् पूर्व दिशामें चौकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार और नैऋत्य दिशामें विपुलाचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं । पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशामें धनुषके आकारवाला छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामें गोलाकार पांडु नामका पर्वत है । ये सब पर्वत कुशके अग्र भागोंसे

(१) भुंजति म–स० । (२)–तिलओ म–आ० (३) द्वादशगणाना वर्णनं हरिवंशपुराणे [illegible] द्रष्टव्यम् । (४) "देवदाणववंदिदे"–ध० सं० पृ० ६१। "[illegible] । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥"–ति० प० १।६४। (५) [illegible]–अ०, आ०, स० । [illegible] पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥"–ति० प० [illegible] (६) त्रिकोणः स्थित्वा तत्र स० । (७)–कारश्छन्नो वा–अ०, अ०, आ० । (८) [illegible] नागव्यसोम्यदिक्षु ततः ।"–ध० सं० पृ० ६२। "[illegible] पंडुगणादो सव्वे कुसग्गपरियरणा ।"–ति० प० १।६६ । हरि० [illegible]

§ ५६. कम्हि काले कहियमिदि पुच्छिदे सिस्साणं पच्चयजणणट्ठं कालपरूवणा कीरदे। तं जहा, दुविहो कालो उस्सप्पिणी ओसप्पिणी चेदि। जत्थ बलाउउस्सेहाणमुस्सप्पणं वुड्ढी होदि सो कालो उस्सप्पिणी। जत्थ तेसिं हाणी होदि सो ओसप्पिणी। तत्थ एक्केक्को सुसमसुसमादिभेएण छव्विहो। तत्थ एदस्स भरहखेत्तस्स ओसप्पिणीए चउत्थे दुस्समसुसमकाले णवहि दिवसेहि छहि मासेहि य अहियतेत्तीसवासावसेसे ३३-६-९ तित्थुप्पत्ती जादा। उत्तं च–

"इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवासावसेसे किंचि विसेसूणकालम्मि ॥२०॥" त्ति।

तं जहा, पण्णरसदिवसेहि अट्ठहि मासेहि य अहियपंचहत्तरिवासावसेसे चउत्थकाले ७५-८-१५ पुप्फुत्तरविमाणादो आसाढ-जोण्हपक्ख-छट्ठीए महावीरो वाहत्तरिवासाउओ तिण्णाणहरो गब्भमोइण्णो। तत्थ तीसवासाणि कुमारकालो। बारसवासाणि

ढके हुए हैं ॥१७-१९॥"

§ ५६. किस कालमें धर्म तीर्थका प्रतिपादन किया ऐसा पूछने पर शिष्योंको कालका ज्ञान करानेके लिये आगे कालकी प्ररूपणा की जाती है। वह इसप्रकार है–उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके भेदसे काल दो प्रकारका है। जिस कालमें बल, आयु और शरीरकी ऊँचाईका उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह काल उत्सर्पिणी काल है। तथा जिस कालमें बल, आयु और शरीरकी ऊँचाईकी हानि होती है वह अवसर्पिणी काल है। इनमेंसे प्रत्येक काल सुषमसुषमा आदिके भेदसे छह प्रकारका है। उनमेंसे इस भरतक्षेत्रसंबन्धी अवसर्पिणी कालके चौथे दुःषमसुषमा कालमें नौ दिन और छह महीना अधिक तेतीस वर्ष अवशिष्ट रहनेपर धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई। कहा भी है–

"इस अवसर्पिणी कालके दुःषमसुषमा नामक चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥२०॥"

आगे इसीको स्पष्ट करते हैं–चौथे कालमें पन्द्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तर वर्ष बाकी रहने पर आषाढ़ महीनाके शुक्ल पक्षकी षष्ठीके दिन बहत्तर वर्षकी आयुसे युक्त तथा मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारक भगवान् महावीर पुष्पोत्तर विमानसे गर्भमें अवतीर्ण हुए। उन बहत्तर वर्षोंमें तीस वर्ष कुमारकाल है, बारह वर्ष छद्मस्थकाल है तथा

(१) "एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि। तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्हि॥" –ति० प० १।६८। उद्धृतेयम्–ध० सं० पृ० ६२। ध० आ० प० ५३५। (२) 'आषाढसुसितषष्ठ्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिनि। आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः। सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुंडपुरे। देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः॥"–वीरभ०। तुलना–"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खे णं महाविजयपुप्फुत्तरपवरपुंडरीआओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमट्ठिइआओ आउक्खएणं भवक्खए णं ठिइक्खए णं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे इमीसे ओस-

छदुमत्थकालो। तीसं वस्साणि केवलिकालो। एदेसिं तिण्हं पि कालाणं समासो बाहत्तरिवासाणि। एदाणि [पण्णरसदिवसेहि अट्ठमासेहि य अहिय-] पंचहत्तरिवासेसु सोहिदे वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वुदे संते जो सेसो चउत्थकालो तस्स पमाणं होदि।

§ ५७. एदम्हि छावट्ठिदिवसूणकेवलिकाले पक्खित्ते णवदिवसछम्मासाहियतेत्तीसवासाणि चउत्थकाले अवसेसाणि होंति। छासट्ठिदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं

तीस वर्ष केवलिकाल है। इसप्रकार इन तीनों कालोंका जोड़ बहत्तर वर्ष होता है। इस बहत्तर वर्षप्रमाण कालको पन्द्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तर वर्षमेंसे घटा देने पर, वर्द्धमान जिनेन्द्रके मोक्ष जाने पर जितना चतुर्थकाल शेष रहता है उसका प्रमाण होता है।

§ ५७. इस कालमें छयासठ दिन कम केवलिकाल अर्थात् २९ वर्ष, नौ महीना और चौवीस दिनके मिला देने पर चतुर्थ कालमें नौ दिन और छह महीना अधिक तेतीस वर्ष बाकी रहते हैं।

विशेषार्थ—नये वर्षका प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदासे होता है और भगवान् महावीरकी आयु बहत्तर वर्ष प्रमाण थी। जब भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष गये तब चतुर्थ कालमें तीन वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन बाकी थे। अतः चतुर्थ कालमें पचहत्तर वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर भगवान् महावीर स्वामी गर्भमें आये यह निश्चित होता है। इसमेंसे गर्भसे लेकर कुमारकालके तीस वर्ष और दीक्षाकालके बारह वर्ष इसप्रकार ब्यालीस वर्ष कम कर देने पर चतुर्थ कालमें तेतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर भगवान् महावीरको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। पर केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर ही धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति नहीं हुई, क्योंकि दो माह और छह दिन तक गणधरके नहीं मिलनेसे भगवानकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी। अतः तेतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिनमेंसे दो माह तथा छह दिनके और भी कम कर देने पर चतुर्थ कालमें तेतीस वर्ष छह माह और नौ दिन बाकी रहने पर धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ऐसा सिद्ध होता है।

शंका—केवलिकालमेंसे छयासठ दिन किसलिये कम किये गये हैं ?

प्पिणीए 'दुस्समसुसमाए समाए बहुविइक्कंताए सागरोवमकोडाकोडीए बायालीसाए [illegible] पंचहत्तरीए वासेहिं अद्धनवमेहि अ मासेहि सेसेहि' 'समणे भगवं महावीरे चरमतित्थयरे पुव्वतित्थयरनिद्दिट्ठे माहणकुण्डग्गामे नयरे उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगुत्तस्स भारिआए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवगएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतीए सरीरवक्कंतीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते।"—कल्प० सू० २। "अत्थेत्थ भरहवासे कुण्डग्गामं पुरं गुणसमिद्धं। [illegible] दयसहो सिद्धत्थो नाम नामेणं॥ तस्स य बहुगुणकलिया भज्जा तिसल त्ति [illegible]। [illegible] आयाओ चरिमसमयम्मि॥"—पउम० २।२१-२२। आ० नि० भा० गा० ५२।

(१) "एदाणि पंचहत्तरिवासेसु सोहिदे वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वुदे संते"—ध० आ० प० ५३५। (२) ध० आ० प० ५३५। "षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।"—हरि० श्लो० [illegible]। "षट्षष्टिदिवसानि न निर्जगाम दिव्यध्वनिस्तस्य।"—इन्द्र० श्लो० ४२।

कीरदे ? केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थाप‍उत्ती ? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? ण; काललद्धीए विणा [1]असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिस्सिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे ? साहावियादो। ण च सहाओ परपज्जणिओगारुहो; अव्ववत्थावत्तीदो। तम्हा चोत्तीसवासा[2]वसेसकिंचिविसेसूणचउत्थकालम्मि तित्थुप्पत्ती जादेत्ति सिद्धं।

§ ५८. [3]अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरिवासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिंदाउअं परूवेंति ७१-३-२५। तेसिमहिप्पाएण गब्भत्थ-कुमार-छदुमत्थ-केवलिकालाणं परूवणा कीरदे। तं जहा, [4]आसाढजोण्हपक्खछट्टीए [5]कुंडपुर-

समाधान–भगवान् महावीरको केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जाने पर भी छ्यासठ दिन तक धर्मतीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिये केवलिकालमेंसे छ्यासठ दिन कम किये गये हैं।

शंका–केवलज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान–गणधर न होनेसे उतने दिन तक दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका–सौधर्म इन्द्रने केवलज्ञानके प्राप्त होनेके समय ही गणधरको क्यों नहीं उपस्थित किया ?

समाधान–नहीं, क्योंकि काललब्धिके विना सौधर्म इन्द्र गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था, उसमें उस समय गणधरको उपस्थित करनेकी शक्ति नहीं थी।

शंका–जिसने अपने पादमूलमें महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुषको छोड़कर अन्यके निमित्तसे दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है ?

समाधान–ऐसा ही स्वभाव है। और स्वभाव दूसरोंके द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभावमें ही प्रश्न होने लगे तो कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी।

अतएव कुछ कम चौतीस वर्षप्रमाण चौथे कालके रहने पर तीर्थकी उत्पत्ति हुई यह सिद्ध हुआ।

§ ५८. कुछ अन्य आचार्य पाँच दिन और आठ माह कम बहत्तर वर्षप्रमाण अर्थात् ७१ वर्ष ३ माह और पच्चीस दिन वर्द्धमान जिनेन्द्रकी आयु थी ऐसा प्ररूपण करते हैं। उन आचार्योंके अभिप्रायानुसार गर्भस्थकाल, कुमारकाल, छद्मस्थकाल और केवलिकालका प्ररूपण करते हैं। वह इसप्रकार है–आषाढ़ महीनाके शुक्लपक्षकी षष्ठीके दिन कुंडपुर

(१) "असहायस्य"–ध० आ० प० ५३५। (२)–वसेसे किं–आ०। (३) "अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिसेहि अट्ठयमासेहि य ऊणाणि बाहत्तरिवासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिंदाउअं परूवेंति।"–ध० आ० प० ५३५। (४) "आषाढशुक्लषष्ठ्यां तु गर्भावतरणेऽर्हतः। उत्तराफाल्गुनीनीडमुडुराजा द्विजः श्रितः।" –हरि० २।२३। (५) "कुंडलपुरणगराहिव..."–ध० आ० प० ५३५।

णगराहिव-णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहिय-णवमासे अच्छिय चइत्त-सुक्कपक्ख-तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो । एत्थ आसाढजोण्हपक्खछट्ठिमादिं कादूण जाव पुण्णमा त्ति दसदिवसा होंति १० । पुणो सावणमासमादिं कादूण अट्ठमासे गब्भम्मि गमिय ८, चइत्त-मास-सुक्कपक्ख-तेरसीए उप्पण्णो त्ति अट्ठावीसदिवसा तत्थ लब्भंति । एदेसु पुव्विल्ल-दसदिवसे पक्खित्ते मासो अट्ठदिवसाहिओ होदि । तम्मि अट्ठमासेसु पक्खित्ते अट्ठ-दिवसाहियणवमासा वड्ढमाणजिणिंदगब्भत्थकालो होदि । तस्स संदिट्ठी ९-८ । एत्थुव-उज्जंतीओ गाहाओ–

> "सुरमहिदोच्चुदकप्पे भोगं दिव्वाणुभागमणुभूदो ।
> पुप्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो ॥२१॥
> बाहत्तरिवासाणि य थोवविहीणाणि लद्धपरमाऊ ।
> आसाढजोण्हपक्खे छट्ठीए जोणिमुवयादो ॥२२॥

(कुंडलपुर) नगरके स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्रकी त्रिसलादेवीके गर्भमें आकर और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्रशुक्ला त्रयोदशीके दिन रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके रहते हुए भगवान् महावीर गर्भसे बाहर आये । यहाँ आषाढ़शुक्ला षष्ठीसे लेकर पूर्णिमा तक दस दिन होते हैं । पुनः श्रावण माहसे लेकर फाल्गुन माहतक आठ माह गर्भा-वस्थामें व्यतीत करके चैत्रशुक्ला त्रयोदशीको उत्पन्न हुए, इसलिये चैत्र माहके अट्ठाईस दिन और प्राप्त होते हैं। इन अट्ठाईस दिनोंमें पहलेके दस दिन मिला देने पर आठ दिन अधिक एक माह होता है । इसे पूर्वोक्त आठ महीनोंमें मिला देने पर नौ माह और आठ दिन प्रमाण वर्द्धमान जिनेन्द्रका गर्भस्थकाल होता है । इसकी संदृष्टि–९ माह ८ दिन है । इस विषयकी उपयोगी गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं–

"जो देवोंके द्वारा पूजा जाता था, जिसने अच्युत कल्पमें दिव्य अनुभागशक्तिसे युक्त भोगोंका अनुभव किया ऐसे महावीर जिनेन्द्रका जीव, कुछ कम बहत्तर वर्षकी आयु पाकर, पुष्पोत्तर नामक विमानसे च्युत होकर, आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन, कुंडपुर नगरके स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रियके घर, नाथकुलमें, सैकड़ों देवियोंसे सेवमान त्रिसला देवीके गर्भमें

(१) उत्तरा–आ० । उत्तराफग्गुणी··"–ध० आ० प० ५३५ । "[illegible] रम्मि कुंडले वीरो । उत्तरफग्गुणरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो ॥"–ति० प० प० ६९ । [illegible] श्लो० ५-६ । "नवमासेष्वतीतेषु स जिनोऽष्टदिनेषु च । उत्तराफाल्गुनी[illegible] [illegible]"– हरि० २।२५ । "चित्तसुद्धस्स तेरसीदिवसेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण [illegible] नवंताणं उच्चट्ठाणगएसु गहेसु पढमे चंदजोगे ··हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं चंदेण [illegible]"–कल्प. सू० ९६। आ० नि० भा० गा० ६१। (२) सासपना–अ०.ता०, स०। (३) "[illegible]" –ध० आ० । (४) "तम्मि अट्ठमासेसु पक्खित्ते अट्ठदिवसाहियणवमासा [illegible] होंति"–ध० आ० प० ५३५ । (५) अट्ठावीसदिवसा–अ०, आ० । (६) "[illegible]"–ध० आ० ।

कुंडपुरपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले ।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ॥२३॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्त-सियपक्खे ।
तेरसिए[1] रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु ॥२४॥"

एवं गब्भट्ठिदकालपरूवणा कदा ।

§ ५९. संपहि कुमारकालपरूवणं कस्सामो । तं जहा, चइत्तमासस्स दो दिवसे २, वइसाहमादिं कादूण अट्ठावीसं[3] वस्साणि २८, पुणो वइसाहमासमादिं कादूण जाव कत्तियमासो त्ति ताव सत्तमासे च कुमारत्तणेण गमिय ७, तदो मग्गसिरकिण्हपक्खदसमीए[4] णिक्खंतो त्ति कुमारकालपमाणं बारसदिवसेहि सत्तमासेहि य अहियअट्ठावीसवासमेत्तं होदि २८-७-१२ । एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ–

"मणुवत्तणसुहमतुलं देवकयं सेविऊण[5] वासाइं ।
अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं ॥२५॥
आभिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुलाए ।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो[6] ॥२६॥"

आया । और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके रहते हुए भगवान्का जन्म हुआ ॥२१–२४॥"

इस प्रकार गर्भस्थित कालकी प्ररूपणा की ।

§ ५९. अब कुमारकालकी प्ररूपणा करते हैं । वह इसप्रकार है–

चैत्र माहके दो दिन, वैसाख माहसे लेकर अट्ठाईस वर्ष तथा पुनः वैसाख माहसे लेकर कार्तिक माहतक सात माह कुमाररूपसे व्यतीत करके अनन्तर मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीके दिन भगवान् महावीरने जिन दीक्षा ली । इसलिये कुमारकालका प्रमाण सात माह और बारह दिन अधिक अट्ठाईस वर्ष होता है । आगे इस विषयकी उपयोगी गाथाएँ दी जाती हैं–

"अट्ठाईस वर्ष, सात माह और बारह दिन तक देवोंके द्वारा किये गये मनुष्य-संबन्धी अनुपम सुखका सेवन करके जो आभिनिबोधिक ज्ञानसे प्रतिबुद्ध हुए और जिनकी दीक्षासंबन्धी पूजा हुई ऐसे देवपूजित वर्द्धमान जिनेन्द्रने षष्ठोपवासके साथ मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीके दिन जिनदीक्षा ली ॥२५–२६॥"

(१) "तिरसीए रत्तीए····"–ध०, आ० । (२) उद्धृता इमा गाथाः–ध० आ० प० ५३५ । (३) वीसवस्सा–आ० । (४) "मग्गसिरबहुलदसमीअवरण्हे उत्तरासुनावण्णे । तदियसुवणम्हि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण ॥"–ति० प० प० ७५ वीरभ० श्लो ७-१० । "उत्तराफाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे । कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद्वनम् ॥"–हरि० २।५१ । "मगसिरबहुलस्स दसमी पक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरसीए अभिनिव्विट्टाए··"–कल्प० सू० ११३ । (५) सेवियूण– अ०, आ०, ता० । "सेविऊण"–ध० आ० ५३६ । (६) उद्धृते इमे–ध० आ० प० ५३६ ।

एवं कुमारकालपरूवणा कदा ।

§ ६० संपहि छदुमत्थकालो वुच्चदे । तं जहा, मग्गसिर-किण्हपक्ख-एक्कारसिमादिं कादूण जाव मग्गसिरपुण्णमा त्ति वीसदिवसे २०, पुणो पुस्समासमादिं कादूण बारस वासाणि १२, पुणो तं चेव मासमादिं कादूण चत्तारि मासे च ४, वइसाहजोण्हपक्ख-पंचवीसदिवसे च २५, छदुमत्थत्तणेण गमिय वइसाह-जोण्हपक्ख-दसमीए उजुकूलणदी-तीरे जंभियगामस्स बाहिं छट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेंतेण अवरण्हे पादछायाए केवल-णाणमुप्पाइदं । तेण छदुमत्थकालस्स पमाणं पण्णारसदिवसेहि पंचमासेहि य अहिय-बारसवासमेत्तं होदि १२-५-१५ । एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ–

"गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासे य ।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरदणसुद्धो महावीरो ॥२७॥

इसप्रकार कुमारकालकी प्ररूपणा की ।

§ ६०. अब छद्मस्थकालका कथन करते हैं । वह इस प्रकार है–

मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशीसे लेकर मार्गशीर्ष पूर्णिमा पर्यन्त वीस दिन, पुनः पौष माहसे लेकर बारह वर्ष, पुनः उसी पौष माहसे लेकर चार माह तथा वैसाख माहके शुक्ल-पक्षकी दशमी तक पच्चीस दिन छद्मस्थ अवस्थारूपसे व्यतीत करके वैसाखशुक्ला दशमीके दिन, ऋजुकूला नदीके किनारे, जृंभिक ग्रामके बाहर षष्ठोपवासके साथ सिलापट्टके ऊपर आतापनयोगसे स्थित भगवान् महावीरने अपराह्न कालमें पादप्रमाण छायाके रहने पर केवल-ज्ञान उत्पन्न किया । इसलिये छद्मस्थकालका प्रमाण पाँच माह पन्द्रह दिन अधिक बारह वर्ष होता है । अब इस विषयमें उपयोगी गाथाएँ दी जाती हैं–

"बारह वर्ष, पाँच माह और पन्द्रह दिन पर्यन्त छद्मस्थ अवस्थाको बिताकर रत्न-

(१) गदा आ० । (२) छदुमत्थणेण अ० । (३) "वइसाहसुद्धदसमीमाघारिक्खम्मि वीरणाहस्स । ऋजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥"–ति० प० प० ७६ । वीरच० श्लो० १०–१२ । "मनःपर्यय-पर्यन्तचतुर्ज्ञानमहेक्षणः । तपो द्वादशवर्षाणि चकार द्वादशात्मकं ॥ विहरन्नथ नाथोऽसौ गुणग्रामपरिग्रहः । ऋजुकूलापगाकूले जृंभिकग्राममीयिवान् ॥ तत्रातपनयोगस्थः सालाभ्याससिलातले [illegible] षष्ठमाश्रितः ॥ उत्तराफाल्गुनीं प्राप्ते शुक्लध्यानी निशाकरे । निहत्य घातिसंघातं केवलज्ञानमाप्तवान् ॥"–हरि० २।५६–५९ । "तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं नाणेणं ... अप्पाणं भावेमाणस्स [illegible] विइक्कंताइं ... वइसाहसुद्धे तस्स णं वइसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं पाईणगामिणीए छायाए पोरिसीए अभिनि-विट्टाए पमाणपत्ताए सुव्वएणं दिवसेणं विजयेणं मुहुत्तेणं जंभियगामस्स नगरस्स [illegible] वेयावत्तस्स चेइयस्स अदूरसामंते सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि [illegible] गनिसिज्जाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं [illegible] झाणंतरियाए वट्टमाणस्स ... केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।"–कल्प० सू० १२० । आ० नि० गा० [illegible]
(४) "बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो य । वीरवरस्स भगवओ [illegible]"–आ० नि० गा० ५३६। (५) गमयिय अ०, आ०. ता० । "[illegible]"–[illegible] । (६) [illegible]
(७) "तिरयणसुद्धो"–ध० आ० प० ५३६ ।

उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे ।
छट्टेणादावेंते अवरण्हे पादछायाए ॥२८॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवयसेढिमारूढो ।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो³ ॥२९॥"

एवं छदुमत्थकालो परूविदो।

§ ६१ संपहि केवलकालं भणिस्सामो। तं जहा, वइसाह-जोण्णपक्ख-एक्कारसिमादिं कादूण जाव पुणिमा त्ति पंच दिवसे ५, पुणो जेट्ठमासप्पहुडि एगुणतीसं वासाणि तं चेव मासमादिं कादूण जाव आसउजो त्ति पंच मासे ५, पुणो कत्तियमास-किण्हपक्खचोद्दस-दिवसे च केवलणाणेण सह एत्थ गमिय परिणिव्वुओ वड्ढमाणो १४, आमावसीए परिणि-व्वाणपूजा सयलदेविंदेहि कया त्ति तं पि दिवसमेत्थेव पक्खित्ते पण्णारसदिवसा होंति। तेणेदस्स कालस्स पमाणं वीसदिवस-पंचमासाहियएगुणतीसवासमेत्तं होदि २९-५-२०।

त्रयसे शुद्ध और जृंभिक ग्रामके वाहर ऋजुकूला नदीके किनारे सिलापट्टके ऊपर षष्ठोप-वासके साथ आतापनयोग करते हुए महावीर जिनेन्द्रने अपराह्ण कालमें पादप्रमाण छायाके रहते हुए वैशाखशुक्ला दसमीके दिन क्षपकश्रेणि पर आरोहण किया और चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया ॥२७-२९॥"

इसप्रकार छद्मस्थकालका प्ररूपण किया।

§ ६१. अब केवलिकालको कहते हैं। वह इसप्रकार है—वैशाख शुक्लपक्षकी एकादशीसे लेकर पूर्णिमा तक पाँच दिन, पुनः ज्येष्ठ माहसे लेकर उनतीस वर्ष पुनः उसी ज्येष्ठ माहसे लेकर आसोज तक पाँच माह तथा कार्तिक माहके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तक चौदह दिन, केवलज्ञानके साथ इस आर्यावर्तमें व्यतीत करके वर्द्धमान जिन मोक्षको प्राप्त हुए। अमा-वसके दिन सकल देव और इन्द्रोंने निर्वाणपूजा की, इसलिये अमावसका दिन भी इसी उपर्युक्त केवलिकालमें मिला देने पर कार्तिक माहके चौदह दिनोंके स्थानमें पन्द्रह दिन हो जाते हैं। इसलिये इस केवलिकालका प्रमाण उनतीस वर्ष, पाँच माह और वीस दिन होता

(१) "छट्ठेणादावेंतो"–ध० आ० प० ५३६। (२)–पायछा–स०। (३) उद्धृता इमाः–ध० आ० प० ५३६। (४) "संपहि केवलकालो वुच्चदे····"–ध० आ० प० ५३६। (५) "कत्तियकिण्हे चोद्दसिपज्जूसे सादिणामणक्खत्ते। पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो॥" ति० प० प० १०२। "प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके। चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके। स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः। अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन् घनव द्विबन्धनः·········॥"–हरि० ६६।१५–१७। वीरभ०श्लो० १६–१७। "तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अन्तरावासं वासावासं उवागए॥१२३॥ तस्स णं अन्तरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिअबहुले तस्स णं कत्तियबहुलस्स पन्नरसीपक्खे णं जा सा चरमा रयणी तं रयणिं च समणे भगवं महावीरे कालगए······"–कल्पसू० १२३–२४, सू० १४७। "तदा च कार्तिकदर्शनिशायाः पश्चिमे क्षणे। स्वातिऋक्षे वर्तमाने कृतषष्ठो जगद्गुरुः॥"–त्रिषष्ठि० १०।१३।२२२।

वच्छओ अलद्धोवदेसत्तादो दोण्हमेक्कस्स पहाणु(बाहाणु)वलंभादो, किंतु दोसु एक्केण होदव्वं, तं च उवदेसं लहिय वत्तव्वं ।

§ ६४. जिणउवदिट्ठत्तादो होदु दव्वागमो पमाणं, किंतु अप्पमाणीभूदपुरिसपव्वोली-विषयमें अपनी जवान नहीं चलाना चाहिये, क्योंकि इन दोनोंमेंसे कौन योग्य है और कौन अयोग्य है इस विषयका उपदेश प्राप्त नहीं है तथा दोनोंमेंसे किसी एक उपदेशके समीचीन होनेमें बाधा भी नहीं पाई जाती है। किन्तु दोनोंमेंसे एक ही होना चाहिये। और वह एक उपदेश पाकर ही कहना चाहिये। अर्थात् यद्यपि दोनों उपदेशोंमेंसे कोई एक उपदेश ही ठीक है यह तभी कहा जा सकता है जब उसके सम्बन्धमें कोई उपदेश मिले।

विशेषार्थ–आगममें एक उपदेश इसप्रकार पाया जाता है कि चौथे कालमें पचहत्तर वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर भगवान् महावीर स्वर्गसे अवतीर्ण हुए और दूसरा उपदेश इसप्रकार पाया जाता है कि चौथे कालमें पचहत्तर वर्ष और दस दिन शेष रहने पर भगवान् महावीर स्वर्गसे अवतीर्ण हुए। इन दोनों उपदेशोंके अनुसार यह तो सुनिश्चित है कि चौथे कालमें तीन वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर भगवान् महावीर निर्वाणको प्राप्त हुए। अन्तर केवल उनकी आयुके संबन्धमें है। पहले उपदेशके अनुसार भगवान महावीरकी आयु बहत्तर वर्षप्रमाण बतलाई गई है और दूसरे उपदेशके अनुसार इकहत्तर वर्ष तीन माह और पच्चीस दिनप्रमाण बतलाई गई है। दूसरे उपदेशके अनुसार वर्ष, माह और दिनोंकी सूक्ष्मतासे गणना करके आयु सुनिश्चित की गई है पर पहले उपदेशमें स्थूल मानसे आयु कही गई प्रतीत होती है। उपर्युक्त दोनों मान्यताओंके अन्तरका कारण यही है यह सुनिश्चित होते हुए भी वीरसेन स्वामी उक्त दोनों उपदेशोंका संकलनमात्र कर रहे हैं, निर्णय कुछ भी नहीं दे रहे हैं। साथ ही यह भी सूचना करते हैं कि एलाचार्यके शिष्यको इन उपदेशोंकी प्रमाणता और अप्रमाणताके निश्चय करनेमें अपनी जीभ नहीं चलानी चाहिये। यहाँ मुख्य विवादका कारण दूसरे उपदेशके अनुसार सुनिश्चित की गई आयु न होकर पहिले उपदेशके अनुसार सुनिश्चित की गई आयु है। यह तो निश्चितप्राय है कि जब गर्भ और निर्वाणकी तिथि एक नहीं है तो पूरे बहत्तर वर्षप्रमाण आयु नहीं हो सकती। आयु या तो बहत्तर वर्षसे कम होगी या अधिक। पर पूरे बहत्तर वर्षप्रमाण आयुके कहनेमें क्या रहस्य छिपा हुआ है, यह वर्तमान कालमें अज्ञात है, उसके जाननेका वर्तमानमें कोई साधन नहीं है, इसलिये पहले उपदेशको अप्रमाण तो कहा नहीं जा सकता। और यही सबब है कि वीरसेन स्वामीने दोनों उपदेशोंका संकलनमात्र कर दिया पर अपना कुछ भी निर्णय नहीं दिया।

§ ६४. यदि कोई ऐसा माने कि जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट होनेसे द्रव्यागम प्रमाण होओ किन्तु वह अप्रमाणीभूत पुरुषपरंपरासे आया हुआ है। अर्थात् भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट

(१)–देसादो अ०, आ०, ता०। (२) "वाहाणुलंभादो"–ध० आ० प० ५३६।

कमेण आगयत्तादो अप्पमाणं वट्टमाणकालदव्वागमो त्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्तं; राग-दोस-भयादीदआइरियपव्वोलीकमेण आगयस्स अप्पमाणत्तविरोहादो। तं जहा, तेण महावीर-भडारएण इंदभूदिस्स अज्जस्स अज्जखेत्तुप्पण्णस्स चउरमलबुद्धिसंपण्णस्स दित्तुग्गतत्त-तवस्स अणिमादिअट्ठविहविउव्वणलद्धिसंपण्णस्स सव्वट्ठसिद्धिणिवासिदेवेहिंतो अणंत-गुणबलस्स मुहुत्तेणेक्केण दुवालसंगत्थगंथाणं सुमरण-परिवाडिकरणक्खमस्स सयपाणिपत्त-णिवदिदखीरं पि अमियसरूवेण पल्लट्टावणसमत्थस्स पत्ताहारवसहि-अक्खीणरिद्धिस्स सव्वोहिणाणेण दिट्ठासेसपोग्गलदव्वस्स तपोबलेण उप्पायिदुक्कस्सविउलमदिमणपज्ज-वणाणस्स सत्तभयादीदस्स खविदचदुकसायस्स जियपंचिंदियस्स भग्गतिदंडस्स छज्जी-वदयावरस्स णिट्ठवियअट्ठमयस्स दसधम्मुज्जयस्स अट्ठमाउगणपरिवालियस्स भग्गवा-

आगम जिन आचार्योंके द्वारा हम तक लाया गया है वे प्रमाण नहीं थे। अतएव वर्तमान-कालीन द्रव्यागम अप्रमाण है, सो उसका ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यागम राग, द्वेष और भयसे रहित आचार्यपरंपरासे आया हुआ है इसलिये उसे अप्रमाण माननेमें विरोध आता है। आगे इसी विषयका स्पष्टीकरण करते हैं–

जो आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैं, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय: इन चार निर्मल ज्ञानोंसे संपन्न हैं, जिन्होंने दीप्त, उग्र और तप्त तपको तपा है, जो अणिमा आदि आठ प्रकारकी वैक्रियक लब्धियोंसे संपन्न हैं, जिनका सर्वार्थसिद्धिमें निवास करनेवाले देवोंसे अनन्तगुणा बल है, जो एक मुहूर्तमें बारह अंगोंके अर्थ और द्वादशाँगरूप ग्रंथोंके स्मरण और पाठ करनेमें समर्थ हैं, जो अपने पाणिपात्रमें दी गई खीरको अमृतरूपसे परिवर्तित करनेमें या उसे अक्षय बनानेमें समर्थ हैं, जिन्हें आहार और स्थानके विषयमें अक्षीण ऋद्धि प्राप्त है, जिन्होंने सर्वावधिज्ञानसे अशेष पुद्गलद्रव्यका साक्षात्कार कर लिया है, तपके बलसे जिन्होंने उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न कर लिया है, जो सात प्रकारके भयसे रहित हैं, जिन्होंने चार कषायोंका क्षय कर दिया है, जिन्होंने पाँच इन्द्रियोंको जीत लिया हैं, जिन्होंने मन, वचन और कायरूप तीन दंडोंको भग्न कर दिया है, जो छह कायिक जीवोंकी दया पालनेमें तत्पर हैं, जिन्होंने कुलमद आदि आठ मदोंको नष्ट कर दिया है, जो क्षमादि दस धर्मोंमें निरन्तर उद्यत हैं, जो आठ प्रवचन मातृकाओंका अर्थात् पाँच

(१) "तप्तदीप्तादितपसः सुचतुर्बुद्धिविक्रियाः। अक्षीणा[illegible] ॥"–[illegible] ३।४४। प० आ० प० ५३६। "एत्थुववज्जंतीओ गाहाओ–पवुद्धिलद्धि[illegible] रादी। ओहिमणपज्जवेहि य हवंति गणवालया सहिया॥"–ध० आ० प० ५३६। "[illegible] अज्झावया [illegible]। सव्वे दुवालसंगीआ सव्वे चउदसपुव्विणो॥"–आ० नि० गा० ६५७। [illegible] –अ०, आ०।–परिवाडीकरण स०। (३) दिदवरं आ०। (४) तुलना–"[illegible] णीसल्ला आसवरसी वयणसवणवसाया [illegible] णिकायकुडुणिरता सत्तभयविप्पमुक्का अट्ठमयट्ठाणजढा [illegible]" –तिलोयप० २५।१।

वीसपरीसहपसरस्स सच्चालंकारस्स अत्थो कहिओ। तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहमा(म्मा)इरियस्स गंथो वक्खाणिदो। तदो केत्तिएण वि कालेण केवलणाणमुप्पाइय वारसवासाणि केवलविहारेण विहरिय इंदभूदिभडारओ णिव्वुइं संपत्तो १२। तंद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जंबूसामियादीणमणेयाणमाइरियाणं वक्खाणिददुवालसंगो घाइचउक्कक्खएण केवली जादो। तदो सुहम्मभडारयो वि वारहवस्साणि १२ केवलविहारेण विहरिय णिव्वुइं पत्तो। तद्दिवसे चेव जंबूसामिभडारओ विट्ठ (विण्णु) आइरियादीणमणेयाणं वक्खाणिददुवालसंगो केवली जादो। सो वि अट्टत्तीसवासाणि ३८

समिति और तीन गुप्तियोंका परिपालन करते हैं, जिन्होंने क्षुधा आदि बाईस परीषहोंके प्रसारको जीत लिया है और जिनका सत्य ही अलंकार है ऐसे आर्य इन्द्रभूतिके लिये उन महावीर भट्टारकने अर्थका उपदेश दिया। उसके अनन्तर उन गौतम गोत्रमें उत्पन्न हुए इन्द्रभूतिने एक अन्तर्मुहूर्तमें द्वादशाङ्गके अर्थका अवधारण करके उसी समय बारह अंगरूप ग्रन्थोंकी रचना की और गुणोंसे अपने समान श्री सुधर्माचार्यको उसका व्याख्यान किया। तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् इन्द्रभूति भट्टारक केवलज्ञानको उत्पन्न करके और बारह वर्ष तक केवलिविहाररूपसे विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। उसी दिन सुधर्माचार्य, जंबूस्वामी आदि अनेक आचार्योंको द्वादशांगका व्याख्यान करके चार घातिया कर्मोंका क्षयकरके केवली हुए। तदनन्तर सुधर्म भट्टारक, भी बारह वर्ष तक केवलिविहाररूपसे विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। उसी दिन जंबूस्वामी भट्टारक विष्णु आचार्य आदि अनेक ऋषियोंको द्वादशांगका व्याख्यान करके केवली हुए। वे जंबूस्वामी भी अड़तीस वर्ष तक केवलि-

(१)–गोदेण आ०। "विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेण। चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण॥ भावसुदपज्जयेहिं परिणदमइणा य बारसंगाण। चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदो॥" –ति० प० १।७८-७९। "उत्तं च गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि। णामेण इंदभूदि त्ति सीलयं बम्हणुत्तमो। पुणो तेणिंदभूदिणा भाव सुदपज्जयपरिणदेण····"–ध० सं० पृ० ६५। ध० आ० प० ५३७। (२) धवलाया सुधर्माचार्यस्य स्थाने लोहाचार्यस्योल्लेखोऽस्ति। तद्यथा–"तेण गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं।"–ध० सं० पृ० ६५। ध० आ० प० ५३७। "प्रतिपादितं ततस्तच्छ्रुतं समस्तं महात्मना तेन। प्रथितमात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय॥"–इन्द्र० श्लो० ६७। लोहार्यस्य अपरं नाम सुधर्म आसीत्। तथाहि–"तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण य। गणधरसुधम्मणा खलु जम्बूणामस्स णिद्दिट्ठो॥" –जम्बू० प० १०। (३) "जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी। तस्सिं सिद्धे सुद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥"–ति० प० प० ११३। "गोदमसामिम्हि णिव्वुदे संते लोहज्जाइरिओ केवलणाणसंताणहरो जादो।" –ध० आ० प० ५३७। ध० सं० पृ० ६५। "गौतमनामा सोऽपि द्वादशभिर्वत्सरैर्मुक्तः॥ निर्वाणक्षण एवासावापत्केवल सुधर्ममुनिः॥ द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्तिं परामाप"–इन्द्र० श्लो० ७२-७३। "मोक्षं गते महावीरे सुधर्मा गणभृद्वरः। छद्मस्थो द्वादशाब्दानि तस्थौ तीर्थं प्रवर्तयन्॥ ततश्च द्वानवत्यब्दी प्रान्ते सम्प्राप्तकेवलः। अष्टाब्दीं विजहारोर्वीं भव्यसत्त्वान् प्रबोधयन्॥"–परिशिष्ट० ४।५७-५८। विचार०। (४) संपत्तो आ०। (५) "जम्बूनामापि ततस्तन्निर्वृतिसमय एव कैवल्यम्। प्राप्याष्टत्रिंशदिह समा विहृत्याप निर्वाणम्॥" –इन्द्र० श्लो० ७४।

धिदिसेणो विजयो बुद्धिल्लो गंगदेवो धम्मसेणो त्ति एदे एक्कारस जणा दसपुव्वहरा जादा। तेसिं कालो तेसिदिसदवस्साणि १८३। धम्मसेणे भयवंते सग्गं गदे भारहवस्से दसण्हं पुव्वाणं वोच्छेदो जादो। णवरि, णक्खत्ताइरियो जसपालो पांडु धुवसेणो कंसाइरियो चेदि एदे पंच जणा जहाकमेण एक्कारसंगधारिणो चोद्दसण्हं पुव्वाणमेगदेसधारिणो च जादा। एदेसिं कालो वीसुत्तरविसदवासमेत्तो २२०। पुणो एक्कारसंगधारए कंसाइरिए सग्गं गदे एत्थ भरहखेत्ते णत्थि कोइ वि एक्कारसंगधारओ।

§ ६७. णवरि, तक्काले पुरिसोलीकमेण सुहद्दो जसभद्दो जहबाहू लोहज्जो चेदि एदे चत्तारि वि आयारंगधरा सेसंगपुव्वाणमेगदेसधरा य जादा। एदेसिमायारंगधारीणं कालो अट्ठारसुत्तरं वाससदं ११८। पुणो लोहाइरिए सग्गं गदे आयारंगस्स वोच्छेदो जादो।

क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह मुनिजन दस पूर्वोंके धारी हुए। उनका काल एक सौ तिरासी वर्ष होता है। धर्मसेन भगवान्के स्वर्ग चले जाने पर भारतवर्षमें दस पूर्वोंका विच्छेद हो गया। इतनी विशेषता है कि नक्षत्राचार्य, जसपाल, पाँडु, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाँच मुनिजन ग्यारह अंगोंके धारी और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारी हुए। इनका काल दोसौ बीस वर्ष होता है। पुनः ग्यारह अंगोंके धारी कंसाचार्यके स्वर्ग चले जाने पर यहाँ भरतक्षेत्रमें कोई भी आचार्य ग्यारह अंगोंका धारी नहीं रहा।

§ ६७. इतनी विशेषता है कि उसी कालमें पुरुषपरंपराक्रमसे सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहू और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांगके धारी और शेष अंग और पूर्वोंके एकदेशके धारी हुए। आचारांगके धारण करनेवाले इन आचार्योंका काल एकसौ अठारह वर्ष होता है। पुनः लोहाचार्यके स्वर्ग चले जाने पर आचारांगका विच्छेद हो गया। इन समस्त

ताण वासाणि ॥ सव्वेसु वि कालवसा तेसु अदीदेसु भरहखेत्तम्मि। वियसंतभव्वकमला णसंति दसपुव्विदिवसयरा ॥"–ति० प०. प० ११३।

(१)–द्धिलो अ०, (२)–सेणभय–आ०। (३) "जयपाल–"–ध० आ०। (४) "णक्खत्तो जयपालो पंडुसधुवसेणकंसआइरिया। एक्कारसंगधारी पंच इमे वीरतित्थम्मि ॥ दोण्णि सया वीसजुदा वासाणं ताण पिंडपरिमाणं। तेसु अदीदे णत्थि हु भरहे एक्कारसंगधरा ॥"–ति० प० प० ११४। "तदो धम्मसेणभडारए सग्गं गदे णट्ठे दिट्ठिवादुज्जोए एक्कारसण्णमंगाणं दिट्ठिवादेगदेसधारओ णक्खत्ताइरियो जादो। तदो तमेक्कारसंगं सुदणाणं जयपालपांडुधुवसेणकंसो त्ति आइरियपरंपराए वीसुत्तरबेसदवासाइमागतूण वोच्छिण्णं ॥" –ध० आ० प० ५३७। इन्द्र० श्लो० ८२। (५) "पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू। तुरिमो य लोहणामो एदे आयारअंगधरा ॥ सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा। एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥ तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहम्मि। गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसीदी ॥"–ति० प० प० ११४। "तदो कंसाइरिए सग्गं गदे वोच्छिण्णे एक्कारसंगुज्जोवे सुभद्दाइरियो आयारंगस्स सेसंगपुव्वाणमेगदेसस्स य धारओ जादो। तदो तमायारंगं पि जसभद्द-जसबाहु-लोहाइरियपरंपराए अट्ठारहोत्तरवरिससयमागंतूण वोच्छिण्णं।"–ध० आ० प० ५३७। "प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्योऽपरोऽपि जयबाहुः। लोहार्योऽन्त्यश्चैतेऽष्टादशवर्षायुगसंख्या ॥"–इन्द्र० श्लो० ८३।

एदेसिं सव्वेसिं कालाणं समासो छसदवासाणि तेसीदिवासेहि समहियाणि ६८३। वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वाणं गदे पुणो एत्तिएसु वासेसु अइक्कंतेसु एदम्हि भरहखेत्ते सव्वे आइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसधारया जादा।

§ ६८. तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चेव आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो। पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवादपंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुडमहण्णव-पारएण गंथवोच्छेदभएण पवयणवच्छलपरवसीकयहियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदि-सदमेत्तगाहाहि उवसंघारिदं। पुणो ताओ चेव सुत्त-

कालोंका जोड़ ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ तेरासी अधिक छहसौ वर्ष होता है।

विशेषार्थ–तीन केवलियोंके नामोंमें से धवलामें सुधर्माचार्यके स्थानमें लोहार्य नाम आया है। लोहार्य सुधर्माचार्यका ही दूसरा नाम है। जैसा कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी 'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण' इस गाथांशसे प्रकट होता है। तथा दस पूर्वधारियोंके नामोंमें जयसेनके स्थानमें जयाचार्य, नागसेनके स्थानमें नागाचार्य और सिद्धार्थके स्थानमें सिद्धार्थदेव नाम धवलामें आया है। इन नामोंमें विशेष अन्तर नहीं है। मालूम होता है कि प्रारंभके दो नाम जयधवलामें पूरे लिखे गये हैं और अन्तिम नाम धवलामें पूरा लिखा गया है। तथा ग्यारह अंगके नामधारियोंमें जसपालके स्थानमें धवलामें जयपाल नाम आया है। बहुत संभव है कि लिपिदोषसे ऐसा हो गया हो या ये दोनों ही नाम एक आचार्यके रहे हों। इसीप्रकार आचारांगधारी आचार्योंके नामोंमें जहवाहूके स्थानमें धवलामें जसवाहू नाम पाया जाता है। इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें इसी स्थानमें जयबाहू यह नाम पाया जाता है इसलिये यह कहना बहुत कठिन है कि ठीक नाम कौन सा है। लिपिदोषसे भी इसप्रकारकी गड़बड़ी हो जाना बहुत कुछ संभव है। जो भी हो। यहां एक ही आचार्यकी दोनों कृति होनेसे पाठभेदका दिखाना मुख्य प्रयोजन है।

वर्द्धमान् जिनेन्द्रके निर्वाण चले जानेके पश्चात् इतने अर्थात् ६८३ वर्षोंके व्यतीत हो जाने पर इस भरतक्षेत्रमें सब आचार्य सभी अंगों और पूर्वोंके एकदेशके धारी हुए।

§ ६८. उसके पश्चात् अंग और पूर्वोंका एकदेश ही आचार्यपरंपरासे आकर गुणधर आचार्यको प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुसंबन्धी तीसरे कषायप्राभृतरूपी महासमुद्रके पारको प्राप्त श्री गुणधर भट्टारकने, जिनका हृदय प्रवचनके वात्सल्यसे भरा हुआ था सोलह हजार पदप्रमाण इस पेज्जदोसपाहुडका ग्रन्थ विच्छेदके भयसे, केवल एक सौ अस्सी गाथाओंके द्वारा उपसंहार किया।

(१) "सव्वकालसमासो तेयासीदिए अहियछस्सदमेत्तो।"–ध० आ० प० ५३७। (२) समयाहिया–अ०, आ०। (३) "अधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्। विवरणगाथानाञ्च त्र्यधिकं पञ्चाशतमकार्षीत्॥"–इन्द्र० श्लो० १५३।

गाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।

§ ६९. जेणेदे सव्वे वि आइरिया जियचउकसाया भग्गपंचिंदियपसरा चू(चू)रियचउसण्णसेण्णा इड्ढि-रस-सादगारवुम्मुक्का सरीरवदिरित्तासेसपरिग्गहकलंकुत्तिण्णा एक्कसंथाए चेव सयलगंथत्थावहारया अलीयकारणाभावेण अमोहवयणा तेण कारणेणेदे पमाणं। "वक्तृप्रामाण्याद् वचनस्य प्रामाण्यम् ॥३२॥" इति न्यायात् एदेसिमाइरियाणं वक्खाणमुवसंहारो च पमाणमिदि घेत्तव्वं, प्रमाणीभूतपुरुषपंक्तिक्रमायातवचनकलापस्य नाप्रामाण्यम् अतिप्रसंगात्।

विशेषार्थ—ऊपर जो पेज्जपाहुड सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है वह ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुके मूल पेज्जपाहुडका प्रमाण समझना चाहिये। यहाँ पदसे मध्यमपद लेना चाहिये, क्योंकि द्वादशांगकी गणना मध्यमपदोंके द्वारा ही की गई है।

पुनः वे ही सूत्र-गाथाएँ आचार्य परंपरासे आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुईं। पुनः उन दोनों ही आचार्योंके पादमूलमें गुणधर आचार्यके मुखकमलसे निकली हुई उन एक सौ अस्सी गाथाओंके अर्थको भलीप्रकार श्रवण करके प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारकने उनपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की।

§ ६९. इसप्रकार जिसलिये ये सर्व ही आचार्य चारों कषायोंको जीत चुके हैं, पाँचों इन्द्रियोंके प्रसारको नष्ट कर चुके हैं, चारों संज्ञारूपी सेनाको चूरित कर चुके हैं, ऋद्धिगारव, रसगारव और सादगारवसे रहित हैं, शरीरसे अतिरिक्त बाकीके समस्त परिग्रहरूपी कलंकसे मुक्त हैं, एक आसनसे ही सकल ग्रंथोंके अर्थको अवधारण करनेमें समर्थ हैं और असत्यके कारणोंके नहीं रहनेसे मोहरहित वचन बोलते हैं इसकारण ये सब आचार्य प्रमाण हैं। "वक्ताकी प्रमाणतासे वचनकी प्रमाणता होती है॥३२॥" ऐसा न्याय होनेसे इन आचार्योंका व्याख्यान और उनके द्वारा उपसंहार किया गया ग्रन्थ प्रमाण है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि प्रामाणिक पुरुषपरंपराक्रमसे आया हुआ वचनसमुदाय अप्रमाण नहीं हो सकता है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायगा।

(१)–माणेओ-अ०, आ०, स०। (२) इन्द्र० श्लो० १५४। (३) "तेन ततो यतिपतिना तद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण। रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णिसूत्राणि॥"–इन्द्र० श्लो० १५६। (४) इद्धि–आ०, इद्धी–अ०। "गारवाः परिग्रहगताः तीव्राभिलाषाः।"–मूलारा० द० गा० ११२१। "ऋद्धित्यागासहता ऋद्धिगौरवम्, अभिमतरसात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवम्। निकामभोजने निकामशयनादौ वा आसक्तिः सातगौरवम्।"–मूलारा० विजयो० गा० ६१३। "इड्ढीगारवे रसगारवे सातागारवे=तत्र ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया आचार्यत्वादिलक्षणया वा अभिमानद्वारेण गौरवं ऋद्धिगौरवं ' रसो रसनेन्द्रियार्थो मधुरादिः गातं सुखमिति। अथवा ऋद्ध्यादिष गौरत्नमादर इति।"–स्था०, टी० ३।४।२१७। उत्तरा०, टी० २७।९। (५)–णेदं प अ०, आ०। (६) "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।"–न्यायसू० २।१।६८। "वक्तृप्रामाण्याद्विना न वचनप्रामाण्यसिद्धिः।"–मूलारा० विजयो० गा० ७५७।

§ ७०. कथं संखापमाणस्स एत्थ संभवो ? ण; वण्णे पदाणि पदत्थे च अस्सिदूण। तं जहा, सुदणाणे पादेक्कवण्णसमूहो चउसट्ठी ६४। एदेहिंतो उप्पण्णसंजोगक्खराणि जत्तियाणि तत्तियमेत्ताणि सयलसुदणाणक्खराणि। किं पमाणं तेसिं ? एयलक्ख-चउरासीदिसहस्सं-चत्तारिसद-सत्तसट्ठिकोडाकोडीओ चोदालीसलक्ख-सत्तसहस्स-तिण्णिसय-सत्तरिकोडीओ पंचाणवुइलक्ख-एक्कावण्णसहस्स-छस्सय-पण्णारसमेत्ताणि सयलसुदणाणक्खराणि। उत्तं च–

"पंचेक्क छक्क एक्क य दु-पंच णव सुण्ण सत्त तिय सत्त।
सुण्ण दु-चउक्क सत्त छ चदु चदु अट्ठेक्क सुदवण्णा॥२३॥"

१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५।

§ ७०. शंका–श्रुतमें संख्या प्रमाण कैसे संभव है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि द्रव्यश्रुतसंबन्धी वर्ण, पद और वर्ण तथा पदोंके द्वारा कहे गये पदार्थोंका आश्रय करके श्रुतमें संख्याप्रमाण संभव है। आगे उसीका स्पष्टीकरण करते हैं–

श्रुतज्ञानमें असंयोगी समस्त वर्णोंका समुदाय चोंसठ है। इनके निमित्तसे जितने संयोगी अक्षर उत्पन्न होते हैं असंयोगी वर्णसहित उतने श्रुतज्ञानके अक्षर हैं।

शंका–उन अक्षरोंका प्रमाण कितना है ?

समाधान–एक लाख चौरासी हजार चारसौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी, चवालीस लाख सात हजार तीनसौ सत्तर करोड़, पंचानवे लाख, इक्कावन हजार, छहसौ पन्द्रह सकल श्रुतज्ञानके अक्षर हैं। कहा भी है–

"पाँच, एक, छह, एक, दो वार पाँच, नौ, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, दो वार चार, सात, छह, चार, चार, आठ और एक इन अंकोंको वामक्रमसे रखने पर अर्थात् १८४४६७, ४४०७३७०, ९५५१६१५ इतने श्रुतज्ञानके अक्षर हैं॥२३॥"

विशेषार्थ–अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ ये नौ स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस प्रकारके होते हैं। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग इसप्रकार पच्चीस तथा य, र, ल, व, श, ष, स और ह ये आठ इसप्रकार कुल मिलकर तेतीस व्यञ्जन

(१) "काणि चउसट्ठि अक्खराइं ? वुच्चदे–कादिहकारांता तेत्तीसवण्णा, विसज्जणिज्जजिब्भामूलियाणुस्सारुवधुमाणिया चत्तारि, सरा सत्तावीसा हरसदीहपुधभेएण एक्केक्कम्हि सरे तिण्णं सराणमुवलंभादो। एदे सव्वे वि वण्णा चउसट्ठी हवंति।"–ध० आ० प० ५४६। "तेत्तीस वेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया। चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ॥"–गो० जीव० गा० ३५२। (२) "चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा। रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सऽक्खरा होंति॥"–गो० जीव० गा० ३५३। (३) "सहस्सचदुसद···"–ध० आ० प० ५४६। (४)–णवइ अ०, आ०। (५) ध० आ० प० ५४६। (६) "एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्ण सत्त तियसत्ता। सुण्णं णव णव पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च॥"–गो० जीव० गा० ३५४। "पण दस सोलस पण पण णव णभ सग तिण्णि चेव सगं। सुण्णं चउ चउ सगछचउचउअट्ठेक्कसव्वसुदवण्णा॥"–अंगप० गा० १४। हरि० १०।१३९-१४०।

§७१. संपहि सुदणाणस्स पदसंखा वुच्चदे। तं जहा, एत्थ पमाणपदं अत्थपदं मज्झिमपदं चेदि तिविहं पदं होदि। तत्थ पमाणपदं अट्ठक्खरणिप्पण्णं, जहा, "धम्मो मंगल-

होते हैं। तथा अं, अः, ≍क और ≍प ये चार योगवाह होते हैं। इसप्रकार सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यञ्जन और चार योगवाह सब मिलकर चौंसठ अक्षर होते हैं। इनके एक संयोगी अर्थात् प्रत्येक, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी आदि चौंसठ संयोगी अक्षरोंका प्रमाण लाने पर कुल द्रव्य श्रुतके अक्षरोंका प्रमाण ऊपर कही गई वीस संख्याप्रमाण होता है। इन संयोगी भंगोंकी संख्याके उत्पन्न करनेका नियम निम्नप्रकार है–

चौंसठसे लेकर एक तक प्रतिलोम क्रमसे भाज्यराशि स्थापित करो और उसके नीचे एकसे लेकर चौंसठ तक अनुलोम क्रमसे भागहार राशि स्थापित करो। यहां भाज्यको अंश और भागहारको हार कहते हैं। अनन्तर जितने संयोगी भंग निकालने हों वहां तकके अंशोंको परस्पर गुणा करके और हारोंको परस्पर गुणा करके लब्ध अंशोंके प्रमाणमें लब्ध हारोंके प्रमाणका भाग देने पर उतने संयोगी भंग आ जाते हैं। यथा–एक संयोगी भंग निकालने पर चौंसठ अंशमें एक हारका भाग देने पर चौंसठ एक संयोगी भंग आ जाते हैं। द्विसंयोगी भंग निकालने पर ६४×६३=४०३२ में १×२=२ का भाग देने पर २०१६ द्विसंयोगी भंग आ जाते हैं। इसीप्रकार आगे भी समझना चाहिये। यथा–

६४ ६३ ६२ ६१ ६० ५९ ५८ ५७ ५६ ५५ ५४ ५३ से १ तक।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ से ६४ तक।

ऊपर जो वीस अंक प्रमाण कुल अक्षर कह आये हैं उन्हें एक साथ लानेका नियम यह है कि १ १ १ १ इसप्रकार चौंसठ संख्याका विरलन करके और विरलित राशिके प्रत्येक एक पर देयरूपसे २ इस संख्याको देकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमेंसे एक कम कर देने पर वीस अंकप्रमाण समस्त द्रव्यश्रुतके अक्षर आ जाते हैं।

विरलन राशि ६४; देयराशि २;

२×२×२×२×२×२×२=१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ इसमेंसे १ अंक कम करने पर द्रव्यश्रुतके अक्षर होते हैं।

१ १ १ १ १ १ १=६४ वार

§७१. अब श्रुतज्ञानके पदोंकी संख्या कहते हैं। वह इसप्रकार है–प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद इसप्रकार पद तीन प्रकारका है। उनमेंसे जो आठ अक्षरोंसे बनता है वह प्रमाणपद कहा जाता है। जैसे, "धम्मो मंगलमुक्कट्ठं" इत्यादि। अर्थात् धर्म उत्कृष्ट मंगल

(१) "पदमर्थमदं ज्ञेयं प्रमाणपदमित्यपि। मध्यमं पदमित्येवं त्रिविधं तु पदं स्थितम्॥"–हरि० १०।२२। "द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम्"–हरि० १०।२३। (२) "छंदपमाणपवद्धं पमाणपयमेत्थ मुणह जं तं खु॥" –अंगप० गा० ४। "अष्टाक्षरादिसंख्यया निष्पन्नोऽक्षरसमूहः प्रमाणपदम्। नमः श्रीवर्धमानायेत्यादि॥" –गो० जीव० जी० गा० ३३६।

§७२. सोलहसयचोत्तीसकोडि-तियासीदिलक्ख-अट्ठहत्तरिसय-अट्ठासीदिअक्खरेहि एगं मज्झिमपदं होदि । उत्तं च–

"सोलहसयचोत्तीसं कोडीओ तियअसीदिलक्खं च ।
सत्तसहस्सट्ठसदं अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥३७॥"

१६३४८३०७८८८ ।

एदेण पुव्वंगाणं पदसंखा परूविज्जदे । उत्तं च–

"तिविहं पदं तु भणिदं अत्थपद-पमाण-मज्झिमपदं ति ।
मज्झिमपदेण भणिदा पुव्वंगाणं पदविभागो ॥३८॥"

§७३. मज्झिमपदक्खरेहि सयलसुदणाणसंजोगक्खरेसु ओवट्टिदेसु बारसयकोडि-तेयासीदिलक्ख-अट्ठवंचाससहस्स-पंच सयलसुदणाणपदाणि होंति । उ

है अर्थात् उसका उच्चारण करना व्यर्थ है । इसलिये आचार्योंका अर्थालाप पद कहते है अर्थात् आचार्य विवक्षित अर्थका कथन करनेकेलिये जितने शब्द उच्चारण करते हैं समूहका नाम अर्थपद है ॥३६॥"

§ ७२. सोलहसौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख अटत्तरसौ अठासी अक्षरोंका मध्यमपद होता है । कहा भी है–

"मध्यमपदमें सोलहसौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं ॥३७॥"

इस मध्यमपदके द्वारा पूर्व और अंगोंके पदोंकी संख्याका प्ररूपण किया जाता है । कहा भी है–

"अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद इसप्रकार पद तीन प्रकारका कहा गया है । उनमेंसे मध्यमपदके द्वारा पूर्व और अङ्गोंके पदोंके विभागका कथन किया है ॥३८॥"

§ ७३. मध्यमपदके अक्षरोंके द्वारा श्रुतज्ञानके संपूर्ण संयोगी अक्षरोंके अपवर्तित अर्थात् भाजित करने पर सकल श्रुतज्ञानके एकसौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार पांच पद होते हैं । कहा भी है–

(१) "षोडशशतं चतुस्त्रिंशत् कोटीनां त्र्यशीतिलक्षाणि । शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥" –सं० श्रुत० श्लो०२३। "सोलससदचोत्तीसकोडि-तेसीदिलक्ख-अट्ठहत्तरिसद-अट्ठासीदिसंजोगक्खरेहि मज्झिमपदमेगं होदि ।"–ध० आ० प० ५४६ । (२) गो० जीव० गा० ३३६ । "सोलससयचोत्तीसा कोडी तियसीदिलक्खयं जत्थ । सत्तसहस्सट्ठसयाऽडसीदऽपुणरुत्तपदवण्णा ॥"–अंगप० गा० ५ । (३) "पूर्वाङ्गपदसंख्या स्यात् मध्यमेन पदेन सा ।"–हरि० १०।२५ । ध० आ० प० ५४६ । "मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।"–गो० जीव० गा० ३५५ । अंगप० गा० २ । (४)–तियासीदि–अ०, आ० ।–तीयासीदि– स० । (५) ध० आ० प० ५४६ । "कोटीनां द्वादशशतमष्टापंचाशतं सहस्राणाम् । लक्षत्र्यशीतिमेव च पंच च वंदे श्रुतपदानि ॥"–सं० श्रुत० श्लो० २२ । हरि० १०।१२६ ।

"अट्ठावण्णसहस्सा

तेसीदिसदसहस्सं प॰.

११२८३५८००५ ।

§ ७४. अंवसेसक्खरपमाणमट्ठकोडीओ ए॰ . . . . . . रि-

सँमहियसदमेत्तं होदि ८०१०८१७५ । पुणो एद॰

सलक्ख-तिण्णिसहस्स-तिण्णिसयं सासीदं च चोद्द॰

होदि एगक्खरूणगंथद्धं च २५०३३८०, एसो खंडगंथो ॰.

§ ७५. आयारंगे अट्ठारहपदसहस्साणि १८००० । सूदयदे छत्तीसपदसहस्साणि ३६००० । ट्ठाणम्मि बादालीसपदसहस्साणि ४२००० । समवायम्मि चउसट्ठि-सहस्साहियएगलक्खमेत्तपदाणि १६४००० । वियाहपण्णत्तीए अट्ठावीससहस्साहिय-

"सकल श्रुतज्ञानमें पदोंकी संख्या छप्पनके दुगने अर्थात् एकसौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच ११२८३५८००५ पदप्रमाण है ॥३१॥"

§ ७४. बारह अंगोंमें निबद्ध अक्षरोंसे अतिरिक्त अक्षरोंका प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर ८०१०८१७५ है । अनन्तर इन ८०१०८१७५ अक्षरोंको बत्तीस अक्षरोंसे भाजित करने पर चौदह प्रकीर्णकोंके श्लोकोंका प्रमाण पच्चीस लाख तीन हजार तीनसौ अस्सी होता है और एक श्लोकके प्रमाणके आधेमेंसे एक अक्षर कम कर देने पर जितना शेष रहे उतना होता है । गिनतीमें चौदह अङ्गबाह्योंमें २५०३३८० पूर्ण श्लोक और $\frac{१५}{३२}$ खण्ड श्लोक समझना चाहिये ।

§ ७५. आचाराङ्गमें अठारह हजार १८००० पद हैं । सूत्रकृताङ्गमें छत्तीस हजार ३६००० पद हैं । स्थानाङ्गमें बयालीस हजार ४२००० पद हैं । समवायाङ्गमें एक लाख चोंसठ हजार १६४००० पद हैं । व्याख्याप्रज्ञप्तिमें दो लाख अट्ठाईस हजार २२८००० पद

(१) "बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं । अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ॥" –गो० जीव० गा० ३५० । ध० आ० प० ५४६ । (२) "जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा ।"–गो० जीव० गा० ३६० ॥ "पण्णत्तरि वण्णाणं सयं सहस्साणि होदि अट्ठेव । इगिलक्खमट्ठकोडी पइण्णयाणं पमाणं हु ॥" –अंगप० १३ ॥ (३)–समाहियासद–अ०, आ० । (४) "पंचविंशतिलक्षाश्च त्रयस्त्रिंशत्शतानि च । अशीतिः श्लोकसंख्येयं वर्णाः पंचदशात्र च ॥"–हरि० १०।१२८। (५) एतेषां पदसंख्या हरि० १०।२७–४६, गो० जीव० ३५७–३५९, अंगप० गा० १५, २०, २३, २९, ३६, ३९, ४५, ४८, ५२, ५६, ६८, ७२, इत्यादिषु द्रष्टव्याः । "अट्ठरसपयसहस्सा आयारे दुगुणदुगणसेसेसु ।"–अ० रा० (अंगपविट्ठ सद्द) विचार० गा० ३४६। "आयारे अट्ठारस पयसहस्साणि (४५) सूअगडे छत्तीसं पयसहस्साणि (४६) ठाणे बावत्तरि पयसहस्सा (४७) समवाए चोआले सयसहस्से (४८) विवाहे दो लक्खा अट्ठासीइं पयसहस्साइं (४९) नायाधम्मकहासु संखेज्जा पयसहस्सा (५०) उवासगदसासु संखेज्जा पयसहस्सा (५१) अंतगडदसासु संखेज्जा पयसहस्सा (५२) अणुत्तरोववाइअदसासु संखेज्जाइं पयसहस्साइं (५३) पण्हवागरणेसु संखेज्जाइं पयसहस्साइं (५४) विवागसुए संखिज्जाइं पयसहस्साइं (५५) दिट्ठिवाए संखेज्जाइं पयसहस्साइं (५६) "–नन्दी० ।

वेलक्खमेत्तपदाणि २२८०००। णाहधम्मकहाए छप्पण्णसहस्साहियपंचलक्खमेत्तपदाणि ५५६०००। उवासयज्झयणम्मि सत्तरिसहस्साहियएक्कारसलक्खपदाणि ११७००००। अंतयडदसाए अट्ठावीससहस्साहियतेवीसलक्खपदाणि २३२८०००। अणुत्तरोववादियदसाए चोदालीससहस्साहियबाणउदिलक्खपदाणि ९२४४०००। पण्हवायरणम्मि सोलससहस्साहियतिणउइलक्खपदाणि ९३१६०००। विवागसुत्तम्मि चउरासीदिलक्खाहियएक्ककोडिमेत्तपदाणि १८४०००००। एदेसिमेक्कारसण्हं पि अंगाणं पदसमुदायपमाणं चत्तारि कोडीओ पण्णारस लक्खा वे सहस्साणि च होदि ४१५०२०००। दिट्ठिवादे अट्ठुत्तरसदकोडीओ अट्ठसट्ठिलक्खपंचुत्तरछप्पण्णसहस्समेत्तपदाणि १०८६८५६००५।

§ ७६. एदस्स दिट्ठिवादस्स परियम्मं सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय-चूलिया चेदि पंच अत्थाहियारा। तत्थ परियम्मम्मि एक्ककोडि-एगासीदिलक्ख-पंचसहस्समेत्तपदाणि १८१०५०००। एत्थ परियम्मे चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि पंच अत्थाहियारा। तत्थ चंदपण्णत्तीए पंचसहस्साहियछत्तीसलक्खपदाणि ३६०५०००। सूरपण्णत्तीए तिण्णिसहस्साहियपंचलक्खपदाणि ५०३०००। जंबूदीवपण्णत्तीए पंचवीससहस्साहियतिण्णिलक्खमेत्तपदाणि ३२५०००। दीवसायरपण्णत्तीए छत्तीससहस्साहियबावण्णलक्खपदाणि ५२३६०००। वियाहपण्णत्तीए छत्तीससहस्साहियचुलसीदिलक्खपदाणि ८४३६०००।

हैं। नाथधर्मकथामें पाँच लाख छप्पन हजार ५५६००० पद हैं। उपासकाध्ययन अंगमें ग्यारह लाख सत्तर हजार ११७०००० पद हैं। अन्तःकृद्दशाङ्गमें तेईस लाख अट्ठाईस हजार २३२८००० पद हैं। अनुत्तरौपपादिकदशाङ्गमें बानवे लाख चवालीस हजार ९२४४००० पद हैं। प्रश्नव्याकरण अङ्गमें तिरानवे लाख सोलह हजार ९३१६००० पद हैं। विपाकसूत्राङ्गमें एक करोड़ चौरासी लाख १८४००००० पद हैं। इन ग्यारह ही अंगोंके पदोंके समुदायका प्रमाण चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार ४१५०२००० होता है। दृष्टिवाद अंगमें एकसौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच १०८६८५६००५ पद हैं।

§ ७६. इस दृष्टिवाद अंगके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे परिकर्ममें एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार १८१०५००० पद हैं। इस परिकर्ममें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाँच अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्तिमें छत्तीस लाख पाँच हजार ३६०-५००० पद हैं। सूर्यप्रज्ञप्तिमें पाँच लाख तीन हजार ५०३००० पद हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिमें तीन लाख पच्चीस हजार ३२५००० पद हैं। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें बावन लाख छत्तीस हजार

(१) एतेषां पदसंख्याः हरि० १०।६३-७०। श्लोकेषु गो० जीव० ३६२, ३६३ गाथयोः अंगपण्णत्तौ (चतुर्दशपूर्वाङ्गप्रज्ञप्तौ) ३, ४, ७, ८, ११, १४, १५, ३७ गाथासु च द्रष्टव्याः।

§ ७७. सुत्तम्मि अट्ठासीदिलक्खपदाणि ८८००००० । पढमाणियोगम्मि पंचसहस्साणि ५०००। पुव्वगयम्मि पंचाणउदिकोडि-पंचासलक्ख-पंच पदाणि होंति ९५५००००००५ । चूलियाए दसकोडि-एगूणवण्णलक्ख-छादालसहस्समेत्तपदाणि १०४९४६००० ।

§ ७८. तिस्से चूलियाए जलगया थलगया मायागया रूवगया आयासगया चेदि पंच अत्थाहियारा। तत्थ जलगयाए बेकोडि-णवलक्ख-एगूणणउदिसहस्स-बेसदमेत्तपदाणि २०९८९२०० । थलगयाए एत्तियाणि चेव पदाणि होंति २०९८९२०० । मायागयाए वि एत्तियाणि चेव २०९८९२०० । रूवगयाए वि एत्तियाणि चेव २०९८९२०० । आयासगदाए एत्तियाणि होंति २०९८९२०० ।

§ ७९. पुव्वगयस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तत्थ उप्पायपुव्वम्मि एक्ककोडिमेत्तपदाणि १०००००००। अग्गेणियम्मि छण्णउदिलक्खपदाणि ९६०००००। विरियाणुपवादे सत्तरिलक्खपदाणि ७००००००। अत्थिणत्थिपवादे सट्ठिलक्खपदाणि ६००००००। णाणपवादे एगूणकोडिपदाणि ९९९९९९९। सच्चपवादे छप्पयाहियएगकोडिमेत्तपदाणि १००००००६। आदपवादे छव्वीसकोडिपदाणि २६००००००००। कम्म-

५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें चौरासी लाख छत्तीस हजार ८४३६००० पद हैं।

§ ७७. दृष्टिवादके सूत्र नामक दूसरे अर्थाधिकारमें अठासी लाख ८८००००० पद हैं। दृष्टिवादके तीसरे अर्थाधिकार प्रथमानुयोगमें पाँच हजार ५००० पद हैं। दृष्टिवादके चौथे अर्थाधिकार पूर्वगतमें पंचानवे करोड़ पचास लाख और पाँच ९५५००००००५ पद हैं। दृष्टिवादके पाँचवे अर्थाधिकार चूलिकामें दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार १०४९४६००० पद हैं।

§ ७८. उस चूलिकाके जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता ये पाँच अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे जलगतामें दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ २०९८९२०० पद हैं। स्थलगतामें जलगताके समान २०९८९२०० ही पद होते हैं। मायागतामें भी इतने ही अर्थात् २०९८९२०० पद होते हैं। रूपगतामें भी इतने ही अर्थात् २०९८९२०० पद होते हैं। आकाशगतामें भी इतने ही अर्थात् २०९८९२०० पद होते हैं।

§ ७९. पूर्वगतके चौदह अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे उत्पादपूर्वमें केवल एक करोड़ १०००००००पद हैं। अग्रायणी पूर्वमें छयानवे लाख ९६००००० पद हैं। वीर्यानुप्रवाद पूर्वमें सत्तर लाख ७०००००० पद हैं। अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख ६०००००० पद हैं। ज्ञानप्रवाद पूर्वमें एक कम एक करोड़ ९९९९९९९ पद हैं। सत्यप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ छह १००००००६ पद हैं। आत्मप्रवाद पूर्वमें छब्बीस करोड़ २६०००००००० पद हैं।

(१) एतासां पदसंख्याः हरि० १०।१२४। श्लोके गो० जीव० ३६३ गाथायां अंगपण्णत्तौ (चूलिकाप्रकीर्णकप्रज्ञप्तौ) २, ४, ९ गाथासु द्रष्टव्याः । (२) एतेषां पदसंख्याः हरि० १०।१२१ श्लोके गो० जीव०

पवादे असीदिलक्खाहियएक्ककोडिपदाणि १८०००००० । पच्चक्खाणपुव्वम्मि चउरासीदिलक्खपदाणि ८४००००० । विज्जाणुपवादम्मि दसलक्खाहियएक्ककोडिमेत्तपदाणि ११०००००० । कल्लाणपुव्वम्मि छव्वीसकोडिपदाणि २६०००००००। पाणावायम्मि तेरसकोडिमेत्तपदाणि १३०००००००। किरियाविसालम्मि णवकोडिमेत्तपदाणि ९००००००००। लोगबिंदुसारम्मि बारहकोडि-पंचासलक्खमेत्तपदाणि १२५०००००० । एवं सामण्णेण पदपमाणपरूवणा कदा ।

§ ८०. संपहि पयदस्स कसायपाहुडस्स पदाणं पमाणं वुच्चदे । तं जहा, कसायपाहुडे सोलसपदसहस्साणि १६००० । एदस्स उवसंहारगाहाओ गुणहरमुहकमलविणिग्गयाओ तेत्तीसाहिय-विसदमेत्तीओ २३३ । जयिवसहमुहारविंदविणिग्गयचुण्णिसुत्तं पमाणपदसमुब्भूदगंथपमाणेण छस्सहस्समेत्तं ६००० । अंगपुव्वाणि पादेक्कमक्खरपद-संवाद-पडिवत्तीहि संखेज्जाणि, अत्थदो पुण सव्वमणंतं, अण्णहा संखेज्जपदेहि अणंतत्थपरूवणाणुववत्तीदो । पदजणिदं णाणं सुदणाणपमाणं णाम । एवं पमाणपरूवणा गदा ।

* वत्तव्वदा तिविहा ।

कर्मप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ अस्सी लाख १८०००००० पद हैं । प्रत्याख्यान पूर्वमें चौरासी लाख ८४००००० पद हैं । विद्यानुप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ दस लाख ११०००००० पद हैं । कल्याणप्रवाद पूर्वमें छव्वीस करोड़ २६००००००० पद हैं । प्राणावाय पूर्वमें तेरह करोड़ १३००००००० पद हैं । क्रियाविशाल पूर्वमें भी नौ करोड़ ९०००००००० पद हैं । लोकविन्दुसार पूर्वमें बारह करोड़ पचास लाख १२५०००००० पद हैं । इसप्रकार सामान्यरूपसे पदोंके प्रमाणका प्ररूपण किया ।

§ ८०. अब प्रकृत कषायप्राभृतके पदोंका प्रमाण कहते हैं। वह इसप्रकार है—कषायप्राभृतमें सोलह हजार १६००० पद हैं। इस कषायप्राभृतकी गुणधर आचार्यके मुखकमलसे निकली हुई उपसंहाररूप गाथाएँ दोसौ तेतीस २३३ हैं। यतिवृषभ आचार्यके मुखारविन्दसे निकले हुए चूर्णिसूत्र, प्रमाणपदसे उत्पन्न हुए ग्रन्थके प्रमाणसे, अर्थात् ३२ अक्षरके एक श्लोकके प्रमाणसे, छह हजार ६००० प्रमाण हैं ।

प्रत्येक अङ्ग और पूर्व अक्षर, पद, संघात और प्रतिपत्तिकी अपेक्षा संख्यात हैं—परन्तु अर्थकी अपेक्षा सभी अनन्त हैं। यदि अर्थकी अपेक्षा सभी अनन्त न माने जायँ तो संख्यात पदोंके द्वारा अनन्त अर्थोंका कथन नहीं बन सकता है । तथा इन पदोंसे जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञानप्रमाण है । इसप्रकार प्रमाणकी प्ररूपणा समाप्त हुई ।

* **वक्तव्यता तीन प्रकारकी है ।**

३६५, ३६६ गाथयोः अंगपण्णत्तौ (चतुर्दशपूर्वाङ्गप्रज्ञप्तौ) च द्रष्टव्याः ।

(१) "से किं तं वत्तव्वया ? तिविहा पण्णत्ता, तं जहा ससमयवत्तव्वया परसमयवत्तव्वया ससमयपरसमयवत्तव्वया ।"–अनु० सू० १४७ । "अज्झयणाइसु सुत्तप्पगरिण सुत्तागारेण वा इच्छा परूविज्जंति

§ ८१. एदस्स सुत्तस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा, ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि तिविहा वत्तव्वदा। तत्थ सुदणाणे तदुभयवत्तव्वदा; सुणय-दुण्णयाण दोण्हं पि परूवणाए तत्थ संभवादो। जमणंगपविट्ठसुदणाणं तं ससमयं चेव परूवेदि। तं जहा, सामाइयं चउव्विहं, दव्वसामाइयं खेत्तसामाइयं कालसामा-

§ ८१. इस सूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–

स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता इसप्रकार वक्तव्यता तीन प्रकारकी है। उनमें से श्रुतज्ञानमें तदुभयवक्तव्यता समझना चाहिये, क्योंकि श्रुत-ज्ञानमें सुनय और दुर्नय इन दोनोंकी ही प्ररूपणा संभव है।

उसमें भी जो अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान है वह स्वसमयका ही प्ररूपण करता है। आगे उसीका स्पष्टीकरण करते हैं–

द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक और भावसामायिकके भेदसे सामायिक

सा वत्तव्वता।" "तत्राध्ययनादिषु सूत्रप्रकारेण सूत्रविभागेन देशनियतगंधनं वक्तव्यता।"–अनु० चू० हरि०।

(१) "जम्हि सत्थम्हि ससमयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा।"–ध० सं० पृ० ८२। "जत्थ णं ससमए आघविज्जइ पण्णविज्जइ परूविज्जइ दंसिज्जइ निदंसिज्जइ उवदंसिज्जइ से तं ससमयवत्तव्वयाय = अध्ययने सूत्रे धर्मास्तिकायद्रव्यादीनां आत्मसमयस्वरूपेण प्ररूपणा क्रियते यथा गतिलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यादि सा स्वसमयवक्तव्यता।"–अनु०, चू०, सू० १४७। "स्वसिद्धान्तः आख्यायते यथा पंचास्तिकायाः। तद्यथा धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा प्रज्ञाप्यते यथा गतिलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा प्ररूप्यते यथाऽसौ असंख्येयप्रदेशात्मकादिभिः, तथा दर्श्यते मत्स्यानां जलमित्यादि, तथा निदर्श्यते यथा तथैवैषोऽपि जीवपुद्गलानामिति··स्वसमयवक्तव्यता।"–अनु० हरि०। (२) "परसमयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्तव्वयं तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम।"–ध० सं० पृ० ८२। "जत्थ णं परसमए आघविज्जइ जाव उवदंसिज्जइ से तं परसमयवत्तव्वया। = यत्र पुनरध्ययनादिषु जीवद्रव्यादीनाम् एकान्तग्राहेण नित्यत्वमनित्यत्वं वा परसमयस्वरूपेण प्ररूपणा क्रियते।"–अनु०, चू०, हरि०, सू० १४७। (३) "जत्थ दो वि परूवेऊण परसमयो दूसिज्जदि ससमयो थाविज्जदि सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि।"–ध० सं० पृ० ८२। "जत्थ णं ससमए परसमए आघविज्जइ जाव उवदंसिज्जइ से तं ससमयपरसमयवत्तव्वया।"–अनु०, चू०, हरि०, सू० १४७। (४) "समेकीभावे वर्तते। तद्यथा–संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।"–सर्वार्थ० ७।२१। "तत्र सममेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयमहं ज्ञाता द्रष्टा चेति आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः, आत्मनः एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकत्वसंभवात्। अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकं नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं वा सामायिकमित्यर्थः।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चूलिकाप्रकीर्णकप्रज्ञप्तौ) गा० ११-१२। "आया खलु सामइअं पच्चक्खायं तओ हवइ आया। तं खलु पच्चक्खाणं आवाए सव्वदव्वाणं॥ सावज्जजोगविरओ तिगुत्तो छसु संजओ। उवउत्तो जयमाणो आया सामाइअं होइ॥"–आ० नि० ७९०, १४९। "रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं आउ त्ति गमणं ति। समयागमो समाओ स एव सामाइयं होइ॥ सम्ममओ समउ त्ति य सम्मं गमणं ति सव्वभूएसु। सो जस्स तं समइयं जम्मि य

इयं भावसामाइयं चेदि । तत्थ सचित्ताचित्तदव्वेसु रागदोसणिरोहो दव्वसामाइयं णाम । णयर-खेट-कव्वड-मडंब-पट्टण-दोणमुह-जणवदादिसु रागदोसणिरोहो सगावासविसयसंपरायणिरोहो वा खेत्तसामाइयं णाम । छ-उदुविसयसंपरायणिरोहो कालसामाइयं । णिरुद्धासेसकसायस्स वंतमिच्छत्तस्स णयणिउणस्स छदव्वविसओ बोहो बाहविवज्जिओ अक्खलिओ भावसामाइयं णाम । तीसु वि संज्झासु पक्खमास-

चार प्रकारकी है । उनमेंसे सचित्त और अचित्त द्रव्योंमें राग और द्वेषका निरोध करना द्रव्यसामायिक है । ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडंब, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदिमें राग और द्वेषका निरोध करना अथवा अपने निवास स्थानमें संपराय अर्थात् कषायका निरोध करना क्षेत्रसामायिक है । वसन्त आदि छह ऋतुविषयक कषायका निरोध करना अर्थात् किसी ऋतुमें रागद्वेषका न करना कालसामायिक है । जिसने समस्त कषायोंका निरोध कर दिया है, तथा मिथ्यात्वका वमन कर दिया है और जो नयोंमें निपुण है ऐसे पुरुषको बाधारहित और अस्खलित जो छह द्रव्यविषयक ज्ञान होता है वह भावसामायिक

भेओवयारेण ॥ रागाइरहो सम्मं वयणं वाओऽभिहाणमुत्ति त्ति । रागाइरहियवाओ सम्मावाओ त्ति सामइयं ॥ अप्पक्खरं समासो अहवाऽऽसोऽसण महासणं सव्वा । सम्म समस्स वासो होइ समासो त्ति सामइयं ॥ संखिवणं संखेवो सो जं थोवक्खरं महत्थं च । सामइयं संखेवो चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति ॥"–वि० भा० २७९२-२७९६ ।

(१) "णामं ठवणा दव्वे खेत्ते काले व तहेव भावे य । सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विहो णेओ ॥" –मूलाचा० ७।१७ । "तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन ।"–मूलारा० विजयो० गा० ११६ । "तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्षड्विधम् ।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८ । अनगार० ८।१८ । (२)–दोसणीरोहो अ०, आ० । (३) "द्रव्यसामायिकं सुवर्णमृत्तिकादिद्रव्येषु रम्यारम्येषु समदर्शित्वम् ।"–अनगार० टी० ८।१९ । "इष्टानिष्टेषु चेतनाचेतनद्रव्येषु रागद्वेषनिवृत्तिः सामायिकशास्त्रानुपयुक्तज्ञायकः तच्छरीरादिर्वा द्रव्यसामायिकम् ।"–गो० जीव० जी० गा० ३६७ । अंगप० चूलि० पृ० ३०५ । (४) "चतुर्गोपुरान्वितं नगरं । सरित्पर्वतावरुद्धं खेटं नाम । पंचशतग्रामपरिवारितं मडंबं नाम । गावा (नावा) पादप्रचारेण च यत्र गमनं तत्पत्तनं नाम । समुद्रनिम्नगासमीपस्थमवतरन्नौनिवहं द्रोणमुखं नाम । देसस्स एगदेसो जणवओ णाम ।"–ध० आ० प० ८८८, ८८९ । "गम्मो गमणिज्जो वा कराण गसए व बुद्धादी । नत्थेत्थ करो नगरं, खेडं पुण होइ धूलिपागारं । कव्वडगं तु कुनगरं मडंबगं सव्वतो छिन्नं ॥ जलपट्टणं च थलपट्टणं च इति पट्टणं दुविहं । अयमाइ आगारा खलु दोणमुहं जलथलपहेणं ॥"–कल्पभा० गा० १०८८–१०९० । (५)–दोणामुह–ता० । (६)–णीरोहो अ०, आ० । (७) सगवास–अ०, आ० । (८) "क्षेत्रसामायिकम् आरामकण्टकवनादिषु शुभाशुभक्षेत्रेषु समभावः ।"–अनगार० टी० ८।१९ । गो० जीव० जी० गा० ३६७ । अंगप० (चूलि०) पृ० ३०६ । (९) "वसन्तग्रीष्मादिषु ऋतुषु दिनरात्रिसितासितपक्षादिषु च यथास्वं चार्वचारुषु रागद्वेषानुद्भवः ।"–अनगार० टी० ८।१९ । गो० जीव०, जी० गा० ३६७ । अंगप० (चूलि०) पृ० ३०६ । (१०)–णिउणस्स अ०, आ० । (११) "जिदउवसग्गपरिसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु । जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो ॥१९॥"–मूलाचा० गा ७।१८-४० । "भावस्य जीवादितत्त्वविषयोपयोगरूपस्य पर्यायस्य मिथ्यादर्शनकषायादिसंक्लेशनिवृत्तिः सामायिकशास्त्रोपयोगयुक्तज्ञायकः तत्पर्यायपरिणतसामायिकं वा भावसामायिकम् ।"–गो० जीव० जी० गा० ३६७ । अंगप० (चूलि०) पृ० ३०६ । "भावसामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा ।"–अनगार० टी० ८।१९ ।

संधिदिणेसु वा सगिच्छिदवेलासु वा वज्झतरंगासेसत्थेसु संपरायणिरोहो वा सामाइयं णाम। एवंविहं सामाइयं कालमस्सिदूण भरहादिखेत्ते च संघडणाणि गुणट्ठाणाणि च अस्सिदूण परिमिदापरिमिदसरूवेण जेण परूवेदि तेण सामाइयस्स वत्तव्वं ससमओ।

है। अथवा तीनों ही संध्याओंमें या पक्ष और मासके सन्धिदिनोंमें या अपने इच्छित समयमें बाह्य और अन्तरङ्ग समस्त पदार्थोंमें कषायका निरोध करना सामायिक है। चूँकि सामायिक नामक प्रकीर्णक इसप्रकार कालका आश्रय करके और भरतादि क्षेत्र, संहनन तथा गुणस्थानोंका आश्रय करके परिमित और अपरिमितरूपसे सामायिकका प्ररूपण करता है इसलिये सामायिकका वक्तव्य स्वसमय है।

विशेषार्थ–सामायिकमें राग और द्वेषका त्याग करना मुख्य है। कभी सचित्तादि द्रव्यके निमित्तसे, कभी नगरादि क्षेत्रके निमित्तसे और कभी वसन्तादि कालके निमित्तसे राग और द्वेष पैदा होता है जिससे इस जीवकी परिणति कभी रागरूप और कभी द्वेषरूप होती रहती है, जो आत्माको संसारमें रोके हुए है; अतः इसके त्यागके लिये सामायिक की जाती है। अन्तरंगमें क्रोधादि कषायोंके उदयसे और वहिरंगमें सचित्त द्रव्यादिके निमित्तसे जो राग और द्वेषरूप परिणति होती है उसका त्याग करके आत्मधर्म समता आदिके साथ समरसभावको प्राप्त होना सामायिक है। द्रव्य, क्षेत्र और कालके भेदसे तीन प्रकारकी सामायिक निमित्तकी प्रधानतासे कही गई है। वैसे 'मैं सर्व सावद्यसे विरत हूं' इसप्रकारके संकल्पपूर्वक होनेवाली समताप्रधान भावसामायिक सभी समीचीन सामायिकोंमें पाई जाती है। आगममें सामायिक, छेदोपस्थापना आदि पाँच प्रकारका जो चारित्र बतलाया है, उनमेंसे यहाँ केवल सामायिक चारित्रका अर्थ सामायिक नहीं है। चारित्रके वे पाँच भेद अवस्थाविशेषकी अपेक्षासे किये गये हैं, अतः पाँचों चारित्र सामायिकमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। नियतकालमें जो णमोकार आदि मंत्रोंका जप किया जाता है वह यदि राग और द्वेषके त्यागकी मुख्यतासे किया जाता है तो उसका भी सामायिकमें अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु जो जप विद्या देवता आदिकी सिद्धिके लिये किया जाता है वह सामायिक नहीं है, क्योंकि उससे शुभ और अशुभ कार्योंमें प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। ऊपर जो परिमित और अपरिमितरूपसे सामायिक बतलाई है। वहाँ परिमितका अर्थ नियतकाल और अपरिमितका अर्थ अनियतकाल प्रतीत होता है। जिनका काल नियत है ऐसे स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक कहलाते हैं और जिनका काल नियत नहीं है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक कहलाते हैं। सामायिक नामके प्रकीर्णकमें इसप्रकार सामायिकका कथन किया गया है, अतः उसका कथन स्वसमयवक्तव्य है।

(१) "तद्द्विविधं नियतकालमनियतकालं च। स्वाध्यायादि नियतकालम्। ईर्यापथाद्यनियतकालम्।" –सर्वार्थ० ९।१८। (२) "तत्र सामायिकं नाम शत्रुमित्रसुखादिषु। रागद्वेषपरित्यागात् समभावस्य दर्शनम्॥" –हरि० १०।१२९। ध० सं० पृ० ९६। गो० जीव० जी० गा० ३६८।

§८२. चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा; छज्जीवविराहणहेउसावयधम्मोवएसकारित्तादो। तं जहा, दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ; पयण-पायणग्गिसंधुक्कण-जालण-सूदि-सूदाणादिवावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-पु(फु)ल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च। कथं सीलरक्खणं सावज्जं? ण; सदारपीडाए विणा सीलपरिवालणाणुववत्तीदो। कधमुववासो सावज्जो? ण; सपोट्टत्थपाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो। थावरजीवे मोत्तूण तसजीवे चेव मा मारेहु त्ति सावियाणमुवदेसदाणदो वा ण जिणा णिरवज्जा। अणसणोमोदरियउत्तिपरि-

आगे शंका-समाधान द्वारा चतुर्विंशतिस्तवका स्वरूप बतलाते हैं-

§८२. **शंका**-छह कायके जीवोंकी विराधनाके कारणभूत श्रावकधर्मका उपदेश करनेवाले होनेसे चौवीसों ही तीर्थंकर सावद्य अर्थात् सदोष हैं। आगे इसी विषयका स्पष्टीकरण करते हैं-दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकोंके धर्म हैं। यह चारों ही प्रकारका श्रावकधर्म छह कायके जीवोंकी विराधनाका कारण है, क्योंकि भोजनका पकाना, दूसरेसे पकवाना, अग्निका सुलगाना, अग्निका जलाना, अग्निका खूतना और खुतवाना आदि व्यापारोंसे होनेवाली जीवविराधनाके विना दान नहीं बन सकता है। उसीप्रकार वृक्षका काटना और कटवाना, ईंटका गिराना और गिरवाना, तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह कायके जीवोंकी विराधनाके कारणभूत व्यापारके विना जिनभवनका निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूपका जलाना आदि जीववधके अविनाभावी व्यापारोंके विना पूजा करना नहीं बन सकता है।

प्रतिशंका-शीलका रक्षण करना सावद्य कैसे है?

शंकाकार-नहीं, क्योंकि अपनी स्त्रीको पीड़ा दिये विना शीलका परिपालन नहीं हो सकता है, इसलिये शीलकी रक्षा भी सावद्य है।

प्रतिशंका-उपवास सावद्य कैसे है?

शंकाकार-नहीं, क्योंकि अपने पेटमें स्थित प्राणियोंको पीड़ा दिये विना उपवास बन नहीं सकता है, इसलिये उपवास भी सावद्य है।

अथवा, 'स्थावर जीवोंको छोड़कर केवल त्रसजीवोंको ही मत मारो' श्रावकोंको इसप्रकारका उपदेश देनेसे जिनदेव निरवद्य नहीं हो सकते हैं।

(१) "दानपूजातपःशीललक्षणश्च चतुर्विधः। त्यागजश्चैव शारीरो धर्मो गृहनिषेविणाम् ॥" -हरि० १०।८।

संखाण-रसपरिच्चाय[1]-विवित्तसयणासण- रुक्खमूलादावणब्भावासुक्कुदासण[2] - पलियंकद्धप-लियंक-ठाण[3]-गोण-वीरासण-विणय-वेज्जावच्च-सज्झायझाणादिकिलेसेसु जीवे पयिसारिय खलियारणादो वा ण जिणा णिरवज्जा तम्हा ते ण वंदणिज्जा त्ति ?

§८३. एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा, जयवि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जासेस-कम्माणं बंधाभावादो। वेयणीयस्स वि ण ट्ठिदिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसायपच्च-याभावादो। जोगो अत्थि त्ति ण तत्थ पयडिपदेसबंधाणमत्थित्तं वोत्तुं सक्किज्जदे ? ट्ठिदिबंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण अज्जियकम्मसंचओ वि अत्थि; उदयसरूवकम्मा-गमादो असंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचियकम्म[4]णिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्मसंचया-

अथवा, अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्षके मूलमें सूर्यके आतापमें और खुले हुए स्थानमें निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशोंमें जीवोंको डालकर उन्हें ठगनेके कारण भी जिन निरवद्य नहीं हैं, और इसलिये वे वन्दनीय नहीं हैं।

§ ८३. **समाधान**–यहाँ पर उपर्युक्त शंकाका परिहार करते हैं। वह इसप्रकार है–यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकारका उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबन्ध नहीं होता है, क्योंकि जिनदेवके तेरहवें गुणस्थानमें कर्मबन्धके कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषायका अभाव हो जानसे वेदनीय कर्मको छोड़कर शेष समस्त कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। वेदनीय कर्मका बन्ध होता हुआ भी उसमें स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत कषायका अभाव है। तेरहवें गुणस्थानमें योग है, इसलिये वहाँ पर प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके अस्तित्वका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्थितिबन्धके विना उदयरूपसे आनेवाले निषेकोंमें उपचारसे बन्धके व्यवहारका कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकोंके और सकलव्रती मुनियोंके धर्मका उपदेश करते हैं, इसलिये उनके अर्जित कर्मोंका संचय बना रहता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मोंका बन्ध होता है जो कि

(१)–च्चागवि–आ०, (२)–णब्भोवासु–अ०, आ०। (३) "समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया उक्कुडिया। मगरमुहहत्थिसुंडीगोणणिसेज्जद्धपलियंका ॥ समपलियंकणिसेज्जा सम्यक्पर्यङ्कनिषद्या समपदं स्फिक्कसमकरणेनासनम्, गोदोहिगा–गोदोहने आसनमिव आसनम्, उक्कुडिगा–ऊर्ध्वं सङ्कुचितमासनम्, मगरमुह–मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादाववस्थानम्, हत्थिसुंडी–हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनम्, हस्तं प्रसार्येत्यपरे, गोणणिसेज्ज अद्धपलियंकं–गोनिषद्या गवासनमिव, अर्धपर्यङ्कम्।"–मूलारा०, विजयो० गा० २२४। "स्थानवीरासनोत्कटुकासन' 'स्थानग्रहणादूर्ध्वस्थानलक्षणकायोत्सर्गपरिग्रहः।' 'वीरासनं तु जानूप्रमा-णासनसन्निविष्टस्याधस्तात् समाकृष्यते तदासनम्' "–त० भा०, टी० ९।१९।(४)–कम्माणि–अ०, आ०।

णुववत्तीदो। ण च तित्थयरमण-वयण-कायवुत्तीओ इच्छापुव्वियाओ जेण तेसिं बंधो होज्ज, किंतु दिणयर-कप्परुक्खाणं पउत्तिओ व्व वयिससियाओ। उत्तं च–

"[1]कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४०॥
[2]रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पउंजइ पओअं।
हिंसा वि तत्थ जायइ तम्हा सो हिंसओ होइ ॥४१॥
[3]रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥४२॥

उदय रूप ही हैं उनसे भी असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे वे प्रतिसमय पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा करते हैं, इसलिये उनके कर्मोंका संचय नहीं बन सकता है। और तीर्थंकरके मन, वचन तथा कायकी प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती हैं जिससे उनके नवीन कर्मोंका बन्ध होवे। जिसप्रकार सूर्य और कल्पवृक्षोंकी प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं उसीप्रकार उनके भी मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक अर्थात् विना इच्छाके समझना चाहिये। कहा भी है–

"हे मुने, मैं कुछ करूं इस इच्छासे आपके मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ हुई सो भी बात नहीं है। और वे प्रवृत्तियाँ आपके विना विचारे हुई हैं सो भी नहीं है। पर होती अवश्य हैं, इसलिये हे धीर, आपकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। अर्थात् संसारमें जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे इच्छापूर्वक होती हैं और जो प्रवृत्तियाँ विना विचारे होती हैं वे ग्राह्य नहीं मानी जातीं। पर यही आश्चर्य है कि आपकी प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक न होकर भी भव्यजीवोंके लिये उपादेय हैं ॥४०॥"

" रागी द्वेषी अथवा मोही पुरुष जो भी क्रिया करता है उसमें हिंसा अवश्य होती है। और इसीलिये वह पुरुष हिंसक होता है। तात्पर्य यह है कि रागादि भाव ही हिंसाके प्रयोजक हैं उनके विना केवल हिंसामात्रसे हिंसा नहीं होती है ॥४१॥"

रागादिकका नहीं उत्पन्न होना ही अहिंसकता है ऐसा जिनागममें उपदेश दिया है। तथा उन्हीं रागादिककी उत्पत्ति ही हिंसा है, ऐसा जिनदेवने निर्देश किया है ॥४२॥"

(१) बृहत्स्व० श्लो० ७४। (२) "तथा चोक्तम्–रत्तो वा··रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन् प्रयोगं प्रारभते तस्मिन् हिंसा जायते न प्राणिनः प्राणानां वियोजनमात्रेण, आत्मनि रागादीनामनुत्पादकः सोऽभिधीयते अहिंसक इति। यस्माद् रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा।"–मूला० विजयो० गा० ८०२। "रक्तः आहाराद्यर्थं सिंहादिः द्विष्टः सर्पादिः मूढो वैदिकादिः यः एवंविधो रक्तो वा द्विष्टो वा मूढो वा यं प्रयोगं कायादिकं प्रयुङ्क्ते तत्र हिंसापि जायते, अपिशब्दादनृतादि चोपजायते, अथवा हिंसापि एवं रक्तादिभावेनोपजायते न तु हिंसामात्रेणेति वक्ष्यति, तस्मात् स हिंसको भवति यो रक्तादिभावयुक्तः इति। न च हिंसयैव हिंसको भवति।"–ओघनि० टी० गा० ७५७। (३) उद्धृतेयम्–सर्वार्थ०, राजवा० ७।२२। तुलना–"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥"–पुरुषा० श्लो० ४४।

अत्ता चेय अहिंसा अत्ता हिंस त्ति णिच्छयो समए ।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥४३॥
अज्झवसिएण बंधो सत्ते मारेज्ज मा व मारेज्ज ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥४४॥
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥४५॥
उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आबादे(धे)ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥४६॥

"समय अर्थात् जिनागममें ऐसा निश्चय किया गया है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। उनमें जो प्रमादरहित आत्मा है वह अहिंसक है तथा जो इतर अर्थात् प्रमादसहित है वह हिंसक है ॥४३॥"

"सत्त्व अर्थात् जीवोंको मारो या मत मारो, बन्धमें जीवोंको मारना या नहीं मारना प्रयोजक नहीं है। क्योंकि अध्यवसायसे अर्थात् रागादिरूप परिणामोंसे जीवोंके बन्ध होता है। निश्चयनयकी अपेक्षा यह बन्धका सारभूत कथन समझना चाहिये ॥४४॥"

"जीव मरो या मत मरो, तो भी यत्नाचारसे रहित पुरुषके नियमसे हिंसा होती है। किन्तु जो पुरुष समितियोंमें प्रयत्नशील है, अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसके हिंसामात्रसे अर्थात् प्रवृत्ति करते हुए किसी जीवकी हिंसा हो जाने मात्रसे बन्ध नहीं होता है ॥४५॥"

"ईर्यासमितिसे युक्त साधुके अपने पैरके उठाने पर उनके चलनेके स्थानमें यदि

(१) "न हि जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा। प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा। उक्तं च–अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति··"–मूलारा० विजयो० गा० ८०३। ओघनि० गा० ७५४। विशेषा० गा० ३५३६। (३) समयप्रा० गा० २८०। "जीवपरिणामायत्तो बंधो जीवो मृतिमुपैतु नोपेयाद्वा। तथा चाभाणि–अज्झवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ··"–मूलारा० विजयो० गा० ८०४। (४) प्रवचन० ३।१७। उद्धृतेयम्–सर्वार्थ०, राजवा० ७।१३। (५) "अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां द्रढयति–उच्चालियम्हि··· आबाधेज्ज कुलिंगं··ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समए। मुच्छा परिग्गहो च्चि य अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो॥ ··आबाधेज्ज आबाध्येत पीडयेत··तं जोगमासेज्ज तं पूर्वोक्तं पादसंघट्टनमाश्रित्य प्राप्येति··दृष्टान्तमाह–मुच्छा परिग्गहो च्चिय··अयमत्रार्थः– "मूर्च्छा परिग्रहः" इति सूत्रे यथा अध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टमात्रेण तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा ततः कारणाद् बन्धोऽपि नास्तीति।"–प्रवचन० जय० ३।१८–१।२। उद्धृते इमे–सर्वार्थ० राजवा० ७।१३। "आबादेज्ज यदि आपतेदागच्छेत् पादेन संमिने मनि··" सर्वार्थ० टि० ७।१३। "उच्चालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्जा॥ न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए। अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण

ण हि तग्घादणिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
मुच्छा परिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥४७॥
ण य हिंसामेत्तेण य सावज्जेणावि हिंसओ होइ ।
सुद्धस्स य संपत्ती अफला उत्ता जिणवरेहिं ॥४८॥
णाणी कम्मस्स क्खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ।
जदइ असढं अहिंसत्थमप्पमत्तो अवहओ सो[2] ॥४९॥
सक्कं परिहरियव्वं असक्कणिज्जम्मि णिम्ममा समणा ।
तम्हा हिंसायदणे अपरिहरंते कथमहिंसा ॥५०॥

कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरसे दब जाय और उसके निमित्तसे मर जाय तो उस क्षुद्र प्राणीके घातके निमित्तसे थोड़ा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्मदृष्टिसे मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणामको ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणामको ही हिंसा कहा है ॥४६-४७॥"

"जीव केवल हिंसामात्रसे हिंसक नहीं होता है किन्तु सावद्य अर्थात् राग-द्वेपरूप परिणामोंसे ही हिंसक होता है अतः राग-द्वेपादिसे रहित शुद्ध परिणामवाले जीवके जो कर्मोंका आस्रव होता है वह फलरहित है ऐसा जिनवरने कहा है ॥४८॥"

"ज्ञानी पुरुष कर्मके क्षयके लिये प्रस्तुत रहता है हिंसाके लिये नहीं । और वह प्रमादरहित होता हुआ सरल भावसे अहिंसाके लिये प्रयत्न करता है, इसलिये वह अवधक अर्थात् अहिंसक है ॥४९॥"

"साधुजन, जो त्याग करनेके लिये शक्य होता है उसके त्याग करनेका प्रयत्न करते हैं और जो त्याग करनेके लिये अशक्य होता है उसमें निर्मम होकर रहते हैं, इसलिये त्याग करनेके लिये शक्य भी हिंसायतनके परिहार नहीं करने पर अहिंसा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥५०॥"

सो जम्हा ॥"-ओघनि० गा० ७४८-७४९ "उच्चालियंमि· ·नय तस्स· ·जम्हा सो अपमत्तो साउ पमाउ त्ति निद्दिट्ठा॥"-श्रावकप्र० गा० २२३-२४ ।

(१) इयं गाथा लिखितप्रतिषु सर्वत्र "उच्चालियम्मि पाए" "णहि तग्घादणिमित्तो" इति गाथयोः मध्ये उपलभ्यते, परमर्थदृष्ट्या अस्माभिः यथास्थानं व्युत्क्रमिता । प्रवचनसारादिषु च अयमेव क्रमो दृश्यते । "न च हिंसामात्रेण, सावद्येनापि हिंसको भवति । कुतः शुद्धस्य पुरुषस्य कर्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवरैरिति ।"-ओघनि० टी० गा० ७५५ । (२) "उक्तं च-णाणी कम्मस्स···।"-मूलारा०, विजयो० गा० ८०५। "णाणी कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओऽणुट्ठितो य हिंसाए । जयइ असढं अहिंसत्थमुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥····तथा जयति कर्मक्षपणे प्रयत्नं करोतीत्यर्थः, 'असढं' ति शठभावरहितो यत्नं करोति न पुनर्मिथ्याभावेन सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः, तथा 'अहिंसत्थमुट्ठिओ' त्ति अहिंसार्थं 'उत्थितः' उद्युक्तः किन्तु सहसा कथमपि यत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवधः संजातः स एवंविधः अवधक एव साधुरिति ।'-ओघनि०, टी० गा० ७५० ।

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं ति भणइ ववहारो ।
ण य वत्थुदो हु बंधो बंधो अज्झप्पजोएण ॥५१॥
पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ व उवजोओ ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि ॥५२॥
णवकोडिकम्मसुद्धो परदो पच्छा य संपदियकाले ।
परसुहदुःखणिमित्तं जयि बंधइ णत्थि णिव्वाणं ॥५३॥
तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो ।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ ॥५४॥
संजदधम्मकहा वि य उवासयाणं सदारसंतोसो ।
तसवहविरईसिक्खा थावरघादो त्ति णाणुमदो ॥५५॥

"यद्यपि वस्तुकी अपेक्षा करके अध्यवसान अर्थात् आत्मपरिणाम होते हैं, ऐसा व्यवहार प्रतिपादन करता है परन्तु केवल वस्तुके निमित्तसे वन्ध नहीं होता है, वन्ध तो आत्मपरिणामोंके संवन्धसे होता है ॥५१॥"

"अनुकंपा, शुद्ध योग और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रवस्वरूप या पुण्यास्रवके कारण हैं । तथा इनसे विपरीत अर्थात् अदया, अशुभ योग और अशुभ उपयोग ये पापास्रवके कारण हैं । इसप्रकार आस्रवके हेतु समझना चाहिये ॥५२॥"

"जो पुरुष कर्मकी नौं कोटि अर्थात् मन, वचन, काय और कृत कारित, अनुमोदनासे शुद्ध है, उसे भूत, भविष्यत और वर्तमान कालमें यदि दूसरेके सुख और दुःखके निमित्तसे वन्ध होने लगे तो किसीको भी निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकेगा ॥५३॥"

"तीर्थंकरका विहार संसारके लिये सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकरको पुण्यरूप फल प्राप्त होता है ऐसा नहीं है । तथा दान और पूजा आदि आरंभके करनेवाले वचन, उन्हें कर्मबन्धसे लिप्त नहीं करते हैं । अर्थात् वे दान पूजा आदि आरम्भोंका जो उपदेश देते हैं उससे भी उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता है ॥५४॥"

"संयतोंके धर्मकी अर्थात् संयमधर्मकी जो कथा है उससे श्रावकोंके स्वदारसंतोषकी और त्रसवधविरतिकी शिक्षासे स्थावरघातकी अनुमति नहीं दी गई है । अथवा संयमी जनोंकी धर्मकथा, गृहस्थोंका स्वदारसंतोष और त्रसवधसे विरत होनेका उपदेश जो आगममें दिया गया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्थावरघातकी अनुमति दी गई है । अथवा

(१) "····सुद्ध एव उवजोगो । विवरीदं पावस्स दु··शुद्धोपयोगश्च शुद्धमनोवाक्कायक्रिया स्पर्शः शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगश्च आभ्यामनुकम्पाशुद्धोपयोगाभ्याम् ।"–मूलाचा० टी० ५।३८ । "अणुकंपासुद्धवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं । तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स = सुद्धवओगो शुद्धस्य प्रयोगः परिणामः··" –मूलारा०, विजयो०, गा० १८३४ । (२) तुलना–"विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् । पुण्य-पापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥"–आप्तमी० का० ९५ ।

जदि सुद्धस्स वि बंधो होहिदि बाहिरयवत्थुजोएण ।
णत्थि दु अहिंसओ णाम कोइ वाआदिवहहेऊ ॥५६॥
पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइं जीवम्मि ।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंते कउ सदोसो ॥५७॥
सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावयविरये अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते ॥५८॥
खवये य खीणमोहे जिणे य णियमा हवे असंखेज्जा ।
तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणाए सेढीए ॥५९॥

संयमी जनोंकी धर्मकथा भी उपासकोंके स्वदारसंतोष और त्रसवधविरतिकी शिक्षारूप होती है, अतः उसका यह अभिप्राय नहीं कि स्थावरघातकी अनुमति दी गई है। तात्पर्य यह है कि संयमरूप किसी भी उपदेशसे निवृत्ति ही इष्ट रहती है, उससे फलित होनेवाली प्रवृत्ति इष्ट नहीं ॥५५॥"

"यदि बाह्य वस्तुके संयोगसे शुद्ध जीवके भी कर्मोंका बन्ध होने लगे तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता है, क्योंकि श्वास आदिके द्वारा सभीसे वायुकायिक आदि जीवोंका वध होता है ॥५६॥"

"जीवमें पापास्रवके द्वार अनादि कालसे स्थित हैं उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रवके द्वारका उद्घाटन करता है, अर्थात् शुभास्रवके कारणभूत कामोंको करता है वह सदोष कैसे हो सकता है ? ॥५७॥"

"तीनों करणोंके अन्तिम समयमें वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीवके जो गुणश्रेणिनिर्जराका द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होने पर असंयतसम्यग्दृष्टिके प्रति समयमें होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे देशविरतके गुणश्रेणिनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे सकलसंयमीके गुणश्रेणिनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे अनन्तानुवन्धी कर्मकी विसंयोजना करनेवालेके गुणश्रेणिनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाले जीवके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानवर्ती उपशमक

(१) "अभाणि च–····होदि वायादिवधहेदु ।"–मूलारा० विजयो० गा०८०६। (२) उद्धृते इमे गाथे–ध० आ० प० ६३४, ७४९, १०६५। "सव्वत्थोवो दंसणमोहउवसामयस्स गुणसेढिगुणो ११७। संजदासंजदस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। ११८। अधापवत्तसंजदस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। ११९। अणंताणुबंधिविसंजोएंतस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२०। दंसणमोहक्खवगस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२१। कसायउवसामगस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२२। उवसंतकसायवीयरायछदुमत्थस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२३। कसायखवगस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२४। खीणकसायवीदरागछदुमत्थस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२५। अधापवत्तकेवलिसंजदस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। १२६। जोगणिरोधकेवलिसंजदस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो। । १२७। तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणो।

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए ।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं ॥६०॥
परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडयझरिदसाराणं ।
परिणामियं पमाणं णिच्छयमवलंबमाणाणं ॥६१॥"

जीवके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे उपशान्तकषाय जीवके गुणश्रेणी-निर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक जीवके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे क्षीणमोह जीवके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्याततगुणा है। इससे स्वस्थानकेवली जिनके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे समुद्घातगत केवली जिनके गुणश्रेणीनिर्जराका द्रव्य असंख्यातगुणा है। परंतु गुणश्रेणी-आयामका काल इससे विपरीत है अर्थात् समुद्घातगत केवलीसे लेकर विशुद्ध मिथ्यादृष्टि तक काल क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है ॥५८-५९॥"

"जब महाव्रतियोंके प्रतिसमय घटिकायंत्रके जलके समान असंख्यातगुणित श्रेणी-रूपसे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? ॥६०॥"

"समग्र द्वादशाङ्गका प्रधानरूपसे अवलम्बन न करनेवाले निश्चयनयावलम्वी ऋषियोंके सम्बन्धमें यह एक मूल तत्त्व है कि वे अपनी शुद्धाशुद्ध चित्तवृत्तिको ही प्रमाण मानते हैं ॥६१॥"

१२८। सव्वत्थोवो जोगणिरोधकेवलिसंजदस्स गुणसेढिकालो । १२९। अधापवत्तकेवलिसंजदस्स गुणसेढि-कालो संखेज्जगुणो। १३०। खीणकसायवीदरागछदुमत्थस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३१। कसायख-वगस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३२। उवसंतकसायवीदरागछदुमत्थस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३३। कसायउवसामगस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३४। दंसणमोहखवगस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३५। अणंताणुवंधिविसंजोएंतस्स गुणसेढिकालो संखेज्जगुणो। १३६। अधापवत्तसंजदस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३७। संजदासंजदस्स गुणसेढीकालो संखेज्जगुणो। १३८। दंसणमोहउवसामयस्स गुणसेढी-कालो संखेज्जगुणो। १३९॥"-वेदनाखंड, ध० आ० प० ७४९-७५०। त० सू० ९।४५। "सेणीभवे असंखिज्जा।" -आचा० नि० गा० २२२, २२३। "जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा। तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति।"-गो० जीव० गा० ६६, ६७। "सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए संजोयणाविणासे य। दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते ॥ खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी। उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी ॥"-कर्मप्र० उदय० गा० ८,९॥ "...खवगो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया। एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥"-स्वामिका० गा० १०६-१०८।

(१) "परमरहस्स...समत्तगणिपिडगझरितसाराणं...किन्च परमं प्रधानमिदं रहस्यं तत्त्वम्, केषाम्? ऋषीणां सुविहितानाम्। किंविशिष्टानाम्? समग्रं च तद् गणिपिटकं च समग्रगणिपिटकं तन्द क्षरितः पतितः सारः प्राधान्यं यैस्ते समग्रगणिपिटकक्षरितसारास्तेषामिदं रहस्यं यदुत पारिणामिकं प्रमाणं परिणामे भवं पारिणामिकं शुद्धोऽशुद्धश्च चित्तपरिणाम इत्यर्थः। किंविशिष्टानां सतां पारिणामिकं प्रमाणम्? निश्चयनयमवलम्बमानानां यतः शब्दादिनिश्चयनयानामिदमेव दर्शनं यदुत पारिणामिकमिच्छन्तीति।"-ओघनि० टी० गा० ७६०। "...समत्तगणिपिडगहत्थसाराणं समस्तगणिपिटकाभ्यस्तसाराणाम् विदितागमतत्त्वानामित्यर्थः..."-पंचव०, टी० गा० ६०२। (२) "दुवालसंगं गणिपिडगं"-नन्दी० सू० ४०।

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते,
शिवं च न परोपघातपरुषस्मृतेर्विद्यते ।
वधोपनयमभ्युपैति च परानघ्निन्नपि,
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः ॥६२॥"

तम्हा चउवीसं पि तित्थयरा णिरवज्जा तेण ते वंदणिज्जा विबुहजणेण ।

§ ८४. सुरदुंदुहि-धय-चामर-सीहासण-धवलामलछत्त-भेरि-संख-काहलादिगंथकंथंतो वट्टमाणत्तादो तिहुवणस्सोलंगदाणदो वा ण णिरवज्जा तित्थयरा त्ति णासंकणिज्जं; घाइचउक्काभावेण पत्तणवकेवललद्धिविरायियाणं सावज्जेण संबंधाणुववत्तीदो । एवमाियिए चउवीसतित्थयरविसयदुण्णये णिराकरिय चउवीसं पि तित्थयराणं थवणविहाणं णाम-ट्ठवणा-दव्व-भावभेएण भिण्णं तप्फलं च चउवीसत्थओ परूवेदि ।

"कोई प्राणी दूसरेको प्राणोंसे वियुक्त करता है फिर भी वह वधसे संयुक्त नहीं होता है । तथा परोपघातसे जिसकी स्मृति कठोर हो गई है, अर्थात् जो परोपघातका विचार करता है, उसका कल्याण नहीं होता है । तथा कोई दूसरे जीवोंको नहीं मारता हुआ भी हिंसकपनेको प्राप्त होता है । इसप्रकार हे जिन ! तुमने यह अति गहन प्रशमका हेतु प्रकाशित किया है अर्थात् शान्तिका मार्ग बतलाया है ॥६२॥"

इसलिये चौवीसों तीर्थंकर निरवद्य हैं और इसीलिये वे विबुधजनोंसे वन्दनीय हैं ।

§८४. यदि कोई ऐसी आशंका करे कि तीर्थंकर सुरदुंदभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, धवल और निर्मल छत्र, भेरी, शंख तथा काहल (नगारा) आदि परिग्रहरूपी गूदड़ीके मध्य विद्यमान रहते हैं और वे त्रिभुवनके व्यवस्थापक हैं अर्थात् त्रिभुवनको सहारा देते हैं, इसलिये वे निरवद्य नहीं हैं, सो उसका ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चार घातिकर्मोंके अभावसे प्राप्त हुई नौ केवल लब्धियोंसे वे सुशोभित हैं इसलिये उनका पापके साथ संबन्ध नहीं बन सकता है । इत्यादिक रूपसे चौवीस तीर्थंकरविषयक दुर्नयोंका निराकरण करके नाम, स्थापना द्रव्य और भावके भेदसे भिन्न चौवीस तीर्थङ्करोंके स्तवनके विधानका और उसके फलका कथन चतुर्विंशतिस्तव करता है ।

(१) "वियोजयति ''परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते । वधाय नयमभ्युपैति ''प्रथमहेतुरुद्योतितः ।"-सिद्ध० द्वा० ३।१६ । "उक्तं च- वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते ।"-सर्वार्थ० ७।१३। (२) "भिंगारकलसदप्पणधयचामरछत्तवीयणसुपइट्ठाइ य अट्ठ मंगलाणि''"-ति० प० गा० ४९ । धम्मरसा० गा० १२१ । (३)-ठवणद-अ०, आ०, स० । "नामं ठवणा दविए भावे य थयस्स होइ निक्खेवो ।"-आ० नि० १९३ । (भा०) "उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च । काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥" -मूलाचा० १।२४ । (४)-भावभेयभि-अ०, आ० । (५) "चउवीसयणिज्जुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि । णामं ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य । एसो थवम्हि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ ।"-मूलाचा० ७। ४१-४२ । "तत्तत्कालसंबन्धिनां चतुर्विंशतितीर्थंकराणां नामस्थापनाद्रव्यभावानाश्रित्य पंचमहाकल्याणचतुस्त्रिंशदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यपरमौदारिकदिव्यदेहसमवसरणसभाधर्मोपदेशादितीर्थंकरमहिमस्तुतिः चतुर्विंशति-

§८५. णामादिथयाणमत्थो एत्थुद्दो(द्दा)वेण वुच्चदे-गुणाणुसरणदुवारेण चउवीसण्हं पि तित्थयराणं णामट्ठसहस्सग्गहणं णामत्थओ। कट्टिमाकट्टिमजिणपडिमाणं सब्भावासब्भावट्ठवणाए ठविदाणं बुद्धीए तित्थयरेहि एयत्तं गयाणं तित्थयराणंतासेसगुणभरियाणं कित्तणं वा ट्ठवणाथवो णाम। जिणभवणत्थओ जिणट्ठवणात्थए अंतब्भूदो त्ति णेह पुध परूविदो। चउवीसण्हं पि तित्थयरसरीराणं विस-सत्थग्गि-पित्त-वाद-सेंभजणिदासेसवेयणुम्मुक्काणं महामंडलतेएण दससु वि दिसासु बारहजोयणेहिंतो ओसारिदंधयाराणं सत्थि-अंकुसादिचउसट्ठिलक्खणोवुण्णाणं सुहसंठाणसंघडणाणं सुरहिगंधेणामोइयतिहुवणाणं रत्तणयण-कदक्खसरमोक्ख-सेय-रय-वियारादिवज्जियाणं पमाणट्ठि(ट्ठि)यणह-

श्रावक आरंभादिका त्याग करनेमें असमर्थ हैं तो भी उन्हें यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसीप्रकार मुनियोंके बाह्य वस्तुमें जो राग और द्वेषरूप प्रवृत्ति पाई जाती है उसके त्यागके लिये ही मुनियोंको अनशन आदिका उपदेश दिया जाता है। उसका उद्देश्य दूसरे जीवोंका वध नहीं है, अतः तीर्थंकर जिन श्रावकधर्म और मुनिधर्मका उपदेश देते हुए भी सावद्य नहीं कहे जा सकते हैं और इसीलिये वे विबुध जनोंसे वंदनीय हैं यह सिद्ध होता है। चतुर्विंशतिस्तवमें इसप्रकार शंका समाधान करते हुए चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुतिका कथन किया गया है, अतः चतुर्विंशतिस्तव स्वसमयवक्तव्य है।

§८५. नामादि स्तवोंका अर्थ यहाँ पर वचनक्रमके द्वारा कहते हैं-चौबीसों तीर्थंकरोंके गुणोंके अनुसरण द्वारा उनके एक हजार आठ नामोंका ग्रहण करना अर्थात् पाठ करना नामस्तव है। जो सद्भाव और असद्भावरूप स्थापनामें स्थापित हैं, और बुद्धिके द्वारा तीर्थंकरोंसे एकत्व अर्थात् अभेदको प्राप्त हैं, अतएव तीर्थंकरोंके समस्त अनन्त गुणोंको धारण करती हैं, ऐसी कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंके स्वरूपका अनुसरण करना अथवा उनका कीर्तन करना स्थापनास्तव है।

जिनभवनका स्तवन जिनस्थापनास्तव अर्थात् मूर्तिमें स्थापित जिन भगवानके स्तवनमें अन्तर्भूत है, इसलिये उसका यहाँ पृथक् प्ररूपण नहीं किया है। जो विष, शस्त्र, अग्नि, पित्त, वात और कफसे उत्पन्न होनेवाली अशेष वेदनाओंसे रहित हैं, जिन्होंने अपने मंडलाकार महान् तेजसे दशों दिशाओंमें बारह योजन तक अन्धकारको दूर कर दिया है, जो स्वस्तिक अंकुश आदि चोंसठ लक्षणचिन्होंसे व्याप्त हैं, जिनका शुभ संस्थान अर्थात् समचतुरस्र संस्थान और शुभसंहनन अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन है, सुरभिगंधसे जिन्होंने त्रिभुवनको आमोदित कर दिया है, जो रक्तनयन, कटाक्षरूप बाणोंका छोड़ना, स्वेद, रज और विकार आदिसे रहित हैं, जिनके नख और रोम योग्य प्रमाणमें स्थित

(१) "अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम्। वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः॥"-अनगार० ८।३९। (२) "कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः। व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः॥"-अनगार० ८।४०। (३) -णाउण्णा-स०। (४) -णतिय-स०।

रोमाणं खीरोअवेलातरंगजलधवलचउसट्ठिसुवण्णदंडसुरहिचामरविराइयाणं सुहवण्णाणं सरूवाणुसरणपुरस्सरं तक्कित्तणं दव्वत्थओ[1] णाम। तेसिं जिणाणमणंतणाण-दंसण-विरिय-सुहसम्मत्तव्वावाह-विरायभावादिगुणाणुसरणपरूवणाओ[2] भावत्थओ[3] णाम। तेण चउवीसत्थयस्स वत्तव्वं ससमओ।

§ ८६. एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा[4] णाम। एक्कजिण-जिणालयवंदणा ण कम्मक्खयं कुणइ, सेसजिण-जिणालयच्चासणदुवारेणुप्पण्णअसुहकम्मबंधहेउत्तादो।

हैं, जो क्षीरसागरके तटके तरंगयुक्त जलके समान शुभ्र, तथा सुवर्णदंडसे युक्त चौसठ सुरभिचामरोंसे सुशोभित हैं, तथा जिनका वर्ण (रंग) शुभ है, ऐसे चौवीसों तीर्थंकरोंके शरीरोंके स्वरूपका अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्यस्तव है। उन चौवीस जिनोंके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अव्याबाध और विरागता आदि गुणोंके अनुसरण करनेकी प्ररूपणा करना भावस्तव है। इसलिये चतुर्विंशतिस्तवका कथन स्वसमय है।

विशेषार्थ–तीर्थंकरोंकी उनके नामों द्वारा स्तुति करना नामस्तव कहलाता है। कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंद्वारा तीर्थंकरोंकी स्तुति करना स्थापनास्तव कहलाता है। स्थापनारूप जिन जहाँ विराजमान रहते हैं उस स्थानको जिनभवन कहते हैं, अतः जिनभवनकी स्तुति स्थापनास्तवमें गर्भित हो जाती है। द्रव्यस्तवमें तीर्थङ्करोंके शरीरकी स्तुति की जाती है। और जिनत्वके कारणभूत अनन्त ज्ञानादिगुणोंकी स्तुति करना भावस्तव कहलाता है। इसप्रकार स्वसमयका कथन करनेवाला होनेसे चतुर्विंशतिस्तव स्वसमयवक्तव्य है।

§८६. एक तीर्थंकरको नमस्कार करना वन्दना है।

शंका–एक जिन और एक जिनालयकी वन्दना कर्मोंका क्षय नहीं कर सकती है, क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयोंकी आसादना होती है, और इसलिये वह आसा-

(१) "वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या। लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः॥" –अनगार० ८।४१। "दव्वत्थओ पुप्फाई।"–आ० नि० गा० १९३ (भा०) (२) "सम्मत्तणाणदंसणवीरिय सुहमं तहेव अवगहणं। अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं॥"–धम्मरसा० गा० १९२। (३) "संतगुणकित्तणा भावे।"–आ० नि० गा० १९३। "चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तवः।" –मूलारा० विजयो० गा० १०६। "वर्ण्यन्तेऽनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः। भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः॥"–अनगार० ८।४४। (४) "णामं ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य। एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो।"–मूलाचा० ७।७६-७७। "तस्मान्नरं एकतीर्थंकरालंबना चैत्यचैत्यालयादिस्तुतिः वंदना, तत्प्रतिपादकं शास्त्रं वा वंदना इत्युच्यते।"–गो० जीव० जी० गा० ३६७। अंगप० (चूलि०) गा० १६। "वंदणा एगजिणजिणालयविसयवंदणाए णिरवज्जभावं वण्णेइ।"–ध० सं० पृ० ९७। "वर्णको वन्दना वन्द्यवन्दना द्विविधादिना।"–हरि० १०।१३०। "वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा। भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया॥"–अनगार० ८।४६। "अरहंतसिद्धपडिमा तवसुदगुणगुरुग्ग गादीणं। किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो॥"–मूला० १।२५। मूलारा० विजयो० गा० १०६।

जोगपउत्तीए विसेसरूवाए असंभवादो वा एक्कस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा त्ति ण एसो वि एयंतग्गहो कायव्वो; एयंतावहारणस्स सव्वहा दुण्णयत्तप्पसंगादो। तम्हा एवंविहविप्पडिवत्तिणिरायरणमुहेण एयजिणवंदणाए णिरवज्जभावजाणावणदुवारेण वंदणाविहाणं तप्फलाणं च परूवणं कुणइ त्ति वंदणाए वत्तव्वं ससमओ।

§ ८८. पडिक्कमणं–दिवसिय-राइय-पक्खिय-चाउम्मासिय-संवच्छरिय-इरियावहिय-उत्तमट्ठाणियाणि चेदि सत्त पडिक्कमणाणि। सव्वायिचारिय-तिविहाहारचायियपडिक्कम-

नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसप्रकार सर्वथा एकान्तका निश्चय करना दुर्नय है। इस तरह ऊपर जो प्रकार बताया है उसीप्रकारसे विवादका निराकरण करके 'वन्दनास्तव एक जिनकी वन्दनाकी निर्दोषताका ज्ञान कराकर वन्दनाके भेद और उनके फलोंका प्ररूपण करता है, इसलिये वन्दनाका कथन स्वसमय है।

§ ८८. दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमस्थानिक इसप्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकारका है। सर्वातिचारिक और त्रिविधाहारत्यागिक नामके

(१) "निरपेक्षा नया मिथ्या··"–आप्तमी० श्लो० १०८। "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।"–सन्मति० १।२९। "दुर्नया निरपेक्षा लोकतोऽपि सिद्धाः।"–सिद्धिवि० पृ० ५३७। "धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०। "सदेव सत्स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।"–अन्ययोग० श्लो० २८। (२) "दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं। णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं॥"–मूलाचा० १।२६। "णामं ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य। एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ। पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापथं च बोधव्वं। पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥=प्रतिक्रमणं कृतकारितानुमतातिचारान्निवर्तनम्। दिवसे भवं दैवसिकम्, दिवसमध्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः शोधनम्। तथा रात्रौ भवं रात्रिकम्, रात्रिविषयस्य षड्विधातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य त्रिविधेन निरसनं रात्रिकम्। ईर्यापथे भवम् ऐर्यापथिकं षड्जीवनिकायविषयातीचारस्य निरसनं ज्ञातव्यम्। पक्षे भवं पाक्षिकम्··चतुर्मासे भवं चातुर्मासिकम्··संवत्सरे भवं सांवत्सरिकम्··उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं यावज्जीवं चतुर्विधाहारस्य परित्यागः।"–मूलाचा०, टी० ७।११६। अंगप० (चूलिका०) गा० १६-१९। "अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः। प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः।"–अनगार० ८।५७। गो० जीव० जी० गा० ३६८। "पडिकमणं देसिअं राइअं च इत्तरिअमावकहियं च। पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठे च॥=प्रतिक्रमणं द्विधा इत्वरं यावत्कथिकं च। तत्राद्यं दैवसिकं रात्रिकं पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकं च। द्वितीयं महाव्रतादि, उत्तमार्थेऽनशने च प्रतिक्रमणम्··।"–आव० दी० गा० १२४४। (३) "सर्वातिचारप्रतिक्रमणस्यात्र (उत्तमार्थे) अन्तर्भावो द्रष्टव्यः।"–मूलाचा० टी० ७।११६। "सर्वातिचारा दीक्षाग्रहणात् प्रभृति सन्यासग्रहणकालं यावत्कृता दोषाः, दीक्षा व्रतादानम्। सर्वातीचाराश्च दीक्षा च सर्वातिचारदीक्षाः ता आश्रयो विषयो यस्य प्रतिक्रमणस्य सोऽयं सर्वातिचारदीक्षाश्रयः, सर्वातीचाराश्रयः दीक्षाश्रयश्चेत्यर्थः। सर्वातिचारप्रतिक्रमणा व्रतारोपणप्रतिक्रमणा च उत्तमार्थप्रतिक्रमणायां गुरुत्वादन्तर्भवत इत्यर्थः। एतेन कृत्स्नप्रतिक्रमणाः सप्त भवन्तीत्युक्तं भवति। ताश्च यथा–व्रतारोपिणी, पाक्षिकी, कार्तिकान्तचातुर्मासी, फाल्गुनान्तचातुर्मासी, आषाढान्तसांवत्सरी, सर्वातिचारी, उत्तमार्थी चेति। अतिचारी सर्वातिचारी त्रिविधाहारव्युत्सर्जनी च उत्तमार्थ्यां प्रतिक्रमणायामन्तर्भवतः। तथा पञ्च संवत्सरान्ते विधेयाः। यौगान्ती प्रतिक्रमणा [illegible]

णाणि उत्तमट्ठाणपडिक्कमणम्मि णिवदंति । अट्ठावीसमूलगुणाइचारविसयसव्वपडिक्कमणाणि इरियावहयपडिक्कमणम्मि णिवदंति; अवगयअइचारविसयत्तादो । तम्हा सत्त चेव पडिक्कमणाणि ।

प्रतिक्रमण उत्तमस्थान प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं । अट्ठाईस मूलगुणोंके अतिचारविषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथप्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि ईर्यापथप्रतिक्रमण अवगत अतिचारोंको विषय करता है । इसलिये प्रतिक्रमण सात ही होते हैं ।

विशेषार्थ–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे जो स्वीकृत व्रतोंमें दोष लग जाते हैं उनका निन्दा और गर्हा पूर्वक, मन, वचन और कायसे निवारण करना प्रतिक्रमण कहा जाता है । यहाँ द्रव्यसे आहार और शरीरादिकका, क्षेत्रसे वसतिका आदिका, कालसे प्रातःकाल, सन्ध्याकाल, दिन, रात्रि, पक्ष, मास और वर्ष आदि कालोंका, तथा भावसे चित्तकी व्याकुलता आदिका ग्रहण किया है । वह प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिकके भेदसे सात प्रकारका है । दिनमें किये हुए अतिचारोंका शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण कहलाता है । रात्रिमें किये हुए दोषोंका शोधन करना रात्रिक प्रतिक्रमण कहा जाता है । पन्द्रह दिनमें किये गये दोषोंका मार्जन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण कहा जाता है । चार माहमें किये गये दोषोंका मार्जन करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहा जाता है । वर्ष भरमें किये गये दोषोंका मार्जन करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहा जाता है । छह जीवनिकायोंके संबन्धसे होनेवाले दोषोंका मार्जन करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण कहा जाता है । अट्ठाईस मूलगुणोंमें अतिचारोंके लग जाने पर उनके मार्जनके लिये जो प्रतिक्रमण किये जाते हैं वे सब ऐर्यापथिक प्रतिक्रमणमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि अट्ठाईस मूलगुणसंबन्धी जितने दोष समझमें आ जाते हैं उनका परिमार्जन ऐर्यापथिक प्रतिक्रमणमें स्वीकार किया है । संन्यासविधिके समय जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण कहलाता है । दीक्षाकालसे लेकर संन्यास ग्रहण करनेके कालतक लगे हुए सभी अतिचारोंके मार्जनके लिये किया गया सर्वातिचारिक प्रतिक्रमण और समाधिग्रहण करनेके पहले तीन प्रकारके आहारके त्यागमें लगे हुए अतिचारोंके परिमार्जनके लिये किया गया त्रिविधाहारत्यागिक नामका प्रतिक्रमण, औत्तमार्थिक प्रतिक्रमणमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । इसप्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकारके ही होते हैं अधिक नहीं, यह निश्चित होता है ।

क्रमणायामन्तर्भवति । निषिद्धकागमनप्रतिक्रमणा लुञ्चप्रतिक्रमणा गोचारप्रतिक्रमणा अतीचारप्रतिक्रमणा च ऐर्यापथिकादिप्रतिक्रमणासु लघुत्वादन्तर्भवन्ति । तत्राद्या पन्थातिचारप्रतिक्रमणायाम्, अन्त्या रात्रिप्रतिक्रमणायाम्, शेषे द्वे दैवसिकप्रतिक्रमणायाञ्च अन्तर्भवन्तीति विभागः । एतेन सप्त लघुप्रतिक्रमणा भवन्तीत्युक्तं भवति ।"–अनगार० टी० ८।५८ ।

(१)–वहप–आ० ।

§८६. पच्चक्खाणपडिक्कमणाणं को भेओ? उच्चदे, सगंगट्ठियदोसाणं दव्व-खेत्त-कालभावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम। पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणो पच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं। जदि एवं तो उत्तमट्ठाणियं ण पडिक्कमणं, तत्थ पडिक्कमणलक्खणाभावादो; ण; तत्थ वि पडिक्कमणमिव पडिक्कमणमिदि उवयारेण

§ ८६. **शंका**–प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है?

समाधान–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे अपने शरीरमें लगे हुए दोषोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा प्रत्याख्यानसे अप्रत्याख्यानको प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यानको प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।

विशेषार्थ–मोक्षके इच्छुक व्रतीद्वारा रत्नत्रयके विरोधी नामादिकका, मन, वचन और कायपूर्वक त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है। तथा त्याग करनेके अनन्तर ग्रहण किये हुए व्रतोंमें लगे हुए दोषोंका गर्हा और निन्दा पूर्वक परिमार्जन करना प्रतिक्रमण कहलाता है। यही इन दोनोंमें भेद है। प्रत्याख्यान अशुभ नामादिकके त्याग करनेरूप क्रिया है और प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान स्वीकार कर लेनेके अनन्तर व्रतमें लगे हुए दोषोंका परिमार्जन है। इसी आशयको ध्यानमें रखकर वीरसेन स्वामीने कहा है कि द्रव्यादिके विषयभूत अपने शरीरमें स्थित दोषोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है और प्रत्याख्यानके अनन्तर पुनः अप्रत्याख्यानको अर्थात् स्वीकृत व्रतोंमें अतिचारभावको प्राप्त होने पर उनका प्रत्याख्यान करना प्रतिक्रमण है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि श्रमणने षडावश्यक अधिकारकी १३५ वीं गाथाकी टीकामें जो यह लिखा है कि 'अतीत कालविषयक अतिचारोंका शोधन करना प्रतिक्रमण है और त्रिकालविषयक अतिचारोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रतादिकमें लगे हुए अतिचारोंका शोधन करना प्रतिक्रमण है और अतिचारोंके कारणभूत सचित्तादि द्रव्योंका त्याग करना तथा तपके लिये प्रासुकद्रव्यका भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।' इसका भी पूर्वोक्त ही अभिप्राय है। इस समस्त कथनका यह अभिप्राय है कि अहिंसादि व्रतोंमें जो दोष लगते हैं उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है और जिन कारणोंसे वे दोष लगते हैं उनका सर्वदाके लिये त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।

शंका–यदि प्रतिक्रमणका उक्त लक्षण है तो औत्तमस्थानिक नामका प्रतिक्रमण नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें प्रतिक्रमणका लक्षण नहीं पाया जाता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि जो स्वयं प्रतिक्रमण न होकर प्रतिक्रमणके समान होता है वह भी प्रतिक्रमण कहलाता है। इसप्रकारके उपचारसे औत्तमस्थानिकमें भी प्रतिक्रमणपना

(१) तुलना–"प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इति चेन्नैष दोषः; अतीतकालविषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणम्, अतीतभविष्यद्वर्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणम् प्रत्याख्यानम्। अथवा, व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणम्, अतीचारकारणसचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यविनिवृत्तिः तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानम्।"–मूलाचा० टी० ७।१३५।

पडिक्कमणभावब्भुवगमादो। किं णिबंधणो एत्थ उवयारो? पच्चक्खाणसामण्णणिबंधणो। किमट्ठो उत्तमट्ठाणाणिए पच्चक्खाणे पडिक्कमणोवयारो? ससरीरो आहारो सकसाओ पंचमहव्वयगहणकाले चेव परिचत्तो; अण्णहा सुद्धणयविसईकयमहव्वयग्गहणाणुववत्तीदो, सो सेविओ च मए एत्तियं कालं पंचमहव्वयभंगं काऊण सत्तिवियलदाए इदि अप्पाणं गरहिय उत्तमट्ठाणकाले पडिक्कमणवुत्तिजाणावणट्ठं तत्थ पडिक्कमणोवयारो कीरदे। एदेसिं पडिक्कमणाणं लक्खणं विहाणं च वण्णेदि पडिक्कमणं।

स्वीकार किया है।

शंका–औत्तमस्थानिकमें प्रतिक्रमणपनेके उपचारका क्या निमित्त है?

समाधान–इसमें प्रत्याख्यानसामान्य ही प्रतिक्रमणपनेके उपचारका निमित्त है।

शंका–उत्तमस्थानके निमित्तसे किये गये प्रत्याख्यानमें प्रतिक्रमणका उपचार किस प्रयोजनसे होता है?

समाधान–मैंने पाँच महाव्रतोंका ग्रहण करते समय ही शरीर और कषायके साथ आहारका त्याग कर दिया था अन्यथा शुद्ध नयके विषयभूत पाँच महाव्रतोंका ग्रहण नहीं वन सकता है। ऐसा होते हुए भी मैंने शक्तिहीन होनेके कारण पाँच महाव्रतोंका भंग करके इतने कालतक उस आहारका सेवन किया, इसप्रकार अपनी गर्हा करके उत्तमस्थानके कालमें प्रतिक्रमणकी प्रवृत्ति पाई जाती है, इसका ज्ञान करानेके लिये औत्तमस्थानिक प्रत्याख्यानमें प्रतिक्रमणका उपचार किया गया है। इसप्रकार प्रतिक्रमण प्रकीर्णक इन प्रतिक्रमणोंके लक्षण और भेदोंका वर्णन करता है।

विशेषार्थ–ऊपर जो प्रतिक्रमणका लक्षण कह आये हैं कि स्वीकृत व्रतोंमें लगे हुए दोषोंका निन्दा और गर्हापूर्वक शोधन करना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमणका यह लक्षण औत्तमस्थानिक प्रतिक्रमणमें घटित नहीं होता है, क्योंकि औत्तमस्थानिक प्रतिक्रमण व्रतोंमें लगे हुए दोषोंके शोधनके लिये नहीं किया जाता है किन्तु समाधिमरणका इच्छुक भव्य जीव समाधिमरणको जिस समय स्वीकार करता है उस समय वह शरीर और उसके संरक्षणके कारणभूत आहारका त्याग करता है, अतः उसकी यह क्रिया ही औत्तमस्थानिक प्रतिक्रमण कही जाती है। अब प्रश्न यह होता है कि व्रतग्रहणसे लेकर समाधिमरण स्वीकार करनेके काल तक जो आहारादिक स्वीकार किया गया है वह क्या समाधिके पहले स्वीकार किये गये व्रतोंमें दोषाधायक है? यदि दोषाधायक है; तो समाधिके पहले ही इन दोषोंका प्रतिक्रमण क्यों नहीं किया जाता है? और यदि दोषाधायक नहीं है; तो समाधिको स्वीकार करनेके समय इनके त्यागको प्रतिक्रमण क्यों कहा गया है? इस शंका का ऊपर जो समाधान किया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। उस समाधानका यह अभिप्राय है कि निश्चयनयकी अपेक्षा पांच महाव्रतोंको स्वीकार करते समय ही शरीरका

§ ९०. विणओ पंचविहो–णाणविणओ दंसणविणओ चरित्तविणओ तवविणओ उवयारियविणओ चेदि। गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। एदेसिं पंचण्हं विणयाणं लक्खणं

और उसके संरक्षणके कारणभूत आहारादिकका त्याग हो जाता है, क्योंकि इस नयकी अपेक्षा आभ्यन्तर कषायोंके त्यागके समान वाह्य क्रिया और उसके साधनोंका पूरी तरहसे त्याग करना अहिंसा महाव्रतमें अपेक्षित है। केवलीके यथाख्यात चारित्रके विद्यमान रहते हुए भी वे पूर्ण चारित्रके धारी नहीं होते इसका कारण उनके योगका सद्भाव है। इससे निश्चित होता है कि अहिंसा महाव्रतमें सभी प्रकारकी हिंसारूप परिणति और उसके साधनोंका त्याग होना चाहिये। तभी उसे सकलव्रत कहा जा सकता है। पर यदि साधु इस प्रकार आहारादिकका प्रारम्भसे ही सर्वथा त्याग कर दे तो वह ध्यान और तपके अभावमें रत्नत्रयकी सिद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये ध्यान और तप आवश्यक हैं। तथा ध्यान और तपके कारणभूत शरीरको चिरकाल तक टिकाए रखनेके लिए आहारादिकका ग्रहण करना आवश्यक है। अतः पांच महाव्रतोंके स्वीकार कर लेने पर भी व्यवहारनयकी अपेक्षा यत्नाचार पूर्वककी गई प्रवृत्ति दोषकारक नहीं कही जा सकती है। जब तक साधु समाधिको नहीं स्वीकार करता है तब तक वह व्यवहारका आश्रय लेकर प्रवृत्ति करता रहता है, इसलिये समाधिमरणके स्वीकार करनेके पहले उसके आहारादिके स्वीकार करने पर भी उसका वह प्रतिक्रमण नहीं करता है, पर जब साधु समाधिको स्वीकार करता है तब वह विचार करता है कि वास्तवमें पांचों महाव्रतोंको स्वीकार करते समय ही कषाय और शरीरके साथ आहारका त्याग हो जाता है फिर भी अभी तक मैं आहारादिको स्वीकार करता आया हूँ जो शुद्धदृष्टिसे पांच महाव्रतोंमें दोष उत्पन्न करता है, इसलिये मुझे स्वीकृत महाव्रतोंमें लगे हुए इन दोषोंका प्रतिक्रमण करना चाहिये। इस प्रकार औत्तमस्थानिक प्रत्याख्यानमें प्रतिक्रमणका उपचार करके उसे प्रतिक्रमण कहा है।

§ ९०. विनय पांच प्रकारका है–ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तप विनय, और औपचारिकविनय। जो पुरुष गुणोंसे अधिक हैं उनमें नम्रवृत्तिका रखना विनय है।

(१) "दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ। पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ॥"–मूलाचा० ५।१६७। भावप्रा० गा० १०२। मूलारा० गा० ११२। "विणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा–णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए कायविणए, लोगोवयारविणए।"–औप० सू० २०। "दंसणणाणचरित्ते तवे अ तह ओवयारिए चेव। एसो अ मोक्खविणओ पंचविहो होइ नायव्वो॥"–दश० नि० ३१४। (२) "पूज्येष्वादरो विनयः"–सर्वार्थ० ९।२०। "जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य। तम्हा वदंति विदुसो विणओ त्ति विलीणसंसारा॥"–मूलाचा० ७।८१। आव० नि० गा० १२२२। "विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनयः।"–मूलारा० विजयो० गा० १११। "नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो हि विनयः॥"–आचा० शी० १।१।१।४। (३) एतेषां विनयानां लक्षणविधानकथनादयः।"–मूलाचा० (५।१६८-१९१) मूलारा० (गा० ११२-१३३) औप० (सू० २०) दशवै० (९ विनयसमाध्ययने) इत्यादिषु द्रष्टव्याः।

विहाणं फलं च वेइणयियं परूवेदि।

§ ९१. जिण-सिद्धाइरिय-बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं णाम। तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-बारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि।

वैनयिक प्रकीर्णक इन पांचों विनयोंके लक्षण, भेद और फलका वर्णन करता है।

§ ९१. जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्यायकी वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। उस कृतिकर्मके आत्माधीन होकर किए गए तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फलका वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

(१) "वेणइयं णाणदंसणचरित्ततवोवयारविणए वण्णेइ।"–ध० सं० पृ० ९७। हरि० १०।१३२। गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चू०) गा० २१। (२) "आयरियउवज्झयाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं। एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए॥"–मूलाचा० ७।९४। (३) "जं तं किरियकम्मं णाम॥ २६॥ तस्स अत्थविवरणं कस्सामो। तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिओणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम॥२७॥ तं किरियाकम्मं छव्विहं आदाहीणादिभेएण। तत्थ किरियाकम्मे कीरमाणे अपायत्तत्तं अपरवसत्तं आदाहीणं णाम। ''वंदणकाले गुरुजिणजिणहराणं पदक्खीणं काऊण णमंसणं पदाहीणं णाम ''पदाहीणण-मंसणादिकिरियाणं तिण्णिवारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एकम्मि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंदणाओ तिण्णि वारं किज्जंति त्ति तिक्खुत्तं णाम ''ओणदं अवनमनं भूमावासनमित्यर्थः, तं च तिण्णिवारं कीरदि त्ति तिओणदमिदि भणिदं। तं जहा, सुद्धमनो धोदपादो जिणिंददंसणजणिदहरिसेण पुलइदंगो संतो जं जिणस्स अग्गे बइसदि तमेगमोणदं, जमुट्ठिऊण जिणिदादीणं विणत्तिं काऊण बइसणं तं विदियमोणदं, पुणो उट्ठिय सामाइयदंडएण अप्पसुद्धिं काऊण सकसायदेहुस्सग्गं करिय जिणाणंतगुणे झाइय चउवीसतित्थयराणं वंदणं काऊण पुणो जिणजिणालयगुरवाणं संथवं काऊण जं भूमीए बइसणं तं तदियमोणदं। एक्केक्कम्मि किरियाकम्मे कीरमाणे तिण्णि चेव ओणमणाणि होंति। सव्वकिरियाकम्मं चदुसिरं होदि। तं जहा, सामाइयस्स आदीए जिणिंदं पडि सीसणमणं तमेगं सिरं, तस्सेव अवसाणे जं सीसणमणं तं विदियं सीसं। थोस्सामि दंडयस्स आदीए जं सीसणमणं तं तदियं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं णमणं तं चउत्थं सिरं। एवमेगं किरियाकम्मं चदुसिरं होदि। '''अथवा पुव्वं पि किरियाकम्मं चदुसिरं चदुप्पहाणं होदि। अरहंतसिद्धसाहुधम्मे चेव पहाणभूदे काऊण सव्वकिरियाकम्माणं पउत्तिदंसणादो। सामाइयथोस्सामिदंडयाणमादीए अवसाणे च मण-वयणकायाणं विसुद्धिपरावत्तण वारा बारस हवंति तेणेगं किरियाकम्मं बारसावत्तमिदि भणिदं।"–कर्म० अनु० ध० आ० प० ८४१। "दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य। चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे॥ = दोणदं द्वे अवनती पंचनमस्कारादौ एकावनतिः भूमिसंस्पर्शः, तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीयावनतिः शरीरनमनम्, द्वे अवनती, जहाजादं यथाजातं जातरूपसदृशं क्रोधमानमायासंसर्गादिरहितम्, बारसावत्तमेव य द्वादशावर्ता एव च। पञ्चनमस्कारोच्चारणादौ मनोवचनकायानां संयमनानि शुभयोगवृत्तयः त्रय आवर्ताः। तथा पंचनमस्कार-समाप्तौ मनोवचनकायानां शुभवृत्तयः त्रीणि अन्यानि आवर्तनानि, तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ मनोवचनकायाः शुभवृत्तयः त्रीणि अपराणि आवर्तनानि, तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ शुभमनोवचनकायवृत्तयस्त्रीणि आवर्त-नानि, एवं द्वादशधा मनोवाक्कायवृत्तयो द्वादशावर्ता भवन्ति। अथवा चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रणामा एक-स्मिन् भ्रमणे, एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवन्ति। चदुस्सिरं चत्वारि शिरांसि पञ्चनमस्कारस्यादौ अन्ते च करमुकुलाङ्कितशिरःकरणं तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादौ अन्ते च करमुकुलाङ्कितशिरःकरणमेवं चत्वारि

विशेषार्थ–जिनदेव आदिकी वन्दना करते समय की जानेवाली क्रियाको कृतिकर्म कहते हैं। उस समय जो विधि की जाती है उसके अनुसार इसके छह भेद हो जाते हैं। पहला भेद आत्माधीन नामका है। इसका यह अभिप्राय है कि कृतिकर्म स्वयं अपनी रुचिसे करना चाहिये। जो कृतिकर्म पराधीन होकर किया जाता है उसका क्रियामात्र ही फल है, इसके अतिरिक्त उसका और कोई फल नहीं होता, क्योंकि पराधीन होकर जो कृतिकर्म किया जाता है उससे कर्मोंका क्षय नहीं होता है। तथा पराधीन होकर किये गये कृतिकर्मसे जिनेन्द्रदेव आदिकी आसादना होनेकी संभावना रहती है, अतः उससे कर्मबन्धका होना भी संभव है। इसलिये कृतिकर्म आत्माधीन होना चाहिये। वन्दना करते समय जिनदेव, जिनगृह और गुरुकी प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। यह कृतिकर्मका दूसरा भेद है। प्रदक्षिणा और नमस्कारका तीन वार करना तिक्खुत्त कहा जाता है। अथवा प्रत्येक दिन तीनों संध्याकालोंमें जिनदेव आदिकी तीन वार वन्दना करना तिक्खुत्त नामका कृतिकर्म कहा जाता है। तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दनाका विधान करके, 'वह अन्य कालमें नहीं करनी चाहिये' इसप्रकार अन्यकालमें वन्दना करनेका निषेध नहीं किया गया है किन्तु तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दना अवश्य करनी चाहिये, यह तीन वार वन्दना करनेके नियमका तात्पर्य है। इसप्रकार यह तिक्खुत्त नामका तीसरा भेद है। चौथा भेद अवनति है। इसका अर्थ भूमिपर वैठकर नमस्कार करना होता है। यह क्रिया तीन वार की जाती है। जब जिनेन्द्रदेवके दर्शनमात्रसे शरीर रोमांच हो जाता है तव भूमिपर वैठकर नमस्कार करे, यह पहला नमस्कार है। जब जिनदेवकी स्तुति कर चुके तव भूमिपर वैठकर नमस्कार करे, यह दूसरा नमस्कार है। अनन्तर उठकर सामायिक दंडकसे आत्मशुद्धि करके कषाय और शरीरका त्याग कर जिनदेवके अनन्तगुणोंका ध्यान करके तथा चौवीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करके अनन्तर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके जो भूमिपर वैठकर नमस्कार किया जाता है, वह तीसरा नमस्कार है। इसप्रकार प्रत्येक क्रियाकर्ममें भूमि पर वैठकर तीन नमस्कार होते हैं। पाँचवाँ भेद शिरोनति है। यह विधि चार वार की जाती है। सामायिक प्रारंभ करते समय जिनदेवको मस्तक नवाकर नमस्कार करना यह पहली शिरोनति है। सामायिकके अन्तमें सिर नवाकर नमस्कार करना दूसरी शिरोनति है। थोस्सामि दंडकके

शिरांसि भवन्ति। त्रिशुद्धं मनोवचनकायशुद्धं क्रियाकर्म प्रयुङ्क्ते।"–मूलाचा० टी० ७।१०४। "चतुःशिरस्त्रि-द्विनतं द्वादशावर्तमेव च। कृतिकर्माख्यमाचष्टे कृतिकर्मविधिं परम्॥"–हरि० १०।१३३। "किदियम्मं जिण-वयणधम्मजिणालयाण चेदास्स। पंचगुरूणं णवहा वंदणहेदुं परूवेदि॥ सावीण-तिदपदिक्खण-तिणदि-चउ-सर-सुवारसावत्ते।"–अगप० (चू०) गा० २२-२३। "अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादिनवदेवतावन्दनानिमित्तम् आत्माधीनता-प्रादक्षिण्यत्रिवार-त्रिनति-चतुःशिरोद्वादशावर्तादिलक्षणनित्यनैमित्तिकक्रियाविधानं च वर्णयति।" –गो० जीव० जी० गा० ३६८। "दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते। तं जहा–दुओणयं अहाजायं किइकम्मं बारसावयं। चउसिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगनिक्खमणं॥"–समव० सू० १२। आ० नि० गा० १२०९।

§ ९२. साहूणमायार-गोयरविहिं दसवेयालीयं वण्णेदि। चउव्विहोवसग्गाणं बावीसपरिस्सहाणं च सहणविहाणं सहणफलमेदम्हादो एदमुत्तरमिदि च उत्तरज्झेणं वण्णेदि। रिसीणं जो कप्पइ ववहारो तम्हि खलिदे जं पायच्छित्तं तं च भणइ कप्पववहारो।

आदिमें सिर नवाकर नमस्कार करना तीसरी शिरोनति है। और थोस्सामि दंडकके अन्तमें सिर नवाकर नमस्कार करना चौथी शिरोनति है। इसप्रकार एक क्रियाकर्ममें चार शिरोनति होती हैं। इसी क्रियाकर्ममें ही चार शिरोनति करना अन्यत्र नहीं ऐसा कुछ नियम नहीं है। अथवा पहले जो क्रियाकर्म कह आये हैं उसमें भी चार शिरोनति करना चाहिये, क्योंकि अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्मको प्रधान करके सभी क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। छठा भेद बारह आवर्तरूप है। सामायिक और त्थोस्सामि दंडकके प्रारंभ और अन्तमें मन, वचन और कायकी विशुद्धिकी अपेक्षा कुल मिलाकर बारह आवर्त होते हैं। अतएव एक क्रियाकर्ममें बारह आवर्त होते हैं ऐसा कहा है। यह सब विधि कृतिकर्म कही जाती है। इसप्रकार कृतिकर्म प्रकीर्णकमें उपर्युक्त समस्त विधिका कथन किया गया है।

§ ९२. दशवैकालिक प्रकीर्णक साधुओंके आचार अर्थात् ज्ञानादिविषयक अनुष्ठानका और गोचर अर्थात् भिक्षाटनका वर्णन करता है। उत्तराध्ययन प्रकीर्णक चार प्रकारके उपसर्ग

(१) मायारगोयरवि–अ०, आ०। "आचारो ज्ञानाद्यनेकभेदभिन्नः गोचरो भिक्षाग्रहणविधिलक्षणः"–नन्दी० हरि० सू० ४६। (२) "दसवेयालियं आयारगोयरविहिं वण्णेइ"–ध० सं० पृ० ९७। हरि० १०।१३४। गो० जीव० जी० गा० ३६८। "जदिगोचारस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेदि। दसवेयालियसुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता॥"–अंगप० (चू०) गा० २४। "मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्झयणा'। वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं णामं॥ = विकाले अपराण्हे स्थापितानि न्यस्तानि द्रुमपुष्पकादीनि अध्ययनानि यतः तस्माद् दशकालिकं नाम' 'दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिकं च दशवैकालिकम्' 'पढमे धम्मपसंसा सो य इहेव जिणसासणम्मि त्ति। बिइए धिइए सक्का काउं जे एस धम्मो त्ति॥ तइए आयारकहा उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ। तह जीवसंजमो वि य होइ चउत्थम्मि अज्झयणे। भिक्खविसोही तवसंजमस्स गुणकारियाउ पंचमए। छट्ठे आयारकहा महई जोग्गा महयणस्स। वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणिए। णवमे विणओ दसमे समाणियं एस भिक्खु त्ति॥"–दश० नि०, हरि० गा० १५, २०-२३। (३) "उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ"–ध० सं० पृ० ९७। "उत्तरज्झयणं उग्गम्मुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादिविसेसिदं वण्णेदि।"–ध० आ० प० ५४५ "उत्तराध्ययनं वीरनिर्वाणगमनं तथा।"–हरि० १०।१३४। "उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं मदं जिणिदेहिं। बावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं॥ वण्णेदि तप्फलमवि एवं पण्हे च उत्तरं एवं। कहदि गुरुसीसयाण पइण्णिय अट्ठमं तं खु॥"–अंगप० (चू०) गा० २५-२६। गो० जीव० जी० गा० ३६८। "कम उत्तरेण पगय आयारस्सेव उवरिमाइ तु। तम्हा उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा॥"–उत्तरा० नि० गा० ३। 'पढमे विणओ बीए परिसहा दुल्लहंगया तइए। अहिगारे य चउत्थे होइ पमायप्पमाए त्ति। ' 'जीवाजीवा छत्तीसे॥"–उत्तरा० नि० गा० १८-२६। (४) जम्हि आ०। (५) "कप्पववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्पसेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ"–ध० सं० पृ० ९८। "तत्कल्पव्यवहाराख्यं प्राह कल्पं तपस्विनाम्। अकल्प्यसेवनायाञ्च प्रायश्चित्तविधिं तथा॥"–हरि० १०। १३५। गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चू०) गा० २७। "कप्पम्मि कप्पिया खलु मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य। ववहारे ववहरिया पायच्छित्ताऽऽभवंते य॥"–व्यवहारभा० पी० गा० १५४। कल्पभा० पी० मलय० गा० २।

साहूणमसाहूणं च जं कप्पइ जं च ण कप्पइ तं सव्वं दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण भणइ कप्पाकप्पियं । साहूणं गहण-सिक्खा-गणपोसणप्पसंसकरण-सल्लेहणुत्तमट्ठाणगयाणं जं कप्पइ तस्स चेव दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण परूवणं कुणइ महाकप्पियं । भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-कप्पवासिय-वेमाणियदेविंद-सामाणियादिसु उप्पत्तिकारणदाण-पूजा-सील-तवोववास-सम्मत्त-अकामणिज्जराओ तेसिमुववादभवणसरूवाणि च वण्णेदि पुंडरीयं । तेसिं चेव पुव्वुत्तदेवाणं देवीसु उप्पत्तिकारणतवोववासादियं महापुंडरीयं परूवेदि । णाणाभेदभिण्णं पायच्छित्तविहाणं णिसीहियं वण्णेदि । जेणेवं तेण

और बाईस परीषहोंके सहन करनेके विधानका और उनके सहन करनेके फलका तथा 'इस प्रश्नके अनुसार यह उत्तर होता है' इसका वर्णन करता है। ऋषियोंके जो व्यवहार करने योग्य है और उसके स्खलित हो जाने पर जो प्रायश्चित्त होता है, इन सबका वर्णन कल्प्यव्यवहार प्रकीर्णक करता है। साधुओंके और असाधुओंके जो व्यवहार करने योग्य है और जो व्यवहार करने योग्य नहीं हैं इन सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर कल्प्याकल्प्यप्रकीर्णक कथन करता है। दीक्षा, ग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमस्थानरूप आराधनाको प्राप्त हुए साधुओंके जो करने योग्य हैं, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर महाकल्प्यप्रकीर्णक प्ररूपण करता है। पुंडरीकप्रकीर्णक भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिकसंबन्धी देव, इन्द्र और सामानिक आदिमें उत्पत्तिके कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व और अकामनिर्जराका तथा उनके उपपादस्थान और भवनोंके स्वरूपका वर्णन करता है। महापुंडरीकप्रकीर्णक उन्हीं भवनवासी आदि पूर्वोक्त देवों और देवियोंमें उत्पत्तिके कारणभूत तप और उपवास आदिका प्ररूपण करता है। निषिद्धिका प्रकीर्णक नाना भेदरूप प्रायश्चित्त विधिका वर्णन करता है।

(१) "कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि तं सव्वं वण्णेदि।"–ध० सं० पृ० ९८। हरि० १०।१३६। गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चू०) गा० २८। (२) "महाकप्पियं कालसंघडणाणि अस्सिऊण साहुपाओग्गदव्वखेत्तादीणं वण्णणं कुणइ"–ध० सं० पृ० ९८। हरि० १०।१३६। "महतां कल्प्यमस्मिन्निति महाकल्प्यं शास्त्रम्, तच्च जिनकल्पसाधूनाम् उत्कृष्टसंहननादिविशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालभाववर्तिनां योग्यं त्रिकालयोगाद्यनुष्ठानं स्थविरकल्पानां दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थस्थानगतोत्कृष्टाराधनाविशेषं च वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चू०) गा० २९–३१। (३) "पुंडरीयं चउव्विहदेवेसुववादकारणअणुट्ठाणाणि वण्णेइ।"–ध० सं० पृ० ९८। हरि० १०।१३७। "पुंडरीकं नाम शास्त्रं भावनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिविमानेषु उत्पत्तिकारणदानपूजातपश्चरणाकामनिर्जरासम्यक्त्वसंयमादिविधानं तत्तदुपपादस्थानवैभवविशेषं च वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८। अंगप० (चू०) गा० ३१–३३। (४) "महापुंडरीयं सयलिंदपडिइंदे उप्पत्तिकारणं वण्णेइ"–ध० सं० पृ० ९८। "देवीनामुपपादं तु पुंडरीयं महादिकम्"–हरि० १०।१३७। "महर्द्धिकेषु इन्द्रप्रतीन्द्रादिषु उत्पत्तिकारणतपोविशेषाद्याचरणं वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८। (५) "णिसिहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ।"–ध० सं० पृ० ९८। "निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम्।"–हरि० १०।१३८। "निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः, संज्ञायां कप्रत्यये निषिद्धिका, प्रायश्चित्तशास्त्रमित्यर्थः। तच्च प्रमाददोषविशुद्ध्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६८। "णिसीहिय त्ति णामं पमाददोसाण [illegible]

चोद्दसण्हं पइण्णयाणंगपविट्ठाणं वत्तव्वं ससमओ चेव ।

§ ९३. तत्थ आयारंगं

"जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झइ ॥ ९३ ॥"

इच्चाइयं साहूणमाचारं वण्णेदि । सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं क्लैव्या-स्फुटत्व-मदनावेश-विभ्रमाऽऽस्फालनसुख-पुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूपयति ।

जिसलिये प्रकीर्णक इसप्रकारकी जैनविधिका प्रतिपादन करते हैं इन इसलिये अङ्गबाह्य प्रकीर्णकोंका वक्तव्य स्वसमय ही है । अर्थात् इन प्रकीर्णकोंमें स्वसमयका ही वर्णन रहता है ।

§ ९३. अंगप्रविष्टके बारह भेदोंमेंसे आचारांग, "यत्नपूर्वक चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिये । इसप्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बन्ध नहीं होता है ॥९३॥" इत्यादिरूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है ।

सूत्रकृत् नामक अंग स्वसमय और परसमयका तथा स्त्रीसंबन्धी परिणाम, क्लीवता, अस्फुटत्व अर्थात् मनकी बातोंको स्पष्ट न कहना, कामका आवेश, विलास, आस्फालन-सुख और पुरुषकी इच्छा करना आदि स्त्रीके लक्षणोंका प्ररूपण करता है ।

हरणं । पायच्छित्तविहाणं कहेदि कालादिभावेण ॥"–अंगप० (चू०) गा० ३४ । "जं होंति अप्पगासं तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं । तं अप्पगासधम्मं अण्णं पि तयं निसीहं ति ॥"–नि० चू०(अभि० रा०) ।

(१) "आचारे चर्याविधानं शुद्ध्यष्टकपंचसमितिगुप्तिविकल्पं कथ्यते ।"–राजवा० १।२० । ध० सं० पृ० ९९ । ध० आ० प० ५४६ । हरि० १०।२७ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ७ । गो० जीव० जी० गा० ३५६ । अंगप० गा० १५–१९ । "नाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे । आयारे णं परित्ता वायणा····तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति' पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आयारे एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ से तं आयारे ।"–नन्दी० सू० ४५ । "आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारगोयरविणयवेणइयट्ठाणगमणंचकमणपमाणजोगजुंजणभासासमितिगुत्तीसेज्जोवहिभत्तपाणउग्गमउप्पायणाएसणाविसोहिसुद्धासुद्धगहणवयणियमतवोवहाणसुप्पसत्थमाहिज्जइ ।"–सम० सू० १३६ । (२) मूला० १०।१२२ । अंगप० गा० १७ । दशवै० ४।८ । उद्धृतेयम्–ध० सं० पृ० ९९ । गो० जीव० जी० गा० ३५६ । (३) "सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते ।"–राजवा० १।२० । "···ससमयं परसमयं च परूवेदि"–ध० सं० पृ० ९९ । ध० आ० प० ५४६ । हरि० १०।१२८ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ७ । गो० जीव० जी० गा० ३५६ । अंगप० । "सूअगडे णं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआलोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमयपरसमए सूइज्जइ, सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइयस्स चउरासीइए अकिरिआवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ··"–नन्दी० सू० ४६ । सम० सू० १३७ । "ससमयपरसमयपरूवणा य णाऊण वुज्झणा चेव । संवुद्धस्सुवसग्गा थीदोसविवज्जणा चेव ॥ उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ··"–सूत्र० नि० गा० २४–४५ । (४)–स्कामता–स० ।

§ ६४. ठाणं णाम जीव-पुग्गलादीणमेगादिएगुत्तरकमेण ठाणाणि वण्णेदि–

"एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो ।
चदुसंकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य ॥ ६४ ॥"
छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगिसब्भावो ।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ ॥ ६५ ॥"

एवमाइसरूवेण ।

§ ६४. स्थानांग जीव और पुद्गलादिकके एकको आदि लेकर एकोत्तर क्रमसे स्थानोंका वर्णन करता है । यथा–

"महात्मा अर्थात् यह जीवद्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे अन्वित होनेके कारण उसकी अपेक्षा एक प्रकारका कहा गया है। ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनाके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। अथवा भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारका कहा है। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, और ज्ञानचेतना इन तीन लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण तीन भेदरूप कहा है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। कर्मोंकी परवशतासे चार गतियोंमें परिभ्रमण करता है इसकारण चार प्रकारका कहा गया है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच प्रमुखधर्म ही उसके प्रधान गुण हैं, अतः वह पाँचप्रकारका कहा गया है। भवान्तरमें संक्रमणके समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसप्रकार छह दिशाओंमें गमन करता है अतः छह प्रकारका कहा गया है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति इत्यादि सात भंगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात प्रकारका कहा है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आस्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका कहा गया है। अथवा सिद्धोंके आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका कहा गया है। जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंरूप परिणमन करनेवाला होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका कहा गया है। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, और पंचेन्द्रियजातिके भेदसे दस स्थानगत होनेसे दस प्रकारका कहा गया है ॥६४–६५॥"

(१) "स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते ।"–राजवा० १।२० । ध० सं० पृ० १०० । ध० आ० प० ५४६ । हरि० १०।२९ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ७ । गो० जीव० जी० गा० ३५६ । अंगप० । "ठाणे णं ससमया ठाविज्जंति परसमया ठाविज्जंति ससमयपरसमया ठाविज्जंति जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति जीवाजीवा० लोगा० अलोगा० लोगालोगा० ठाविज्जंति, ठाणे णं दव्वगुणखेत्तकालपज्जवपत्थाणं 'एक्कविहवत्तव्वयं दुविह जाव दसविहवत्तव्वयं जीवाण पोग्गलाण य लोगट्ठाई च णं परूवणया आघविज्जंति' "–सम० सू० १३८ । नन्दी० सू० ४७ । (२) पञ्चा० गा० ७१, ७२ । "स खलु जीवो महात्मा नित्यचैतन्योपयुक्तत्वादेक एव । ज्ञानदर्शनभेदाद् द्विविकल्पः । कर्मफलकार्यज्ञानचेतनाभेदेन लक्ष्यमाणत्वात् त्रिलक्षणः ध्रौव्योत्पादविनाशभेदेन वा । चतसृषु गतिषु चंक्रमणत्वाच्चतुःसंक्रमणः । पञ्चभिः पारिणामिकौदयिकादिभिरग्रगुणैः प्रधानत्वात् पञ्चाग्रगुणप्रधानः । चतसृषु दिक्षु ऊर्ध्वमधश्चेति भवान्तरसंक्रम-

§ ९५. समवाओ णाम अंगं दव्व-खेत्त-काल-भावाणं समवायं वण्णेदि। तत्थ दव्वसमवाओ। तं जहा, धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-लोगागास-एगजीवाणं पदेसा अण्णोण्णं सरिसा। कधं पदेसाणं दव्वत्तं ? ण; पज्जवट्ठियणयावलंवणाए पदेसाणं पि दव्वत्तसिद्धीदो। सीमंत-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धिखेत्ताणि चत्तारि वि सरिसाणि, एसो खेत्तसमवाओ।

§ ९५. समवाय नामका अंग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंके समवायका वर्णन करता है। उनमेंसे पहले द्रव्यसमवायका कथन करते हैं। वह इसप्रकार है–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश परस्पर समान हैं।

शंका–प्रदेशोंको द्रव्यपना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि पर्यायार्थिक नयका अवलंवन करने पर प्रदेशोंके भी द्रव्यत्वकी सिद्धि हो जाती है। प्रदेशकल्पना पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे होती है इसलिये पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करके प्रदेशमें द्रव्यत्वकी सिद्धि की है।

प्रथम नरकका पहला इन्द्रक सीमन्तक विल, मानुषक्षेत्र, सौधर्म कल्पका पहला इन्द्रक ऋजुविमान और सिद्धलोक ये चारों क्षेत्रकी अपेक्षा सदृश हैं। यह क्षेत्रसमवाय है।

विशेषार्थ–पहले नरकके पहले पाथड़ेके इन्द्रक विलका नाम सीमन्तक है। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंडद्वीप, कालोदकसमुद्र और मानुषोत्तर पर्वतके इस ओरका आधा पुष्करवरद्वीप यह सब मिलकर मानुषक्षेत्र है, क्योंकि मनुष्य इतने क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। सौधर्म स्वर्गके पहले पटलके प्रथम इन्द्रक विमानका नाम ऋजुविमान है। तथा जहाँ लोकके अग्रभागमें सिद्ध जीव निवास करते हैं उसे सिद्धिक्षेत्र कहते हैं। उपर्युक्त इन चारों स्थानोंका व्यास पैंतालीस लाख योजन है, इसलिये ये चारों क्षेत्रकी अपेक्षा समान हैं।

णपट्क्रेण अपक्रमेण युक्तत्वात् षट्कापक्रमयुक्तः। अस्तिनास्त्यादिभिः सप्तभङ्गैः सद्भावो यस्येति सप्तभङ्गसद्भावः। अष्टानां कर्मणां गुणानां वा आश्रयत्वादष्टाश्रयः। नवपदार्थरूपेण वर्तनान्नवार्थः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसाधारणप्रत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपेषु दशसु स्थानेषु गतत्वाद्दशस्थानग इति।" –पञ्चा० तत्त्व०। "संग्रहनये एक एव आत्मा। व्यवहारनयेन संसारी मुक्तश्चेति द्विविकल्पः··· अष्टविधकर्माश्रवयुक्तत्वादष्टाश्रवः···"–गो० जीव० जी० गा० ३५६। अंगप० गा० २४–२८। "···जुत्तो कमसो सो सत्तभंगि··"–ध० सं० पृ० १००।

(१) "समवाये सर्वपदार्थानां समवायश्चिन्त्यते। स चतुर्विधः द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः··"–राजवा० १।२०। ध० सं० पृ० १०१। ध० आ० प० ५४६। हरि० १०।३०। सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ७। "सं संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयंते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यकालभावानाश्रित्य अस्मिन्निति समवायाङ्गम्··" –गो० जीव० जी० गा० ३५६। अगप० गा० २९–३५। "समवाए णं एगाइआणं एगुत्तरिआणं ठाणसयविवड्ढिआणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ··"– नन्दी० सू० ४८। सम० सू० १३९। (२) "सिद्धिसीमन्तकर्ज्वाख्यविमाननरलोकजम्। प्रमाणं सममित्युक्तं तत्रैव क्षेत्रतस्तथा॥"–हरि० १०।३२। ध० सं० पृ० १०१। "चत्तारिलोगे समा सपक्खिं सपडिदिसि–सीमंतए नरए, समयक्खेत्ते, उडुविमाणे, ईसीपब्भारा पुढवी।"–स्था० सू० ३२९।

समयावलिय-खण-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छर-युग-पुव्व-पव्व-पल्ल-सागरोसप्पिणि-उस्सप्पणीओ[2] सरिसाओ, एसो कालसमवाओ। केवलणाणं केवलदंसणेण समाणं, एसो भावसमवाओ।

§ ६६. वियाहपण्णत्ती[3] णाम अंगं सट्ठिवायरणसहस्साणि छण्णउदिसहस्सछिण्ण-छेयणजणि (ज्जणी) यसुहमसुहं च वण्णेदि। णाहधम्मकहा णाम अंगं तित्थयराणं धम्म-

समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, युग, पूर्व, पर्व, पल्य, सागर, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये परस्परमें समान हैं। अर्थात् एक समय दूसरे समयके समान है एक आवली दूसरी आवलीके समान है, इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये। यह काल समवाय है।

केवलज्ञान केवलदर्शनके बराबर है। यह भावसमवाय है।

§ ६६. व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका अंग 'क्या जीव है? क्या जीव नहीं है?' इत्यादिक-रूपसे साठ हजार प्रश्नोंके उत्तरोंका तथा छयानवे हजार छिन्नच्छेदोंसे ज्ञापनीय शुभ और अशुभका वर्णन करता है।

नाथधर्मकथा नामका अंग तीर्थंकरोंकी धर्मकथाओंके स्वरूपका वर्णन करता है।

(१) "एकसमयः एकसमयेन सदृशः आवलिः आवल्या सदृशी··इत्यादिः कालसमवायः।"–गो० जीव० जी० गा० ३५६। अंगप० गा० ३३। (२)–ओ हि सरि– अ०, आ०। (३) "व्याख्याप्रज्ञप्तौ षष्ठिव्याकरणसहस्राणि किमस्ति जीवः नास्ति इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते।"–राजवा० १।२०। ध० सं० पृ० १०१। ध० आ० प० ५४६। हरि० १०।३४। गो० जीव० जी० गा० ३५६। अंगप० गा० ३६–३८। "वियाहे णं ससमया विआहिज्जंति परसमया विआहिज्जंति··वियाहे णं नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविह-संसइअपुच्छिआणं जिणेणं वित्थरेण भासियाणं··छत्तीससहस्समणूणयाणं वागरणाणं दंसणाओ आघवि-ज्जंति।"–सम० सू० १४०। नन्दी० सू० ४९। (४) "अयं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयादीन् श्लोकानपेक्षते नापि द्वितीयादयः श्लोका अमुम्।··तथा सूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म स छिन्नच्छेदनयः। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः प्रत्येकं विकल्पितपर्यन्तः इत्यर्थः··"–नन्दी० मलय० सू० ५६। नन्दी०, चू०, हरि० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (५) "ज्ञातृधर्मकथायामाख्यानोपाख्यानानां बहुप्रकाराणां कथनम्"–राजवा० १।२०। "ज्ञातृ-धर्मकथायां··सूत्रपौरुषीषु भगवतस्तीर्थकरस्य ताल्वोष्ठपुटविचलनमन्तरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनिधर्म-कथनविधानं जातसंशयस्य गणधरदेवस्य संशयच्छेदनविधानम् आख्यानोपाख्यानानां च बहुप्रकाराणां स्वरूपं कथ्यते।"–ध० आ० प० ५४६। ध० सं० पृ० १०२। "ज्ञातृधर्मकथा कष्टे जिनधर्मकथामृतम्"–हरि० १०।३६। सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ७। "णाहो तिलोयसामी धम्मकहा तस्स तच्चसंकहणं। [illegible]यादो केवलणाणेण रम्मस्स॥ तित्थयरस्स तिसंज्झे णाहस्स सुमज्झिमाए रत्तीए। बारहमुहुत्तमज्झे [illegible]डिया दिव्वज्झुणी कालो॥ होदि गणचक्किमहवपण्हादो अण्णदा वि दिव्वज्झुणी। सो दहलक्खणधम्मं कहेदि खलु भवियवरजीवे॥ णादारस्स य पण्हा गणहरदेवस्स णामणामस्स। उत्तरवयणं तस्स वि जीवादीवत्थु-कहणं सा॥ अहवा णादाराणं धम्मादिकहाणुकहणमेव सा। तित्थगणि[illegible]॥" –अंगप० गा० ४०–४४। गो० जीव० जी० गा० ३५६। "णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा

कहाणं सरूवं वण्णेदि। केण कहिंति ते ? दिव्वज्झुणिणा। केरिसा सा ? सव्वभासासरूवा अक्खराणक्खरप्पिया अणंतत्थगब्भबीजपदघडियसरीरा तिसंज्झविसय-छघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया इयरकालेसु संसयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा संकरवदिगराभावादो विसदसरूवा एऊणवीसधम्मकहाकहणसहावा।

शंका–तीर्थंकर धर्मकथाओंके स्वरूपका कथन किसके द्वारा करते हैं ?

समाधान–तीर्थंकर धर्मकथाओंके स्वरूपका कथन दिव्यध्वनिके द्वारा करते हैं।

शंका–वह दिव्यध्वनि कैसी होती है अर्थात् उसका क्या स्वरूप है ?

समाधान–वह सर्वभाषामयी है अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनन्त पदार्थ समाविष्ट हैं, अर्थात् जो अनन्तपदार्थोंका वर्णन करती है, जिसका शरीर बीजपदोंसे घड़ा गया है, जो प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल इन तीन संध्याओंमें छह छह घड़ीतक निरन्तर खिरती रहती है, और उक्त समयको छोड़कर इतर समयमें गणधरदेवके संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भावको प्राप्त होनेपर उनके प्रति प्रवृत्ति करना अर्थात् उनके संशयादिकको दूर करना जिसका स्वभाव है, संकर और व्यतिकर दोषोंसे रहित होनेके कारण जिसका स्वरूप विशद है और उन्नीस (अध्ययनोंके द्वारा) धर्मकथाओंका प्रतिपादन करना जिसका स्वभाव है, इसप्रकारके स्वभाववाली दिव्यध्वनि समझना चाहिये।

विशेषार्थ–दिव्यध्वनिके विषयमें उसका स्वरूप, उसके खिरनेका काल और वह किस निमित्तसे खिरती है इन तीन बातोंका विचार करना आवश्यक है। (१) ऊपर यद्यपि यह बतलाया ही है कि दिव्यध्वनि अक्षर और अनक्षरात्मक होती है तथा वह अनन्तार्थगर्भ बीजपदरूप होती है। पट्खंडागमके वेदनाखंडकी टीका करते हुए वीरसेन स्वामीने दिव्यध्वनिके स्वरूप पर अधिक प्रकाश डाला है। वहां एक शंका इसप्रकार

भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआया सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमनाइं देवलोगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुण बोहिलाभा अंतकिरिआओ य आघविज्जंति। दस धम्मकहाणं वग्गा ··"–नन्दी० सू० ५०। सम० सू० १४१।

(१) "मिदुमधुरगभीरतरा विसदविसयसयलभासाहिं। अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा॥ अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाणसयलभासाओ। एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं। परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो।"–ति० प० १।६०–६२। "तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्" –बृहत्स्व० श्लो० ९६। न्यायकु० पृ० २। "मधुरस्निग्धगम्भीरदिव्योदात्तस्फुटाक्षरम्। वर्ततेऽनन्यवृत्तैका तत्र साध्वी सरस्वती॥"–हरि० ५८।९। "गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हितम्। कण्ठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम्॥ स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकम्। दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥"–समव० पृ० १३६। "सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे।"–काव्यानु० श्लो० १। (२) "संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम।"–ध० आ० प० ५३६। (३) "उक्तञ्च–पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए। छच्छघडियाणिग्गयदिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे॥" –समव० पृ० १३६। (४) "णायाधम्मकहासु······एगूणवीसं अज्झयणा····"–सम० सू० १४१। (५) धम्मकहाण स–अ०, आ०।

उठाई गई है कि वचनके विना अर्थका कथन करना संभव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थोंकी संज्ञा किये विना उनका प्रतिपादन करना नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि अनक्षर ध्वनिसे भी अर्थका कथन करना संभव है सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनक्षर भाषा तिर्यंचोंके पाई जाती है उसके द्वारा दूसरोंको अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। तथा दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक ही होती है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अठारह भाषा और सात सौ कुभाषारूप होती है, इसलिये अर्थप्ररूपक तीर्थङ्कर देव भी ग्रन्थप्ररूपक गणधरके समान ही हो जाते हैं, उनका अलगसे प्ररूपण नहीं करना चाहिये। अर्थात् जिसप्रकार गणधरदेव अक्षरात्मक भाषाका उपयोग करते हैं उसीप्रकार तीर्थङ्कर देव भी, अतः अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता ये दो अलग अलग नहीं कहे जा सकते हैं। इसका जो समाधान किया है वह निम्नप्रकार है–जिनमें शब्दरचना संक्षिप्त होती है और जो अनन्त पदार्थोंके ज्ञानके कारणभूत अनेक लिंगोंसे संगत होते हैं उन्हें बीजपद कहते हैं। तीर्थङ्कर-देव अठारह भाषा और सातसौ कुभाषारूप इन बीजपदोंके द्वारा द्वादशांगका उपदेश देते हैं इसलिये वे अर्थकर्ता कहे जाते हैं। तथा गणधरदेव उन बीजपदोंके अर्थका व्याख्यान करते हैं, इसलिये वे ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर देव अपने दिव्य-ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका साक्षात्कार करके बीजपदोंके द्वारा उनका कथन करते हैं ग्रन्थरूपसे उन्हें निबद्ध नहीं करते हैं, इसलिये वे अर्थकर्ता कहे जाते हैं। तथा गणधरदेव उन बीज-पदों और उनके अर्थका अवधारण करके उनका ग्रन्थरूपसे व्याख्यान करते हैं इसलिये वे ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं। महापुराण, हरिवंशपुराण, जीवकाण्डकी संस्कृत टीका आदि ग्रन्थोंमें भी इसके स्वरूप पर भिन्न भिन्न प्रकाश डाला गया है। जीवकाण्डके टीकाकारने लिखा है कि दिव्यध्वनि जब तक श्रोताके श्रोत्रप्रदेशको नहीं प्राप्त होती है तब तक वह अनक्षरात्मक रहती है। हरिवंशके तीसरे सर्गके श्लोक १६ और ३८ में इसके दो भेद कर दिये हैं दिव्यध्वनि और सर्वार्धमागधी भाषा। उनमेंसे दिव्यध्वनिको प्रातिहार्योंमें और सर्वार्धमा-गधी भाषाको देवकृत अतिशयोंमें गिनाया है। धर्मशर्माभ्युदयके सर्ग २१ श्लोक ७ में दिव्यध्वनिको वर्णविन्याससे रहित बतलाया है। चन्द्रप्रभचरितके सर्ग १८ श्लोक १ और अलंकारचिन्तामणिके परिच्छेद १ श्लोक ९९ में दिव्यध्वनिको सर्वभाषास्वभाव बतलाया है। चन्द्रप्रभचरितके सर्ग १८ श्लोक १४१ में यह भी बतलाया है कि सर्वभाषारूप वह दिव्यध्वनि मागधी भाषा थी। दर्शनपाहुड श्लोक ३५ की श्रुतसागरकृत टीकामें लिखा है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि आधी मगधदेशकी भाषारूप और आधी सर्व भाषारूप होती है। पर यह देवकृत इसलिये कहलाती है कि वह मगधदेवोंके निमित्तसे संस्कृत भाषारूप परिणत हो जाती है। क्रियाकलाप–नन्दीश्वर भक्तिके श्लोक ५-६ की टीकामें लिखा है कि दिव्यध्वनि आधी भगवानकी भाषारूप रहती है, आधी देशभाषारूप रहती है और आधी सर्वभाषारूप रहती है। यद्यपि यह इसप्रकारकी है तो भी इसमें [illegible]

भाषण करनेकी सामर्थ्य देवोंके निमित्तसे आती है इसलिये यह देवोपनीत कहलाती है। इसमें दिव्यध्वनिको आठ प्रातिहार्योंमें अलगसे गिनाया है। महापुराणके सर्ग २३ श्लोक ६९ से ७४ में लिखा है कि आदिनाथ तीर्थंकरके मुखसे मेघगर्जनाके समान गंभीर दिव्यध्वनि प्रकट हुई जो एक प्रकारकी अर्थात् एक भाषारूप थी। फिर भी वह सभी प्रकारकी छोटी बड़ी भाषारूप परिणत होकर सभीके अज्ञानको दूर करती थी। यह सब जिनदेवके माहात्म्यसे होता है। जिसप्रकार जल एक रसवाला होता हुआ भी अनेक प्रकारके वृक्षोंके संसर्गसे अनेक रसवाला हो जाता है उसीप्रकार दिव्यध्वनि भी श्रोताओंके भेदसे अनेक प्रकारकी हो जाती है। इसमें 'देवकृतो ध्वनिरित्यसत्' यह कहकर ध्वनिके देवकृत अतिशयत्वका निराकरण किया है। भगज्जिनसेन इस कथनको जिनेन्द्रकी गुणकी हानिका करनेवाला बतलाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस समय इस विषयमें दो मान्यताएँ थीं। एक मतके अनुसार दिव्यध्वनिका सर्व भाषारूपसे परिणत होना देवोंका कार्य माना जाता था और दूसरे मतानुसार यह अतिशय स्वयं जिनदेवका था। भगवज्जिनसेनके अभिप्रायानुसार दिव्यध्वनि साक्षर होती है। यह दिव्यध्वनि सभी विषयोंका प्रस्फुटरूपसे अलग अलग व्याख्यान करती है, अतः संकरदोषसे रहित है। तथा एक विषयको दूसरे विषयमें नहीं मिलाती है, अतः व्यतिकरदोषसे रहित है। (२) दिव्यध्वनि प्रातः, मध्यान्ह और सायंकालमें छह छह घड़ी तक खिरती है, तथा किन्हींके आचार्योंके मतसे अर्धरात्रिके और मिला देने पर चार समय खिरती है। जब गणधरको किसी प्रमेयके निर्णय करनेमें संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय हो जाता है तब अन्य समय भी दिव्यध्वनि खिरती है। (३) वीरसेन स्वामी पहले लिख आये हैं कि जिसने विवक्षित तीर्थंकरके पादमूलमें महाव्रतको स्वीकार किया है उस तीर्थङ्करदेवकी उसके निमित्तसे ही दिव्यध्वनि खिरती है, ऐसा स्वभाव है तथा वे यह भी लिख आये हैं कि गणधरके अभावमें ६६ दिन तक भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। इससे प्रतीत होता है कि दिव्यध्वनिके खिरनेके मूल निमित्त गणधरदेव हैं। उनके रहते हुए ही दिव्यध्वनि खिरती है अभावमें नहीं। धवलामें बतलाया है कि भगवानको केवलज्ञान हो जाने पर भी लगातार ६६ दिन तक जब दिव्यध्वनि नहीं खिरी तब इन्द्रने उसका कारण गणधरका अभाव जान कर उस समयके महान् वैदिक विद्वान् इन्द्रभूति ब्राह्मण पंडितसे जाकर यह प्रश्न किया कि 'पांच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पांच महाव्रत और आठ प्रवचनमातृका कौन हैं। बन्ध और मोक्षका स्वरूप क्या है तथा उनके कितने कारण हैं' इस प्रश्नको सुनकर इन्द्रभूतिने स्वयं अपने शिष्य समुदायके साथ भगवान् महावीरके पास जानेका निर्णय किया। जब इन्द्रभूति समवसरणके पास पहुँचे तब मानस्तंभको देखकर ही उनका मान गलित हो गया और भगवानकी वन्दना करके उन्होंने पांच महाव्रत ले लिये। महाव्रत लेनेके अनन्तर एक अन्तर्मुहूर्तमें ही गौतमको चार ज्ञान और अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गईं और वे भगवान महावीरके मुख्य

§ ९७. उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण-वय-सामाइय-पोसहोववास-सचित्त-रायि-

गणधर हो गये। इस कथानकसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌की दिव्यध्वनि महाव्रती गणधरके निमित्तसे खिरती है। अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि दिव्यध्वनिके खिरनेके समय शब्दवर्गणाएं स्वयं शब्दरूप परिणत हो जाती हैं या उन्हें शब्दरूप परिणत होनेके लिये प्रयोगकी आवश्यकता पड़ती है? प्रयोग निरिच्छ हो यह दूसरी बात है पर बिना प्रयोगके शब्दवर्गणाएं शब्दरूप परिणत हो जाँय यह संभव नहीं दिखाई देता है। प्रयोग दो प्रकारका होता है आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर प्रयोग ही योग है। उससे तो शब्द-वर्गणाएं आती हैं और तालु आदिके संसर्गसे होनेवाले बाह्य प्रयोगके निमित्तसे शब्द-वर्गणाएं शब्दरूप परिणत होती हैं। केवलीके बाह्य क्रियाका सर्वथा अभाव तो माना नहीं गया है। स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें बतलाया है कि जिनदेवके मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियां बिना इच्छाके होती हैं। इससे उनके दिव्यध्वनिके समय यदि तालु आदिका व्यापार हो तो उसमें कोई विरोध तो नहीं दिखाई देता है। पर त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें तथा समवसरणस्तोत्रमें बतलाया है कि भगवान्‌की दिव्यध्वनि तालु आदिके व्यापारके बिना प्रवृत्त होती है। इसका यह अर्थ होता है कि जिस समय दिव्यध्वनि खिरती है उस समय भी भगवानका मुख बन्द रहता है। साथ ही यह भी निष्कर्ष निक-लता है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि मुखाग्रदेशसे ही प्रकट होना चाहिये इसकी कोई आव-श्यकता नहीं रह जाती है। पर हरिवंश पुराणके ५८ वें सर्गके दूसरे श्लोकमें दिव्यध्वनिका चारों मुखोंसे प्रकट होना लिखा है। तथा महापुराणके तेईसवें सर्गके ६९ वें श्लोकमें और पद्मचरितके दूसरे सर्गके १९५ वें श्लोकमें लिखा है कि आदिनाथ तीर्थंकरके और महावीर तीर्थंकरके दिव्यध्वनि मुखकमलसे प्रकट हुई तथा महापुराणके चौबीसवें पर्वके ८२ वें श्लोकमें यह बतलाया है कि तालु और ओष्ठ आदिके व्यापारके बिना दिव्यध्वनि मुखसे प्रकट हुई। इससे यह निश्चित होता है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि यद्यपि मुखसे ही खिरती है पर साधारण मनुष्यादिकोंको शब्दोच्चारणमें जो तालु, ओष्ठ आदिका व्यापार करना पड़ता है तीर्थंकर देवको उस प्रकारका व्यापार नहीं करना पड़ता है।

§ ९७. उपासकाध्ययन नामका अंग दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी,

(१) "उपासकाध्ययने सैकादशलक्षसप्ततिपदसहस्रे एकादशविधश्रावकधर्मो निरूप्यते।"–ध० आ० प० ५४६। "एगारसविहउवासयाण लक्खणं तेसिं चेव वदारोवणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि।"–ध० सं० पृ० १०२। राजवा० १।२०। हरि० १०।३७। "अत्थेयारसलक्खा [illegible] । [illegible] सीलं किरिया तेसिं मंता वि वुच्चति ॥"–अंगप० गा० ४७। गो० जीव० जी० गा० ३५७। "उवासगदसासु णं समणोवासयाणं नगराइं... इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा [illegible] भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं... आघविज्जंति।"–नन्दी० सू० ५१। सम० सू० [illegible]।

भत्त-बंभारंभ-परिग्गहाणुमणुद्दिट्ठणामाणमेक्कारसण्हमुवासयाणं धम्ममेक्कारसविहं वण्णेदि।

§ ९८. अंतयडदसा णाम अंगं चउव्विहोवसग्गे दारुणे सहियूण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे सुदंसणादि-दस-दस-साहू तित्थं पडि वण्णेदि।

§ ९९. अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं चउव्विहोवसग्गे दारुणे सहियूण चउवीसण्हं तित्थयराणं तित्थेसु अणुत्तरविमाणं गदे दस दस मुणिवसहे वण्णेदि।

सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरत, ब्रह्मचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन उपासकोंके ग्यारह प्रकारके धर्मका वर्णन करता है।

§ ९८. अन्तःकृद्दश नामका अंग प्रत्येक तीर्थङ्करके तीर्थकालमें चार प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त हुए सुदर्शन आदि दस दस साधुओंका वर्णन करता है।

§ ९९. अनुत्तरौपपादिकदश नामका अंग चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें चार प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन करके अनुत्तर विमानको प्राप्त हुए दस दस मुनिश्रेष्ठोंका वर्णन करता है।

(१)–हाणमणु–अ०, आ०। (२) "दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य। बंभारंभपरिग्गहअणुमणउद्दिट्ठ देसविरदो य॥"–चारित्रप्रा० गा० २१। गो० जीव० गा० ४७७। रत्नक० श्लो० १३६। "दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा अबम्भसच्चित्ते। आरम्भपेसउद्दिट्ठवज्जए समणुभूए य॥"–उपा० अ० १०। सम० सू० ११। विंशति० १०।१। (३) अंतयददसा अ०। "संसारस्यान्तः कृतो यैस्ते अन्तकृतः नमिमतङ्गसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमवाल्मीकवलीकनिष्कम्बलपालाम्बष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थंकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेषु अन्ये अन्ये च अनगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृतद्दश। अथवा अन्तकृतां दश अन्तकृद्दश तस्याम् अर्हदाचार्यविधिः सिद्ध्यतां च।" –राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४६। ध० सं० पृ० १०३। हरि० १०।३९। अंगप० गा० ४८–५१। गो० जीव० जी० गा० ३५७। "अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं' 'जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मक्खयम्मि जह केवलस्स लंभो परियाओ' 'अंतगडो मुनिवरो तमरयोघविप्पमुक्को मोक्खसुहमणंतरं च पत्ता' '"–नन्दी० सू० ५२। सम० सू० १४३। "अंतगडदसाणं दस अज्झयणा–णमि मातंगे सोमिले रामगुत्ते सुदंसणे चेव। माली त भगाली त किंकमे पल्लेतति य। फाले अंबडपुत्ते य त एते दस आहिता॥–एतानि च नमीत्यादिकानि अन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशांगप्रथमवर्गेऽध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते। यतस्तत्राभिधीयते–'गोयमसमुद्दसागरगंभीरे चेव होइ थिमिए य। अयले कंपिल्ले खलु अक्खोभपसेणइ विण्हू॥' इति। ततो वाचनान्तरापेक्षाणि इमानीति संभावयामः।"–स्था०, टी०, सू० ७५४। (४) "उपपादो जन्म प्रयोजनं येषां त इमे औपपादिकाः। विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि। अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः ऋषिदासधन्यसुनक्षत्रकार्तिकनन्दनन्दनशालिभद्रअभयवारिषेणचिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थंकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेषु अन्ये अन्ये च दश दशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदश। अथवा अनुत्तरौपपादिकानां दश अनुत्तरौपपादिकदश तस्याम् आयुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेषः।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४६। ध० सं० पृ० १०४। "तत्रौपपादिके दशे वर्ण्यन्तेऽनुत्तरादिके। दशोपसर्गजयिनो दशानुत्तरगामिनः॥ स्त्रीपुंनपुंसकैस्तिर्यग्नृसुरैरष्ट ते कृताः। शारीराचेतनत्वाभ्यामुपसर्गा दशोदिताः॥"–हरि० १०।४१–४२। गो० जीव० जी० गा० ३५७।

§१००. पण्हवायरणं णाम अंगं अक्खेवणी-विक्खेवणी-संवेयणी-णिव्वेयणीणामाओ चउव्विहं कहाओ पण्हादो णट्ठ-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुखदुक्ख-जीवियमरणाणि च

§ १००. प्रश्नव्याकरण नामका अंग आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकारकी कथाओंका तथा प्रश्नके अनुसार नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन और मरणका वर्णन करता है। विपाकसूत्र नामका अंग द्रव्य, क्षेत्र, काल

अंगप० गा० ५२-५५। "अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं··जिणसीसाणं चेव समणगण-पवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेण्णरिउवलपमद्दणाणं··समाहिमुत्तमज्झाणजोगजुत्ता उववन्ना मुणिवरोत्तमा जह अणुत्तरेसु पावंति जह अणुत्तरं तत्थ विसयसोक्खं तओ य चुआ कमेण काहिंति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमाइ अत्था वित्थरेण आघविज्जंति।"-सम० सू० १४४। नन्दी० सू० ५३। "अणुत्तरोववासियदसाणं दस अज्झयणा-ईसिदासे य धण्णो त सुणक्खत्ते य कातिते। सट्ठाणे सालिभद्दे त अणंदे तेतली तित। दसन्नभद्दे अतिमुत्ते एमेते दस आहिया॥ तत्र तृतीयवर्गे दृश्यमानाध्ययनैः कैश्चित् सह साम्यमस्ति न सर्वैः यत इहोक्तम्-इसिदासेत्यादि, तत्र तु दृश्यते-'धन्ने य सुनक्खत्ते ईसिदासे य आहिए। पेल्लए रामपुत्ते य चंदिमा पोट्ठिके इय। पेढालपुत्ते अणगारे अणगारे पोट्ठिले इय। विहल्ले दसमे वुत्ते एमे ए दस आहिया॥' इति। तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षया अध्ययनविभाग उक्तो न पुनरुपलभ्यमानवाचनापेक्षयेति।"-स्था० टी० सू० ७५४।

(१) "आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणं तस्मिन् लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः।"-राजवा० १।२०। "प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणं तस्मिन्··प्रश्नान्नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभ-दुःखसुखजीवितमरणजयपराजयनामद्रव्यायुस्संख्यानां लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयश्च प्ररूप्यते। आक्षेपणी-विक्षेपणी-संवेदनी-निर्वेदिन्यश्चेति चतस्रः कथाः एताश्च निरूप्यन्ते।"-ध० आ० प० ५४७। ध० सं० पृ० १०४। हरि० १०।४३। गो० जीव० जी० गा० ३५७। अंगप० गा० ५६-६७। "पण्हवागरणेसु ण अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं तं जहा-अंगुट्ठपसिणाइं बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइं अन्ने वि विचित्ता विज्जाइसया नागसुवण्णेहिं सिद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।"-नन्दी० सू० ५४। सम० सू० १४५। (२) "आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ। ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम॥ संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तववीरियइड्ढिगदा। णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य॥"-मूलारा० गा० ६५६-६५७। "तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्वणवपयत्थाणं सरूवं दिगंतरसमयांतरणिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। विक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं करेंती ससमयं थावंती छद्दव्वणवपयत्थे परूवेदि। संवेयणी णाम पुण्णफलसंकहा।··णिव्वेयणी णाम पावफलसंकहा··उक्तं च—आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्। संवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चां निर्वेगिनीं चाह कथां विरागाम्॥"-ध० सं० पृ० १०५-१०६। गो० जीव० जी० गा० ३५७। अंगप०। "चउव्विहा धम्मकहा-अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी निव्वेगणी।"-स्था० सू० २८२। "विज्जाचरणं च तवो पुरिसक्कारो य समिइगुत्तीओ। उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ अक्खेवणीइ रसो॥१९५॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोगवेयसंजुत्ता। परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी णाम॥१९७॥ जा ससमएण पुव्विं अक्खायं छुभेज्ज परसमए। परसासणवक्खेवा परस्स समयं परिकहेइ॥१९८॥ वीरिय विउव्वणिड्ढी णाणचरणदंसणाण तह इड्ढी। उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ संवेयणीइ रसो॥२००॥ पावाणं कम्माणं असुभविवागो कहिज्जए जत्थ। इह य परत्थ य लोए कहा उ णिव्वेयणी णाम॥२०१॥"-दश० नि०। "आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणिन इत्याक्षेपिणी।··विक्षिप्यते अनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोतेति विक्षेपिणी··संवेगं ग्राह्यते अनया श्रोतेति संवेजनी···पापानां कर्मणाञ्चौर्यादिकृतानामशुभो भवति दारुणपरिणामः कथ्यते यत्र··निर्विद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी।"-दश० नि० हरि० गा० १९३-२०२।

वण्णेदि । विवायसुत्तं णाम अंगं दव्व-क्खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण सुहासुहकम्माणं विवायं वण्णेदि । जेणेवं तेणेक्कारसण्हमंगाणं वत्तव्वं ससमओ ।

§१०१. परियम्मं चंद-सूर-जंबूदीव-दीवसायर-वियाहपण्णत्तिभेएण पंचविहं । तत्थ चंदपण्णत्ती चंदविमाणाउ-परिवारिद्धि-गमण-हाणि-वड्ढि-सयलद्ध-चउत्थभागग्गहणादीणि वण्णेदि । सूराउ-मंडल-परिवारिद्धि-पमाण-गमणायणुप्पत्तिकारणादीणि सूरसंबंधाणि सूरपण्णत्ती वण्णेदि । जंबूदीवपण्णत्ती जंबूदीवगय-कुलसेल-मेरु-दह-वस्स-वेइया-

और भावका आश्रय लेकर शुभ और अशुभ कर्मोंके विपाक (फल) का वर्णन करता है। जिसलिये ये अंग इसप्रकार वर्णन करते हैं इसलिये इन ग्यारह अंगोंका कथन स्वसमय है। अर्थात् इन अंगोंमें मुख्यरूपसे जैनमान्यताओंका ही वर्णन रहता है।

§ १०१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, और व्याख्याप्रज्ञप्तिके भेदसे परिकर्म पांच प्रकारका है। उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चन्द्रमाके विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि, वृद्धिका तथा सकलग्रासी अर्धभागग्रासी और चतुर्थभागग्रासी ग्रहण आदिका वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म सूर्यसंबन्धी आयु, मंडल, परिवार, ऋद्धि, प्रमाण, गमन, अयन और उत्पत्तिके कारण आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म जंबूद्वीपके कुलाचल, मेरु, तालाव, क्षेत्र, वेदिका, वनखंड, व्यन्तरोंके आवास

(१) "विपाकसूत्रे सुकृतदुष्कृतानां विपाकश्चिन्त्यते ।"–राजवा० १।२० । ध० आ० प० ५४७ । ध० सं० पृ० १०७ । हरि० १०।४४ । गो० जीव० जी० गा० ३५७ । अंगप० गा० ६८–६९ । "विवागसुए णं सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ ।"–नन्दी० सू० ५५ । सम० सू० १४६ । (२) "तत्र परितः सर्वतः कर्माणि गणितकरणसूत्राणि यस्मिन् तत्परिकर्म ।"–गो० जीव० जी० गा० ३६१ । अंगप० (पूर्व०) ११ । "सूत्रादिपूर्वगतानुयोगसूत्रार्थग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि, यथा गणितशास्त्रे सङ्कलनादीनि आद्यानि षोडश परिकर्माणि शेषगणितसूत्रार्थग्रहणे योग्यतासम्पादनसमर्थानि ।"–नन्दी० मलय० सू० ५६ । सम० अभ० सू० १४७ । "परिकर्माणि चन्द्रप्रज्ञप्तिः सूर्यप्रज्ञप्तिः द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः व्याख्याप्रज्ञप्तिरिति पंचाधिकाराः ।"–ध० आ० प० ५४७ । हरि० १०।६२ । गो० जीव० गा० ३६१ । "परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा–सिद्धसेणिआपरिकम्मे, मणुस्ससेणिआपरिकम्मे, पुट्ठसेणिआपरिकम्मे, ओगाढसेणिआपरिकम्मे, उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे, विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे, चुआचुअसेणिआपरिकम्मे ।"–नन्दी० सू० ५६ । सम० सू० १४७ । (३) "तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तौ पंचसहस्राधिकषट्त्रिंशच्छतसहस्रपदायां चन्द्रविम्वतन्मार्गायुःपरिवारप्रमाणं चन्द्रलोकः तद्गतिविशेषः तस्मादुत्पद्यमानचन्द्रदिनप्रमाणं राहुचन्द्रविम्वयोः प्रच्छाद्यप्रच्छादकविधानं तत्रोत्पत्तेः कारणं च निरूप्यते ।"–ध० आ० प० ५४७ । ध० सं० पृ० १०९ । हरि० १०।६२ । गो० जीव० जी० गा० ३६१ । अंगप० (पूर्व०) गा० २ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ९ । (४) "सूर्यप्रज्ञप्तौ··सूर्यविम्वमार्गपरिवारायुःप्रमाणं तत्प्रभावृद्धिह्रासकारणं सूर्यदिनमासवर्षयुगायनविधानं राहुसूर्यविम्वप्रच्छाद्यप्रच्छादकविधानं तद्गतिविशेषग्रहच्छायाकालराश्युदयविधानं च निरूप्यते ।"–ध० आ० प० ५४७ । ध० सं पृ० ११० । हरि० १०।६४ । गो० जीव० जी० गा० ३६१ । अंगप० (पूर्व०) गा० ४ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ९ । (५) "जंबूद्वीपप्रज्ञप्तौ··वर्षधरवर्षह्रदचैत्यचैत्यालयभरतैरावतगतसरित्संख्याश्च निरूप्यन्ते ।"–ध० आ० प० ५४७ । ध० सं० पृ० १११ । हरि० १०।६५ । गो० जीव० जी० गा० ३६१ । अंगप० (पूर्व०) गा० ५–६ । सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ९ ।

वणसंड-वेंतरावास-महाणंइयाईणं वण्णणं कुणइ। जा दीवसागरपण्णत्ती सा दीवसायराणं तत्थट्ठियजोयिस-वण-भवणावासाणं आवासं पडि संठिद-अकट्टिमजिणभवणाणं च वण्णणं कुणइ। जा पुण वियाहपण्णत्ती सा रूवि-अरूवि-जीवाजीवदव्वाणं भवसिद्धिय-अभवसिद्धियाणं पमाणस्स तल्लक्खणस्स अणंतर-परंपरसिद्धाणं च अण्णेसिं च वत्थूणं वण्णणं कुणइ।

§ १०२. जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अलेवओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ

और महानदियों आदिका वर्णन करता है। जो द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म है वह द्वीपोंका और सागरोंका तथा उनमें स्थित ज्योतिषी व्यन्तर और भवनवासी देवोंके आवासोंका तथा प्रत्येक आवासमें स्थित अकृत्रिम जिनभवनोंका वर्णन करता है। जो व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म है वह रूपी और अरूपी दोनों प्रकारके जीव और अजीव द्रव्योंके तथा भव्यसिद्ध अर्थात् भव्य और अभव्यसिद्ध अर्थात् अभव्य जीवोंके प्रमाण और लक्षणका तथा अनन्तरसिद्ध और परंपरासिद्धोंका तथा अन्य वस्तुओंका वर्णन करता है।

§ १०२. जो सूत्र नामका अर्थाधिकार है वह जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है,

(१)–णयिया–स०।–णाईया–आ०। (२) "द्वीपसागरप्रज्ञप्तौ··द्वीपसागराणामियत्ता तत्संस्थानं तद्विस्तृतिः तत्रस्थजिनालयाः व्यन्तरावासाः समुद्राणामुदकविशेषाश्च निरूप्यन्ते।"–ध० आ० प० ५४७। ध० सं० पृ० ११०। हरि० १०।६६। गो० जीव० जी० गा० ३६१। अंगप० (पूर्व०) गा० ७–१०। सं० श्रुतभ० टी० श्लो० ९। (३) जो ता०। (४) "व्याख्याप्रज्ञप्तौ··रूपिअजीवद्रव्यमरूपिअजीवद्रव्यं भव्याभव्यजीवस्वरूपञ्च निरूप्यते।"–ध० आ० प० ५४७। ध० सं० पृ० ११०। हरि० १०।६४। "रूप्यरूपिजीवाजीवद्रव्याणां भव्याभव्यभेदप्रमाणलक्षणानां··"–गो० जीव० जी० गा० ३६१। "जोऽरूविरूविजीवाजीवाईणं च दव्वनिवहाणं। भव्वाभव्वाणं पि य भेयं परिमाणलक्खणयं॥ सिद्धाणं··"–अंगप० (पूर्व०) गा० १२–१४। (५) "भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया (जीव० सू० १४१)= भव्या भविष्यन्तीति सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः··तद्विपरीता अभव्याः। उक्तं–"भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। तव्विवरीदा भव्वा संसारादो ण सिज्झंति॥"–ध० सं० पृ० ३९४। गो० जीव० गा० १९६। "तसकाए दुविहे पण्णत्ते–तं जहा–भवसिद्धिए चेव अभवसिद्धिए चेव। एवं थावरकाए वि।"–स्थान० सू० ७५। "भवा भाविनीसिद्धिः मुक्तिर्येषां ते भवसिद्धिकाः भव्याः।"–सम० अभ० सू० १। उत्तरा० पा० टी० प० ३४३। (६) "न विद्यते अन्तरं व्यवधानमर्थात् समयेन येषां ते अनन्तराः ते च ते सिद्धाश्च अनन्तरसिद्धाः सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमाना इत्यर्थः··विवक्षिते प्रथमे समये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स पर एवमन्येऽपि वाच्याः, परे च प परे चेति वीप्सायां पृषोदरादित्वात् परम्परशब्दनिष्पत्तिः। परम्पराश्च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः। विवक्षितसिद्धस्य प्रथमसमयात् प्राक् द्वितीयादिसमयेषु अतीताद्धां यावद्वर्तमाना इति भावः।"–प्रज्ञा० मलय० पद १। सिद्धप्रा० गा० ५। नन्दी० मलय० सू० १६। (७) "सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते–अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकम् अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते।"–ध० आ० प० ५४८। "अबंधओ अलेवओ··"–ध० सं० पृ० ११०। गो० जीव० जी० गा० ३६१। "जीवः अबन्धको अलेपो वा वि··"–अंगप० (पूर्व०) गा० १५–१६। "पदाष्टाशीतिलक्षा हि सूत्रे वादावदम्बला। श्रुतिस्मृतिपुराणार्थो द्वितीये सूचितः पुनः॥ तृतीये निर्गि··

अणुमेत्तो णिच्चेयणो सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो त्ति य णत्थियवादं, किरिया-वादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि।

"असीदि-सदं किरियाणं, अकिरियाणं च आहु चुलसीदिं।
सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं च वत्तीसं ॥६६॥"

एदीए गाहाए भणिदतिण्णिसय-तिसट्ठिसमयाणं वण्णणं कुणदि त्ति भणिदं होदि।

अकर्ता ही है, निर्गुण ही है, अभोक्ता ही है, सर्वगत ही है, अणुमात्र ही है, निश्चेतन ही है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है, नास्तिस्वरूप ही है इत्यादिरूपसे नास्तिवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद और वैनयिकवादका तथा अनेक प्रकारके गणितका वर्णन करता है।

"क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सरसठ और वैनयिकोंके वत्तीस भेद कहे हैं ॥६६॥"

इस गाथामें कहे गये तीनसौ त्रेसठ समयोंका वर्णन सूत्र नामका अर्थाधिकार करता है, यह उपर्युक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये।

विशेषार्थ–क्रिया कर्त्ताके विना नहीं हो सकती है और वह आत्माके साथ समवेत है ऐसा क्रियावादी मानते हैं। वे क्रियाको ही प्रधान मानते हैं ज्ञानादिकको नहीं। तथा वे जीवादि पदार्थोंके अस्तित्वको ही स्वीकार करते हैं। अस्तित्व एक; स्वतः परतः, नित्यत्व और अनित्यत्व ये चार; जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ तथा काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव ये पांच इसप्रकार इन सबके परस्पर गुणा करने पर 'स्वतः जीव कालकी अपेक्षा है ही, परतः जीव कालकी अपेक्षा है ही' इत्यादिरूपसे क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं। इन सब भेदोंका द्योतक कोष्टक निम्नप्रकार है–

चतुर्थे समया परे। सूत्रिता ह्यधिकारे ते नानाभेदव्यवस्थिताः ॥"–हरि० १०।६९-७०।

(१) णिरिया–अ०, आ०। (२) "असियसयं किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी। सत्तट्ठी अण्णाणि वेणैया होंति वत्तीसा ॥"–भावप्रा० गा० १३५। गो० कर्म० गा० ८७६। "चउविहा समोसरणा पण्णत्ता–तं जहा–किरियावादी अकिरियावादी अण्णाणिवादी वेणइयवादी।"–भग० ३०।१। स्था० ४।४। ३४५। नन्दी० सू० ४६। सम० सू० १३७। "असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं होइ चुलसीती। अन्नाणि य सत्तट्ठी वेणइयाणं च वत्तीसा ॥"–सूत्र० नि० गा० ११९। उद्धृतेयम्–सर्वार्थ० ८।१। आचा० शी० १। १।१।३। षड्द० वृह०। (३) "जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्तीत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनः ॥"–सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। "क्रिया कर्त्रा विना न संभवति, सा चात्मसमवायिनीति वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। अन्ये त्वाहुः–क्रियावादिनो ये ब्रुवते क्रिया प्रधानं किं ज्ञानेन? अन्ये तु व्याख्यान्ति–क्रियां जीवादिः पदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रिया-वादिनः।"–भग० अभ० ३०।१। नन्दी० चू० हरि०, मलय० सू० ४६। "पदार्था नव जीवाद्या स्वपरौ नित्य-तापरौ ॥ पंचभिर्नियतिपृष्टैश्चतुर्भिः स्वपरादिभिः। एकैकस्यात्र जीवादेर्योगेऽशीत्युत्तरं शतम् ॥"–हरि० १०। ४८-५०। "अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था। कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते

अस्ति								
स्वतः १	परतः २	नित्यत्व ३	अनित्यत्व ४					
जीव ०	अजीव ४	पुण्य ८	पाप १२	आस्रव १६	संवर २०	निर्जरा २४	बन्ध २८	मोक्ष ३२
काल ०	ईश्वर ३६	आत्मा ७२	नियति १०८	स्वभाव १४४				

श्वेताम्वर टीकाग्रन्थोंमें जीवादि नौ पदार्थ, स्वतः और परतः ये दो, नित्य और अनित्य ये दो तथा काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा ये पांच इसप्रकार इनके परस्पर गुणा करने पर जीव स्वतः कालकी अपेक्षा नित्य ही है, अजीव स्वतः कालकी अपेक्षा नित्य ही है इत्यादिरूपसे एकसौ अस्सी भेद वताये हैं।

जीवादि पदार्थ नहीं ही हैं इसप्रकारका कथन करनेवाले अक्रियावादी कहे जाते हैं। ये क्रियाके सर्वथा अभावको मानते हैं। नास्ति यह एक, स्वतः और परतः ये दो, जीवादि सात पदार्थ तथा कालादि पाँच, इसप्रकार इनके परस्पर गुणा करने पर स्वतः जीव कालकी अपेक्षा नहीं ही है, परतः जीव कालकी अपेक्षा नहीं ही है इत्यादिरूपसे अक्रियावादियोंके सत्तर भेद हो जाते हैं। तथा सात पदार्थोंका नियति और कालकी अपेक्षा नास्तित्व कहनेसे चौदह भेद और होते हैं। इसप्रकार अक्रियावादियोंके कुल भेद चौरासी हो जाते हैं। अव पहले पूर्वोक्त सत्तर भेदोंका ज्ञान करानेके लिये कोष्टक देते हैं–

हि भंगा हु ॥=प्रथमतः अस्तिपदं लिखेत् तस्योपरि स्वतः परतः नित्यत्वेन अनित्यत्वेनेति चत्वारि पदानि लिखेत्। तेपामुपरि जीवः अजीवः पुण्यं पापम् आस्रवः संवरः निर्जरा वन्धः मोक्ष इति नव पदानि लिखेत्, तदुपरि काल ईश्वर आत्मा नियतिः स्वभाव इति पंच पदानि लिखेत। तैः खल्वक्षसञ्चारक्रमेण भङ्गा उत्पद्यन्ते। तद्यथा–स्वतः सन् जीवः कालेन अस्ति क्रियते। परतो जीवः कालेन अस्ति क्रियते। नित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते। अनित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते। तथा अजीवादिपदार्थं प्रति चत्वारश्चत्वारो भूत्वा कालेनैकेन सह पट्त्रिंशत्। एवमीश्वरादिपदैरपि पट्त्रिंशत् पट्त्रिंशत् भूत्वा अशीतिप्रमितं क्रियावादभङ्गाः स्युः।"–गो० कर्म० जी० गा० ७८७। अंगप० (पू०) पृ० २७८। "जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते। तदधः स्वतः परतः इति भेदद्वयम्। ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वयम्। ततोऽप्यधस्तात्[illegible] काल-स्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते। ततश्चैवं चारणिकाक्रमः, तद्यथा अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः। एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयम्। सर्वेऽपि चत्वारः कालेन लब्धाः। एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते। तदा च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवति। सापि जीवपदार्थेन लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते। ततश्च नवविंशतयो मीलिताः क्रियावादिनाम् अशीत्युत्तरं शतं भवन्ति।"–सूत्र० शी० १।१२। आचा० शी० १।१।१।३। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। दद्द० वृह०।

(१) "नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवंवादिनः अक्रियावादिनः।"–सूत्र० शी० १।१२। क्रियाया अभावम्, न हि कस्यचिदप्यनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, सद्भावे च अनवस्थितेरभावादित्येवं

नास्ति						
स्वतः	परतः					
१	२					
जीव	अजीव	आस्रव	बन्ध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
०	२	४	६	८	१०	१२
काल	ईश्वर	आत्मा	नियति	स्वभाव		
०	१४	२८	४२	५६		

शेष चौदह भेदोंका कोष्ठक–

नास्ति						
जीव	अजीव	आस्रव	बन्ध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
१	२	३	४	५	६	७
नियति	काल					
०	७					

श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें जीवादि सात पदार्थ, स्व और पर ये दो तथा काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये छह इसप्रकार इनके परस्पर गुणा करनेसे अक्रियावादियोंके चौरासी भेद गिनाये हैं।

जो अज्ञानको ही श्रेयस्कर मानते हैं वे अज्ञानवादी कहे जाते हैं। इनके मतसे प्रमाण

ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः। तथा चाहुरेके–क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥ इत्यादि। अन्ये त्वाहुः–अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया, चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति। अन्ये तु व्याख्यान्ति–अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते अक्रियावादिनः।"–भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० बृ०। "सप्तजीवादितत्त्वानि स्वतश्च परतोऽपि न। प्रत्येकं पौरुषान्तेभ्यो न सन्तीति हि सप्ततिः। नियतेः कालतः सप्त तत्त्वानीति चतुर्दश। सप्तत्या तत्समायोगे अशीतिश्चतुरधिष्ठिताः॥"–हरि० १०। ५७–५८। "णत्थि सदो परदो वि य सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा। कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंतिसंजादा॥ णत्थि य सत्त पयत्था णियदीदो कालदो तिपं तिभवा। चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी॥ —नास्ति तस्योपरि स्वतः परतश्च। तदुपरि पुण्यपापोनपदार्थाः सप्त। तदुपरि कालादिकाः पञ्चेति चतसृषु पंक्तिषु प्राग्वत्संजाता भंगा स्वतो जीवः कालेन नास्ति क्रियते इत्यादयः सप्ततिः। नास्तित्वं सप्तपदार्थान् नियतिकालौ चोपर्युपरि पंक्तीः कृत्वा जीवो नियतितो नास्ति क्रियते इत्यादयश्चतुर्दश स्युः इत्येवमक्रियावादाश्चतुरशीतिः।"–गो० कर्म० जी० गा० ८८४–८८५। अंगप० (पूर्व) गा० २४–२५। –"जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति।"–आचा० शी० १।१।१।४। नन्दी० मलय० सू० ४६। षड्द० बृह०। "तथाचोक्तम्–कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः। नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः॥"–सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। (१) "हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्।"–सर्वार्थ० ८।१। "कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तद्येषामस्ति ते अज्ञानिकाः। ते च वादिनश्चेत्यज्ञानिक-

समग्र वस्तुको विषय करनेवाला नहीं होनेसे किसीको भी किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता है। इन अज्ञानवादियोंके जीवादि नौ पदार्थोंको अस्ति आदि सात भंगों पर लगानेसे त्रेसठ भेद हो जाते हैं। तथा एक शुद्ध पदार्थको अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य पर लगानेसे चार भेद और हो जाते हैं। इसप्रकार अज्ञानवादियोंके कुल भेद सड़सठ होते हैं।

श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें जीवादि नौ पदार्थोंको सत् आदि सात भंगोंपर लगानेसे त्रेसठ और उत्पत्तिको सत् आदि प्रारंभके चार भंगों पर लगानेसे चार इसप्रकार अज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद कहे हैं।

जो समस्त देवता और समयोंको समानरूपसे स्वीकार करते हैं वे वैनयिक कहे जाते हैं। इनके यहाँ स्वर्गादिकका मुख्य कारण विनय ही कहा गया है। इन वैनयिकोंके देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, वाल, माता और पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय और दानके साथ विनय करनेसे बत्तीस भेद हो जाते हैं। श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें भी वैनयिकोंके इसीप्रकार भेद गिनाये हैं। इसप्रकार क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सड़सठ और वैनयिकोंके बत्तीस ये सब मिलाकर तीनसौ त्रेसठ पर

वादिनः। ते च अज्ञानमेव श्रेयः असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणानामसम्पूर्णवस्तुविषयत्वादित्याद्यभ्युपगमवन्तः।"–भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। सूत्र० शी० १।१२। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० वृह० श्लो० १। "पदार्थान्नव को वेत्ति सदाद्यैः सप्तभङ्गकैः। इत्याज्ञानिकसन्दृष्ट्या त्रिषष्टिरुपचीयते ॥५६॥ सद्भावोत्पत्तिविद् वा कोऽसद्भावोत्पत्तिविच्च कः। उभयोत्पत्तिवित्कश्चावक्तव्योत्पत्तिविच्च कः ॥५७॥ भावमात्राभ्युपगमैर्विकल्पैरेभिराहृतैः। त्रिषष्टिः सप्तषष्टिः स्यादाज्ञानिकमतात्मिका ॥५८॥"–हरि० १०।५४-५८। "को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि। अवयणजुदसत्ततयं इति भंगा होंति तेसट्ठी ॥ को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा। चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥ =जीवादिनवपदार्थेषु एकैकस्य अस्त्यादिसप्तभङ्गेषु एकैकेन जीवोऽस्तीति को जानाति, जीवो नास्तीति को जानाति इत्याद्यालापे कृते त्रिषष्टिर्भवन्ति। पुनः शुद्ध-पदार्थ इति लिखित्वा तदुपरि अस्ति नास्ति अस्तिनास्ति अवक्तव्यम् इति चतुष्कं लिखित्वा [illegible]-संभवाः खलु भंगाः 'शुद्धपदार्थोऽस्तीति को जानीते' इत्यादयः चत्वारो भवन्ति। एवं मिलित्वा अज्ञानवादाः सप्तषष्टिः।"–गो० कर्म० जी० गा० ८८६-८८७। अंगप० (पूर्व०) गा० २६। "जीवादयो नव पदार्थाः उत्पत्तिश्च दशमी। सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैः विज्ञातुं न शक्यन्ते न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति। भावना चेयम्–सन् जीव इति को वेत्ति किं वा तेन ज्ञातेन? असन् जीव इति को जानाति किं वा तेन ज्ञातेन इत्यादि। एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकाः त्रिषष्टिः। अमी चान्ये चत्वारः त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते। तद्यथा–सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति किं वानया ज्ञातया? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति किं वानया ज्ञातयेति। शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम्। [illegible] सप्तषष्टिर्भवन्ति।"–आचा० शी० १।१।१।४। सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० वृह० श्लो० १।

(१) "सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शिनो वैनयिकाः।"–षड्दर्श० ८१। "[illegible] प्रयोजन एषामिति वैनयिकाः। ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः [illegible]

नास्ति						
स्वतः १	परतः २					
जीव ०	अजीव २	आस्रव ४	बन्ध ६	संवर ८	निर्जरा १०	मोक्ष १२
काल ०	ईश्वर १४	आत्मा २८	नियति ४२	स्वभाव ५६		

शेष चौदह भेदोंका कोष्ठक–

नास्ति						
जीव १	अजीव २	आस्रव ३	बन्ध ४	संवर ५	निर्जरा ६	मोक्ष ७
नियति ०	काल ७					

श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें जीवादि सात पदार्थ, स्व और पर ये दो तथा काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये छह इसप्रकार इनके परस्पर गुणा करनेसे अक्रियावादियोंके चौरासी भेद गिनाये हैं।

जो अज्ञानको ही श्रेयस्कर मानते हैं वे अज्ञानवादी कहे जाते हैं। इनके मतसे प्रमाण

ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः। तथा चाहुरेके–क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥ इत्यादि। अन्ये त्वाहुः–अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया, चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति। अन्ये तु व्याख्यान्ति–अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते अक्रियावादिनः।"–भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० बृ०। "सप्तजीवादितत्त्वानि स्वतश्च परतोऽपि च। प्रत्येकं पौरुषान्तेभ्यो न सन्तीति हि सप्ततिः। नियतेः कालतः सप्त तत्त्वानीति चतुर्दश। सप्तत्या तत्समायोगे अशीतिश्चतुरधिष्ठिताः॥"–हरि० १०। ५७–५८। "णत्थि सदो परदो वि य सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा। कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंतिसंजादा॥ णत्थि य सत्त पयत्था णियदीदो कालदो तिपं तिभवा। चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी॥ —नास्ति तस्योपरि स्वतः परतश्च। तदुपरि पुण्यपापोनपदार्थाः सप्त। तदुपरि कालादिकाः पञ्चेति चतसृषु पंक्तिषु प्राग्वत्संजाता भंगा स्वतो जीवः कालेन नास्ति क्रियते इत्यादयः सप्ततिः। नास्तित्वं सप्तपदार्थान् नियतिकालौ चोपर्युपरि पंक्तीः कृत्वा जीवो नियतितो नास्ति क्रियते इत्यादयश्चतुर्दश स्युः इत्येवमक्रियावादाश्चतुरशीतिः।"–गो० कर्म० जी० गा० ८८४–८८५। अंगप० (पूर्व) गा० २४–२५। –"जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति।"–आचा० शी० १।१।१।४। नन्दी० मलय० सू० ४६। षड्द० बृह०। "तथाचोक्तम्–कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः। नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः॥"–सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। (१) "हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्।"–सर्वार्थ० ८।१। "कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्ति ते अज्ञानिकाः। ते च वादिनश्चेत्यज्ञानिक-

समग्र वस्तुको विषय करनेवाला नहीं होनेसे किसीको भी किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता है। इन अज्ञानवादियोंके जीवादि नौ पदार्थोंको अस्ति आदि सात भंगों पर लगानेसे त्रेसठ भेद हो जाते हैं। तथा एक शुद्ध पदार्थको अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य पर लगानेसे चार भेद और हो जाते हैं। इसप्रकार अज्ञानवादियोंके कुल भेद सड़सठ होते हैं।

श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें जीवादि नौ पदार्थोंको सत् आदि सात भंगोंपर लगानेसे त्रेसठ और उत्पत्तिको सत् आदि प्रारंभके चार भंगों पर लगानेसे चार इसप्रकार अज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद कहे हैं।

जो समस्त देवता और समयोंको समानरूपसे स्वीकार करते हैं वे वैनयिक कहे जाते हैं। इनके यहाँ स्वर्गादिकका मुख्य कारण विनय ही कहा गया है। इन वैनयिकोंके देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, वाल, माता और पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय और दानके साथ विनय करनेसे वत्तीस भेद हो जाते हैं। श्वेताम्बर टीकाग्रंथोंमें भी वैनयिकोंके इसीप्रकार भेद गिनाये हैं। इसप्रकार क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सड़सठ और वैनयिकोंके वत्तीस ये सब मिलाकर तीनसौ त्रेसठ पर

वादिनः। ते च अज्ञानमेव श्रेयः असञ्चिन्त्यकृतकर्मवन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणानामसम्पूर्णवस्तुविषयत्वादित्याद्यभ्युपगमवन्तः।"–भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। सूत्र० शी० १।१२। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० वृह० श्लो० १। "पदार्थान्नव को वेत्ति सदाद्यैः सप्तभङ्गकैः। इत्याज्ञानिकसन्दृष्टया त्रिषष्टिरुपचीयते ॥५४॥ सद्भावोत्पत्तिविद् वा कोऽसद्भावोत्पत्तिविच्च कः। उभयोत्पत्तिवित्कश्चावक्तव्योत्पत्तिविच्च कः ॥५७॥ भावमात्राभ्युपगमैर्विकल्पैरेभिराहृतैः। त्रिषष्टिः सप्तषष्टिः स्यादाज्ञानिकमतात्मिका ॥५८॥"–हरि० १०।५४–५८। "को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि। अवयणजुदमसत्ततयं इति भंगा होंति तेसट्ठी ॥ को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा। चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥=जीवादिनवपदार्थेषु एकैकस्य अस्त्यादिसप्तभङ्गेषु एकैकेन जीवोऽस्तीति को जानाति, जीवो नास्तीति को जानाति इत्याद्यालापे कृते त्रिषष्टिर्भवन्ति। पुनः शुद्धपदार्थ इति लिखित्वा तदुपरि अस्ति नास्ति अस्तिनास्ति अवक्तव्यम् इति चतुष्कं लिखित्वा एतत्पंक्तिद्वयसंभवाः खलु भंगाः' 'शुद्धपदार्थोऽस्तीति को जानीते इत्यादयः चत्वारो भवन्ति। एवं मिलित्वा अज्ञानवादाः सप्तषष्टिः।"–गो० कर्म० जी० गा० ८८६–८८७। अंगप० (पूर्व०) गा० २६। "जीवादयो नव पदार्थाः उत्पत्तिश्च दशमी। सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैः विज्ञातुं न शक्यन्ते न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति। भावना चेयम्–सन् जीव इति को वेत्ति किं वा तेन ज्ञातेन? असन् जीव इति को जानाति किं वा तेन ज्ञातेन इत्यादि। एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकाः त्रिषष्टिः। अमी चान्ये चत्वारः त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते। तद्यथा–सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति किं वानया ज्ञातया? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति किं वानया ज्ञातयेति। शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम्। एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात् सप्तषष्टिर्भवन्ति।"–आचा० शी० १।१।१।४। सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४०।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० वृह० श्लो० १।

(१) "सर्वदेवतानां सर्वसमयानाञ्च समदर्शनं वैनयिकम्।"–सर्वार्थ० ८।१। "विनयेन चरति स वा प्रयोजन एषामिति वैनयिकाः। ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः विनय एव वा वैनयिकं तदेव ये स्वर्गा-

§ १०३. जो पुण पढमाणिओओ सो चउवीसतित्थयर-बारहचक्कवट्टि-णवबल-णवणारायण-णवपडिसत्तूणं पुराणं जिण-विज्जाहर-चक्कवट्टि-चारण-रायादीणं वंसे य वण्णेदि।

§ १०४. पुव्वगयं उप्पाय-वय-धुवत्तादीणं णाणाविहअत्थाणं वण्णणं कुणइ ।

समय होते हैं । इन सबका कथन सूत्र नामक अर्थाधिकारमें किया है ।

§ १०३. जो प्रथमानुयोग नामका तीसरा अर्थाधिकार है वह चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणोंके पुराणोंका तथा जिनदेव, विद्याधर, चक्रवर्ती, चारणऋद्धिधारी मुनि और राजा आदिके वंशोंका वर्णन करता है ।

§ १०४. पूर्वगत नामका चौथा अर्थाधिकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि धर्मवाले नाना प्रकारके पदार्थोंका वर्णन करता है ।

दिहेतुतया वदन्त्येवं शीलाश्च ते वैनयिकवादिनः विधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः ।"–भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। "विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः ।"–सूत्र० शी० १।६।२७। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० बृह० श्लो० १ । "विनयः खलु कर्त्तव्यो मनोवाक्कायदानतः । पितृदेवनृपज्ञानिबालवृद्धतपस्विषु ॥ मनोवाक्कायदानानां मात्राद्यष्टकयोगतः । द्वात्रिंशत्परिसंख्याता वैनयिक्यो हि दृष्टयः ॥"–हरि० १०।५९-६०। "मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणिजदिवुड्ढे । बाले मादुपिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ ॥=देवनृपतिज्ञानियतिवृद्धबालमातृपितृष्वष्टसु मनोवचनकायदानविनयाश्चत्वारः कर्त्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादाः स्युः ।"–गो० कर्म० जी० गा० ८८८। अंगप० (पूर्व०) गा० २८। "सुरनृपतिज्ञानिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु । मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात्····"–आचा० शी० १।१।१।४। सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० हरि० मलय० सू० ४६। षड्द० बृह० श्लो० १ ।

(१) "पढमाणियोगो पंचसहस्सपदेहि पुराणं वण्णेदि । उत्तं च–बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं । तं सव्वे वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य । पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टिवंसो दु । विज्जाहराण तदियो चउत्थओ वासुदेवाणं । चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं । सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ॥ णवमो य इक्खयाणं दसमो वि य कासियाण वोद्धव्वो । वाईणेक्कारसमो वारसमो णाहवंसो दु ।"–ध० सं० पृ० ११२। ध० आ० प० ५४८। हरि० १०।७१। गो० जीव० जी० गा० ३६१। "पढमं मिच्छादिट्ठि अव्वदिकं आसिदूण पडिवज्ज । अणुयोगो अहियारो वुत्तो पढमाणियोगो सो ।"–अंगप० (पूर्व०) गा० ३५। "से किं तं मूलपढमाणुओगे ? एत्थ णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवलोगगमणाणि आऊं चवणाणि जम्माणि अ अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया अ तित्थपवत्ताणि अ संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउवन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा··आघविज्जंति ।"–सम० सू० १४७। नन्दी० सू० ५६। (२) "जंबुद्दीवे दीवे भरहेरावएसु वासेसु, एगमेगाते ओसप्पिणिउस्सप्पिणीए तओ वंसाओ उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिसंति वा । तं जहा-अरहंतवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे ।"–स्था० सू० १४३। (३) "यस्मात्तीर्थंकरः तीर्थप्रवर्तनाकाले गणधराणां सर्वसूत्राधारत्वेन पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते तस्मात् पूर्वाणि भणितानि, गणधराः पुनः श्रुतरचनां विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति । मतान्तरेण तु पूर्वगतसूत्रार्थः–पूर्वमर्हता भाषितो गणधरैरपि पूर्वगतश्रुतमेव पूर्वं रचितं पश्चादाचारादि । नन्वेवं यदाचारनिर्युक्त्यामभिहितं 'सव्वेसिं आयारो पढमो' इत्यादि तत्कथम् ? उच्यते–तत्र स्थापनामाश्रित्य तथोक्तम्, इह तु अक्षररचनां प्रतीत्य भणितम्, पूर्वं पूर्वाणि कृतानीति ।"–सम० अभ० सू० १४७। नन्दी० मलय० हरि० सू० ५६।

§ १०५. चूलिया पंचविहा जल-थल-माया-रूवायासगया त्ति। तत्थ जलगया जलत्थंभण-जलगमणहेदुभूदमंत-तंत-तवच्छरणाणं अग्गित्थंभण-भक्खणासण-पवणादि-कारणपओए च वण्णेदि। थलगया कुलसेल-मेरु-महीहर-गिरि-वसुंधरादिसु चडुलगमणकारणमंत-तंत-तवच्छरणाणं वण्णणं कुणइ। मायागया पुण माहिंदजालं वण्णेदि। रूवगया हरि-करि-तुरय-रुरु-णर-तरु-हरिण-वसह-सस-पसयादिसरूवेण परावत्तणविहाणं णरिंदवायं च वण्णेदि। जा आयासगया सा आयासगमणकारणमंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।

§ १०६. जमुप्पायपुव्वं तमुप्पाय-वय-धुवभावाणं कमाकमसरूवाणं णाणाणयविस-

§ १०५. जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगताके भेदसे चूलिका नामका पांचवां अर्थाधिकार पांच प्रकारका है। उनमेंसे जलगता नामकी चूलिका जलस्तंभन और जलमें गमनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा अग्निका स्तंभन करना, अग्निका भक्षण करना, अग्नि पर आसन लगाना और अग्नि पर तैरना इत्यादि क्रियाओंके कारणभूत प्रयोगोंका वर्णन करती है। स्थलगता नामकी चूलिका कुलाचल, मेरु, महीधर, गिरि और पृथ्वी आदि पर चपलता पूर्वक गमनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। मायागता नामकी चूलिका महेन्द्रजालका वर्णन करती है। रूपगता नामकी चूलिका सिंह, हाथी, घोड़ा, रुरुजातिका मृगविशेष, मनुष्य, वृक्ष, हरिण, बैल, खरगोश और पसय अर्थात् मृगविशेष आदिके आकाररूपसे अपने रूपको बदलनेकी विधिका और नरेन्द्रवादका वर्णन करती है। जो आकाशगता नामकी चूलिका है वह आकाशमें गमनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है।

§ १०६. जो उत्पादपूर्व है वह नाना नयोंके विषयभूत तथा क्रम अक्रमरूप अर्थात् पर्याय-

(१) "सूचिदत्थाणं विवरणं चूलिया। जाए अत्थपरूवणाए कदाए पुव्वपरूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया त्ति भणिदं होदि।"-ध० आ० प० ६९८। "चूल त्ति सिहरं दिट्ठिवाते जं पुव्वाणुओगे य भणितं तच्चूलासु भणितं।"-नन्दी० चू० पृ० ६१। "इह दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयश्चूडा इति।"-नन्दी० हरि०, मलय० सू० ५६। (२) "जलगतायां·· जलगमनहेतवो मन्त्रौपधतपोविशेषा निरूप्यन्ते।"-ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११३। गो० जीव० जी० गा० ३६२। "जलथंभण जलगमणं वण्णदि विण्हिस्स भक्खं जं। वेसणसेवणमंतं तंतं तवचरणपमुहविहिभेए॥"-अंगप० (चू०) गा० १-२। (३) "स्थलगतायां··योजनसहस्रादिगतिहेतवो विद्यामन्त्रतपोविशेषा निरूप्यन्ते।"-ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११३। गो० जीव० जी० गा० ३६२। अंगप० (चू०) गा० ३। (४)-महिहर-ता०। (५) "मायागतायां··मायाकरणहेतुविद्यामन्त्रतन्त्रतपांसि निरूप्यन्ते।" -ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११३। गो० जीव० जी० गा० ३६२। अंगप० (चू०) गा० ५। (६) "रूपगतायां··चेतनाचेतनद्रव्याणां रूपपरावर्तनहेतुविद्यामन्त्रतन्त्रतपांसि नरेन्द्रवादश्चित्राचित्रभाषादयश्च निरूप्यन्ते।"-ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११३। गो० जीव० जी० गा० ३६२। अंगप० (चू०) गा० ६-७। (७)-वराह-आ०। (८) "आकाशगतायां···आकाशगमनहेतुभूतविद्यामन्त्रतन्त्रतपोविशेषा निरूप्यन्ते।"-ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११३। गो० जीव० जी० गा० ३६२। अंगप० (चू०) गा० ९। (९) "पुद्लकालजीवादीनां यदा यत्र यथा पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यन्ते तदुत्पादपूर्वम्।"-राजवा० १।२०।

याणं वण्णणं कुणइ । अग्गेणियं णाम पुव्वं सत्तसय-सुणय-दुणयाणं छद्दव्व-णवपयत्थ-पंचत्थियाणं च वण्णणं कुणइ। विरियाणुपवादपुव्वं अप्पविरिय-परविरिय-तदुभयविरिय-खेत्तविरिय-कालविरिय-भवविरिय-तवविरियादीणं वण्णणं कुणइ । अत्थिणत्थिपवादो सव्वदव्वाणं सरूवादिचउक्केण अत्थित्तं पररूवादिचउक्केण णत्थित्तं च परूवेदि । विहि-पडिसेहधम्मे णयगहणलीणे णाणादुण्णयणिराकरणदुवारेण परूवेदि त्ति भणिदं होदि ।

दृष्टिसे क्रमसे होनेवाले और द्रव्यदृष्टिसे अक्रमसे होनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन करता है। अग्रायणी नामका पूर्व सातसौ सुनय और दुर्नयोंका तथा छह द्रव्य, नौ पदार्थ और पांच अस्तिकायोंका वर्णन करता है। वीर्यानुप्रवाद नामका पूर्व आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य आदिका वर्णन करता है, अर्थात् इसमें प्रत्येक वस्तुकी सामर्थ्यका वर्णन रहता है। अस्तिनास्तिप्रवाद नामका पूर्व स्वरूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षा समस्त द्रव्योंके अस्तित्वका और परद्रव्य आदि चतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्वका प्ररूपण करता है। तात्पर्य यह है कि यह पूर्व नाना दुर्नयोंका निराकरण करके नयोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य विधि और प्रतिषेधरूप धर्मोंका वर्णन करता है। ज्ञानप्रवाद

ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११५। हरि० १०।७५। गो० जीव० जी० गा० ३६५। अंगप० (पूर्व०) गा० ३८। "तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया।"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० स० १४७।

(१) "क्रियावादादीनां प्रक्रिया अग्रायणी चांगादीनां स्वसमयविषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्।" –राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११५। हरि० १०।७६। "अग्रस्य द्वादशांगेषु प्रधानभूतस्य वस्तुनः अयनं ज्ञानमग्रायणं तत्प्रयोजनमग्रायणीयम्"–गो० जीव० जी० गा० ३६५। "अग्गस्स वत्थुणो पि हि पहाणभूदस्स णाणमगणंतं। सुअग्गायणीयपुव्वं अग्गायणसंभवं विदियं ॥ सत्तसयसुणयदुण्णयपंचत्थिसुकायछक्कदव्वाणं। तच्चाणं सत्तण्हं वण्णेदि तं अत्थणियराणं ॥" भेए लक्खणानि य····"–अंगप० (पूर्व०) गा० ४०-४१। "बितियं अग्गेणीयं, तत्थ वि सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवाजीवविसेसाण य अग्गं परिमाणं वन्निज्जति त्ति अग्गेणीयं।"–नन्दी० चू०, हरि०, सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। "अग्रं परिमाणं तस्यायनं गमनं परिच्छेदनमित्यर्थः। तस्मै हितमग्रायणीयं सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थः।" –नन्दी० मलय० सू० ५६। (२) "इक्किक्को य सयविहो सत्तनयसया हवंति एमेव।"–विशेषा० गा० २२६४। (३) "छद्मस्थकेवलिनां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्रचक्रधरबलदेवानाञ्च वीर्यलाभो द्रव्याणं सम्यक्लक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११५। हरि० १०।८८। गो० जीव० जी० गा० ३६६। " तं वण्णदि अप्पवलं परविज्जं उहयविज्जमवि णिच्चं। खेत्तवलं कालवलं भाववलं तववलं पुण्णं ॥ दव्ववलं गुणपज्जयविज्जविज्जावलं च सव्ववलं।"– अंगप० (पूर्व०) गा० ५०–५१। "तत्थवि अजीवाण जीवाण य सकम्मेतराण वीरियं प्रवदंतीति वीरियप्पवादं।"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (४) "पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानाञ्चानेकपर्यायैरिदमस्ति इदं नास्तीति च कार्त्स्न्येन यत्रावभासितं तदस्तिनास्तिप्रवादम्। अथवा षण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्वपरपर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामर्पितानर्पितसिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं तदस्तिनास्तिप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४८। ध० सं० पृ० ११५। हरि० १०।८९। गो० जीव० जी० गा० ३३६। अंगप० (पूर्व०) गा० ५२-५७। "जं लोगे जधा अत्थि णत्थि

णाणप्पवादो मदि-सुद-ओहि-मणपज्जव-केवलणाणाणि वण्णेदि। पच्चक्खाणुमाणादि-सयलपमाणाणि अण्णहाणुववत्तिएकलक्खणहेउसरूवं च परूवेदि[3] त्ति भणिदं होदि। सच्चपवादो ववहारसच्चादिदसविहसच्चाणं सत्तभंगीए सयलवत्थुणिरूवणविहाणं च भणइ।

§ १०७. आदपवादो णाणाविहदुण्णए जीवविसए णिराकरिय जीवसिद्धिं कुणइ। अत्थि जीवो तिलक्खणो सरीरमेत्तो सपरप्पयासओ सुहुमो अमुत्तो भोत्ता कत्ता अणाइ-

नामका पूर्व मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका वर्णन करता है। तात्पर्य यह है कि यह पूर्व प्रत्यक्ष और अनुमानादि समस्त प्रमाणोंका तथा जिसका अन्यथानुपपत्ति ही एक लक्षण है ऐसे हेतुके स्वरूपका प्ररूपण करता है। सत्यप्रवाद नामका पूर्व व्यवहारसत्य आदि दस प्रकारके सत्योंका और सप्तभंगीके द्वारा समस्त पदार्थोंके निरूपण करनेकी विधिका कथन करता है।

§ १०७. आत्मप्रवाद नामका पूर्व जीवविषयक नानाप्रकारके दुर्नयोंका निराकरण करके जीवद्रव्यकी सिद्धि करता है। जीव है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वरूप त्रिलक्ष-णात्मक है, शरीर प्रमाण है, स्वपरप्रकाशक है, सूक्ष्म है, अमूर्त है, व्यवहार नयसे कर्म-फलोंका और निश्चयनयसे अपने स्वरूपका भोक्ता है, व्यवहारनयसे शुभाशुभ कर्मोंका और निश्चयनयसे अपनी चित्पर्यायोंका कर्ता है, अनादिबन्धनसे बद्ध है, ज्ञान-दर्शनलक्षणवाला

वा अहवा सियवायाभिप्पाददो तेदवास्ति नास्तीत्येवं प्रवाद इति अत्थिणत्थिप्पवादं भणितं।"–नन्दी० चू०, हरि० मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७।

(१) "पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भावविषयायतनानां ज्ञानिनाम् अज्ञानिनामिन्द्रियाणाञ्च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावितस्तज्ज्ञानप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४९। ध० सं० पृ० ११६। हरि० १०।९०। गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० ५९। "तम्हि मइणाणाइपंचकस्स सप्रभेदं जम्हा प्ररूपणा कता तम्हा णाणप्पवादं'–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (२) "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्"–न्यायवि० श्लो० २६९। प्रमाणसं० पृ० १०४। लघी० श्लो० १२। "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः अन्यथानुपपत्त्यैकलक्षणं लिङ्गमभ्यते"–प्रमाणप०। तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २१४। न्यायकुमु० पृ० ४३४ टि० ९। "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्"–न्यायावता० श्लो० २२। (३)–दि भ–अ०, आ०। (४) "वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकार-मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितस्तत्सत्यप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५४९। ध० सं० पृ० ११६। हरि० १०।९१। गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० ७८-८४। "सच्चं संजमो तं सच्चवयणं वा तं सच्चं जत्थ सभेदं सप्पडिवक्खं च वण्णिज्जइ तं सच्चप्पवायं।"–नन्दी० चू०, हरि० मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (५) "जणवदसम्मदठवणा णामे रूवे पडुच्च सच्चे य। संभावणववहारे भावे ओपम्मसच्चे य॥"–मूलारा० गा० ११९४। मूलाचा० ५।१११। गो० जीव० गा० २२२। "जणवयसम्मयठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे य। ववहारभावजोगे दसमे ओवम्मसच्चे य।"–दश० नि० गा० २७३। (६) "यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो धर्माः षड्जीवनि-कायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टाः तदात्मप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। ध० सं०पृ० ११८। हरि० १०।१०८–९। गो० जी० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०)। "आयत्ति आत्मा, सोऽणेगधा जत्थ णयदरिसणेहिं वण्णिज्जइ तं आयप्पवादं"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४६।

वंधणवद्धो णाण-दंसणलक्खणो उड्ढगमणसहावो एवमाइसरूवेण जीवं साहेदि त्ति वुत्तं होदि। सव्वदव्वाणमादं सरूवं वण्णेदि आदपवादो त्ति के वि आइरिया भणंति।

§ १०८. कम्मपवादो समोदाणिरियावहकिरियातवाहाकम्माणं वण्णणं कुणइ।

है, और ऊर्ध्वगमनस्वभाव है इत्यादि रूपसे यह पूर्व जीवकी सिद्धि करता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये। कुछ आचार्योंका यह मत है कि आत्मप्रवाद नामका पूर्व सर्वद्रव्योंके आत्मा अर्थात् स्वरूपका वर्णन करता है।

§ १०८. कर्मप्रवाद नामका पूर्व समवदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, तप और अधः-कर्मका वर्णन करता है।

विशेषार्थ–कर्म अनुयोगद्वारमें कर्मके दस भेद गिनाये हैं–नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भाव-

(१) "जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पभु कत्ता। भोत्ता य देहमत्तो णहि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढो लोगस्स अंतमधिगंता। सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥"–पञ्चा० गा० २७–२८। द्रव्यसं० गा० २। (२) "वन्धोदयोपशमनिर्जरापर्याया अनुभवप्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टा यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्।"–राजवा० १।२०। हरि० १०।११०। ध० सं० पृ० १२१। ··अथवा ईर्यापथकर्मादिसप्तकर्माणि यत्र निर्दिश्यन्ते तत्कर्मप्रवादम्"–ध० आ० प० ५५०। गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व) गा० ८८–९४। "णाणावरणाइयं अट्ठविहं कम्मं पगतिठितिअणुभागप्पदेसादिएहिं भेदेहिं अण्णेहिं उत्तरुत्तरभेदेहिं जत्थ वण्णिज्जइ तं कम्मप्पवादं।"–नन्दी० चू०, हरि० मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (३) "दसविहे कम्मणिक्खेवे–णामकम्मे ठवणकम्मे दव्वकम्मे पओअकम्मे समुदाणकम्मे आधाकम्मे इरियावहकम्मे (तवोकम्मे) किरियाकम्मे भावकम्मे चेदि। (कर्म० अनु०) जं तं णामकम्मं णाम तं जीवस्स वा··जस्स णामं कीरदि कम्मेति तं सव्वं णामकम्मं णाम। ··जं तं ठवणकम्मं णाम··तं कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा··एवमादिया ठुवणाए ठविज्जदि कम्मेति तं सव्वं ठवणकम्मं णाम। ··जं तं दव्वकम्मं णाम जाणि दव्वाणि सब्भावकिरियाणिप्फण्णाणि तं सव्वं दव्वकम्मं णाम। जं तं पओअकम्मं णाम तं तिविहं मणपओअकम्मं वचिपओअकम्मं कायपओअकम्मं। ··जीवस्स मनसा सह प्रयोगः वचसा सह प्रयोगः कायेन सह प्रयोगश्चेति एवं पओओ तिविहो होइ··। जं तं समोदाणकम्मं णाम। तं सत्तविहस्स वा अट्ठविहस्स वा छव्विहस्स वि वा कम्मस्स समोदाणदाए गहणं पवत्तदि तं सव्वं समोदाणकम्मं णाम। समयाविरोधेन समवदीयते खंडयते इति समवधा (दा) नम्, समवदानमेव समवदानता। कम्मइयपोग्गलाणं मिच्छत्तासंजम-जोगकसाएहि अट्ठकम्मसरूवेण सत्तकम्मसरूवेण छक्कम्मसरूवेण वा भेदो समोदणदा त्ति वुत्तं होइ। जं तं आधाकम्मं णाम··तं ओद्दावणविद्दावणपरिद्दावण आरंभकदिणिप्पण्णं तं सव्वं आधाकम्मं णाम····जीवस्य उपद्रवणम् ओद्दावणं णाम। अङ्गच्छेदनादिव्यापारः विद्दावणं णाम। सन्तापजननम् परिद्दावणं णाम, प्राणे प्राणवियोजनम् आरंभो णाम, ओद्दावणविद्दावणपरिद्दावणआरंभकज्जभावेण णिप्फण्णमोरालियसरीरं तं सव्वं आधाकम्मं णाम··। जं तमीरियापथकम्मं णाम ईर्य्या योगः स पन्था मार्गः हेतुःयस्य कर्मणः तदीर्यापथकर्म, जोगणिमित्तेणेव जं वज्झइ तमिरियावयकम्मं त्ति भणिदं होदि···। जं तं तवोकम्मं णाम तं सव्वभंतरवाहिरं वारसविहं तं सव्वं तवोकम्मं णाम··। जं तं किरियाकम्मं णाम तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं वारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम··। जं तं भावकम्मं णाम। उवजुत्तो पाहुडजाणगो तं सव्वं भावकम्मं णाम··"–ध० आ० प० ८३३–८४१। "णामं ठवणाकम्मं दव्वकम्मं पओगकम्मं च। समुदाणिरियावहियं आहाकम्मं तवोकम्मं॥ किइकम्म भावकम्मं दसविह कम्मं समासओ होइ॥"–आचा० नि० गा० १९२–१९३।

§ १०९. पच्चक्खाणपवादो णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भावभेदभिण्णं परिमिय-

कर्म । किसीका 'कर्म' ऐसा नाम रखना नामकर्म कहलाता है। चित्रकर्म आदिमें तदाकाररूपसे और अक्ष आदिमें अतदाकार रूपसे कर्मकी स्थापना करना स्थापनाकर्म कहलाता है। जिस द्रव्यकी जो सद्भावक्रिया है वह सब द्रव्यकर्म कहलाता है। ज्ञानादिरूपसे परिणमन करना जीवकी सद्भावक्रिया है। रूप, रस आदिरूपसे परिणमन करना पुद्गलकी सद्भावक्रिया है। इसीप्रकार अन्य द्रव्योंकी सद्भावक्रिया भी समझना चाहिये। मन, वचन और कायके भेदसे प्रयोगकर्म तीन प्रकारका है। इसप्रकार प्रयोगकर्ममें योगका ग्रहण किया गया है। मिथ्यात्वादि कारणोंके निमित्तसे आयुकर्मके साथ आठ प्रकारके, आयु कर्मके विना सात प्रकारके और दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयके विना छह प्रकारके कर्मोंका ग्रहण करना समवदानकर्म कहलाता है। ओद्दावण, विद्दावण, परिद्दावण और आरंभके करनेसे जो कर्म उत्पन्न होता है उसे अधःकर्म कहते हैं। जीवके ऊपर उपद्रव करना ओद्दावण कहलाता है। अंगोंका छेदना आदि व्यापार विद्दावण कहलाता है। संतापका पैदा करना परिद्दावण कहलाता है। और प्राणोंका वियुक्त करना आरंभ कहा जाता है। एक जीव दूसरे शरीरमें स्थित जीवके साथ जव ओद्दावण आदि क्रियारूप व्यापार करता है तब वह अधःकर्म कहा जाता है। ईर्याका अर्थ योग है और पथका अर्थ हेतु है। जिसका यह अर्थ हुआ कि केवल योगके निमित्तसे जो कर्म होता है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है। यह कर्म छद्मस्थ वीतराग और सयोगकेवलीके होता है। छह आभ्यन्तर और छह बाह्य तपोंके भेदसे तपःकर्म वारह प्रकारका है। जिनदेव आदिकी वन्दना करते समय जो कृतिकर्म किया जाता है उसे क्रियाकर्म कहते हैं। जो जीव कर्मविषयक शास्त्रको जानता है और उसमें उपयुक्त है वह भावकर्म कहलाता है। इसप्रकार कर्मप्रवादमें कर्मोंका वर्णन है।

§ १०९. प्रत्याख्यानप्रवाद नामका पूर्व नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे अनेक प्रकारके परिमितकाल और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यानका वर्णन करता है।

विशेषार्थ–मोक्षके इच्छुक व्रतीद्वारा रत्नत्रयके विरोधी नामादिकका मन, वचन और कायपूर्वक त्याग किया जाना प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है। जो नाम पापके कारणभूत हैं और रत्नत्रयके विरोधी हैं उन्हें स्वयं नहीं रखना चाहिये और न दूसरेसे रखवाना चाहिये। तथा कोई रखता हो तो सम्मति नहीं देनी चाहिये। यह सब नामप्रत्याख्यान है। अथवा

(१) "व्रतनियमप्रतिक्रमणप्रतिलेखनतपःकल्पोपसर्गाचारप्रतिमाविराधनाराधनविशुद्ध्युपक्रमाः श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्यभावप्रत्याख्यानञ्च यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम् ।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५५०। ध० सं० पृ० १२१। हरि० १०।१११। गो० जीव० जी०गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० ९१–१००। "तंमि सव्वपच्चक्खाणसरूवं वण्णिज्जइ त्ति अतो पच्चक्खाणप्पवादं"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७।

मपरिमियं च पच्चक्खाणं वण्णेदि । विज्जाणुपवादो अंगुट्ठपसेणादिसत्तसयमंते रोहिणि-आदि-पंचसयमहाविज्जाओ च तासिं साहणविहाणं सिद्धाणं फलं च वण्णेदि ।

प्रत्याख्यान यह शब्द नामप्रत्याख्यान कहलाता है । जो पापबन्धकी कारण हो और मिथ्यात्व आदिके बढ़ानेवाली हो, ऐसी अपरमार्थरूप देवता आदि की स्थापना और पापके कारणभूत द्रव्यके आकारोंकी रचना न करना चाहिये, न कराना चाहिये । तथा यदि कोई करता हो तो सम्मति नहीं देनी चाहिये । यह सब स्थापनाप्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यानरूपसे परिणत हुए जीवकी तदाकार और अतदाकाररूप स्थापना करना स्थापना प्रत्याख्यान है । पापबन्धका कारणभूत जो द्रव्य सावद्य हो अथवा निरवद्य होते हुए भी जिसका तपके लिये त्याग किया हो उसे न तो स्वयं ग्रहण करे, न दूसरेको ग्रहण करनेके लिये प्रेरणा करे, तथा यदि कोई ग्रहण करता हो तो उसे सम्मति न दे। यह सब द्रव्यप्रत्याख्यान है । अथवा आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यप्रत्याख्यान अनेक प्रकारका समझना चाहिये । असंयमके कारणभूत क्षेत्रका त्याग करना क्षेत्रप्रत्याख्यान कहलाता है । अथवा प्रत्याख्यानको धारण करनेवाले व्रतीने जिस क्षेत्रका सेवन किया हो उस क्षेत्रमें प्रवेश करना क्षेत्रप्रत्याख्यान है । असंयम आदिके कारणभूत कालका त्याग करना काल-प्रत्याख्यान कहलाता है । अथवा प्रत्याख्यानसे परिणत हुए जीवके द्वारा सेवित काल काल-प्रत्याख्यान कहलाता है । मिथ्यात्व, असंयम और कषाय आदिका त्याग करना भावप्रत्या-ख्यान कहलाता है । अथवा, आगम और नोआगमके भेदसे भावप्रत्याख्यान अनेक प्रकार-का समझना चाहिये । जो जीव संयमी है उसे प्रत्याख्यापक समझना चाहिये । अशुभ नामादिकके त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान समझना चाहिये और सचित्तादि द्रव्य प्रत्या-ख्यातव्य समझना चाहिये । इत्यादिरूपसे नियतकाल और अनियतकालरूप प्रत्याख्यानका वर्णन प्रत्याख्यानप्रवाद नामके पूर्वमें किया गया है ।

विद्यानुप्रवाद नामका पूर्व अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ मंत्र अर्थात् अल्पविद्याओंका और रोहिणी आदि पाँचसौ महाविद्याओंका तथा उन विद्याओंके साधन करनेकी विधिका और सिद्ध हुई उन विद्याओंके फलका वर्णन करता है ।

(१) "समस्ता विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम् । तत्र अंगुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्या-दीनां महाविद्यानां पंचशतानि अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि तेषां विषयः लोकः क्षेत्रमाकाशम्...."-राजवा० १।२० । ध० आ० प० ५५० । ध० सं० पृ० १२१ । हरि० १०।११३-११४। गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व) गा० १०१-१०३। "तत्थ य अणेगे विज्जाइसया वण्णिता"-नन्दीचू०, हरि० मलय०, सू० ५६ । सम० अभ० सू० १४७ । "णइमित्तिका य रिद्धी णभभौमंगसराइवेंजणयं । लक्खणचिण्हसऊणं अट्ठवियप्पेहिं विच्छरिदं ॥"-ति० प० प०९३ । 'अट्ठविहे महानिमित्ते-भोमे उप्पाते सुविणे अंतलिक्खे अंगे सरे लक्खणे वंजणे ।"-स्था० सू० ६०८ । (२)-सयमेत्ते रो- ता० ।-सयमेत्तेरो-अ०, आ० ।

§ ११०. कल्लाणपवादो गह-णक्खत्त-चंद-सूरचारविसेसं अट्ठंगमहाणिमित्तं तित्थयर-चक्कवट्टि-वल-णारायणादीणं कल्लाणाणि च वण्णेदि।

§ ११०. कल्याणप्रवाद नामका पूर्व, ग्रह नक्षत्र चन्द्र और सूर्यके चारक्षेत्रका, अष्टांग महानिमित्तका तथा तीर्थंकर चक्रवर्ती वलदेव और नारायण आदिके कल्याणकोंका वर्णन करता है।

विशेषार्थ–चारका अर्थ गमन है। जिस क्षेत्रमें सूर्यादि गमन करते हैं उसे चारक्षेत्र कहते हैं। सूर्य और चन्द्रको छोड़ कर शेष नक्षत्र आदि मेरुपर्वतसे चारों ओर ग्यारह सौ इक्कीस योजन छोड़ कर शेष जम्बूद्वीप और लवण समुद्रमें मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हुए परिभ्रमण करते हैं। सूर्य और चन्द्रका चारक्षेत्र पाँचसौ दस सही अड़तालीस बटे इकसठ ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन है। इसमेंसे एकसौ अस्सी योजन जम्बूद्वीपमें और शेष लवणसमुद्रमें है। इसप्रकार यह जम्बूद्वीपसंवन्धी ज्योतिषी विमानोंका चारक्षेत्र समझना चाहिये। शेषके दो समुद्र और डेढ़ द्वीपमें भी इसीप्रकार चारक्षेत्र कहा है। ढाईद्वीपके आगे ज्योतिषी विमान स्थित हैं, इसलिये आगे चारक्षेत्र नहीं पाया जाता है। अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये अष्टांग महानिमित्त हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारोंके उदय अस्त आदिसे अतीत और अनागत कार्योंका ज्ञान करना अन्तरिक्ष नामका महानिमित्त है। पृथिवीकी स्निग्धता, रूक्षता, और सघनता आदिको जानकर उससे वृद्धि, हानि, जय, पराजय तथा पृथिवीके भीतर रखे हुए स्वर्णादिका ज्ञान करना भौम नामका महानिमित्त है। शरीरके अंग और प्रत्यंगोंके देखनेसे त्रिकालभावी सुख दुःखका ज्ञान करलेना अंग नामका महानिमित्त है। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अच्छे और बुरे शब्दोंके सुननेसे अच्छे बुरे फलोंका ज्ञान कर लेना स्वर नामका महानिमित्त है। मस्तक, मुख, गला आदिमें तिल, मसा आदिको देखकर त्रिकालविषयक अच्छे बुरेका ज्ञान कर लेना व्यंजन नामका महानिमित्त है। शरीरमें स्थित श्रीवत्स, स्वस्तिक, कलश आदि लक्षण चिन्होंको देखकर उससे ऐश्वर्य आदिका ज्ञान कर लेना लक्षण नामका महानिमित्त है। वस्त्र, शस्त्र आदिमें चूहे आदिके द्वारा किये गये छिद्र आदिको देखकर शुभाशुभका ज्ञान कर लेना छिन्न नामका महानिमित्त है। नीरोग पुरुषके द्वारा रात्रिके पश्चिम भागमें देखे गये स्वप्नोंके निमित्तसे सुख दुःखका ज्ञान कर लेना स्वप्न नामका महानिमित्त है। इत्यादि समस्त वर्णन कल्याणप्रवाद पूर्वमें है।

(१) "रविशशिग्रहनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनिव्याहृतम् अर्हद्वलदेववासुदेवचक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्कल्याणनामधेयम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५५०। ध० सं० पृ० १२१। हरि० १०।११५। गो० जीव० जी० गा० ३३६। अंगप० (पूर्व०) गा० १०४–१०६। "एगादसमं अवंझंति, वंझं णाम णिप्फलं, ण वंझं अवंझं सफलेत्यर्थः। सव्वे णाणतवसंजमजोगा सफला वण्णिज्जंति अप्पसत्था य पमादादिया सव्वे असुभफला वण्णिता अतो अवंझं।" –नन्दी० च०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (२)–यरं च–अ०, आ०।

§ १११. पाणावायपवादो दसविहपाणाणं हाणि-वड्ढीओ वण्णेदि। होदु आउअपाणस्स हाणी आहारणिरोहादिसमुब्भूदकयलीघादेण, ण पुण वड्ढी; अहिणवट्ठिदिबंधवड्ढीए विणा उक्कड्ढणाए ट्ठिदिसंतवड्ढीए अभावादो। ण एस दोसो; अट्ठहि आगरिसाहि आउअं बंधमाणजीवाणमाउअपाणस्स वड्ढिदंसणादो। करि-तुरय-णरायि-

§ १११. प्राणवायप्रवाद नामका पूर्व पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोछ्वास इन दस प्राणोंकी हानि और वृद्धिका वर्णन करता है।

शंका–आहारनिरोध आदि कारणोंसे उत्पन्न हुए कदलीघातमरणके निमित्तसे आयुप्राणकी हानि हो जाओ, परन्तु आयुप्राणकी वृद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि, नवीन स्थितिबन्धकी वृद्धि हुए विना उत्कर्षणाके द्वारा केवल सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थितिकी वृद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, आठ अपकर्षोंके द्वारा आयुकर्मका वन्ध करनेवाले जीवोंके आयुप्राणकी वृद्धि देखी जाती है।

विशेषार्थ–उत्कर्षणके समय सत्तामें स्थित पहलेके कर्मनिषेकोंका बँधनेवाले तज्जातीय कर्मनिषेकोंमें ही उत्कर्षण होता है। उत्कर्षणके इस सामान्य नियमके अनुसार ज्ञानावरणादिक अन्य कर्मोंमें तो उत्कर्षण वन जाता है पर एक कालमें एक ही आयुका वन्ध होनेसे उसमें उत्कर्षण कैसे वन सकता है ? जब प्राणी एक आयुका उपभोग करता है तव उस भुज्यमान आयुकी सत्ता रहते हुए यद्यपि दूसरी आयुका वन्ध होता है पर समानजातीय या असमानजातीय दो गतिसंवन्धी दो आयुओंका परस्पर संक्रमण न होनेसे भुज्यमान आयुका वध्यमान आयुमें उत्कर्षण नहीं हो सकता है। इसलिये जिसप्रकार भुज्यमान आयुमें वाह्यनिमित्तसे अपकर्षण और उदीरणा हो सकती है उसप्रकार उत्कर्षण नहीं वन सकता है। अतः आयुकर्ममें उत्कर्षणकरण नहीं कहना चाहिये। यह शंकाकारकी शंकाका अभिप्राय है। इसका जो समाधान किया गया है वह इसप्रकार है कि यद्यपि भुज्यमान आयुका उत्कर्षण नहीं होता यह ठीक है फिर भी विवक्षित एक भवसंवन्धी आयुका अनेक कालोंमें वन्ध संभव है, जिन्हें अपकर्षकाल कहते हैं। अतः उन अनेक अपकर्षकालोंमें वंधनेवाली एक आयुका उत्कर्षण वन जाता है। जैसे, किसी एक जीवने पहले अपकर्ष कालमें आयुका वन्ध किया उसके जव दूसरे अपकर्षकालमें भी आयुका वन्ध हो और उसी समय पहले अपकर्ष कालमें वाँधी हुई आयुके विवक्षित निषेकोंका उत्कर्षण हो तो आयुकर्ममें उत्कर्षण करण के होनेमें कोई वाधा नहीं आती है। इसीप्रकार अन्य अपकर्षकालोंकी अपेक्षा भी उत्कर्षणकी

(१) "कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदः भूतिकर्मजाङ्गुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तारेण वर्णितः तत्प्राणावायम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५५०। ध० सं० पृ० १२२। हरि० १०।११६–११७। गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० १०७–१०९। "वारसमं पाणाऊं, तत्थ आयुप्राणं सविहाणं सव्वं सतिपदं अण्णे य प्राणा वर्णिताः।"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (२)–अस्स पा–अ०।

संवद्धमट्ठंगमाउव्वेयं भणदि त्ति वुत्तं होदि। काणि आउव्वेयस्स अट्ठंगाणि ? वुच्चदे–शालाक्यं कायचिकित्सा भूततन्त्रं शल्यमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रं वालरक्षा बीजवर्द्धनमिति आयुर्वेदस्य अष्टाङ्गानि।

विधि लगा लेना चाहिये। किन निषेकोंका उत्कर्षण होता है और किनका नहीं? उत्कर्षणके विषयमें अतिस्थापना और निक्षेपका प्रमाण क्या है? जिसका पहले अपकर्षण हो गया है उसका यदि उत्कर्षण हो तो अधिकसे अधिक कितना उत्कर्षण होता है। इत्यादि विशेष विवरण लब्धिसार आदि ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये। यहाँ केवल आयुकर्ममें उत्कर्षण कैसे संभव है इतना दिखाना मात्र प्रयोजन होनेसे अधिक नहीं लिखा है।

प्राणावायप्रवाद पूर्व हाथी, घोड़ा और मनुष्यादिसे संवन्ध रखनेवाले अष्टांग आयुर्वेदका कथन करता है यह उपर्युक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये।

शंका–आयुर्वेदके आठ अंग कौनसे हैं ?

समाधान–शालाक्य, कायचिकित्सा, भूततन्त्र, शल्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, वालरक्षा, और वीजवर्द्धन ये आयुर्वेदके आठ अंग हैं।

विशेषार्थ–आयुर्वेद शास्त्रमें रोगोंके निदान, उनके शान्त करनेकी विधि, प्राणियोंके जीवनकी रक्षाके उपाय और सन्तति उत्पन्न करनेके नियम आदि बतलाये गये हैं। इसके शालाक्य आदि आठ अंग हैं। शलाकाकर्मको शालाक्य कहते हैं और इसके कथन करनेवाले शास्त्रको शालाक्यतन्त्र कहते हैं। इसमें जिन रोगोंका मुँह ऊपरकी ओर है ऐसे कान, नाक, मुँह, और चक्षु आदिके आश्रयसे स्थित रोगोंके उपशमनकी विधि बतलाई गई है। अतीसार, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, मेह और ज्वरादि रोगोंसे ग्रस्त शरीरकी चिकित्सा कायचिकित्सा कहलाती है। तथा जिसमें इसका कथन किया गया है उसे कायचिकित्सा तन्त्र कहते हैं। भूत, यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि जन्य बाधाके निवारणका कथन करनेवाला शास्त्र भूततन्त्र कहा जाता है। इसमें सभी प्रकारके देवोंके शान्त करनेकी विधि बतलाई गई है। जिसमें शल्यजन्य बाधाके दूर करनेके उपाय बतलाये गये हैं वह शल्यतन्त्र है। इसमें कांटा आदिके शरीरमें चुभ जाने पर उसके निकालनेकी विधि बतलाई गई है। जिसमें विषमारणकी विधि बतलाई गई है वह अगदतन्त्र है। इसमें सर्प, बिच्छू, चूहा आदिके काट लेने पर शरीरमें जो विष प्रविष्ट हो जाता है उसके नाश करनेकी विधि तथा विषके मारण आदि करनेकी विधि बतलाई गई है। अगदतंत्रका दूसरा नाम जंगोलीतन्त्र भी है। जिसमें बुद्धि, आयु आदिकी वृद्धिके कारणभूत नाना प्रकारके रसायनोंकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है वह रसायनतंत्र है। वालकोंकी रक्षा

(१) "शल्यं शालाक्यं कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्यमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रं वाजीकरणतन्त्रमिति।"–सुश्रुत० सू० १। "अट्ठविधे आउवेदे पण्णत्ते तं जहा–कुमारभिच्च कायतिगिच्छा सालाती सल्लहत्ता जंगोली भूतवेज्जा खारतंते रसायणे।"–स्था० सू० ६११।

* अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

§ ११३. एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण सूचिदत्थो वुच्चदे । तं जहा–णाणस्स पंच अत्थाहियारा–मइणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । सुदणाणे दुवे अत्थाहियारा–अणंगपविट्ठमंगपविट्ठं चेदि । अणंगपविट्ठस्स चोद्दस अत्थाहियारा–सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालिया उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसीहियं चेदि ।

§ ११४. अंगपविट्ठे बारह अत्थाहियारा–आयारो सूदयदं ट्ठाणं समवाओ विआ(१)ह-पण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयंज्झे(२)णं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं विवायसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि ।

§ ११५. दिट्ठिवादे पंच अत्थाहियारा–परियम्मं सुत्तं पढमाणिओगो पुव्वगयं

विशेषार्थ–स्वसमय, परसमय और तदुभयके भेदसे वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, इसका पहले कथन कर ही आये हैं। जिसमें केवल जैन मान्यताओंका वर्णन किया गया हो उसका वक्तव्य स्वसमय है । जिसमें जैनबाह्य मान्यताओंका कथन किया गया हो उसका वक्तव्य परसमय है । और जिसमें परसमयका विचार करते हुए स्वसमयकी स्थापना की गई हो उसका वक्तव्य तदुभय है। इस नियमके अनुसार आचार आदि ग्यारह अंग और सामायिक आदि चौदह अंगबाह्य स्वसमयवक्तव्यरूप ही हैं; क्योंकि इनमें परसमयका विचार न करते हुए केवल स्वसमयकी ही स्थापना की गई है। तथा दृष्टिवाद अंग तदुभयरूप है क्योंकि एक तो इसमें परसमयका विचार करते हुए स्वसमयकी स्थापना की गई है दूसरे, आयुर्वेद, गणित, कामशास्त्र, आदि अन्य विषयोंका भी कथन किया गया है ।

* अर्थाधिकार पन्द्रह प्रकारका है ।

§ ११३. यह सूत्र देशामर्षक है, इसलिये इस सूत्रसे सूचित होनेवाले अर्थका कथन करते हैं। वह इसप्रकार है–ज्ञानके पांच अर्थाधिकार हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। श्रुतज्ञानके दो अर्थाधिकार हैं–अनंगप्रविष्ट और अंगप्रविष्ट। अनंगप्रविष्ट श्रुतके चौदह अर्थाधिकार हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका ।

§ ११४. अंगप्रविष्टमें बारह अर्थाधिकार हैं–आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद ।

§ ११५. दृष्टिवाद नामके बारहवें अंगप्रविष्ट श्रुतमें पांच अर्थाधिकार हैं–परिकर्म,

(१) वियाह–आ० । (२)–यज्झयणं आ०, स० ।

§ ११२. [1]किरियाविसालो णट्ट-गेय-लक्खण-छंदालंकार-संढ-त्थीपुरुसलक्खणादीणं वण्णणं कुणइ। लोकविंदुसारो परियम्म-ववहार-रज्जुरासि-कलासवण्ण-जावंताव-वग्ग-घण-बीजगणिय-मोक्खाणं सरूवं वण्णेदि। तदो दिट्ठिवादस्स वत्तव्वं तदुभओ। कसायपाहुडस्स वत्तव्वं पुण ससमओ चेव; पेज्ज-दोसवण्णणादो। एवं वत्तव्वदा गदा।

आदिका कथन करनेवाला शास्त्र बालरक्षातन्त्र कहा जाता है। इसमें बालकोंकी रक्षा कैसे करनी चाहिये, उन्हें दूध कैसे पिलाना चाहिये, दूध शुद्ध कैसे किया जाता है आदि विषयोंका कथन है। वाजीकरण औषधियोंका कथन करनेवाला शास्त्र बीजवर्द्धनतन्त्र या क्षारतन्त्र कहलाता है। इसमें दूषित वीर्यको शुद्ध करनेकी विधि, क्षीण वीर्यके बढ़ानेकी विधि और हर्षको उत्पन्न करनेवाले नाना प्रकारके प्रयोगों आदिका कथन किया गया है।

§ ११२. क्रियाविशाल नामका पूर्व नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र, लक्षणशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र तथा नपुंसक, स्त्री और पुरुषके लक्षण आदिका वर्णन करता है। लोकविन्दुसारनामका पूर्व परिकर्म, व्यवहार, रज्जुराशि, कलासवण्ण अर्थात् गणितका एक भेदविशेष, गुणकार, वर्ग, घन, बीजगणित और मोक्षके स्वरूपका वर्णन करता है। इसलिये दृष्टिवादका कथन तदुभयरूप है। परन्तु कषायपाहुडका कथन तो स्वसमय ही है, क्योंकि इसमें पेज्ज और दोषका ही वर्णन किया गया है। इसप्रकार वक्तव्यताका कथन समाप्त हुआ।

(१) "लेखनादिकाः कला द्वासप्ततिर्गुणाश्च चतुःषष्टिः स्त्रैण्याः शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाछन्दोविचितिक्रियाः क्रियाफलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्यातास्तत्क्रियाविशालम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५५०। ध० सं० पृ० १२२। हरि० १०।१२०। "क्रियादिभिः नृत्यादिभिः विशालं विस्तीर्णं शोभमानं वा क्रियाविशालं त्रयोदशं पूर्वम्। तच्च सङ्गीतशास्त्रछन्दोऽलङ्कारादिद्वासप्ततिकलाः चतुःषष्टिस्त्रीगुणान् शिल्पादिविज्ञानानि चतुरशीतिगर्भाधानादिकाः अष्टोत्तरशतं सम्यग्दर्शनादिकाः पंचविंशतिः देववन्दनादिकाः नित्यनैमित्तिकाःक्रियाश्च वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० ११०–११३। "तेरसमं किरियाविसालं, तत्थ कायकिरियादओ वि सासति सभेदा संजमकिरियाओ य बंधकिरियाविधाणा ··"–नन्दी० चू०, हरि०, मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (२) "यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्म राशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकविन्दुसारम्।"–राजवा० १।२०। ध० आ० प० ५५०। ध० सं० पृ० १२२। हरि० १०।१२२। "त्रिलोकानां विन्दव अवयवाः सारं च वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति त्रिलोकबिन्दुसारं चतुर्दशं पूर्वम्, तच्च त्रिलोकस्वरूपं षट्त्रिंशत्परिकर्माणि अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षस्वरूपं तद्गमनकारणक्रियाः मोक्षसुखस्वरूपं च वर्णयति।"–गो० जीव० जी० गा० ३६६। अंगप० (पूर्व०) गा० ११४–११६। "चोद्दसमं लोगविन्दुसारं, तं च इमंसि लोए सुयलोए वा विन्दुसारं भणितं।"–नन्दी० चू०, हरि० मलय० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७। (३) "परियम्मं ववहारो रज्जूरासी कलासवन्ने य। जावंताव ति वग्गो घणो य तह वग्गवग्गो वि॥ ··कलानाम् अंशानां सवर्णनं सवर्णः, सवर्णः सदृशीकरणं यस्मिन् संख्याने तत्कलासवर्णम् ५। जावंताव इति जावं तावंति वा गुणकारोत्ति वा एगट्ठमिति वचनात् गुणकारः तेन यत्संख्यानं तत्तथैवोच्यते····"–स्था० टी० सू० ७४७। (४) "दृष्टीनां त्रिषष्ट्युत्तरशतसंख्यानां मिथ्यादर्शनानां वादोऽनुवादः तन्निराकरणं च यस्मिन् क्रियते तद्दृष्टिवादं नाम।"–गो० जीव० जी० गा० ३६०। "दृष्टिर्दर्शनं वदनं वादः दृष्टिवादः, तत्र वा दृष्टीनां पातः दृष्टिपातः।"–नन्दी० चू० सू० ५६। सम० अभ० सू० १४७।

* अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

§ ११३. एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण सूचिदत्थो वुच्चदे । तं जहा–णाणस्स पंच अत्थाहियारा–मइणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । सुदणाणे दुवे अत्थाहियारा–अणंगपविट्ठमंगपविट्ठं चेदि । अणंगपविट्ठस्स चोद्दस अत्थाहियारा–सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालिया उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसीहियं चेदि ।

§ ११४. अंगपविट्ठे बारह अत्थाहियारा–आयारो सूदयदं ट्ठाणं समवाओ विवाह(१)-पण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयज्झे(२)णं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं विवायसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि ।

§ ११५. दिट्ठिवादे पंच अत्थाहियारा–परियम्मं सुत्तं पढमाणिओगो पुव्वगयं

विशेषार्थ–स्वसमय, परसमय और तदुभयके भेदसे वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, इसका पहले कथन कर ही आये हैं। जिसमें केवल जैन मान्यताओंका वर्णन किया गया हो उसका वक्तव्य स्वसमय है । जिसमें जैनबाह्य मान्यताओंका कथन किया गया हो उसका वक्तव्य परसमय है । और जिसमें परसमयका विचार करते हुए स्वसमयकी स्थापना की गई हो उसका वक्तव्य तदुभय है । इस नियमके अनुसार आचार आदि ग्यारह अंग और सामायिक आदि चौदह अंगबाह्य स्वसमयवक्तव्यरूप ही हैं; क्योंकि इनमें परसमयका विचार न करते हुए केवल स्वसमयकी ही स्थापना की गई है। तथा दृष्टिवाद अंग तदुभयरूप है क्योंकि एक तो इसमें परसमयका विचार करते हुए स्वसमयकी स्थापना की गई है दूसरे, आयुर्वेद, गणित, कामशास्त्र, आदि अन्य विषयोंका भी कथन किया गया है ।

* अर्थाधिकार पन्द्रह प्रकारका है ।

§ ११३. यह सूत्र देशामर्षक है, इसलिये इस सूत्रसे सूचित होनेवाले अर्थका कथन करते हैं। वह इसप्रकार है–ज्ञानके पांच अर्थाधिकार हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। श्रुतज्ञानके दो अर्थाधिकार हैं–अनंगप्रविष्ट और अंगप्रविष्ट। अनंगप्रविष्ट श्रुतके चौदह अर्थाधिकार हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका ।

§ ११४. अंगप्रविष्टमें बारह अर्थाधिकार हैं–आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद ।

§ ११५. दृष्टिवाद नामके बारहवें अंगप्रविष्ट श्रुतमें पांच अर्थाधिकार हैं–परिकर्म,

(१) वियाह–आ० । (२)–यज्झयणं आ०, स० ।

चूलिया चेदि। परियम्मे पंच अत्थाहियारा–चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि। सुत्ते अट्ठासीदि अत्थाहियारा। ण तेसिं णामाणि जाणिज्जंति, संपहि विसिट्ठुवएसाभावादो। पढमाणिओए चउवीस अत्थाहियारा; तित्थयरपुराणेसु सव्वपुराणाणमंतब्भावादो। चूलियाए पंच अत्थाहियारा–जलगया थलगया मायागया रूवगया आयासगया चेदि। पुव्वगयस्स चोद्दस अत्थाहियारा–उप्पायपुव्वं अग्गेणियं विरियाणुपवादो अत्थिणत्थिपवादो णाणपवादो सच्चपवादो आदपवादो कम्मपवादो पच्चक्खाणपवादो विज्जाणुपवादो कल्लाणपवादो पाणावायपवादो किरियाविसालो लोकविंदुसारो चेदि।

§ ११६. उप्पायपुव्वस्स दस अग्गेणियस्स चोद्दस विरियाणुपवादस्स अट्ठ अत्थिणत्थिपवादस्स अट्ठारस णाणपवादस्स वारस सच्चपवादस्स वारस आदपवादस्स सोलस कम्मपवादस्स वीसं पच्चक्खाणपवादस्स तीसं विज्जाणुपवादस्स पण्णारस कल्लाणपवादस्स दस पाणावायपवादस्स दस किरियाविसालस्स दस लोगविंदुसारस्स

सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्ममें पांच अर्थाधिकार हैं–चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, और व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्रमें अठासी अर्थाधिकार हैं, परंतु उन अर्थाधिकारोंके नाम अवगत नहीं हैं, क्योंकि वर्तमानमें उनके विषयमें विशिष्ट उपदेश नहीं पाया जाता है। प्रथमानुयोगमें चौवीस अर्थाधिकार हैं, क्योंकि चौवीस तीर्थंकरोंके पुराणोंमें सभी पुराणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। चूलिकामें पांच अर्थाधिकार हैं–जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। पूर्वगतके चौदह अर्थाधिकार हैं–उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुप्रवाद पूर्व, अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व, ज्ञानप्रवाद पूर्व, सत्यप्रवाद पूर्व, आत्मप्रवाद पूर्व, कर्मप्रवाद पूर्व, प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व, विद्यानुप्रवाद पूर्व, कल्याणप्रवाद पूर्व, प्राणावायप्रवाद पूर्व, क्रियाविशाल पूर्व और लोकविन्दुसार पूर्व।

§ ११६. उत्पादपूर्वके दस, अग्रायणीके चौदह, वीर्यानुप्रवादके आठ, अस्तिनास्तिप्रवादके अठारह, ज्ञानप्रवादके वारह, सत्यप्रवादके वारह, आत्मप्रवादके सोलह, कर्मप्रवादके वीस, प्रत्याख्यानप्रवादके तीस, विद्यानुप्रवादके पन्द्रह, कल्याणप्रवादके दस, प्राणावायप्रवादके दस, क्रियाविशालके दस और लोकविन्दुसारके दस अर्थाधिकार हैं। इन अर्थाधिकारोंमेंसे

(१) नन्दीसूत्रादिषु श्वे० आगमग्रन्थेषु सूत्रस्य इमानि अष्टाशीतिनामान्युपलभ्यन्ते–"सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं। तं जहा उज्जुसुयं परिणयापरिणयं बहुभंगिअं विजयचरियं अणंतरं परंपरं मासाणं संजूहं संभिण्णं आहव्वायं सोवत्थिअवत्तं नंदावत्तं बहुलं पुट्ठापुट्ठं विआवत्तं एवंभूअं दुयावत्तं वत्तमाणप्पयं समभिरूढं सव्वओभद्दं पस्सासं दुप्पडिग्गहं इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेअनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए इच्चेअआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनइयाणि आजीविअसुत्तपरिवाडीए इच्चेअआइं बावीसं सुत्ताइं तिगणइयाणि तेरासिअसुत्तपरिवाडीए इच्चेअआइं बावीसं सुत्ताइं चक्कउकनइआणि ससमयसुत्त परिवाडीए एवमेव सपुव्वावरेण अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीति।"–नन्दी० सू० ५६। सम० सू० १४७।

दस अत्थाहियारा । एदेसु अत्थाहियारेसु एक्केक्कस्स अत्थाहियारस्स वा-पाहुडसण्णिदा वीस वीस अत्थाहियारा । तेसिं पि अत्थाहियाराणं एक्केक्कस्स अत्थाहियारस्स चउवीसं चउवीसं अणिओगद्दार[1]सण्णिदा अत्थाहियारा । एदस्स पुण कसायपाहुडस्स पयदस्स पण्णारस अत्थाहियारा ।

§ ११७. संपहि पण्णारसण्हमत्थाहियाराणं णामणिद्देसेण सह 'एक्केक्कम्मि अत्थाहियारे एत्तियाओ एत्तियाओ गाहाओ होंति' त्ति भणंतो गुणहरभडारओ 'असीदिसदगाहाहि पण्णारसअत्थाहियारपडिबद्धाहि कसायपाहुडं सोलसपदसहस्सपठिदं भणामि' त्ति पइज्जासुत्तं पठदि–

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि ।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥ २ ॥

§ ११८. सोलसपदसहस्सेहि वे-कोडाकोडि-एक्कसट्ठिलक्ख-सत्तावण्णसहस्स-बेसदबाणउदिकोडि-बासट्ठिलक्ख-अट्ठसहस्सक्खरुप्पण्णेहि जं भणिदं गणहरदेवेण इंदभूदिणा कसायपाहुडं तमसीदिसदगाहाहि चेव जाणावेमि त्ति 'गाहासदे असीदे' त्ति पढमपइज्जा

प्रत्येक अर्थाधिकारके वीस वीस अर्थाधिकार हैं जिनका नाम प्राभृत है। उन प्राभृतसंज्ञावाले अर्थाधिकारोंमेंसे प्रत्येक अर्थाधिकारके चौवीस चौवीस अर्थाधिकार हैं, जिनका नाम अनुयोगद्वार है । किन्तु यहाँ प्रकरणप्राप्त इस कषायप्राभृतके पन्द्रह अर्थाधिकार हैं ।

विशेषार्थ–यद्यपि पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे पेज्जपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वार हैं। परन्तु उस पेज्जपाहुडके आधारसे गुणधर भट्टारकने एक सौ अस्सी गाथाओंमें जो यह पेज्जपाहुड निवद्ध किया है। इसके पन्द्रह ही अर्थाधिकार हैं ।

§ ११७. अब पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामनिर्देशके साथ 'एक एक अर्थाधिकारमें इतनी इतनी गाथाएँ पाई जाती हैं' इसप्रकार प्रतिपादन करते हुए गुणधर भट्टारक 'सोलह हजार पदोंके द्वारा कहे गये कषायप्राभृतका मैं पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें विभक्त एकसौ अस्सी गाथाओंके द्वारा प्रतिपादन करता हूं' इस प्रकार प्रतिज्ञासूत्रको कहते हैं–

पन्द्रह प्रकारके अर्थाधिकारोंमें विभक्त एकसौ अस्सी गाथाओंमें जितनी सूत्रगाथाएँ जिस अर्थाधिकारमें आई हैं उनका प्रतिपादन करता हूं ॥ २ ॥

§ ११८. दो कोड़ाकोड़ी, इकसठ लाख सत्तावन हजार दो सो वानवे करोड़, और वासठ लाख आठ हजार अक्षरोंसे उत्पन्न हुए सोलह हजार मध्यम पदोंके द्वारा इन्द्रभूति गणधर देवने जिस कषायप्राभृतका प्रतिपादन किया उस कषायप्राभृतका मैं (गुणधर आचार्य) एक सौ अस्सी गाथाओंके द्वारा ही ज्ञान कराता हूं, इस अर्थके ज्ञापन करनेके लिये गुणधर

---

(१)–द्दाराणि सण्णि –अ०, आ० ।

कदा । तत्थ अणेगेहि अत्थाहियारेहि परूविदं कसायपाहुडमेत्थ पण्णारसेहि चेव अत्था-हियारेहि परूवेमि त्ति जाणावणट्ठं 'अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि' त्ति विदियपइज्जा कदा । एत्थ एक्केक्कमत्थाहियारं एत्तियाहि एत्तियाहि चेव गाहाहि भणामि त्ति जाणावणट्ठं 'जम्मि अत्थम्मि जदि गाहाओ होंति ताओ वोच्छामि' त्ति तदियपइज्जा कदा । एवमेदाओ तिण्णि पइज्जाओ गुणहरभडारयस्स ।

§ ११६. संपहि गाहासुत्तत्थो वुच्चदे । 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदे 'असीदि-गाहाहियगाहासदम्मि' त्ति घेतव्वं । बहूणं 'सदे' इदि कथमेगवयणणिद्देसो ? ण; सदभावेण बहूणं पि एगत्तदंसणादो । केरिसे असीदे सदे त्ति वुत्ते पण्णरसधा विह-

आचार्यने 'गाहासदे असीदे' इस प्रकार पहली प्रतिज्ञा की है ।

विशेषार्थ—एक मध्यमपदमें १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं। इनसे १६००० पदोंके गुणित कर देने पर २६१५७२९२६२०८००० अक्षर आ जाते हैं। इतने अक्षरों द्वारा इन्द्रभूति गणधरने मूल कषायप्राभृतका प्रतिपादन किया था। तथा इसी कषायप्राभृतका गुणधर आचार्यने एक सौ अस्सी गाथाओंके द्वारा कथन किया है। ये १८० गाथाएं प्रमाणपदसे ७२० पद प्रमाण हैं। तथा इनमें संयुक्त और असंयुक्त कुल अक्षर ५७६० पांच हजार सात सौ साठ हैं।

अंगप्रविष्ट श्रुतमें इन्द्रभूति गणधरने अनेक अर्थाधिकारोंके द्वारा कषायप्राभृतका प्रतिपादन किया है, परन्तु मैं (गुणधर आचार्य) यहां पर उस कषायप्राभृतका पन्द्रह अर्था-धिकारोंके द्वारा ही प्रतिपादन करता हूं, यह ज्ञान करानेके लिये गुणधर आचार्यने 'अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि' यह दूसरी प्रतिज्ञा की है । इसमें भी इतनी इतनी गाथाओंके द्वारा ही एक एक अर्थाधिकारका प्रतिपादन करूँगा इस अभिप्रायका ज्ञान करानेके लिये गुणधर आचार्यने 'जम्मि अत्थम्मि जदि गाहाओ होंति ताओ वोच्छामि' यह तीसरी प्रतिज्ञा की है। इसप्रकार गुणधर भट्टारककी ये तीन प्रतिज्ञाएँ हैं।

§ ११६. अब आगे पूर्वोक्त गाथासूत्रका अर्थ कहते हैं। 'गाहासदे असीदे'का अर्थ एक सौ अस्सी गाथाएँ लेना चाहिये।

शंका—बहुतके लिये 'शत' शब्द आता है, इसलिये उसमें एकवचनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि शतरूपसे बहुतमें भी एकत्व देखा जाता है, इसलिये शतका एकवचन रूपसे निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

विशेषार्थ—संख्येयप्रधान और संख्यानप्रधानके भेदसे संख्या दो प्रकारकी है। बीससे पहले उन्नीस तक की संख्या संख्येयप्रधान है और बीससे लेकर आगेकी संख्या संख्येयप्रधान भी है और संख्यानप्रधान भी है। अतः शतशब्द जब संख्येयप्रधान रहेगा तब 'सौ' इस

त्तम्मि अत्थे जं ट्ठिदं गाहासदमसीदं तम्हि गाहासदे असीदे त्ति घेत्तव्वं। जम्मि अत्थम्मि जदि सुत्तगाहाओ होंति ताओ सुत्तगाहाओ वोच्छामि। पुव्विल्लगाहासद्देण संबद्धो सुत्त-सद्दो पच्छिल्लए वि गाहासद्दे जोजेयव्वो।

> "सुत्तं गणहरकहियं तहेय पत्तेयबुद्धकहियं च।
> सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥६७॥"

इदि वयणादो णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहर-पत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु

शब्दके द्वारा कहे जानेवाले पदार्थ पृथक् पृथक् ग्रहण किये जायँगे इसलिये बहुवचन प्रयोग होगा, और जब सौ पदार्थ शतरूपसे ग्रहण किये जायँगे तब एकवचन प्रयोग भी बन जायगा। प्रकृतमें इसी दृष्टिको सामने रखकर शत शब्दको 'गाहासदे' इसतरह एक वचनके द्वारा कहा है।

'वे एकसौ अस्सी गाथाएँ किसप्रकार की हैं, ऐसा पूछने पर वे एकसौ अस्सी गाथाएँ पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें विभक्त हैं इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये। उन एकसौ अस्सी गाथाओंमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ पाई जाती हैं, उन सूत्रगाथाओं का मैं (गुणधर आचार्य) कथन करता हूँ। इस सूत्रगाथाके तृतीय पादमें स्थित गाथा-शब्दके साथ संबद्ध सूत्रशब्दको पीछेके अर्थात् इसी सूत्रगाथाके चौथे पादमें स्थित गाथा-शब्दमें भी जोड़ लेना चाहिये।

शंका–"जो गणधरके द्वारा कहा गया है वह सूत्र है। उसीप्रकार जो प्रत्येकबुद्धोंके द्वारा कहा गया है वह सूत्र है। तथा जो श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहा गया है वह सूत्र है और जो अभिन्नदसपूर्वियोंके द्वारा कहा गया है वह सूत्र है॥६७॥" इस वचनके अनुसार ये एकसौ अस्सी गाथाएँ सूत्र नहीं हो सकती हैं, क्योंकि गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येकबुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी ही हैं।

(१) **मूलारा० गा० ३४। मूलाचा० ५।८०।** "गणशब्देन द्वादशगणा (यत्यादयो जिनेन्द्रसभ्याः) उच्यन्ते तान् धारयन्तीति गणधराः। दुर्गतिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते। ते सप्तविधर्द्धिमुपगताः ··तैः गधिदं ग्रथितं सन्दृब्धम्। केवलिभिरुपदिष्टमर्थ ते हि ग्रथ्नन्ति। तथाभ्यधायि–'अत्थं कहंति अरुहा गंथं गंथंति गणधरा तेसिं'। तहेव तथैव। ··श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमन्तरेण अधिगतज्ञाना-तिशयाः प्रत्येकबुद्धाः··दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्थाः क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अंगुष्ठप्रसेनाद्याः प्रज्ञप्त्यादयश्च तैरागत्य रूपं प्रदर्श्य सामर्थ्यं स्वकर्माभाष्य पुरः स्थित्वा 'आज्ञाप्यतां किमस्माभिः कर्त्तव्यम्' इति तिष्ठन्ति। तद्वचः श्रुत्वा न 'भवतीभिरस्माकं साध्यमस्ति' इति ये वदन्ति अविचलितचित्तास्ते अभिन्न-दशपूर्विणः··।"–**मूलारा० विजयो०**। तुलना–"सूत्रग्रथो गणधरानभिन्नदशपूर्विणः। प्रत्येकबुद्धानध्येमि श्रुत-केवलिनस्तथा॥"–अनगार० १।३। "कम्माण उवसमेण य गुरूवदेसं विणा वि पावेदि। सण्णाणतवप्पगमं जीव पत्तेयबुद्धी सा॥"–ति० प० प० ९४। "रोहिणिपहुदीणमहाविज्जाणं देवदाउ पंचसया। अंगुट्ठपसेणाइं अरकअ विज्जाण सत्तसया॥ एत्तूण पेसणाइमग्गं ते दसमपुव्वपठणम्मि। णेच्छंति संजमं ताताजेत अभिण्णदस-पुव्वी॥"–ति० प० प० ९३। ध० आ० प० ५२८।

गुणहरभडारयस्स अभावादो; ण; णिद्दोसप्पक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थि त्ति गुणहराइरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलंभादो। अत्रोपयोगी श्लोकः–

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥६८॥"

§ १२०. एदं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव संभवइ ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलंभादो; ण; सच्च(सुत्त-)सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडि विरोहाभावादो।

समाधान–नहीं, क्योंकि निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्वरूप प्रमाणोंके द्वारा गुणधर भट्टारककी गाथाओंकी सूत्रके साथ समानता है, अर्थात गुणधर भट्टारककी गाथाएँ निर्दोष हैं, अल्प अक्षरवाली हैं, सहेतुक हैं, अतः वे सूत्रके समान हैं। इसलिये गुणधर आचार्यकी गाथाओंमें भी सूत्रत्व पाया जाता है। इस विषयका उपयोगी श्लोक देते हैं–

"जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें सार अर्थात् निचोड़ भर दिया हो, जिसका निर्णय गूढ़ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो, और तथ्यभूत हो उसे विद्वान् जन सूत्र कहते हैं ॥६८॥"

§ १२०. **शंका**–यह सम्पूर्ण सूत्रलक्षण तो जिनदेवके मुखकमलसे निकले हुए अर्थ-पदोंमें ही संभव है, गणधरके मुखसे निकली हुई ग्रंथरचनामें नहीं, क्योंकि उनमें महापरिमाण पाया जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि गणधरके वचन भी सूत्रके समान होते हैं इसलिये उनकी ग्रन्थरचनामें भी सूत्रत्वके प्रति कोई विरोध नहीं आता है। अर्थात् सूत्रके समान होनेके कारण गणधरकी द्वादशांगरूप ग्रन्थरचना भी सूत्र कही जा सकती है।

विशेषार्थ–कृति अनुयोगद्वारमें वीरसेन स्वामीने 'अल्पाक्षरमसंदिग्धं' इत्यादि रूपसे सूत्रका लक्षण कह कर तदनुसार तीर्थंकरके मुखसे निकले हुए बीजपदोंको सूत्र कहा है। और सूत्रके द्वारा गणधरदेवमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको सूत्रसम कहा है। तथा बन्धन

(१) "अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च। लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठहि य गुणेहि उववेयं ॥ निद्दोसं सारवंतं च हेउजुत्तमलंकियं। उवणीयं सोवयारं च मियं महुरमेव वा ॥"–आ० नि० गा० ८८०, ८८५। अनु० सू० गा० सू० १२७। कल्पभा० गा० २७७, २८२। व्यव० भा० गा० १९०। (२) तुलना–"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"–पाराशरोप० अ० १८। मध्वभा० १।१।१। मुग्धबो० टी०। न्यायवा० ता० १।१।२। प्रमाणमी० पृ० ३५। "अप्पक्खरमसंदिद्धं सारवं विस्सतोमुहं। अत्थोभमणवज्जं च सुत्तं सव्वन्नुभासियं ॥"–आव० नि० गा० ८८६। कल्पभा० गा २८५। "तथा ह्याहुः–लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥"–न्यायवा० गा० १।१।२। (३) तुलना–"अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयं। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः। इदि वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं। तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मि ट्ठिदसुदणाणं सुत्तसमं।"–कृति अ०, ध० आ० प० ५५६।

पेज्ज-दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेव।
तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥३॥

§ १२१. 'पेज्जदोस' णिद्देसेण—

अनुयोगद्वारमें सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली या द्वादशांगरूप शब्दागम किया है और श्रुतकेवलीके समान श्रुतज्ञानको या आचार्यके उपदेशके बिना सूत्रसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको सूत्रसम कहा है। इनमेंसे यद्यपि बन्धन अनुयोगद्वारमें की गई परिभाषाके अनुसार द्वादशांगका सूत्रागममें अन्तर्भाव हो जाता है पर कृति अनुयोगद्वारमें की गई सूत्रकी परिभाषाके अनुसार द्वादशांगका सूत्रागममें अन्तर्भाव न होकर ग्रन्थागममें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वहां कृति अनुयोगद्वारमें गणधरदेवके द्वारा रचे गये द्रव्यश्रुतको ग्रन्थागम कहा है। जान पड़ता है वीरसेन स्वामीने सूत्रकी इसी परिभाषाको ध्यानमें रख कर यहां सूत्रविषयक चर्चा की है जिसका सार यह है कि सूत्रकी पूरी परिभाषा जिनदेवके द्वारा कहे गये अर्थपदोंमें ही पाई जाती है गणधरदेवके द्वारा गूंथे गये द्वादशांगमें नहीं, अतः द्वादशांगको सूत्र नहीं कहा जा सकता। इस शंका यह भी अभिप्राय है—जब कि गणधरदेवके द्वारा गूंथे गये द्वादशांगमें सूत्रत्व नहीं है तो फिर प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदसपूर्वीके वचन सूत्र कैसे हो सकते हैं ? बन्धन अनुयोगद्वारमें कही गई सूत्रकी परिभाषाके अनुसार तथा अन्य आगमिक प्रमाणोंके आधारसे गणधरदेव आदिके वचन कदाचित् सूत्र हो भी जायँ तो भी गुणधर आचार्यके वचनोंको तो सूत्र कहना किसी भी हालतमें संभव नहीं है, क्योंकि गुणधर आचार्य गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी इनमेंसे कोई भी नहीं हैं। यह उपर्युक्त शङ्काका सार है। जिसका समाधान यह किया गया है कि यद्यपि उक्त कथनके अनुसार गुणधर आचार्यकी रचनाका सूत्रागममें अन्तर्भाव नहीं होता है, फिर भी गुणधर आचार्यकी रचना सूत्रागमके समान निर्दोष है, अल्पाक्षर है और असंदिग्ध है, इसलिये इसे भी उपचारसे सूत्र माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। अतः गुणधर आचार्यकी गाथाएँ भी सूत्र सिद्ध हो जाती हैं। सारांश यह है कि जिनदेवके मुखसे निकले हुए वीजपद पूरीतरहसे सूत्र हैं, तथा गणधर आदिके वचन उनके समान होनेसे सूत्रसम हैं।

पेज्ज-दोषविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, अकर्मवन्धकी अपेक्षा वन्धक और कर्मवन्धकी अपेक्षा संक्रम ये पांच अर्थाधिकार हैं। अथवा पूर्वोक्त प्रारंभके तीन तथा 'अणुभागे च' यहाँ आये हुए च शब्दसे सूचित प्रदेशविभक्ति स्थित्यन्तिकप्रदेश और झीणाझीणप्रदेश ये मिलकर चौथा अर्थाधिकार और 'बंधगे' इस पदसे वन्धक और संक्रम इन दोनोंकी अपेक्षा पांचवां अर्थाधिकार है। इन पांचों अर्थाधिकारोंमें नीचे लिखी तीन गाथाएँ जानना चाहिये।

§ १२१. पूर्वोक्त गाथामें आये हुए 'पेज्ज-दोस' पदके निर्देशसे 'पेज्जं वा दोसं वा'

"पेज्जं वा दोसं वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स ।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पि-(पि) यायदे को कहिं वा वि ॥ ६९॥"

एसा गाहा सूचिदा । कुदो ? एदिस्से एगदेसणिद्देसादो । 'विहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च' एदेण वि–

"पयडीय (डीए) मोहणिज्जा च विहत्ति तह ट्ठिदी य (दीए) अणुभागे ।
उक्कस्समणुक्कस्सं ज्झीणमज्झीणं च ट्ठिदियं वा ॥ ७० ॥"

एसा गाहा सूचिदा । कुदो ? एदिस्से एगावयवपासादो । 'बंधगे चे य' एदेण वि–

"कदि पयडीओ बंधदि ट्ठिदि-अणुभागे जहण्णमुक्कस्सं ।
संकामेदि कदिं वा गुणहीणं वा गुणविसिट्ठं ॥ ७१॥"

एसा गाहा सूचिदा, एदिस्से देसच्छिवणादो । एवमेदाओ तिण्णि गाहाओ पंचसु अत्था-हियारेसु णिबद्धाओ । के ते पंच अत्थाहियारा ? 'पेज्जदोसविहत्ति' त्ति एगो, 'ट्ठिदिविहत्ति' त्ति बिदियो, 'अणुभागविहत्ति' त्ति तदियो, 'बंधग' इत्ति चउत्थो अकम्म-बंधग्गहणादो, पुणो वि 'बंधगे' त्ति आवित्तीए कम्मबंधग्गहणादो पंचमो अत्था-हियारो । पयडिविहत्ती पदेसविहत्ती च ट्ठिदि-अणुभागविहत्तीसु पइट्ठाओ; पयडिपदेसेहि

इत्यादि रूपसे ऊपर मूलमें कही गई गाथा सूचित होती है, क्योंकि इस गाथाके एक देशका निर्देश 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथामें किया गया है ।

तथा पूर्वोक्त गाथामें आये हुए 'विहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च' इस पदसे भी 'पयडीए मोहणिज्जा' इत्यादि रूपसे मूलमें आई हुई गाथा सूचित होती है, क्योंकि इस गाथाके एकदेशका निर्देश 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथामें पाया जाता है । तथा पूर्वोक्त गाथामें आये हुए 'बंधगे चेय' इस पदसे भी 'कदि पयडीओ बंधदि' इत्यादि रूपसे ऊपर मूलमें कही गई गाथा सूचित होती है, क्योंकि इस गाथाके एकदेशका निर्देश 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथामें पाया जाता है। इसप्रकार ये तीन गाथाएँ पांच अर्थाधिकारोंमें निबद्ध हैं।

शंका–वे पांच अर्थाधिकार कौन कौन हैं ?

समाधान–पेज्ज-दोषविभक्ति यह पहला, स्थितिविभक्ति यह दूसरा, अनुभागविभक्ति यह तीसरा, कर्म बंधके ग्रहणकी अपेक्षा संक्रम यह चौथा तथा 'बंधगे' इस पदकी फिरसे आवृत्ति करने पर कर्मबन्धके ग्रहणकी अपेक्षा संक्रम यह पांचवां, इसप्रकार ये पांच अर्थाधिकार हैं । यहां पर प्रकृतिविभक्ति और प्रदेशविभक्ति आदिका स्वतंत्ररूपसे निर्देश क्यों नहीं किया गया है इस शंकाको मनमें रख करके वीरसेन स्वामी कहते हैं कि प्रकृति-विभक्ति और प्रदेशविभक्ति ये दोनों स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्तिमें अन्तर्भूत हो जाते हैं; क्योंकि प्रकृति और प्रदेशके विना स्थिति और अनुभाग नहीं बन सकते हैं। तथा

(१) कसायपाहुड गाथाङ्कः २१ । (२) कसायपाहुडसूत्रगाथाङ्कः २२ । (३)–भागो स० । (४) कसायपाहुड-सूत्रगाथाङ्कः २३ । (५)–विहत्ती त्ति स० ।

विणा ट्ठिदि-अणुभागाणमणुववत्तीदो । झीणाझीण-ट्ठिदिअंतियाणि तेसु चेव पविट्ठाणि; तेहि विणा तदणु[व]वत्तीदो ।

§ १२२. अहवा, पेज्जदोसविहत्तीए पयडिविहत्ती पविट्ठा, दव्वभावपेज्ज-दोसव-दिरित्तपयडीए अभावादो । पदेसविहत्ति-झीणाझीण-ट्ठिदिअंतियाणि पेज्जदोस-ट्ठिदि-अणुभागविहत्तीसु पविट्ठाणि; तेसिं तदविणाभावादो ।

§ १२३. अथवा, 'अणुभागे च' इदि 'च' सद्देण सूचिदपदेसविहत्ति-ट्ठिदिअंतिय-झीणझीणाणि घेत्तूण चउत्थो अत्थाहियारो । 'बंधगे' त्ति बंध-संकमे वे वि घेत्तूण पंचमो अत्थाहियारो । एवमेदेसु पंचसु अत्थाहियारेसु ५ पुव्विल्लातिण्णि गाहाओ णिबद्धाओ ।

झीणाझीण प्रदेश और स्थित्यन्तिक प्रदेश भी स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्तिमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि इनके बिना झीणाझीण और स्थित्यन्तिक नहीं बन सकते हैं ।

§ १२२. अथवा, पेज्ज-दोषविभक्तिमें प्रकृतिविभक्ति अन्तर्भूत हो जाती है, क्योंकि द्रव्यरूप पेज्ज-दोष और भावरूप पेज्ज-दोषको छोड़ कर प्रकृति स्वतंत्ररूपसे नहीं पाई जाती है । तथा प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणप्रदेश और स्थित्यन्तिकप्रदेश ये तीनों पेज्ज-दोषविभक्ति, स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्तिमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि प्रदेशविभक्ति आदिका पेज्ज-दोषविभक्ति आदिके साथ अविनाभावसंबन्ध पाया जाता है ।

§ १२३. अथवा 'अणुभागे च' इस गाथाभागमें आये हुए 'च' शब्दसे सूचित प्रदेश-विभक्ति, स्थित्यन्तिकप्रदेश और झीणाझीणप्रदेशको लेकर चौथा अर्थाधिकार होता है। तथा 'बंधगे' इस पदसे बन्ध और संक्रम इन दोनोंको ग्रहण करके पाँचवाँ अर्थाधिकार होता है। इसप्रकार इन पाँच अर्थाधिकारोंमें पहले मूलमें कही गई 'पेज्जं वा दोसं वा' इत्यादि तीन गाथाएं निवद्ध हैं ।

विशेषार्थ–अधिकारसूचक 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथामें पेज्जदोष, स्थिति, अनु-भाग और वन्धक ये चार नाम ही गिनाये हैं । तथा वन्धक इस पदकी पुनः आवृत्ति करके संक्रमका ग्रहण किया है । यहाँ वन्धक इस पदमें 'क' प्रत्यय स्वार्थमें है जिससे वन्धक पदसे वन्ध करनेवालेका ग्रहण न होकर वन्धका ही ग्रहण होता है । इसप्रकार गुणधर आचार्यके अभिप्रायानुसार इस कषायपाहुडके पेज्जदोषविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभाग-विभक्ति, वन्ध और संक्रम ये पाँच अधिकार पूर्वोक्त गाथाके आधारसे सिद्ध हो जाते हैं। और छठा अर्थाधिकार वेदक है । पर गुणधर आचार्यने इस कषायपाहुडमें पेज्जदोष-विभक्तिके अनन्तर प्रकृतिविभक्तिका तथा अनुभागविभक्तिके अनन्तर प्रदेशविभक्ति, झीणा-झीण और स्थित्यन्तिक अर्थाधिकारोंका वर्णन किया है जैसा कि 'पयडी ए मोहणिज्जा' इत्यादि गाथासे भी प्रकट होता है । अतः इन चारों अर्थाधिकारोंका उपर्युक्त पाँच अर्था-धिकारोंमेंसे किन अर्थाधिकारोंमें अन्तर्भाव करना उचित होगा यह प्रश्न शेष रह जाता है ।

(१)–ट्ठिदिभागा–अ०, आ० ।

यद्यपि गुणधर आचार्यको ये स्वतंत्र अधिकार इष्ट नहीं थे यह बात अर्थाधिकारोंके नामोंका निर्देश करनेवाली गाथाओंसे ही प्रकट हो जाती है। पर उन्होंने जो पेज्जदोषविभक्तिके अनन्तर प्रकृतिविभक्तिका और अनुभागविभक्तिके अनन्तर प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिकका उल्लेख किया है इससे किनका किनमें अन्तर्भाव आदि करना ठीक होगा इसका संकेत अवश्य मिल जाता है और इसी आधारसे वीरसेन स्वामीने ऊपर अन्तर्भावके तीन विकल्प सुझाये हैं। पहले विकल्पके अनुसार वीरसेनस्वामीने प्रकृतिविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक इन चारोंका ही स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्ति नामक दोनों अर्थाधिकारोंमें अन्तर्भाव किया है, क्योंकि प्रकृति और प्रदेशादिके विना स्थिति और अनुभाग स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं। दूसरे विकल्पके अनुसार प्रकृतिविभक्तिका पेज्जदोषविभक्तिमें अन्तर्भाव किया है, क्योंकि द्रव्य और भावरूप पेज्जदोषको छोड़कर प्रकृति स्वतन्त्र नहीं पाई जाती है। तथा शेष तीनोंका स्थिति और अनुभागमें अन्तर्भाव किया है। तीसरे विकल्पके अनुसार वीरसेन स्वामीने मूल व्यवस्थामें ही थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। इस व्यवस्थाके अनुसार वीरसेनस्वामी प्रकृतिविभक्तिको तो पेज्जदोषविभक्तिमें अन्तर्भूत कर लेते हैं पर शेष तीनको किसीमें भी अन्तर्भूत न करके उनका 'अणुभागे च' यहाँ आये हुए 'च' शब्दके बलसे चौथा स्वतन्त्र अर्थाधिकार मान लेते हैं। तथा बन्धक पदकी पुनः आवृत्ति न करके बन्ध और संक्रम इन दोके स्थानमें बन्धक नामका एक ही अर्थाधिकार मानते हैं। इन तीनों विकल्पोंमेंसे पहलेके दो विकल्पोंके अनुसार अर्थाधिकारोंके पूर्वोक्त पांचों नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। पर तीसरे विकल्पके अनुसार अर्थाधिकारोंके पेज्जदोषविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेश-झीणाझीण-स्थित्यंतिकविभक्ति और बन्ध ये पांच नाम हो जाते हैं। इस नामपरिवर्तनका कारण 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथामें पांचवें अर्थाधिकारके नामके स्पष्ट उल्लेखका न होना है। जब 'वंधगे च' इस पदकी पुनः आवृत्ति करते हैं तब संक्रम नामका स्वतन्त्र अर्थाधिकार बनता है और जब 'वंधगे च' इस पदकी पुनः आवृत्ति न करके 'अणुभागे च' में आये हुए 'च' शब्दसे अनुक्तका ग्रहण करते हैं तब अनुभागविभक्ति और बन्धकके बीचमें आये हुए प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक इन तीनोंका एक स्वतन्त्र अर्थाधिकार सिद्ध हो जाता है। इनमेंसे झीणाझीण और स्थित्यन्तिकको छोड़कर पेज्जदोषविभक्ति आदिका अर्थ सुगम है। झीणाझीण और स्थित्यन्तिक ये दोनों अर्थाधिकार प्रदेशविभक्ति नामक अर्थाधिकारके चूलिकारूपसे ग्रहण किये गये हैं। झीणाझीणमें 'किस स्थितिमें स्थित प्रदेशाग्र उत्कर्षण तथा अपकर्षणके योग्य या अयोग्य हैं' इसका विशदता से वर्णन किया गया है। तथा स्थितिक या स्थित्यन्तिक नामक अर्थाधिकारमें उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त प्रदेशाग्र कितने हैं, जघन्य स्थितिको प्राप्त प्रदेशाग्र कितने हैं, इत्यादिका वर्णन किया गया है।

चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ।
सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥४॥

§१२४. एदस्स गाहासुत्तस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा, 'चत्तारि वेदयम्मि दु' वेदओ णाम छट्ठो अत्थाहियारो ६। तत्थ चत्तारि सुत्तगाहाओ होंति ४। ताओ कदमाओ? '[1]कदि आवलियं [पवेसइ कदि च] पविस्संति०' एस गाहा प्पहुडि 'जो [2]जं संकामेदि य जं बंधेदि०' जाव एस गाहेत्ति ताव चत्तारि होंति। एत्थ गाहासमासो सत्त ७। 'उवजोगे सत्त होंति गाहाओ' उवजोगो णाम सत्तमो अत्थाहियारो, तत्थ सत्त सुत्तगाहाओ णिबद्धाओ। ताओ कदमाओ? '[3]केवचिरं उवजोगो०' एस गाहा प्पहुडि

ऊपर कहे गये तीन विकल्पोंके अनुसार पांचों अर्थाधिकारोंका सूचक कोष्ठक–

१	पेज्जदोषविभक्ति	पेज्जदोषविभक्ति (प्रकृतिविभक्ति)	पेज्जदोषविभक्ति (प्रकृतिविभक्ति)
२	स्थितिविभक्ति (प्रकृतिविभक्ति)	स्थितिविभक्ति	स्थितिविभक्ति
३	अनुभागविभक्ति (प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक)	अनुभागविभक्ति (प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक)	अनुभागविभक्ति
४	बन्ध	बन्ध	प्रदेश-झीणाझीण-स्थित्यन्तिकविभक्ति
५	संक्रम	संक्रम	बन्ध

वेदक नामके छठवें अर्थाधिकारमें चार गाथाएँ, उपयोग नामके सातवें अर्थाधिकारमें सात गाथाएँ, चतुःस्थान नामके आठवें अर्थाधिकारमें सोलह गाथाएँ और व्यंजन नामके नौवें अर्थाधिकारमें पाँच गाथाएँ निबद्ध हैं ॥ ४ ॥

§१२४. अब इस गाथासूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–वेदक नामका छठवां अर्थाधिकार है उसमें चार सूत्रगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'कदि आवलियं पविस्संति०' इस गाथासे लेकर 'जो जं संकामेदि य जं बंधदि०' इस गाथा तक चार गाथाएं हैं। यहां तक छह अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ सात हो जाता है। उपयोग नामका सातवां अर्थाधिकार है। इस अधिकारमें सात सूत्रगाथाएं निबद्ध हैं। वे कौनसी हैं? 'केव चिरं उवजोगो०' इस गाथासे लेकर 'उवजोगवग्गणाहि य अविरहिदं०' इस गाथातक

(१) सूत्रगाथाङ्कः ५९। (२) सूत्रगाथाङ्क ६२। (३) सूत्रगाथाङ्कः ६३।

'उवजोगवग्गणाओ कम्हि कसायम्मि०' ('वग्गणाहि य अविरहिदं काहि विरहिदं चावि') जाव एस गाहेत्ति ताव सत्त गाहाओ ७। एत्थ गाहासमासो चोद्दस १४। 'सोलस य चउट्ठाणे' चउट्ठाणं णाम अट्ठमो अत्थाहियारो ८। तत्थ सोलस गाहाओ होंति। ताओ काओ त्ति वुत्ते वुच्चदे, 'कोहो चउव्विहो वुत्तो०' एस गाहा प्पहुडि 'असण्णी खलु बंधदि०' जाव एस गाहेत्ति ताव सोलस गाहाओ होंति। एत्थ गाहासमासो ३०। 'वियंजणे पंच गाहाओ' वंजणं णाम णवमो अत्थाहियारो ९। तत्थ पंच सुत्तगाहाओ पडिबद्धाओ। ताओ कदमाओ? 'कोहो य कोध (कोप) रोसो०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'सासदपत्थण०' एस गाहेत्ति ताव पंच गाहाओ ५। एत्थ गाहासमासो पंचतीस ३५।

दंसणमोहस्सुवसामणाए पण्णारस होंति गाहाओ।
पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥५॥

§ १२५. एदिस्से संबंधगाहाए अत्थो वुच्चदे। तं जहा, दंसणमोहस्स उवसामणा णाम दसमो अत्थाहियारो १०। तत्थ पडिबद्धाओ पण्णरस गाहाओ। ताओ कदमाओ? 'दंसणमोहस्सुवसामओ०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'सम्मामिच्छाइट्ठी सागारो वा०' एस

सात गाथाएं हैं। यहां तक सात अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ चौदह होता है। चतुःस्थान नामका आठवां अर्थाधिकार है। इस अधिकारमें सोलह गाथाएं हैं। 'वे कौनसी हैं' ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि 'कोहो चउव्विहो वुत्तो०' इस गाथासे लेकर 'असण्णी खलु बंधदि०' इस गाथातक सोलह गाथाएं हैं। यहां तक आठ अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ तीस होता है। व्यंजन नामका नौवां अर्थाधिकार है। इस अधिकारसे संबन्ध रखनेवाली पाँच गाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं? 'कोहो य कोपरोसो०' इस गाथासे लेकर 'सासदपत्थण०' इस गाथा तक पांच गाथाएं हैं। यहां तक नौ अधिकारोंसे संबंध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ पेंतीस होता है।

दर्शनमोहनीयकी उपशामना नामक दसवें अर्थाधिकारमें पन्द्रह गाथाएं हैं और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा नामक ग्यारहवें अर्थाधिकारमें पांच ही सूत्रगाथाएं हैं ॥ ५ ॥

§ १२५. अब इस संबंधगाथाका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है–दर्शनमोहनीयकी उपशामना नामका दसवां अर्थाधिकार है। इस अर्थाधिकारमें पन्द्रह गाथाएं प्रतिबद्ध हैं। वे कौनसी हैं? 'दंसणमोहस्सुवसामओ' इस गाथासे लेकर 'सम्मामिच्छादिट्ठी सागारो वा'

(१) सूत्रगाथाङ्कः ६९। "उवजोगवग्गणाहि य अविरहिदं काहि विरहिदं चावि। पढमसमओवजुत्तेहिं चरिमसमए च बोद्धव्वा॥ एसा सत्तमी गाहा"–जयध० प्रे० ५८५२। 'उवजोगवग्गणाओ कम्हि कसायम्हि०' एषा उपयोगाधिकारस्य तृतीया गाथा भ्रान्तिवशात् सप्तमीगाथास्थाने आपतिता। (२) सूत्रगाथाङ्कः ७०। (३) सूत्रगाथाङ्कः ८५। (४) सूत्रगाथाङ्कः ८६। (५) सूत्रगाथाङ्कः ९०। (६)–सामण्णा अ०, आ०। (७) सूत्रगाथाङ्कः ९१। (८) सूत्रगाथाङ्कः १०५। (९)–च्छाइट्ठी आ०।

गाहेत्ति ताव पण्णारस गाहाओ १५। एत्थ गाहासमासो पंचास ५०। दंसणमोहक्खवणा णाम एक्कारसमो अत्थाहियारो ११। तत्थ पंच सुत्तगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'दंसणमोहक्खवणापट्ट[व]ओ कम्म०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'संखेज्जा च मणुस्सा० (स्सेसु०)' एस गाहेत्ति ताव पंच गाहाओ ५। एत्थ गाहासमासो पंचपंचास ५५।

§१२६. के वि आइरिया दंसणमोहणीयस्स उवसामक्खवणाहि वेहि मि एक्को चेव अत्थाहियारो होदि त्ति भणंति 'दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसेण सह सोलस अत्थाहियारा होंति' त्ति भएण; तण्ण घडदे; पण्णारसअत्थाहियारणिबद्धअसीदिसदगाहासु गुणहरवयणविणिग्गयासु दंसणचरित्तमोहअद्धापरिमाणपडिबद्धगाहाणमणुवलंभादो। तत्थ पडिबद्धगाहाणमभावो दंसणचरित्तमोहअद्धापरिमाणणिद्देसो पण्णारसअत्थाहियारेसु ण होदि त्ति कथं जाणावेदि? 'पण्णरसधाविहत्तअत्थाहियारेसु असीदिसदगाहाओ अवट्ठिदाओ' त्ति भणिदविदियसुत्तगाहादो जाणावेदि। 'आवलियमणायारे०' एस गाहा-

इस गाथा तक पन्द्रह गाथाएं हैं। यहां तक दस अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ पचास होता है। दर्शनमोहक्षपणा नामका ग्यारहवां अर्थाधिकार है। इस अर्थाधिकारमें पांच सूत्रगाथाएं हैं। वे कौन सी हैं? 'दंसणमोहक्खवणापट्ठवओ कम्म०' इस गाथासे लेकर 'संखेज्जा च मणुस्सेसु०' इस गाथा तक पांच गाथाएं हैं। यहां तक ग्यारह अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ पचपन होता है।

§१२६. कितने ही आचार्य, 'दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयसंबन्धी अद्धापरिमाणके निर्देशके साथ सोलह अर्थाधिकार हो जाते हैं। अर्थात् यदि इन दोनों अधिकारोंको स्वतंत्र रखा जाता है तो पन्द्रह अधिकार तो इन सहित हो जाते हैं, और इनके अद्धापरिमाणका निर्देश जिस अधिकारमें किया गया है, उसके मिलानेसे सोलह अधिकार हो जाते हैं' इस भयसे 'दर्शन मोहनीयकी उपशमना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा इन दोनोंको मिलाकर एक ही अर्थाधिकार होता है' ऐसा कहते हैं। परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि गुणधर आचार्यके मुखसे निकली हुई पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली एकसौ अस्सी गाथाओंमें दर्शनमोह और चारित्रमोहके अद्धापरिमाणसे संबन्ध रखनेवालीं गाथाएं नहीं पाई जाती हैं। अतएव दर्शनमोहनीयकी उपशमना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा इन दोनोंको स्वतन्त्र अर्थाधिकार मानकर ही पन्द्रह अर्थाधिकार समझना चाहिये।

शंका–दर्शनमोह और चारित्रमोहसंबन्धी अद्धापरिमाणका निर्देश पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें नहीं है तथा उनमें उससे संबद्ध छह गाथाएँ भी नहीं हैं यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–पन्द्रह प्रकारसे ही विभक्त अर्थाधिकारोंमें एकसौ अस्सी गाथाएं ही अवस्थित हैं इस आशयवाली पूर्वोक्त दूसरी सूत्रगाथासे जाना जाता है कि दर्शनमोह और चारित्रमोहसंबन्धी अद्धापरिमाण तथा छह गाथाएँ पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें नहीं आती हैं।

(१) सूत्रगाथाङ्कः १०६। (२) सूत्रगाथाङ्कः ११०। (३) परिव–अ०, आ०। (४) सूत्रगाथाङ्कः १५।

प्पहुडि छग्गाहाओ दंसणचरित्तमोहअद्धापरिमाणम्मि पडिबद्धाओ अत्थि, तेण अद्धापरिमाणणिद्देसेण अत्थाहियारेसु पण्णारसमेण होदव्वमिदि; ण; एदासिं छण्हं गाहाणं असीदिसदगाहासु पण्णारसअत्थाहियारणिबद्धासु अभावादो। जेण 'दंसणचरित्तमोहअद्धापरिमाणणिद्देसो पण्णारसेसु वि अत्थाहियारेसु णियमेण कायव्वो' त्ति गुणहरभडारएण अंतदीवयभावेण णिद्दिट्ठो तेणेसो पण्णारसमो अत्थाहियारो ण होदि त्ति घेत्तव्वं। तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पहाणभावेण एत्थ घेत्तव्वं।

शंका–'आवलियमणायारे०' इस गाथासे लेकर छह गाथाएँ दर्शनमोह और चारित्रमोहसंबंधी अद्धापरिमाण नामके अर्थाधिकारसे संबन्ध रखती हैं, इसलिये अर्थाधिकारोंमें अद्धापरिमाण निर्देशको पन्द्रहवां अर्थाधिकार होना चाहिये ?

समाधान–नहीं, क्योंकि पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवालीं एकसौ अस्सी गाथाओंमें 'आवलियमणायारे०' इत्यादि छह गाथाएं नहीं पाई जाती हैं।

चूंकि दर्शनमोह और चारित्रमोहसंबन्धी अद्धापरिमाणका निर्देश पन्द्रहों अर्थाधिकारोमें नियमसे करना चाहिये यह बतलानेके लिये गुणधर भट्टारकने उसका अन्तदीपकरूपसे निर्देश किया है, इसलिये यह पन्द्रहवाँ अर्थाधिकार नहीं हो सकता है, यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिये। अतः भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त व्याख्यान ही यहाँ पर प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ–पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामोंका निर्देश करनेवाली 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि दो गाथाओंमें अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणणिद्देसो' है। इससे कितने ही आचार्य इसे पन्द्रहवां स्वतंत्र अर्थाधिकार मान लेते हैं। पर यदि दर्शनमोहकी उपशामना और दर्शनमोहकी क्षपणा ये दो स्वतंत्र अधिकार रहते हैं तो अधिकारोंकी संख्या सोलह हो जाती है। इसलिये वे आचार्य 'अधिकारोंकी संख्या सोलह न हो जाय' इस भयसे दर्शनमोहकी उपशामना और दर्शनमोहकी क्षपणा इन दोनोंको मिलाकर एक ही अर्थाधिकार मानते हैं। पर यदि इस व्यवस्थाको ठीक माना जाय तो 'गाहासदे असीदे' इस प्रतिज्ञा वाक्यके अनुसार अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छह गाथाएं भी १८० गाथाओंमें आ जानी चाहिये थीं, क्योंकि कसायपाहुडका अद्धापरिमाण निर्देश नामक पन्द्रहवां स्वतंत्र अधिकार हो जानेसे उसका कथन करनेवाली गाथाओंका भी कसायपाहुडके विषयका प्रतिपादन करनेवाली १८० गाथाओंमें समावेश होना योग्य ही था। पर जिसलिये उनका १८० गाथाओंमें समावेश नहीं किया है इससे प्रतीत होता है कि अद्धापरिमाणनिर्देश नामका पन्द्रहवाँ स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, किन्तु वह पन्द्रह अधिकारोंमें सर्व साधारण अधिकार है, इसलिए 'अद्धापरिमाणणिद्देसो' इस पदके द्वारा अन्तमें उसका उल्लेख किया है। इसप्रकार विचार करने पर दर्शनमोहकी उपशामना और दर्शनमोहकी क्षपणा ये दो स्वतन्त्र अधिकार हैं यह सिद्ध हो जाता है।

लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स।
दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥६॥

§ १२७. एदिस्से संबंधगाहाए अत्थो वुच्चदे। तं जहा, संजमासंजमलद्धी णाम बारसमो अत्थाहियारो १२। चरित्तलद्धी तेरसमो अत्थाहियारो १३। एदेसु दोसु वि अत्थाहियारेसु एक्का गाहा णिबद्धा १। सा कदमा? 'लद्धी च संजमासंजमस्स०' एसा एक्का चेव। एत्थ गाहासमासो छप्पण्ण ५६।

§ १२८. जदि पडिबद्धगाहाभेदेण अत्थाहियारभेदो होदि तो एदेहि दोहि मि एक्केण अत्थाहियारेण होदव्वं एगगाहापडिबद्धत्तादो त्ति; सच्चमेवं चेवेदं; जदि दोसु वि अत्थाहियारेसु एगगाहा पडिबद्धेत्ति गुणहरभडारओ ण भणंतो। भणिदं च तेण, तदो जाणिज्जदि पडिबद्धगाहाभेदाभावे[2] वि दो वि पुध पुध अहियारा होंति त्ति। जदि पडिबद्धगाहाभेदेण अत्थाहियारभेदो होदि तो चरित्तमोहक्खवणाए बहुएहि अत्थाहि-

संयमासंयमकी लब्धि बारहवाँ अर्थाधिकार है तथा चारित्रकी लब्धि तेरहवाँ अर्थाधिकार है। इन दोनों ही अर्थाधिकारोंमें एक गाथा आई है। तथा चारित्रमोहकी उपशामना नामके अर्थाधिकारमें आठ गाथाएँ आई हैं ॥ ६ ॥

§ १२७. अब इस संबन्धगाथाका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–संयमासंयमलब्धि नामका बारहवां अर्थाधिकार है और चारित्रलब्धि नामका तेरहवाँ अर्थाधिकार है। इन दोनों ही अर्थाधिकारोंमें एक गाथा निबद्ध है। वह कौनसी है? 'लद्धी य संजमासंजमस्स०' यह एक ही है। इन तेरह अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंका जोड़ छप्पन होता है।

§ १२८. **शंका**–यदि अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंके भेदसे अर्थाधिकारोंमें भेद होता है तो संयमासंयमलब्धि और चारित्रलब्धि इन दोनोंको मिलाकर एक ही अर्थाधिकार होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों एक गाथासे प्रतिबद्ध हैं। अर्थात् इन दोनोंमें एक ही गाथा पाई जाती है।

समाधान–इन दोनों अर्थाधिकारोंमें एक गाथा प्रतिबद्ध है इसप्रकार यदि गुणधर भट्टारक नहीं कहते तो उपर्युक्त कहना सत्य होता, परन्तु गुणधर भट्टारकने उपर्युक्त दो अधिकारोंमें एक गाथा प्रतिबद्ध है ऐसा कहा है। इससे जाना जाता है कि उपर्युक्त अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंमें भेदके नहीं होने पर भी, अर्थात् दोनों अधिकारोंमें एक गाथाके रहते हुए भी, दोनों ही पृथक् पृथक् अधिकार हैं।

शंका–यदि अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंके भेदसे अर्थाधिकारोंमें भेद होता है तो चारित्रमोहकी क्षपणामें बहुत अर्थाधिकार होने चाहिये, क्योंकि वहाँ पर संक्रामण,

(१) सूत्रगाथाङ्कः १११। (२)–गाहाभावे भेदाभावे अ०।

यारेहि होदव्वं, तत्थ संकामणोवट्टावण-किट्टी-खवणादिसु पडिबद्धगाहाभेदुवलंभादो त्ति; ण एस दोसो; 'अट्ठावीसं समासेण' इत्ति जदि तत्थ ण भणिदं तो बहुवा अत्थाहियारा होंति चेव। णवरि तत्थ अट्ठवीसगाहाहि चरित्तमोहणीयक्खवणा जा परूविदा सा एक्को चेव अत्थाहियारो त्ति भणिदं, तेण णव्वदि जह तत्थ क्खवणावत्थासु पडिबद्धा (द्ध) गाहाभेदो अत्थाहियारभेदं ण साहेदि त्ति।

§ १२८. 'अट्ठेवुवसामणद्धम्मि' त्ति भणिदे चारित्तमोहउवसामणा णाम चोद्दसमो अत्थाहियारो १४। तत्थ संबद्धाओ अट्ठ गाहाओ। ताओ कदमाओ? 'उवसामणा कदिविहा' एस गाहा प्पहुडि जाव 'उवसामणण (णा) क्खएण दु अंसे बंधदि०' एस गाहेत्ति ताव अट्ठ गाहाओ होंति ८। एत्थ गाहासमासो चउसट्ठी ६४।

चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि।
ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए॥७॥

उद्वर्तना, कृष्टीकरण और क्षपणा आदिसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंका भेद पाया जाता है।

समाधान–यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि चारित्रमोहकी क्षपणामें 'अट्ठावीसं समासेण' अर्थात् जोड़रूपसे अट्ठाईस गाथाएं हैं इसप्रकार नहीं कहा होता तो बहुत अर्थाधिकार होते ही। परन्तु वहां पर अट्ठाईस गाथाओंके द्वारा जो चारित्रमोहनीयकी क्षपणा कही गई है वह एक ही अर्थाधिकार है ऐसा कहा गया है। इससे जाना जाता है कि वहां चारित्रमोहकी क्षपणारूप अवस्थासे संबन्ध रखनेवालीं गाथाओंका भेद अर्थाधिकारोंके भेदको सिद्ध नहीं करता है।

विशेषार्थ–एक अर्थाधिकारमें अनेक उप-अर्थाधिकार और उनसे संबन्ध रखनेवाली अनेक गाथाओंके होनेमात्रसे उसमें भेद नहीं हो सकता है। तथा अनेक अर्थाधिकारोंमें एक ही गाथाके पाए जाने मात्रसे वे अर्थाधिकार एक नहीं हो सकते हैं। अर्थाधिकारोंका भेदाभेद आवश्यकतानुसार आचार्यके द्वारा की गई प्रतिज्ञाके ऊपर निर्भर है। गाथाओंके भेदाभेदसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

§ १२९. 'अट्ठेवुवसामणद्धम्मि' ऐसा कहने पर चारित्रमोहकी उपशामना नामका चौदहवां अर्थाधिकार लेना चाहिये। उस अर्थाधिकारसे संबन्ध रखनेवाली आठ गाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं? 'उवसामणा कदिविहा०' इस गाथासे लेकर 'उवसामणाक्खएण दु अंसे बंधदि०' इस गाथा तक आठ गाथाएँ हैं। यहाँ तक कुल गाथाओंका जोड़ चौसठ होता है।

चारित्रमोहकी क्षपणाका प्रारंभ करनेवाले जीवसे संबन्ध रखनेवालीं चार गाथाएँ हैं। चारित्रमोहकी संक्रमणा करनेवाले जीवसे संबन्ध रखनेवालीं भी चार गाथाएँ

(१) सूत्रगाथाङ्कः ११२। (२) कयिविहा आ०, स०। (३) सूत्रगाथाङ्कः ११९।

§ १३०. एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे । तं जहा, चारित्तमोहणीयक्खवणाए जो पट्ठावओ पारंभओ आढवओ तत्थ चत्तारि गाहाओ होंति । ताओ कदमाओ ? '[1]संकामयपट्ठवयस्स परिणामो केरिसो हवे०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[2]किंट्ठिदियाणि कम्माणि०' एस गाहेत्ति ताव चत्तारि गाहाओ ४। तहा 'संकामए वि चत्तारि' त्ति भणिदे चारित्तमोहक्खवणओ[3] अंतरकरणे कदे संकामओ णाम होदि । तत्थ संकामए पडिबद्धाओ चत्तारि गाहाओ। ताओ कदमाओ? '[4]संकामण(ग)पट्ठव०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[5]बंधो व संकमो वा उदयो वा०' एस गाहे त्ति ताव चत्तारि गाहाओ होंति ४। 'ओवट्टणाए तिण्णि दु' खवणाए चारित्तमोहओवट्टणाए तिण्णि गाहाओ । ताओ कदमाओ ? '[6]किं अंतरं करेंतो०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'ट्ठिदिअणुभागे अंसे' एस गाहेत्ति ताव तिण्णि गाहाओ ३ । 'एक्कारस होंति किट्टीए' चारित्तमोहक्खवणाए बारह संगहकिट्टीओ णाम होंति । तासु किट्टीसु पडिबद्धाओ एक्कारस गाहाओ । ताओ कदमाओ ? 'केवडिया किट्टीओ' एस गाहा प्पहुडि जाव 'किट्टीकयम्मि कम्मे के वीचारो दु मोहणीयस्स' एस गाहेत्ति ताव एक्कारस गाहाओ होंति ११ ।

हैं । चारित्रमोहकी अपवर्तनामें तीन गाथाएँ आई हैं । तथा चारित्रमोहकी क्षपणामें जो बारह कृष्टियां होती हैं उनमें ग्यारह गाथाएँ आई हैं ॥ ७॥

§ १३०. अब इस गाथाका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है—चरित्रमोहकी क्षपणाका जो प्रस्थापक अर्थात् प्रारंभक या आरंभ करनेवाला है उसके वर्णनसे सम्बन्ध रखनेवालीं चार गाथाएँ हैं । वे कौनसी हैं ? 'संकामयपट्ठवगस्स परिणामो केरिसो हवे०' इस गाथासे लेकर 'किंट्ठिदियाणि कम्माणि०' इस गाथा तक चार गाथाएँ हैं। तथा 'संकामए वि चत्तारि' ऐसा कथन करनेका तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहकी क्षपणा करनेवाला जीव नौवें गुणस्थानमें अन्तरकरण करने पर संक्रामक कहलाता है । इस संक्रामकके वर्णनसे सवन्ध रखनेवालीं चार गाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं? 'संकामगपट्ठव०' इस गाथासे लेकर 'बंधो व संकमो वा उदयो वा०' इस गाथातक चार गाथाएँ हैं। क्षपकश्रेणी सम्बन्धी चारित्रमोहकी अपवर्तनाके वर्णनमें तीन गाथाएँ आई हैं । वे कौनसी हैं ? 'किं अंतरं करेंतो०' इस गाथासे लेकर 'ट्ठिदिअणुभागे अंसे०' इस गाथा तक तीन गाथाएँ हैं । चारित्रमोहकी क्षपणामें वारह संग्रहकृष्टियां होती हैं । उन बारह संग्रहकृष्टियोंके वर्णनसे संबन्ध रखनेवालीं ग्यारह गाथाएँ हैं । वे कौनसी हैं ? 'केवडिया किट्टीओ०' इस गाथासे लेकर 'किट्टी कयम्मि कम्मे के वीचारो दु मोहणीयस्स ।' इस गाथा तक ग्यारह गाथाएं हैं ।

(१) सूत्रगाथाङ्कः १२०। (२) सूत्रगाथाङ्कः १२३। (३)-क्खवओ आ०, स० । (४) सूत्रगाथाङ्कः १२४। (५) सूत्रगाथाङ्कः १४७। (६) सूत्रगाथाङ्कः १५१। (७) सूत्रगाथाङ्कः १५७। (८) सूत्रगाथाङ्कः १६२। (९) सूत्रगाथाङ्कः २१३ ।

चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स ।
एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण ॥ ८ ॥

§१३१. 'चत्तारि य खवणाए' त्ति भणिदे किट्टीणं खवणाए चत्तारि गाहाओ। ताओ कदमाओ? 'किं[1] वेदंतो[2] किट्टिं खवेदि०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'किट्टीदो[3] किट्टिं पुण०' एस गाहेत्ति ताव चत्तारि गाहाओ ४। 'एक्का पुण होदि खीणमोहस्स' एवं भणिदे खीणकसायम्मि पडिबद्धा एक्का गाहेत्ति घेत्तव्वं १। सा कदमा? "[4]खीणेसु कसाएसु य सेसाणं०' एसा एक्का चेव गाहा। 'एक्का संगहणीए' त्ति वुत्ते संगहणीए 'संकामणमोवट्टण[5]०' एसा एक्का चेव गाहा होदि त्ति जाणाविदं १। 'अट्ठावीसं समासेण' चरित्तमोहक्खवणाए पडिबद्धगाहाणं समासो अट्ठावीसं चेव होदि त्ति जाणाविदं।

§१३२. चारित्तमोहणीयक्खवणाए पडिबद्धअट्ठावीसगाहाणं परिमाणणिद्देसो किमट्ठं कदो? 'जम्मि अत्थाहियारम्मि जदि गाहाओ होंति ताओ भणामि' त्ति पइज्जावयणं सोदूण जम्मि जम्मि अत्थाहियारविसेसे पडिबद्धगाहाओ दीसंति [6]तेसिं तेसिमत्था-

बारह संग्रहकृष्टियोंकी क्षपणाके कथनमें चार गाथाएँ आई हैं। क्षीणमोहके कथनमें एक गाथा आई है। तथा संग्रहणीके कथनमें एक गाथा आई है। इसप्रकार चारित्रमोहकी क्षपणासे संबन्ध रखनेवालीं कुल गाथाओंका जोड़ अट्ठाईस होता है ॥८॥

'चत्तारि य खवणाए' ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि बारह संग्रहकृष्टियोंकी क्षपणाके कथनमें चार गाथाएं आई हैं। वे कौनसी हैं? 'किं वेदंतो किट्टिं खवेदि०' इस गाथासे लेकर 'किट्टीदो किट्टिं पुण०' इस गाथा तक चार गाथाएं हैं। 'एक्का पुण होदि खीणमोहस्स' इस प्रकार कथन करने का तात्पर्य यह है कि क्षीणकषायके वर्णनसे संबन्ध रखनेवाली एक गाथा है। वह कौनसी है? 'खीणेसु कसाएसु य सेसाणं०' यह एक ही गाथा है। 'एक्का संगहणीए' इस कथन से यह सूचित किया है कि संग्रहणीके कथनमें 'संकामणमोवट्टण०' यह एक ही गाथा है। 'अट्ठावीसं समासेण' इस पदके द्वारा यह सूचित किया है कि चारित्रमोहकी क्षपणाके कथनसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंका जोड़ अट्ठाईस ही है।

शंका–चारित्रमोहकी क्षपणाके कथनसे संबन्ध रखनेवाली अट्ठाईस गाथाओंके परिमाणका निर्देश किसलिये किया है?

समाधान–'जिस अर्थाधिकारमें जितनी गाथाएं पाई जाती हैं उनका मैं कथन करता हूं' इसप्रकारके प्रतिज्ञावचनको सुनकर जिस जिस अर्थाधिकारविशेषसे संबन्ध रखनेवाली गाथाएं दिखाई पड़ती हैं उन उन अर्थाधिकारविशेषोंको पृथक् पृथक् अधिकारपना प्राप्त

(१) सूत्रगाथाङ्कः २१४। (२) वेदेंतो अ०, ता०। (३) सूत्रगाथाङ्कः २२९। (४) सूत्रगाथाङ्कः २३२। (५) सूत्रगाथाङ्कः २३३। (६) तेसिम–अ०।

हियारविसेसाणं पुध पुध अहियारभावो होदि त्ति सिस्सम्मि समुप्पण्णविवरीयबुद्धीए णिराकरणट्ठं कदो। एदेहि अट्ठावीसगाहाहि एक्को चेव अत्थाहियारो परूविदो त्ति तेण घेत्तव्वं, अण्णहा पण्णारसअत्थाहियारे मोत्तूण बहूणमत्थाहियाराणं पसंगादो। खवणअत्थाहियारे अण्णाओ वि गाहाओ अत्थि ताओ मोत्तूण किमिदि चारित्तमोहणीयक्खवणाए अट्ठावीसं चेव गाहाओ त्ति परूविदं ? ण; एदाहि गाहाहि परूविदत्थे मोत्तूण तासिं सेसगाहाणं पुधभूदअत्थाणुवलंभादो, तेण चारित्तमोहणीयक्खवणाए अट्ठावीसं चेव गाहाओ होंति २८। संकामणपट्ठवए चत्तारि ४, संकामए चत्तारि ४, ओवट्टणा [ए] तिण्णि ३, किट्टीसु एक्कारस ११, किट्टीणं खवणाए चत्तारि ४, खीणमोहे एक्का १, संगहणीए एक्का १, एदेसिं गाहाणं समासो जेण अट्ठावीसं चेव होदि तेण

होता है, इसप्रकार शिष्य में उत्पन्न हुई विपरीत बुद्धिके निराकरण करनेके लिये चारित्रमोहकी क्षपणामें आई हुई कुल गाथाओंका जोड़ अट्ठाईस है ऐसा कहा है। अर्थात् चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अधिकारमें अनेक अवान्तर अर्थाधिकार हैं। यदि उस अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली कुल गाथाओंका जोड़ न बतलाया जाता तो शिष्यको यह मतिविभ्रम होनेकी संभावना है कि प्रत्येक अवान्तर अर्थाधिकार एक एक स्वतन्त्र अधिकार है और उससे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ उस अधिकारकी गाथाएं हैं। अतः इस मतिविभ्रमको दूर करनेके लिये चारित्रमोहक्षपणा नामक अर्थाधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओंके परिमाणका निर्देश किया गया है। 'अट्ठावीसं समासेण' इस पदसे इन अट्ठाईस गाथाओंके द्वारा एक ही अर्थाधिकार कहा गया है, इसप्रकारका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये। यदि यह अभिप्राय न लिया जाय तो कषायप्राभृतमें पन्द्रह अर्थाधिकारोंके सिवाय और भी बहुतसे अर्थाधिकारोंकी प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त होता है।

शंका–इस चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अर्थाधिकारमें इन अट्ठाईस गाथाओंके अतिरिक्त और भी बहुतसी गाथाएं आई हैं। उन सबको छोड़कर 'चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अर्थाधिकारमें अट्ठाईस ही गाथाएं हैं' ऐसा किसलिये कहा है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि इन अट्ठाईस गाथाओंके द्वारा प्ररूपण किये गये अर्थको छोड़ कर उन शेष गाथाओंका अन्य कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं पाया जाता है। अर्थात् वे शेष गाथाएं उसी अर्थका प्ररूपण करती हैं जो कि अट्ठाईस गाथाओंके द्वारा कहा गया है। इसलिये चारित्रमोहनीयकी क्षपणा नामक अधिकारमें अट्ठाईस ही गाथाएं हैं ऐसा कहा है।

चारित्रमोहकी क्षपणाके प्रारंभ करनेवालेके कथनमें चार, संक्रामकके कथनमें चार, अपवर्तनाके कथनमें तीन, कृष्टियोंके कथनमें ग्यारह, कृष्टियोंकी क्षपणाके कथनमें चार, क्षीणमोहके कथनमें एक और संग्रहणीके कथनमें एक, इसप्रकार इन गाथाओंका जोड़ जिस कारणसे अट्ठाईस ही होता है इसलिये पहले जो कहा गया है वह ठीक ही कहा गया है

पुव्विल्लभासिदं सुभासिदमिदि दट्ठव्वं । संपहि एदाओ अट्ठावीसगाहाओ पुव्विल्ल-चउसट्ठिगाहासु पक्खित्ते वाणउदिगाहासमासो होदि ९२ ।

§१३३. संपहि पण्णारसमम्मि अत्थाहियारम्मि पंढिदअट्ठावीसगाहासु केत्तियाओ सुत्तगाहाओ केत्तियाओ ण सुत्तगाहाओ त्ति पुच्छिदे असुत्तगाहापमाणपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि— का सुत्तगाहा ? सूचिदाणेगत्था । अवरा असुत्तगाहा ।

किट्टीकयवीचारे संगहणी-खीणमोहपट्ठवए ।
सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥ ६ ॥

§१३४. एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे । तं जहा, 'किट्टीकयवीचारे' त्ति भणिदे एक्कारसण्हं किट्टिगाहाणं मज्झे एक्कारसमी वीचारमूलगाहा एक्का १ । 'संगहणी' त्ति भणिदे संगहणिगाहा एक्का घेत्तव्वा १ । 'खीणमोह' इत्ति भणिदे खीणमोहगाहा एक्का

ऐसा समझना चाहिये । चारित्रमोहनीयकी क्षपणा नामक पन्द्रहवें अर्थाधिकारसे संबन्ध रखनेवाली इन अट्ठाईस गाथाओंको चौदह अधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली पहलेकी चौसठ गाथाओंमें मिला देने पर कुल गाथाओंका जोड़ बानवे होता है ।

§ १३३. अब पन्द्रहवें अर्थाधिकारमें कही गई अट्ठाईस गाथाओंमेंसे कितनी सूत्र गाथाएं हैं और कितनी सूत्रगाथाएं नहीं हैं, इसप्रकार पूछने पर असूत्र गाथाओंके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

शंका–सूत्रगाथा किसे कहते हैं ?

समाधान–जिससे अनेक अर्थ सूचित हों वह सूत्रगाथा है और इससे विपरीत अर्थात् जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हों वह असूत्र गाथा है । आगे उनका प्रमाण बतलाते हैं–

कृष्टि संबंधी ग्यारह गाथाओंमेंसे वीचारविषयक एक गाथा, संग्रहणीका प्रतिपादन करनेवाली एक गाथा, क्षीणमोहका प्रतिपादन करनेवाली एक गाथा और चारित्र-मोहकी क्षपणाके प्रस्थापकसे संबंध रखनेवाली चार गाथाएं, इस प्रकार ये सात गाथाएं सूत्रगाथाएं नहीं हैं । तथा इन सात गाथाओंसे अतिरिक्त शेष इक्कीस गाथाएं सभाष्यगाथाएं अर्थात् सूत्रगाथाएं हैं ॥ ६ ॥

अब इस गाथाका अर्थ कहते हैं । वह इस प्रकार है–'किट्टीकयवीचारे' ऐसा कथन करने पर कृष्टिसंबन्धी ग्यारह गाथाओंमेंसे ग्यारहवीं वीचारसम्बन्धी एक मूल गाथा लेना चाहिये । 'संगहणी' ऐसा कथन करने पर संग्रहणीविषयक एक गाथा लेना चाहिये । 'खीणमोहे' ऐसा कथन करने पर क्षीणमोहसंबंधी एक गाथा लेना चाहिये । तथा 'पट्ठवए'

(१) पडिद–अ० । पच्छिद्द–आ० । (२) "तत्थ मूलगाहाओ णाम सुत्तगाहाओ । पुच्छामेत्तेण सूचिदाणेगत्थाओ । भासगाहा सव्वपेक्खाओ··"–जयध० आ० प० ८९५ । (३)–णिग्गहा–अ० ।

घेत्तव्वा १। 'पट्ठवए' त्ति भणिदे चत्तारि पट्ठवणगाहाओ घेत्तव्वाओ ४। 'सत्तेदा गाहाओ' त्ति भणिदे सत्तेदा गाहाओ सुत्तगाहाओ ण होंति; सूचिदत्था(त्थ)पडिबद्धभासगाहाणसभावादो। अण्णाओ सभासगाहाओ। चारित्तमोहक्खवणाहियारम्मि पढिदअट्ठवीसगाहासु एदाओ सत्त गाहाओ अवणिदे सेसाओ एक्कवीस गाहाओ 'अण्णाओ' त्ति णिद्दिट्ठाओ।

§१३५. 'सभासगाहाओ' त्ति च(ब)समासो, तेन 'सह भाष्यगाथाभिर्वर्त्तन्त इति सभाष्यगाथाः' इति सिद्धम्। जत्थ 'भासगाहाओ' त्ति पठदि तत्थ सहसद्दत्थो कथमुवलब्भदे? ण; सहसद्देण विणा वि तदट्ठस्स तत्थ णिविट्ठस्स उवलंभादो। तदट्ठे संते सो सद्दो किमिदि ण सवणगोयरे पददि? ण;

"किरंपि (कीरइ) पयाण काण वि आईमज्झंतवण्णसरलोओ।
केसिंचि आगमो च्चि य इट्ठाणं वंजणसराणं ॥७२॥"

इदि एदेण लक्खणेण पत्तलोवत्तादो। सूइदत्थत्तादो एदाओ सुत्तगाहाओ।

ऐसा कथन करने पर चारित्रमोहकी क्षपणाके प्रस्थापकसे सम्बन्ध रखनेवालीं चार गाथाएँ लेना चाहिये। 'सत्तेदा गाहाओ' ऐसा कथन करने पर ये पूर्वोक्त सात गाथाएं सूत्रगाथाएं नहीं है ऐसा निश्चित होता है, क्योंकि ये गाथाएं जिस अर्थको सूचित करती हैं उससे सम्बन्ध रखनेवालीं भाष्यगाथाओंका अभाव है। इन सात गाथाओंसे अतिरिक्त अन्य इक्कीस गाथाएं सभाष्यगाथाएं हैं। चारित्रमोहनीयके क्षपणा नामक अर्थाधिकारमें कही गई अट्ठाईस गाथाओंमेंसे इन सात गाथाओंके घटा देने पर शेष इक्कीस गाथाएं 'अन्य' इस पदसे निर्दिष्ट की गई हैं।

§ १३५. सभाष्यगाथा इस पदमें बहुव्रीहि समास है, इसलिये जो गाथाएं भाष्यगाथाओंके साथ पाई जाती हैं अर्थात् जिन गाथाओंका व्याख्यान करनेवालीं भाष्यगाथाएं भी हैं वे सभाष्यगाथा कहलातीं हैं, यह सिद्ध होता है।

शंका–जहां पर 'भाष्यगाथाएं' ऐसा कहा गया है वहां पर 'सह' शब्दका अर्थ कैसे उपलब्ध होता है?

समाधान–ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि 'सह' शब्दके विना भी वहां 'सह' शब्दका अर्थ निविष्ट रूपसे पाया जाता है।

शंका–सह शब्दका अर्थ रहते हुए वहां पर 'स' शब्द क्यों नहीं सुनाई पड़ता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि "किन्हीं पदोंके आदि, मध्य और अन्तमें स्थित वर्णों और स्वरोंका लोप होता है तथा किन्हीं इष्ट व्यंजन और स्वरोंका आगम भी होता है॥७२॥" इस लक्षणके अनुसार, जहां 'स' शब्द सुनाई नहीं पड़ता है वहां उसका लोप समझना चाहिये।

ये इक्कीस गाथाएं अर्थका सूचनमात्र करनेवाली होनेसे सूत्रगाथाएँ हैं।

(१) उद्धृतेयम्–ध० आ० प० ३९७।

§ १३६. संपहि एदासिं संखाए सह सुत्तसण्णापरूवणट्ठं वक्खाणगाहाणं सण्णा-परूवणट्ठं च उत्तरगाहासुत्तमागयं-

संकामण-ओवट्टण-किट्टी-खवणाए एक्कवीसं तु ।
एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ ॥१०॥

§ १३७. ताओ एक्कवीस सभासगाहाओ कत्थ होंति त्ति भणिदे भणइ 'संकामण-ओवट्टणकिट्टी-खवणाए' होंति । तं जहा, संकमणाए चत्तारि ४, ओवट्टणाए तिण्णि ३, किट्टीए दस १०, खवणाए चत्तारि ४ गाहाओ होंति । एवमेदाओ एक्कदो कदे एक्कवीस

विशेषार्थ-यद्यपि पहले यह बता आये हैं कि गुणधर आचार्यने जितनी गाथाएँ रचीं हैं उनमें सूत्रका लक्षण पाया जाता है इसलिये वे सब सूत्रगाथाएँ हैं । तथा प्रतिज्ञाश्लोकमें स्वयं गुणधर आचार्यने भी सभी गाथाओंको सूत्रगाथा कहा है । परन्तु यहाँ चारित्रमोह-नीयकी क्षपणाके प्रकरणमें आई हुई गाथाओंमें जो सूत्रगाथा और असूत्रगाथा इसप्रकारका भेद किया है उसका कारण यह है कि इस प्रकरणमें मूलगाथाएं अट्ठाईस हैं। उनमेंसे इक्कीस गाथाओंके अर्थका व्याख्यान करनेवाली छियासी भाष्यगाथाएँ पाई जाती हैं और शेष सात मूल गाथाएँ स्वयं अपने प्रतिपाद्य अर्थको प्रकट करती हैं । उनके अर्थके स्पष्टीकरणके लिये अन्य व्याख्यानगाथाओंकी आवश्यकता नहीं है । अतः जिन इक्कीस गाथाओं पर व्याख्यान-गाथाएँ पाई जाती हैं उन्हें अर्थका सूचन करनेवाली होनेसे सूत्रगाथा, उनका व्याख्यान करनेवाली गाथाओंको भाष्यगाथा और शेष सात गाथाओंको असूत्रगाथा कहा है । यह व्यवस्था केवल इस प्रकरणसे ही संबन्ध रखती है । पूर्वोक्त व्यवस्थाके अनुसार तो गुणधर आचार्यके द्वारा बनाई गई सभी गाथाएँ सूत्रगाथाएँ हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

§ १३६. अब इन गाथाओंकी संख्याके साथ सूत्रसंज्ञाके प्ररूपण करनेके लिये और व्याख्यान गाथाओंकी संज्ञाके प्ररूपण करनेके लिये आगेका गाथासूत्र आया है-

चारित्रमोहनीयकी क्षपणा नामक अर्थाधिकारके अन्तर्भूत संक्रामण, अपवर्तन, कृष्टि और क्षपणा इन चार अधिकारोंमें जो इक्कीस गाथाएँ कही हैं वे सूत्रगाथाएँ हैं । तथा इन इक्कीस गाथाओंके अर्थके प्ररूपणसे संबन्ध रखनेवालीं अन्य गाथाएँ भाष्य-गाथाएँ हैं, उन्हें सुनो ॥ १० ॥

§ १३७. वे इक्कीस सभाष्यगाथाएँ कहां कहां हैं ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि संक्रामण, अपकर्षण, कृष्टि और क्षपणामें वे इक्कीस गाथाएं हैं । आगे इसी विषयका स्पष्टीकरण करते हैं-संक्रमणामें चार, अपवर्तनामें तीन, कृष्टिमें दस और क्षपणामें चार सभाष्यगाथाएं हैं। इसप्रकार इन सबको एकत्र करने पर इक्कीस सभाष्यगाथाएं होती हैं।

(१) "भासगाहाओ त्ति वा वक्खाणगाहाओ त्ति वा विवरणगाहाओ त्ति वा एयट्ठो ।"-जयध० प्रे० पृ० ६७९५ ।

सगाहाओ २१। एदाओ सुत्तगाहाओ। कुदो? सूइदत्थादो। अत्रोपयोगी श्लोकः–

"अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा।
सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥७३॥"

§ १३८. 'सुण' यद (इदि) सिस्ससंभालणवयणं [3]अपडिबुद्धस्स सिस्सस्स वक्खाणं रत्थयमिदि जाणावणट्ठं भणिदं। 'अण्णाओ भासगाहाओ' एदाहिंतो अण्णाओ जाओ त्वीसगाहाणमत्थपरूवणाए पडिबद्धाओ वक्खाणगाहाओ त्ति भणिदं होदि।

§ १३९. ताओ भासगाहाओ काओ त्ति भणिदे एत्थ एत्थ अत्थम्मि एत्तियाओ एत्ति- ओ भासगाहाओ होंति त्ति तासिं संखाए सह भासगाहापरूवणट्ठमुत्तरदोगाहाओ पढदि–

पंच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य।
चत्तारि य तिण्णि [4]उभे पंच य एक्कं तह य छक्कं ॥११॥
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च।
दो पंचेव य [5]एक्का अण्णा एक्का य दस दो य ॥१२॥

इक्कीस गाथाएं सूत्रगाथाएं हैं, क्योंकि ये अपने अर्थका सूचनमात्र करती हैं। यहां सूत्रके षयमें उपयोगी श्लोक देते हैं–

"जो भले प्रकार अर्थका सूचन करे, अथवा अर्थको जन्म दे उस बहुअर्थगर्भित नाको सूत्रकार आचार्यने निश्चयसे सूत्र कहा है ॥७३॥"

§ १३८. शिष्यको सावधान करनेके लिये गाथासूत्रमें जो 'सुनो' यह पद कहा है वह ासमझ शिष्यको व्याख्यान करना निरर्थक है' यह बतलानेके लिये कहा है। गाथासूत्रमें ये हुए 'अण्णाओ भासगाहाओ' इस पदका यह तात्पर्य है कि इन इक्कीस गाथाओंसे तिरिक्त अन्य जो गाथाएं इन इक्कीस गाथाओंके अर्थका प्ररूपण करनेसे संबन्ध रखती , वे व्याख्यान गाथाएँ हैं।

§ १३९. वे भाष्यगाथाएँ कौनसी हैं, ऐसा पूछने पर 'इस इस अर्थमें इतनी इतनी ाष्यगाथाएं हैं' इसप्रकार संख्याके साथ उन भाष्यगाथाओंको बतलानेके लिये आगेकी दो त्रगाथाएं कहते हैं–

इक्कीस सभाष्य गाथाओंकी पांच, तीन, दो, छह, चार, तीन, तीन, एक, चार, ीन, दो, पांच, एक, छह, तीन, चार, दो, चार, चार, दो, पांच, एक, एक, दस ौर दो इसप्रकार ये छियासी भाष्यगाथाएं जाननी चाहिये ॥११-१२॥

(१) सूचिद–अ०, आ०। (२) तुलना–"सुत्तं तु सुत्तमेव उ अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो। अत्थस्स ाणा वा सुवुत्तमिइ वा भवे सुत्तं ॥"–बृहत्कल्प० भा० गा० ३१०। (३) अपडिबद्धस्स अ०, आ०, स०। ४) दुभे आ०, स०। (५) य अण्णा एक्का–अ०, आ०।

§ १४०. एदासिं दोण्हं गाहाणमत्थो वुच्चदे। तं जहा, अंतरकरणे कदे संकामओ णाम होइ। तम्मि संकामयम्मि चत्तारि मूलगाहाओ होंति। तत्थ '[1]संकामणपट्ठवयस्स किंट्ठिदिगाणि[2] पुव्वबद्धाणि०' एसा पढममूलगाहा। एदिस्से पंच भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? '[3]संकामयपट्ठवयस्स०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[4]संकंतम्मि य णियमा०' एस गाहेत्ति ताव पंच भासगाहाओ होंति ५। '[5]संकामणपट्ठवओ०' एदिस्से संकामयविदियगाहाए तिण्णि अत्था। तत्थ 'संकामणपट्ठवओ के बंधदि' त्ति एदम्मि पढमे अत्थे तिण्णि भासगाहाओ[6] होंति। ताओ कदमाओ? '[7]वस्ससदसहस्साइं ट्ठिदिसंखा०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[8]सव्वावरणीयाणं जेसिं०' एस गाहेत्ति ताव तिण्णि-भासगाहाओ होंति ३। 'के च (व) वेदयदे अंसे' एदम्मि विदिए अत्थे दो भासगाहाओ होंति। ताओ कदमाओ? '[9]णिद्दा य णीयगोदं०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[10]वेयम्मि (वेदे च) वेयणीए०' एस गाहेत्ति ताव वे भासगाहाओ होंति २। 'संकामेदि य के के०' एदम्मि तदिए अत्थे छब्भासगाहाओ होंति। ताओ कदमाओ? '[11]सव्वस्स मोहणिज्जस्स आणुपुव्वी य संकमो होइ०' एस गाहा प्पहुडि जाव '[12]संकामयपट्ठवओ०' एस गाहेत्ति ताव छब्भासगाहाओ ६। '[13]बंधो व संकमो वा०' एदिस्से तदियमूलगाहाए

§ १४०. अब इन दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–नौवें गुणस्थानमें अन्तरकरणके करने पर जीव संक्रामक कहा जाता है। उस संक्रामकके वर्णनमें चार मूल गाथाएं हैं। उनमेंसे 'संकामणपट्ठवगस्स किंट्ठिदिगाणि पुव्वबद्धाणि०' यह पहली मूल गाथा है। इसकी पांच भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'संकामयपट्ठवगस्स०' इस गाथासे लेकर 'संकंतम्मि य णियमा०' इस गाथा तक पांच भाष्यगाथाएं हैं। 'संकामणपट्ठवओ०' संक्रामकसंबन्धी इस दूसरी गाथाके तीन अर्थ हैं। उन तीनों अर्थोंमेंसे 'संकामणपट्ठवओ के बंधदि०' इस पहले अर्थमें तीन भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'वस्ससदसहस्साइं ट्ठिदिसंखा०' इस गाथासे लेकर 'सव्वावरणीयाणं जेसिं०' इस गाथा तक तीन भाष्यगाथाएं हैं। 'के च वेदयदे अंसे०' इस दूसरे अर्थमें दो भाष्यगाथाएं आई हैं। वे कौनसी हैं? 'णिद्दा य णीयगोदं०' इस गाथासे लेकर 'वेदे च वेयणीए०' इस गाथातक दो भाष्यगाथाएं हैं। 'संकामेदि य के के०' इस तीसरे अर्थमें छह भाष्यगाथाएं आई हैं। वे कौनसी हैं? 'सव्वस्स मोहणिज्जस्स आणुपुव्वी य संकमो होइ०' इस गाथासे लेकर 'संकामयपट्ठवओ०' इस गाथा तक छह भाष्य गाथाएं हैं। 'बंधो व संकमो वा०' संक्रामकसंबन्धी इस तीसरी

(१) सूत्रगाथाङ्कः १२४। (२)–ट्ठिदियाणि अ०, स०। (३) सूत्रगाथाङ्कः १२५। (४) सूत्रगाथाङ्कः १२९। (५) सूत्रगाथाङ्कः १३०। (६)–गाहा हों–अ०। (७) सूत्रगाथाङ्कः १३१। (८) सूत्रगाथाङ्कः १३३। (९) सूत्रगाथाङ्कः १३४। (१०) सूत्रगाथाङ्कः १३५। (११) सूत्रगाथाङ्कः १३६। (१२) सूत्रगाथाङ्कः १४०। (१३) सूत्रगाथाङ्कः १४२।

चत्तारि भासगाहाओ। ताओ कदमाओ ? 'बंधेण[1] होदि उदओ अहिओ०' एस गाहा-प्पहुडि 'गुणसेढीअणंतगुणेणूणा०'[2] जाव एस गाहेत्ति ताव चत्तारि भासगाहाओ होंति ४। 'बंधो[3] व संकमो वा उदयो वा०' एदिस्से चउत्थमूलगाहाए तिण्णि भासगाहाओ। ताओ कदमाओ ? 'बंधोदएहिं[4] णियमा०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'गुणदो[5] अणंत [गुण] हीणं वेदयदे०' एस गाहेत्ति ताव तिण्णि भासगाहाओ ३। 'गाहा संकामए वि चत्तारि' त्ति एदस्स गाहाखंडस्स भासगाहाओ परूविदाओ।

§ १४१. 'ओवट्टणाए तिण्णि दु' इदि वयणादो ओवट्टणाए तिण्णि मूलगाहाओ होंति। तत्थ 'किं[6] अंतरं करेंतो वड्ढदि०' एदिस्से पढमसूलगाहाए तिण्णि भासगाहाओ होंति। ताओ कदमाओ ? 'ओवट्टणा[7] जहण्णा आवलिया ऊणिया तिभागेण०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'ओकट्टदि[8] जे अंसे०' एस गाहेत्ति ताव तिण्णि भासगाहाओ ३। 'एक्कं[9] च ट्ठिदिविसेसं०' एदिस्से विदियमूलगाहाए एक्का भासगाहा। सा कदमा ? 'एक्कं च ट्ठिदिविसेसं[10] असंखेज्जेसु०' एसा एक्का चेय भासगाहा। 'ट्ठिदिअणुभागे[11] अंसे०' एदिस्से तदियमूलगाहाए चत्तारि भासगाहाओ। ताओ कदमाओ ? '[12]ओवट्टेदि ट्ठिदिं-पुण०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'ओवट्टणमुव्वट्टणकिट्टीवज्जेसु०'[13] एस गाहेत्ति[14] ताव

मूलगाथाकी चार भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी है ? 'बंधेण होदि उदओ अहिओ०' इस गाथासे लेकर 'गुणसेढिअणंतगुणेणूणा०' इस गाथातक चार भाष्य गाथाएं हैं। 'बंधो व संकमो वा उदओ वा०' संक्रामकसंबन्धी इस चौथी मूलगाथाकी तीन भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं ? 'बंधोदएहि णियमा०' इस गाथासे लेकर 'गुणदो अणंतगुणहीणं वेदयदे०' इस गाथा तक तीन भाष्यगाथाएं है। इसप्रकार यहांतक 'गाहा संकामए वि चत्तारि' इस गाथांशकी २३ भाष्यगाथाएं बतलाई गईं।

§ १४१. 'ओवट्टणाए तिण्णि दु' इस वचनके अनुसार अपवर्तना नामक अधिकारमें तीन मूल गाथाएं हैं। उनमेंसे 'किं अंतरं करेंतो वड्ढदि०' इस पहली मूलगाथाकी तीन भाष्य-गाथाएं हैं। वे कौनसी हैं ? 'ओवट्टणा जहण्णा आवलिया ऊणिया तिभागेण०' इस गाथासे लेकर 'ओकट्टदि जे अंसे०' इस गाथा तक तीन भाष्यगाथाएं हैं। 'एक्कं च ट्ठिदिविसेसं०' अपवर्तना संबंधी इस दूसरी मूलगाथाकी एक भाष्यगाथा है। वह कौनसी है ? 'एक्कं च ट्ठिदिविसेसं असंखेज्जेसु०' यह एक ही भाष्यगाथा है। 'ट्ठिदिअणुभागे अंसे०' अपवर्तना-संबन्धी इस तीसरी मूल गाथाकी चार भाष्यगाथाएं हैं, वे कौनसी हैं ? 'ओवट्टेदि ट्ठिदिं पुण०' इस गाथासे लेकर 'ओवट्टणमुव्वट्टणकिट्टीवज्जेसु०' इस गाथा तक चार भाष्यगाथाएं

(१) सूत्रगाथाङ्कः १४३। (२) सूत्रगाथाङ्कः १४६। (३) सूत्रगाथाङ्कः १४७। (४) सूत्रगाथाङ्कः १४८। (५) सूत्रगाथाङ्कः १५०। (६) सूत्रगाथाङ्कः १५१। (७) सूत्रगाथाङ्कः १५२। (८) सूत्रगाथाङ्कः १५४। ओवट्ट-आ०, स०। (९) सूत्रगाथाङ्कः १५५। (१०) सूत्रगाथाङ्कः १५६। (११) सूत्रगाथाङ्कः १५७। (१२) सूत्रगाथाङ्कः १५८। (१३) सूत्रगाथाङ्कः १६१। (१४) त्ति-ता०।

चत्तारि भासगाहाओ ४। ओवट्टणाए तिण्हं मूलगाहाणं भासगाहाओ परूविदाओ।

§ १४२. किट्टीए एक्कारस मूलगाहाओ। तत्थ 'केवडिया किट्टीओ०' एसा पढममूलगाहा। एदिस्से तिण्णि भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'बारस-णव-छ-तिण्णि य किट्टीओ होंति०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'गुणसेढिअणंतगुणा लोभादी०' एस गाहे त्ति ताव तिण्णि भासगाहाओ ३। 'कदिसु अ अणुभागेसु अ०' एदिस्से विदियमूलगाहाए वे भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'किट्टी च ट्ठिदिविसेसेसु' एस गाहा प्पहुडि जाव 'सव्वाओ किट्टीओ विदियट्ठिदीए०' एस गाहेत्ति ताव वेण्णि भासगाहाओ २। 'किट्टी च पदेसग्गेणाणुभागग्गेण का च कालेण०' एदिस्से तदियमूलगाहाए तिण्णि अत्था होंति। तत्थ 'किट्टी च पदेसग्गेण०' एदम्मि पढमे अत्थे पंच भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? विदियादो पुण पढमा०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'एसो कमो य कोहे०' एस गाहेत्ति ताव पंच भासगाहाओ ५। 'अणुभागग्गेण' इत्ति एदम्मि विदिए अत्थे एक्कभासगाहा। सा कदमा? 'पढमा य अणंतगुणा विदियादो०' एस गाहा एक्का चेव १। 'का च कालेण' इत्ति एदम्मि तदिए अत्थे छब्भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'पढमसमयकिट्टीणं कालो०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'वेदयकालो किट्टी य०'

हैं। इसप्रकार अपवर्तनामें आई हुई तीन मूल गाथाओंकी भाष्यगाथाओंका प्ररूपण किया।

§ १४२. कृष्टिमें ग्यारह मूल गाथाएं हैं। उनमेंसे 'केवडिया किट्टीओ०' यह पहली मूल गाथा है। इसकी तीन भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'बारस णव छ तिण्णि य किट्टीओ होंति०' इस गाथासे लेकर 'गुणसेढि अणंतगुणा लोभादी०' इस गाथा तक तीन भाष्यगाथाएं हैं। 'कदिसु अ अणुभागेसु अ०' कृष्टिसंवन्धी इस दूसरी मूलगाथाकी दो भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'किट्टी च ट्ठिदिविसेसेसु०' इस गाथासे लेकर 'सव्वाओ किट्टीओ विदियट्ठिदीए०' इस गाथा तक दो भाष्यगाथाएं हैं। 'किट्टी च पदेसग्गेण अणुभागग्गेण का च कालेण०' कृष्टिसंवन्धी इस तीसरी मूलगाथाके तीन अर्थ होते हैं। उनमेंसे 'किट्टी च पदेसग्गेण' इस पहले अर्थमें पांच भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'विदियादो पुण पढमा०' इस गाथासे लेकर 'एसो कमो य कोहे०' इस गाथा तक पांच भाष्यगाथाएं हैं। 'अणुभागग्गेण' इस दूसरे अर्थमें एक भाष्यगाथा है। वह कौनसी है? 'पढमा य अणंतगुणा विदियादो०' यह एक ही गाथा है। 'का च कालेण' इस तीसरे अर्थमें छह भाष्यगाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं? 'पढमसमयकिट्टीणं कालो०' इस गाथासे लेकर 'वेदय-

(१) सूत्रगाथाङ्कः १६२। (२) एस पढ-आ०। (३) सूत्रगाथाङ्कः १६३। (४) सूत्रगाथाङ्कः १६५। (५) सूत्रगाथाङ्कः १६६। (६) सूत्रगाथाङ्कः १६७। (७) सूत्रगाथाङ्कः १६८। (८) सूत्रगाथाङ्कः १६९। (९) सूत्रगाथाङ्कः १७०। (१०) सूत्रगाथाङ्कः १७४। (११) सूत्रगाथाङ्कः १७५। (१२) सूत्रगाथाङ्कः १७६। (१३) सूत्रगाथाङ्कः १८१।

एस गाहेत्ति ताव छब्भासगाहाओ ६ । 'कदिसु[1] गदीसु भवेसु अ०' एदिस्से चउत्थमूल-गाहाए तिण्णि भासगाहाओ । ताओ कदमाओ ? 'दोसु[2] गदीसु अभज्जा०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'उक्कस्से[3] (स्सय) अणुभागे ट्ठिदिउक्कस्साणि०' एस गाहेत्ति ताव तिण्णि भासगाहाओ ३ । 'पज्जत्तापज्जत्तेण[4] तथा०' एदिस्से पंचमीए मूलगाहाए चत्तारि भास-गाहाओ । ताओ कदमाओ ? 'पज्जत्तापज्जत्ते[5] मिच्छत्त०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'कम्माणि[6] अभज्जाणि दु०' एस गाहे त्ति ताव चत्तारि भासगाहाओ ४ । 'किं[7] लेस्साए षद्धाणि०' एदिस्से छट्ठीए मूलगाहाए दो भासगाहाओ । ताओ कदमाओ ? 'लेस्सा[8] सादमसादे य०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'एदाणि[9] पुव्ववद्धाणि०' एस गाहेत्ति ताव दो भासगाहाओ २ । 'एगसमयपवद्धा[10] पुण अच्छुद्धा०' एदिस्से सत्तमीए मूलगाहाए चत्तारि भासगाहाओ । ताओ कदमाओ 'छण्हं[11] आवलियाणं अच्छुद्धा०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'एदे समयपवद्धा[12] अच्छुद्धा०' एस गाहेत्ति ताव चत्तारि भासगाहाओ ४ । 'एगसमय-[13]पवद्धाणं सेसाणि य०' एदिस्से अट्ठमीए मूलगाहाए चत्तारि भासगाहाओ । ताओ कदमाओ ? 'एक्कम्मि[14] ट्ठिदिविसेसे०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'एदेण[15] अंतरेण दु०' एस गाहे त्ति ताव चत्तारि भासगाहाओ ४ । 'किट्टीकयम्मि[16] कम्मे०' एदिस्से णवमीए

कालो किट्टी य०' इस गाथा तक छह भाष्यगाथाएं हैं । 'कदिसु गदीसु भवेसु अ०' कृष्टि संवन्धी इस चौथी मूलगाथाकी तीन भाष्यगाथाएं हैं । वे कौनसी हैं ? 'दोसु गदीसु अभज्जा०' इस गाथासे लेकर 'उक्कस्से अणुभागे ट्ठिदिउक्कस्साणि०' इस गाथा तक तीन भाष्यगाथाएं हैं । 'पज्जत्तापज्जत्तेण तथा०' कृष्टिसंवन्धी इस पांचवी मूलगाथाकी चार भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं ? 'पज्जत्तापज्जत्ते मिच्छत्ते०' इस गाथासे लेकर 'कम्माणि अभज्जाणि दु०' इस गाथा तक चार भाष्यगाथाएं हैं । 'किं लेस्साए वद्धाणि०' कृष्टि-सम्वन्धी इस छठी मूल गाथाकी दो भाष्यगाथाएं हैं । वे कौनसी हैं ? 'लेस्सा सादमसादे य०' इस गाथासे लेकर 'एदाणि पुव्ववद्धाणि०' इस गाथा तक दो भाष्यगाथाएँ हैं । 'एक-समयपवद्धा पुण अच्छुद्धा०' इस कृष्टिसंवन्धी सातवीं मूलगाथाकी चार भाष्यगाथाएँ हैं । वे कौनसी हैं ? 'छण्हं आवलियाणं अच्छुद्धा०' इस गाथासे लेकर 'एदे समयपवद्धा अच्छुद्धा०' इस गाथा तक चार भाष्यगाथाएँ हैं । 'एगसमयपवद्धाणं सेसाणि य०' कृष्टि-सम्वन्धी इस आठवीं मूलगाथाकी चार भाष्यगाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं ? 'एक्कम्मि ट्ठिदि-विसेसे०' इस गाथासे लेकर 'एदेण अंतरेण दु०' इस गाथा तक चार भाष्यगाथाएँ हैं ।

---

(१) सूत्रगाथाङ्कः १८२। (२) सूत्रगाथाङ्कः १८३। (३) सूत्रगाथाङ्कः १८५। (४) सूत्रगाथाङ्कः १८६ । (५) सूत्रगाथाङ्कः १८७ । (६) सूत्रगाथाङ्कः १९० । (७) सूत्रगाथाङ्कः १९१ । (८) सूत्र-गाथाङ्कः १९२ । (९) सूत्रगाथाङ्कः १९३ । (१०) सूत्रगाथाङ्कः १९४ । (११) सूत्रगाथाङ्कः १९५ । (१२) सूत्रगाथाङ्कः १९८। (१३) सूत्रगाथाङ्कः १९९। (१४) सूत्रगाथाङ्कः २००। (१५) सूत्रगाथाङ्कः २०३। (१६) सूत्रगाथाङ्कः २०४।

मूलगाहाए दो भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'किट्टी कयम्मि कम्मेणामागोदाणि०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'किट्टीकयम्मि कम्मे सादं सुह०' एस गाहे त्ति ताव दो भासाहाओ २। 'किट्टीकयम्मि कम्मे के बंधदि०' एदिस्से दसमीए मूलगाहाए पंच भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'दससु च वस्ससस्संतो बंधदि०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'जसणाममुच्चगोदं वेदयदे०' एस गाहेत्ति ताव पंच भागाहाओ ५। 'किट्टीकयम्मि कम्मे के वीचारो दु मोहणिज्जस्स०' एदिस्से एक्कारसमीए मूलगाहाए भासगाहाओ णत्थि सुगमत्तादो। 'एक्कारस होंति किट्टीए' त्ति गदं।

§१४३. चत्तारि अ खवणाए' त्ति वयणादो किट्टीणं खवणाए चत्तारिमूलगाहाओ होंति। तत्थ 'किं वेदंतो किट्टिं खवेदि' एसा पढममूलगाहा। एदिस्से एक्का भासगाहा। सा कदमा? 'पढमं विदियं तदियं वेदंतो०' एसा एक्का चेय १। 'किं (जं) वेदेंतो किट्टिं खवेदि' एदिस्से विदियमूलगाहाए एक्का भासगाहा। सा कदमा? 'जं चांवि संछुहंतो खवेदि किट्टिं०' एसा एक्का चेय १। 'जं जं खवेदि किट्टिं०' एदिस्से तदियमूलगाहाए दस भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? '[१२]बंधो व संकमो वा०' एस

'किट्टीकयम्मि कम्मे०' कृष्टिसम्बन्धी इस नौवीं मूलगाथाकी दो भाष्यगाथाएँ हैं। वे कौनसी हैं? 'किट्टीकयम्मि कम्मे णामागोदाणि०' इस गाथासे लेकर 'किट्टीकयम्मि कम्मे सादं सुह०' इस गाथा तक दो भाष्यगाथाएं हैं। 'किट्टीकयम्मि कम्मे के बंधदि०' कृष्टि संबन्धी इस दसवीं मूल गाथाकी पांच भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'दससु च वस्ससस्संतो बंधदि०' इस गाथासे लेकर 'जसणाममुच्चगोदं वेदयदे०' इस गाथा तक पांच भाष्यगाथाएं हैं। 'किट्टीकयम्मि कम्मे के वीचारो दु मोहणिज्जस्स०' कृष्टिसंबन्धी इस ग्यारहवीं मूल गाथाकी भाष्यगाथाएं नहीं हैं, क्योंकि यह गाथा सुगम है। इस प्रकार 'एक्कारस होंति किट्टीए' इस गाथांशका वर्णन समाप्त हुआ।

§१४३. 'चत्तारि अ खवणाए' इस वचनके अनुसार बारह कृष्टियोंकी क्षपणामें चार मूल गाथाएं हैं। उनमेंसे 'किं वेदंतो किट्टिं खवेदि०' यह पहली मूल गाथा है। इसकी एक भाष्यगाथा है। वह कौनसी है? 'पढमं विदियं तदियं वेदंतो०' यह एक ही भाष्यगाथा है। 'किं वेदंतो किट्टिं खवेदि०' कृष्टियोंकी क्षपणासंबन्धी इस दूसरी मूल गाथाकी एक भाष्यगाथा है। वह कौनसी है? 'जं चावि संछुहंतो खवेदि किट्टिं०' यह एक ही भाष्यगाथा है। 'जं जं खवेदि किट्टिं०' कृष्टिकी क्षपणा संबन्धी इस तीसरी मूल गाथाकी दस भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'बंधो व संकमो वा०' इस गाथासे लेकर 'पच्छिमआवलियाए समऊणाए०' इस गाथा तक दस भाष्य-

(१) सूत्रगाथाङ्कः २०५। (२) सूत्रगाथाङ्कः २०६। (३) सूत्रगाथाङ्कः २०७। (४) सूत्रगाथाङ्कः २०८। (५) सूत्रगाथाङ्कः २१२। (६) सूत्रगाथाङ्कः २१३। (७) सूत्रगाथाङ्कः २१४। (८) सूत्रगाथाङ्कः २१५। (९) सूत्रगाथाङ्कः २१६। (१०) सूत्रगाथाङ्कः २१७। (११) सूत्रगाथाङ्कः २१८। (१२) सूत्रगाथाङ्कः २१९।

गाहा प्पहुडि जाव 'पच्छिमआवलियाए समऊणाए०' एस गाहेत्ति ताव दस भासगाहाओ १०। 'किट्टीदो किट्टिं पुण संकमइ०' एदिस्से चउत्थीए मूलगाहाए दो भासगाहाओ। ताओ कदमाओ? 'किट्टीदो किट्टी (ट्टिं) पुण०' एस गाहा प्पहुडि जाव 'समयूणा य पविट्ठा आवलिया०' एस गाहेत्ति ताव दो भासगाहाओ २। 'चत्तारि य खवणाए' त्ति गयं। दोहि गाहाहि वुत्तासेसभासगाहासंकाणमेसा संदिट्ठी बालजणपडिबोहणट्ठं ट्ठवेदव्वा ५। ३-२-६। ४। ३। ३। १। ४। ३। २। ५-१-६। ३। ४। २। ४। ४। २। ५। १। १। १०। २। एदासिं सव्वभासगाहाणं समासो छासीदी ८६। एदासु गाहासु पुव्विल्लअट्ठावीसगाहाओ पक्खित्ते चारित्तमोहणीयक्खवणाए णिबद्धचोद्दसुत्तरसयगाहाओ होंति ११४। एत्थ पुव्विल्लचउसट्ठिगाहाओ पक्खित्ते अट्ठहत्तरिसयमेत्तीओ गाहाओ होंति। ताणं ट्ठवणा १७८।

§ १४४. संपहि कसायपाहुडस्स पण्णारसअत्थाहियारपरूवणट्ठं गुणहरभडारओ दो सुत्तगाहाओ पठदि-

(१) पेज्ज-दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेय ॥१३॥

गाथाएं हैं। 'किट्टीदो किट्टिं पुण संकामइ०' कृष्टियोंकी क्षपणासंबन्धी इस चौथी मूल गाथाकी दो भाष्यगाथाएं हैं। वे कौनसी हैं? 'किट्टीदो किट्टिं पुण०' इस गाथासे लेकर 'समयूणा य पविट्ठा आवलिया०' इस गाथा तक दो भाष्यगाथाएँ हैं। इसप्रकार 'चत्तारि य खवणाए' इस गाथांशका व्याख्यान समाप्त हुआ। उपर्युक्त दो गाथाओंके द्वारा कही गई समस्त भाष्यगाथाओंकी संख्याकी यह संदृष्टि बालजनोंको समझानेके लिये इसप्रकार स्थापित करनी चाहिये-५, ३, २, ६, ४, ३, ३, १, ४, ३, २, ५, १, ६, ३, ४, २, ४, ४, २, ५, १, १, १०, २। इन समस्त भाष्यगाथाओंका जोड़ छियासी होता है। इन छियासी गाथाओंमें चारित्रमोहकी क्षपणासंबन्धी पूर्वोक्त अट्ठाईस गाथाओंके मिला देने पर चारित्रमोहकी क्षपणा नामक अर्थाधिकारसे संबन्ध रखनेवाली कुल गाथाएं एकसौ चौदह होती हैं। इन एकसौ चौदह गाथाओंमें पहलेके १४ अधिकारसंबन्धी चौसठ गाथाओंके मिला देने पर कुल एकसौ अठहत्तर गाथाएं होती हैं। गिनतीमें उनकी स्थापना १७८ होती है।

§ १४४. अब कषायप्राभृतके पन्द्रह अर्थाधिकारोंका प्ररूपण करनेके लिये गुणधर भट्टारक दो सूत्रगाथाएं कहते हैं-

दर्शनमोह और चारित्रमोहके विषयमें पेज्ज-दोषविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनु-

(१) सूत्रगाथाङ्कः २२८। (२) सूत्रगाथाङ्कः २२९। (३) सूत्रगाथाङ्कः २३०। (४) सूत्रगाथाङ्कः २३१।

(२) सम्मत्त-देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च ।
दंसण-चरित्तमोहे, अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

§ १४५. एदम्मि अत्थाहियारे एत्तियाओ एत्तियाओ गाहाओ संबद्धाओ त्ति परूवणाए चेव अवगयाणं पण्णरसण्हमत्थाहियाराणं पुणो दोहि गाहाहि परूवणा किमट्ठं कीरदे ? ण; एदासिं दोण्हं सुत्तगाहाणमभावे तासिं संबंधगाहाणं एदासिं चेव वित्तिभावेण ट्ठिदाणं पवुत्तिविरोहादो । एदासिं दोण्हं गाहाणमत्थो वुच्चदे । तं जहा, तत्थ पढमगाहाए पढमद्धे जहा पंच अत्थाहियारा होंति तहा पुव्वं चेव परूविदं ति णेह परूविज्जदे । उदयमुदीरणं च घेत्तूणं वेदगो त्ति एक्को चेव अत्थाहियारो कओ । तं कथं णव्वदे ? 'चत्तारि वेदगम्मि दु' इदि वयणादो । 'सम्मत्त' इत्ति एत्थ दंसणमोहणी-

---

भागविभक्ति, अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक, कर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक, वेदक, उपयोग, चतुःस्थान, व्यञ्जन, दर्शनमोहकी उपशामना, दर्शनमोहकी क्षपणा, देशविरति, संयम, चारित्रमोहकी उपशामना और चारित्रमोहकी क्षपणा ये पन्द्रह अर्थाधिकार होते हैं । तथा इन सभी अधिकारोंमें अद्धापरिमाणका निर्देश करना चाहिये ॥१३-१४॥

§ १४५. शंका–इस इस अर्थाधिकारसे इतनी इतनी गाथाएँ संबन्ध रखती हैं, इसप्रकार प्ररूपण करनेसे ही पन्द्रह अर्थाधिकारोंका ज्ञान हो जाता है फिर इन दो गाथाओंके द्वारा उनकी प्ररूपणा किसलिये की गई है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि इन दोनों सूत्रगाथाओंके अभावमें इन्हीं दोनों गाथाओंकी वृत्तिरूपसे स्थित उन संबन्धगाथाओंकी प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है अर्थात् पहले जो गाथा कह आये हैं जिनमें अमुक अमुक अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओंका निर्देश किया है, वे गाथाएँ इन्हीं दोनों गाथाओंकी वृत्तिगाथाएँ हैं, अतः इनके विना उनका कथन बन नहीं सकता है । इसलिये इन दो गाथाओंके द्वारा पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश किया है ।

अब इन दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं । वह इसप्रकार है–पन्द्रह अधिकारोंमेंसे पहली गाथाके पूर्वार्धमें जिसप्रकार पांच अर्थाधिकार होते हैं उसप्रकार उनका पहले ही प्ररूपण कर आये हैं, इसलिये यहां उनका प्ररूपण नहीं करते हैं । उदय और उदीरणा इन दोनोंको ग्रहण करके वेदक नामका एक ही अर्थाधिकार किया है ।

शंका–यह कैसे जाना जाता है कि उदय और उदीरणाको ग्रहण करके वेदक नामका एक अर्थाधिकार किया गया है ?

समाधान–'चत्तारि वेदगम्मि दु' इस वचनसे जाना जाता है कि उदय और उदीरणा इन दोनोंको मिला कर वेदक नामका एक अर्थाधिकार बनाया गया है ।

---

(१)–तूण वे–स० । (२) गाथांक: ४ ।

यउवसामणा खवणा चेदि बे अत्थाहियारा। तं कथं णव्वदे ? दंसणमोहक्खवणुवसामणासु पडिबद्धगाहाणं पुध पुध उवलंभादो। 'संजम-देसविरयीहि' त्ति बेहि मि बे अत्थाहियारा। तं कथं णव्वदे ? 'दोसु वि एका गाहा' इति वयणादो। 'दंसणचरित्तमोहे' इदि जेणेसा विसयसत्तमी तेण पुव्वुत्तपण्णारस वि अत्थाहियारा दंसणचरित्तमोहविसए होंति त्ति घेत्तव्वं। एदेण एत्थ कसायपाहुडे सेससत्तण्हं कम्माणं परूवणा णत्थि त्ति भणिदं होदि। सव्व-अत्थाहियारेसु अद्धापरिमाणणिद्देसो कायव्वो, अण्णहा तदवगमुवायाभावादो। अद्धापरिमाणणिद्देसो पुण अत्थाहियारो ण होदि; सव्वत्थाहियारेसु कंठियामुत्ताहलेसु सुत्तं व अवट्ठाणादो। सेसं सुगमं।

'सम्मत्त' इस पदसे यहां पर दर्शनमोहनीयकी उपशामना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा ये दो अर्थाधिकार लिये गये हैं।

शंका–यह कैसे जाना जाता है कि 'सम्मत्त' इस पदसे दर्शनमोहनीयकी उपशामना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा ये दो अधिकार लिये गये हैं ?

समाधान–चूंकि दर्शनमोहनीयकी उपशामना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणासे संबन्ध रखनेवाली गाथाएँ पृथक् पृथक् पाई जाती हैं, इससे जाना जाता है कि दर्शनमोहनीयकी उपशामना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा ये दोनों स्वतंत्र अर्थाधिकार हैं।

'देसविरई' और 'संजम' इन दोनों पदोंसे भी दो अर्थाधिकार लेना चाहिये।

शंका–यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–'दोसु वि एका गाहा' अर्थात् देशविरति और संयम इन दोनों अर्थाधिकारोंमें एक गाथा पाई जाती है, इस वचनसे जाना जाता है कि देशविरति और संयम ये दोनों स्वतंत्ररूपसे दो अर्थाधिकार हैं।

'दंसण-चरित्तमोहे' इस पदमें जिसलिये विषयमें सप्तमी विभक्ति है, इसलिये पूर्वोक्त पन्द्रहों अर्थाधिकार दर्शनमोह और चारित्रमोहके विषयमें होते हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिये। इस कथनसे इस कषायप्राभृतमें शेष सात कर्मोंकी प्ररूपणा नहीं है, यह अभिप्राय निकलता है। उक्त सभी अर्थाधिकारोंमें अद्धापरिमाणका निर्देश कर लेना चाहिये, अन्यथा स्वतंत्ररूपसे उसके ज्ञान करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं पाया जाता है। किन्तु अद्धापरिमाणनिर्देश स्वतंत्र अर्थाधिकार नहीं है, क्योंकि कंठीके सभी मुक्ताफलोंमें जिसप्रकार सूत्र (डोरा) पाया जाता है उसीप्रकार समस्त अर्थाधिकारोंमें अद्धापरिमाणका निर्देश पाया जाता है। शेष कथन सुगम है।

विशेषार्थ–यद्यपि गुणधर भट्टारकने पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामोंका निर्देश करनेवाली उपर्युक्त दो गाथाओंके अन्तमें 'अद्धापरिमाणणिद्देसो' यह कहकर अद्धापरिमाणनिर्देशका

(१) गाथांक: ६।

§ १४६. संपहि एदाओ पण्णरस-अत्थाहियारपडिबद्धदोसुत्तगाहाओ पुव्विल्लअट्ठ-हत्तरि-सयगाहासु पक्खित्ते असीदि-सयगाहाओ होंति। तासिं पमाणमेदं १८०। पुणो एत्थ बारह संबंधगाहाओ १२ अद्धापरिमाणणिद्देसट्ठं भणिद-छग्गाहाओ ६ पुणो पयडिसंकमम्मि 'संकम-उवक्कमविही०' एस गाहा प्पहुडि पणतीसं संकमवित्तिगाहाओ च ३५ पुव्विल्लअसीदि-सयगाहासु पक्खित्ते गुणहराइरियमुहकमलविणिग्गयसव्वगाहाणं समासो तेत्तीसाहियविसदमेत्तो होदि २३३।

स्वतन्त्ररूपसे उल्लेख किया है। पर जिन छह गाथाओंद्वारा इसका वर्णन किया है वे एकसौ अस्सी गाथाओंमें सम्मिलित नहीं हैं। अतः प्रतीत होता है कि अद्धापरिमाणनिर्देश नामका पन्द्रहवां स्वतन्त्र अधिकार न होकर कंठीके सभी मुक्ताफलोंमें पिरोये गये डोरेके समान पन्द्रहों अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाला साधारण अधिकार है। यही कारण है कि वीरसेन स्वामीने इसको पन्द्रहवां अर्थाधिकार नहीं बताया है किन्तु पन्द्रहों अर्थाधिकारोंमें उपयोगी पड़नेवाला अधिकार बतलाया है। मालूम होता है कि गुणधर आचार्यकी भी यही दृष्टि रही होगी। अन्यथा वे उस अधिकारसे संबन्ध रखनेवाली छह गाथाओंका १८० गाथाओंके साथ अवश्य निर्देश करते।

§ १४६. पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नाम निर्देशसे संबन्ध रखनेवाली इन दो सूत्रगाथाओंको पहलेकी एकसौ अठहत्तर गाथाओंमें मिला देने पर एकसौ अस्सी गाथाएं होती हैं। उनका प्रमाण गिनतीमें यह १८० होता है। इनके सिवा जो बारह संबन्धगाथाएं, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेके लिये कही गई छह गाथाएं तथा प्रकृतिसंक्रमणमें आई हुई 'संकम-उवक्कम-विही' इस गाथासे लेकर संक्रमणनामक अर्थाधिकारकी पैंतीस वृत्तिगाथाएं पाई जाती हैं उन्हें पहलेकी एकसौ अस्सी गाथाओंमें मिला देने पर गुणधर आचार्यके मुखकमलसे निकली हुई समस्त गाथाओंका जोड़ दोसौ तेतीस होता है।

विशेषार्थ–यद्यपि गुणधर आचार्यने 'गाहासदे असीदे' इस पदके द्वारा कषायप्राभृतको एकसौ अस्सी गाथाओंद्वारा कहनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी समस्त कषायप्राभृतमें दोसौ तेतीस गाथाएं पाई जाती हैं जिनका निर्देश जयधवलाकारने ऊपर किया है। जयधवलाकारका कहना है कि प्रारंभमें आई हुई, पन्द्रह अधिकारोंमें गाथाओंका विभाग करनेवाली बारह संबन्धगाथाएं, किसका कितना काल है इसप्रकार दर्शनोपयोग आदिके कालके अल्पबहुत्वके संबन्धसे आई हुई अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छह गाथाएं तथा पैंतीस संक्रमणवृत्ति-गाथाएं इसप्रकार ये त्रेपन गाथाएं भी गुणधर आचार्यकृत हैं। अतः कुल गाथाओंका जोड़ दोसौ तेतीस हो जाता है। जिसका खुलासा नीचे कोष्ठक देकर किया गया है। उसमेंसे पहले पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें जो १७८ गाथाएँ आई हैं, उन्हें दिखानेवाला कोष्ठक देते हैं–

(१) गाथांकः २४।

अर्थाधिकार नाम	मूलगाथा	भाष्यगाथा
१ से ५ प्रारंभके पांच अर्थाधिकार	३	
६ वेदक	४	
७ उपयोग	७	
८ चतुःस्थान	१६	
९ व्यंजन	५	
१० दर्शनमोहोपशामना	१५	
११ दर्शनमोहक्षपणा	५	
१२ संयमा-संयमलब्धि और १३ चारित्रलब्धि	१	
१४ चारित्रमोहोपशामना	८	
१५ चारित्रमोहक्षपणा	२८	
१ प्रस्थापक	४	
२ संक्रामक	४	(१) ५, (२) ११, (३) ४, (४) ३, =२३
३ अपवर्तना	३	(१) ३, (२) १, (३) ४, =८
४ कृष्टिकरण	११	(१) ३, (२) २, (३) १२, (४) ३, (५) ४, (६) २, (७) ४, (८) ४, (९) २, (१०) ५, (११) ०, =४१
५ कृष्टिक्षपणा	४	(१) १, (२) १, (३) १०, (४) २, =१४
६ क्षीणमोह	१	
७ संग्रहणी	१	
	९२	जोड़ ८६

इसप्रकार पन्द्रह अर्थाधिकारोंकी मूल गाथाओंका जोड़ ९२ है और इनमेंसे चारित्र-मोहकी क्षपणासे संवन्ध रखनेवालीं २८ गाथाओंमेंसे २१ गाथाओंकी भाष्यगाथाओंका जोड़ ८६ है। इसप्रकार ये समस्त गाथाएं १७८ होती हैं। तथा प्रारंभमें पन्द्रह अर्थाधिकारोंका नामनिर्देश करनेवालीं दो गाथाएं और आई हैं उन सहित १८० गाथाएं हो जाती हैं।

§ १४७. संपहि कसायपाहुडपडिबद्धासु एत्तियासु गाहासु संतीसु 'गाहासदे असीदे' त्ति गुणहरभडारएण किमट्ठं पइज्जा कदा ? पण्णारसअत्थाहियारेसु एदम्मि एदम्मि अत्थाहियारे एत्तियाओ एत्तियाओ गाहाओ णिबद्धाओ त्ति जाणावणट्ठं कदा। ण च बारस संबंधगाहाओ पण्णारसअत्थाहियारेसु एक्कम्मि वि अत्थाहियारे पडिबद्धाओ; अत्थाहियारपडिबद्धगाहापरूवणाए एदासिं वावारुलंभादो। अद्धापरिमाणणिद्देसम्मि वुत्तछ-

कषायप्राभृतमें उपर्युक्त १८० गाथाओंके अतिरिक्त १२ संबन्धगाथाएं, अद्धापरिमाणका निर्देशकरनेवाली ६ गाथाएं और ३५ संक्रमवृत्तिगाथाएं इसप्रकार ५३ गाथाएं और पाई जाती हैं, अतः कुल गाथाओंका जोड़ २३३ होता है।

जयधवलामें क्रमसे बारह संबन्धगाथाओं, पन्द्रह अर्थाधिकारोंका निर्देश करनेवाली २ सूत्रगाथाओं, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली ६ गाथाओं, प्रारंभके ५ अर्थाधिकारोंसे सबन्ध रखनेवाली ३ सूत्रगाथाओं, ३५ संक्रमवृत्तिसंबन्धी गाथाओं, और शेष १० अर्थाधिकारोंका कथन करनेवाली १७५ सूत्रगाथाओंका कथन किया है। चारित्रमोहके क्षपणाप्रकरणमें जिन जिन सूत्र गाथाओंकी भाष्यगाथाएं हैं वे उन उन सूत्रगाथाओंके व्याख्यान करते समय आती गई हैं जिसका ज्ञान ऊपरके कोष्ठकसे हो जाता है।

२३३ गाथाएं जयधवलामें जिस क्रमसे निबद्ध हैं उसका कोष्टक निम्नप्रकार है–

संख्या	नाम अधिकार		गाथासंख्या
१	संबन्धज्ञापक	....	१२
२	अर्थाधिकारोंका नाम–	....	
	निर्देश करनेवाली	....	२
३	अद्धापरिमाणनिर्देशसंबंधी	....	६
४	प्रारम्भके ५ अर्थाधिकारसंबंधी	....	३
५	संक्रमवृत्तिसंबंधी	....	३५
६	शेष १० अधिकारसंबंधी	....	१७५
			२३३ गाथाएं

§ १४७. **शंका**–कषायप्राभृतसे संबन्ध रखनेवाली दोसौ तेतीस गाथाओंके रहते हुए गुणधर भट्टारकने 'गाहासदे असीदे' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा किसलिये की है ?

समाधान–पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे इस इस अर्थाधिकारमें इतनी इतनी गाथाएं निबद्ध हैं इसप्रकारका ज्ञान करानेके लिए गुणधर भट्टारकने 'गाहासदे असीदे' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा की है। किन्तु बारह संबन्धगाथाएं पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे एक भी अर्थाधिकारमें सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि कितनी गाथाएं किस अर्थाधिकारमें पाई जाती हैं इसके प्ररूपण करनेमें

गाहाओ वि ण तत्थ हवंति; अद्धापरिमाणणिद्देसस्स पण्णारसअत्थाहियारेसु अभावादो। संकमम्मि वुत्तपणतीसवित्तिगाहाओ बंधगत्थाहियारपडिबद्धाओ त्ति असीदि-सदगाहासु पवेसिय किण्ण पइज्जा कदा ? वुच्चदे, एदाओ पणतीसगाहाओ तीहि गाहाहि परूविदपंचसु अत्थाहियारेसु तत्थ बंधगेत्ति अत्थाहियारे पडिबद्धाओ। एदाओ च ण तत्थ पवेसिदाओ; तीहि गाहाहि परूविदअत्थाहियारे चेव पडिबद्धत्तादो। अहवा अत्थावत्तिलब्भाओ त्ति ण तत्थ एदाओ पवेसिय वुत्ताओ।

§ १४८. असीदि-सदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देस-संकमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति; तण्ण घडदे; संबंधगाहाहि अद्धापरिमाणणिद्देसगाहाहि संकमगाहाहि य विणा असीदि-सदगाहाओ चेव भणंतस्स गुणहरभडारयस्स अयाणत्तप्पसंगादो। तम्हा पुव्वुत्तत्थो चेव घेत्तव्वो।

इन बारह गाथाओंका उपयोग होता है। अद्धापरिमाण निर्देशमें कही गई छह गाथाएं भी पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे किसी भी अर्थाधिकारमें नहीं पाई जाती हैं, क्योंकि अद्धापरिमाणका निर्देश पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें नहीं किया गया है।

शंका–संक्रमणमें कही गई पैंतीस वृत्तिगाथाएं वन्धक नामक अर्थाधिकारसे प्रतिवद्ध हैं, इसलिये इन्हें एकसौ अस्सी गाथाओंमें सम्मिलित करके प्रतिज्ञा क्यों नहीं की ? अर्थात् १८० के स्थानमें २१५ गाथाओंकी प्रतिज्ञा क्यों नहीं की ?

समाधान–ये पैंतीस गाथाएं तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित किये गये पांच अर्थाधिकारोंमेंसे वन्धक नामके अर्थाधिकारमें ही प्रतिवद्ध हैं, इसलिये इन पैंतीस गाथाओंको एकसौ अस्सी गाथाओंमें सम्मिलित नहीं किया, क्योंकि तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित अर्थाधिकारोंमेंसे एक अर्थाधिकारमें ही वे पैंतीस गाथाएं प्रतिवद्ध हैं। अथवा, संक्रममें कही गई पैंतीस गाथाएं वन्धक अर्थाधिकारमें प्रतिवद्ध हैं यह वात अर्थापत्तिसे ज्ञात हो जाती है। इसलिये ये गाथाएं एकसौ अस्सी गाथाओंमें सम्मिलित करके नहीं कही गई हैं।

§ १४८. चूंकि एकसौ अस्सी गाथाओंको छोड़कर सम्बन्ध, अद्धापरिमाण और संक्रमणका निर्देश करनेवाली शेष गाथाएं नागहस्ति आचार्यने रची हैं, इसलिये 'गाहासदे असीदे' ऐसा कह कर नागहस्ति आचार्यने एकसौ अस्सी गाथाओंकी प्रतिज्ञा की है, ऐसा कुछ व्याख्यानाचार्य कहते हैं। परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि संबंधगाथाओं, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली गाथाओं और संक्रम गाथाओंके विना एकसौ अस्सी गाथाएं ही गुणधर भट्टारकने कही हैं यदि ऐसा माना जाय तो गुणधर भट्टारकको अज्ञपनेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसलिये पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ–इस कसायपाहुडमें पन्द्रह अधिकारोंसे संबंध रखनेवाली १८० गाथाएं

§ १४६. संपहि एवं गुणहरभडारयस्स उवएसेण पण्णारस अत्थाहियारे परूविय जइवसहाइरियउवएसेण पण्णारस अत्थाहियारे वत्तइस्सामो।

*** अत्थाहियारो पण्णारसविहो।**

तथा १२ संबन्धगाथाएं, अद्धापरिमाणका निर्देश करते हुए कही गई ६ गाथाएं और प्रकृतिसंक्रमका आश्रय लेकर कही गई ३५ वृत्तिगाथाएं इसप्रकार कुल २३३ गाथाएं पाई जाती हैं। इनमेंसे १८० गाथाएं स्वयं गुणधर भट्टारकके द्वारा रची गई हैं। शेष ५३ गाथाओंके कर्ताके संबंधमें मालूम होता है कि वीरसेन स्वामीके समय दो परंपराएं पाई जाती थीं। एक परंपराका कहना था कि १८० गाथाओंको छोड़कर शेष त्रेपन गाथाएं नागहस्ति आचार्यकी बनाई हुई हैं। इस परंपराको मान लेनेसे 'गाहासदे असीदे' यह प्रतिज्ञा भी सार्थक हो जाती है। यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो 'गाहासदे असीदे' इस प्रतिज्ञाकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती है। यदि शेष ५३ गाथाएं भी गुणधर भट्टारककी बनाई हुई हैं तो 'गाहासदे असीदे' के स्थानमें २३३ गाथाओंकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये थी। दूसरी परंपराका 'जो स्वयं वीरसेनस्वामीकी परंपरा है' इस विषयमें यह कहना है कि यद्यपि समस्त गाथाएं स्वयं गुणधर आचार्यकी बनाई हुई हैं फिर भी उनके 'गाहासदे असीदे' इस प्रतिज्ञाके करनेका कारण यह है कि इस कसायपाहुडके पन्द्रह अर्थाधिकारोंके प्रतिपाद्य विषयसे १८० गाथाएं ही संबन्ध रखती हैं शेष गाथाएं नहीं। शेष गाथाओंमें बारह तो संबन्ध गाथाएं हैं, जिनमें पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाली गाथाओंकी सूचीमात्र दी गई है, छह अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली गाथाएं हैं जिनमें पन्द्रहों अर्थाधिकारोंसे संबन्ध रखनेवाले अद्धापरिमाणका निर्देश किया गया है। ३५ संक्रमवृत्ति गाथाएं हैं, जो केवल बन्धक अर्थाधिकारसे सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि पन्द्रह अर्थाधिकारोंके भीतर किसी भी एक अर्थाधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओंका या तो १८० गाथाओंमें समावेश हो जाना चाहिये या 'गाहासदे असीदे' इस प्रतिज्ञाको नहीं करना चाहिये था। पर 'तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा' इस गाथांशके अनुसार प्रारंभके पांच अर्थाधिकारोंमें मूल तीन गाथाओंकी ही प्रतिज्ञाकी गई है, इसलिये इनका 'गाहासदे असीदे' इस प्रतिज्ञामें समावेश नहीं किया है। फिर भी अर्थापत्तिके बलसे यह समझ लेना चाहिये कि ये पैंतीस गाथाएं उक्त पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे बन्धक अर्थाधिकारसे संबन्ध रखती हैं। इसप्रकार वीरसेन स्वामीके मतसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस कसायपाहुडमें आई हुई २३३ मूल गाथाएं स्वयं गुणधर भट्टारककी बनाई हुई हैं।

§ १४६. इस प्रकार गुणधर भट्टारकके उपदेशानुसार पन्द्रह अर्थाधिकारोंका प्ररूपण करके अब यतिवृषभ आचार्यके उपदेशानुसार पन्द्रह अर्थाधिकारोंको बतलाते हैं--

*** अर्थाधिकारके पन्द्रह भेद हैं।**

§ १५०. 'अण्णेण पयारेण वुच्चदि' त्ति एत्थ अज्झायारो कायव्वो। गुणहरभडारएण पण्णारससु अत्थाहियारेसु परूविदेसु पुणो जइवसहाइरियो पण्णारस अत्थाहियारे अण्णेण पयारेण भणंतो गुणहरभडारयस्स कथं ण दूसओ ? ण च गुरूणमच्चासणं कुणंतो सम्माइट्ठी होइ; विरोहादो।

§ १५१. एत्थ परिहारो वुच्चदे। अण्णेण पयारेण पण्णारस अत्थाहियारे भणंतो वि संतो ण सो तस्स दूसओ, तेण वुत्तअत्थाहियाराणं पडिसेहमकाऊण तदहिप्पायंतरपरूवयत्तादो। गुणहरभडारएण पण्णारसअत्थाहियाराणं दिसा दरिसदा, तदो गुणहरभडारयमुहविणिग्गय-अत्थाहियारेहि चेव होदव्वमिदि णियमो णत्थि त्ति तण्णियमाभावं दरिसयंतेण जइवसहाइरिएण पण्णारस अत्थाहियारा अण्णेण पयारेण भणिदा, तेण ण सो तस्स दूसओ त्ति भणिदं होदि।

* तं जहा, पेज्जदोसे १।

§ १५२. पेज्जदोसे एगो अत्थाहियारो। कथमेत्थ एगवयणणिद्देसो ? ण; पेज्ज-

§ १५०. इस सूत्रमें 'अन्य प्रकारसे कहते हैं' इतने पदका अध्याहार कर लेना चाहिये।

शंका–गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये पन्द्रह अर्थाधिकारोंके रहते हुए उन्हीं पन्द्रह अर्थाधिकारोंका अन्य प्रकारसे प्ररूपण करनेवाले यतिवृषभाचार्य गुणधर भट्टारकके दोष दिखानेवाले कैसे नहीं होते हैं ? और जो गुरुओंको दोप लगाता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है, क्योंकि दोष भी लगावे और सम्यग्दृष्टि भी रहे, इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध है।

§ १५१. समाधान–अब यहाँ उपर्युक्त शंकाका समाधान करते हैं। अन्य प्रकारसे पन्द्रह अर्थाधिकारोंका प्रतिपादन करते हुए भी यतिवृषभ आचार्य गुणधर भट्टारकके दोप प्रकट करनेवाले नहीं हैं। क्योंकि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये अर्थाधिकारोंका प्रतिषेध नहीं करके उनके अभिप्रायान्तरका यतिवृषभ आचार्यने प्ररूपण किया है। गुणधर भट्टारकने पन्द्रह अर्थाधिकारोंकी दिशामात्र दिखलाई है, अतएव गुणधर भट्टारकके मुखसे निकले हुए अर्थाधिकार ही होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है, इसप्रकार उस नियमाभावको दिखलाते हुए यतिवृषभाचार्यने पन्द्रह अर्थाधिकार अन्य प्रकारसे कहे हैं। इसलिये यतिवृषभाचार्य गुणधर भट्टारकके दोष प्रकट करनेवाले नहीं हैं। यह उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये।

* वे पन्द्रह अर्थाधिकार आगे लिखे अनुसार हैं। उनमेंसे पहला पेज्जदोष अर्थाधिकार है १।

§ १५२. यतिवृषभ आचार्यके द्वारा कहे गये पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें पहला पेज्जदोष

(१) अणेण आ०। (२) वुत्तअहिया–आ०।

दोसाणं दोण्हं पि समाहारदुवारेण एगत्तुवलंभादो। पेज्जदोसे एगो अत्थाहियारो त्ति कथं णव्वदे ? जइवसहाइरियट्ठविदएगंकादो ।

* विहत्तिट्ठिदिअणुभागे च २ ।

§ १५३. पयडिविहत्ती ट्ठिदिविहत्ती अणुभागविहत्ती पदेसविहत्ती झीणाझीणं ट्ठिदिअंतियं च घेत्तूण विदियो अत्थाहियारो । कथमेदं णव्वदे ? जयिवसहाइरियट्ठविददोअंकादो । पयडि-पदेसविहत्ति-ज्झीणाझीण-ट्ठिदिअंतियाणं सुत्ते अणुवइट्ठाणं कथमेत्थ गहणं कीरदे ? ण; ट्ठिदि-अणुभागविहत्तीणमण्णहाणुववत्तीदो, अणुत्तसमुच्चयट्ठेण 'च' सद्देण वा तेसिं गहणादो । एगवयणणिद्देसो कथं जुज्जदे ? ण; एगकम्मक्खंधाहार-

अर्थाधिकार है ।

शंका–'पेज्जदोसे' इस पदमें एक वचनका निर्देश कैसे बनता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि पेज्ज और दोष इन दोनोंमें भी समाहार द्वन्द्वसमासकी अपेक्षा एकत्व पाया जाता है अतः 'पेज्जदोसे' इस पदमें एकवचन निर्देश बन जाता है ।

शंका–पेज्ज-दोष पहला अर्थाधिकार है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–क्योंकि यतिवृषभ आचार्यने 'पेज्ज-दोसे' इस पदके आगे एकका अंक स्थापित किया है, इससे प्रतीत होता है कि पेज्ज-दोष यह पहला अर्थाधिकार है ।

* प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति तथा सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे समुच्चय किये गये प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणप्रदेश और स्थित्यन्तिकप्रदेश इन सबको मिला कर दूसरा अर्थाधिकार होता है २ ।

§ १५३. प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणप्रदेश और स्थित्यन्तिकप्रदेश इन सबको ग्रहण करके दूसरा अर्थाधिकार होता है ।

शंका–यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–क्योंकि यतिवृषभ आचार्यने 'विहत्तिट्ठिदिअणुभागे च' इस सूत्रके आगे दोका अंक स्थापित किया है । इससे प्रतीत होता है कि प्रकृतिविभक्ति आदिको मिलाकर दूसरा अर्थाधिकार होता है ।

शंका–प्रकृतिविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणप्रदेश और स्थित्यन्तिकप्रदेश इनका सूत्रमें उपदेश नहीं किया है फिर इनका दूसरे अर्थाधिकारमें कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि प्रकृतिविभक्ति आदिके बिना स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्ति नहीं बन सकती हैं । इसलिये उनका यहां ग्रहण हो जाता है । अथवा अनुक्तका समुच्चय करनेके लिये आये हुए 'च' शब्दसे उन प्रकृतिविभक्ति आदिका दूसरे अर्थाधिकारमें ग्रहण हो जाता है ।

शंका–'विहत्ति ट्ठिदिअणुभागे' इस पदमें एकवचनका निर्देश कैसे बन जाता है ?

दुवारेण एगजीवाहारदुवारेण विहत्तिदुवारेण वा तेसिमेगत्तुवलंभादो।

* बंधगे त्ति बंधो च ३, संकमो च ४।

§ १५४. बंधगे त्ति एसो ण कत्तारणिद्देसो, किंतु भावणिद्देसो कम्मणिद्देसो वा। कथमेत्थ कयारो सुणिज्जदि? ण; बंध एव बंधक इति स्वार्थे ककारोपलब्धेः। सो च बंधो दुविहो, अकम्मबंधो कम्मबंधो चेदि। तत्थ मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगपच्चएहि अकम्मसरूवेण ट्ठिदकम्मइयक्खंधाणं जीवपदेसाणं च जो अण्णोण्णेण समागमो सो अकम्मबंधो णाम। मदिणाणावरणकम्मक्खंधाणं सुदोहि-मणपज्जव-केवलणाणावरणसरूवेण परिणमिय जो जीवपदसेहि समागमो सो कम्मबंधो णाम। तत्थ अकम्मबंधो एत्थ बंधो त्ति गहिदो सो तदियो अत्थाहियारो। तं कथं णव्वदे? तदंते तिण्णिअंकुवलं-

समाधान–नहीं, क्योंकि एक कर्मस्कन्धरूप आधारकी अपेक्षा, अथवा एक जीवरूप आधारकी अपेक्षा अथवा विभक्ति सामान्यकी अपेक्षा स्थितिविभक्ति आदिमें एकत्व पाया जाता है। इसलिये 'विहत्तिट्ठिदिअणुभागे च' इस पदमें एकवचनका निर्देश बन जाता है।

विशेषार्थ–यद्यपि 'विहत्तिट्ठिदिअणुभागे' इस पदमें स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्ति इन दोका निर्देश किया है इसलिये यहाँ एकवचनका निर्देश न करके द्विवचनका निर्देश करना चाहिये था। फिर भी द्विवचनका निर्देश नहीं करनेका कारण यह है कि इन दोनों विभक्तियोंका आधार एक कर्मस्कन्ध है, या एक जीव है अथवा विभक्तिसामान्यकी अपेक्षा दोनों विभक्तियाँ एक हैं। अतः 'विहत्तिट्ठिदिअणुभागे' इस पदमें एकवचनका निर्देश करनेमें कोई बाधा नहीं आती है।

*गाथामें आये हुए बन्धक इस पदसे, बन्ध नामका तीसरा अर्थाधिकार लिया है ३, तथा संक्रम नामका चौथा अर्थाधिकार लिया गया है ४।

§ १५४. बन्धक यह कर्तृनिर्देश नहीं है किन्तु 'बन्धनं बन्धः' इसप्रकार भावनिर्देश है। अथवा 'बध्यते यः सः बन्धः' इसप्रकार कर्मनिर्देश है।

शंका–यदि यहाँ कर्तृनिर्देश नहीं है तो 'बन्धक' शब्दमें ककार कैसे सुनाई पड़ता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि 'बन्ध एव बन्धकः' इसप्रकार यहाँ पर स्वार्थमें ककारकी उपलब्धि हो जाती है। वह बन्ध दो प्रकारका है–अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध। उनमें से अकर्मरूपसे स्थित कार्मणस्कन्धका और जीवप्रदेशोंका मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप कारणोंके द्वारा जो परस्परमें सम्बन्ध होता है वह अकर्मबन्ध है। तथा मतिज्ञानावरणरूप कर्मस्कन्धोंको श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणरूपसे परिणमाकर उनका जो जीवप्रदेशोंके साथ सम्बन्ध होता है वह कर्मबन्ध है। उनमेंसे यहाँ 'बन्ध' शब्दसे अकर्मबन्धका ग्रहण किया है। यह तीसरा अर्थाधिकार है।

(१) एसो कत्तार–अ०, आ०, स०। (२) स्वार्थिकका–अ०, आ०। (३)–इयं क्खं–अ०, आ०।

भादो ३। जो कम्मबंधो सो संकमो णाम। सो चउत्थो अत्थाहियारो। कुदो? चुण्णिसुत्ते चत्तारिअंकणिद्देसादो ४।

* वेदए त्ति उदओ च ५। उदीरणा च ६।

§ १५५. वेदए त्ति एत्थ वे अत्थाहियारा। कुदो? उदओ दुविहो, कम्मोदओ अकम्मोदओ चेदि। तत्थ ओकड्डणाए विणा पत्तोदयकम्मक्खंधो कम्मोदओ णाम। ओकड्डणवसेण पत्तोदयकम्मक्खंधो अकम्मोदओ णाम। एत्थ कम्मोदओ उदओ त्ति गहिदो। सो च पंचमो अत्थाहियारो। कुदो? तत्थ पंचंकुवलंभादो ५। अकम्मोदओ उदीरणा णाम। सो छट्ठो अत्थाहियारो। कुदो? तत्थ छअंकदंसणादो ६। 'वेदगे'

विशेषार्थ–मिथ्यात्व आदि कारणोंसे जो नूतन बन्ध होता है उसे यहाँ अकर्मबन्ध और संक्रमणको कर्मबन्ध कहा है। आगममें पुद्गलके जो तेईस भेद कहे हैं उनमें कार्मणवर्गणा नामक एक स्वतन्त्र भेद भी है। वे कार्मणवर्गणाएं ही मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे आकृष्ट होकर कर्मरूप परिणत होती हैं। आत्माके साथ इनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होनेके पहले इन्हें कर्मसंज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः नूतन बन्धको यहाँ अकर्मबन्ध कहा है। और बन्ध होनेके क्षणसे लेकर उन्हें कर्मसंज्ञा प्राप्त हो जाती है। अतः संक्रमणके द्वारा जो पुनः स्थिति आदिमें परिवर्तन होकर उनका आत्मासे एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है उसे कर्मबन्ध कहा है। इसप्रकार अकर्मबन्ध और कर्मबन्धमें भेद समझना चाहिये।

शंका–बन्ध नामका तीसरा अधिकार है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–'बंधो' इस पदके अन्तमें तीनका अंक पाया जाता है इससे प्रतीत होता है कि बन्ध नामका तीसरा अर्थाधिकार है।

ऊपर जो कर्मबन्ध कह आये हैं उसीका सूत्रमें संक्रम पदके द्वारा ग्रहण किया है। वह चौथा अर्थाधिकार है, क्योंकि चूर्णिसूत्रमें 'संकमो' पदके आगे चारका अंक पाया जाता है।

*** गाथामें आये हुए वेदक इस पदसे उदय नामका पाचवां अर्थाधिकार लिया है ५। तथा उदीरणा नामका छठा अर्थाधिकार लिया है ६।**

§ १५५. 'वेदए' इस पदसे यहां पर दो अर्थाधिकार लिये गये हैं, क्योंकि उदय दो प्रकारका है–कर्मोदय और अकर्मोदय। उनमें अपकर्षणाके विना जो कर्मस्कन्ध उदयरूप अवस्थाको प्राप्त होते हैं वह कर्मोदय है। तथा अपकर्षणके द्वारा जो कर्मस्कन्ध उदयरूप अवस्थाको प्राप्त होते हैं वह अकर्मोदय है। यहाँ उदय पदसे कर्मोदयका ग्रहण किया है। वह पाँचवाँ अर्थाधिकार है, क्योंकि 'उदओ' इस पदके आगे पाँचका अंक पाया जाता है। उदीरणा पदसे अकर्मोदयका ग्रहण किया है। यह छठा अर्थाधिकार है, क्योंकि 'उदीरणा' इस पदके आगे छहका अंक देखा जाता है। 'वेदक' यह पद भी यहाँ कर्तृनिर्देशरूप नहीं

त्ति एसो वि कत्तारणिद्देसो ण होदि त्ति पुव्वं व परिहरेयव्वो। अहवा वे वि कत्तारणिद्देसा चेव, बंधोदयाणं कत्तारभूदजीवेण सह एगत्तमुवगयाणं कत्तारभावुववत्तीदो।

* उवजोगे च ७।

§ १५६. उवजोगे सत्तमो अत्थाहियारो। कुदो? तत्थ सत्तंकुवलंभादो ७।

* चउट्ठाणे च ८।

§ १५७. चउट्ठाणे अट्ठमो अत्थाहियारो। कुदो? सुत्ते अट्ठंकुवलंभादो ८।

* वंजणे च ९।

§ १५८. वंजणे णवमो अत्थाहियारो। कुदो? जयिवसहचुण्णिसुत्तम्मि णवअंकुवलंभादो ९।

*** सम्मत्ते त्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दंसणमोहणीयक्खवणा च ११।**

§ १५९. सम्मत्ते त्ति एतत्पदं स्वरूपपदार्थकं गाथासूत्रस्थसम्यक्त्वशब्दस्यानु-

---

है, अतः जिसप्रकार पहले वन्धक पदमें कर्तृनिर्देशका परिहार कर आये हैं उसीप्रकार वेदक पदमें भी कर्तृनिर्देशका परिहार कर लेना चाहिये। अथवा वन्धक और वेदक ये दोनों ही निर्देश कर्तृकारकमें लिये गये हैं, क्योंकि वन्ध और उदयका कर्ता जीव है और उसके साथ ये दोनों एकत्वको प्राप्त हैं अतएव इनमें भी कर्तृभाव वन जाता है।

* उपयोग नामका सातवाँ अर्थाधिकार है ७।

§ १५६. उपयोग यह सातवाँ अर्थाधिकार है, क्योंकि 'उवजोगे च' इस पदके आगे सातका अंक पाया जाता है।

* चतुःस्थान नामका आठवाँ अर्थाधिकार है ८।

§ १५७. चतुःस्थान यह आठवाँ अर्थाधिकार है, क्योंकि 'चउट्ठाणे च' इस सूत्रके आगे आठका अंक पाया जाता है।

* व्यंजन नामका नौवाँ अर्थाधिकार है ९।

§ १५८. व्यंजन यह नौवाँ अर्थाधिकार है, क्योंकि 'वंजणे च' इस चूर्णिसूत्रके आगे यतिवृषभ आचार्यके द्वारा स्थापित नौका अंक पाया जाता है।

* गाथासूत्रमें आये हुए 'सम्मत्त' इस पदसे दर्शनमोहनीयकी उपशामना नामका दसवाँ अर्थाधिकार लिया है १०, और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा नामका ग्यारहवाँ अर्थाधिकार लिया है ११।

§ १५९. चूर्णिसूत्रमें स्थित 'सम्मत्त' यह पद स्वरूपवाची है अर्थात् आत्माके सम्यक्त्व नामक धर्मका वाची है, और गाथासूत्रमें स्थित सम्यक्त्व शब्दका अनुकरणमात्र है।

शंका–यह कैसे जाना जाता है?

करणम् । कुदो णव्वदे ? अवसाणे 'इदि' सद्दुवलंभादो । सो च सम्मत्तसद्दो कारणे कज्जुवयारेण दंसणमोहक्खवणुवसामणकिरियासु वट्टमाणो घेत्तव्वो। तत्थ दंसणमोहणीयस्स उवसामणा णाम दसमो अत्थाहियारो । कुदो णव्वदे ? जइवसहट्टविददसअंकादो १० । दंसणमोहणीयस्स खवणा णाम एक्कारसमो अत्थाहियारो। कुदो णव्वदे ? तेण ट्ठविदएक्कारसंकादो ११ ।

* देसविरदी च १२ ।

§ १६०. देसविरयी णाम बारहमो अत्थाहियारो। कुदो णव्वदे ? जइवसहट्टविदबारहंकादो १२ ।

* 'संजमे उवसामणा च खवणा च' चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४ ।

समाधान–उसके अन्तमें स्थित इति शब्दसे जाना जाता है कि चूर्णिसूत्रमें स्थित स्वरूपवाची सम्यक्त्वपद गाथासूत्रमें स्थित सम्यक्त्व शब्दका अनुकरणमात्र है ।

दर्शनमोहनीयकी उपशामना और दर्शनमोहनीयकी क्षपणा ये कारण हैं और सम्यक्त्व उनका कार्य है । अतः यहाँ कारणमें कार्यका उपचार करके 'सम्यक्त्व' शब्दसे दर्शनमोहनीयकी क्षपणा और दर्शनमोहनीयकी उपशामनारूप क्रियाका ग्रहण करना चाहिये। उनमेंसे दर्शनमोहनीयकी उपशामना नामका दसवां अर्थाधिकार है ।

शंका–यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यतिवृषभ आचार्यने 'दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च' इस पदके आगे दसका अंक स्थापित किया है, इससे जाना जाता है कि दर्शनमोहनीयकी उपशामना नामका दसवाँ अर्थाधिकार है ।

दर्शनमोहनीयकी क्षपणा नामका ग्यारहवाँ अर्थाधिकार है ।

शंका–यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यतिवृषभ आचार्यने 'दंसणमोहणीयस्स खवणा च' इसके आगे ग्यारहका अंक रखा है, इससे जाना जाता है कि दर्शनमोहनीयकी क्षपणा ग्यारहवाँ अर्थाधिकार है।

* देशविरति नामका बारहवाँ अर्थाधिकार है ।

§ १६०. देशविरति यह बारहवाँ अर्थाधिकार है ।

शंका–यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यतिवृषभ आचार्यने 'देसविरदी च' इस पदके अन्तमें बारहका अंक स्थापित किया है, इससे जाना जाता है कि देशविरति नामका बारहवाँ अर्थाधिकार है।

* संयमविषयक उपशामना और क्षपणा अर्थात् चारित्रमोहनीयकी उपशामना यह तेरहवाँ अर्थाधिकार है १३, और उसीकी क्षपणा यह चौदहवाँ अर्थाधिकार है १४।

§ १६१. 'संजमे' इदि विसयसत्तमी, तेण संजमे 'संजमविसए' इदि घेत्तव्वं। 'उवसामणा खवणा' इदि जदि वि सामण्णेण वुत्तं तो वि चरित्तमोहणीयस्सेत्ति संबंधो कायव्वो; अण्णस्सासंभवादो। तेण चारित्तमोहणीयस्स उवसामणा णाम तेरसमो अत्थाहियारो। कुदो? तेरसअंकट्ठवणण्णहाणुववत्तीदो १३। चारित्तमोहक्खवणा णाम चोद्दसमो अत्थाहियारो। कथं णव्वदे? चोद्दसअंकादो १४।

* 'दंसणचरित्तमोहे' त्ति पदपरिवूरणं[1]।

§ १६२. 'दंसणचरित्तमोहे' त्ति जो गाहासुत्तावयवो ण सो वत्तव्वो तेण विणा वि तदट्ठावगमादो। तं जहा, अद्धापरिमाणणिद्देसो दंसणचरित्तमोहविसए कायव्वो त्ति जाणावणट्ठं ण वत्तव्वो कसायपाहुडे दंसणचरित्तमोहणीयं मोत्तूण अण्णेसिं कम्माणं परूवणाभावेण अद्धापरिमाणणिद्देसो दंसणचरित्तमोहविसए चेव कायव्वो त्ति अवुत्त-

§ १६१. 'संजमे' पदमें विषयार्थक सप्तमी विभक्ति है, इसलिये 'संजमे' इसका अर्थ 'संयमके विषयमें' इसप्रकार लेना चाहिये। यद्यपि सूत्रमें उपशामना और क्षपणा यह सामान्यरूपसे कहा है तो भी चारित्रमोहनीयकी उपशामना और चारित्रमोहनीयकी क्षपणा इसप्रकार संबन्ध कर लेना चाहिये, क्योंकि संयमके विषयमें चारित्रमोहनीयकी उपशामना और क्षपणाको छोड़ कर और दूसरेकी उपशामना और क्षपणा संभव नहीं है। अतः चारित्र-मोहनीयकी उपशामना नामका तेरहवाँ अर्थाधिकार है, क्योंकि यदि इसे तेरहवाँ अर्थाधिकार न माना जावे तो 'चारित्तमोहणीयस्स उवसामणा च' इस पदके अन्तमें तेरहके अंककी स्थापना नहीं बन सकती है।

तथा चारित्रमोहनीयकी क्षपणा नामका चौदहवाँ अर्थाधिकार है।

शंका–यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–'खवणा च' इस पदके अन्तमें चौदहका अंक पाया जाता है इससे जाना जाता है कि चारित्रमोहनीयकी क्षपणा नामका चौदहवाँ अर्थाधिकार है।

* गाथासूत्रमें 'दंसणचरित्तमोहे' यह पद पादकी पूर्तिके लिये दिया गया है।

§ १६२. **शंका**–'दंसणचरित्तमोहे' यह जो गाथासूत्रका अवयव है उसको नहीं कहना चाहिये, क्योंकि उस पदको दिये विना भी उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–यदि कहा जाय कि दर्शनमोह और चारित्रमोहके विषयमें अद्धापरिमाणका निर्देश करना चाहिये इसका ज्ञान करानेके लिये 'दंसणचरित्तमोहे' यह पद दिया गया है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कषायप्राभृतमें दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय-को छोड़कर दूसरे कर्मोंकी प्ररूपणा नहीं होनेके कारण अद्धापरिमाणका निर्देश दर्शनमोह-नीय और चारित्रमोहनीयके विषयमें ही किया गया है यह विना कहे ही सिद्ध हो जाता

(१)–पडिब–स०।

सिद्धीदो। णादीदाहियारेसु संबज्झइ; तत्थ वि एवंविहत्तादो। तम्हा 'दंसणचरित्त-मोहे' त्ति ण वत्तव्वमिदि सिद्धं; सच्चमेवं चेव, किंतु 'दंसणचरित्तमोहे' त्ति पदपडिवूरणं तेण ण दोसाय होदि। किं पदपडिवूरणं णाम? गाहापच्छद्धस्स अपडिवुण्णस्स पडिवूरणं पदपरिवूरणं णाम।

* अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५।

§१६३. अद्धापरिमाणणिद्देसो णाम पण्णारसमो अत्थाहियारो। तं कथं णव्वदे? पण्णारसअंकुवलंभादो १५।

* एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो।

§ १६४. एवमेसो पण्णारसविहो अत्थाहियारो जइवसहाइरिएण उवइट्ठो। एदे चेव अस्सिदूण चुण्णिसुत्तं पि भणिस्सदि।

§ १६५. अहवा, पेज्जदोसे त्ति एक्को अत्थाहियारो १। पयडिवहत्ती बिदियो अत्था-

है। यदि कहा जाय कि पेज्जदोषविभक्ति आदि अतीत अधिकारोंके साथ 'दंसणचरित्त-मोहे' इस पदका संबन्ध होता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर भी यही प्रकार पाया जाता है। अर्थात् अद्धापरिमाणनिर्देशके समान वे सब अधिकार भी दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीयके विषयमें हैं यह बिना कहे ही सिद्ध हो जाता है। अतः गाथासूत्रमें 'दंसणचरित्तमोहे' यह पद नहीं कहना चाहिये, यह निश्चित होता है?

समाधान–ऊपर शंकामें जो कुछ कहा गया है वह सत्य है, क्योंकि बात तो ऐसी ही है, किन्तु 'दंसणचरित्तमोहे' यह पद पादकी पूर्तिके लिये दिया गया है इसलिये कोई दोष नहीं है।

शंका–पदकी पूर्ति किसे कहते हैं?

समाधान–गाथाके अधूरे उत्तरार्धकी पदके द्वारा पूर्ति करनेको पदकी पूर्ति कहते हैं।

* अद्धापरिमाणनिर्देश नामका पन्द्रहवाँ अर्थाधिकार है १५।

§ १६३. अद्धापरिमाणनिर्देश यह पन्द्रहवाँ अर्थाधिकार है।

शंका–यह कैसे जाना जाता है।

समाधान–'अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति' इस पदके अन्तमें पन्द्रहका अंक पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि अद्धापरिमाणनिर्देश नामका पन्द्रहवाँ अर्थाधिकार है।

* इसप्रकार यह अर्थाधिकार पन्द्रह प्रकारका है।

§ १६४. इसप्रकार इस पन्द्रह प्रकारके अर्थाधिकारका यतिवृषभ आचार्यने उपदेश दिया है। तथा इन्हीं अर्थाधिकारोंका आश्रय लेकर वे चूर्णिसूत्र भी कहेंगे।

§ १६५. अथवा, पेज्जदोष यह पहला अर्थाधिकार है। प्रकृतिविभक्ति यह दूसरा

(१)–द्धीए णा–आ०। (२)–परिवूर–स०। (३) किं पदपडिवूरणं णाम अद्धा–अ०, आ०।

हियारो २। ट्ठिदिविहत्ती तदियो अत्थाहियारो ३। अणुभागविहत्ती चउत्थो० ४। पदेसविहत्ती झीणाझीण-ट्ठिदिअंतियाणि च पंचमो० ५। बंधगे त्ति छट्ठो० ६। वेदगे त्ति सत्तमो० ७। उवजोगे त्ति अट्ठमो० ८। चउट्ठाणे त्ति णवमो० ९। विंजणे त्ति दसमो० १०। सम्मत्ते त्ति एक्कारसमो० ११। देसविरयी त्ति बारसमो० १२। संजमे त्ति तेरसमो० १३। उवसामणा त्ति चोद्दसमो० १४। खवणा त्ति पण्णारसमो अत्थाहियारो १५। दंसणचारित्तमोहे त्ति वुत्ते पुव्वमुद्दिट्ठासेसपण्णारस वि अत्थाहियारा दंसणचरित्त-मोहेसु होंति त्ति भणिदं होदि। अद्धापरिमाणणिद्देसो अत्थाहियारो ण होदि सयल-अत्थाहियारेसु अणुगयत्तादो। एवं तदियपयारेण पण्णारसअत्थाहियाराणं परूवणा कया। एवं चउत्थ-पंचमादिसरूवेण पण्णारस अत्थाहियारा चिंतिय वत्तव्वा।

अर्थाधिकार है। स्थितिविभक्ति नामका तीसरा अर्थाधिकार है। अनुभागविभक्ति नामका चौथा अर्थाधिकार है। प्रदेशविभक्ति झीणाझीणप्रदेश और स्थित्यन्तिकप्रदेश मिलकर पांचवां अर्थाधिकार है। बन्धक नामका छठा अर्थाधिकार है। वेदक नामक सातवां अर्थाधिकार है। उपयोग नामका आठवां अर्थाधिकार है। चतुःस्थान नामका नौवां अर्थाधिकार है। व्यंजन नामका दसवां अर्थाधिकार है। सम्यक्त्व नामका ग्यारहवां अर्थाधिकार है। देशविरति नामका बारहवां अर्थाधिकार है। संयम नामका तेरहवां अर्थाधिकार है। चारित्रमोहकी उपशामना नामका चौदहवां अर्थाधिकार है और चारित्रमोहकी क्षपणा नामका पन्द्रहवां अर्थाधिकार है। गाथासूत्रमें 'दंसणचरित्तमोहे' ऐसा कहने पर पहले कहे गये समस्त पन्द्रह ही अर्थाधिकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके विषयमें होते हैं ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये। अद्धापरिमाणनिर्देश स्वतंत्र अर्थाधिकार नहीं है, क्योंकि वह समस्त अर्थाधिकारोंमें अनुगत है। इसप्रकार तीसरे प्रकारसे पन्द्रह अर्थाधिकारोंकी प्ररूपणा की। इसीप्रकार चतुर्थ पंचमादि प्रकारोंसे पन्द्रह अर्थाधिकारोंका विचार करके कथन कर लेना चाहिये।

विशेषार्थ–'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि दो गाथाओंद्वारा इस कषायप्राभृतमें कहे गये पन्द्रह अर्थाधिकारोंका निर्देश किया है और इस समूचे कषायप्राभृतमें कितनी गाथाएं आई हैं तथा उनमेंसे कितनी गाथाएं किस अधिकारमें हैं इसकी सूचना इन दो गाथाओंकी वृत्ति-रूपसे कही गई 'गाहासदे असीदे' इत्यादि गाथाओंद्वारा दी है। वहाँ लिखा है कि कषाय-प्राभृतके समस्त अधिकारोंका १८० गाथाओंमें वर्णन किया गया है और प्रारंभके पांच अधिकारोंमें तीन गाथाएं, वेदक नामक छठे अधिकारमें चार गाथाएं, उपयोग नामक सातवें अधिकारमें सात गाथाएं, चतुस्थान नामक आठवें अधिकारमें सोलह गाथाएं, व्यंजन नामक नौवें अधिकारमें पांच गाथाएं, दर्शनमोहकी उपशामना नामक दसवें अधिकारमें पन्द्रह गाथाएं, दर्शनमोहकी क्षपणा नामक ग्यारहवें अधिकारमें पांच गाथाएं, संयमासंयमलब्धि नामक बारहवें और चरित्रलब्धि नामक तेरहवें इसप्रकार इन दो अधिकारोंमें एक गाथा,

उपशामना नामक चौदहवें अधिकारमें आठ गाथाएं और क्षपणा नामक पन्द्रहवें अधिकारमें अट्ठाईस गाथाएं आई हैं। इस कथनसे गुणधर भट्टारकको इष्ट प्रारंभके पांच अधिकारोंके नामोंको छोड़ कर शेष दस अधिकारोंके नाम भी प्रकट हो जाते हैं। केवल प्रारंभके पांच अधिकारोंके नामोंकी स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है। गुणधर भट्टारकने प्रारंभके पांच अधिकारोंके नामोंके संबन्धमें 'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदिअणुभागे य बंधगे चेय' केवल इतना ही कहा है। इस गाथांशसे पेज्जदोषविभक्ति, स्थिति, अनुभाग और बन्धक इसप्रकार केवल चार नामोंका संकेतमात्र मिलता है पर यह नहीं मालूम पड़ता है कि प्रारंभके पांच अधिकारोंमेंसे कौन अधिकार किस नामवाला है। यही सबब है कि प्रारंभके पांच अधिकारोंकी चर्चा करते हुए वीरसेनस्वामीने दो तीन विकल्प सुझाये हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पर इतना स्पष्ट है कि गुणधर भट्टारकने 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथाके पूर्वार्धद्वारा प्रारंभके पांच अधिकारोंकी सूचना दी है जिसकी पुष्टि 'तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा' इस गाथांशसे होती है। 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि जिन दो गाथाओंमें पन्द्रह अधिकारोंके नाम गिनाये हैं उनमें अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणणिद्देसो य' होनेसे पन्द्रहवां अर्थाधिकार अद्धापरिमाणनिर्देश नामका होना चाहिये ऐसा कुछ आचार्योंका मत है। पर जिन एकसौ अस्सी गाथाओंमें पन्द्रह अर्थाधिकारोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमें अद्धापरिमाण-निर्देशका वर्णन करनेवाली छह गाथाएं नहीं आई हैं तथा पन्द्रह अधिकारोंमें गाथाओंका विभाग करते हुए गुणधर भट्टारकने स्वयं इस प्रकारकी सूचना भी नहीं दी है। इससे प्रतीत होता है कि स्वयं गुणधर भट्टारकको पन्द्रहवां अधिकार अद्धापरिमाणनिर्देश इष्ट नहीं था। इसप्रकार उपर्युक्त पन्द्रह अधिकार गुणधर भट्टारकके अभिप्रायानुसार समझना चाहिये। पर यतिवृषभ आचार्य इन पन्द्रह अधिकारोंके नामोंमें परिवर्तन करके अन्य प्रकारसे पन्द्रह अधिकार बतलाते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यतिवृषभ स्थविरने पन्द्रह अधिकारोंका नामनिर्देश करते समय 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि जिन दो गाथाओंमें पन्द्रह अधिकारोंके नामोंकी सूचना दी है उन दो गाथाओंका अनुसरण तो किया पर जिन संबन्धगाथाओं द्वारा किस अधिकारमें कितनी गाथाएं आई हैं यह बताया है उनका अनुसरण नहीं किया। गुणधर भट्टारकने 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथाके पूर्वार्ध द्वारा पाँच अधिकारोंकी सूचना की है। यतिवृषभ आचार्य उक्त गाथाके शब्दोंका अनुसरण करते हुए उसके पूर्वार्धसे यदि पाँच ही अधिकार कहते तो वह गुणधर भट्टारकका ही अभिप्राय समझा जाता। पर उक्त गाथामें जो पाँच अधिकारोंकी सूचना है उन्होंने उसका अनुसरण नहीं किया। वे गाथाके पूर्वार्धके शब्दोंका अनुसरण तो करते हैं पर उसके द्वारा केवल चार अधिकारोंके निर्देशकी सूचना करते हैं। और इसप्रकार अधिकारोंके नाम-निर्देशके संबन्धमें यतिवृषभ स्थविरका अभिप्राय गुणधर भट्टारकके अभिप्रायसे भिन्न हो

जाता है। गुणधर भट्टारक जहाँ 'पयडीए मोहणिज्जा' इत्यादि तीन गाथाएं पाँच अर्थाधिकारोंके विषयका प्रतिपादन करनेवाली बतलाते हैं वहाँ यतिवृषभ आचार्यके अभिप्रायसे उक्त तीन गाथाएं चार अर्थाधिकारोंके विषयका प्रतिपादन करनेवालीं सिद्ध होती हैं। किन्तु इससे मूल विषयविभागमें अन्तर नहीं समझना चाहिये। यहाँ अन्तर केवल अधिकारोंके नामनिर्देशका है। वीरसेनस्वामीने गुणधर भट्टारकके प्रथम अभिप्रायानुसार जो १ पेज्जदोषविभक्ति, २ स्थितिविभक्ति, ३ अनुभागविभक्ति, ४ बन्ध और ५ संक्रम ये पाँच अर्थाधिकार बतलाये हैं, यतिवृषभ स्थविर इनमेंसे दूसरे स्थितिविभक्ति और तीसरे अनुभागविभक्ति इन दोनोंको मिलाकर एक अर्थाधिकार कहते हैं। इसप्रकार पाँच संख्या न रहकर अधिकारोंकी संख्या चार रह जाती है। प्रकृतिविभक्ति आदिके अन्तर्भावके संबन्धमें कोई मतभेद नहीं है। अतः यहाँ अधिकारोंके नाम गिनाते समय हमने उनका उल्लेख नहीं किया है। इसप्रकार जो गणनामें एक संख्याकी कमी आ जाती है उसकी पूर्ति यतिवृषभ स्थविर वेदक इस अधिकारके उदय और उदीरणा इसप्रकार दो भेद करके और उन्हें दो अर्थाधिकार मान कर कर लेते हैं और इसप्रकार उन्होंने 'चत्तारि वेदयम्मि दु' इस प्रतिज्ञावाक्यका अनुसरण नहीं किया है। तथा गुणधर भट्टारकने संयमासंयमलब्धि और संयमलब्धि ये दो १३ वें और १४ वें नम्बरके अर्थाधिकार माने हैं किन्तु यतिवृषभ स्थविर संयमासंयमलब्धिको तो स्वतंत्र अर्थाधिकार मानते हैं पर गाथामें आये हुए 'संजमे' पदको वे उपशामना और क्षपणासे जोड़कर संयमलब्धि नामके अधिकारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते और इसप्रकार उन्होंने 'दोसु वि एक्का गाहा' इस प्रतिज्ञाका अनुसरण नहीं किया है। इसप्रकार यहाँ जो एक संख्याकी कमी हो जाती है उसकी पूर्ति वे अद्धापरिमाणनिर्देशको १५ वां अर्थाधिकार मान कर करते हैं। पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामकरणके विषयमें गुणधर भट्टारक और यतिवृषभ स्थविर इन दोनोंमें यही अन्तर है। वीरसेनस्वामीने तीसरे प्रकारसे भी अर्थाधिकारोंके नाम सुझाये हैं और वे लिखते हैं कि इसप्रकार चौथे पाँचवें आदि प्रकार से भी अर्थाधिकारोंके नाम कल्पित कर लेना चाहिये। यहाँ वीरसेनस्वामीका यह अभिप्राय है कि मूल रूपरेखाका अनुसरण करते हुए कहीं भेदकी प्रधानतासे, कहीं अभेदकी प्रधानतासे, कहीं प्रकृतिविभक्ति आदिके अन्तर्भावके भेदसे, कहीं अद्धापरिमाणनिर्देशको स्वतन्त्र अधिकार मान कर और कहीं उसे स्वतंत्र अधिकार न मान कर जितने विकल्प किये जा सकें वे सब इष्ट हैं। ऐसा करनेसे गुणधर भट्टारककी आसादना नहीं होती है, क्योंकि यहाँ उनकी आसादना करनेका अभिप्राय नहीं है। आसादना करनेका अभिप्राय तो तब समझा जाय जब उनके वचनोंको अयथार्थ कह कर उनकी अवज्ञा की जाय। विकल्पान्तरका सुझाव तो गुणधरके वचनोंको सूत्रात्मक सिद्ध करके उनमें चमत्कार लाता है। यही सबब है कि यतिवृषभस्थविरने अन्य प्रकारसे पन्द्रह

अर्थाधिकार बतला कर भी गुणधरके वचनोंकी अवहेलना नहीं की है। ऊपर तीन प्रकारसे सूचित अधिकारोंका कोष्टक नीचे दिया जाता है। वह निम्नप्रकार है–

गुणधर भट्टारकके मतसे	आ० यतिवृषभके मतसे	अन्य प्रकारसे
१ पेज्जदोषविभक्ति	पेज्जदोष	पेज्जदोष
२ स्थितिविभक्ति	प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, झीणाझीण और स्थित्यंतिक	प्रकृतिविभक्ति
३ अनुभागविभक्ति	बन्ध (अकर्मबंध)	स्थितिविभक्ति
४ बन्ध (अकर्मबन्ध) अथवा प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक	संक्रमण (कर्मबन्ध)	अनुभागविभक्ति
५ संक्रमण (कर्मबन्ध) अथवा बन्धक	उदय (कर्मोदय)	प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण व स्थित्यन्तिक
६ वेदक	उदीरणा (अकर्मोदय)	बन्धक
७ उपयोग	उपयोग	वेदक
८ चतुःस्थान	चतुःस्थान	उपयोग
९ व्यंजन	व्यंजन	चतुःस्थान
१० दर्शनमोहोपशामना	दर्शनमोहोपशामना	व्यंजन
११ दर्शनमोहक्षपणा	दर्शनमोहक्षपणा	सम्यक्त्व
१२ संयमासंयमलब्धि	देशविरति	देशविरति
१३ चारित्रलब्धि	चारित्रमोहोपशामना	संयम
१४ चारित्रमोहोमशामना	चारित्रमोहक्षपणा	चारित्रमोहोपशामना
१५ चारित्रमोहक्षपणा	अद्धापरिमाणनिर्देश	चारित्रमोहक्षपणा

गुणधर भट्टारकके अभिप्रायानुसार प्रकृति विभक्तिका या तो पेज्जदोष विभक्तिमें या स्थिति और अनुभाग विभक्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है। तथा प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक इन तीनोंका या तो स्थितिविभक्ति और अनुभाग विभक्तिमें अन्त-

§ १६६. 'पेज्जे (ज्जं) त्ति पाहुडम्मि दु हवदि कसाय (याण) पाहुड (डं) णाम' इति गाहासुत्तम्मि पेज्जदोसपाहुडं कसायपाहुडं चेदि दोण्णि णामाणि उवइट्ठाणि। तत्थ ताणि केणाभिप्पाएण उत्ताणि त्ति जाणावणट्ठं जइवसहाइरियो उत्तरसुत्तदुगं भणदि-

*** तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा, पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि, कसायपाहुडे त्ति वि। तत्थ अभिवाहरणणिप्पण्णं पेज्जदोसपाहुडं।**

भाव हो जाता है, या ये तीनों मिलकर एक चौथा स्वतन्त्र अधिकार हो जाता है। जब इनका स्वतन्त्र अधिकार हो जाता है तब बन्ध और संक्रम ये दो अधिकार न रहकर दोनों मिलकर बन्धक नामका एक अधिकार हो जाता है। तथा आगे प्रकृतिविभक्ति अनुयोगद्वारमें 'पयडीए मोहणिज्जा' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते समय गुणधर आचार्यके अभिप्रायानुसार वीरसेन स्वामीने प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति और अनुभागविभक्ति इन तीनोंको मिलाकर एक अर्थाधिकार तथा प्रदेशविभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिक इन तीनोंको मिलाकर एक दूसरा अर्थाधिकार बतलाया है। इस कथनके अनुसार १ पेज्जदोषविभक्ति, २ प्रकृति-स्थिति-अनुभागविभक्ति, ३ प्रदेश-झीणाझीण-स्थित्यन्तिकविभक्ति, ४ बन्ध और ५ संक्रम ये पांच अर्थाधिकार गुणधर भट्टारकके मतसे हो जाते हैं। तो भी 'तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा' इस वचनमें उक्त अधिकार व्यवस्थासे कोई अंतर नहीं आता है। इसलिये 'पेज्जदोसविहत्ती' इत्यादि गाथाके पूर्वार्धके अर्थका यह अभिप्रायान्तर ही समझना चाहिये। तथा यतिवृषभ स्थविरने 'पयडीए मोहणिज्जा' इसका अर्थ करते हुए १ प्रकृतिविभक्ति, २ स्थितिविभक्ति, ३ अनुभागविभक्ति, ४ प्रदेशविभक्ति, ५ झीणाझीण और ६ स्थित्यन्तिक ये छह अर्थाधिकार सूचित किये हैं। मालूम होता है यहां यतिवृषभ स्थविरने पूर्वोक्त अधिकारोंमें अन्तर्भावकी विवक्षा न करके अवान्तर अधिकारोंकी प्रधानतासे ये छह अर्थाधिकार कहे हैं, इसलिये जब इनका पूर्वोक्त अर्थाधिकारोंमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है तब ये छहों मिलकर एक अर्थाधिकार होता है और जब भेदविवक्षासे कथन किया जाता है तब ये स्वतन्त्र छह अधिकार कहलाते हैं। इसप्रकार यह अधिकार व्यवस्था भी पूर्वोक्त अर्थाधिकार व्यवस्थासे ही संबन्ध रखती है यह निश्चित हो जाता है।

§ १६६. 'पेज्जं त्ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम' इस गाथासूत्रमें पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत इन दोनों नामोंका उपदेश किया है। वे दोनों नाम यहां पर किस अभिप्रायसे कहे गये हैं यह बतलानेके लिये यतिवृषभ आचार्य आगेके दो सूत्र कहते हैं–

* उस प्राभृतके दो नाम हैं। यथा–पेज्जदोषप्राभृत और कषायप्राभृत। इन

(१) गाथाक्रमांकः १। (२) णामधेयाणि आ०।

§ १६७. अहिमुहस्स अप्पाणम्मि पडिवद्धस्स वाहरणं कहणं अभिवाहरणं णाम, तेण णिप्पण्णं अभिवाहरणणिप्पण्णं। तं किं? पेज्जदोसपाहुडं। तं जहा, पेज्जसद्दो पेज्जट्ठं चेव भणदि; तत्थ पडिवद्धत्तादो, ण दोसट्ठं; तेण तस्स पडिबंधाभावादो। दोससद्दो वि दोसट्ठं चेव भणदि; पडिबंधकारणादो, ण पेज्जट्ठं; तेण तस्स पडिबंधाभावादो। तदो पेज्जदोसा वे वि ण एक्केण सद्देण भण(ण्णं)ति, भिण्णेसु दोसु अत्थेसु एक्कस्स सद्दस्स एगसहावस्स वुत्तिविरोहादो। ण च दोसु अत्थेसु एगो सद्दो पडिवद्धो होदि; अणेगाणं सहावाणं एगत्थम्मि असंभवादो। संभवे वा ण सो एगत्थो; विरुद्धधम्मज्झासेण पत्ताणेगभावादो। तदो पेज्जदोससद्दा वे वि पउंजेयव्वा, अण्णहा सगसगट्ठाणं परूवणाणुव-

दोनों नामोंमेंसे पेज्जदोषप्राभृत यह नाम अभिव्याहरणसे निष्पन्न हुआ है।

§ १६७. अभिमुख अर्थका अर्थात् अपनेमें प्रतिवद्ध हुए अर्थका व्याहरण अर्थात् कहना अभिव्याहरण कहलाता है। उससे उत्पन्न हुए नामको अभिव्याहरणनिष्पन्न नाम कहते हैं।

शंका–वह अभिव्याहरणनिष्पन्न नाम कौनसा है?

समाधान–पेज्जदोषप्राभृत यह नाम अभिव्याहरणनिष्पन्न है।

उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–पेज्जशब्द पेज्जरूप अर्थको ही कहता है, क्योंकि पेज्जशब्द पेज्ज अर्थमें ही प्रतिवद्ध है। किन्तु पेज्जशब्द दोषरूप अर्थको नहीं कहता है, क्योंकि दोषरूप अर्थके साथ पेज्जशब्द प्रतिवद्ध नहीं है। उसीप्रकार दोषशब्द भी दोषरूप अर्थको ही कहता है, क्योंकि दोषशब्द दोषरूप अर्थके साथ प्रतिवद्ध है। किन्तु दोषशब्द पेज्जरूप अर्थको नहीं कहता है, क्योंकि पेज्जरूप अर्थके साथ दोषशब्द प्रतिवद्ध नहीं है। अतएव पेज्ज और दोष ये दोनों ही पेज्ज और दोष इन दोनों शब्दोंमें से किसी एक शब्दके द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि भिन्न दो अर्थोंमें एक स्वभाववाले एक शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि दो अर्थोंमें एक शब्द प्रतिवद्ध होता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक अर्थमें अनेक स्वभाव नहीं पाये जाते हैं अर्थात् शब्दरूप अर्थमें भी अनेक स्वभाव नहीं हो सकते हैं। यदि अनेक स्वभाव एक अर्थमें संभव हैं ऐसा माना जाय तो वह अर्थ एक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार हो जानेसे वह अर्थ अनेकपनेको प्राप्त हो जाता है। अतएव पेज्ज और दोष इन दोनों ही शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा अपने अपने अर्थोंकी प्ररूपणा नहीं हो सकती है अर्थात् दोनोंमेंसे किसी एक शब्दका प्रयोग करने पर दोनों अर्थोंका कथन नहीं वन सकता है।

विशेषार्थ–अर्थानुसारी नाम अभिव्याहरणसे उत्पन्न हुआ नाम कहलाता है। जिस शब्दका जो वाच्य है वही वाच्य जव उस शब्दके द्वारा कहा जाता है अन्य नहीं, तव उसका

(१) पेज्जं दोसं अ०। पेजदोस आ०।

वत्तीदो। पेज्जदोसाणं पाहुडं पेज्जदोसपाहुडं। एसा सण्णा समभिरूढणयणिबंधणा, "नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः ॥७४॥" **इति वचनात्।**

*** णयदो णिप्पण्णं कसायपाहुडं।**

§ १६८. को णयो णाम? 'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः।'

यह कथन अर्थानुसारी कहलाता है। पेज्जदोषप्राभृत इस नाममें पेज्ज शब्द भिन्न अर्थको कहता है और दोष शब्द भिन्न अर्थको। पेज्ज शब्दका अर्थ राग है और दोष शब्दका अर्थ द्वेष। ये राग और द्वेषरूप अर्थ न तो केवल पेज्ज शब्दके द्वारा कहे जा सकते हैं और न केवल दोष शब्दके द्वारा ही कहे जा सकते हैं। यदि इन दोनों अर्थोंका कथन केवल पेज्ज या केवल दोष शब्दके द्वारा मान लिया जाय तो राग और द्वेषमें पर्याय भेद नहीं बनेगा। चूंकि राग और द्वेषमें पर्यायभेद पाया जाता है इसलिये इनके कथन करनेवाले शब्द भी भिन्न ही होने चाहिये। इसप्रकार पेज्ज और दोष इन दोनों शब्दोंकी स्वतन्त्र सिद्धि हो जाने पर इनके वाच्यभूत विषयके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको भी पेज्ज-दोषप्राभृत कहना चाहिये। उसे न केवल पेज्जप्राभृत ही कह सकते हैं और न केवल दोषप्राभृत ही, क्योंकि पर्यायार्थिक नय दोको अभेदरूपसे नहीं ग्रहण करता है। इस-प्रकार पेज्जदोषप्राभृत यह नाम अभिव्याहरणनिष्पन्न समझना चाहिये।

पेज्ज और दोष इन दोनोंका प्रतिपादन करनेवाला प्राभृत पेज्जदोषप्राभृत कहलाता है। यह संज्ञा समभिरूढनयनिमित्तक है, क्योंकि 'नाना अर्थोको छोड़कर एक अर्थको ग्रहण करनेवाला नय समभिरूढ़ नय कहलाता है॥७४॥' ऐसा वचन है।

विशेषार्थ–एक शब्दके अनेक अर्थ पाये जाते हैं पर उन अनेक अर्थोंको छोड़कर समभिरूढ़नय उस शब्दका एक ही अर्थ मानता है। इसीप्रकार यद्यपि पेज्जशब्द प्रिय, राग और पूज्य आदि अनेक अर्थोंमें पाया जाता है और दोषशब्द भी दोष, दुर्गुण, दूष्य आदि अनेक अर्थोंमें पाया जाता है पर उन अनेक अर्थोंको छोड़कर यहाँ पेज्ज शब्दका अर्थ राग और दोष शब्दका अर्थ द्वेष ही लिया है जो कि समभिरूढ़नयका विषय है। इसलिये पेज्जदोषप्राभृत यह संज्ञा समभिरूढ़नयकी अपेक्षा समझना चाहिये। इसीप्रकार और जितने नाम अभिव्याहरणनिष्पन्न होंगे वे सब समभिरूढ़नयके विषय होंगे।

*** कषायप्राभृत यह नाम नयनिष्पन्न है॥**

§ १६८. **शंका**–नय किसे कहते हैं?

समाधान–प्रमाणके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थके एकदेशमें वस्तुका निश्चय कराने-

(१) सर्वार्थसि० १।३३। (२)–ध० सं० पृ० ७३। "स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः"–आप्तमी० श्लो० १०६। "वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।"–सर्वार्थसि० १।३३। "ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायतः ... नयो ज्ञातुर्मतं मतः।"–सिद्धिवि०,

"नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥७५॥" इत्यन्ये । एदन्तरङ्गनयलक्षणम् ।

§ १६९. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो न ज्ञानम्; तत्र वस्त्वध्यवसायस्यार्पितवस्त्वंशे प्रवेशितानर्पितवस्त्वंशस्य प्रमाणत्वविरोधात् । किञ्च न नयः प्रमाणम्; प्रमाणव्यपाश्रयस्य वस्त्वध्यवसायस्य तद्विरोधात्, "सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो

वाले ज्ञानको नय कहते हैं । अन्य आचार्योंने भी कहा है कि 'ज्ञाताके अभिप्रायका नाम नय है जो कि प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एकदेश द्रव्य अथवा पर्यायको अर्थरूपसे ग्रहण करता है ॥७५॥' यह अन्तरङ्ग नयका लक्षण है ।

§ १६९. प्रमाणके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थके एकदेशमें वस्तुका जो अध्यवसाय होता है वह ज्ञान (प्रमाण) नहीं है, क्योंकि वस्तुके एक अंशको प्रधान करके वस्तुका जो अध्यवसाय होता है वह वस्तुके एक अंशको अप्रधान करके होता है इसलिये ऐसे अध्यवसायको प्रमाण माननेमें विरोध आता है । दूसरे, नय इसलिये भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि नयके द्वारा जो वस्तुका अध्यवसाय होता है वह प्रमाणव्यपाश्रय है अर्थात् प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशमें ही प्रवृत्ति करता है अतः उसे प्रमाण माननेमें विरोध आता है । तथा 'सकलादेश प्रमाणके आधीन है और विकलादेश नयके आधीन है ॥७६॥' इसप्रकार

टी० पृ० ५१७ । "प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपका नयाः"–राजवा० १।३३। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः"–लघी० स्व० का० ३० । प्रमाणसं० श्लो० ८६ । "स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः । (पृ० १८ । "नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ।"–त० श्लो० पृ० २६८। नयविव० श्लो० ४। "अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः ।"–प्रमेयक० पृ० ६७६ । तथा चोक्तम्–उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नयः । भग० विज० १।५। "जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयं ससंगहणं । तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥"–नयच० गा० २ ।आलाप प० । त० सार पृ० १०६ । "जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः ।"–त० भा० १।३५। "एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव । नयणं धम्मेण तओ होइ तओ सत्तहा सो य ।"–वि० भा० गा० २६७६। "नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः । वस्तुनोऽनेकात्मकस्य अन्यतमैकात्मैकान्तपरिग्रहात्मका नया इति ।"–नयच० वृ० प० ५२६। "यथोक्तम्–द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणम् एकदेशनयनान्नयाः ।" नयच० वृ० स० ६ । न्यायाव० टी० पृ० ८२ । "नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।"–प्रमाणनय० ७१। स्यां० मं० पृ० ३१०। जैनतर्क० पृ० २१ । नयरह० पृ० ७९ । नयप्र० पृ० ९७ ।

(१) 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।"–लघी० श्लो० ५२ । प्रमासं० श्लो० ८६ । तुलना–"णाणं होदि पमाणं णओ विणादुस्स हिदयभावत्थो । णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ।"–ति० प० १।८३ । "को नयो नाम ? ज्ञातुरभिप्रायो नयः। अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः ? प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायः। युक्तितः प्रमाणादर्थपरिग्रहः द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नयः । प्रमाणेन परिछिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत् ।"–ध० आ० प० ५४१। (२) "तथा चोक्तम्–सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः इति" –सर्वार्थ सि० १।६ । ध० आ० प० ५४२ । "प्रमाणं सकलादेशो नयोऽवयवसाधनम् ।"–पद्मच० १०५।१४२ ।

नयाधीनः ॥७६॥" इति भिन्नकार्यदृष्टेर्वा न[1] नयः प्रमाणं ।

§ १७०. कः सकलादेशः? स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति च नास्ति

दोनोंके कार्य भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं इसलिये भी नय प्रमाण नहीं है।

विशेषार्थ–सर्वार्थसिद्धिमें बतलाया है कि 'स्वार्थ और परार्थके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। उनमेंसे ज्ञानात्मक प्रमाण स्वार्थ होता है और वचनात्मक प्रमाण परार्थ। श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनोंरूप है पर शेष चारों ज्ञान स्वार्थरूप ही हैं। तथा जितने भी नय होते हैं वे सब श्रुतज्ञानके विकल्प समझने चाहियें।' इससे प्रतीत होता है कि नय भी स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका होता हैं। ऊपर जो वस्तुके एकदेशमें वस्तुके अध्यवसायको या ज्ञाताके अभिप्रायको अन्तरंग नयका लक्षण बतलाया है वह ज्ञानात्मक नयका लक्षण समझना चाहिये। यहां अन्तरंग नयसे ज्ञानात्मक नय अभिप्रेत है। तथा नयके लक्षणके बाद जो यह कहा है कि प्रमाणके द्वारा ग्रहण किये गये वस्तुके एकदेशमें जो वस्तुका अध्यवसाय होता है वह ज्ञान नहीं हो सकता, सो यहां ज्ञानसे प्रमाण ज्ञानका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि प्रमाण ज्ञान धर्मभेदसे वस्तुको ग्रहण नहीं करता है। वह तो सभी धर्मोंके समुच्चयरूपसे ही वस्तुको जानता है और नयज्ञान धर्मभेदसे ही वस्तुको ग्रहण करता है। वह सभी धर्मोंके समुच्चयरूप वस्तुको ग्रहण नहीं करके केवल एक धर्मके द्वारा ही वस्तुको जानता है। यही सबब है कि प्रमाण ज्ञान दृष्टिभेदसे परे है, और नयज्ञान जितने भी होते हैं वे सभी सापेक्ष होकर ही सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि नयज्ञानमें धर्म, दृष्टि या भेद प्रधान है। इसलिये सापेक्षताके विना सभी नयज्ञान मिथ्या होते हैं। गुण या धर्म जहां किसी वस्तुकी विशेषताको व्यक्त करता है वहां उस वस्तुको उतना ही समझ लेना मिथ्या है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें व्यक्त या अव्यक्त अनन्त धर्म पाये जाते हैं और उन सबका समुच्चय ही वस्तु है। इस कथनका यह तात्पर्य हुआ कि नयज्ञान और प्रमाणज्ञान ये दोनों यद्यपि ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा एक हैं फिर भी इनमें विशेषकी अपेक्षा भेद है। नयज्ञान जहां जाननेवालेके अभिप्रायसे सम्बन्ध रखता है। वहां प्रमाण-ज्ञान जाननेवालेका अभिप्रायविशेष न होकर ज्ञेयका प्रतिबिम्बमात्र है। नयज्ञानमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार वस्तु प्रतिबिम्बित होती है पर प्रमाणज्ञानमें वस्तु जो कुछ है वह प्रतिबिम्बित होती है। इसीलिये प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी कहा जाता है। इतने कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नयज्ञान प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसप्रकार नयज्ञान और प्रमाणज्ञानमें भेद समझना चाहिये।

§ १७०. **शंका**–सकलादेश किसे कहते हैं ?

समाधान–कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है, कथंचित् घट अवक्तव्य है,

(१) नयः न प्र–स० ।

च स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशः। कथमेतेषां सप्तानां सुनयानां सकलादेशत्वम् ? न; एकधर्मप्रधानभावेन साकल्येन वस्तुनः प्रतिपादकत्वात्। सकलमादिशति कथयतीति सकलादेशः। न च त्रिकालगोचरानन्तधर्मोपचितं वस्तु स्यादस्तीत्यनेन आदिश्यते

कथंचित् घट है और नहीं है, कथंचित् घट है और अवक्तव्य है, कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित् घट है नहीं है और अवक्तव्य है, इसप्रकार ये सातों भंग सकलादेश कहे जाते हैं।

शंका–इन सातों सुनयरूप वाक्योंको सकलादेशपना कैसे प्राप्त है ?

समाधान–ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सातों सुनयवाक्य किसी एक धर्मको प्रधान करके साकल्यरूपसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये सकलादेशरूप हैं, क्योंकि साकल्यरूपसे जो पदार्थका कथन करता है वह सकलादेश कहा जाता है।

शंका–त्रिकालके विषयभूत अनन्त धर्मोंसे उपचित वस्तु 'कथंचित् है' इस एक

(१) "तत्रादेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम्"–राजवा० पृ० १८०। प्रमेयक० पृ० ६८२ सप्तभ० पृ० ३२। "इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च।"–प्रमाणनय० ४।४३। जैनतर्कभा० पृ० २०। गुरुतत्त्ववि० प० १५। शास्त्रवा० टी० प० २५४। सिद्धसेनगणिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भंगत्रयं सकलादेशत्वेनावशिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते। तथाहि–"एवमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येणैव विभाविताः संग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये। सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति···विवक्षायत्ता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या।"–त० भा० टी० पृ० ४१६। "तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्य अपेक्षितापराशेषधर्मकोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः, स्यान्नास्ति घटः, स्यादवक्तव्यो घटः इत्येते त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः। ···विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्ष्यमाणकाः विकलादेशाः–स्यादस्ति च नास्ति च घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति न नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः।"–सन्मति० टी० पृ० ४४६। (२) "तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः···एक गुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः··तत्रादेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम्"–राजवा० पृ० १८१। "स्याद्वादः सकलादेशः··अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः"–लघी० स्व० पृ० २१। नयच० वृ० प० ३४८। "कः सकलादेशः ? स्यादस्तीत्यादिः। कुतः ? प्रमाणनिबन्धनत्वात् स्याच्छब्देन सूचिताशेषाप्रधानीभूतधर्मत्वात्।"–ध० आ० प० ५४२। "सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्।"–त० श्लो० पृ० १३६। सप्तभ० ३२। प्रमाणनय० ४।४४। जैनतर्कभा० पृ० २०। "यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदा अङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूषितया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति स्यादस्त्येव जीव इत्यादिकया अतोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्य अवधारणव्यवच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते। प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत्। तदुक्तम्–सा ज्ञेयविशेषावगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र। सकलग्राहि तु मानं विकलग्राही नयो ज्ञेयः॥"–न्यायाव० टी० पृ० ९२।

तथानुपलम्भात् ततो नैते सकलादेशा इति; न; उभयनयविषयीकृतविधिप्रतिषेधधर्म-व्यतिरिक्तत्रिकालगोचरानन्तधर्मानुपलम्भात्, उपलम्भे वा द्रव्यपर्यायार्थिकनयाभ्यां व्यतिरिक्तस्य तृतीयस्य नयस्यास्तित्वमासजेत्, न चैवम्, निर्विषयस्य तस्यास्तित्व-विरोधात्। एष सकलादेशः प्रमाणाधीनः प्रमाणायत्तः प्रमाणव्यपाश्रयः प्रमाणजनित इति यावत्।

§ १७१. को विकलादेशः? अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव अस्ति नास्त्येव अस्त्यवक्तव्य एव नास्त्यवक्तव्य एव अस्ति नास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः। कथमेतेषां सप्तानां दुर्नयानां विकलादेशत्वम्? न; एकधर्मविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रतिपा-

वाक्यके द्वारा तो कही नहीं जा सकती है, क्योंकि एक धर्मके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तुका ग्रहण नहीं देखा जाता है। इसलिये उपर्युक्त सातों वाक्य सकलादेश नहीं हो सकते हैं।

समाधान–नहीं, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके द्वारा विषय किये गये विधि और प्रतिषेधरूप धर्मोंको छोड़कर इनसे अतिरिक्त दूसरे त्रिकालवर्ती अनन्त धर्म नहीं पाये जाते हैं। अर्थात् वस्तुमें जितने धर्म हैं वे या तो विधिरूप हैं या प्रतिषेधरूप हैं, विधि और प्रतिषेधसे वहिर्भूत कोई धर्म नहीं हैं। तथा विधिरूप धर्मोंको द्रव्यार्थिक नय विषय करता है और प्रतिषेधरूप धर्मोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है। यदि विधि और प्रतिषेधरूप धर्मोंके सिवाय दूसरे धर्मोंका सद्भाव माना जाय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त एक तीसरे नयका अस्तित्व भी मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि विषयके विना तीसरे नयका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है।

यह सकलादेश प्रमाणाधीन है अर्थात् प्रमाणके वशीभूत है, प्रमाणाश्रित है या प्रमाणजनित है ऐसा समझना चाहिये।

§ १७१. **शंका**–विकलादेश क्या है?

समाधान–घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्यरूप ही है, घट है ही और नहीं ही है, घट है ही और अवक्तव्य ही है, घट नहीं ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही, नहीं ही है और अवक्तव्यरूप ही है, इसप्रकार यह विकलादेश है।

शंका–इन सातों दुर्नयरूप अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वाक्योंको विकलादेशपना कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान–ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि ये सातों वाक्य एकधर्मविशिष्ट वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये विकलादेशरूप हैं।

(१) "यदा तु क्रमस्तदा विकलादेशः, स एव नय इति व्यपदिश्यते...निरंशस्यापि गुणभेदादंश-कल्पना विकलादेशः...तत्रापि तथा सप्तभङ्गी..."–राजवा० पृ० १८१–१८६। लघी० स्व० वि० पृ० २१। नयच० वृ० प० ३४८। अकलङ्कप्र० टि० पृ० १४९।

दनात्। दुर्नयवाक्यादपि सुनयवाक्यादिव श्रोतुः प्रमाणमेवोत्पद्यते, विषयीकृतैकान्त-बोधाभावात्।(१) अयं च विकलादेशो नयाधीनः नयायत्तः नयवशादुत्पद्यत इति यावत्।

तथा जिसप्रकार सुनय वाक्योंसे अर्थात् अनेकान्तके अवबोधक वाक्योंसे श्रोताको प्रमाण ज्ञान ही उत्पन्न होता है उसीप्रकार दुर्नय वाक्योंसे अर्थात् एकान्तके अवबोधक वाक्योंसे भी श्रोताको प्रमाण रूप ही ज्ञान होता है, क्योंकि इन सातों दुर्नय वाक्योंसे एकान्तको विषय करनेवाला बोध नहीं होता है। अर्थात् ये सातों वाक्य अर्थका कथन एकान्तरूप ही करते हैं तथापि उनसे जो ज्ञान होता है वह अनेकान्तरूप ही होता है। यह विकलादेश नयाधीन है अर्थात् नयके वशीभूत है या नयसे उत्पन्न होता है यह इसका तात्पर्य समझना चाहिये।

विशेषार्थ–जो वचन कालादिककी अपेक्षा अभेदवृत्तिकी प्रधानतासे या अभेदोपचारसे प्रमाणके द्वारा स्वीकृत अनन्त-धर्मात्मक वस्तुका एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं और जो वचन कालादिककी अपेक्षा भेदवृत्तिकी प्रधानतासे या भेदोपचारसे नयके द्वारा स्वीकृत वस्तु धर्मका क्रमसे कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं। यदि कोई कहे कि धर्मीवचनको सकलादेश और धर्मवचनको विकलादेश कहते हैं सो उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ जीव इत्यादिक धर्मीवचनके द्वारा समुच्चयरूप वस्तु कही जाती है वहां भी एक धर्मकी ही प्रधानता पाई जाती है, क्योंकि जीव यह शब्द जीवन गुणकी मुख्यतासे ही निष्पन्न हुआ है, इसलिये जीव इस शब्दका अर्थ जीवनगुणवाला इतना ही होता है ज्ञानादि अनन्त गुणवाला नहीं। अतः वचन प्रयोग करते समय वक्ता यदि उस वचनसे एक धर्मके कथन द्वारा अखंड वस्तुका ज्ञान कराता है तो वह वचन सकलादेश है और यदि वक्ता उस वचनके द्वारा अन्य धर्मोंका निराकरण न करके एक धर्मका ज्ञान कराता है तो वह वचन विकलादेश है। वचन प्रयोगकी अपेक्षा सकलादेश और विकलादेशकी व्यवस्था वक्ताके अभिप्रायसे बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है। इनके विषयमें वचनप्रयोगका कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता है। यही सबब है कि इस सम्बन्धमें अनेक आचार्योंके अनेक मतभेद पाये जाते हैं। वे मतभेद परस्पर विरोधी तो कहे नहीं जा सकते हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे सभीकी सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। इस अभिप्रायकी पुष्टि इससे और हो जाती है कि भट्ट अकलंक देवने अपने राजवार्तिक और लघीयस्त्रयमें स्वयं सकलादेश और विकलादेशके विषयमें दो प्रकारसे उल्लेख किया है। उन दोनों वचनोंको परस्पर विरोधी तो कहा नहीं जा सकता है। उससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि वास्तवमें सकलादेश और विकलादेशरूप वचनप्रयोगकी कोई निश्चित रूपरेखा स्थिर करना कठिन है अतएव इस विषयको वक्ताके अभिप्राय पर छोड़ देना

(१)–वात् उक्तञ्च अयञ्च स०।

ही अधिक श्रेयस्कर होगा। आज भी एक ही विषयको भिन्न दो व्यक्ति दो प्रकारसे और एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न कालमें भिन्न भिन्न प्रकारसे समझाते हैं। और व्याख्यानकी उन सब पद्धतियोंसे श्रोताको इष्ट तत्त्वका बोध भी हो जाता है। इसलिये यह निश्चित होता है कि सकलादेश और विकलादेशके वचन प्रयोगमें भेदक रेखा खीचनेकी अपेक्षा अनेकान्तका अनुसरण करना ही ठीक है। सकलादेश और विकलादेशके संबंधमें सबसे बड़ा मौलिक मतभेद यह है कि कुछ आचार्य सकलादेशके प्रतिपादक वचनोंको प्रमाणवाक्य और कुछ आचार्य सुनयवाक्य कहते हैं। तथा विकलादेशके प्रतिपादक वचनोंको कुछ आचार्य नयवाक्य और कुछ आचार्य दुर्नयवाक्य कहते हैं। स्वयं वीरसेन स्वामीने इस विषयमें दूसरे मतका अनुसरण किया है। तथा वे नयवाक्यके साथ 'स्यात्' शब्द न लगा कर 'अस्त्येव' इतने वचनको ही विकलादेश कहते हैं। पर उन्होंने ही आगे चलकर 'रस-कसाओ णाम कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा कसाओ' इस सूत्रकी व्याख्या करते समय जो सप्तभंगी दी है उसमें उन्हें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ है। वहाँ तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि 'यदि शब्दके साथ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न माना जाय तो वह अन्य अर्थका सर्वथा निराकरण कर देगा और इसप्रकार द्रव्यमें उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले अर्थको छोड़कर अन्य अशेष अर्थोंका निराकरण हो जायगा। व्यवहारमें जहाँ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न भी किया हो वहाँ उसे अवश्य समझ लेना चाहिये। 'स्यात्' शब्दका प्रयोग वक्ताकी इच्छा पर निर्भर है यदि वक्ता उस प्रकारके अभिप्रायवाला है तो उसका प्रयोग न करना भी इष्ट है।' इससे यह निष्पन्न हो जाता है कि यद्यपि वीरसेन स्वामीने यहाँ पर विकलादेशमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया है तो भी विकलादेशमें उसका प्रयोग उन्हें सर्वथा इष्ट नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है। प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्त-भंगीके विषयमें एक और मौलिक मतभेद पाया जाता है। श्वे० आ० सिद्धसेन गणिने आदिके तीन वचनोंको सकलादेश और अन्तिम चार वचनोंको विकलादेश कहा है। उनका कहना है कि आदिके तीन वचन एक धर्मद्वारा अशेष वस्तुका कथन करते हैं इसलिये वे सकला-देश हैं और अन्तिम चार वचन धर्मोंमें भी भेद करके वस्तुका कथन करते हैं इसलिये वे विकलादेश हैं। इसप्रकार सकलादेश और विकलादेशके स्वरूप और उनके वचनप्रयोगका विचार कर लेनेके अनन्तर कालादिकी अपेक्षा उनमें जो भेदाभेदवृत्ति और भेदाभेदरूप उपचार किया जाता है उस पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। सकलादेश कालादिकी अपेक्षा अभेदवृत्ति और अभेदोपचार रूपसे प्रवृत्त होता है। उसका खुलासा इसप्रकार है-'कथंचित् जीव है ही' यहाँ अस्तित्व विषयक जो काल है वही काल अन्य अशेष धर्मोंका भी है इसलिये समस्त धर्मोंकी एक वस्तुमें कालकी अपेक्षा अभेदवृत्ति पाई जाती है। जैसे अस्तित्व वस्तुका आत्मस्वरूप है वैसे अन्य अनन्त गुण भी आत्मस्वरूप हैं, इसलिये आत्मरूपकी अपेक्षा

एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। जो द्रव्य अस्तित्वका आधार है वह अन्य अनन्त धर्मोंका भी आधार है इसलिये अर्थकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। वस्तुसे अस्तित्वका जो तादात्म्यलक्षण संबन्ध है वही अन्य अनन्त गुणोंका भी है। अतः संबन्धकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। गुणीसे संबन्ध रखनेवाला जो देश अस्तित्वका है वही अन्य अनन्त गुणोंका भी है। इसप्रकार गुणिदेशकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। जो उपकार अस्तित्वके द्वारा किया जाता है वही अन्य अनन्त धर्मोंके द्वारा भी किया जाता है। इसप्रकार उपकारकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। एक वस्तुरूपसे अस्तित्वका जो संसर्ग है वही अनन्त धर्मोंका भी है। इसप्रकार संसर्गकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। जिसप्रकार 'अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मरूप वस्तुका वाचक है उसीप्रकार वह अशेष धर्मात्मक वस्तुका भी वाचक है। इसप्रकार शब्दकी अपेक्षा भी एक वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति पाई जाती है। यह सब व्यवस्था पर्यायार्थिकनयको गौण और द्रव्यार्थिकनयको प्रधान करके बनती है। परन्तु पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता रहने पर अभेदवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि इस नयकी विवक्षासे एक वस्तुमें एक समय अनेक गुण संभव नहीं हैं। यदि एक कालमें अनेक गुण माने भी जायं तो उन गुणोंकी आधारभूत वस्तुमें भी भेद मानना पड़ेगा। तथा एक गुणसे संबन्ध रखनेवाला जो वस्तुरूप है वह अन्यका नहीं हो सकता और जो अन्यसे सम्बन्ध रखनेवाला वस्तुरूप है वह उसका नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जाय तो उन गुणोंमें भेद नहीं हो सकेगा। तथा एक गुणका आश्रयभूत अर्थ भिन्न और दूसरे गुणका आश्रयभूत अर्थ भिन्न है। यदि गुणभेदसे आश्रयभेद न माना जाय तो एक आश्रय होनेसे गुणोंमें भेद नहीं रहेगा। तथा सम्बन्धीके भेदसे सम्बन्धमें भी भेद देखा जाता है, क्योंकि नाना सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें एक सम्बन्ध नहीं बन सकता है। तथा अनेक उपकारियोंके द्वारा जो उपकार किये जाते हैं वे अलग अलग रहते हैं उन्हें एक नहीं माना जा सकता है। तथा प्रत्येक गुणका गुणिदेश भिन्न है वह एक नहीं हो सकता। यदि अनन्त गुणोंका एक गुणिदेश मान लिया जाय तो वे गुण अनन्त न होकर एक हो जायंगे। अथवा भिन्न भिन्न अर्थोंके गुणोंका भी एक गुणिदेश हो जायगा। तथा प्रत्येक संसर्गीकी अपेक्षा संसर्गमें भी भेद है वह एक नहीं हो सकता। इसीप्रकार प्रतिपाद्य विषयके भेदसे प्रत्येक शब्द जुदा जुदा है। यदि सभी गुणोंको एक शब्दका वाच्य माना जायगा तो सभी अर्थ भी एक शब्दके वाच्य हो जायंगे। इसप्रकार कालादिककी अपेक्षा अर्थभेद पाया जाता है फिर भी उनमें अभेदका उपचार कर लिया जाता है। अतः इसप्रकार जिस वचनप्रयोगमें अभेदवृत्ति और अभेदोपचारकी विवक्षा रहती है वह सकलादेश है। तथा जिसमें काला-

§ १७२. किञ्च, न नयः प्रमाणम्, एकान्तरूपत्वात्, प्रमाणे चानेकान्तरूपसन्दर्शनात्[1]। उक्तञ्च–

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्[2] ॥७७॥
विधिर्विषक्त[3]प्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम्।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते[4] ॥७८॥

दिककी अपेक्षा भेदवृत्ति तथा भेदोपचार रहता है वह विकलादेश है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा यद्यपि वस्तु एक है निरंश है फिर भी पर्यायार्थिकयनकी अपेक्षा उसमें भेदवृत्ति या भेदोपचार किया जाता है जो कि कालादिककी अपेक्षासे होता है। एक धर्मका जो काल है वही काल अन्य धर्मोंका नहीं हो सकता। एक धर्मका जो आत्मरूप है वही अन्य धर्मोंका नहीं हो सकता। एक धर्मका जो आधार है वही दूसरे धर्मोंका नहीं हो सकता। एक धर्मका जो संबन्ध है वही अन्य धर्मोंका नहीं हो सकता। अस्तित्वका जो गुणिदेश है वही अन्य धर्मोंका नहीं हो सकता। एक धर्मके द्वारा जो उपकार किया जाता है वही अन्य धर्मोंके द्वारा नहीं किया जा सकता। जो एक धर्मका संसर्ग है वही अन्य धर्मोंका नहीं हो सकता। एक धर्मका वाचक जो शब्द है वही अन्य धर्मोंका वाचक नहीं हो सकता। इसप्रकार भेदवृत्तिकी प्रधानतासे विकलादेश होता है। या इन आठोंकी अपेक्षा अभेदके रहते हुए भेदका उपचार करके विकलादेश होता है। इनमेंसे सकलादेश सुनयवाक्य होते हुए भी प्रमाणाधीन हैं क्योंकि उसके द्वारा अशेष वस्तु कही जाती है और विकलादेश दुर्नयवाक्य होते हुए भी नयाधीन है, क्योंकि उसके द्वारा कथंचित् एकान्तरूप वस्तु कही जाती है। तथा विकलादेशके प्रतिपादक वचनको दुर्नयवाक्य इसलिये कहा है कि उनमें सर्वथा एकान्तका निषेध करनेवाला 'स्यात्' शब्द नहीं पाया जाता है और नयाधीन इसलिये कहा है कि उनके द्वारा वक्ताका अभिप्राय सर्वथा एकान्तके कहनेका नहीं रहता है।

नय प्रमाण नहीं है इसे प्रकारान्तरसे दिखाते हैं–

§ १७२. नय एकान्त रूप होता है और प्रमाणमें अनेकान्तरूपका अवभास होता है, इसलिये भी नय प्रमाण नहीं है। कहा भी है–

"हे जिन आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नयसे सिद्ध होता हुआ अनेकान्तरूप है, क्योंकि प्रमाणकी अपेक्षा वह अनेकान्तरूप है और अर्पित नयकी अपेक्षा एकान्तरूप है ॥७७॥"

"हे जिन आपके मतमें प्रतिषेधरूप धर्मके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुआ विधि, अर्थात्

(१) तुलना–"न नयः प्रमाणं तस्यैकान्तविषयत्वात्..."–ध० आ० प० ५४२। (२) बृहत्स्व० श्लो० १०३। (३) बृहत्स्व० श्लो० ५२। (४) "स दृष्टान्तसमर्थन इति। न नयो नयविषयः [illegible]

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥७९॥" इति ।

§ १७३. किञ्च, न विधिज्ञानं नयः तस्यासत्त्वात् । कथम्? अविषयीकृतप्रतिषेधस्य विधावेव प्रवर्तमानतया सङ्करभावमापन्नस्य जडस्य बोधरूपतया सत्त्वविरोधात् । न प्रतिषेधज्ञानं नयः; तस्याप्यसत्त्वात् । कुतः? निर्विषयत्वात् । कथं निर्विषयता? नीरूपत्वतः

विधिनिषेधात्मक पदार्थ, प्रमाणका विषय है । अतः वह प्रमाण है । तथा इस प्रमाणके विषयमेंसे किसी एक धर्मको मुख्य और दूसरेको गौण करके मुख्य धर्मके नियमन करनेमें जो हेतु है वह नय है जिसके विषयका दृष्टान्तके द्वारा समर्थन होता है ॥७८॥"

"स्याद्वाद अर्थात् प्रमाणके द्वारा विषय किये गये अर्थोंके विशेष अर्थात् पर्यायोंका निर्दोष हेतुके बलसे जो द्योतन करता है वह नय है ॥७९॥"

§ १७३. तथा केवल विधिको विषय करनेवाला ज्ञान नय नहीं है। क्योंकि केवल विधिको विषय करनेवाले ज्ञानका अभाव है । अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान ही नहीं है जो केवल विधिको ही विषय करता हो ।

शंका–केवल विधिको विषय करनेवाले ज्ञानका अभाव क्यों है ?

समाधान–क्योंकि जो ज्ञान प्रतिषेधको विषय नहीं करेगा वह विधिमें ही प्रवर्तमान होनेसे संकरभावको प्राप्त हो जायगा अर्थात् केवल विधिमें ही प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञान सर्वत्र केवल विधि ही करेगा अतः वह जिसप्रकार अपनेमें ज्ञानत्व आदिका विधान करेगा उसी प्रकार जडत्व आदि पररूपोंका भी विधान करेगा। अतः ज्ञान और जड़में सांकर्य हो जायगा और इसीलिये उसका जड़से कोई भेद न रहनेसे वह जड़ हो जायगा । अतएव केवल विधिको विषय करनेवाले ज्ञानका ज्ञानरूपसे सत्त्व माननेमें विरोध आता है ।

उसीप्रकार केवल प्रतिषेधको विषय करनेवाला ज्ञान भी नय नहीं है, क्योंकि केवल विधिज्ञानकी तरह केवल प्रतिषेध विषयक ज्ञानका भी सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका–केवल प्रतिषेध विषयक ज्ञानका सत्त्व क्यों नहीं पाया जाता है ?

समाधान–क्योंकि वह निर्विषय है अर्थात् उसका कोई विषय नहीं है, अतः उसका सत्त्व नहीं पाया जाता है ।

शंका–प्रतिषेधविषयक ज्ञान निर्विषय क्यों है ?

समाधान–क्योंकि केवल प्रतिषेधका कोई स्वरूप नहीं है इसलिये वह प्रमाण ज्ञानका

नास्तित्वादि (दिः) दृष्टान्तसमर्थनो दृष्टान्ते घटादौ समर्थनं परं प्रति स्वरूपनिरूपणं यस्य, दृष्टान्तस्य वा समर्थनमसाधारणस्वरूपनिरूपणं येनासौ दृष्टान्तसमर्थनः।"–बृहत्स्व० टी० ।

(१) "सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः । स्याद्वादप्रविभक्तार्थ····"–आप्तमी० श्लो० १०६। "स्याद्वादः प्रमाणं कारणे कार्योपचारात्, तेन प्रविभक्ताः प्रकाशिता अर्थाः ते स्याद्वादप्रविभक्तार्थाः, तेषां विशेषाः पर्यायाः जात्यहेत्ववष्टम्भबलेन तेषां व्यञ्जकः प्ररूपकः यः स नय इति ।"–ध० आ० प० ५४२। (२)–स्य स्वबोध–अ०, आ० । (३)–ता विरूप–अ०, आ०।

कर्मभावमनापन्नस्य प्रतिषेधस्यालम्बनार्थत्वविरोधात्। न विषयीकृतविधिप्रतिषेधात्मकवस्त्ववगमनं नयः; तस्यानेकान्तरूपस्य प्रमाणत्वात्। न च नयोऽनेकान्तः;

"नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥८०॥"

इत्यनया कारिकया सह विरोधात्।

§ १७४. "प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः ॥८१॥" इति तत्त्वार्थसूत्रान्नयोऽपि प्रमाणमिति चेत् न; प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्ववगममवलोक्य 'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः' इति प्रतिपादि-

विषय नहीं हो सकता और प्रमाण ज्ञानका विषय न होनेसे उसे उसका आलम्बनभूत अर्थ माननेमें विरोध आता है।

विशेषार्थ–प्रमाण ज्ञान समग्र वस्तुको विषय करता है और वस्तु विधिप्रतिषेधात्मक है। अर्थात् वस्तु न केवल विधिरूप है और न केवल प्रतिषेधरूप। अतएव केवल विधिको विषय करनेवाला और केवल प्रतिषेधको विषय करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि विषयके अभावमें विषयीका सद्भाव माननेमें विरोध आता है।

उसीप्रकार विधिप्रतिषेधात्मक वस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान भी नय नहीं है, क्योंकि विधिप्रतिषेधात्मक वस्तु अनेकान्तरूप होती है, इसलिये वह प्रमाणका विषय है, नयका नहीं। दूसरे, नय अनेकान्तरूप नहीं है। फिर भी यदि उसे अनेकान्तरूप माना जाय तो–

"नैगमादि नयोंके और उनकी शाखा उपशाखारूप उपनयोंके विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायोंका कथंचित् तादात्म्यरूप जो समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित् एकरूप और कथंचित् अनेकरूप है ॥८०॥"

इस कारिकाके साथ विरोध प्राप्त होता है। अर्थात् उक्त कारिकामें नयों और उपनयोंको एकान्तरूप अर्थात् एकान्तको विषय करनेवाला बतलाया है अतः नयको अनेकान्तरूप अर्थात् अनेकान्तको विषय करनेवाला माननेमें विरोध आता है।

§ १७४. **शंका**–'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः' अर्थात् "प्रमाण और नयसे जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है ॥८१॥" तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनके अनुसार नय भी प्रमाण है।

समाधान–नहीं, क्योंकि जिसप्रकार प्रमाणसे वस्तुका बोध होता है उसीप्रकार नयवाक्यसे भी वस्तुका ज्ञान होता है, यह देखकर तत्त्वार्थसूत्रमें 'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः' इसप्रकार प्रतिपादन किया है।

(१)–स्यावलम्ब–अ०, स०। (२) आप्तमी० श्लो० १०७। (३) "प्रमाणनयैरधिगमः"–तत्त्वार्थसू० १।६। "प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगम इत्यनेन सूत्रेणापि नेदं व्याख्यानं विघटते। कुतः? प्रमाणनयाभ्यामुत्पन्न-वाक्येन भावदप्युपचारतः प्रमाणनयौ ताभ्यामुत्पन्नबोधौ विधिप्रतिषेधात्मकवस्तुविषयत्वात् प्रमाणतामादधा-नावपि कार्ये कारणोपचारतः प्रमाणनयावित्यस्मिन् सूत्रे परिगृहीतौ नयवाक्यादुत्पन्नबोधः प्रमाणमेव न नय इत्येतस्य ज्ञापनार्थम्, ताभ्यां वस्त्वधिगम इति भण्यते।"–ध० आ० प० ५४२।

तत्वात्। "अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः ॥८२॥" इति। अयं वाक्यनयः सारसंग्रहीयः। "प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ॥८३॥" अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः। अस्यार्थ उच्यते–प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेशीत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां प्रमाणपरिगृहीतानामित्यर्थः, तेषामर्थानामस्तित्व-नास्तित्व-नित्यानित्याद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः, तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः स नयः।

§ १७५. "प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नयः ॥८४॥" इति।

अयं वाक्यनयः प्रभाचन्द्रीयः। अस्यार्थः–यः प्रमाणव्यपाश्रयः तत्परिणामविकल्पवशीकृतानामर्थविशेषाणां प्ररूपणे प्रवणः, प्रणिधानं प्रणिधिः प्रयोगो व्यवहारात्मा स नयः।

"अनन्तपर्यायात्मक वस्तुकी किसी एक पर्यायका ज्ञान करते समय निर्दोष युक्तिकी अपेक्षासे जो दोषरहित प्रयोग किया जाता है वह नय है ॥८२॥" यह वाक्यनयका लक्षण सारसंग्रह ग्रन्थका है। "जो प्रमाणके द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थके विशेषका अर्थात् किसी एक धर्मका कथन करता है वह नय है ॥८३॥" यह वाक्यनयका लक्षण तत्त्वार्थभाष्य अर्थात् तत्त्वार्थराजवार्तिकका है। आगे इसका अर्थ कहते हैं–प्रकर्षसे अर्थात् संशयादिकसे रहित होकर जानना प्रमाण है। अर्थात् जो ज्ञान सकलादेशी होता है वह प्रमाण है यह इसका तात्पर्य है। उस प्रमाणके द्वारा प्रकाशित अर्थात् प्रमाणके द्वारा ग्रहण किये गये अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि अनन्तधर्मात्मक जीवादि पदार्थोंके जो विशेष अर्थात् पर्यायें हैं उनका प्रकर्षसे अर्थात् दोषोंके संबन्धसे रहित होकर जो प्ररूपण करता है वह नय है।

§ १७५. "जो प्रमाणके आधीन है और ज्ञाताके अभिप्रायके द्वारा विषय किये गये अर्थविशेषोंके प्ररूपण करनेमें समर्थ है उस वचनप्रयोगको नय कहते हैं ॥८४॥" यह वाक्य-नयका लक्षण प्रभाचन्द्रकृत है। इसका अर्थ यह है–जो प्रमाणके आश्रय है, तथा प्रमाणके आश्रयसे होनेवाले परिणामोंके विकल्पोंके अर्थात् ज्ञाताके अभिप्रायके विषयभूत अर्थविशेषोंके प्ररूपण करनेमें समर्थ है उस प्रयोगको अथवा व्यवहारात्मा अर्थात् प्रयोक्ताको नय कहते हैं।

(१)–पेक्षया निरव–आ०। (२) "सारसंग्रहेप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य··"–ध० आ० प० ५४२। (३) राजवा० १।३३। "तथा पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव तद्यथा प्रमाण-प्रकाशितार्थ··"–ध० आ० प० ५४२। (४) "प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेश····"–राजवा० १।३३। (५)–य परिमाण–आ०। (६) "तथा प्रभाचन्द्रादिभट्टारकैरप्यभाणि प्रमाणव्यपाश्रयपरिणाम··"–ध० आ० प० ५४२। (७) "प्रमाणव्यपाश्रयः तत्परिणामविकल्पवशीकृतानामर्थविशेषाणां प्ररूपणे प्रवणः प्रणिधानं प्रणिधिः प्रयोगो व्यवहारात्मा प्रयोक्ता वा स नयः। स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वात् भावानां श्रेयोपदेशः··"–ध० आ० प० ५४२। (८) "···व्यवहारात्मा प्रयोक्ता वा स नयः"–ध० आ० प० ५४२।

§ १७६. किमर्थं नय उच्यते ? "स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः ॥८५॥" अस्यार्थः–श्रेयसो मोक्षस्य अपदेशः कारणम्; भावानां याथात्म्योपलब्धिनिमित्तभावात्[1]।

§ १७७. स एष नयो द्विविधः[2]–द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायान्, द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम्[3]। तच्च द्रव्यमेकद्वित्रिचतुःपंचषट्सप्ताष्टनवदशैकादशादिभेदेनानन्तविकल्पम्। तद्यथा–'सत्ता' इत्येकं द्रव्यम्। देशादिना भिन्नायाः सत्तायाः कथमेकत्वमिति चेत्; न; देशादेस्सत्तातोऽभिन्नस्य व्यवच्छेदक-

विशेषार्थ–पहले अन्तरंग नयका लक्षण कह आये हैं। वहां यह भी बता आये हैं कि अन्तरंग नयसे ज्ञानात्मक नय अभिप्रेत है। अब यहां वचनात्मक नयका लक्षण कहा गया है। इसका यह अभिप्राय है कि जो वचन एक धर्मके द्वारा वस्तुका कथन करता है वह वचन वचनात्मक नय कहलाता है।

§ १७६. शंका–नयका कथन किसलिये किया जाता है ?

समाधान–"यह नय, पदार्थोंका जैसा स्वरूप है उस रूपसे उनके ग्रहण करनेमें निमित्त होनेसे मोक्षका कारण है ॥८५॥" इसलिये नयका कथन किया जाता है। मूलवाक्यका शब्दार्थ यह है कि नय श्रेयस् अर्थात् मोक्षका अपदेश अर्थात् कारण है, क्योंकि वह पदार्थोंके यथार्थरूपसे ग्रहण करनेमें निमित्त है।

§ १७७. वह नय दो प्रकारका है–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता है या उन उन पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है। वह द्रव्य एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस, और ग्यारह आदि भेदोंकी अपेक्षा अनन्त विकल्परूप है। जैसे–'सत्ता' यह एक द्रव्य है।

शंका–देशादिककी अपेक्षा सत्तामें भेद पाया है, इसलिये वह एक कैसे हो सकती है ?

(१)–त् एष अ०। (२) "नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च"–सर्वार्थसि० १।६। "द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिक इति। अथवा···द्रव्यार्थिकः···पर्यायार्थिकः"–राजवा० १।३३। "तत्र मूलनयौ द्रव्य-पर्यायार्थगोचरौ······"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५२१। लघी० स्ववृ० पृ० १०। "तच्च सच्चतुर्विधम्; तद्यथा द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकमिति। एवं द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः, उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकं च पर्यायनयः"–तत्त्वार्थभा०, हरि० ५।३१। "दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि"–सन्मति० १।३। "तेषां वा शासनानां द्रव्यार्थपर्यायार्थौ नयौ द्वौ समासतो मूलभेदौ तत्प्रभेदाः संग्रहादयः।"–नयचक्रवृ० प० ५२६। विशेषा० गा० ४३३१। तुलना–"दव्वत्थिएण जीवा··पज्जयणयेण जीवा··"–नियम० गा० १९। (३) "दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते··"–पञ्चा० गा० ९। "यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि"–सर्वार्थ० ५।२। लघी० स्व० वृ० पृ० ११। "द्रोर्विकारो द्रव्यम्, द्रोरवयवो वा द्रव्यम्, द्रव्यं च भव्ये भवतीति भव्यं द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रूयते वा, द्रवणात् गुणानां गुणसन्द्रावो द्रव्यम्।"–नयचक्रवृ० प० ४४१। विशेषा० गा० २८। "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।"–पात० महाभा० ५।१।११९। (४) तुलना–"सदित्येकं वस्तु सर्वस्य सतोऽविशेषात्··"–न० च० प० ५४२।

त्वविरोधात्। न चैकस्मिन् व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकभावोऽस्तीत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्; द्वित्व-निबन्धनस्य तस्यैकत्वेऽसंभवात्। नाभावो भावस्य व्यवच्छेदकः; नीरूपस्यार्थक्रिया-कारित्वविरोधात्। अविरोधे वा व्यवच्छिन्नाऽव्यवच्छिन्नविकल्पद्वयं नातिवर्तते। नाव्य-वच्छिन्नः व्यवच्छिनत्ति; एकत्वमापन्नस्य व्यवच्छेदकत्वविरोधात्। न व्यवच्छिन्नो व्यवच्छिनत्ति; स्वपरविकल्पद्वयानतिवृत्तेः। न स्वतः; साध्येऽपि तथा प्रसङ्गात्। न परतः; अनवस्थाप्रसङ्गात्। ततस्सत्ता एकैवेति सिद्धम्। सत्येवं सकलव्यवहारोच्छेदः

समाधान–नहीं, क्योंकि देशादिक सत्तासे अभिन्न हैं, इसलिये वे सत्ताके व्यव-च्छेदक अर्थात् भेदक नहीं हो सकते हैं। अर्थात् देशादिक स्वयं सत्स्वरूप हैं, अतः उनके निमित्तसे सत्तामें भेद नहीं हो सकता है। तथा एक ही वस्तुमें व्यवच्छेद्य-व्यव-च्छेदक भाव मानना युक्त भी नहीं है, क्योंकि वह दोके निमित्तसे होता है इसलिये उसका एकमें पाया जाना संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि अभाव भावका व्यवच्छेदक होता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव स्वयं नीरूप अर्थात् स्वरूपरहित है, इसलिये उसे व्यवच्छेदरूप अर्थक्रियाका कर्ता माननेमें विरोध आता है। अर्थात् वह भेदरूप अर्थक्रिया नहीं कर सकता है। यदि कहा जाय कि स्वयं नीरूप होते हुए भी अभाव अर्थक्रियाका कर्ता है ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता है तो उसके संबन्धमें निम्न दो विकल्प हुए विना नहीं रहते। वह अभाव भावसे व्यवच्छिन्न अर्थात् भिन्न है कि अव्यवच्छिन्न अर्थात् अभिन्न ? स्वयं अव्यवच्छिन्न अर्थात् अभिन्न हो कर तो अभाव भावका व्यवच्छेदक हो नहीं सकता, क्योंकि जो स्वयं भावसे अभिन्न है उसे व्यवच्छेदक माननेमें विरोध आता है। तथा व्यवच्छिन्न होकर भी अभाव भावका व्यवच्छेदक नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'अभाव भावसे स्वतः व्यवच्छिन्न है या परकी अपेक्षा व्यवच्छिन्न है' ये दो विकल्प हुए विना नहीं रहते। अभाव स्वतः तो व्यवच्छिन्न हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर साध्यमें भी इसीप्रकारका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जिसप्रकार अभाव स्वतः व्यवच्छिन्न है उसीप्रकार सत्ता भी स्वतः व्यवच्छिन्न हो जायगी। अतः फिर अभावको उसका व्यवच्छेदक माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। तथा अभाव परकी अपेक्षा भी व्यवच्छिन्न नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् वह पर भी किसी दूसरे परसे व्यवच्छिन्न होगा और वह पर भी किसी तीसरे परसे व्यवच्छिन्न होगा, इसप्रकार उत्तरोत्तर विचार करने पर अन-वस्था दोष प्राप्त होता है। इसप्रकार अभाव भी सत्ताका व्यवच्छेदक सिद्ध नहीं होता है, इसलिये सत्ता एक ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका–सत्ताको सर्वथा एक मानने पर देशादिके भेदसे होनेवाले सकल व्यवहारोंका उच्छेद प्राप्त होता है ?

प्रसजेदिति चेत्; न; नयस्य विषयप्रदर्शनार्थमुक्तेः ।

§ १७८. द्विविधं[1] वा द्रव्यं जीवाजीवद्रव्यभेदेन। चेतनालक्षणो जीवः। स च एकः; चेतनाभावेन भेदाभावात्। तद्विपरीतोऽजीवः। सोऽप्येकः; निश्चेतनत्वेन भेदाभावात्। न तावन्योन्यव्यवच्छेदकौ; इतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात्। न स्वतः स्वस्य व्यवच्छेदकौ[2]; एकस्मिन् तद्विरोधात्। न च तयोः साङ्कर्यम्; चेतनाचेतनयोः साङ्कर्यविरोधात्। ततः स्वभावाद्द्विविधं द्रव्यमिति सिद्धम्। न च स्वभावः परपर्यनुयोगार्हः; अतिप्रसङ्गात्।

समाधान–नहीं, क्योंकि नयका विषय बतलानेके लिये ही यह कथन किया गया है।

§ १७८. अथवा, जीवद्रव्य और अजीवद्रव्यके भेदसे द्रव्य दो प्रकारका है। उनमेंसे जिसका लक्षण चेतना है वह जीव है। वह जीवद्रव्य चैतन्य सामान्यकी अपेक्षा एक है, क्योंकि चेतनारूपसे उसमें कोई भेद नहीं पाया जाता है। जीवके लक्षणसे विपरीत लक्षणवाला अजीव है, अर्थात् जिसका लक्षण अचेतना है वह अजीव है। वह भी अचैतन्य सामान्यकी अपेक्षा एक है, क्योंकि अचैतन्य सामान्यकी अपेक्षा उसमें कोई भेद नहीं पाया जाता है। जीव और अजीव द्रव्य परस्परमें एक दूसरेका व्यवच्छेद करके रहते हैं सो भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् अजीव द्रव्य से व्यवच्छेद होने पर जीवद्रव्यकी सिद्धि होगी और जीवद्रव्यसे व्यवच्छेद होने पर अजीव द्रव्यकी सिद्धि होगी। ये दोनों द्रव्य स्वतः अपने व्यवच्छेदक हैं ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक पदार्थमें व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकभावके माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि ये दोनों द्रव्य जब एक दूसरेका व्यवच्छेद करके नहीं रहते हैं तो इन दोनोंमें सांकर्य हो जायगा, अर्थात् जीव अजीवरूप और अजीव जीवरूप हो जायगा। सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चेतन और अचेतन ये दोनों द्रव्य स्वभावसे पृथक् पृथक् हैं, इसलिये इनका सांकर्य माननेमें विरोध आता है, इसलिये स्वभावसे ही दो प्रकारका द्रव्य है यह सिद्ध हो जाता है। और स्वभाव दूसरेके द्वारा प्रश्नके योग्य होता नहीं है, क्योंकि अग्नि उष्ण क्यों है, जल शीतल क्यों है, इसप्रकार यदि स्वभावके विषयमें ही प्रश्न होने लगे तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–जीवका चेतनरूप स्वभाव ही जीवको अजीवसे पृथक् सिद्ध कर देता है। उसीप्रकार अजीवका अचेतनरूप स्वभाव ही अजीवको जीवसे पृथक् सिद्ध कर देता है। चेतनत्व और अचेतनत्व जब कि जीव और अजीवके स्वभाव ही हैं तो वे स्वभावसे ही अलग अलग हैं। उन्हें एक दूसरेका व्यवच्छेदक मानना ठीक नहीं है। इसप्रकार जीव और अजीव ये दोनों द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं यह जानना चाहिये।

(१) "सर्वं द्विविधं वस्तु जीवाजीवभावाभ्यां विधिनिषेधाभ्यां मूर्तामूर्तत्वाभ्यामस्तिकायानस्तिकायभेदाभ्याम्"–ध० आ० प० ५४२। (२)–दको ए–आ०।

§ १७९. त्रिविधं वा द्रव्यम्, भव्याभव्यानुभयभेदेन। संसार्यसंसारिभेदेन जीवद्रव्यं द्विविधम्, अजीवद्रव्यं पुद्गलापुद्गलभेदेन द्विविधम्, एवं चतुर्विधं वा द्रव्यम्। जीवद्रव्यं त्रिविधं भव्याभव्यानुभयभेदेन, अजीवद्रव्यं द्विविधं मूर्तामूर्तभेदेन, एवं पंचविधं वा द्रव्यम्। जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशभेदेन षड्विधं वा। जीवाजीवास्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध-मोक्षभेदेन सप्तविधं वा। जीवाजीव-कर्मास्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध-मोक्षभेदेनाष्टविधं वा। जीवाजीव-पुण्य-पापास्रव-संवर-निर्जर-बन्ध-मोक्षभेदेन नवविधं वा। एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंचेन्द्रिय-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशभेदेन दशविधं वा। पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पति-त्रस-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशभेदेनैकादशविधं वा। पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पति-समनस्कामनस्कत्रस-पुद्गल-धर्माधर्मकालाकाशभेदेन द्वादशविधं वा। जीवद्रव्यं त्रिविधं

§ १७९. अथवा भव्य, अभव्य और अनुभयके भेदसे द्रव्य तीन प्रकारका है। अथवा संसारी और मुक्तके भेदसे जीव द्रव्य दो प्रकारका है। तथा पुद्गल और अपुद्गलके भेदसे अजीव द्रव्य दो प्रकारका है इसप्रकार द्रव्य चार प्रकारका भी है। अथवा, भव्य, अभव्य और अनुभयके भेदसे जीव द्रव्य तीन प्रकारका है तथा मूर्त और अमूर्तके भेदसे अजीव द्रव्य दो प्रकारका है, इसप्रकार द्रव्य पांच प्रकारका भी है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे द्रव्य छह प्रकारका भी है। अथवा, जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षके भेदसे द्रव्य सात प्रकारका भी है। अथवा, जीव, अजीव, कर्म, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षके भेदसे द्रव्य आठ प्रकारका भी है। अथवा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षके भेदसे द्रव्य नौ प्रकारका भी है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे द्रव्य दस प्रकारका भी है। पृथिवीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे द्रव्य ग्यारह प्रकारका भी है। अथवा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, सैनी त्रस, असैनी त्रस, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे द्रव्य बारह प्रकारका भी है। अथवा भव्य, अभव्य और अनुभयके भेदसे जीव द्रव्य तीन प्रकारका है। और पुद्गल द्रव्य छह प्रकारका है–

(१) "अथवा सर्वं वस्तु त्रिविधं द्रव्यगुणपर्यायैः। चतुर्विधं वा बद्धमुक्तबन्धमोक्षकारणैः। सर्वं वस्तु पंचविधं वा औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभेदैः। सर्वं वस्तु षड्विधं वा जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशभेदैः। सर्वं वस्तु सप्तविधं वा, बद्धमुक्तजीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशभेदैः। सर्वं वस्त्वष्टविधं वा भव्याभव्यमुक्तजीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशभेदैः। सर्वं वस्तु नवविधं वा जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षभेदैः। सर्वं वस्तु दशविधं वा एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशभेदैः। सर्वं वस्त्वेकादशविधं वा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसजीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशभेदैः।"–ध० आ० प० ५४२–५४३। गो० जीव० जी० गा० ३५६।

भव्याभव्यानुभयभेदेन, पुद्गलद्रव्यं षड्विधं बादरबादर-बादर-बादरसूक्ष्म-सूक्ष्मबादर-सूक्ष्म-सूक्ष्मसूक्ष्मं चेति। अत्रोपयोगिनी गाथा–

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू।
छव्विहमेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥८६॥"

शेषद्रव्याणि चत्वारि धर्माधर्मकालाकाशभेदेन। एवं त्रयोदशविधं वा द्रव्यम्। एवमेतेन क्रमेण जीवाजीवद्रव्याणां भेदः कर्तव्यः यावदन्त्यविकल्प इति।

बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। अब यहाँ पुद्गलके छह भेदोंके विषयमें उपयोगी गाथा दी जाती है–

"जिनेन्द्रदेवने पृथिवी, जल, छाया, नेत्र इन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्म और परमाणु इसप्रकार पुद्गलद्रव्य छह प्रकारका कहा है ॥८६॥"

विशेषार्थ–बादरबादर आदिके भेदसे ऊपर पुद्गलके छह भेद गिनाये हैं और गाथामें पृथिवी आदिके भेदसे पुद्गलके छह भेद गिनाये हैं सो इसका यह अभिप्राय है कि ऊपर जाति सामान्यकी अपेक्षा पुद्गलके जो छह भेद किये गये हैं गाथामें दृष्टान्तरूपसे उस उस जातिके पुद्गलका नामनिर्देश द्वारा ग्रहण किया गया है। अर्थात् जिस पुद्गलका छेदन भेदन किया जा सकता है तथा जिसे एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है उसे बादरबादर कहते हैं। जैसे, पृथिवी। जिस पुद्गलका छेदन भेदन तो न किया जा सके किन्तु जिसे एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके उसे बादर कहते हैं। जैसे, जल। जिस पुद्गलका न तो छेदन भेदन ही किया जा सके और न एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ही ले जाया जा सके, किन्तु जो नेत्रका विषय हो उसे बादरसूक्ष्म कहते हैं। जैसे, छाया। नेत्रके बिना शेष चार इन्द्रियोंका विषय सूक्ष्मस्थूल है। जो द्रव्य देशावधि और परमावधिका विषय होता है वह सूक्ष्म है। जैसे, कार्मणस्कन्ध। और जो सर्वावधिज्ञानका विषय है वह सूक्ष्मसूक्ष्म है। जैसे, परमाणु।

धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे शेष द्रव्य चार प्रकारके हैं। इसप्रकार तीन प्रकारका जीवद्रव्य, छह प्रकारका पुद्गलद्रव्य और चार प्रकारका शेष द्रव्य सब मिलकर तेरह प्रकारका भी द्रव्य है। इस क्रमसे अन्तिम विकल्पपर्यन्त जीव और अजीव द्रव्योंके भेद करते जाना चाहिये।

---

(१) गो० जीव० गा० ६०२। "पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाओग्गा। कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति"–पञ्चा० पृ० १३०, जयसे०। तुलना–"अइथूलथूलथूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च। सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं॥ भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा। थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया॥ छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि। सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य॥ सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो। तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि॥"–नियम० गा० २१–२४। (२) एवमनेन अ०।

§ १८०. अयं सर्वोऽपि द्रव्यप्रस्तारः सदादि-परमाणुपर्यन्तो नित्यः; द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्। न पर्यायस्तेभ्यः पृथगुत्पद्यते; सत्तादिव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात्। न चोत्पत्तिरप्यस्ति; असतः खरविषाणस्येवोत्पत्तिविरोधात्। ततः असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभा (-णभा-) वाच्च सतः आविर्भाव एव उत्पादः, तस्यैव तिरोभाव एव विनाशः, इति द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तु नित्यत्वान्नोत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम्। एतद्द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। तद्भावलक्षणसामान्येनाभिन्नं सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत्।

§ १८०. सत्‌से लेकर परमाणु तक यह सब द्रव्यप्रस्तार (द्रव्यका फैलाव) नित्य है, क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा पृथग्भूत पर्यायोंकी सत्ता नहीं पाई जाती है। पर्याय द्रव्यसे पृथक् उत्पन्न होती हैं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ता आदिरूप द्रव्यसे भिन्न पर्यायें नहीं पाई जाती हैं। तथा सत्ता आदिरूप द्रव्यसे पर्यायोंको पृथक् मानने पर वे असत्‌रूप हो जाती हैं अतः उनकी उत्पत्ति भी नहीं बन सकती है। और खरविषाणकी तरह असत्‌रूप अर्थकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। तथा जो पदार्थ सत्‌रूप नहीं है वह किया नहीं जा सकता है, कार्यको उत्पन्न करनेके लिये उपादान कारणका ग्रहण किया जाता है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं पाई जाती है, समर्थ कारण भी शक्य कार्यको ही करते हैं तथा पदार्थोंमें कार्यकारणभाव पाया जाता है, इसलिये सत्‌का आविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है ऐसा समझना चाहिये। इसप्रकार द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे समस्त वस्तुएं नित्य हैं इसलिये न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है, यह निश्चित हो जाता है। इसप्रकार ऊपर कहा गया द्रव्य जिस नयका विषय है वह द्रव्यार्थिकनय है। तद्भावलक्षणसामान्यसे अभिन्न और सादृश्यलक्षण सामान्यसे भिन्न और अभिन्न वस्तुको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, यह उपर्युक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये।

विशेषार्थ–द्रव्यार्थिकनय द्रव्यको विषय करता है। इस नयकी दृष्टिमें सभी वस्तुएँ नित्य हैं। न कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई वस्तु नष्ट होती है। वस्तुका अविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है। पर्यायें भी द्रव्यसे पृथक् नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यसे पृथक् पर्यायें पाई ही नहीं जाती हैं। यदि पर्यायको द्रव्यसे पृथक् माना जाय तो उसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, क्योंकि जो वस्तु सर्वथा असत् है उसकी

(१) तुलना–"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥"–सांख्यका० ९। (२)–कस्य वस्तुनः सर्वस्य वस्तुनित्य–स०। (३) "द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः"–सर्वार्थसि० १।६। "द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्येति वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽयं द्रव्यार्थः··"–नयचक्रवृ० पृ० ४।

§१८१. परि-भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदं एति गच्छतीति पर्यायः, स पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकाशेषविषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पाटयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्यः। अत्रोपयो-

उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। जैसे गधेके सींग सर्वथा असत् हैं अतः वे उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा यदि पर्याय सर्वथा असत् है तो प्रतिनियत कार्यके लिये प्रतिनियत उपादान कारणका ग्रहण करना आवश्यक नहीं होगा, क्योंकि जैसे धान्यके बीजोंमें धान्यरूप पर्यायका अभाव है वैसे ही कोदोंके बीजोंमें भी धान्यरूप पर्यायका अभाव है। अतः धान्यका इच्छुक पुरुष धान्य उत्पन्न करनेके लिये कोदोंके बीज भी बो सकता है, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः धान्यरूप बीजमें धान्यफलरूप पर्याय कथंचित् सत् है यह सिद्ध होता है। तथा यदि पर्याय सर्वथा असत् है तो सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है, क्योंकि प्रतिनियत कारणसे प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति देखी जाती है। अतः पर्याय कथंचित् सत् सिद्ध होती है। तथा समर्थ कारण भी उसी पर्यायको कर सकते हैं जिसका करना शक्य होता है। किन्तु जो असत् है उसका करना शक्य नहीं है, जैसे कि खरविषाणका। अतः पर्यायको कथंचित् सत् मानना चाहिये। तथा प्रत्येक पर्यायका कोई न कोई कारण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पर्याय द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् सत् रूप है। तथा ऐसी पर्यायोंका व्यक्त हो जाना ही उत्पाद है और तिरोभाव ही विनाश है। अतः वस्तु नित्य है। तथा तद्भावसामान्य अर्थात् एक ही द्रव्यकी पूर्वोत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले ऊर्ध्वता सामान्यकी अपेक्षा अभिन्न है और सादृश्यलक्षण सामान्यकी अपेक्षा भिन्न और अभिन्न है। ऐसी नित्य वस्तु द्रव्यार्थिकनयका विषय जाननी चाहिये।

§१८१. पर्यायमें परि उपसर्गका अर्थ भेद है और उससे ऋजुसूत्रवचन अर्थात् वर्तमान वचनका विच्छेद जिस कालमें होता है वह काल लिया गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायमात्र है और उसके वचनका विच्छेदरूप काल भी वर्तमान समयमात्र होता है। इसप्रकार जो वर्तमान काल अर्थात् एक समयको प्राप्त होती है उसे पर्याय कहते हैं। यह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। सादृश्यलक्षण सामान्यसे भिन्न और अभिन्नरूप जो द्रव्यार्थिक नयका समस्त विषय है, ऋजुसूत्र वचनके विच्छेदरूप कालके द्वारा उसका विभाग करनेवाला पर्यायार्थिक नय है यह उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये। अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके विषयमें दो उपयोगी गाथाएं देते हैं–

(१) "पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः"–सर्वार्थसि० १।६। [illegible] पर्यायः। पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।"–ध० आ० पृ० ८४। [illegible] येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। [illegible]

गिन्यौ गाथे-

"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवायरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥८७॥
मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उजुसुदवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दादीया साहपसाहा सुहुमभेया ॥८८॥"

"तीर्थंकरके वचनोंकी सामान्य राशिका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और उन्हींके वचनोंकी विशेष राशिका मूल व्याख्यान करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प हैं ॥८७॥"

विशेषार्थ-द्रव्यार्थिक नय अभेदगामी दृष्टि और पर्यायार्थिक नय भेदगामी दृष्टि है। मनुष्य जो कुछ बोलता या विचार करता है उसमेंसे कुछ विचार या वचन अभेदकी ओर झुकते हैं और कुछ विचार या वचन भेदकी ओर झुकते हैं। अभेदकी ओर झुके हुये विचार और तन्मात्र कही गई वस्तु संग्रह-सामान्य कही जाती है। तथा भेदकी ओर झुके हुए विचार और तन्मात्र कही गई वस्तु विशेष कही जाती है। अवान्तर भेदोंका या तो सामान्यमें अन्तर्भाव हो जाता है या विशेषमें। इसलिये मूल राशि दो ही हैं। उन्हीं दो राशियोंको क्रमसे संग्रहप्रस्तार और विशेषप्रस्तार कहा है। तीर्थंकरके वचन मुख्यरूपसे इन दो राशियोंमें आजाते हैं। उनमेंसे कुछ तो सामान्यबोधक होते हैं और कुछ विशेषबोधक। इसप्रकार इन दो राशियोमें समाविष्ट होनेवाले तीर्थंकरके वचनोंके व्याख्यान करनेमें भी दो ही दृष्टियां होती हैं। सामान्य वचनराशिका व्याख्यान करनेवाली जो अभेदगामी दृष्टि है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और विशेष वचनराशिका व्याख्यान करनेवाली जो भेदगामी दृष्टि है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। ये दोनों ही नय समस्त विचार और विचारजनित समस्त शास्त्रवाक्योंके आधारभूत हैं, इसलिये ये समस्त शास्त्रोंके मूल वक्ता कहे गये हैं। शेष संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं।

"ऋजुसूत्रवचन अर्थात् वर्तमानवचनका विच्छेद जिस कालमें होता है वह काल पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है। और उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेदरूप शब्दादिक नय उसी ऋजुसूत्र नयकी शाखा प्रशाखाएं हैं ॥८८॥"

तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद् वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत्।'-ध० सं० पृ० ८५। "परि समन्तादायः पर्यायः, पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः।"-राजवा० १।३३।

(१) सन्मति० १।३। तुलना-"ततस्तीर्थंकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकारिणौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ।"-लघी० स्व० पृ० २३। (२) सन्मति० १।५।

§ १८२. तत्र[1] द्रव्यार्थिकनयस्त्रिविधः संग्रहो व्यवहारो नैगमश्चेति। तत्र शुद्ध-द्रव्यार्थिकः[2] पर्यायकलङ्करहितः बहुभेदः संग्रहः। [अशुद्ध-] द्रव्यार्थिकः[3] पर्यायकलङ्काङ्कितद्रव्यविषयः व्यवहारः। उक्तं च-

विशेषार्थ-यहां ऋजुसूत्रवचनसे वर्तमान वचन लिया गया है और वह वर्तमान वचन जिस कालमें विच्छिन्न होता है उस कालको विच्छेद कहा है। जिसका यह अभिप्राय हुआ कि वर्तमान वचनका विच्छेदरूप काल ऋजुसूत्र नयका मूल आधार है। इस कालसे लेकर एक समयतक पर्यायभेदसे वस्तुका निश्चय करनेवाला ज्ञान ऋजुसूत्र नय कहलाता है। यह नय द्रव्यगत भेदको नहीं ग्रहण करके कालभेदसे वस्तुको ग्रहण करता है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी मुख्यता रहती है तब तक व्यवहार नयकी प्रवृत्ति होती है और जबसे कालकृत भेद प्रारंभ हो जाता है तबसे ऋजुसूत्र नयका प्रारंभ होता है। यहां कालभेदसे वस्तुकी वर्तमान पर्यायमात्रका ग्रहण किया है। अतीत और अनागत पर्यायोंके विनष्ट और अनुत्पन्न होनेके कारण ऋजुसूत्र नयके द्वारा उनका ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीनों नय भी वर्तमान पर्यायको ही विषय करते हैं। परन्तु वे शब्दभेदसे वर्तमान पर्यायको ग्रहण करते हैं इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयको लिंगादिके भेदसे भेदरूप ग्रहण करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत समानलिंग समानवचन आदि शब्दों द्वारा कहे जानेवाले एक अर्थमें शब्द भेदसे भेद करनेवाला समभिरूढनय और उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले अर्थके क्रियाकालमें ही उस शब्दको उस अर्थका वाचक माननेवाला एवंभूत नय कहा गया है। इसतरह ये शब्दादिक नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होते हुए ऋजुसूत्रनयके ही शाखा प्रशाखारूप हैं।

§ १८२. उनमेंसे द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकारका है संग्रह, व्यवहार और नैगम। उन तीनोंमेंसे जो पर्यायकलंकसे रहित होता हुआ अनेक भेदरूप संग्रहनय है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक है और जो पर्यायकलंकसे युक्त द्रव्यको विषय करनेवाला व्यवहार नय है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। कहा भी है-

(१) तद्द्रव्यार्थि-अ०। "द्रव्यार्थो व्यवहारान्तः पर्यायार्थस्ततोऽपरः॥"-ल० [illegible] पृ० [illegible] ध० आ० प० ५४३। अष्टसह० पृ० २८७। प्रमाणनय० ७।६,२७। जैनतर्कभा० पृ० २१। "[illegible] धिकस्य भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः।"-जैनतर्कभा० पृ० २१। "[illegible] एयर जे भणिया। ते चदु अत्थपहाणा सद्दपहाणा हु तिण्णियरा॥"-[illegible] गा० २१७। (२) "[illegible] नयस्य द्रव्यार्थिकस्य प्रकृत्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन [illegible] सर्वस्य संग्रहणात्।"-अष्टसह० पृ० २८७। "तत्र सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्का[illegible] मावयत्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः।"-ध० आ० प० ५४६। (३) "[illegible] गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणात्, [illegible] द्रव्यं गुणो देशादिवत्।"-अष्टसह० पृ० २८७। "[illegible]

"दव्वट्ठियणयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छओ तस्स ववहारो ॥८९॥"

"संग्रहनयकी प्ररूपणाका विषय द्रव्यार्थिकनयकी शुद्ध प्रकृति है। अर्थात् संग्रहनय अभेदका कथन करता है। और पदार्थके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है। व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनयकी अशुद्ध प्रकृति है अर्थात् व्यवहार नय भेदका कथन करता है ॥८९॥"

विशेषार्थ–सामान्यविशेषात्मक पदार्थ प्रमाणका विषय है। यहां सामान्य धर्मका अर्थ अभेद और विशेष धर्मका अर्थ भेद है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है। अतः जब तक उत्पाद और व्ययकी अपेक्षा वस्तुमें भेद नहीं किया जाता है तब तक उत्तरोत्तर जितने भी भेद होते हैं वे सामान्यात्मक या अभेदरूप ही कहे जाते हैं। इनमेंसे सत्ता या द्रव्यके अभेदसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला संग्रहनय है और सत्ता या द्रव्यभेदसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय है। संग्रहनय संग्रहरूप प्ररूपणाको विषय करता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यग्राही नयकी शुद्ध प्रकृति कही जाती है और व्यवहारनय सत्ताभेद या द्रव्यभेदसे वस्तुको ग्रहण करता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति कही जाती है। व्यवहारनयको द्रव्यार्थिकनयकी अशुद्ध प्रकृति कहनेका कारण यह है कि व्यवहारनय यद्यपि सामान्यधर्मकी मुख्यतासे ही वस्तुको ग्रहण करता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक है फिर भी वह सामान्य अर्थात् अभेदमें भेद मानकर प्रवृत्त होता है। इसलिये वह द्रव्यार्थिक होते हुए भी उसकी अशुद्ध प्रकृति है। इसका यह अभिप्राय है कि महासत्तामें उत्तरोत्तर भेद करते हुये प्रवृत्ति करनेवाला व्यवहारनय है और महासत्ता तथा उसके अवान्तरभूत सत्ताओंको ग्रहण करनेवाला संग्रहनय है। संग्रहनयके पर संग्रह और

तया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः।"–ध० आ० प० ५४३।

(१) "स्वजात्यविरोधेन एकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।" –सर्वार्थसि०, राजवा०, त० श्लो० १।३३। "शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।"–लघी० का० ३२। "विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद् विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तग्रहणात् संग्रहः। द्रव्यव्यतिरिक्त पर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः।"–नयवि० श्लो० ६७। प्रमेयक० पृ० ६७७। नयचक्र० गा० ३४। "संगहिय पिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति।"–अनु० सू० १५२। आ० नि० गा० ७५६। "अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः।" 'आह च यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे। तत्संग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः॥"–त० भा० १।३५। सन्मति० टी० पृ० २७२। प्रमाणनय० ७।१३। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २२। (२)–वं मणवयणत्थणित्थओ स०। (३) सन्मति० १।४। "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।३३। ध० सं० पृ० ८४। त० श्लो० पृ० २७१। नयवि० श्लो० ७४। प्रमेयक० पृ० ६७७। नयचक्र० गा० ३५। "वच्चइ विणिच्छिअत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु।"–अनु० सू० १५०। आ० नि० गा० ७५६। "लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" 'आह च लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात्।"–त० भा० १।३५। सन्मति० टी० पृ० ३११। प्रमाणनय० ७।२३। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २२।

§ १८३. यदस्ति न तद्द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः शब्द-शील-कर्म-कार्य-कारणाधाराधेय-सहचार-मान-मेयोन्मेय-भूत-भविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषयः ।

अपरसंग्रह इस प्रकार दो भेद किये जानेका भी यही कारण है। परसंग्रह सत्स्वरूप है अतः केवल महासत्ताको ही ग्रहण करता है और अपरसंग्रह, द्रव्यके छह भेद हैं इत्यादि रूपसे उत्तरोत्तर किये जानेवाले अवान्तर सत्ताके अवान्तर भेदोंको स्वीकार न करता हुआ उन्हें अभेदरूपसे ग्रहण करता है। इसप्रकार संग्रह और व्यवहार ये दोनों द्रव्यार्थिकनयके भेद समझना चाहिये।

§ १८३. जो सत् है वह दोनों अर्थात् भेद और अभेदको छोड़कर नहीं रहता है। इसप्रकार जो केवल एकको ही, अर्थात् अभेद या भेदको ही प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुख्य और गौणभावसे भेदाभेद दोनोंको ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते हैं। शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत् और वर्तमान इत्यादिकका आश्रय लेकर होनेवाला उपचार नैगमनयका विषय है।

विशेषार्थ—नैगमनयके तीन भेद हैं—द्रव्यार्थिकनैगम, पर्यायार्थिकनैगम और द्रव्य-पर्यायार्थिकनैगम। इनमेंसे संग्रह और व्यवहारनयके विषयको गौण मुख्यभावसे ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनैगम है। शुद्ध और अशुद्ध पर्यायोंको गौणमुख्यभावसे ग्रहण करनेवाला पर्यायार्थिकनैगम है। तथा सामान्य और विशेषको गौणमुख्यभावसे ग्रहण करनेवाला द्रव्यपर्यायार्थिक नैगम है। ऊपर जो यह कहा है कि नैगमनय भेद और अभेदको गौण-मुख्यभावसे स्वीकार करता है उसका भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है। जब केवल सत्तामें भेदाभेदकी विवक्षासे नैगमनयका विषय कहा जाता है तब वह संग्रह और व्यवहारनयके विषयको गौण-मुख्यभावसे स्वीकार करनेवाला होता है। तथा जब पर्यायमें अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय आदिकी विवक्षासे नैगमनयका विषय कहा जाता है तब वह पर्यायार्थिक नयोंके विषयको गौण-मुख्य भावसे ग्रहण करनेवाला होता है और जब द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा भेदाभेद गौणमुख्यभावसे नैगमनयका विषय रहता है तब वह द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय कहलाता है। भेद और अभेद इन दोनोंको विषय करनेवाला होनेसे नैगमनय प्रमाण नहीं हो जाता है, क्योंकि प्रमाण ज्ञानमें भेदाभेदात्मक समग्र वस्तुका बोध किसी एक धर्मको गौण और किसी एक धर्मको मुख्य करके नहीं होता है जब कि नैगमनय किसी एक धर्मको गौण और किसी एक धर्मको मुख्य करके वस्तुको ग्रहण करता है। इसप्रकार यह नय

(१) "अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।"–सर्वार्थसि०, तत्त्वार्थवा० १।३३। "[illegible] भूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् नैगमः।"–धवला० आ० ५९,६८। "[illegible] नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः। धर्मयोः धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥"–त० श्लो० पृ० २६९। नयवि० श्लो० ३३–३७। प्रमेयक० पृ० [illegible]। नयप्र० पृ० ३३। [illegible]

§ १८४. पर्यायार्थिकनयो द्विविधः--अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति। तत्र ऋजुसूत्रोऽर्थनयः। किमेष एक एवार्थनयः? न; द्रव्यार्थिकानामप्यर्थनयत्वात्। कोऽर्थव्यञ्जननययोर्भेदः? वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानोऽर्थनयः, अभेदको वा। अभेदरूपेण

गौणमुख्यभावसे सभी नयोंके विषयको ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि वास्तवमें इस नयका विषय शब्दादिक की अपेक्षा होनेवाला उपचार है। जो कभी शब्दके निमित्तसे होता है, जैसे, 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' यहाँ पर अश्वत्थामा नामक हाथीके मर जाने पर दूसरेको भ्रममें डालनेके लिये अश्वत्थामा शब्दका अश्वत्थामा नामक पुरुषमें भी उपचार किया गया है। कभी शीलके निमित्तसे होता है। जैसे, किसी मनुष्यका स्वभाव अतिक्रोधी देखकर उसे सिंह कहना। कभी कर्मके निमित्तसे होता है। जैसे, किसी राजाको राक्षसका कर्म करते हुए देखकर राक्षस कहना। कभी कार्यके निमित्तसे होता है। जैसे, प्राणधारणरूप अन्नका कार्य देखकर अन्नको ही प्राण कहना। कभी कारणके निमित्तसे होता है। जैसे, सोनेके हारको कारणकी मुख्यतासे सोना कहना। कभी आधारके निमित्तसे होता है। जैसे, स्वभावतः किसीको ऊंचा स्थान बैठनेके लिये मिल जानेसे उसे वहांका राजा कहना। कभी आधेयके निमित्तसे होता है। जैसे, किसी व्यक्तिके जोशीले भाषण देने पर कहना कि आज तो व्यासपीठ खूब गरज रहा है। आदि।

§ १८४. पर्यायार्थिकनय दो प्रकारका है--अर्थनय और व्यंजननय। उनमेंसे ऋजुसूत्र अर्थनय है।

शंका--क्या यह एक ही अर्थनय है?

समाधान--नहीं, क्योंकि नैगमादिक द्रव्यार्थिक नय भी अर्थनय हैं।

शंका--अर्थनय और व्यञ्जननयमें क्या भेद है?

समाधान--उस वस्तुके स्वरूपमें वस्तुगत धर्मोंके भेदसे भेद करनेवाला अर्थनय है। अथवा, अभेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला अर्थनय है। इसका यह तात्पर्य है कि जो

णिरुत्ती"--अनु० सूत्र० १५२। आ० नि० गा० ७५५। "नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकमः। निगमेषु वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः।"--स्या० टी० पृ० ३७१। "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दाः तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानञ्च देशसमग्रग्राही नैगमः। आह च--नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः। देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः॥"--त० भा० १।३५। विशेषा० गा० २६८२-८३। "धर्मयोः धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः।"--प्रमाणनय० ७।७। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१। तुलना--ध० आ० प० ५४३।

(१) "पर्यायार्थिको द्विविधः अर्थनयः व्यञ्जननयश्चेति।"--ध० सं० पृ० ८५। तुलना--"चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्। त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः।"--लघी० का० ७२। चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः।"--सिद्धिवि०, टी० प० ५१७। राजवा० पृ० १८६। नयविव० पृ० २६२। "अत्यप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तं ता। सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति।"--विशेषा०

सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनयः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुनः वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः।

§ १८५. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति ऋजुसूत्रः। अस्य विषयः पच्यमानः पक्वः।

नय अभेदरूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण करता है वह अर्थनय है। तथा वर्तमानकालसे उपलक्षित वस्तुमें वाचक शब्दके भेदसे भेद करनेवाला व्यंजननय है।

विशेषार्थ–अर्थप्रधान नय अर्थनय और शब्दप्रधान नय शब्दनय या व्यञ्जननय कहे जाते हैं। यद्यपि दोनों ही प्रकारके नय वस्तुको ग्रहण करते हैं। फिर भी उनमेंसे अर्थनय विषयभूत पदार्थोंमें रहनेवाले धर्मोंकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है और शब्दनय वाचक शब्दगत धर्मोंके भेदसे विषयभूत पदार्थोंको भेदरूपसे ग्रहण करता है। यही अर्थनय और शब्दनयमें भेद है। ऊपर जो अर्थनयका स्वरूप कहा है कि वस्तुगत धर्मोंके भेदसे वस्तुके स्वरूपमें भेद करनेवाला अर्थनय है अथवा अभेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला अर्थ नय है इसका यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि जब संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इसप्रकार उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षा अर्थनयका विचार करते हैं तो वह हमें वस्तुगत धर्मोंके भेदसे वस्तुके स्वरूपमें भेद करनेवाला प्रतीत होता है। और जब ऋजुसूत्र, व्यवहार और संग्रह इसप्रकार विपरीत क्रमसे विचार करते हैं तो वह हमें अभेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करने वाला प्रतीत होता है।

§ १८५. ऋजु–प्रगुण अर्थात् एक समयवर्ती पर्यायको जो सूचित करता है वह ऋजुसूत्रनय है। इस नयका विषय पच्यमान पक्व है। जिसका अर्थ कथंचित् पच्यमान

गा० २७५३। प्रमाणनय० ७।४४, ४५। जैनतर्कभा० पृ० २३। नयप्रदी० पृ० १०४।

(१) "तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं [illegible] वस्यन्तोऽर्थनयाः। न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः।"–ध० सं० पृ० ८६। (२) "व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्य[illegible]सायिनो व्यञ्जननयाः।"–ध० सं० पृ० ८६। (३) रिजु प्रमाणं प्रगुणं म०। (४) "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः"–सर्वार्थसि० १।३३। "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः"–राजवा० १।३३। "[illegible]न्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः।"–लघी० का० ७१। "ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु। [illegible] गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः॥"–त० श्लो० पृ० २७१। नयविव० श्लो० ७७। [illegible] नयचक्र० गा० ३८। "पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।"–अनु० सू० १५२। [illegible] गा० ७५७। "सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः [illegible] समासतो विद्यात्।"–त० भा० १।३५। विशेषा० गा० २७१८। [illegible] सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति।"–नयचक्रवृ० प० ३५४। [illegible] –सन्मति० टी० पृ० ३११। प्रमाणनय० ७।२८। स्या० म० पृ० ३१२। जैनतर्कभा० पृ० २३। [illegible] [illegible]। ऋजुसूत्रः [illegible]॥–[illegible] [illegible] ५४३। "[illegible]"–[illegible] १।३३।

पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति । पच्यमान इति वर्तमानः, पक्व इत्यतीतः, तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरुद्ध इति चेत; न; पाकप्रारम्भप्रथमक्षणे निष्पन्नांशेन पक्वत्वाविरोधात् । न च तत्र पाकस्य सर्वांशैरनिष्पत्तिरेव; चरमावस्थायामपि पाकनिष्पत्तेरभावप्रसङ्गात् । ततः पच्यमान एव पक्व इति सिद्धम् । तावन्मात्रक्रियाफलनिष्पत्त्युपरमापेक्षया स एव पक्वः स्यादुपरतपाक इति, अन्त्यपाकापेक्षया निष्पत्तेरभावात् स एव पच्यमान इति सिद्धम् । एवं क्रियमाणकृत-भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिद्ध्यत्सिद्धादयो योज्याः ।

§ १८६. तथा, यदेव धान्यानि मिमीते तदेव प्रस्थः; प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थव्य-

और कथंचित् उपरतपाक होता है ।

शंका–पच्यमान यह शब्द वर्तमान क्रियाको और पक्व यह शब्द अतीत क्रियाको प्रकट करता है, इसलिये इन दोनोंका एक पदार्थमें रहना विरुद्ध है, अर्थात् ये दोनों धर्म एक पदार्थमें नहीं रह सकते हैं ।

समाधान–नहीं, क्योंकि पाकप्रारंभ होनेके पहले समयमें पके हुए अंशकी अपेक्षा पच्यमान पदार्थको पक्वधर्मसे युक्त माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । पाक प्रारंभ होनेके पहले समयमें पाक बिल्कुल हुआ ही नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर पाककी अन्तिम अवस्थामें भी पाककी प्राप्ति नहीं होगी । इसलिये जो पच्यमान है वही पक्व भी है यह सिद्ध होता है । तथा जितने रूपसे क्रियाफलकी उत्पत्तिकी समाप्ति हो चुकी है अर्थात जितने अंशमें वह पक चुकी है उसकी अपेक्षा वही वस्तु पक्व अर्थात् कथंचित् उपरतपाक है और अन्तिम पाककी समाप्तिका अभाव होनेकी अपेक्षासे अर्थात् पूरा पाक न हो सकनेकी अपेक्षासे वही वस्तु पच्यमान भी है ऐसा सिद्ध होता है । इसीप्रकार अर्थात् पच्यमान-पक्वके समान क्रियमाण-कृत, भुज्यमान-भुक्त, बध्यमान-बद्ध और सिद्ध्यत्-सिद्ध आदि व्यवहारको भी घटा लेना चाहिये ।

§ १८६. तथा ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा जिस समय प्रस्थसे धान्य मापे जाते हैं उसी समय वह प्रस्थ है, क्योंकि 'जिसमें धान्यादि द्रव्य स्थित रहते हैं उसे प्रस्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रस्थ संज्ञाकी प्रवृत्ति हुई है ।

(१)–प्पत्तेरेव आ० । (२) "एवं क्रियमाणकृतभुज्यमानभुक्तवद्ध्यमानवद्धसिध्यत्सिद्धादयो योज्याः।" –राजवा० १।३३ । ध० आ० प० ५४३ । (३) "तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः यदेव मिमीते, अतीतानागतधान्यमानासंभवात् ।"–राजवा० १।३३ । ध० आ० प० ५४३ । "उज्जुसुअस्स पत्थओ वि पत्थओ मेज्जं पि पत्थओ–ऋजुसूत्रस्य निष्पन्नस्वरूपोऽर्थक्रियाहेतुः प्रस्थकोऽपि प्रस्थकः तत्परिच्छिन्नं धान्यादिकमपि वस्तु प्रस्थकः उभयत्र प्रस्थकोऽयमिति व्यवहारदर्शनात् तथाप्रतीतेः । अपरं चासौ पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद् वर्तमाने एव मानमेये प्रस्थकत्वेन प्रतिपद्यते नातीतानागतकाले तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति ।"–अनु० टी० सू० १४५ । नयोप० श्लो० ६६ ।

पदेशात्। न कुम्भकारोऽस्ति। तद्यथा–न शिवकादिकरणेन तस्य स व्यपदेशः; शिवकादिषु कुम्भभावानुपलम्भात्। न कुम्भं करोति; स्वावयवेभ्य एव तन्निष्पत्त्युपलम्भात्। न वहुभ्यः एकः घट उत्पद्यते; तत्र यौगपद्येन भूयोधर्माणां सत्त्वविरोधात्। अविरोधे वा न तदेकं कार्यम्; विरुद्धधर्माध्यासतः प्राप्तानेकरूपत्वात्। न चैकेन कृतकार्य एव शेषसहकारिकारणानि व्याप्रियन्ते; तद्व्यापारवैफल्यप्रसङ्गात्। न चान्यत्र व्याप्रियन्ते; कार्यवहुत्वप्रसङ्गात्। न चैतदपि; एकस्य घटस्य वहुत्वाभावात्।

§ १८७. स्थितप्रश्ने च कुतोऽद्यागच्छसीति, न कुतश्चिदित्ययं मन्यते; तत्कालक्रि-

इस नयकी दृष्टिमें कुंभकार संज्ञा भी नहीं वन सकती है। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–शिवक आदि पर्यायोंको करनेसे उनके कर्ताको 'कुंभकार' यह संज्ञा तो दी नहीं जा सकती है, क्योंकि कुम्भसे पहले होनेवाली शिवकादिरूप पर्यायोंमें कुम्भपना नहीं पाया जाता है। यदि कहा जाय कि कुम्हार कुम्भको वनाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने अवयवोंसे ही कुम्भकी उत्पत्ति देखी जाती है उसमें कुम्भकार क्या करता है अर्थात् कुछ भीं नहीं करता है। यदि कहा जाय कि अनेक कारणोंसे एक घट उत्पन्न होता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटमें एकसाथ अनेक धर्मोंका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। अर्थात् जव घट वहुतसे कारणोंसे उत्पन्न होगा तो उसमें कारणगत अनेक धर्म प्राप्त होंगे। किन्तु एक घटमें अनेक धर्मोंका सत्त्व मानना विरुद्ध है। एक पदार्थमें एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है यदि ऐसा माना जाय तो वह घट एक कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार होनेसे वह एकरूप न रहकर अनेकरूप हो जायगा। यदि कहा जाय कि एक कारणसे किये गये कार्यमें ही शेप सहकारी कारण व्यापार करते हैं। अर्थात् वह उत्पन्न तो एक उपादान कारणसे ही होता है किन्तु शेप सहकारी कारण उसीमें सहायता करते हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जव एक उपादान कारणसे ही कार्य उत्पन्न हो जाता है तव शेप सहकारी कारणोंके व्यापारको निष्फलताका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि उपादान कारण घटसंवन्धी जिस कार्यको करता है उस कार्यसे अतिरिक्त दूसरे घटसंवन्धी अन्य कार्योंके करनेमें शेप सहकारी कारण अपना व्यापार करते हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेसे एक ही घटमें कार्यवहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि एक ही घटमें कार्यवहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक घट अनेक कार्यरूप नहीं हो सकता है।

§ १८७. ठहरे हुए किसी पुरुषसे 'आज कहाँसे आ रहे हो' इसप्रकार प्रश्न करने

(१) "कुम्भकाराभावः, शिविकादिपर्यायकरणे [illegible] एव निर्वृत्तेः।"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। [illegible]
"स्थितिप्रश्ने च कुतोऽद्यागच्छसीति न कुतश्चिदित्ययं मन्यते।"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३।

यापरिणामाभावात्। [1]यमेवाकाशदेशमवगाढुं समर्थः आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसतिः।

§ १८८. न [2]कृष्णः काकोऽस्य नयस्य। तद्यथा–यः कृष्णः स कृष्णात्मक एव न काकात्मकः; भ्रमरादीनामपि काकतापत्तेः। काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मकः; तत्पित्तास्थिरुधिराणामपि कृष्णतापत्तेः।

§ १८९. न चास्य नयस्य [3]सामानाधिकरण्यमस्ति; 'कृष्णशाटी' इत्यत्र कृष्णशाटीभ्यां व्यतिरिक्तस्यैकस्य द्वयोरधिकरणभावमापन्नस्यानुपलम्भात्। न शाट्यप्यस्ति; कृष्णवर्णव्यतिरिक्तशाट्यनुपलम्भात्।

§ १९०. अस्य नयस्य [4]निर्हेतुको विनाशः। तद्यथा–न तावत्प्रसज्यरूपः परत

पर 'कहींसे भी नहीं आ रहा हूं' इसप्रकार यह ऋजुसूत्रनय मानता है, क्योंकि जिस समय प्रश्न किया गया उस समय आगमनरूप क्रिया नहीं पाई जाती है। तथा इस नयकी दृष्टिसे वह जितने अकाशदेशको अवगाहन करनेमें समर्थ है, अर्थात् वह आकाशके जितने देशको रोकता है, उसीमें उसका निवास है। अथवा वह अपने जिस आत्मस्वरूपमें स्थित है उसीमें उसका निवास है।

§ १८८. तथा इस नयकी दृष्टिमें 'काक कृष्ण होता है' यह व्यवहार भी नहीं बन सकता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–जो कृष्ण है वह कृष्णरूप ही है, काकरूप नहीं है, क्योंकि कृष्णको यदि काकरूप माना जाय तो भ्रमर आदिकको भी काकरूप माननेकी आपत्ति प्राप्त होती है। उसीप्रकार काक भी काकरूप ही है कृष्णरूप नहीं है, क्योंकि यदि काकको कृष्णरूप माना जाय तो काकके पीले पित्त सफेद हड्डी और लाल रुधिर आदिकको भी कृष्णरूप माननेकी आपत्ति प्राप्त होती है।

§ १८९. तथा इस नयकी दृष्टिमें समानाधिकरणभाव भी नहीं बनता है, अर्थात् दो धर्मोंका एक अधिकरण नहीं बनता है, क्योंकि 'कृष्ण साड़ी' इस प्रयोगमें कृष्ण और साड़ी इन दोनोंसे अतिरिक्त कोई एक पदार्थ, जो कि इन दोनोंका आधार हो, नहीं पाया जाता है। यदि कहा जाय कि कृष्ण और साड़ी इन दोनोंका आधार साड़ी है सो भी कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि कृष्णवर्णसे अतिरिक्त साड़ी नहीं पाई जाती हैं।

§ १९०. तथा इस नयकी दृष्टिमें विनाश निर्हेतुक है, अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है।

(१) "यमेवाकाशमवगाढुं समर्थं आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसतिः।"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। "उज्जुसुअस्स जेसु आगासपएसु ओगाढो तेसु वसइ तिण्हं सद्दनयाणं आयभावे वसइ।" –अनु० सू० १४५। "ऋजुसूत्रः प्रदेशेषु स्वावगाहनकृत्सु खे॥ तेष्वप्यभीप्टसमये न पुनः समयान्तरे। चलोपकरणत्वेनान्यान्यक्षेत्रावगाहनात्॥"–नयोप० श्लो० ७१–७२। (२) "न कृष्णः काकः उभयोरपि स्वात्मकत्वात् कृष्णः कृष्णात्मको न काकात्मकः‥"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। (३) "न सामानाधिकरण्यम्–एकस्य पर्यायेभ्योऽनन्यत्वात् पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्यं नाम न किञ्चिदस्तीति।"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। (४) "किञ्च, न च विनाशोऽन्यतो जायते, तस्य जातिहेतुत्वात्। अत्रोपयोगी श्लोकः–जातिरेव हि भावानां‥। न च भावः अभावस्य हेतुः; घटादपि खरविषाणोत्पत्तिप्रसङ्गात्।

उत्पद्यते; कारकप्रतिषेधे व्यापृतात्परस्माद् घटाभावविरोधात् । न पर्युदासो व्यतिरिक्त उत्पद्यते; ततो व्यतिरिक्तघटोत्पत्तावर्पितघटस्य विनाशविरोधात् । नाव्यतिरिक्तः; उत्पन्नस्योत्पत्तिविरोधात् । ततो निर्हेतुको विनाश इति सिद्धम् । उक्तञ्च–

"जातिरेव हि भावानां [3]निरोधे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत् पश्चात्स केन वै[4] ॥९०॥

इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–प्रसज्यरूप अभाव तो परसे उत्पन्न हो नहीं सकता है, क्योंकि प्रसज्यरूप अभावमें क्रियाके साथ निषेधवाचक नञ्का सम्बन्ध होता है, अर्थात्, इसमें 'मुद्गर घटका अभाव करता है' इसका आशय होता है 'मुद्गर घटको नहीं करता है'। अतः जब मुद्गर प्रसज्यरूप अभावमें कारकके प्रतिषेध अर्थात् क्रियाके निषेध करनेमें ही व्यापृत रहता है तब उससे घटका अभाव माननेमें विरोध आता है । तात्पर्य यह है कि वह क्रियाका ही निषेध करता रहेगा, विनाशरूप अभावका कर्ता न हो सकेगा।

यदि कहा जाय कि पर्युदासरूप अभाव परसे उत्पन्न होता है, तो वह घटसे भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न । भिन्न तो उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि, पर्युदाससे व्यतिरिक्त घटकी उत्पत्ति मानने पर विवक्षित घटका विनाश माननेमें विरोध आता है । अभिप्राय यह है कि पर्युदासरूप अभावकी उत्पत्ति घटसे भिन्न मानने पर घटका विनाश नहीं हो सकता है । यदि कहा जाय कि पर्युदासरूप अभाव घटसे अभिन्न उत्पन्न होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो उत्पन्न हो चुका है उसकी पुनः उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । अर्थात् जब पर्युदासरूप अभाव घटसे अभिन्न है तो घट और पर्युदास-रूप अभाव दोनों एक वस्तु हुए और ऐसा होनेसे पर्युदासरूप अभावकी उत्पत्ति और घट-की उत्पत्ति एक वस्तु हुई । ऐसी अवस्थामें पर्युदासरूप अभावकी उत्पत्ति परसे मानने पर प्रकारान्तरसे परसे घटकी ही उत्पत्ति सिद्ध हुई, क्योंकि दोनों एक वस्तु हैं । किन्तु घट तो पहले ही उत्पन्न हो चुका है अतः उत्पन्नकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विनाश निर्हेतुक है यह सिद्ध होता है । कहा भी है–

"जन्म ही पदार्थोंके विनाशमें हेतु कहा गया है, क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होकर अनन्तर क्षणमें नष्ट नहीं होता वह पश्चात् किससे नाशको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात्

क्रियेत, न वस्तु परतो विनश्यति, परसन्निधानाभावे तस्य अविनाशप्रसङ्गात् ।"–ध० आ० प० ५८३ ।

(१) तुलना–"अप क्रियानिषेधोऽयं भावं नैव करोति हि । [illegible] ॥२६३॥" तथाहि प्रसज्यप्रतिषेधे सति नञः करोतिना सम्बन्धात् 'अभावं करोति' [illegible] क्रियाप्रतिषेधादकर्तृत्वं नाशहेतोः प्रतिपादितम्····"–तत्त्वसं० प० पृ० १३६ । [illegible] "यदाहुः–अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ [illegible]"–[illegible] ७१४ । (२) उत्पाद–स० । (३) निरोधो हि–आ० । (४) उद्धृतम्–[illegible] प० ५४३ । सूत्र० टी० प० २४ ।

प्रत्येकं जायते चित्तं जातं जातं प्रणश्यति ।
नष्टं नावर्तते भूयो जायते च नवं नवम् ॥९१॥"

§ १९१. ततोऽस्य नयस्य न बन्ध्यबन्धक-वध्यघातक-दाह्यदाहक-संसारादयः सन्ति। न जातिनिबन्धनोऽपि विनाशः; प्रसज्य-पर्युदासविकल्पद्वये पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

§ १९२. उत्पादोऽपि निर्हेतुकः। तद्यथा–नोत्पद्यमान उत्पादयति; द्वितीयक्षणे त्रिभुवनाभावप्रसङ्गात् । नोत्पन्न उत्पादयति; क्षणिकपक्षक्षतेः । न विनष्टं (ष्ट) उत्पादयति;

जन्मसे ही पदार्थ विनाशस्वभाव है। उसके विनाशके लिये अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं पड़ती ॥९०॥"

"प्रत्येक चित्त उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होता है। तथा जो नष्ट हो जाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता है किन्तु प्रतिसमय नया नया चित्त ही उत्पन्न होता है ॥९१॥"

§ १९१. इसलिये इस नयकी दृष्टिमें बन्ध्यबन्धकभाव वध्यघातकभाव दाह्यदाहकभाव और संसारादिक कुछ भी नहीं बन सकते हैं। तथा इस नयकी दृष्टिमें जातिनिमित्तक विनाश भी नहीं बनता है, क्योंकि यहां पर भी प्रसज्य और पर्युदास इन दो विकल्पोंके माननेपर पूर्वोक्त दोषोंका प्रसंग प्राप्त होता है ।

§ १९२. तथा इस नयकी दृष्टिमें उत्पाद भी निर्हेतुक होता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–जो वर्तमान समयमें उत्पन्न हो रहा है वह तो उत्पन्न करता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे क्षणमें तीनों लोकोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है । अर्थात जो उत्पन्न हो रहा है वह यदि अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें ही अपने कार्यभूत दूसरे क्षणको उत्पन्न करता है तो इसका मतलब यह हुआ कि दूसरा क्षण भी प्रथम क्षणमें ही उत्पन्न हो जायगा। इसीप्रकार द्वितीय क्षण भी अपने कार्यभूत तृतीय क्षणको उसी प्रथम क्षणमें उत्पन्न कर देगा । इसीप्रकार आगे आगेके कार्यभूत समस्त क्षण प्रथम क्षणमें ही उत्पन्न हो जायँगे और दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायँगे । इसप्रकार दूसरे क्षणमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंके विनाशका प्रसंग प्राप्त होगा । जो उत्पन्न हो चुका है वह उत्पन्न करता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा मानने पर क्षणिक पक्षका विनाश प्राप्त होता है अर्थात्

(१) वध्यव–अ०, आ०, ता० । (२) "पलालादिदाहाभावः, प्रतिविशिष्टकालपरिग्रहात्, अस्य हि नयस्य अविभागो वर्तमानसमयो विषयः, अग्निसम्बन्धनदीपनज्वलनदहनान्यसंख्येयसमयान्तरालानि यतोऽस्य दहनाभावः·····"–राजवा० १।३३ । नयचक्रवृ० प० ३५२ । ध० आ० प० ५४३ । "उक्तार्थाविसंवादी च श्लोको गीतः पुराविदा––पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न घटः क्वचित् । नासंयतः प्रव्रजति भव्योऽसिद्धो न सिद्धयति ॥ पलालं दह्यत इति यद्व्यवहारस्य वाक्यं तद् विरुद्धयते··"–त० भा० व्या० पृ० ४०२ । सन्मति० टी० पृ० ३१७ । नयोप० श्लो० ३१। (३) तुलना–"सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात् कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततःसन्तानाभावात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७ ।

अभावाद्भावोत्पत्तिविरोधात् । न पूर्वविनाशोत्तरोत्पादयोः समानकालतापि कार्यकारण-भावसमर्थिका । तद्यथा--नातीतार्थाभावत उत्पद्यते; भावाभावयोः कार्यकारणभावविरोधात् । न तद्भावात्; स्वकाल एव तस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । किञ्च, पूर्वक्षणसत्ता यतः समानसन्तानोत्तरार्थक्षणसत्त्वविरोधिनी ततो न सा तदुत्पादिका; विरुद्धयोस्सत्तयोरुत्पाद्योत्पादकभावविरोधात् । ततो निर्हेतुक उत्पाद इति सिद्धम् ।

§ १९३. नास्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि । तद्यथा–न स तावद्भिन्नयोः; अव्यवस्थापत्तेः । नाभिन्नयोः; एकस्मिंस्तद्विरोधात् । न भि (नाऽभि) न्नयोरस्य नयस्य संयोगः

पदार्थ पहले क्षणमें तो उत्पन्न ही होता है, अतः वह दूसरे क्षणमें कार्यको उत्पन्न करेगा और इसलिये उसे कमसे कम दो क्षण तक तो ठहरना ही होगा । किन्तु वस्तुको दोक्षणवर्ती माननेसे ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे अभिमत क्षणिकवाद नहीं बन सकता है । तथा जो नाशको प्राप्त हो गया है वह उत्पन्न करता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । तथा पूर्व क्षणका विनाश और उत्तर क्षणका उत्पाद इन दोनोंमें कार्यकारण भावकी समर्थन करनेवाली समानकालता भी नहीं पाई जाती है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–अतीत पदार्थके अभावसे तो नवीन पदार्थ उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव इन दोनोंमें कार्यकारणभाव माननेमें विरोध आता है । अतीत अर्थके सद्भावसे नवीन पदार्थका उत्पाद होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतीत पदार्थके सद्भावरूप कालमें ही नवीन पदार्थकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है । दूसरे, चूंकि पूर्व क्षणकी सत्ता अपनी सन्तानमें होनेवाले उत्तर अर्थक्षणकी सत्ताकी विरोधिनी है, इसलिये पूर्वक्षणकी सत्ता उत्तर क्षणकी सत्ताकी उत्पादक नहीं हो सकती है, क्योंकि विरुद्ध दो सत्ताओंमें परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभावके माननेमें विरोध आता है । अतएव ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे उत्पाद भी निर्हेतुक होता है यह सिद्ध हो जाता है ।

§ १९३. तथा इस नयकी दृष्टिसे विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं बनता है । उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–भिन्न दो पदार्थोंमें तो विशेषण-विशेष्यभाव बन नहीं सकता है, क्योंकि भिन्न दो पदार्थोंमें विशेषण-विशेष्यभावके मानने पर अव्यवस्थाकी आपत्ति प्राप्त होती है । अर्थात् जिन किन्हीं दो पदार्थोंमें भी विशेषणविशेष्यभाव हो जायगा । इसी-प्रकार अभिन्न दो पदार्थोंमें भी विशेषणविशेष्यभाव नहीं बन सकता है, क्योंकि अभिन्न दो पदार्थोंका अर्थ एक पदार्थ ही होता है और एक पदार्थमें विशेषण-विशेष्यभावके माननेमें विरोध आता है ।

तथा इस नयकी दृष्टिसे सर्वथा अभिन्न दो पदार्थोंमें संयोगसम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध भी नहीं बनता है, क्योंकि जो सर्वथा एकत्वको प्राप्त हो गये हैं और इसलिये

समवायो वास्ति; सर्वथैकत्वमापन्नयोः परित्यक्तस्वरूपयोस्तद्विरोधात् । नैकत्वमनापन्नयोस्तौ; अव्यवस्थापत्तेः । ततः सजातीय-विजातीयविनिर्मुक्ताः केवलाः परमाणव एव सन्तीति भ्रान्तः स्तम्भादिस्कन्धप्रत्ययः । नास्य नयस्य समानमस्ति; सर्वथा द्वयोः समानत्वे एकत्वापत्तेः। न कथञ्चित्समानतापि; विरोधात् । ते च परमाणवो निरवयवाः; ऊर्ध्वाधोमध्यभागाद्यवयवेषु सत्सु अनवस्थापत्तेः, परमाणोर्वाऽपरमाणुत्वप्रसङ्गाच्च ।

§ १९४. न शुक्लः कृष्णो भवति; उभयोर्भिन्नकालावस्थितत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये निवृत्तपर्यायानभिसम्बन्धात् ।

§ १९५. नास्य नयस्य ग्राह्यग्राहकभावोऽप्यस्ति । तद्यथा–नासम्बद्धोऽर्थो गृह्यते;

जिन्होंने अपने स्वरूपको छोड़ दिया है ऐसे दो पदार्थोंमें संयोगसम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्धके माननेमें विरोध आता है । तथा सर्वथा भिन्न दो पदार्थोंमें भी संयोगसम्बन्ध अथवा समवायसम्बन्ध नहीं बनता है, क्योंकि सर्वथा भिन्न दो पदार्थोंमें संयोग अथवा समवायसम्बन्धके मानने पर अव्यवस्था प्राप्त होती है । इसलिये सजातीय और विजातीय दोनों प्रकारकी उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध परमाणु ही हैं, अतः जो स्तंभादिरूप स्कन्धोंका प्रत्यय होता है वह ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें भ्रान्त है ।

तथा इस नयकी दृष्टिमें कोई किसीके समान नहीं है, क्योंकि दोको सर्वथा समान मान लेने पर उन दोनोंमें एकत्वकी आपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् वे दोनों एक हो जायँगे । दोमें कथञ्चित् समानता भी नहीं है, क्योंकि दोमें कथञ्चित् समानताके माननेमें विरोध आता है ।

तथा इस नयकी दृष्टिमें सजातीय और विजातीय उपाधियोंसे रहित वे परमाणु निरवयव हैं, क्योंकि उन परमाणुओंके ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि अवयवोंके मानने पर अनवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है और परमाणुको अपरमाणुपनेका प्रसंग प्राप्त होता है । अर्थात् यदि परमाणुके ऊर्ध्वभाग आदि माने जायँगे तो उन भागोंके भी अन्य भाग मानने पड़ेंगे और इसतरह अनवस्था दोष प्राप्त होगा । तथा परमाणु परमाणु न रहकर स्कन्ध हो जायगा, क्योंकि स्कन्धोंमें ही ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग आदि रूप अवयव पाये जाते हैं ।

§ १९४. तथा इस नयकी दृष्टिमें 'शुक्ल कृष्ण होता है' यह व्यवहार भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्न भिन्न कालवर्ती हैं । अतः वर्तमान पर्यायमें विनष्ट पर्यायका सम्बन्ध नहीं बन सकता है । अर्थात् जिस समय शुक्ल पर्याय है उस समय कृष्ण पर्याय नहीं है और जब कृष्ण पर्याय है तब नष्ट शुक्ल पर्यायके साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता है ।

§ १९५. तथा इस नयकी दृष्टिमें ग्राह्य-ग्राहकभाव भी नहीं बनता है । उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–असंबद्ध अर्थका तो ग्रहण होता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्था

(१)–माणोरपरमा–अ०, आ० । (२)–सम्बन्धो अ०, आ० ।

अव्यवस्थापत्तेः। न सम्बन्धः (म्बद्धः); तस्यातीतत्वात्, चक्षुषा व्यभिचाराच्च। न समानो गृह्यते; तस्यासत्त्वात्, मनस्कारेण व्यभिचाराच्च।

§ १९६. नास्य शुद्धस्य (नयस्य) वाच्यवाचकभावोऽस्ति। तद्यथा–न सम्बद्धार्थः शब्दवाच्यः; तस्यातीतत्वात्। नासम्बद्धः; अव्यवस्थापत्तेः। नार्थेन शब्द उत्पाद्यते; ताल्वादिभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। न शब्दादर्थ उत्पद्यते; शब्दोत्पत्तेः प्रागपि अर्थसत्त्वोपलम्भात्। न शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणः प्रतिबन्धः; करणाधिकरणभेदेन प्रतिपन्नभेदयो-

दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है। अर्थात् असम्बद्ध अर्थका ग्रहण मानने पर किसी भी ज्ञानसे किसी भी पदार्थका ग्रहण प्राप्त हो जायगा। तथा ज्ञानसे सम्बद्ध अर्थका भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि वह ग्रहणकालमें रहता नहीं है। यदि कहा जाय कि अतीत होने पर भी उसका ज्ञानके साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध पाया जाता है अतः उसका ग्रहण हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर चक्षुइन्द्रियसे व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् पदार्थकी तरह चक्षु इन्द्रियसे भी ज्ञानका कार्यकारणसम्बन्ध पाया जाता है फिर भी ज्ञान चक्षुको नहीं जानता है। उसीप्रकार समान अर्थका भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि एक तो समान अर्थ पाया नहीं जाता है और दूसरे समान अर्थका ग्रहण मानने पर मनस्कारसे व्यभिचार भी आता है। अर्थात् मनस्कार यानी पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानके समान है किन्तु उत्तरज्ञानके द्वारा गृहीत नहीं होता है।

§ १९६. तथा इस नयकी दृष्टिमें वाच्य-वाचकभाव भी नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–संबद्ध अर्थ तो शब्दका वाच्य हो नहीं सकता है, क्योंकि जिस अर्थके साथ सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है वह अर्थ शब्दप्रयोगकालमें रहता नहीं है। उसीप्रकार असम्बद्ध अर्थ भी शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है, क्योंकि असम्बद्ध अर्थको शब्दका वाच्य मानने पर अव्यवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् यदि असम्बद्ध अर्थको शब्दका वाच्य माना जायगा तो सब अर्थ सब शब्दोंके वाच्य हो जायेंगे।

यदि कहा जाय कि अर्थसे शब्दकी उत्पत्ति होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तालु आदिसे शब्दकी उत्पत्ति पाई जाती है। उसीप्रकार शब्दसे अर्थकी उत्पत्ति होती है, यह कहना भी नहीं बनता है क्योंकि शब्दकी उत्पत्तिके पहले भी अर्थका सद्भाव पाया जाता है। शब्द और अर्थमें तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध पाया जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि करण और अधिकरणके भेदसे जिनमें भेद है ऐसे शब्द और अर्थमें

(१) न सम्बद्धस्यान्तीति–स० । तुलना–"[illegible]"–[illegible] पृ० [illegible]; शब्दवाच्यः अ०, आ० । (३) उत्पाद्यते अ० । (४) तुलना–"[illegible] सत्वात"–न्यायकुमु० पृ० १४४ । "[illegible]"–[illegible] तादात्म्यलक्षण. [illegible]"–न्यायकुमु० पृ० [illegible] [illegible] [illegible]

रेकत्वविरोधात्, क्षुर-मोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटन-पूरणप्रसङ्गाच्च । न विकल्पः शब्दवाच्यः; अत्रापि बाह्यार्थोक्तदोषप्रसङ्गात् । ततो न वाच्यवाचकभाव इति । सत्येवं सकलव्यवहारोच्छेदः प्रसजतीति चेत्; न; नयविषयप्रदर्शनात् ।

एक माननेमें विरोध आता है । अर्थात् शब्दका भिन्न इन्द्रियसे ग्रहण होता है और अर्थका भिन्न इन्द्रियसे ग्रहण होता है तथा शब्द भिन्न देशमें रहता है और अर्थ भिन्न देशमें रहता है अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बन सकता है । फिर भी यदि उनमें तादात्म्यसम्बन्ध माना जाता है तो छुरा शब्दके उच्चारण करने पर मुखके फट जाने तथा मोदक शब्दके उच्चारण करने पर मुहके भर जानेका प्रसंग प्राप्त होता है । विकल्प शब्दका वाच्य है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर भी बाह्य अर्थके पक्षमें कहे गये दोषोंका प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् अर्थको शब्दका वाच्य स्वीकार करने पर जो दोष दिये गये हैं विकल्पको भी शब्दका वाच्य मानने पर वही दोष आते हैं । इसलिये इस नयकी दृष्टिमें वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध नहीं होता है ।

शंका–यदि ऐसा है तो सकल व्यवहारका उच्छेद प्राप्त होता है ।

समाधान–नहीं, क्योंकि यहाँ पर ऋजुसूत्रनयका विषय दिखलाया गया है ।

विशेषार्थ–जो तत्त्वको केवल वर्तमान कालरूपसे स्वीकार करती है और भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन रूपसे स्वीकार नहीं करती ऐसी क्षणिक दृष्टि ऋजुसूत्रनय कही जाती है। आगममें पर्यायके दो भेद कहे हैं अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय । इनमेंसे अगुरुलघु गुणके निमित्तसे होनेवाली प्रदेशवत्व गुणके सिवा अन्य समस्त गुणोंकी एक समयवर्ती वर्तमानकालीन पर्यायको अर्थपर्याय और प्रदेशवत्व गुणके वर्तमानकालीन विकारको व्यंजनपर्याय कहते हैं । यद्यपि व्यंजनपर्याय अनेक क्षणवर्ती भी होती है फिर भी उसमें वर्तमान कालका उपचार कर लिया जाता है । ऊपर ऋजुसूत्रनयका जो स्वरूप कहा है तदनुसार ये दोनों ही पर्यायें ऋजुसूत्र नयकी विषय हो सकती हैं । इनमेंसे अर्थपर्याय सूक्ष्म ऋजुसूत्र नयका विषय है और व्यञ्जनपर्याय स्थूल ऋजुसूत्रनयका विषय । प्रकृतमें सामान्यरूपसे ऋजुसूत्रनयके विषयका विचार किया गया है । जब कि इसका विषय वर्तमानकालीन एक क्षणवर्ती पर्याय है तो अतीत और अनागत पर्यायें इसका विषय कैसे हो सकतीं हैं ? तथा वर्तमानकालीन पर्यायको भी न तो सर्वथा निष्पन्न ही कहा जा

प० पृ० ४४० । न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६ ।

(१) तुलना–"पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ।"–न्यायसू० २।१।५३ । "स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम् ।"–शाबरभा० १।१।५ । शास्त्रवा० श्लो० ६४५ । अनेकान्तज० प० ४२ । न्यायकुमु० पृ० १४४, ५३६ । (२) मुखस्य अ० । (३) "संव्यवहारलोप इति चेत्; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते । सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः ।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।३३ ।

सकता है और सर्वथा अनिष्पन्न ही। पूर्वकालीन निष्पत्तिकी अपेक्षा वह निष्पन्न भी है और उत्तरकालमें होनेवाली निष्पत्तिकी अपेक्षा वह अनिष्पन्न भी है। अतः उत्तरकालभाविनी निष्पत्तिकी अपेक्षा वर्तमानमें वह निष्पद्यमान भी होगी और पूर्वकालीन निष्पत्तिकी अपेक्षा वह निष्पन्न भी होगी। इसलिये इस नयकी दृष्टिमें कार्यरूप प्रत्येक पर्याय निष्पद्यमान-निष्पन्न कही जायगी। इसीप्रकार पच्यमान-पक्व, सिद्ध्यत्-सिद्ध आदिरूप पर्यायोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। तथा इस नयकी अपेक्षा जिस संज्ञासे जो क्रिया ध्वनित हो उस क्रियाके होते हुए ही वह पदार्थ उस संज्ञावाला कहा जायगा। एवंभूत नयका भी यही विषय है, इसलिये यद्यपि उपर्युक्त लक्षणके अनुसार इन दोनों नयोंके विषयमें सांकर्य प्रतीत होता है। पर वस्तुतः दोनों ही नय वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करते हैं इसलिये वर्तमानकालीन पयार्यकी अपेक्षा इनके विषयमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल शब्दप्रयोगके भेदसे होनेवाली मुख्यता और गौणताका है। ऋजुसूत्र नय शब्दभेदसे अर्थमें भेद नहीं करता है और शब्दादि नय उत्तरोत्तर शब्दादिके भेदसे अर्थमें भेद करते हैं। प्रकृतमें अन्य प्रकारसे ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं दिखाया जा सकता था इसलिये शब्दकी व्युत्पत्ति द्वारा वर्तमान पर्याय ध्वनित की गई है। तथा इस नयकी दृष्टिमें प्रत्येक कार्य स्वयं उत्पन्न होता है। जिसमें स्वयं उत्पन्न होनेकी सामर्थ्य नहीं है उसे अन्य कोई उत्पन्न भी नहीं कर सकता। अतएव इस नयकी अपेक्षा कुम्भकार, स्वर्णकार आदि नाम नहीं बनते हैं। कार्यकी उत्पत्तिमें दो प्रकारके कारणोंकी आवश्यकता होती है एक निमित्तकारण और दूसरे उपादान कारण। कुंभकी उत्पत्तिमें कुम्भके अनन्तर पूर्ववर्ती समयमें रहनेवाली मिट्टीकी पिण्ड पर्याय उपादान कारण है और कुम्हार, चक्र आदि सहकारी कारण हैं। इसप्रकार कार्यकारणभावकी व्यवस्था रहते हुए भी ऋजुसूत्रनय एकसमयवर्ती वर्तमान पर्यायको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण कार्यकारणभावको नहीं स्वीकार करता है। जैसे, जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप होता है उसकी समनन्तरवर्ती अवस्था कार्य और पूर्व अवस्था कारण कही जाती है। पर ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान अवस्थाको ही ग्रहण करता है इसलिये वह कुंभग्रहणके कालमें जिससे कुंभपर्याय उत्पन्न हुई उसे नहीं ग्रहण कर सकता है, क्योंकि पूर्ववर्ती पर्याय उसका विषय नहीं है। इसप्रकार कुंभग्रहणके कालमें उपादान कारणका ग्रहण नहीं होनेसे कुंभपर्याय इस नयकी दृष्टिमें निर्हेतुक कही जायगी। ऐसी अवस्थामें सहकारी कारणकी अपेक्षा कुंभकार यह व्यवहार कैसे बन सकता है अर्थात् नहीं बन सकता है। ठहरना और आना ये दो क्रियाएं एक कालवर्ती नहीं हैं, अतः ठहरे हुए पुरुषसे 'कहाँसे आ रहे हो' यह पूछना ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय प्रश्न किया गया उस समय वह आगमनरूप क्रियासे रहित है किन्तु वह किसी एक स्थानमें या स्वयं अपनेमें स्थित है। अतः वह कहींसे भी

नहीं आ रहा है ऐसा यह नय स्वीकार करता है। इसीप्रकार इस नयकी दृष्टिमें विशेषण-विशेष्यभाव, सामानाधिकरण्य, वाच्यवाचकभाव आदि भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि ये सब दो पदार्थोंसे संबन्ध रखते हैं पर यह नय दो पदार्थोंके सम्बन्धको स्वीकार ही नहीं करता है। तथा इस नयकी दृष्टिमें उत्पाद और विनाश ये दोनों ही निर्हेतुक हैं, क्योंकि उत्पाद और विनाश जब वस्तुके स्वभाव हैं तो वे निर्हेतुक होने ही चाहिये। तथा इस नयका विषय संयोगसम्बन्ध और समवायसम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि संयोगसंबन्ध दोमें और समवायसंबन्ध कथंचित् दोमें होता है। पर जब इस नयका विषय दो नहीं है तो दोमें रहनेवाला सम्बन्ध इसका विषय कैसे हो सकता है? अतएव इसकी दृष्टिमें न तो द्रव्यगत भेद ही प्रतिभासित होते हैं और न अनेक द्रव्योंका संयोग या द्रव्य और पर्यायका समवाय ही प्रतिभासित होता है। तथा यह नय प्रत्येक वस्तुको निरंशरूपसे ही स्वीकार करता है। ऊपर इस नयका विषय जो शुद्ध परमाणु कहा है उसका अर्थ परमाणु द्रव्य नहीं लेना चाहिये किन्तु निरंश और सन्तानरूप धर्मसे रहित शुद्ध एक पर्यायमात्र लेनी चाहिये। इसप्रकार जब इसका विषय शुद्ध निरंश पर्यायमात्र है, तो दोमें रहनेवाला सदृशपरिणाम इसका विषय किसी भी हालतमें नहीं हो सकता है। इस नयकी दृष्टिसे जो स्थापना निक्षेपका निषेध किया जाता है उसका भी यही कारण है। वास्तवमें एकसमयवर्ती वर्तमानकालीन पर्यायको छोड़कर इस नयकी और किसी भी विषयमें प्रवृत्ति नहीं होती है। परन्तु सदृशपरिणाम-रूप तिर्यक्सामान्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अभिन्न पदार्थोंमें हो ही नहीं सकता। वह तो क्षेत्रादिके भेदसे रहनेवाले दो पदार्थोंमें ही होता है जो कि इस नयके विषय नहीं हैं। अतः कोई किसीके समान है यह भी इस नयकी दृष्टिमें नहीं बनता है। तथा इस नयके विषय संयोगादिक नहीं होनेसे इस नयकी दृष्टिमें स्कन्ध द्रव्य भी नहीं बन सकता है। इस नयका विषय न तो तिर्यक्सामान्य ही है और न ऊर्ध्वतासामान्य ही है, क्योंकि इस नयका विषय न तो दो पदार्थ ही है और न अनेकक्षणवर्ती एक द्रव्य ही। यद्यपि यह नय विशेषको विषय करता है पर विशेषमें भी पर्यायविशेष ही इसका विषय है व्यतिरेकविशेष नहीं, क्योंकि व्यतिरेकविशेष दोकी अपेक्षा करता है परन्तु जब यह नय दोको ग्रहण ही नहीं करता है तो द्वयसापेक्ष धर्मको कैसे स्वीकार कर सकता है? तथा पर्याय-विशेष सजातीय और विजातीय आदि सभी उपाधियोंसे रहित है, निरंश है। अत एव इस नयकी अपेक्षा स्तंभादि स्कन्धरूप प्रत्यय भ्रान्त समझना चाहिये। इस सब कथनका सार यह है कि यह नय शुद्ध वर्तमानकालीन एकक्षणवर्ती पर्यायमात्रको विषय करता है अन्य सब इस नयके अविषय हैं। किन्तु इससे सकल व्यवहारका उच्छेद प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि कोई भी नय किसी एक दृष्टिकोणसे ही वस्तुको विषय करता है। और व्यवहार अनेक दृष्टिकोणोंके समन्वयका परिणाम है। अतः किसी भी एक नयका विषय दिख-

§ १९७. तत्र व्यञ्जननयस्त्रिविधः–शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्चेति। शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः। लिङ्ग-सङ्ख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरोऽयं नयः। लिङ्गव्यभिचारः–स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानम्–तारका स्वातिरिति। पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम्–अवगमो विद्येति। स्त्रीलिङ्गे नपुंसकाभिधानम्–वीणा आतोद्यमिति। नपुंसके स्त्र्यभिधानम्–आयुधं शक्तिरिति। पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानम्–पटो वस्त्रमिति।

लाते हुए यदि चालू व्यवहार उसका विषय नहीं पड़ता है तो इससे व्यवहारके उच्छेदके भयका कोई कारण नहीं है, क्योंकि जहां प्रत्येक नयका कथन किया जाता है वहां उस नयके स्वरूप और विषयका प्रतिपादन करना ही उसका मूल प्रयोजन रहता है। इसी अपेक्षासे यहां ऋजुसूत्र नयका विषय दिखलाया गया है, व्यवहारकी प्रधानतासे नहीं। व्यवहार तो नयसमूहका कार्य है, वह एक नयसे हो भी नहीं सकता है।

§ १९७. व्यंजननय तीन प्रकारका है–शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। 'शपति' अर्थात् जो पदार्थको बुलाता है अर्थात् उसे कहता है या उसका निश्चय कराता है उसे शब्दनय कहते हैं। यह शब्दनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके व्यभिचारको दूर करता है। पुल्लिंगके स्थानमें स्त्रीलिंगका और स्त्रीलिङ्गके स्थानमें पुल्लिङ्गका कथन करना आदि लिङ्गव्यभिचार है। जैसे–'तारका स्वातिः' स्वाति नक्षत्र तारका है। यहां पर तारका शब्द स्त्रीलिङ्ग और स्वाति शब्द पुल्लिङ्ग है, अतः स्त्रीलिङ्ग शब्दके स्थान पर पुल्लिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है, अर्थात् तारका शब्द स्त्रीलिङ्ग है उसके साथमें पुल्लिङ्ग स्वाति शब्दका प्रयोग किया गया है जो कि नहीं किया जाना चाहिये था। अतः यह लिंगव्यभिचार है। इसीतरह आगे भी समझना चाहिये। 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहाँ पर अवगम शब्द पुल्लिङ्ग और विद्या शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतएव पुल्लिङ्गके स्थानमें स्त्रीलिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है। 'वीणा आतोद्यम्' वीणा बाजा आतोद्य कहा जाता है। यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिङ्ग और आतोद्य शब्द नपुंसकलिङ्ग है, अतएव स्त्रीलिङ्ग शब्दके स्थानमें नपुंसकलिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है। 'आयुधं शक्तिः' शक्ति एक आयुध है। यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिङ्ग और शक्तिशब्द स्त्रीलिङ्ग है,

(१) लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः··।"–सर्वार्थसि० १।३३। "शपति अर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः···स च लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः।"–राजवा० १।३३। "कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।"– लघी० का० ४४। प्रमाणसं० का० ८२। त० श्लो० पृ० २७२। नयवि० श्लो० ८४। "शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः।"–ध० सं० पृ० ८७। नयचक्र० गा० ४०। "इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो"–अनु० सू० १४५। आ० नि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८। "यथार्थाभिधानं शब्दः··आह च–विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम्"–त० भा० १।३५। प्रमाणनय० ७।३२, ३३। स्या० म० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२। (२) "तत्र लिङ्गव्यभिचारः पुष्यस्तारका नक्षत्रमिति····"–सर्वार्थसि०, राजवा०, त० श्लो० १।३३। ध० आ० प० ५४३। ध० सं० प० ८७।

नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानम्–द्रव्यं परशुरिति। सङ्ख्याव्यभिचारः–एकत्वे द्वित्वम्–नक्षत्रं पुनर्वसू इति। एकत्वे बहुत्वम्–नक्षत्रं शतभिषज इति। द्वित्वे एकत्वम्–गोधौ (गोदौ) ग्राम इति। द्वित्वे बहुत्वम्–पुनर्वसू पंचतारका इति। बहुत्वे एकत्वम्–आम्रा वनमिति। बहुत्वे द्वित्वम्–देवमनुष्या उभौ राशी इति। कालव्यभिचारः–विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो

अतएव नपुंसकलिङ्गके स्थानमें स्त्रीलिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है। 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है। यहाँ पर पट शब्द पुल्लिङ्ग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिङ्ग है, अतः पुल्लिङ्ग शब्दके स्थानमें नपुंसकलिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है। 'द्रव्यं परशुः' फरसा एक द्रव्य है। यहाँ पर द्रव्य शब्द नपुंसकलिङ्ग और परशु शब्द पुल्लिङ्ग है, अतएव नपुंसकलिङ्ग शब्दके स्थानमें पुल्लिङ्ग शब्दका कथन करनेसे लिङ्गव्यभिचार है।

एकवचन आदिके स्थान पर द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है। जैसे–'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र हैं। यहाँ नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है, इसलिये एकवचनके साथमें द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषज नक्षत्र हैं। यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज् शब्द बहुवचनान्त है। इसलिये एकवचनके साथमें बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'गोदौ ग्रामः' गोदौ नामका एक गाँव है। यहाँ पर गोद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है, इसलिये द्विवचनके साथमें एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'पुनर्वसू पंचतारकाः' पुनर्वसू पाँच तारकाएं हैं। यहाँ पर पुनर्वसु शब्द द्विवचनान्त और तारका शब्द बहुवचनान्त है, इसलिये द्विवचनके साथमें बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'आम्राः वनम्' आमोंका वन है। यहाँ पर आम्र शब्द बहुवचनान्त और वन शब्द एकवचनान्त है। अतः बहुवचनके साथमें एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहाँ पर देव-मनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है, इसलिये बहुवचनके साथमें द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है।

भूत आदि कालके स्थानमें भविष्यत् आदि कालका कथन करना कालव्यभिचार है। जैसे–'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसका पुत्र होगा। 'विश्वदृश्वा' यह भूतकालीन प्रयोग है और 'जनिता' यह भविष्यत्कालीन

(१) "आयुधं परशुरिति"–ध० सं० प० ८७। "द्रव्यं परशुरिति"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। (२) "द्वित्वे एकत्वं गोदौ ग्राम इति"–राजवा० १।३३। ध० सं० प० ८८। (३) "विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनितेति भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः। भाविकृत्यमासीदिति भूतार्थे भविष्यत्प्रयोगः।"–"ध० आ० प० ५४३। ध० सं० प० ८८। "ये हि वैयाकरणाव्यवहारनयानुरोधेन धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेन अतीतकालस्याभेदोऽभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति; तत्र यः परीक्षायाः मूलक्षतेः (?) कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसङ्गात्, रावणशङ्खचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः। आसीद्रावणो

जनिता, भाविकृत्यमासीदिति। साधनव्यभिचारः–ग्राममधिशेते इति। पुरुषव्यभिचारः–एहि, मन्ये, रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पिता इति। उपग्रहव्यभिचारः–रमते विरमति[1], तिष्ठति सन्तिष्ठते, विशति निविशते इति। एवमादयो[2] व्यभिचारा न युक्ताः; अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात्। तस्मात् यथालिङ्गं यथासङ्ख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम्।

प्रयोग है अतः भविष्य अर्थके विषयमें भूतकालीन प्रयोग करना कालव्यभिचार है। 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका। यहाँ पर जो कार्य हो चुका उसे आगे होनेवाला कहा गया है, अतः भूत अर्थके विषयमें भविष्यत् कालका प्रयोग होनेसे यह कालव्यभिचार है।

एक कारकके स्थान पर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधनव्यभिचार कहते हैं। जैसे–ग्राममधिशेते' वह गाँवमें विश्राम करता है। यहाँ पर सप्तमीके स्थान पर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है इसलिये यह साधनव्यभिचार है।

उत्तम पुरुषके स्थान पर मध्यमपुरुष और मध्यमपुरुषके स्थान पर उत्तम पुरुष आदिके प्रयोग करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं। जैसे–'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' जाओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊंगा ? पर तुम नहीं जा सकते। तुम्हारे पिता भी कभी गये हैं ? यहाँ पर परिहासमें 'मन्यसे' के स्थान पर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुषका और 'यास्यामि' के स्थान पर 'यास्यसि' यह मध्यम पुरुषका प्रयोग हुआ है, इसलिये यह पुरुषव्यभिचार है।

उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थान पर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थान पर परस्मैपदके प्रयोग करनेको उपग्रहव्यभिचार कहते हैं। जैसे–'रमते' के साथ 'वि' उपसर्गके लगानेसे 'विरमति' यह परस्मैपदका प्रयोग बनता है तथा 'तिष्ठति' के साथमें 'सं' उपसर्ग लगानेसे 'संतिष्ठते' और 'विशति'के साथमें 'नि' उपसर्गके लगानेसे 'निविशते' यह आत्मनेपदका प्रयोग बनता है। यह उपग्रह व्यभिचार है। इसप्रकारके जितने भी लिङ्ग आदि व्यभिचार हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसलिये जैसा लिङ्ग हो, जैसी संख्या हो और जैसा साधन हो उसीके अनुसार कथन करना उचित है।

राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वात् नैकार्थतेति चेत्; विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि माभूत् तत एव। नहि विश्वं दृष्टवान् इति विश्वदृशि त्वेति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्।"–त० श्लो० पृ० २७३।

(१) विरमति संतिष्ठते तिष्ठति वि–ता०, स०। विरमति सन्तिष्ठते सन्तिष्ठति वि–अ०। विरमन्ते विरमन्ति संतिष्ठते संतिष्ठति वि–आ०। "रमते विरमति तिष्ठति सन्तिष्ठते विशति निविशते।" ध० आ० प० ५४३। (२) "एवम्प्रकारं व्यवहारनयं न्या (–रमयमन्या) य्यं मन्यते अन्यार्थस्य अन्यार्थेन

§ १९८. शब्दोऽर्थस्य निस्सम्बन्धस्य कथं वाचक इति चेत्? प्रमाणमर्थस्य निस्सम्बन्धस्य कथं ग्राहकमिति समानमेतत्? प्रमाणार्थयोर्जन्यजनकलक्षणः प्रतिबन्धोऽस्तीति चेत्; न; वस्तुसामर्थ्यस्यान्यतः समुत्पत्तिविरोधात्। अत्रोपयोगी श्लोकः–

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्ति (क्तिः) कर्त्तुमन्येन पार्यते ॥९२॥"

विशेषार्थ–ऊपर जिन चार नयोंका वर्णन कर आये हैं वे शब्दकी अपेक्षा विचार नहीं करते। इसलिये उनकी अपेक्षा एक पदार्थके अनेक नाम भी हो सकते हैं और अनेक पदार्थोंका भी एक नाम हो सकता है। तथा शब्दोंका व्यवहार करते समय लिङ्ग, संख्या काल, कारक और उपसर्गकी अपेक्षा जो व्यभिचार आता है उसे भी वे दूर नहीं करते हैं। पर आगेके तीन नय शब्दप्रधान हैं। इनमें किस शब्दका कब किस वस्तुके लिये प्रयोग करना चाहिये इसका मुख्यतासे विचार किया गया है। इनमें शब्दनय एक पदार्थके पर्यायवाची नामोंको तो स्वीकार करता है पर उनमें लिङ्गादिकसे आनेवाले व्यभिचारको नहीं मानता है। यदि लिङ्ग और वचनादिकके भेदसे शब्दोंमें भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थमें भी भेद होना ही चाहिये यह इस नयका अभिप्राय है।

§ १९८. **शंका**–शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह अर्थका वाचक कैसे हो सकता है?

समाधान–प्रमाणका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता है फिर भी वह अर्थको कैसे ग्रहण करता है? यह भी समान है। अर्थात् जैसे प्रमाण और अर्थका कोई सम्बन्ध न होने पर भी वह अर्थको ग्रहण कर लेता है वैसे ही शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध न रहने पर भी शब्द अर्थका वाचक हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है?

शंका–प्रमाण और अर्थमें जन्य-जनकलक्षण सम्बन्ध पाया जाता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि वस्तुकी शक्तिकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको उसीरूपसे जाननेकी शक्तिको प्रमाण कहते हैं। वह शक्ति अर्थसे उत्पन्न नहीं हो सकती है। यहां इस विषयमें उपयोगी श्लोक देते हैं–

"सब प्रमाणोंमें स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जो शक्ति पदार्थमें स्वतः विद्यमान नहीं है वह अन्यके द्वारा नहीं की जा सकती है ॥९२॥"

सम्बन्धाभावात्।"–सर्वार्थसि० १।३३। "एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः। कुतः? अन्यार्थस्य अन्यार्थेन सम्बन्धाभावात्। यदि स्यात् घटः पटो भवतु पटः प्रासाद इति। तस्मात् यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम्।"–राजवा० १।३३। ध० आ० प० ५४३। ध० सं० पृ० ८९।

(१) "नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन····"–मी० श्लो०। (२) मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७। तुलना–"स्वहेतुजनितोप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा। तथा ज्ञानं स्वहेतुत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥"–

§ १९९. प्रमाणार्थयोः स्वभावत एवं ग्राह्यग्राहकभावश्चेत्; तर्हि शब्दार्थयोः स्वभावत एव वाच्यवाचकभावः किमिति नेष्यते अविशेषात् ? यदि स्वभावतो वाच्य-वाचकभाव (वः) किमिति पुरुषव्यापारम[1]पेक्षते चेत् ? प्रमाणेन स्वभावतोऽर्थसम्बद्धेन किमितीन्द्रियमालोको वा अपेक्ष्यत इति समानमेतत्। शब्दार्थस[2]म्बन्धः कृत्रिमत्वाद्वा पुरुषव्यापारमपेक्षते।

§ २००. नानार्थसमभिरोहणात्समभि[3]रूढः, इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति। नैते एकार्थवाचकाः भिन्नार्थप्रतिबद्धत्वात्। पदभेदान्यथानुपपत्तेरर्थभेदेन

§ १९९. इसप्रकार यदि प्रमाण और अर्थमें स्वभावसे ही ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है तो शब्द और अर्थमें स्वभावसे ही वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध क्यों नहीं मान लिया जाता है, क्योंकि जो आक्षेप और समाधान शब्द और अर्थके सम्बन्धके विषयमें किये जाते हैं वे सब प्रमाण और अर्थके सम्बन्धके विषयमें भी लागू होते हैं, दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है।

शंका–शब्द और अर्थमें यदि स्वभावसे ही वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है तो फिर वह पुरुषव्यापारकी अपेक्षा क्यों करता है ?

समाधान–प्रमाण यदि स्वभावसे ही अर्थसे सम्बद्ध है तो फिर वह इन्द्रियव्यापार या आलोककी अपेक्षा क्यों करता है ? इसप्रकार शब्द और प्रमाण दोनोंमें शंका और समाधान समान है। फिर भी यदि प्रमाणको स्वभावसे ही पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला माना जाता है तो शब्दको भी स्वभावसे ही अर्थका वाचक मानना चाहिये।

अथवा, शब्द और पदार्थका सम्बन्ध कृत्रिम है। अर्थात् पुरुषके द्वारा किया हुआ है, इसलिये वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखता है।

§ २००. शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अभिरूढ़ है अर्थात् जो शब्द भेदसे अर्थभेद मानता है उसे समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे–एक ही देवराज इन्दनक्रियाका कर्ता अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदिसे युक्त होनेके कारण इन्द्र, शकनात् अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक्र और पुर अर्थात् नगरोंका दारण अर्थात् विभाग करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर कहलाता है। ये तीनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थसे सम्बन्ध रखते हैं इसलिये एक अर्थके वाचक नहीं हैं। आशय यह है कि अर्थभेदके विना पदोंमें भेद वन नहीं सकता है, इसलिये

लघी० का० ५९।

(१)–पेक्ष्यते अ०, आ०। (२)–सम्बन्धकृत्रि–अ०, आ०। (३) "नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः।··अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।३३। "पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्"–लघी० स्ववृ० का० ७२। प्रमाणसं० का० ८३। त० श्लो० पृ० २७३। नयविव० श्लो० ९२। प्रमेयक० पृ० ६७९। नयचक्र० गा० ४१। "वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नए समभिरूढे"–अनु० सू० १४५। आ० नि०

भवितव्यमित्यभिप्रायवान् समभिरूढ इति बोद्धव्यः। अस्मिन्नये न सन्ति पर्यायशब्दाः प्रतिपदमर्थभेदाभ्युपगमात्। न च द्वौ शब्दावेकस्मिन्नर्थे वर्तेते; भिन्नयोरेकार्थे वृत्तिविरोधात्। न च समानशक्तित्वात्तत्र वर्तेते; समानशक्त्योः शब्दयोरेकत्वापत्तेः। ततो वाचकभेदादवश्यं वाच्यभेदेन भाव्यमिति। अथ स्यात्, न शब्दो वस्तुधर्मः; तस्य ततो भेदात्। नाभेदः; भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् भिन्नार्थक्रियाकारित्वात् भिन्नसाधनत्वात् उपायोपेयभावोपलम्भाच्च। न विशेष्याद्भिन्नं विशेषणम्; अव्यवस्थापत्तेः। ततो न वाचक-

पदभेदसे अर्थमें भेद होना ही चाहिये इस अभिप्रायको स्वीकार करनेवाला समभिरूढनय है, ऐसा समझना चाहिये। इस नयमें पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि यह नय प्रत्येक पदका भिन्न अर्थ स्वीकार करता है अर्थात् यह नय एक पद एक ही अर्थका वाचक है ऐसा मानता है। इस नयकी दृष्टिमें दो शब्द एक अर्थमें रहते हैं ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न दो शब्दोंका एक अर्थमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि उन दोनों शब्दोंमें समान शक्ति पाई जाती है इसलिये वे एक अर्थमें रहते हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि दो शब्दोंमें सर्वथा समान शक्ति मानी जायगी तो फिर वे दो नहीं रहेंगे एक हो जायेंगे। इसलिये जब वाचक शब्दोंमें भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थमें भेद होना ही चाहिये।

शंका–शब्द वस्तुका धर्म तो हो नहीं सकता है, क्योंकि शब्दका वस्तुसे भेद पाया जाता है। शब्दका यदि वस्तुसे अभेद माना जाय सो भी नहीं है, क्योंकि शब्दका ग्रहण भिन्न इन्द्रियसे होता है और वस्तुका ग्रहण भिन्न इन्द्रियसे होता है, शब्द भिन्न अर्थक्रियाको करता है और वस्तु भिन्न अर्थक्रियाको करती है, शब्द भिन्न कारणसे उत्पन्न होता है और वस्तु भिन्न कारणसे उत्पन्न होती है तथा दोनोंमें उपाय-उपेयभाव पाया जाता है अर्थात् शब्द उपाय है और वस्तु उपेय है, क्योंकि शब्दके द्वारा वस्तुका बोध होता है। इसलिये शब्द और वस्तुका अभेद नहीं बनता है। शब्द और अर्थमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि विशेष्यसे भिन्न विशेषण नहीं पाया जाता है। यदि विशेषणको विशेष्यसे भिन्न माना जाय तो विशेषण-विशेष्यभावकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। इसप्रकार जब शब्द और अर्थका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता तो शब्दके भेदसे अर्थमें भेद नहीं माना जा सकता है।

गा० ७५८। "सत्स्वर्थेषु असंक्रमः समभिरूढः।"–त० भा० १।३५। "जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा। सण्णंतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढो त्ति।"–विशेषा० गा० २७२७। सम्मति० टी० पृ० ३१३। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म० पृ० ३१४। "पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।"–जैनतर्क भा० पृ० २२।

(१) "न पर्यायशब्दाः सन्ति भिन्नपदानामेकार्थवृत्तिविरोधात्।"–ध० सं० पृ० ८९। ध० आ० प० ५४४। (२) भव्यमिति अ०, ता०। (३) "नाभेदो वाच्यवाचकभावात् भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् भिन्न-

भेदाद्वाच्यभेद इति; न; प्रकाश्याद्भिन्नानामेव प्रमाण-प्रदीप-सूर्य-मणीन्द्रादीनां प्रकाशकत्वोपलम्भात्, सर्वथैकत्वे तदनुपलम्भात्। ततो भिन्नोऽपि शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम्।

समाधान–नहीं, क्योंकि जिसप्रकार प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ घट पट आदि प्रकाश्यभूत पदार्थोंसे भिन्न रहकर ही उनके प्रकाशक देखे जाते हैं, तथा यदि उन्हें सर्वथा अभिन्न माना जाय तो उनमें प्रकाश्यप्रकाशकभाव नहीं बन सकता है उसीप्रकार शब्द अर्थसे भिन्न होकर भी अर्थका वाचक होता है ऐसा समझना चाहिये। इसप्रकार जब शब्द अर्थका वाचक सिद्ध हो जाता है तो वाचक शब्दके भेदसे उसके वाच्यभूत अर्थमें भेद होना ही चाहिये।

विशेषार्थ–समभिरूढ़नय पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है। इस पर शङ्काकारका कहना है कि शब्द अर्थका धर्म नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थमें भेद है। यदि शब्दका और अर्थका एकसाथ एक इन्द्रियसे ग्रहण होता, दोनों ही एक कार्य करते, दोनों ही एक प्रकारके कारणसे उत्पन्न होते, और दोनोंमें उपाय-उपेयभाव न होता तो शब्दको अर्थसे अभिन्न भी माना जा सकता था। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि शब्दका ग्रहण श्रोत्र इन्द्रियसे होता है और अर्थका ग्रहण चक्षु इन्द्रियसे। शब्द श्रोत्र-प्रदेशमें पहुँचकर भिन्न अर्थक्रियाको करता है और घटादि अर्थ जलधारणादिरूप भिन्न अर्थ-क्रियाको करते हैं। शब्द तालु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है और घटादि अर्थ मिट्टी कुम्हार और चक्र आदि कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। शब्द उपाय है और अर्थ उपेय। तथा शब्द और अर्थमें विशेषण-विशेष्यभाव होनेसे शब्दभेदसे अर्थभेद बन जायगा यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि भिन्न दो पदार्थोंमें विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार शब्दका अर्थसे भेद सिद्ध हो जाने पर शब्दभेदसे अर्थभेद मानना युक्त नहीं है। इसका यह समाधान है कि यद्यपि शब्द अर्थसे भिन्न है, फिर भी शब्द अर्थका वाचक है ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ यद्यपि अपने प्रकाश्यभूत घटादि पदार्थोंसे भिन्न पाये जाते हैं फिर भी वे घटादि पदार्थोंके प्रकाशक हैं। अतः जब मणि आदि पदार्थ अपनेसे भिन्न घटादि पदार्थोंके प्रकाशक हो सकते हैं तो शब्द अपनेसे भिन्न अर्थके वाचक रहें इसमें क्या आपत्ति है? सर्वथा अभेदमें वाच्यवाचकभाव और प्रकाश्यप्रकाशकभाव बन भी नहीं सकता है, क्योंकि वाच्य-वाचक और प्रकाश्यप्रकाशकभाव दोमें होता है। अतः शब्द अर्थसे भिन्न होता हुआ भी

साधनत्वात् भिन्नार्थक्रियाकारित्वात् उपायोपेयरूपत्वात् त्वगिन्द्रियग्राह्याग्राह्यत्वात् क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य घटनपूरणप्रसङ्गात् वैयधिकरण्यात्।"–ध० आ० प० ५४४।

(१)–कत्वं त–अ०। –कत्व त–आ०, स०।

§ २०१. एवम्भवनादेवम्भूतः। अस्मिन्नये न पदानां समासोऽस्ति; स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात्। न पदानामेककालवृत्तिः समासः; क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षयिणां तदनुपपत्तेः। नैकार्थे वृत्तिः समासः; भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्तेः। न वर्णसमासोऽप्यस्ति; तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात्। तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थः एकार्थ इत्येवम्भूताभिप्रायवान् एवम्भूतनयः। सत्येवं

अर्थका वाचक है यह सिद्ध हो जाता है। और उसके सिद्ध हो जाने पर शब्दभेदसे अर्थभेद बन जाता है, जो कि समभिरूढनयका विषय है।

§ २०१. 'एवंभवनात्' अर्थात् जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयमें नहीं, ऐसा जिस नयका अभिप्राय है उसे एवंभूतनय कहते हैं। इस नयमें पदोंका समास नहीं होता है, क्योंकि जो पद स्वरूप और कालकी अपेक्षा भिन्न हैं, उन्हें एक माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि पदोंमें एककालवृत्तिरूप समास पाया जाता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पद क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं और वे जिस क्षणमें उत्पन्न होते हैं उसी क्षणमें विनष्ट हो जाते हैं, इसलिये अनेक पदोंका एक कालमें रहना नहीं बन सकता है। पदोंमें एकार्थवृत्तिरूप समास पाया जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न पदोंका एक अर्थमें रहना बन नहीं सकता है। तथा इस नयमें जिसप्रकार पदोंका समास नहीं बन सकता है उसीप्रकार व, ट आदि अनेक वर्णोंका भी समास नहीं बन सकता है, क्योंकि अनेक पदोंके समास माननेमें जो दोष कह आये हैं वे सब दोष अनेक वर्णोंके समास माननेमें भी प्राप्त होते हैं। इसलिये एवंभूतनयकी दृष्टिमें एक ही वर्ण एक अर्थका वाचक है। अतः घट आदि पदोंमें रहनेवाले घ्, ट् और अ, अ आदि वर्णमात्र अर्थ ही एकार्थ हैं इसप्रकारके अभिप्रायवाला एवंभूतनय समझना चाहिये।

(१) "येनात्मना भूतस्तेनैव अध्यवसाययति इत्येवम्भूतः। अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनैवाध्यवसाययति।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।३३। "इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः"–लघी० श्लो० ४४। प्रमाणसं० श्लो० ८३। त० श्लो० पृ० २७४। "एवं भेदे भवनादेवम्भूतः"–ध० सं० पृ० ९०। "वाचकगतवर्णभेदेन अर्थस्य वागाद्यर्थभेदेन गवादिशब्दस्य च भेदकः एवम्भूतः, क्रियाभेदेनार्थभेदक एवम्भूतः।"–ध० आ० प० ५४४। नयविव० श्लो० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। नयचक्र० गा० ४३। "वंजणअत्यतदुभयं एवंभूओ विसेसेइ"–अनु० सू० १४५। आ० नि० गा० ७५८। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः"–त० भा० १।३५। "वंजणमत्थेणत्थं च वंजणेणोभयं विसेसेइ। जह घटसद्दं चेष्टावया तहा तं पि तेणेव॥"–विशेषा० गा० २७४३। सन्मति० टी० पृ० ३१४। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। "शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।"–जैनतर्कभा० पृ० २३। (२) तुलना–"न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनाञ्च एकत्वविरोधात्।"–ध० सं० पृ० ९०। (३) "पदगतवर्णभेदाद्वाच्यभेदस्य अध्यवसायकोऽप्येवम्भूतः।"–ध० सं० पृ० ९०।

वाच्यवाचकभावः प्रणश्यतीति चेत्; नैष दोषः; नयविषयप्रदर्शनात्। एवं सप्तानां नयानां दिङ्मात्रेण स्वरूपनिरूपणा कृता।

शंका–यदि एवंभूतनयको उक्त अभिप्रायवाला माना जायगा तो वाच्यवाचकभावका लोप हो जायगा।

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर एवंभूत नयका विषय दिखलाया है। इसप्रकार सातों नयोंके स्वरूपका संक्षेपसे निरूपण किया।

विशेषार्थ–(१) पर्यायार्थिकनय पर्यायको विषय करता है द्रव्यको नहीं, यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है। पर्यायार्थिकनयके इस लक्षणके अनुसार ऋजुसूत्र आदि सभी पर्यायार्थिक नयोंका विषय वर्तमानकालीन एकसमयवर्ती पर्याय होता है यह ठीक है। फिर भी ऋजुसूत्र नयमें लिंगादिके भेदसे होनेवाला पर्यायभेद अविवक्षित है, अतः शब्द-नयकी अपेक्षा ऋजुसूत्रका विषय सामान्यरूप हो जाता है और शब्दनयका विशेषरूप। शब्दनयमें पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे होनेवाला पर्यायभेद अविवक्षित है, इसलिये सम-भिरूढ़नयकी अपेक्षा शब्दनयका विषय सामान्यरूप हो जाता है और समभिरूढ़नयका विशेषरूप। इसीप्रकार समभिरूढ़नयमें वर्णभेदसे होनेवाला पर्यायभेद अविवक्षित है, इसलिये एवंभूतनयकी अपेक्षा समभिरूढ़नयका विषय सामान्यरूप हो जाता है और एवंभूतनयका विषय विशेषरूप। एवंभूतनयके इसी विषयको ध्यानमें रख कर ऊपर पदोंमें एककालवृत्ति समास और एकार्थवृत्तिसमासका निषेध करके यह बतलाया है कि इस नयकी दृष्टिमें जिसप्रकार पदोंका समास नहीं बनता है उसीप्रकार वर्णोंका भी समास नहीं बनता है। अतएव इस नयका विषय प्रत्येक वर्णका वाच्यभूत अर्थ ही समझना चाहिये।

(२) इसप्रकार ऊपर जो सात नय कहे गये हैं वे उत्तरोत्तर अल्प विषयवाले हैं, अर्थात् नैगमनयके विषयमें संग्रह आदि छहों नयोंका विषय समा जाता है। संग्रह नयके विषयमें व्यवहार आदि पांचों नयोंका विषय समा जाता है। इसीप्रकार आगे भी समझना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि संग्रहनयकी अपेक्षा नैगमका, व्यवहार की अपेक्षा संग्रहका और ऋजुसूत्र आदिकी अपेक्षा व्यवहार आदिका विषय महान् है। अर्थात् नैगमनयका समग्र विषय संग्रहनयका अविषय है। संग्रहनयका समग्र विषय व्यवहारनयका अविषय है। इसीप्रकार आगे भी समझना चाहिये। इन सातों नयोंमें से नैगम नय द्रव्य और पर्यायगत भेदाभेदको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करता है इसलिये संग्रहनयके विषयसे नैगमनयका विषय महान् है और नैगमनयके विषयसे संग्रह नयका विषय अल्प है। संग्रहनय अभेदरूपसे द्रव्यको ग्रहण करता है, इसलिये व्यवहार-नयसे संग्रहनयका विषय महान् है और संग्रहनयसे व्यवहारनयका विषय अल्प है। व्यवहारनय भेदरूपसे द्रव्यको विषय करता है, इसलिये ऋजुसूत्रनयके विषयसे व्यवहार-

§ २०२. द्रव्यार्थिकनैगमः पर्यायार्थिकनैगमः द्रव्यपर्यायार्थिकनैगमश्चेत्येवं त्रयो नैगमाः। तत्र सर्वमेकं सदविशेषात्, सर्वं द्विविधं जीवाजीवभेदादित्यादियुक्त्यवष्टम्भबलेन विषयीकृतसंग्रहव्यवहारनयविषयः द्रव्यार्थिकनैगमः। ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयविषयं

नयका विषय महान् है और व्यवहारनयके विषयसे ऋजुसूत्रनयका विषय अल्प है। ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्यायको ग्रहण करता है इसलिये शब्दनयके विषयसे ऋजुसूत्रनयका विषय महान् है और ऋजुसूत्रनयके विषयसे शब्दनयका विषय अल्प है। शब्दनय लिङ्गादिकके भेदसे वर्तमानकालीन पर्यायको भेदरूपसे ग्रहण करता है इसलिये समभिरूढनयके विषयसे शब्दनयका विषय महान् है और शब्दनयके विषयसे समभिरूढ नयका विषय अल्प है। समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे वर्तमानकालीन पर्यायको भेदरूपसे स्वीकार करता है इसलिये वर्णभेदसे पर्यायके भेदको माननेवाले एवंभूतनयसे समभिरूढ नयका विषय महान् है और समभिरूढनयके विषयसे एवंभूतनयका विषय अल्प है। ये सातों ही नय परस्पर सापेक्ष हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि प्रत्येक नय अपने ही विषयको ग्रहण करता है फिर भी उसका प्रयोजन दूसरे दृष्टिकोणका निराकरण करना नहीं है। इससे अनेकान्तात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। और इसी विवक्षासे ये सातों नय समीचीन कहे जाते हैं।

§ २०२. शंका–द्रव्यार्थिकनैगम, पर्यायार्थिकनैगम और द्रव्यपर्यायार्थिकनैगम इस प्रकार नैगमनय तीन प्रकारका है। उन तीनोंमेंसे, सत् सामान्यकी अपेक्षा पदार्थोंमें कोई विशेषता नहीं होनेसे सब एक हैं तथा जीव और अजीवके भेदसे सब दो रूप हैं इत्यादि युक्तिरूप आधारके बलसे संग्रह और व्यवहार इन दोनों नयोंके विषयको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिकनैगम-

(१) "स हि त्रेधा प्रवर्तते द्रव्ययोः पर्याययोः द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात् नैकं गमो नैगम इति निर्वचनात्। तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। पर्यायनैगमस्त्रेधा अर्थपर्याययोः व्यञ्जनपर्याययोः अर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति। अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा–ज्ञानार्थपर्याययोः ज्ञेयार्थपर्याययोः ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति। व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा–शब्दव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः एवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति। अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा–ऋजुसूत्रशब्दयोः ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः ऋजुसूत्रैवम्भूतयोश्चेति। द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा–शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च। एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः अशुद्धद्रव्यशब्दयोः अशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः अशुद्धद्रव्यैवम्भूतयोश्चेति लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम्।"–अष्टसह० पृ० २८७। "सप्तैते नियतं युक्ता नैगमस्य नयत्वतः। तस्य त्रिभेदव्याख्यानात् कैश्चिदुक्ता नया नव॥ तत्र पर्यायगस्त्रेधा नैगमो द्रव्यगो द्विधा। द्रव्यपर्यायगः प्रोक्तश्चतुर्भेदो ध्रुवं बुधैः॥"–त० श्लो० पृ० २६९। नयवि० श्लो० ४२, ४३। "त्रिविधस्तावन्नैगमः–पर्यायनैगमः द्रव्यनैगमः द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा··द्वितीयो द्विधा·· तृतीयश्चतुर्धा–शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमश्चेति नवधा नैगमः··"–त० श्लो० पृ० २७०। स्या० र० पृ० १०५०। "नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात्" आलाप० पृ० १३८। (२) तुलना–"यथा सर्वमेकं सदविशेषात् सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात्।··" त०

युक्त्यवष्टम्भबलेन प्रतिपन्नः पर्यायार्थिकनैगमः । द्रव्यार्थिकनयविषयं पर्यायार्थिकनयविषयञ्च प्रतिपन्नः द्रव्यपर्यायार्थिकनैगमः । एवं त्रिभिर्नैगमैः सह नव नयाः किन्न भवन्ति चेत्? नैष दोषः; इष्ट[1] [-त्वात्, नयानामियत्तासंख्यानियमाभावात्] । उक्तञ्च-

"जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवादा ।
जावइया णयवादा तावइया चेव होंति परसमया[2] ॥९३॥"

§ २०३. एते सर्वेऽपि नयाः एकान्तावधारणगर्भा मिथ्यादृष्टयः; एतैरध्यवसितवस्त्वभावात् । न च नित्यं वस्त्वस्ति; तत्र क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्[3] । न नित्यं वस्तु प्रमाणविषयः; प्राक्प्र[4] [-तिपादितदोषानुषङ्गतस्तस्य प्रमाणविषयत्वायोगात्] ।

नय है । ऋजुसूत्र आदि चारों पर्यायार्थिकनयोंके विषयको युक्तिरूप आधारके बलसे स्वीकार करनेवाला पर्यायार्थिकनैगमनय है । तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयके विषयको स्वीकार करनेवाला द्रव्यपर्यायार्थिकनैगमनय है । इसप्रकार तीन नैगमनयोंके साथ नौ नय क्यों नहीं हो जाते हैं अर्थात् नैगमके उक्त तीन भेदोंको संग्रहनय आदि छह नयोंमें मिला देने पर नयके नौ भेद क्यों नहीं माने जाते हैं ?

समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नयोंकी संख्याका नियम न होनेसे ये नौ भेद भी इष्ट हैं । कहा भी है-

"जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं ॥९३॥"

§ २०३. ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तुका निश्चय कराते हैं तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना ये नय जिस प्रकारकी वस्तुका निश्चय कराते है वस्तु वैसी नहीं है । उनमें सर्वथा नित्यवादी नय वस्तुका सर्वथा नित्यरूपसे निश्चय कराता है परन्तु वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, क्योंकि यदि पदार्थको सर्वथा नित्य माना जायगा तो उसमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं बन सकती है । अर्थात् नित्य वस्तु न तो क्रमसे ही कार्य कर सकती है और न एक साथ ही कार्य कर सकती है । तथा सर्वथा नित्य वस्तु प्रमाणका विषय भी नहीं हो सकती है, क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तुको प्रमाणका विषय मानने पर पहले नित्य वस्तुके अस्तित्वमें जो दोष दे आये हैं उन दोषोंका

भा० १।३५ ।

(१) इष्टमनिष्टभेदविविक्तविकल्पसंव्यवहारार्थत्वात् । उक्तञ्च अ०, आ० । इष्ट (त्रु० १४) उक्तञ्च ता०, स० । 'नव नयाः क्वचिच्छ्रूयन्ते इति चेत्; न; नयानामियत्तासंख्यानियमाभावात्"-ध० आ० प० ५४४ । (२) सन्मति० ३।४७ । (३) "अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः । क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥"-लघी० का० ८। "क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति स्थिरा भावाः निःसत्त्वास्ते ततो मताः ॥"-तत्त्वसं० पृ० १४३ । वादन्याय पृ० ७। हेतुवि० टी० प० १४२। क्षणभङ्गसि० पृ० २० । अकलङ्क० टि० पृ० १३७। न्यायकुमु० टि० पृ० ८ । (४) प्राक् प्रयोगः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययः प्रशस्तमेव प्रत्यभिज्ञान-अ०, आ० । प्राक् प्र (त्रु० १९) प्रत्यभिज्ञान-ता०, स० ।

प्रत्यभिज्ञान-सन्धानप्रत्ययाभ्यां बहिरङ्गान्तरङ्गवस्तुनो नित्यत्वमूह्यत इति चेत्; न; नित्यैकान्ते [1]प्रत्यस्तमितपूर्वापरीभावे प्रत्यभिज्ञान-सन्धानप्रत्यययोरसत्त्वात्। व्यतिरेकप्रत्ययो भ्रान्त इति चेत्; न; बाधकप्रमाणमन्तरेण तद्भ्रान्त्यनुपपत्तेः। अन्वयप्रत्ययस्तद्बाधक इति चेत्; व्यतिरेकप्रत्ययः [2][कथन्न तद्बाधकः? ननु धर्मादयोऽपरिणामिनो नित्यैकरूपेणावस्थिता दृश्यन्ते इति चेत्; न;] [3]जीवपुद्गलेषु सक्रियेषु परिणमत्सु तदुपकारकाणां

प्रसंग यहां भी प्राप्त होता है, इसलिये नित्य वस्तु प्रमाणका विषय नहीं हो सकती है।

शंका–प्रत्यभिज्ञान प्रत्ययसे बहिरंग वस्तुकी और अनुसंधान प्रत्ययसे अन्तरंग वस्तुकी नित्यताका तर्क किया जा सकता है। अर्थात् 'यह वही वस्तु है' इस प्रकारके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तथा यही ज्ञान जब अन्तर्मुख होता है कि 'मैं वही हूं' तो उसे अनुसन्धान प्रत्यय कहते हैं। इन प्रत्ययोंसे वस्तु नित्य ही सिद्ध होती है।

समाधान–नहीं, क्योंकि नित्यैकान्तमें पूर्वापरीभाव नहीं बनता है अर्थात् जो सर्वथा नित्य है उसमें पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय नहीं हो सकती हैं। और पूर्वापरीभावके नहीं बननेसे न उसमें प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय हो सकता है और न अनुसन्धान प्रत्यय हो सकता है।

शंका–जो पर्याय पूर्वक्षणमें थी वह उत्तरक्षणमें नहीं है इसप्रकारका जो व्यतिरेक प्रत्यय होता है वह भ्रान्त है।

समाधान–नहीं, क्योंकि बाधक प्रमाणके विना व्यतिरेक प्रत्ययको भ्रान्त कहना असंगत है।

शंका–जो वस्तु पूर्व क्षणमें थी वही उत्तर क्षणमें है इसप्रकार जो अन्वयप्रत्यय होता है वह व्यतिरेकप्रत्ययका बाधक है।

समाधान–नहीं, क्योंकि यदि अन्वय प्रत्यय व्यतिरेक प्रत्ययका बाधक हो सकता है तो व्यतिरेकप्रत्यय भी अन्वयप्रत्ययका बाधक क्यों नहीं हो जाता है?

शंका–आपके मतमें भी धर्मादिक द्रव्य अपरिणामी हैं अतः वे नित्य और एक रूपसे अवस्थित देखे जाते हैं।

समाधान–नहीं, क्योंकि सक्रिय जीव और पुद्गल द्रव्योंके परिणमन करते रहने पर उनके उपकारक धर्मादिक द्रव्योंको सर्वथा अपरिणामी माननेमें विरोध आता है।

तुलना–"अध्यक्षेण नित्यानित्यमेव तदवगम्यते, अन्यथा तदवगमाभावप्रसङ्गात्। तथा च यदि तत्र अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं सर्वथा नित्यमभ्युपगम्यते एवं तर्हि तद्विज्ञानजननस्वभावं वा स्यादजननस्वभावं वा... इत्येवं तावदेकान्तनित्यपक्षे विज्ञानादिकार्यायोगात् तदवगमाभाव इति।"–अनेकान्तवाद० प्र० पृ० २२-२४।

(१) प्रशस्तगतपू–आ०। प्रत्यस्तमत–अ०। (२) "तदेकान्तद्वयेऽपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २०५। (३)–यः (त्रु० ३०) जीवपु–ता०।–यः (त्रु० ३०) पणावस्थिता दृश्यन्त इति चेन्न जीवपु–स०।–य तदध्यारोपणावस्थिता दृश्यते इति चेन्न जीवपु–अ०, आ०।

धर्मादीनामपरिणामित्वविरोधात् । न क्षणिकमस्ति; भावाभावाभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न क्षणिकं प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते; तत्र तद्वृत्तिविरोधात्, अनुपलम्भाच्च। अत्रोपयोगी श्लोकः[2]–

"....रू .... ।
.... प्रत्यक्षविज्ञानग्राहकं नानुमानवत्[3] ॥९४॥"

§ २०४. नानुमानमपि तद्ग्राहकम्; निर्विकल्पे सविकल्पस्य वृत्तिविरोधात् । ततो न क्षणिकमस्ति । नोभयरूपम्; विरोधात् । नानुभयरूपम्; निःस्वभावतापत्तेः ।

तथा वस्तु सर्वथा क्षणिक भी नहीं है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक वस्तुमें भाव और अभाव दोनों प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती है। अर्थात् क्षणिक वस्तु जब भावरूप होती है तब भी अर्थक्रिया नहीं कर सकती, क्योंकि जिस क्षणमें वह उत्पन्न होती है उस क्षणमें तो कुछ काम कर सकना उसके लिये संभव नहीं है वह क्षण तो उसके आत्मलाभका है और दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाती है इसलिये दूसरे क्षणमें भी उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती है। तथा अभावरूप दशामें भी वह अर्थक्रिया नहीं कर सकती है, क्योंकि जो वस्तु नष्ट हो जाती है उसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। तथा सर्वथा क्षणिक वस्तु प्रत्यक्षका विषय नहीं है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक वस्तुमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है और प्रत्यक्षके द्वारा सर्वथा क्षणिक वस्तुका ग्रहण पाया भी नहीं जाता है। इस विषयमें उपयोगी श्लोक देते हैं–

".... ....
.... ॥९४॥"

§२०४. अनुमान भी सर्वथा क्षणिक वस्तुका ग्राहक नहीं है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक वस्तु निर्विकल्प है, अतः उसमें सविकल्प ज्ञानकी प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। अतः सर्वथा क्षणिक वस्तु नहीं बनती है। सर्वथा नित्यानित्यरूप वस्तु भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सर्वथा नित्यता और सर्वथा अनित्यताका परस्परमें विरोध है अतः वे दोनों धर्म एक

(१) "ततः सूक्तं क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः सर्वथा अर्थक्रियाविरोधात् नित्यत्वैकान्तवत् । नन्वर्थक्रिया कार्यकारणरूपा सत्येव कारणे स्यादसत्येव वा । सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्त्ति स्यात्, कारणक्षणकाले एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्तानाभावात् पक्षान्तरासंभवाच्च। यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यं तदा कारणक्षणात् पूर्वं पश्चाच्चानादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७, ९१। न्यायकुमु० पृ० ३७९ । "क्षणिकेष्वपि इत्यादिना भदन्तयोगसेनमतमाशङ्कते क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः। न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रयः ।"–तत्त्वसं० का ४२८। क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नास्त्येव सोऽपि हि। क्रमेण युगपद्वापि न कार्यकारणे क्षमः ।"–न्यायम० पृ० ४५३ । न्यायवा० ता० ३।२।१४। विधिवि० टी० न्याय० पृ० १३० । प्रश० किरणा० पृ० १४४। (२) कः (त्रु० १९) प्रत्यय–ता० स० अ० आ०। (३) चानुमा–आ० ।

उक्तञ्च–

"उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥९५॥
[दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जया णत्थि ।
उप्पायट्ठिदिभंगा हंदि दवि-] यलक्खणं एयं ॥९६॥
एदे (एदे) पुण संगहदो पाडेक्कमलक्खणं दुवण्हं पि ।
तम्हा मिच्छाइट्ठी पाडेक्कं वे वि मूलणया ॥९७॥"

§ २०५. नात्र संसार-सुख-दुःख-बन्ध-मोक्षाश्च संभवन्ति; नित्यानित्यैकान्तयोस्तद्विरोधात् । उक्तञ्च–

वस्तुमें नहीं रह सकते हैं । तथा सर्वथा अनुभयरूप भी वस्तु सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि वस्तुको सर्वथा अनुभयरूप मानने पर अर्थात् उसको नित्य अनित्य और उभय इन तीनोंरूप न मानने पर निःस्वभावताकी आपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् वस्तु निःस्वभाव हो जाती है । कहा भी है–

"पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं । तथा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अविनष्ट और अनुत्पन्नस्वभाववाले हैं । अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थोंका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है वे सदा ध्रुव रहते हैं ॥९५॥"

"द्रव्य पर्यायके विना नहीं होता और पर्यायें द्रव्यके विना नहीं होतीं । क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्यके लक्षण हैं ॥९६॥"

"ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों मिल कर ही द्रव्यके लक्षण होते हैं । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका जो जुदा जुदा विषय है वह द्रव्यका लक्षण नहीं है अर्थात् केवल उत्पाद और व्यय तथा केवल ध्रौव्य द्रव्यका लक्षण नहीं है, इसलिये अलग अलग दोनों मूलनय मिथ्यादृष्टि हैं ॥९७॥"

§ २०५. सर्वथा द्रव्यार्थिकनय या सर्वथा पर्यायार्थिकनयके मानने पर संसार, सुख, दुख, बन्ध और मोक्ष कुछ भी नहीं बन सकते हैं । क्योंकि सर्वथा नित्यैकान्त और सर्वथा अनित्यैकान्तकी अपेक्षा संसारादिकके माननेमें विरोध आता है । कहा भी है–

(१) सन्मति० १।११ । णट्ठं (मु० ३४ या णत्थि······) यलक्ख–ता० स० ।–णट्ठं उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण णिच्छयणयस्स । णेयमविणट्ठदव्वं दव्वट्ठियलक्ख–अ० । –णट्ठं उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स । णेयमविणट्ठदव्वं दव्वट्ठियलक्ख–आ० । (२) "दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि । उप्पायट्ठिदिभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥"–सन्मति० १।१२ । (३) "एए पुण··"–सन्मति० १।१३ । (४) तुलना–"कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥"–आप्तमी० श्लो० ८ ।

"ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो[1] णेव पज्जवणयस्स[2] ।
[सासयवियत्तिवायी जम्हा] उच्छेदवादीया ॥९८॥

सुहदुक्खसंपजोओ संभवइ ण णिच्चवादपक्खम्मि ।
एयंतुच्छेदम्मि वि सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं[3] ॥९९॥

कम्मं जोअणिमित्तं बज्झइ कम्मट्ठिदी कसायवसा ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु अ बंधट्ठिदिकारणं णत्थि[4] ॥१००॥

बंधम्मि अपूरंते संसारभओहदंसणं मोज्झं ।
बंधेण विणा[5] [मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥१०१॥

तम्हा[6]] मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्तसब्भावं ॥१०२॥"

"द्रव्यार्थिक नयके पक्षमें संसार नहीं बन सकता है। उसीप्रकार सर्वथा पर्यायार्थिक नयके पक्षमें भी संसार नहीं बन सकता है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय नित्यव्यक्तिवादी है और पर्यायार्थिकनय उच्छेदवादी है ॥९८॥"

"सर्वथा नित्यवादके पक्षमें जीवका सुख और दुःखसे सम्बन्ध नहीं बन सकता है। तथा सर्वथा अनित्यवादके पक्षमें भी सुख और दुःखकी कल्पना नहीं बन सकती है ॥९९॥"

"योगके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है और कषायके निमित्तसे बाँधे गये कर्ममें स्थिति पड़ती है। परन्तु सर्वथा अपरिणामी और सर्वथा क्षणिक पक्षमें बन्ध और स्थितिका कारण नहीं बन सकता है ॥१००॥"

"कर्मबन्धका सद्भाव नहीं मानने पर संसारसम्बन्धी अनेक प्रकारके भयका विचार करना केवल मूढ़ता है। तथा कर्मबन्धके विना मोक्षसुखकी प्रार्थना और मोक्ष ये दोनों भी नहीं बनते हैं ॥१०१॥"

"चूंकि वस्तुको सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य मानने पर बन्धादिकके कारण-रूप योग और कषाय नहीं बन सकते हैं। तथा योग और कषायके मानने पर वस्तु सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं बन सकती है इसलिये केवल अपने अपने पक्षसे प्रतिबद्ध

(१) संसारा ता०, अ०, आ०। (२)-स्स (त्रु० १०) उच्छेद-ता०, स०।-स्स संसारदुःख-सुखे ण वे वि 'उच्छेद-अ०, आ०। "णय दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स। सासयवियत्तिवायी जम्हा उच्छेदवादीया ॥"-सन्मति० १।१७। (३) दशवै० नि० गा० ६०। सन्मति० १।१८। (४) सन्मति० १।१९। (५) विणा (त्रु० १४) मिच्छादिट्ठी ता०, स०। विणा सोक्खं मोक्खं हि लहेइ संदिट्ठी ॥ सम्मामिच्छादिट्ठी अ०, आ०। "बंधम्मि अपरन्ते संसारभओघदंसणं मोज्झं। बन्धं व विणा मोक्खसुह-पत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥"-सन्मति० १।२०। (६) "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा••" -सन्मति० १।२१।

"भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकं ॥१०३॥
कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०४॥

ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपनेको प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥१०२॥"

"पदार्थ सर्वथा सत्स्वरूप ही हैं इसप्रकारके निश्चयको भावैकान्त कहते हैं। उनके मानने पर अर्थात् पदार्थोंको सर्वथा सत् स्वीकार करने पर प्रागभाव आदि चारों अभावोंका अपलाप करना होगा अर्थात् उनके होते हुए भी उनकी सत्ताको अस्वीकार करना पड़ेगा। और ऐसा होनेसे हे जिन, आपके स्याद्वाद मतसे भिन्न सांख्य आदिके द्वारा माने गये पदार्थ इतरेतराभावके विना सर्वात्मक, प्रागभावके विना अनादि, प्रध्वंसाभावके विना अनन्त और अत्यन्ताभावके विना निःस्वरूप हो जाते हैं ॥१०३॥"

विशेषार्थ–पदार्थ न केवल भावात्मक ही हैं और न केवल अभावात्मक ही हैं। किन्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा भावात्मक और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा अभावात्मक होनेसे भावाभावात्मक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। जैसे घट घट ही है घट पट नहीं है, यह व्यवस्था तभी बन सकती है जब घटका स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सद्भाव और पटादिकी अपेक्षा अभाव स्वीकार किया जाय। यदि घटमें स्वचतुष्टयके समान परचतुष्टयसे भी सत्त्व स्वीकार कर लिया जाय तो घट केवल घट नहीं रह सकता उसे पटरूप होनेका भी प्रसंग प्राप्त होता है। अतः घट भावरूप भी है और अभावरूप भी है यह निष्कर्ष निकलता है। किन्तु जो इतर एकान्तवादी मत ऐसा नहीं मानते हैं और वस्तुको केवल भावरूप ही स्वीकार करते हैं, वे पदार्थोंमें विद्यमान अभाव धर्मका अपलाप करते हैं जिसके कारण उनकी तत्त्वव्यवस्थामें चार महान् दूषण आते हैं जो कि संक्षेपमें ऊपर बतलाये हैं। तथा आगे भी उन्हीं दूषणोंको स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥१०३॥

"कार्यके स्वरूप लाभ करनेके पहले उसका जो अभाव रहता है वह प्रागभाव है। दूसरे शब्दोंमें जिसका अभाव नियमसे कार्यरूप पड़ता है वह प्रागभाव है। उसका अपलाप करने पर कार्यद्रव्य घट पटादि अनादि हो जाते हैं। तथा कार्यका स्वरूप लाभके पश्चात् जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है। दूसरे शब्दोंमें जो कार्यके विघटनरूप है वह प्रध्वंसाभाव है। उसके अपलाप करने पर घट पटादि कार्य अनन्त अर्थात् अन्तरहित अविनाशी हो जाते हैं ॥१०४॥"

(१) आप्तमी० श्लो० ९। (२) आप्तमी० श्लो० १०।

सर्वात्मकं तदेकं[1] स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्रसमवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा[2] ॥१०५॥
अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापन्हववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम्[3] ॥१०६॥

विशेषार्थ–कार्यकी पूर्ववर्ती पर्यायको प्रागभाव और उत्तरवर्ती पर्यायको प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यदि उसकी पूर्वपर्याय और उत्तर पर्यायमें भी घटादिरूप कार्यद्रव्य स्वीकार किया जाता है तो घटके उत्पन्न होनेके पहले और विनाश होनेके अनन्तर भी उससे जल-धारणादि कार्य होने चाहिये। पर ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है इससे प्रतीत होता है कि कार्यरूप वस्तु अनादि और अनन्त न होकर सादि और सान्त है। फिर भी जो सर्वथा सत्कार्यवादी सांख्यादि कार्यको सर्वदा सत् स्वीकार करते हैं उनके यहाँ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं बन सकते हैं। और उनके नहीं बननेसे कार्यद्रव्यको अनादि और अनन्तपनेका प्रसंग प्राप्त होता है जो कि युक्त नहीं है ॥१०४॥

"एक द्रव्यकी एक पर्यायका उसीकी दूसरी पर्यायमें जो अभाव है उसे अन्यापोह या इतरेतराभाव कहते हैं। इस इतरेतराभावके अपलाप करने पर प्रतिनियत द्रव्यकी सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं। रूपादिकका स्वसमवायी पुद्गलादिकसे भिन्न जीवादिकमें समवेत होना अन्यत्रसमवाय कहलाता है। यदि इसे स्वीकार किया जाता है अर्थात् यदि अत्यन्ताभावका अभाव माना जाता है तो पदार्थका किसी भी असाधारण रूपसे कथन नहीं किया जा सकता है ॥१०५॥"

विशेषार्थ–आशय यह है कि इतरेतराभावको नहीं मानने पर एक द्रव्यकी विभिन्न पर्यायोंमें कोई भेद नहीं रहता–सब पर्यायें सवरूप हो जाती हैं। तथा अत्यन्ताभावको नहीं मानने पर सभी वादियोंके द्वारा माने गये अपने अपने मूल तत्त्वोंमें कोई भेद नहीं रहता–एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो जाता है। ऐसी हालतमें जीवद्रव्य चैतन्य गुणकी अपेक्षा चेतन ही है और पुद्गल द्रव्य अचेतन ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतः अभावोंका सर्वथा अपलाप करके भावैकान्त मानना ठीक नहीं है ॥१०५॥

"जो वादी भावरूप वस्तुको स्वीकार नहीं करते हैं उनके अभावैकान्त पक्षमें भी बोध अर्थात् स्वार्थानुमान और वाक्य अर्थात् परार्थानुमान प्रमाण नहीं बनते हैं। ऐसी अवस्थामें वे स्वमतका साधन किस प्रमाणसे करेंगे और परमतमें दूषण किस प्रमाणसे देंगे ॥१०६॥"

विशेषार्थ–भावैकान्तमें दोष बतलाकर अब अभावैकान्तमें दोष बतलाते हैं। बौद्ध-मतका माध्यमिक सम्प्रदाय भावरूप वस्तुको स्वीकार नहीं करता है। उसके मतसे जगमें शून्यको छोड़कर सद्रूप कोई पदार्थ नहीं है। अतः उसके मतमें सभी पदार्थोंके अभावरूप

(१) तदेवं स्या-अ०, । ता०। (२) आप्तमी० श्लो० ११। (३) आप्तमी० श्लो० १२।

ततो वस्तुना जात्यन्तरेण भवितव्यम् ।

"पज्जवणयवोक्कंतं वत्थू (त्थुं) दव्वट्ठियस्स[1] वयणिज्जं ।
जाव दविओपजोगो अपच्छिमवियप्पं[2]णिव्वयणो ॥१०७॥

होनेसे प्रमाण भी अभावरूप ही ठहरता है। इसप्रकार प्रमाणके अभावरूप हो जानेसे उसके द्वारा वे अभावैकान्तका साधन कैसे कर सकते हैं और अपने विरोधियोंके मतमें दूषण भी कैसे दे सकते हैं, क्योंकि स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण ज्ञानात्मक स्वार्थानुमान और वचनात्मक परार्थानुमानके विना नहीं हो सकता है। अतः भावका सर्वथा अपलाप करके केवल अभावका मानना भी ठीक नहीं है ॥१०६॥

इसलिये पदार्थ न तो सर्वथा भावरूप ही है और न सर्वथा अभावरूप ही है किन्तु वह जात्यन्तररूप अर्थात् भावाभावात्मक ही होना चाहिये।

"जिसके पश्चात् विकल्पज्ञान और वचनव्यवहार नहीं है ऐसा द्रव्योपयोग अर्थात् सामान्य ज्ञान जहां तक होता है वहां तक वह वस्तु द्रव्यार्थिक नयका विषय है। तथा वह पर्यायार्थिक नयसे आक्रान्त है। अथवा जो वस्तु पर्यायार्थिक नयके द्वारा ग्रहण करके छोड़ दी गई है वह द्रव्यार्थिकनयका विषय है, क्योंकि जिसके पश्चात् विकल्पज्ञान और वचनव्यवहार नहीं है ऐसे अन्तिमविशेष तक द्रव्योपयोगकी प्रवृत्ति होती है ॥१०७॥"

विशेषार्थ–इस गाथामें यह बताया गया है कि जितना भी द्रव्यार्थिकनयका विषय है वह सब पर्यायाक्रान्त होनेसे पर्यायार्थिकनयका भी विषय है। और जितना भी पर्यायार्थिकनयका विषय है वह सब सामान्यानुस्यूत होनेसे द्रव्यार्थिकनयका भी विषय है। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष होनेके कारण ही समीचीन हैं। सन्मतिसूत्रमें इस गाथाके पहले आई हुई 'पज्जवणिस्सामण्णं' इत्यादि गाथाके समुदायार्थका उद्घाटन करते हुए अभयदेव सूरि लिखते हैं कि 'विशेषके संस्पर्शसे रहित 'अस्ति' यह वचन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रवृत्त होता है और सत्तास्वभावको स्पर्श नहीं करते हुए द्रव्य, पृथिवी इत्यादि वचन पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा प्रवृत्त होते हैं। परन्तु ये दोनों प्रकारके वचन एक दूसरेकी अपेक्षाके विना असमीचीन हैं, क्योंकि इन वचनोंका वाच्य सत्तासामान्य और विशेष सर्वथा स्वतन्त्र नहीं पाया जाता है। इसलिये इन्हें परस्पर सापेक्ष अवस्थामें ही समीचीन मानना चाहिये।' इससे भी यही निश्चित होता है कि द्रव्यार्थिकका विषय पर्यायाक्रान्त है और पर्यायार्थिकका विषय द्रव्याक्रान्त है। यहां यद्यपि यह कहा जा सकता है कि महासत्ताके ऊपर और कोई अपर सामान्य नहीं है जिस अपरसामान्यकी अपेक्षा वह विशेषरूप सिद्ध होवे। तथा अन्तिम विशेषके नीचे उसका भेदक और कोई विशेष नहीं है जिसकी अपेक्षा

(१)–स्स सब्भावं जाव अ०, आ०। (२) –प्प णिप्पण्णो अ०, आ०। "पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं। जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥"–सन्मति० १।८।

एयदवियम्मि[1] जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।
तीदाणागदभूदा[2] [तावइयं तं हवइ दव्वं] ॥१०८॥
नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा[3] ॥१०९॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते[4] ॥११०॥
घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्[5] ॥१११॥

यह अन्तिम विशेष सामान्यरूप सिद्ध होवे। इसलिये महासत्ता केवल द्रव्यार्थिकनयका और अन्तिम विशेष केवल पर्यायार्थिक नयका विषय रहा आवे। पर तत्त्वतः विचार करने पर अन्य अवान्तर सामान्य और विशेषोंके समान ये दोनों भी सापेक्ष हैं सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। यदि इन्हें सर्वथा स्वतन्त्र माना जाता है तो 'सभी पदार्थ सत्त्वरूप होनेके कारण अनेकान्तात्मक हैं' इस अनुमानमें दिया गया हेतु व्यभिचरित हो जाता है। अतः इस व्यभिचारके दूर करनेके लिये इन्हें यदि सापेक्ष माना जाता है तो महासत्ता द्रव्यार्थिकनयका और अन्तिम विशेष पर्यायार्थिकनयका विषय होते हुए भी अपने विपक्षी नयोंकी अपेक्षा रखकर ही वे दोनों उन उन नयोंके विषय सिद्ध होते हैं ॥१०७॥

"एक द्रव्यमें अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनीं अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय होती हैं वह द्रव्य तत्प्रमाण होता है ॥१०८॥"

"जो नैगमादि नय और उनकी शाखा उपशाखारूप उपनयोंके विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायोंका अभिन्न सत्तासम्बन्धरूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित् एकरूप और कथंचित् अनेकरूप है ॥१०९॥"

"ऐसा कौन पुरुष है जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा सभी पदार्थोंको सद्रूप ही न माने और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा सभी पदार्थोंको असद्रूप ही न माने ? अर्थात् यदि स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा पदार्थको सद्रूप और परद्रव्यादिकी अपेक्षा असद्रूप न माना जाय तो किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती है ॥११०॥"

"जो मनुष्य घट चाहता है वह घटके नष्ट हो जाने पर शोकको प्राप्त होता है, जो मनुष्य मुकुट चाहता है वह मुकुटके बन जाने पर हर्षको प्राप्त होता है और जो

(१)-म्मि वे अत्थ-अ०, आ०, स०। (२) -दा (त्रु० १२) नयो-ता०, स०।-दा सव्वे (त्रु० १०) अ०, आ०। "एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि। तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥" -सन्मति० १।३१। (३) आप्तमी० श्लो० १०७। (४) आप्तमी० श्लो० १५। (५) आप्तमी० श्लो० ५९।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नो चेत् (नोभे) तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥११२॥

मनुष्य केवल सोना चाहता है वह घटके विनाश और मुकुटकी उत्पत्तिके समय भी सोनेका सद्भाव रहनेसे मध्यस्थभावको प्राप्त रहता है। इसलिये इन विषादादिकको सहेतुक ही मानना चाहिये ॥१११॥"

विशेषार्थ–घट और मुकुट ये दोनों स्वतन्त्र दो पर्यायें हैं एक कालमें इनका एक साथ सद्भाव नहीं पाया जा सकता है। अब यदि सोनेके घटको तुड़वाकर कोई मुकुट बनवा ले तो घटके इच्छुक पुरुषको विषाद और मुकुट चाहनेवालेको हर्ष होगा और स्वर्णार्थीको सुख और दुःख कुछ भी नहीं होगा, क्योंकि सोना घट और मुकुट दोनों ही अवस्थाओंमें समान भावसे पाया जाता है। चूंकि ये सुख दुःख और मध्यस्थभाव निर्हेतुक तो कहे नहीं जा सकते हैं अतः निश्चित होता है कि पदार्थ न सर्वथा क्षणिक है न सर्वथा नित्य है किन्तु नित्यानित्यात्मक है ॥१११॥

"जिसके केवल दूध पीनेका व्रत अर्थात् नियम है वह दही नहीं खाता है, जिसके केवल दही खानेका नियम है वह दूध नहीं पीता है और जिसके गोरस नहीं खानेका व्रत है वह दूध और दही दोनोंको नहीं खाता है। इससे प्रतीत होता है कि पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ॥११२॥"

विशेषार्थ–दूध और दही ये दोनों गोरसकी क्रमसे होनेवाली पर्यायें हैं और गोरस इन दोनोंमें व्याप्त होकर रहता है। गोरसकी जब दूध अवस्था होती है तब दहीरूप अवस्था नहीं पाई जाती है और जब दहीरूप अवस्था होती है तब दूधरूप अवस्था नहीं पाई जाती है, क्योंकि दूध पर्यायका व्यय होकर ही दही पर्याय उत्पन्न होती है। किन्तु गोरस दूधरूप भी है और दहीरूप भी है। यही सबब है कि जिसने केवल दूध पीनेका व्रत लिया है वह दहीका सेवन नहीं कर सकता और जिसने केवल दहीके सेवन करनेका व्रत लिया है वह दूध नहीं पी सकता, क्योंकि इन दोनोंमें भेद है। पर गोरसके सेवन नहीं करनेका जिसके व्रत है वह दूध और दही दोनोंका ही उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि दूध और दही दोनों गोरस हैं। इसप्रकार एक गोरस पदार्थ अपनी दूधरूप अवस्थाका त्याग करके दहीरूप अवस्थाको प्राप्त होता है फिर भी वह गोरस बना ही रहता है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं ॥११२॥

(१) तुलना–"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं··"–मी० श्लो० पृ० ६१९। न्यायकुमु० टि० पृ० ४०१। (२) "नोभे तस्मात्तत्त्वं.."–आप्तमी० श्लो० ६०।

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
[1]ततो (तथो) भयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥११३॥
[2]नान्वयः सहभेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं हि तत् ॥११४॥

"हे जिन, आपके मतमें मानी गई वस्तु कथंचित् सद्रूप ही है, कथंचित् असद्रूप ही है, कथंचित् उभयात्मक ही है और कथंचित् अवक्तव्य ही है। इसी तरह सदवक्तव्य असदवक्तव्य और उभयावक्तव्यरूप भी है। किंतु यह सब नयके संबन्धसे है, सर्वथा नहीं ॥११३॥"

विशेषार्थ–प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। यदि घटको स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा सद्रूप न माना जाय तो आकाशकुसुमकी तरह उसका अभाव हो जायगा। तथा परद्रव्यादिकी अपेक्षा यदि घटको असद्रूप न माना जाय तो सर्वत्र घट इसप्रकारका व्यवहार होने लगेगा। इससे निश्चित होता है कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। इसप्रकार ऊपर कहे गये सत् और असद्रूप दोनों धर्म एक साथ प्रत्येक वस्तुमें पाये जाते हैं अतः वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यदि इन्हें सर्वथा भिन्न माना जाय तो जिसप्रकार घटमें पटरूप और पटमें घटरूप बुद्धि नहीं होती है तथा घटको पट और पटको घट नहीं कह सकते हैं उसीप्रकार एक ही वस्तु में सत् और असत् इसप्रकारकी बुद्धि और वचनव्यवहार नहीं बन सकेगा। अतः ये दोनों धर्म कथंचित् तादात्म्यसम्बन्धसे प्रत्येक वस्तुमें रहते हैं। इससे निश्चित होता है कि प्रत्येक वस्तु कथंचित् सद्रूप ही है और कथंचित् असद्रूप ही। फिर भी इसप्रकारकी वस्तु वचनों द्वारा क्रमसे ही कही जा सकती है, अतः जब उसे क्रमसे कहा जाता है तो वह उभयात्मक सिद्ध होती है। तथा जब उसी वस्तुके उन दोनों धर्मोंको एकसाथ कहना चाहते हैं तब जिससे वस्तुके दोनों धर्म एक साथ कहे जा सकें ऐसा कोई एक शब्द न होनेसे वस्तु अवक्तव्य सिद्ध होती है। इसप्रकार हे जिन, आपके मतमें एक ही वस्तु नयकी अपेक्षासे सद्रूप भी है, असद्रूप भी है, उभयात्मक भी है और अवक्तव्य भी है तथा 'च' शब्दसे सदवक्तव्य असदवक्तव्य और उभयावक्तव्यरूप भी है। यह निश्चित हो जाता है ॥११३॥

"घटादिपदार्थ केवल अन्वयरूप नहीं हैं, क्योंकि उनमें भेद भी पाया जाता है। तथा केवल भेदरूप भी नहीं है क्योंकि उनमें अन्वय भी पाया जाता है। किन्तु मिट्टीरूप

(१) "···तथोभयमवाच्यं··"–आप्तमी० श्लो० १४। (२) "तथा चोक्तम्–नान्वयस्तद्विभेदत्वान्न ··"–अनेकान्तजय० पृ० ११९। "तथा चोक्तम्–नान्वयः सह भेदित्वात् न भेदोन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वय-संसर्गवृत्तिजात्यन्तरं घटः ॥"–अनेकान्तवाद० पृ० ३१। "स घटो नान्वय एव। कुत इत्याह–कर्त्रादिरूपेण भेदित्वात्····"–अनेकान्तवाद० टि० पृ० ३१। "यथाह–नान्वयो भेदरूपत्वान्न भेदोऽन्वयरूपतः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिजात्यन्तरं घटः ॥"–त० भा० टी० ५।२९।

सिंहो भागे नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥११५॥

दव्वट्ठियो त्ति तम्हा णत्थि णओ णियम सुद्धजाईओ ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ भयणा य दु विसेसो[2] ॥११६॥"

अन्वयधर्म और ऊर्ध्वभाग आदिरूप व्यतिरेकधर्मके तादात्म्यरूप होनेसे वे जात्यन्तररूप हैं। अर्थात् वे केवल न तो भेदरूप ही हैं और न अभेदरूप ही हैं किन्तु कथंचित् भेदरूप हैं और कथंचित् अभेदरूप हैं, क्योंकि घट-घटी आदिमें मिट्टी रूपसे अभेद पाया जाता है और घट-घटी आदि विविध अवस्थाओंकी अपेक्षा भेद पाया जाता है ॥११४॥"

"नरसिंहके एक भागमें सिंहका आकार पाया जाता है और दूसरे भागमें मनुष्यका आकार पाया जाता है, इसप्रकार जो पदार्थ दो भागरूप है उस अविभक्त पदार्थको विभागरूपसे नरसिंह कहते हैं ॥११५॥"

विशेषार्थ–वैष्णवोंके यहाँ नरसिंहावतारकी कथामें बताया है कि हिरण्यकशिपुको ऐसा वरदान था कि वह न तो मनुष्यसे मरेगा और न तिर्यंचसे ही। न दिनको मरेगा और न रात्रिको ही। तथा शस्त्रसे भी उसकी मृत्यु नहीं होगी। इस वरदानसे निर्भय होकर जब हिरण्यकशिपु प्रह्लादको घोर कष्ट देने लगा तब विष्णु सन्धिकालमें नरसिंहका रूप लेकर प्रकट हुए और अपने नाखूनोंसे हिरण्यकशिपुको मौतके घाट उतारा। इस कथानकके आधारसे ऊपरके श्लोकमें वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध करनेके लिये नरसिंहका दृष्टान्त दिया है। इसका यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार नरसिंह न केवल सिंह था और न केवल मनुष्य ही। उसे दो भागोंमें अलग बांटना भी चाहें तो भी ऐसा करना संभव नहीं है। वह एक होते हुए भी शरीरकी किसी रचनाकी अपेक्षा मनुष्य भी था और किसी रचनाकी अपेक्षा सिंह भी था। उसीप्रकार प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है ॥११५॥

"इसलिये द्रव्यार्थिकनय नियमसे शुद्ध जातीय अर्थात् अपने विरोधी नयोंके विषयस्पर्शसे रहित नहीं है और उसीप्रकार पर्यायार्थिकनय भी नियमसे शुद्धजातीय अर्थात् अपने विरोधी नयके विषयस्पर्शसे रहित नहीं है। किन्तु विवक्षासे ही इन दोनोंमें भेद पाया जाता है ॥११६॥'

विशेषार्थ–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका तथा इन दोनोंके विषयोंका परस्परमें कोई सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकारकी संभावनाके दूर करनेके लिये इस गाथाके द्वारा वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें कोई सामान्य विशेषके विना और कोई विशेष सामान्यके विना नहीं रहता है। किन्तु एक ही वस्तु किसी अपेक्षासे सामा-

---

(१) "यदुक्तम्–भागे सिंहो नरो भागे··"–तत्त्वोप० पृ० ७९। स्या० म० पृ० ३६। (२) सन्मति० १।९।

§ २०६. न चैकान्तेन नयाः मिथ्यादृष्टय एव; परपक्षानिराकरिष्णूनां सप (स्वप) क्षसत्त्वावधारणे व्यापृतानां स्यात्सम्यग्दृष्टित्वदर्शनात् । उक्तञ्च-

"णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥११७॥"

§ २०७. संपहि एवं णयणिरूवणं काऊण पयदस्स परूवणं कस्सामो। पेज्जदोसो (सा) वे वि जीवभावविणासणलक्खणत्तादो कसाया णाम । कसायस्स पाहुडं कसायपाहुडं। एसा सण्णा णयदो णिप्पण्णा। कुदो ? दव्वट्ठियणयमवलंबिय समुप्पण्णत्तादो।

न्यरूप और किसी दूसरी अपेक्षासे विशेषरूप है । उसमें द्रव्यार्थिक नयका विषय पर्यायार्थिकनयके विषयस्पर्शसे और पर्यायार्थिकनयका विषय द्रव्यार्थिकनयके विषयस्पर्शसे रहित नहीं हो सकता है । ऐसी स्थितिके होते हुए भी नयके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद करनेका कारण विषयकी गौणता और प्रधानता है । जब विशेषको गौण करके मुख्यरूपसे सामान्यका अवलम्बन लेकर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह द्रव्यार्थिक है और जब सामान्यको गौण करके मुख्यरूपसे विशेषका अवलम्बन लेकर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह पर्यायार्थिक है ऐसा समझना चाहिये ॥११६॥

§ २०६. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय एकान्तसे मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्षके अस्तित्वका निश्चय करनेमें व्यापार करते हैं उनमें कथंचित् समीचीनता पाई जाती है । कहा भी है-

"ये सभी नय अपने अपने विषयके कथन करनेमें समीचीन हैं और दूसरे नयोंके निराकरण करनेमें मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समयके ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकारका विभाग नहीं करते हैं ॥११७॥"

विशेषार्थ-हरएक नयकी मर्यादा अपने अपने विषयके प्रतिपादन करने तक सीमित है । इस मर्यादामें जब तक वे नय रहते हैं तब तक वे सच्चे हैं और इस मर्यादाको भंग करके जब वे नय अपने प्रतिपक्षी नयके कथनका निराकरण करने लगते हैं तब वे मिथ्या हो जाते हैं। इसलिये हर एक नयकी मर्यादाको जाननेवाला और उनका समन्वय करनेवाला अनेकान्तज्ञ पुरुष दोनों नयोंके विषयको जानता हुआ एक नय सत्य ही है और दूसरा नय असत्य ही है ऐसा विभाग नहीं करता है। किन्तु किसी एक नयका विषय उस नयके प्रतिपक्षी दूसरे नयके विषयके साथ ही सच्चा है ऐसा निश्चय करता है ॥११७॥

§ २०७. इसप्रकार नयोंका निरूपण करके अब प्रकृत विषयका कथन करते हैं । पेज्ज और दोष इन दोनोंका लक्षण जीवके चारित्र धर्मका विनाश करना है इसलिये ये दोनों कषाय कहलाते हैं । और कषायके कथन करनेवाले प्राभृतको कषायप्राभृत कहते

(१) विहजइ अ०, आ०, स० । (२) सन्मति० १।२८ ।

तं कुदो णव्वदे ? पेज्जदोसाणं दोण्हं पि एगीकरणण्णहाणुववत्तीदो ।

§ २०८. पेज्जदोससण्णा वि णयणिप्पण्णा चेय, एवंभूदणयाहिप्पाएण तप्पउत्तिदंसणादो त्ति णासंकणिज्जं; णयणिबंधणत्ते वि अभिवाहरणविसेस (सं) विवक्खिय पुध परूवणादो ।

§ २०९. पेज्जदोसकसायपाहुडसद्देसु अणेगेसु अत्थेसु वट्टमाणेसु संतेसु अपयदत्थणिराकरणदुवारेण पयदत्थपरूवणट्ठं णिक्खेवसुत्तं भणदि–

* तत्थ पेज्जं णिक्खिवियव्वं–णामपेज्जं ट्ठवणपेज्जं दव्वपेज्जं भावपेज्जं चेदि ॥

हैं। यह कपायप्राभृत संज्ञा नयकी अपेक्षा बनी है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयका आलंबन लेकर यह संज्ञा उत्पन्न हुई है।

शंका–यह कैसे जाना जाता है कि यह संज्ञा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा उत्पन्न हुई है ?

समाधान–यदि यह संज्ञा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे न मानी जाय तो पेज्ज और दोष इन दोनोंका एक कपायशब्दके द्वारा एकीकरण नहीं किया जा सकता है।

विशेषार्थ–चूँकि पेज्ज और दोष ये दोनों विशेष हैं और कपाय सामान्य है, क्योंकि कपायका पेज्ज और दोष दोनोंमें अन्वय पाया जाता है, अतः कपायप्राभृत संज्ञाको द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा उत्पन्न हुई समझना चाहिये ।

§ २०८. **शंका**–पेज्जदोष यह संज्ञा भी नयका आलम्बन लेकर ही उत्पन्न हुई है, क्योंकि एवंभूत नयके अभिप्रायसे इस संज्ञाकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

समाधान–ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पेज्जदोष संज्ञा यद्यपि नयनिमित्तक है तो भी अभिव्याहरण विशेषकी विवक्षासे पेज्ज और दोषसंज्ञाका पृथक् पृथक् निरूपण किया है।

विशेषार्थ–यद्यपि पेज्जदोष यह संज्ञा एवंभूतनय या समभिरूढ़नयकी अपेक्षा उत्पन्न हुई है, क्योंकि पेज्जसे राग और दोषसे द्वेष लिया जाता है फिर भी वृत्तिसूत्रकारने पेज्जदोष यह संज्ञा अभिव्याहरणनिष्पन्न कही है, इसलिये नयकी अपेक्षा इसका विचार नहीं किया गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

§ २०९. पेज्ज, दोष, कपाय और प्राभृत, ये शब्द अनेक अर्थोंमें पाये जाते हैं, इसलिये अप्रकृत अर्थके निषेध द्वारा प्रकृत अर्थका कथन करनेके लिये निक्षेपसूत्र कहते हैं–

* **उनमेंसे नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज और भावपेज्ज इसप्रकार पेज्जका निक्षेप करना चाहिये ॥**

(१)–त्तत्थ वि स० । (२) "स किमर्थः अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च ।"–सर्वार्थसि० १।५ । लघी० स्ववृ० पृ० २६ । (३) तुलना–"रज्जंति तेण तम्मि वा रंजणमहवा निरुविओ राओ । नामाइचउब्भेओ दव्वे कम्मेयरवियप्पो ॥"–वि० भा० गा० ३५२८ ।

§ २१०. एदस्स सुत्तस्स अत्थं मोत्तूण को णओ कं णिक्खेवमिच्छदि त्ति[1] एदस्स परूवणट्ठं भणिदं। एवं तो णिक्खेवसुत्तं मोत्तूण णयाणं णिक्खेवविहंजणसुत्तं चेव पुव्वं किण्ण वुच्चदे ? ण; णिक्खेवसुत्तेण विणा एदस्स सुत्तस्स अवयाराभावादो। उत्तं च–

"उच्चारियम्मि[2] दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥"

तेण[3] णिक्खेवसुत्तमुच्चरिय णिक्खेवसामिणयपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

* णेगम[4]-संगह-ववहारा सव्वे इच्छंति।

§ २११. जेण णामणिक्खेवो तब्भावसारिच्छसामण्णमवलंविय ट्ठिदो, ट्ठवणाणिक्खेवो वि सारिच्छलक्खणसामण्णमवलंविय ट्ठिदो, दव्वणिक्खेवो वि तदुभयसामण्ण-

§ २१०. इस सूत्रके अर्थको छोड़कर कौन नय किस निक्षेपको चाहता है, इसका कथन करनेके लिये आचार्यने आगेका चूर्णिसूत्र कहा है।

शंका–यदि ऐसा है तो निक्षेपसूत्रको छोड़कर नयोंके अभिप्रायसे निक्षेपोंका विभाग करनेवाले सूत्रको ही पहले क्यों नहीं कहा ?

समाधान–नहीं, क्योंकि निक्षेपसूत्रके विना 'कौन नय किस निक्षेपको चाहता है' इसका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अवतार नहीं हो सकता है। कहा भी है–

"पदके उच्चारण करने पर और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझ कर, यहां पर इस पदका क्या अर्थ है इसप्रकार ठीक रीतिसे अर्थतक पहुंचा देते हैं अर्थात् ठीक ठीक अर्थका ज्ञान कराते हैं इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥११८॥"

अतः निक्षेपसूत्रका उच्चारण करके अब किस निक्षेपका कौन नय स्वामी है इसका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

* **नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय सभी निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं।**

§ २११. **शंका**–चूंकि नामनिक्षेप तद्भावसामान्य और सादृश्यसामान्यका अवलम्बन लेकर होता है, स्थापनानिक्षेप भी सादृश्यसामान्यका अवलम्बन लेकर होता है और द्रव्यनिक्षेप भी उक्त दोनों सामान्योंके निमित्तसे होता है। इसलिये नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेप इन तीनों निक्षेपोंके नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों ही द्रव्यार्थिकनय

(१) त्ति मिच्छादिट्ठी एदस्स परूवण (त्रु० ४) एवं स० । त्ति मिच्छादिट्ठी एदस्स परूवणट्ठं भणिदं एवं अ०, आ० । (२) "उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण । अत्थं णयंति तच्चतमिदि तदो ते णया भणिया ॥"–ध० सं० पृ० १० । "सुत्तं पयं पयत्थो पयनिक्खेवो य निण्णयपसिद्धी ।"–वृ० क० सू० ३०९ । (३) एदेण अ०, आ०, स० । (४) तुलना–"भावं चिय सद्दनया सेसा इच्छंति सव्वनिक्खेवे । ठवणावज्जे संगहववहारा केइ इच्छंति । दव्वट्ठवणावज्जे उज्जुसुओ····"–वि० भा० गा० ३३९७ । "तत्थ णेगमसंगहववहारणएसु सव्वे एदे णिक्खेवा··"–ध० सं० पृ० १४ ।

णिबंधणो त्ति तेण णाम-ट्ठवणा-दव्व-णिक्खेवाणं तिण्हं पि तिण्णि वि दव्वट्ठियणया सामिया होंतु णाम ण भावणिक्खेवस्स; तस्स पज्जवट्ठियणयमवलंबिय[1] (पवट्टमाणत्तादो)। उत्तं च सिद्धसेणेण–

"णामं ठवणा दवियं ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठियस्सपरूवणा एस परमत्थो ॥११९॥"[2] त्ति।

तेण 'णेगम-संगह-ववहारा सव्वे इच्छंति' त्ति ण जुज्जदे? ण[3] एस दोसो; वट्टमाणपज्जाएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम। अप्पहाणीकयपरिणामेसु सुद्धदव्वट्ठिएसु णएसु णादीदाणागयवट्टमाणकालविभागो अत्थि; तस्स पहाणीकयपरिणामपरिणम(-णय-)त्तादो। ण तदो एदेसु ताव अत्थि भावणिक्खेवो; वट्टमाणकालेण विणा अण्णकालाभावादो। वंजणपज्जाएण पादिददव्वेसु सुद्धासुद्धदव्वट्ठिएसु वि अत्थि भावणिक्खेवो, तत्थ वि तिकाल-

स्वामी होओ, इसमें कुछ आपत्ति नहीं है। परन्तु भावनिक्षेपके उक्त तीनों द्रव्यार्थिकनय स्वामी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि भावनिक्षेप पर्यायार्थिकनयके आश्रयसे होता है। सिद्धसेनने भी कहा है–

"नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिकनयका निक्षेप है, यही परमार्थ-सत्य है ॥११९॥"

इसलिये 'नैगम, संग्रह और व्यवहारनय सब निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं' यह कथन नहीं बनता है।

समाधान–यह दोष युक्त नहीं है, क्योंकि वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं, किन्तु जिनमें पर्यायें गौण हैं ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूपसे कालका विभाग नहीं पाया जाता है; क्योंकि कालका विभाग पर्यायोंकी प्रधानतासे होता है। अतः शुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें तो भावनिक्षेप नहीं बन सकता है, क्योंकि भावनिक्षेपमें वर्तमानकालको छोड़कर अन्य दो काल नहीं पाये जाते हैं। फिर भी जब व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा भावमें द्रव्यका सद्भाव कर दिया जाता है अर्थात् त्रिकालवर्ती व्यञ्जनपर्यायकी अपेक्षा भावमें भूत भविष्यत् और वर्तमान कालका विभाग स्वीकार कर

(१)–य (त्रु० ११) उक्तञ्च ता०, स०।–यं तेणेवं वुच्चदे उक्तञ्च अ०, आ०। (२) सन्मति० १।६। "पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम् इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकनयेन सामान्यात्मकत्वात्।"–सर्वार्थसि० १।६। त० श्लो० पृ० ११३। (३) "एत्थ परिहारो वुच्चदे पज्जाओ दुविहो अत्थ-वंजणपज्जायभेएण। तत्थ अत्थपज्जाओ एगादिसमयावट्ठाणो सण्णासण्णिसंबंधवज्जिओ अप्पकालावट्ठाणादो अइविसेसादो वा। तत्थ जो सो वंजणपज्जाओ जहण्णुक्कस्सेहि अंतोमुहुत्तासंखेज्जलोगमेत्तकालावट्ठाणो अणाइअणंतो वा। तत्थ वंजणपज्जाएण पडिगाहियं दव्वं भावो होदि। एदस्स वट्टमाणकालो जहण्णुक्कस्सेहि अंतोमुहुत्तो संखेज्जलोगमेत्तो अणाइणिहणो वा अप्पिदपज्जायपढमसमयप्पहुडि आचरिमसमयादो एसो वट्टमाणकालो त्ति घेत्तव्वो। तेण भावणिक्खेवस्स दव्वट्ठियणयविसयत्तं ण विरुज्झदे।"–ध० आ० प० ५५३।

संभवादो। अथवा, सव्वदव्वट्ठियणएसु तिण्णि काला संभवंति[1]; सुणएसु तदविरोहादो[2]। ण च दुण्णएहि ववहारो[3]; तेसिं विसयाभावादो। ण च सम्मइसुत्तेण[4] सह विरोहो; उज्जुसुदणयविसयभावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो। तम्हा णेगम-संगह-ववहारणएसु सव्वणिक्खेवा संभवंति त्ति सिद्धं।

लिया जाता है तव अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयोंमें भी भावनिक्षेप बन जाता है, क्योंकि व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा भावमें भी तीनों काल संभव हैं। अथवा सभी द्रव्यार्थिकनयोंमें तीनों काल संभव हैं इसलिये सभी द्रव्यार्थिकनयोंमें भावनिक्षेप बन जाता है, क्योंकि समीचीन नयोंमें तीनों कालोंके माननेमें कोई विरोध नहीं है। तथा व्यवहार मिथ्यानयोंके द्वारा तो किया नहीं जाता है, क्योंकि मिथ्यानयोंका कोई विषय नहीं है। यदि कहा जाय कि भावनिक्षेपका स्वामी द्रव्यार्थिकनयोंको भी मान लेने पर सन्मतितर्कनामक ग्रन्थके 'णामं ठवणा दवियं' इत्यादि गाथाके द्वारा भावनिक्षेपको पर्यायार्थिकनयका विषय कहनेवाले सूत्रके साथ विरोध प्राप्त होता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो भावनिक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय है उसकी अपेक्षासे सन्मतिके उक्त सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। अतएव नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीनों द्रव्यार्थिकनयोंमें सभी निक्षेप संभव हैं यह सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ–यहां यह शङ्का की गई है कि यद्यपि नाम निक्षेप करते समय गुण या पर्यायकी मुख्यता नहीं रहती है, इसलिये वहां दोनों प्रकारके सामान्योंकी मुख्यता संभव है। स्थापना किसी एक पदार्थकी उससे भिन्न किसी दूसरे पदार्थमें की जाती है, इसलिये वहां सादृश्य सामान्यकी ही मुख्यता पाई जाती है, तद्भावसामान्यकी नहीं। द्रव्यनिक्षेपमें वस्तुकी भूत और भावी पर्यायें तथा सहकारी कारण अपेक्षित होते हैं इसलिये उसमें दोनों सामान्योंकी मुख्यता संभव है। पर भावनिक्षेप वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा ही होता है अतः उसमें केवल पर्यायकी मुख्यता पाई जानेके कारण उसके स्वामी द्रव्यार्थिक नय नहीं हो सकते हैं। अर्थात् द्रव्यार्थिकनय भाव निक्षेपको विषय नहीं कर सकता है। उसको विषय करनेवाला तो केवल पर्यायार्थिक नय ही हो सकता है। ऐसी अवस्थामें यहां नैगम, संग्रह और व्यवहार नय भावनिक्षेपके भी स्वामी हैं ऐसा क्यों कहा ? इस शंकाका समाधान वीरसेन स्वामीने दो प्रकारसे किया है। वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्य भाव कहलाता है इसलिये यद्यपि तीनों द्रव्यार्थिक नय भाव निक्षेपके स्वामी नहीं हो सकते हैं यह ठीक है। पर जब भावका अर्थ त्रिकालवर्ती व्यंजन पर्याय लिया जाता है तब व्यंजन पर्यायकी

(१)–ति तहेव तदविरोहादो एवं ण अ०, आ०। –ति त्ति तदविराहादो स०। (२)–हा सुण–ता०। (३)–रो (त्रु० ३) तेसिं ता०। –रो णिण्णेयं तेसिं अ०, आ०। –रो त्ति तेसिं स०। (४) "णामं ठवणा दवियं··"–सन्मति० १।६। "ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो; सुद्धज्जुसुदणयविसयीकयपज्जाएणुवलक्खियदव्वस्स सुत्ते भावत्तब्भुवगमादो।"–ध० आ० प० ५५३।

* उज्जुसुदो ट्ठवणवज्जे ॥

§ २१२. उज्जुसुदो णओ ट्ठवणं मोत्तूण सव्वे णिक्खेवे इच्छदि । उज्जुसुदविसए किमिदि ट्ठवणा ण च(त्थि) (णत्थि)? तत्थ सारिच्छलक्खणसामण्णाभावादो। ण च दोण्हं लक्ख(क्ख-)ण संताणम्मि वट्टमाणाणं सारिच्छविरहिएण एगत्तं संभवइ; विरोहादो। असुद्धेसु उज्जुसुदेसु बहुएसु घडादिअत्थेसु एगसण्णिमिच्छंतेसु सारिच्छलक्खणसामण्णमत्थि

अपेक्षा भावनिक्षेप भी उक्त तीनों द्रव्यार्थिक नयोंके विषयरूपसे स्वीकार कर लिया जाता है। अथवा, प्रत्येक नय अपने विषयको ग्रहण करते समय दूसरे नयोंके विषयोंकी अपेक्षा रखता है तभी वह समीचीन कहा जाता है, क्योंकि दूसरे नयोंके विषयोंकी अपेक्षा न करके केवल अपने विषयको ग्रहण करनेवाला नय मिथ्या कहा है, अतः द्रव्यार्थिक नयोंका विषय मुख्यरूपसे द्रव्य होते हुए भी गौणरूपसे पर्याय भी लिया गया है। इसप्रकार द्रव्यार्थिक नयोंके विषय रूपसे भावका भी ग्रहण हो जाता है, इसलिये नैगमादि द्रव्यार्थिक नयोंके विषयरूपसे भावनिक्षेप को स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। सन्मतिसूत्रकारने 'णामं ठवणा दवियं' इत्यादि गाथा द्वारा भावको जो पर्यायार्थिक नयका विषय कहा है वहां उनकी विवक्षा ऋजुसूत्रनयकी प्रधानतासे रही है, इसलिये उस कथनके साथ भी उक्त कथनका कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि स्याद्वादमें विवक्षाभेद विरोधका कारण नहीं माना गया है। इसप्रकार नैगमादि तीनों द्रव्यार्थिकनयोंमें नामादि चारों निक्षेप बन जाते हैं यह सिद्ध हो जाता है।

* ऋजुसूत्र स्थापनाके सिवाय सभी निक्षेपोंको स्वीकार करता है।

§ २१२. ऋजुसूत्र नय स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेपोंको करता है।

शंका—ऋजुसूत्रके विषयमें स्थापना निक्षेप क्यों नहीं पाया जाता है?

समाधान—क्योंकि ऋजुसूत्र नयके विषयमें सादृश्य सामान्य नहीं पाया जाता है, इसलिये वहां स्थापना निक्षेप नहीं बनता है।

यदि कहा जाय कि क्षणसन्तानमें विद्यमान दो क्षणोंमें सादृश्यके बिना भी स्थापनाका प्रयोजक एकत्व बन जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्यके बिना एकत्वके माननेमें विरोध आता है।

शंका—घट इत्याकारक एक संज्ञाके विषयभूत व्यञ्जनपर्यायरूप अनेक घटादि पदार्थोंमें सादृश्यसामान्य पाया जाता है, इसलिये अशुद्ध ऋजुसूत्र नयोंमें स्थापना निक्षेप क्यों संभव नहीं है?

(१) "उज्जुसुदे ट्ठवणणिक्खेवं वज्जिऊण सव्वणिक्खेवा हवंति; तत्थ सारिच्छसामण्णाभावादो।" —ध० सं० पृ० १६। ध० आ० प० ८६३। (२)—णा च णत्थि अ०, आ०। (३)—म्हं नि···पस- स०। (४) एगसण्णिमिच्छंतेसु अ०, स०।

त्ति ढवणाए संभवो किण्ण जायदे ? होदु णाम सरिसत्तं; तेण पुण [णेयत्तं]; दव्व-खेत्त-काल-भावेहि भिण्णाणमेयत्तविरोहादो। ण च बुद्धीए भिण्णत्थाणमेयत्तं सक्किज्जदे [काउं तहा] अणुवलंभादो। ण च एयत्तेण विणा ठवणा संभवदि, विरोहादो।

§ २१३. ण च उजुसुदो (सुदे) [पज्जवट्ठिए] णए दव्वणिक्खेवो ण संभवइ; [वंजणपज्जायरूवेण] अवट्ठियस्स वत्थुस्स अणेगेसु अत्थ-विंजणपज्जाएसु संचरंतस्स दव्वभावुवलंभादो। वंजणपज्जायविसयस्स उजुसुदस्स बहुकालावट्ठाणं होदि त्ति णासं-

समाधान–नहीं, क्योंकि इसप्रकार व्यंजन पर्यायरूप घटादि पदार्थोंमें सदृशता भले ही रही आओ पर इससे उनमें एकत्व नहीं स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि जो पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा भिन्न हैं उनमें एकत्व माननेमें विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि भिन्न पदार्थोंको बुद्धिसे एक मान लेंगे, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है। और एकत्वके विना स्थापनाकी संभावना नहीं है, क्योंकि एकत्वके विना स्थापनाके माननेमें विरोध आता है।

विशेषार्थ–ऋजुसूत्रनयका विषय पर्याय है, द्रव्य नहीं। तथा स्थापनानिक्षेप दोमें विद्यमान सादृश्य सामान्यके विना हो नहीं सकता है, अतः ऋजुसूत्रनय स्थापनानिक्षेपको नहीं ग्रहण करता है। दोमें बुद्धिके द्वारा एकत्वकी कल्पना करके ऋजुसूत्रनयमें तन्मूलक स्थापना मानना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सादृश्यसामान्यके विना दोमें एकता नहीं मानी जा सकती है। इसलिये स्थापनानिक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है।

§ २१३. यदि कहा जाय कि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक नय है, इसलिये उसमें द्रव्य-निक्षेप संभव नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ अर्पित व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा अवस्थित है और अनेक अर्थपर्याय तथा अवान्तर व्यंजनपर्यायोंमें संचार करता है उसमें द्रव्यपनेकी उपलब्धि होती ही है, अतः ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप वन जाता है। यदि कहा जाय कि व्यंजनपर्यायको विषय करनेवाला ऋजुसूत्रनय बहुत काल तक अवस्थित रहता है, इसलिये वह ऋजुसूत्र नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका काल वर्तमान मात्र है। सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विवक्षित व्यंजन पर्यायके

(१) पुण··दव्व ता०, स०। पुण तिविहं विण्णेयं दव्व-अ० आ०। (२) तुलना–"ण च कप्पणाए अण्णदव्वस्स अण्णत्थेण दव्वेण सह एयत्तं होदि; तहाणुवलंभादो"–ध० आ० प० ८६३। (३)–दे कालस्स अणु–स०, अ०, आ०। –दे··अणु–ता०। (४) उजुसुदो (त्रु० ५) णए दव्व–ता०, स०। उजुसुदो भावो वहुए दुण्णए दव्व–अ०, आ०। "कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवो त्ति ? ण; तत्थ वट्टमाणसमयाणंतगुणण्णिदएगदव्वसंभवादो।"–ध० सं० पृ० १६। "कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवसंभवो ? ण; असुद्धपज्जवट्ठिए वंजणपज्जायपरतंते सुहुमपज्जायभेदेहि णाणत्तमुवगए तदविरोहादो"–ध० आ० प० ८६३। (५)–इ (त्रु० ९) अव–ता० स०। (६) ण संकणि–स०।

कणिज्जं; अप्पिदवंजणपज्जायअवट्ठाणकालस्स दव्वस्स वि वट्टमाणत्तणेण गहणादो। सव्वे (सुद्धे) पुण उजुसुदे णत्थि दव्वं······य पज्जायप्पणाये तदसंभवादो[1]।

* [सद्दणयस्स] णामं भावो च।

§ २१४. दव्वणिक्खेवो णत्थि, कुदो ? लिंगादे (?) सद्दवाचियाणमेयत्ताभावे दव्वाभावादो। वंजणपज्जाए पडुच्च सुद्धे वि उजुसुदे अत्थि दव्वं, लिंगसंखाकालकारय-

अवस्थानकालरूप द्रव्यको भी ऋजुसूत्रनय वर्तमानरूपसे ही ग्रहण करता है, अतः व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा द्रव्यको ग्रहण करनेवाले नयको ऋजुसूत्रनय माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु शुद्ध ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप नहीं पाया जाता है, क्योंकि शुद्ध ऋजुसूत्रमें अर्थपर्यायकी प्रधानता रहती है, अतएव उसमें द्रव्यनिक्षेप संभव नहीं है।

विशेषार्थ–ऋजुसूत्रनय दो प्रकारका है, शुद्ध ऋजुसूत्रनय और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय। उनमेंसे शुद्ध ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय अनेककालभावी व्यंजनपर्यायको ग्रहण करता है। तथा द्रव्यनिक्षेपमें सामान्यकी मुख्यता है, इसलिये शुद्ध ऋजुसूत्रनय द्रव्यनिक्षेपको विषय नहीं करता है यह ठीक है। फिर भी अशुद्ध ऋजुसूत्र नयका विषय द्रव्यनिक्षेप हो जाता है, क्योंकि व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा चिरकालतक स्थित रहनेवाले पदार्थको अशुद्ध ऋजुसूत्रका विषय मान लेनेमें कोई बाधा नहीं आती है। इसतरह ऋजुसूत्रके विषयमें कालभेदकी आपत्ति भी उपस्थित नहीं होती है, क्योंकि वह व्यंजन पर्यायको वर्तमानरूपसे ही ग्रहण करता है। तो भी वह व्यंजनपर्याय चिरकालतक अवस्थित रहती है इसलिये अपने अन्तर्गत अनेक अर्थ और उपव्यंजन पर्यायोंकी अपेक्षा वह द्रव्य भी कही जाती है। अतएव ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप बन जाता है।

* शब्द समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों शब्द नयोंके नामनिक्षेप और भावनिक्षेप विषय हैं॥

§ २१४. पर्यायार्थिक नयोंमें स्थापना निक्षेप संभव नहीं है यह तो ऋजुसूत्र नयका विषय दिखलाते हुए स्पष्ट कर ही आये हैं। परन्तु शब्द नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव नहीं है, क्योंकि इस नयकी दृष्टिमें लिङ्गादिककी अपेक्षा शब्दोंके वाच्यभूत पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है, इसलिये उनमें द्रव्यनिक्षेप संभव नहीं है। किन्तु व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा शुद्ध ऋजुसूत्रमें भी द्रव्यनिक्षेप पाया जाता है, क्योंकि ऋजुसूत्र नय लिङ्ग, संख्या, काल,

(१)–व्वं वट्टमाणये पज्जा–अ०, आ०।–व्वं (त्रु० ४) य पज्जा–स०, ता०। (२)–दो (त्रु० ५) णामं ता०, स०।–दो भावणिक्खेवाणं णामं अ०, आ०। "सद्दसमभिरूढएवंभूदणएसु वि णामभावणिक्खेवा हवंति तेसिं चेय तत्थ संभवादो।"–ध० सं० पृ० १६। (३) विग्गादे सद्दवाचियाणमेयत्ताभावे स०। (४) –संखकारकाल–आ०।

पुरिसोवग्गहाणं पादेक्कमेयत्तब्भुवगमादो ।

§ २१५. अथ स्यार्थे[1] (स्यात्) न पदवाक्यान्यर्थप्रतिपादिकानि; तेषामसत्त्वात् । कुतस्तदसत्त्वं[2]-[म् ? अनुपलम्भात । सोऽपि कुतः ?] वर्णानां[3] क्रमोत्पन्नानामनित्याना-[4]मेतेषां नामधेयाति......समुदयाभावात् । न च तत्समुदये[5]......नुपलम्भात् । न च

कारक, पुरुष और उपग्रहमेंसे प्रत्येकका अभेद स्वीकार करता है । अर्थात् ऋजुसूत्र नय लिङ्गादिकके भेदसे अर्थको ग्रहण नहीं करके अभेदको स्वीकार करता है इसलिये उसमें द्रव्यनिक्षेप बन जाता है ।

विशेषार्थ–शब्दादि तीनों नयोंके विषय नाम निक्षेप और भाव निक्षेप बताये हैं, द्रव्य और स्थापना नहीं । स्थापना निक्षेप तो किसी भी पर्यायार्थिकनयमें संभव नहीं है यह तो ऊपर ही कह आये हैं । रही द्रव्यनिक्षेपकी बात, सो यह ऋजुसूत्र नयमें तो बन जाता है, क्योंकि व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा अनेक पर्यायोंमें एकत्व या अभेद माना जा सकता है । अथवा ऋजुसूत्रनय लिंगादिकके भेदसे वस्तुको भेदरूपसे ग्रहण नहीं करता है इसलिये भी ऋजुसूत्रनयका विषय द्रव्यनिक्षेप हो जाता है । पर शब्दादिक तीनों नय द्रव्यनिक्षेपको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि ये नय वर्तमान पर्यायको ग्रहण करते हुए भी लिंगादिकके भेदसे ही उसे ग्रहण करते हैं । ऊपर जो शुद्ध ऋजुसूत्रमें द्रव्यनिक्षेपका निषेध किया है उसका कारण शुद्ध ऋजुसूत्रनयका द्रव्यगत भेदोंको नहीं ग्रहण करना बताया है और यहां जो शुद्ध ऋजुसूत्रमें द्रव्यनिक्षेपका विधान किया है उसका कारण ऋजुसूत्रनयका पर्यायको लिंगादिके अभेदसे अभेदरूप ग्रहण करना बताया है, अतः दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है ।

§ २१५. **शंका**–शब्दनयकी दृष्टिमें वाचक शब्दोंमें लिङ्ग आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे वाच्यभूत अर्थोंमें भेद स्वीकार किया जाता है, किन्तु जब पद और वाक्य अर्थका कथन ही नहीं करते, क्योंकि उनका अभाव है, तब उसमें वाच्यवाचकभावमूलक नामनिक्षेप कैसे बन सकता है ?

प्रतिशंका–पद और वाक्योंका अभाव कैसे है ?

शंकाकार–क्योंकि वे पाये नहीं जाते हैं ।

प्रतिशंका–वे पाये क्यों नहीं जाते हैं ?

शंकाकार–क्योंकि वर्ण क्रमसे उत्पन्न होते हैं और अनित्य हैं, इसलिये उनका समु-

(१) अस्यार्थः न स० । अथस्यार्थे न ता० । (२)–त्त्व (त्रु० ९) वर्णा–ता०, स० ।–त्त्वप्रसङ्गात् प्रतिपन्नवर्णा–अ०, आ० । (३) तुलना–"प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयौगपद्येन संभूयकारित्वानुपपत्तेः नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च । तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णेभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्ययः स्वनिमित्तमुपकल्पयति ।"–स्फोटसि० पृ० २८ । स्फोट० न्याय० पृ० २ । न्यायकुमु० पृ० ७४५, टि० १० । (४)–नां नित्याना (त्रु० ४) मधेयानि समुदयाभावात् स० ।–नां नित्यानामेतेषां नामधेयातिरूपबीजसद्भावात् समुदयाभावात् अ०, आ० । –नामनित्यानामेतेषां नामधेयाति (त्रु० ५) समुदयाभावात् ता० । (५)–य (त्रु० ६) नुप–ता०, स० ।–य संकेतपदवाक्यानुप–अ०, आ० ।

वर्णादर्थप्रतिपत्तिः; प्रतिवर्णमर्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेत्; न; अनुपलम्भात्। नित्यानित्योभयपक्षेषु सङ्केतग्रहणानुपपत्तेश्च न पदवाक्येभ्योऽर्थप्रतिपत्तिः। नासंकेतितः शब्दोऽर्थप्रतिपादकः; अनुपलम्भात्। ततो न शब्दादि(ब्दादर्थ)प्रतिपत्तिरिति सिद्धम्।

§ २१६. न च वर्ण-पद-वाक्यव्यतिरिक्तः नित्योऽक्रमः अमूर्त्तो निरवयवः सर्वगतः अर्थप्रतिपत्तिनिमित्तं स्फोट इति; अनुपलम्भात्। न मतिस्तद्ग्राहिका; अवग्रहेहावायधारणारूढस्य स्फोटस्य सर्वगतनित्यनिरवयवाक्रमामूर्त्तस्यानुपलम्भात्। नानुमान-

दाय नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि वर्णोंका समुदाय हो जाओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि वर्णोंमें सहभाव नहीं पाया जाता है। यदि कहा जाय कि वर्णोंसे अर्थका ज्ञान हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णोंसे अर्थका ज्ञान मानने पर प्रत्येक वर्णसे अर्थके ज्ञानका प्रसंग आता है। यदि कहा जाय कि प्रत्येक वर्णसे अर्थका ज्ञान हो जाओ सो भी बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वर्णसे अर्थका ज्ञान होता हुआ नहीं देखा जाता है। तथा सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य और सर्वथा उभयपक्षमें संकेतका ग्रहण नहीं बनता है, इसलिये पद और वाक्योंसे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और जिस शब्दमें संकेत नहीं किया गया है वह पदार्थका प्रतिपादक हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता है; इसलिये शब्दसे अर्थका ज्ञान नहीं होता है यह सिद्ध हो जाता है।

§ २१६. यदि कहा जाय कि वर्ण, पद और वाक्यसे भिन्न, नित्य, क्रमरहित, अमूर्त, निरवयव, सर्वगत स्फोट पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसप्रकारका स्फोट पाया नहीं जाता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–मतिज्ञानसे तो स्फोटका ग्रहण होता नहीं है, क्योंकि सर्वगत, नित्य निरवयव, अक्रमवर्ती और अमूर्तस्वरूप स्फोट अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञानका विषय नहीं देखा जाता है।

(१) तुलना–"वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।"–पात० महाभा० प्र० पृ० १६। (२) नासंकेति तच्छब्दार्थ–स०। नासंकेति ततः शब्दोऽर्थ–अ०, आ०,। (३)–त्तं सो स्फोटोत्यनुपल–स०।–त्तं चोत्पत्त्यनुपल–अ०, आ०। "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति। अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः।"–सर्वद० पृ० ३००। "वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः। यद्यपि वर्णस्फोटः पदस्फोटः वाक्यस्फोटः अखण्डपदवाक्यस्फोटौ वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटा इत्यष्टौ पक्षाः सिद्धान्तसिद्धा इति ······"–वैयाकरणभू० पृ० २९४। परमलघु० पृ० २। न्यायकुमु० पृ० ७४५ टि० ९। (४) तुलना–"घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितयाऽप्रतीतेः।"–न्यायकुमु० पृ० ७५५। सन्मति० टी० पृ० ४३५।

मपि; तत्प्रतिबद्धालिङ्गानुपलम्भात्। नार्थापत्तेः स्फोटास्तित्वसिद्धिः; केनचिदर्थप्रतिपत्ते-र्निमित्तेन[1] विपरीतक्रमत्वसिद्धेः स्फोटादेवार्थप्रतिपत्तिरित्यसिद्धेः। नागमोऽपि; तस्य प्रत्यागमसद्भावात्। वर्णश्रवणानन्तरं स्फोटस्समुपलभ्यत इति चेत्; न; वचनमात्रत्वात्। न चानुभवः परोपदेशमपेक्षते; अतिप्रसङ्गात्। न चानवगतोऽपि ज्ञापको भवति; अन्यत्र तथाऽदृष्टेः। किञ्च, न पदवाक्याभ्यां[2] स्फोटोऽभिव्यज्यते; तयोरसत्त्वात्। न चैकेन वर्णेन; तथानुपलम्भात्, वर्णमात्रार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च। नैकवर्णेन स्फोट-

सर्वगत और नित्यादिस्वरूप स्फोटको अनुमान भी ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि इसप्रकारके स्फोटसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई हेतु नहीं पाया जाता है। अर्थापत्तिसे स्फोटके अस्तित्वकी सिद्धि हो जायगी, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्फोटसे जिस क्रमसे अर्थकी प्रतिपत्ति होती है अर्थकी प्रतिपत्तिके किसी अन्य निमित्तसे उससे भिन्न क्रमसे जब अर्थकी प्रतिपत्ति सिद्ध है तो केवल स्फोटसे ही अर्थकी प्रतिपत्ति होती है यह बात अर्थापत्तिसे सिद्ध नहीं होती है। आगम भी नित्यादिरूप स्फोटको ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि जिस आगमसे नित्यादिरूप स्फोटकी सिद्धि की जाती है उससे विपरीत आगम भी पाया जाता है। घ, ट इत्यादि वर्णोंके सुननेके अनन्तर स्फोटका ग्रहण होता ही है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहना वचनमात्र है। यदि स्फोटका अनुभव होता तो उसकी सिद्धिके लिये परके उपदेशकी अपेक्षा ही नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें परोपदेशकी अपेक्षा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् अनुभवसे ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि वर्णोंके सुननेके बाद स्फोटकी प्रतीति होती है। अतः जब अनुभवसे यह बात प्रमाणित नहीं है तो केवल दूसरेके कहनेसे इसे कैसे माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि स्फोट यद्यपि जाना नहीं जाता है तो भी वह अर्थका ज्ञापक है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा देखा नहीं जाता है। यदि कहा जाय कि स्फोटकी सत्ता सर्वत्र पाई जाती है पर उसकी अभिव्यक्ति पद और वाक्योंके द्वारा होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्फोटवादियोंके मतमें पद और वाक्य पाये नहीं जाते हैं। एक वर्णसे स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक वर्णसे स्फोटकी अभिव्यक्ति होती हुई देखी नहीं जाती है। और यदि एक वर्णसे स्फोटकी अभि-

(१)-न विपरीतक्रमत्वसिद्धेः शब्दानिवार्थप्रति-अ०, आ०। -न भवि (त्रु०३) तत्सिद्धिः स्फोटादेवार्थप्रति-स०। (२) तुलना-"यस्यानवयवः स्फोटः व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः। सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते॥ तत्रापि प्रतिवर्णं पदस्फोटो न गम्यते। न चावयवशो व्यक्तिस्तदभावान्न चात्र धीः॥ प्रत्येकञ्चाप्यशक्तानां समुदायेऽप्यशक्तता।"-मी० श्लो० स्फो० श्लो० ९१-९३। "न समस्तैरभिव्यज्यते समुदायानभ्युपगमात्। न व्यस्तैः; एकेनैवाभिव्यक्तौ शेषोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्।"-प्रश० व्यो० पृ० ५९५। "पदस्फोटोऽभिव्यज्यमानः प्रत्येकं वर्णेनाभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा।"-युक्त्यनु० टी० पृ० ९६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६। प्रमेयक० पृ० ४५४। न्यायकुमु० पृ० ७५२। सम्मति० टी० पृ० ४३३।

स्यैकदेशोऽभिव्यज्यते; स्फोटाप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। नान्त्यवर्णस्तद्व्यञ्जकः; तस्याप्येक-वर्णतः अविशेषात्। न स्फोटावयवप्रतिपत्तिरपि; तदप्रतिपत्तौ तदवयवाप्रतिपत्तेः। न स्फोटस्मृतिरपि; अप्रतिपन्ने स्मरणानुपपत्तेः। ततः सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वान्नास्ति स्फोट इति सिद्धम्। ततो न वाच्यवाचकभावो घटत इति। न; बहिरङ्गशब्दात्मक-निमित्तं च (त्तेभ्यः) क्रमेणोत्पन्नवर्णप्रत्ययेभ्यः अक्रमस्थितिभ्यः समुत्पन्नपदवाक्या-भ्यामर्थविपयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। न च वर्णप्रत्ययानां क्रमोत्पन्नानां पदवाक्य-प्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तानामक्रमेण स्थितिर्विरुद्धा; उपलभ्यमानत्वात्। न चोपलभ्यमाने

व्यक्ति मान ली जाय तो केवल एक वर्णसे अर्थके ज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि एक वर्णसे स्फोटका एकदेश प्रकट होता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त स्फोटके ज्ञान न होनेका प्रसंग प्राप्त होता है। अन्त्य वर्ण स्फोटको अभिव्यक्त करता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्त्य वर्ण भी एक वर्णसे कोई विशेषता नहीं रखता है, अर्थात् वह भी तो एक वर्ण ही है इसलिये एक वर्णसे स्फोटकी अभिव्यक्ति माननेमें जो दोप दे आये हैं वे सब दोप अन्त्य वर्णसे स्फोटकी अभिव्यक्ति माननेमें भी प्राप्त होते हैं। यदि कहा जाय कि एक वर्णसे स्फोटके एक देशकी अभिव्यक्ति होकर उसके एक अवयवकी प्रतिपत्ति होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब स्फोटका ही ज्ञान नहीं होता है तो उसके एक अवयवका ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। स्फोटका स्मरण होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका पहले ज्ञान नहीं हुआ है उसका स्मरण नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यक्ष आदि समस्त प्रमाणोंका विपय नहीं होनेसे स्फोट नामका कोई पदार्थ नहीं है यह सिद्ध होता है। इसप्रकार उक्त रूपसे जब वर्ण, पद वाक्य और स्फोटसे अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं होती है तो वाच्यवाचकभाव नहीं बन सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि बाह्य शब्दात्मक निमित्तोंसे क्रमसे जो वर्णज्ञान होते हैं और जो अक्रमसे स्थित रहते हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले पद और वाक्योंसे अर्थविपयक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है। अर्थात् घ, ट आदि वर्णोंके उच्चारणसे उन वर्णोंका ज्ञान होता तो क्रमसे है किन्तु वह अक्रमसे स्थित रहता है और उससे श्रोताके मानसमें जो पद और वाक्योंका बोध होता है उससे अर्थका ज्ञान होता है।

यदि कहा जाय कि पद और वाक्योंके ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूण वर्णविपयक ज्ञान क्रमसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये उन वर्णविपयक ज्ञानोंकी अक्रमसे स्थिति माननेमें विरोध आता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णविपयक ज्ञानोंकी युगपत् स्थिति उपलब्ध

(१) "आद्यो वर्णध्वनिः शब्दात्मा सकलस्य वा व्यञ्जकः स्यात्, एकदेशस्य वा ?"–राजवा० ५।२४। न्यायकुमु० पृ० ७५३ टि० १४। (२)–शब्दार्थक (नु० ३) क्रमेणो–स०। तुलना–"ततो बहिरंगवर्णजनि-

विरोधः; अव्यवस्थापत्तेः । न चानेकान्ते एकान्तवाद इव सङ्केतग्रहणमनुपपन्नम्; सर्वव्यवहाराणां [मनेकान्त एव सुघटत्वात् । ततः] वाच्यवाचकभावो घटत इति स्थितम्। तम्हा सद्दणयस्स णामभावणिक्खेवा बे वि जुज्जंति त्ति सिद्धं ।

§ २१७. संपहि णिक्खेवत्थो उच्चदे। तं जहा, तत्थ णामपेज्जं पेज्जसद्दो। कधमेक्कम्हि पेज्जसद्दे वाचियवाचयभावो जुज्जदे ? ण; एक्कम्हि वि पईवे पयासमाणपया[२] [सियभावदंसणादो ।] ण च सो असिद्धो; उवलब्भमाणत्तादो। सोयमिदि अण्णम्हि पेज्जभावट्ठवणा ट्ठवणापेज्जं णाम। दव्वपेज्जं दुविहं आगम-णोआगमदव्वपेज्जभेएण। तत्थ आगमदो दव्वपेज्जं पेज्जपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो। कथं जीवदव्वस्स सुदोवजोगवज्जियस्स आगमसण्णा ? ण; आगमजणिदसंसकारसंबंधेण आगमववएसुववत्तीदो। णट्ठसं-

होती है। और जो वस्तु उपलब्ध होती है उसमें विरोधकी कल्पना करना ठीक भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्थाकी आपत्ति आती है।

तथा जिसप्रकार एकान्तवादमें संकेतका ग्रहण नहीं बनता है उसीप्रकार अनेकान्तवादमें भी संकेतका ग्रहण नहीं बन सकता, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त व्यवहार अनेकान्तवादमें ही सुघटित होते हैं। अतः वाच्यवाचकभाव बनता है यह सिद्ध होता है। अतः शब्दनयके नाम और भाव ये दोनों ही निक्षेप बनते हैं यह सिद्ध होता है।

§ २१७. अब चारों निक्षेपोंका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–'पेज्ज' यह शब्द नामपेज्ज है।

शंका–एक पेज्ज शब्दमें वाच्यवाचकभाव कैसे बन सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जिसप्रकार एक प्रदीपमें भी प्रकाश्यप्रकाशकभाव पाया जाता है अर्थात् जैसे एक ही प्रदीप प्रकाश्य भी होता है और प्रकाशक भी होता है वैसे ही एक पेज्ज शब्द वाच्य भी होता है और वाचक भी होता है। यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है।

'वह यह है' इसप्रकार किसी दूसरे पदार्थमें पेज्ज धर्मकी स्थापना करना स्थापनापेज्ज है।

आगमद्रव्यपेज्ज और नोआगमद्रव्यपेज्जके भेदसे द्रव्यपेज्ज दो प्रकारका है। जो जीव पेज्जविषयक शास्त्रको जानता हुआ भी उसमें उपयोगसे रहित है वह आगमद्रव्यपेज्ज है।

शंका–जो जीव पेज्जविषयक श्रुतज्ञानके उपयोगसे रहित है उसकी आगमसंज्ञा कैसे हो सकती है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि उसके आगमजनित संस्कार पाया जाता है, इसलिये उसके

तमन्तरङ्गवर्णात्मकं पदं वाक्यं वा अर्थप्रतिपादकमिति निश्चेतव्यम् ।"–ध० आ० प० ५५४।

(१)–णा (त्रु० १२) वाच्य–ता०, स०।–णां वाच्यवाचकभावक्रमेण वाच्य–अ०, आ०। (२)–पया

सकारस्स कधमागमववएसो ? ण; तत्थ वि भूदपुव्वगईए आगमववएसुववत्तीदो । णोआगमदो दव्वपेज्जं तिविहं जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्तभेएण । जाणुगसरीरदव्वपेज्जं तिविहं भविय-वट्टमाण-समुज्झादभेएण । होदु णाम वट्टमाणसरीरस्स पेज्जागमववएसो; पेज्जागमेण सह एयत्तुवलंभादो, ण भविय-समुज्झादाणमेसा सण्णा; पेज्जपाहुडेण संबंधाभावादो त्ति; ण एस दोसो; दव्वट्ठियणयप्पणाए सरीरम्मि तिसरीरभावेण एयत्तमुवगयम्मि तदविरोहादो । भाविदव्वपेज्जं भविस्सकाले पेज्जपाहुडजाणओ । एसो वि णिक्खेवो दव्वट्ठियणयप्पणाए जुज्जदि त्ति । उववत्ती पुव्वं व वत्तव्वा । तव्वदिरित्तणोआगमदव्वपेज्जं दुविहं कम्मपेज्जं णोकम्मपेज्जं चेदि । तत्थ कम्मपेज्जं सत्तविहं इत्थि-

सम्बन्धसे पेज्जविषयक श्रुतज्ञानके उपयोगसे रहित जीवके भी आगम संज्ञा बन जाती है।

शंका–जिसका आगमजनित संस्कार भी नष्ट हो गया है उसे आगम संज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जिसका आगमजनित संस्कार नष्ट हो गया है ऐसे जीवमें भी भूतपूर्वप्रज्ञापननयकी अपेक्षा आगम संज्ञा बन जाती है ।

ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है। ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यपेज्ज भावि, वर्तमान और अतीतके भेदसे तीन प्रकारका है ।

शंका–वर्तमान शरीरकी नोआगमद्रव्यपेज्ज संज्ञा होओ, क्योंकि वर्तमान शरीरका पेज्जागम अर्थात् पेज्ज विषयक शास्त्रको जाननेवाले जीवके साथ एकत्व पाया जाता है। परन्तु भाविशरीर और अतीतशरीरको नोगमद्रव्यपेज्ज संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इन दोनों शरीरोंका पेज्जागमके साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है ?

समाधान–यह दोष उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीनों शरीर शरीरत्वकी अपेक्षा एकरूप हैं, अतः एकत्वको प्राप्त हुए शरीरमें नोआगमद्रव्यपेज्ज संज्ञाके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

जो भविष्यकालमें पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाला होगा उसे भाविनोआगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं। यह निक्षेप भी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे बनता है, इसलिये जिसप्रकार भावि और भूत शरीरमें शरीरसामान्यकी अपेक्षा वर्तमान शरीरसे एकत्व मानकर नोआगमद्रव्यपेज्ज संज्ञाका व्यवहार किया है उसीप्रकार वर्तमान जीव ही भविष्यमें पेज्जविषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा; अतः जीवसामान्यकी अपेक्षा एकत्व मानकर वर्तमान जीवको भावि नोआगमद्रव्यपेज्ज कहा है ।

कर्मपेज्ज और नोकर्मपेज्जके भेदसे तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्ज दो प्रकारका है। उनमेंसे कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यपेज्ज स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, माया

(मु० १२) ण च ता०, स० । –पमासिमवदिरित्तभेदेण ण च अ०, आ० ।

पुरिस-णवुंसयवेद-हस्स-रइ-माया-लोह-भेएण। कथं कस्माणं पेज्जत्तं? आह्लादनहेतुत्वात्। एवमेदेसिं णिक्खेवाणमत्थो सुगमो त्ति कट्टु जइवसहाइरिएण ण वुत्तो।

§ २१८. संपहि उत्तरणिक्खेवणट्टप (व-प-) रूवणट्टं सुत्तं भणदि-

*** णोआगमदव्वपेज्जं तिविहं-हिदं पेज्जं, सुहं पेज्जं, पियं पेज्जं। गच्छगा च सत्तभंगा।**

§ २१९. व्याध्युपशमनहेतुर्द्रव्यं हितम्। यथा पित्तज्वराभिभूतस्य तदुपशमनहेतुकटुकरोहिण्यादिः। जीवस्य आल्हादनहेतुर्द्रव्यं सुखम्, यथा क्षुत्तृडार्त्तस्य मृष्टौदनशीतोदके। एते प्रिये अपि भवत इति चेत्; न, क्षुत्तृड्वर्जितस्य एतयोरुपरि रुचेरभावात् तत्रार्पणाभावाद्वा। स्वरुचिविषयीकृतं वस्तु प्रियम्, यथा पुत्रादिः। एवमुक्तास्त्रयो भङ्गाः।

§ २२०. साम्प्रतं द्विसंयोग उच्यते। तद्यथा, द्राक्षाफलं हितं सुखञ्च, पित्तज्वराभि-

---

और लोभके भेदसे सात प्रकारका है।

शंका-स्त्रीवेद आदि कर्मोंको पेज्ज कैसे कहा जा सकता है?

समाधान-क्योंकि ये स्त्रीवेद आदि कर्म प्रसन्नताके कारण हैं, इसलिये इन्हें पेज्ज कहा गया है।

इसप्रकार इन पूर्वोक्त निक्षेपोंका अर्थ सरल है, ऐसा समझकर यतिवृषभाचार्यने इनका अर्थ नहीं कहा है।

§ २१८. अब आगेके निक्षेपका प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं-

*** नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है-हितपेज्ज, सुखपेज्ज और प्रियपेज्ज। इन तीनों स्थानोंके सात भङ्ग होते हैं।**

§ २१९. व्याधिके उपशमनका कारणभूत द्रव्य हित कहलाता है। जैसे, पित्तज्वरसे पीड़ित पुरुषके पित्तज्वरकी शान्तिका कारण कड़वी कुटकी तूंवड़ी आदिक द्रव्य हितरूप हैं। जीवके आनन्दका कारणभूत द्रव्य सुख कहलाता है। जैसे, भूख और प्याससे पीड़ित पुरुषको सुघे विने चावलोंसे बनाया गया भात और ठंडा पानी सुखरूप है।

शंका-शुद्ध भात और ठंडा पानी प्रिय भी हो सकते हैं?

समाधान-नहीं, क्योंकि जो भूखा और प्यासा नहीं है उसकी इन दोनोंमें रुचि नहीं पाई जाती है, इसलिये इन्हें यहाँ प्रिय द्रव्य नहीं कहा है। अथवा, यहाँ शुद्ध भात और ठंडे पानीमें प्रियरूप द्रव्यकी विवक्षा नहीं की है।

जो वस्तु अपनेको रुचे उसे प्रिय कहते हैं। जैसे, पुत्र आदि। इसप्रकार तीन भङ्ग कह दिये।

§ २२०. अब द्विसंयोगी भङ्ग कहते हैं वे इसप्रकार हैं-दाख हितरूप भी है और सुखरूप भी है, क्योंकि वह पित्तज्वरसे पीड़ित पुरुषके स्वास्थ्य और आनन्द इन दोनोंका कारण देखी जाती है।

भूतस्य पुंसः स्वास्थ्याल्हादनहेतुत्वात् । यदाल्हादनहेतुस्तत्प्रियमेवेति द्राक्षाफलं प्रियमपीति किन्नोच्यते ? सत्यमेतत्, किन्तु द्विसंयोगविवक्षायां न त्रिसंयोगाः; विरोधात् १। पिचुमन्दः हितः प्रियश्च, तिक्तप्रियस्य पित्तज्वराभिभूतस्य स्वास्थ्यप्रेमहेतुत्वात् । तिक्तप्रियस्य निम्बः आल्हादनहेतुरिति सुखमपि किन्न भवेत् इति चेत्; न; तत्र तथाविवक्षाभावात् २। क्षीरं सुखं प्रियश्च, आमव्याध्यभिभूतस्य मधुरप्रियस्याल्हादनप्रेमहेतुत्वात्, न हितम्; आमवर्द्धनत्वात् ३। एवमेते त्रयो द्विसंयोगभङ्गाः। गुडक्षीरादयो हितं सुखं प्रियश्च भवन्ति; स्वस्थस्य प्रियसुखहितहेतुत्वात् १। एवं त्रिसंयोगजः एक एव भङ्गः। सर्वभङ्गसमासः सप्त ७। अत्रोपयोगी श्लोकः–

"तिक्ता च शीतलं तोयं पुत्रादिर्मुद्रिका-(मृद्वीका-) फलम् ।
निम्बक्षीरं ज्वरार्त्तस्य नीरोगस्य गुडादयः ॥१२०॥"

शंका–जो आनन्दका कारण होता है वह अप्रिय न होकर प्रिय ही होता है इसलिये 'दाख प्रिय भी है' ऐसा क्यों नहीं कहा है ?

समाधान–यह कहना ठीक है, परन्तु यहाँ पर द्विसंयोगी भङ्गकी विवक्षा है इसलिये त्रिसंयोगी भङ्ग नहीं कहा है, क्योंकि द्विसंयोगीकी विववक्षामें त्रिसंयोगी भङ्गके कहनेमें विरोध आता है ।

नीम हितरूप भी है और प्रिय भी है, क्योंकि जिसे कड़वी वस्तु प्रिय है ऐसे पित्तज्वरसे पीड़ित रोगीके स्वास्थ्य और प्रेम इन दोनोंका हेतु देखा जाता है ।

शंका–जिसे कड़ुआ रस प्रिय है उसको नीम आनन्दका कारण भी देखा जाता है इसलिये नीम सुखरूप भी क्यों नहीं कहा है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि द्विसंयोगी भङ्गमें नीम सुखरूपसे विवक्षित नहीं है ।

दूध सुखकर भी होता है और प्रिय भी होता है, क्योंकि जो आमव्याधिसे पीड़ित है और जिसे मधुर रस प्रिय है उसके दूध आनन्द और प्रेमका कारण देखा जाता है । किन्तु आमव्याधिवालेको दूध हितरूप नहीं है, क्योंकि वह आमरोगको वढ़ाता है । इसप्रकार ये तीन द्विसंयोगी भङ्ग हैं ।

गुड़ और दूध आदि हितरूप, सुखकर और प्रिय होते हैं, क्योंकि वे स्वस्थ पुरुषके प्रेम, सुख और हितके कारण देखे जाते हैं । इसप्रकार त्रिसंयोगी भङ्ग एक ही होता है । इन सभी भङ्गोंका जोड़ सात होता है । इस विषयमें उपयोगी श्लोक देते हैं–

"पित्तज्वरवालेको उसके उपशमनका कारण होनेसे कुटकी हित द्रव्य है । प्यासेको आनन्दका कारण होनेसे ठंडा पानी सुखरूप है । अपनी रुचिका पोषक होनेसे पुत्रादिक

(१) सुखप्रीतिहे–स० । (२) "तिक्ता तु कटुरोहिण्याम्"–अनेकार्थसं० २।१७४।

प्रिय द्रव्य है। पित्तज्वरवालेके स्वास्थ्य और आनन्दका कारण होनेसे दाख हित और सुखरूप द्रव्य है। पित्तज्वरसे पीड़ित रोगीको नीम हित और प्रिय द्रव्य है। आमव्याधिवाले मनुष्यको दूध सुख और प्रिय द्रव्य है। तथा नीरोग मनुष्यको गुड़ आदिक हित, सुख और प्रिय द्रव्य है ॥१२०॥"

विशेषार्थ–नोआगम द्रव्य निक्षेपमें तद्व्यतिरिक्त पदसे ज्ञायकशरीर और भावीसे अतिरिक्त पदार्थोंका ग्रहण किया है। इसके कर्म और नोकर्म इसप्रकार दो भेद हैं। कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेपका कथन ऊपर किया जा चुका है। नोकर्म पदसे सहकारी कारणोंका ग्रहण किया जाता है इसलिये यहाँ नोकर्मसे किन पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिये यह बताया गया है। पेज्ज और द्वेषके भेदसे कषाय दो प्रकारकी है। द्वेषका कथन आगे किया गया है। प्रकृतमें पेज्जकी अपेक्षासे ही नोकर्म बतलाये गये हैं। पेज्जमें कहीं हितकी, कहीं सुखकी, कहीं प्रियकी, कहीं हित और सुखकी, कहीं हित और प्रियकी, कहीं सुख और प्रियकी तथा कहीं तीनोंकी अपेक्षा रहती है, अतएव इनके सहकारी द्रव्य भी कहीं हितरूप, कहीं सुख रूप, कहीं प्रियरूप, कहीं हित-सुख, हित-प्रिय या सुखप्रियरूप और कहीं तीनों रूप कहे जाते हैं। वीरसेनस्वामीने उदाहरण देकर इसी बात को अच्छी तरह समझा दिया है। आगे इसी विषयको और स्पष्ट करनेके लिये कोष्ठक दिया जाता है–

	नोकर्मके अपेक्षाकृत नाम	नोकर्म	विवक्षा
१	हितपेज्ज	कड़वी तूंबड़ी आदि	पित्तज्वरकी शान्तिकी अपेक्षा होने पर
२	सुखपेज्ज	सुस्वादु भात आदि	भूखशान्तिकी विवक्षामें
३	प्रियपेज्ज	पुत्रादि	प्रेमकी विवक्षा होने पर
४	हित-सुखपेज्ज	दाख आदि	स्वास्थ्य और आनन्दकी विवक्षा होने पर
५	हित-प्रियपेज्ज	नीम आदि	तिक्तप्रियके पित्तज्वरके दूर करनेकी विवक्षा होने पर
६	सुख-प्रियपेज्ज	दूध आदि	मधुरप्रियके आमव्याधिके दूर करनेकी विवक्षा होने पर
७	हित-प्रिय-सुखपेज्ज	गुड़ आदि	स्वस्थ पुरुषके तीनोंकी अपेक्षा होने पर

यहाँ पेज्ज भावके नोकर्म दिखाये गये हैं, और पेज्जभाव हित, सुख तथा प्रिय इन तीनरूप या इनके संयोगरूप ही प्रकट होता है, अतः इस दृष्टिसे पेज्जभावकी बाह्यकारण-

* एदं णेगमस्स ।

§ २२१. कुदो ? एक्कम्मि चेव वत्थुम्मि कमेण अक्कमेण च हिद-सुह-पियभावब्भुवगमादो, हिद-सुह-पियदव्वाणं पुधभूदाणं पि पेज्जभावेण एअत्तब्भुवगमादो च ।

* संगह-ववहाराणं उजुसुदस्स च सव्वं दव्वं पेज्जं ।

§ २२२. जं किंचि दव्वं णाम तं सव्वं पेज्जं चेव; कस्स वि जीवस्स कम्हि वि काले सव्वदव्वाणं पेज्जभावेण वट्टमाणाणमुवलंभादो । तं जहा, विसं पि पेज्जं, विसुप्पण्णजीवाणं कोढियाणं मरणमारणिच्छाणं च हिद-सुह-पियकारणत्तादो । एवं पत्थरतणिंधणग्गिच्छु-

रूप सामग्री सात भागोंमें बट जाती है । इस पेज्जभावका अन्तरंग कारण स्त्रीवेद आदि उपर्युक्त सात कर्मोंका उदय है । उन्हींके निमित्तसे हितादिरूप सात प्रकारके भाव प्रकट होते हैं । पर किस कर्मके उदयसे कौन भाव पैदा होता है ऐसा विवेक नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कर्मके निमित्तसे ये सात भाव हो सकते हैं । इसीप्रकार उपर्युक्त द्रव्य ही नोकर्म हैं अन्य नहीं या उपर्युक्त अपेक्षाभेद ही उनकी उत्पत्तिके कारण हैं अन्य नहीं, ऐसा एकान्त नहीं समझना चाहिये । ये उपलक्षणमात्र हैं । इनके स्थान पर हित-पेज्ज आदिरूप और दूसरे द्रव्य भी हो सकते हैं और उनके वैसा होनेमें अपेक्षाभेद भी हो सकता है ।

* यह तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्जका सात भङ्गरूप कथन नैगमनयकी अपेक्षासे है ।

§ २२१. **शंका**–उक्त कथन नैगमनयकी अपेक्षासे क्यों है ?

समाधान–चूंकि एक ही वस्तुमें क्रमसे और अक्रमसे हित, सुख और प्रियरूप भाव स्वीकार किया है । तथा यदि हितद्रव्य, सुखद्रव्य और प्रियद्रव्यको पृथक् पृथक् भी लेवें तो भी उनमें पेज्जरूपसे एकत्व माना गया है, इसलिये यह सब कथन नैगमनयकी अपेक्षासे समझना चाहिये । अर्थात् यहां हित, सुख और प्रियको भेद और अभेदरूपसे स्वीकार किया है, इसलिये यह नैगमनयका विषय है ।

* संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समस्त द्रव्य पेज्जरूप है ।

§ २२२. जगमें जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब पेज्ज ही हैं, क्योंकि किसी न किसी जीवके किसी न किसी कालमें सभी द्रव्य पेज्जरूप पाये जाते हैं । उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–विष भी पेज्ज है, क्योंकि विषमें उत्पन्न हुए जीवोंके, कोढी मनुष्योंके और मरने तथा मारनेकी इच्छा रखनेवाले जीवोंके विष क्रमसे हित, सुख और प्रियभावका कारण देखा जाता है । इसीप्रकार पत्थर, घास, ईंधन, अग्नि और सुधा आदिमें जहां जिसप्रकार पेज्जभाव घटित हो वहां उसप्रकारसे पेज्जभावका कथन कर लेना चाहिये ।

(१) सव्वदव्वं आ०, स० ।

हाईणं जहासंभवेण पेज्जभावो वत्तव्वो। परमाणुम्मि कथं पेज्जत्तं ? ण, विवेदमाणाणं हरिसुप्पायणेण तत्थ वि पेज्जभावुवलंभादो। एदेसु णएसु संजोगभंगा किमिदि ण संभवंति ? वुच्चदे, ण ताव संगहणए संजोगभंगा अत्थि, एक्कम्मि संजोगाभावादो। ण पादेक्कभंगा वि अत्थि, एगप्पणाए हिद-पिय-सुहसरूवेण भेदाभावादो।

§ २२३. उजुसुदे वि संजोगभंगा णत्थि; पुधभूददव्वाणं संजोगाभावादो। ण सरिसत्तं पि अत्थि; हिद-पिय-सुहभावेण भिण्णाणं सरिसत्तविरोहादो। ण च एगेण पेज्जसद्देण वाचियत्तादो एयत्तं; सद्दभेदाभेदेहि वत्थुस्स भेदाभेदाणमभावादो। ण पादेक्कभंगा अत्थि, हिद-सुह-पियभावेण अवट्ठिददव्वाभावादो।

शंका–परमाणुमें पेज्जभाव कैसे वन सकता है ?

समाधान–यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणुको विशेषरूपसे जाननेवाले पुरुषोंके परमाणु हर्षका उत्पादक है। अर्थात् परमाणुके जाननेके इच्छुक मनुष्य जब उसे जान लेते हैं तो उन्हें बड़ा हर्ष होता है, इसलिये परमाणुमें भी पेज्जभाव पाया जाता है।

विशेषार्थ–संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय एक कालमें एक वस्तुको दोरूपसे ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः इनकी अपेक्षा समस्त द्रव्य एक कालमें या तो पेज्जरूप ही होंगे या द्वेषरूप ही। यहां पेज्ज भावका प्रकरण है, अतः यहां इन तीनों नयोंकी अपेक्षा समस्त द्रव्य पेज्जरूप ही कहे हैं। इसीप्रकार द्वेषभावके प्रकरणमें इन तीनों नयोंकी अपेक्षा समस्त द्रव्य द्वेषरूप ही कहे जायंगे। इन तीनों नयोंमें संयोगी भंग क्यों नहीं वनते हैं इसका स्पष्टीकरण आगे ग्रंथकारने स्वयं किया है।

शंका–इन संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयोंमें संयोगी भंग क्यों संभव नहीं हैं ?

समाधान–संग्रहनयमें तो संयोगी भंग संभव नहीं हैं, क्योंकि, वह सबको एक रूपसे ही ग्रहण करता है, और एक में संयोग हो नहीं सकता है। उसीप्रकार संग्रहनयमें प्रत्येक भंग भी संभव नहीं हैं, क्योंकि संग्रहनयमें एकत्वकी विवक्षा है इसलिये उसकी अपेक्षा एक वस्तुके हित, प्रिय और सुखरूपसे भेद नहीं हो सकते हैं।

§ २२३. ऋजुसूत्रनयमें भी संयोगी भंग नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि इस नयकी दृष्टिसे पृथक्भूत द्रव्योंमें संयोग नहीं हो सकता है। तथा इस नयकी अपेक्षा द्रव्योंमें सदृशता भी नहीं पाई जाती है जिससे उनमें एकत्व माना जावे, क्योंकि जो पदार्थ हित, सुख और प्रियरूपसे भिन्न भिन्न हैं उनमें सदृशताके माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि हित, प्रिय और सुखरूप द्रव्य एक पेज्ज शब्दके वाच्य हैं इसलिये उनमें एकत्व पाया जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दोंके भेदसे वस्तुमें भेद और शब्दोंके अभेदसे वस्तुमें अभेद नहीं होता है। उसीप्रकार ऋजुसूत्रनयमें प्रत्येक भंग भी नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि एक द्रव्य हित, सुख और प्रियरूपसे सर्वदा अवस्थित नहीं पाया जाता है।

§ २२४. एवं ववहारणयस्स वि वत्तव्वं; अभेदे लोगववहाराणुववत्तीदो। अभेदेण वि लोगे ववहारो दीसइ त्ति चे; ण; तस्स संगहणयविसयत्तादो। भेदाभेदववहारो कस्स णयस्स विसओ ? णेगमस्स; भेदाभेदे अवलंबिय तदुप्पत्तीदो। तदो तिण्हं णयाणं सव्वदव्वं पेज्जमिदि जं भणिदं तं सुघडं ति दट्ठव्वं।

* भावपेज्जं ठवणिज्जं।

§ २२४. इसीप्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा भी कथन करना चाहिये। क्योंकि व्यवहारनय भेदप्रधान है, और संयोगी भंग अभेदरूप हैं, अतः यदि अभेदरूप संयोगी भंगोंको माना जायगा तो लोकव्यवहार नहीं वन सकता है।

शंका–अभेदरूपसे भी लोकमें व्यवहार देखा जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अभेदरूपसे जो लोकव्यवहार दिखाई देता है वह संग्रहनयका विषय है।

शंका–भेदाभेदरूप व्यवहार किस नयका विषय है ?

समाधान–भेदाभेदरूप व्यवहार नैगम नयका विषय है, क्योंकि भेदाभेदका आलम्बन लेकर नैगमनयकी प्रवृत्ति होती है।

अतः संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन तीन नयोंकी अपेक्षा समस्त द्रव्य पेज्जरूप हैं यह जो सूत्रमें कहा गया है वह अच्छीतरह घटित होता है ऐसा समझना चाहिये।

विशेषार्थ–संग्रहनय एक साथ या क्रमसे एक या अनेक पदार्थोंको विवक्षाभेदसे या अनेकरूपसे नहीं ग्रहण कर सकता है। संग्रहनयका विषय अभेद है और सभी पदार्थ पेज्जरूप भावकी विवक्षा होने पर पेज्जरूप हो सकते हैं अतः यह नय सभीको पेज्जरूपसे ही ग्रहण करता है। व्यवहारनयका विषय यद्यपि भेद है इसलिये उसमें प्रिय, हित आदि प्रत्येक भंग वन जाना चाहिये। पर जो प्रिय है वही कालान्तरमें या अन्यकी अपेक्षासे हितरूप या सुखरूप भी है और यह सब भेदाभेद व्यवहारनयका विषय नहीं है। अतः यह नय भी सभी पदार्थोंको पेज्जरूपसे ही ग्रहण करता है। ऋजुसूत्र नयका विषय एक है। उसकी दृष्टिसे एक अनेकरूप या अनेक एकरूप होता ही नहीं है अतः ऋजुसूत्रनय भी सभीको पृथक् पृथक् पेज्जरूपसे ही ग्रहण करता है। यहां यह कहा जा सकता है कि वह किसीको हितरूप और किसीको सुखरूप ग्रहण कर ले। यद्यपि ऐसा हो सकता है पर हितादिभाव पेज्जके भेद हैं और यह उसका विषय नहीं होनेसे ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें पेज्जके हितादिरूपसे भेद नहीं किये जा सकते हैं। इतने कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हितादिरूप सात भंग नैगमनयकी अपेक्षासे ही हो सकते हैं संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे नहीं।

* भावपेज्जका कथन स्थगित करते हैं।

§ २२५. कुदो ? भावपेज्जभावदोसाणमेगवारेण बारसअणियोगद्दारेहि परूवणट्ठं। पुध-पुधतत्तिएहि अणियोगद्दारेहि तेसिं परूवणा किण्ण कीरदे ? ण; गंथस्स बहुत्तप्पसंगादो, पुधपरूवणाए फलाणुवलंभादो च।

*** दोसो णिक्खिवियव्वो णामदोसो ट्ठवणदोसो दव्वदोसो भावदोसो चेदि।**

§ २२६. ताव णिक्खेवसुत्तत्थं मोत्तूण णिक्खेवसामिणयपरूवणं कस्सामो। कुदो ? इमो णिक्खेवो इमस्स णयस्स विसयभूदो त्ति जाव णावगदं ताव णिक्खेवत्थावगमाभावादो।

*** णेगम-संगह-ववहारा सव्वे णिक्खेवे इच्छंति।**

§ २२७. सुगममेदं; पुव्वं[2] बहुसो परूविदत्तादो।

*** उजुसुदो ट्ठवणवज्जे।**

---

§ २२५. शंका–भावपेज्जका कथन स्थगित क्यों करते हैं ?

समाधान–चूंकि भावपेज्ज और भावदोष इन दोनोंका एकसाथ बारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा कथन किया जायगा इसलिये यहां भावपेज्जका कथन स्थगित करते हैं।

शंका–बारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा भावपेज्ज और भावदोषकी प्ररूपणा पृथक् पृथक् क्यों नहीं की ?

समाधान–नहीं, क्योंकि भावपेज्ज और भावदोषका बारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा पृथक् पृथक् प्ररूपण करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत बढ़ जायगा और इससे कोई लाभ भी नहीं है, इसलिये इनका पृथक् पृथक् प्ररूपण नहीं किया है।

*** नामदोष, स्थापनादोष, द्रव्यदोष और भावदोष इसप्रकार दोषका निक्षेप करना चाहिये।**

§ २२६. इस निक्षेपसूत्रके अर्थको छोड़कर, किस निक्षेपका कौन नय स्वामी है, अर्थात् कौन नय किस निक्षेपको विषय करता है, इसका पहले कथन करते हैं, क्योंकि यह निक्षेप इस नयका विषय है यह जब तक नहीं जान लिया जाता है तब तक निक्षेपके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है।

*** नैगम, संग्रह और व्यवहारनय सभी निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं।**

§ २२७. यह सूत्र सुगम है, क्योंकि पहले इसका विस्तारसे कथन कर आये हैं।

*** ऋजुसूत्रनय स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष तीन निक्षेपोंको स्वीकार करता है।**

---

(१) "दूसंति तेण तम्मि व दूसणमह देसणं व दोसो त्ति। देसो च सो चउद्धा दव्वे कम्मेयरविय-प्पो॥"–वि० भा० गा० २९६६। (२) पृ० २५९-२६४।

§ २२८. कुदो ट्ठवणा णत्थि ? दव्व-खेत्त-कालभावभेएण भिण्णाणमेयत्ताभावादो, अण्णत्थम्मि अण्णत्थस्स बुद्धीए ट्ठवणाणुववत्तीदो च। ण च बुद्धिवसेण दव्वाणमेयत्तं होदि; तहाणुवलंभादो। दव्वाट्ठियणयमस्सिदूण ट्ठिदणामं कथमुजुसुदे पज्जवट्ठिए संभवइ ? णः अत्थणएसु सद्दस्स अत्थाणुसारित्ताभावादो। सद्दववहारे चप्पलए संते लोगववहारो

§ २२८. शंका–ऋजुसूत्रनय स्थापनानिक्षेपको क्यों नहीं विषय करता है ?

समाधान–क्योंकि ऋजुसूत्रनय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे पदार्थोंको भेदरूप ग्रहण करता है, इसलिये उनमें एकत्व नहीं हो सकता है और इसीलिये बुद्धिके द्वारा अन्य-पदार्थमें अन्य पदार्थकी स्थापना नहीं की जा सकती है, अतः ऋजुसूत्रनयमें स्थापना निक्षेप सम्भव नहीं है।

यदि कहा जाय कि भिन्न द्रव्योंमें बुद्धिके द्वारा एकत्व सम्भव है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न द्रव्योंमें बुद्धिके द्वारा भी एकत्व नहीं पाया जाता है।

शंका–नामनिक्षेप द्रव्यार्थिकनयका आश्रय लेकर होता है और ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक-नय है, इसलिये उसमें नामनिक्षेप कैसे सम्भव है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अर्थनयमें शब्द अपने अर्थका अनुसरण नहीं करता है अर्थात् नामनिक्षेप शब्दके अर्थका अनुसरण नहीं करता है। तथा अर्थनयमें भी यही बात है। अतः अर्थनय ऋजुसूत्रमें नामनिक्षेप सम्भव है।

विशेषार्थ–शब्दनय लिङ्गादिके भेदसे, समभिरूढ़नय व्युत्पत्तिके भेदसे और एवं-भूतनय क्रियाके भेदसे अर्थको ग्रहण करता है, अतः तीनों शब्दनयोंमें शब्द अर्थका अनु-सरण करता हुआ पाया जाता है। परन्तु अर्थनयोंमें शब्द इसप्रकार अर्थभेदका अनुसरण नहीं करता है। वहाँ केवल संकेत ग्रहणकी ही मुख्यता रहती है, क्योंकि अर्थनय शब्दगत धर्मोंके भेदसे अर्थमें भेद नहीं करते हैं। 'पुष्यस्तारका' कहनेसे यदि 'पुष्य नक्षत्र एक तारका है' इतना बोध हो जाता है तो अर्थनयोंकी दृष्टिमें पर्याप्त है। पर शब्द नय इस प्रयोगको ही ठीक नहीं मानते हैं, क्योंकि पुलिङ्ग पुष्य शब्दका स्त्रीलिङ्ग तारका शब्दके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा इन शब्दोंमें जब कि लिङ्गभेद पाया जाता है तो इनके अर्थमें भी अन्तर होना चाहिये। यही सबब है कि ऋजुसूत्रनयके अर्थनय होने पर भी उसमें नाम-निक्षेप बन जाता है।

शंका–यदि अर्थनयोंमें शब्द अर्थका अनुसरण नहीं करते हैं तो शब्द व्यवहारको

(१) "चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेपास्त्रयं शब्दतः"–सिद्धिवि० टी० प० ५१७। "चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्। त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः॥"–लघी० श्लो० ७२। अकलङ्क० टि० पृ० १५२। "अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता। सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति॥"–विशेषा० गा० २७५२।

सयलो वि उच्छिज्जदि त्ति चे; होदु तदुच्छेदो, किन्तु णयस्स विसओ अम्मेहि परूविदो। सव्व (सद्द) त्थणिरवेक्खा अत्थणया त्ति कथं णव्वदे ? लिंग-संखा-काल-कारय-पुरिसुवग्गहेसु वियहिचारदंसणादो। कथं पज्जवट्ठिए उजुसुदे दव्वणिक्खेवस्स सम्भवो ? ण; अप्पिदवंजणपज्जायस्स वट्टमाणकालब्भंतरे अणेगेसु अत्थवंजणपज्जाएसु संचरंतवत्थूवलम्भादो।

* सद्दणयस्स णामं भावो च।

§ २२९. अणेगेसु घडत्थेसु दव्व-खेत्त-काल-भावेहि पुधभूदेसु एक्को घडसद्दो वट्टमाणो उवलब्भदे, एवमुवलब्भमाणे कथं सद्दणए पज्जवट्ठिए णामणिक्खेवस्स संभवो त्ति ? ण; एदम्मि[1] णए तेसिं घडसद्दाणं दव्व-खेत्त-काल-भाववाचियभावेण भिण्णाणमण्णया-

---

असत्य मानना पड़ेगा, और शब्द व्यवहारको असत्य मानने पर समस्त लोकव्यवहारका व्युच्छेद हो जायगा ?

समाधान–यदि इससे समस्त लोकव्यवहारका उच्छेद होता है तो होओ किन्तु यहाँ हमने नयके विषयका प्रतिपादन किया है।

शंका–अर्थनय शब्दार्थकी अपेक्षाके विना प्रवृत्त होते हैं, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–क्योंकि अर्थनयोंकी अपेक्षा लिङ्ग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह इनमें व्यभिचार देखा जाता है अर्थात् अर्थनय शब्दनयकी तरह लिङ्गादिकके व्यभिचारको दोष नहीं मानता और लिङ्गादिकका भेद होते हुए भी वह पदार्थको भेदरूप ग्रहण नहीं करता। इससे जाना जाता है कि अर्थनय शब्दार्थकी अपेक्षा नहीं करके ही प्रवृत्त होते हैं।

शंका–ऋजुसूत्र पर्यायार्थिकनय है, अतः उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे संभव है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि व्यञ्जनपर्यायकी मुख्यतासे ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालके भीतर अनेक अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायोंमें सञ्चार करते हुए पदार्थका ग्रहण करता है, इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप सम्भव है।

* नामनिक्षेप और भावनिक्षेप शब्दनयका विषय है।

§ २२९. **शंका**–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा भिन्न भिन्न अनेक घटरूप पदार्थोंमें एक घट शब्द प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है। जब कि घट शब्द इसप्रकार उपलब्ध होता है और शब्दनय पर्यायार्थिक नयका भेद है, तब शब्दनयमें नामनिक्षेप कैसे सम्भव है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि इस नयमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप वाचकभावसे भेदको प्राप्त हुए उन अनेक घट शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं पाया जाता है। अर्थात् यह नय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रवृत्त होनेवाले घट शब्दोंको भिन्न मानता

---

(१) ण एदं हि णए देसिं स०।

भावादो। तत्थ संकेयग्गहणं दुग्घडं त्ति चे ? होदु णाम, किंतु णयस्स विसओ परूविज्जदे, ण च सुणएसु किं पि दुग्घडमत्थि। अथवा, वज्झत्थे णामस्स पवुत्ती मा होउ णाम, तह वि णामणिक्खेवो संभवइ चेव; अप्पाणम्मि सव्वसद्दाणं पउत्तिदंणादो। ण च वज्झत्थे वट्टमाणो दोससद्दो णामणिक्खेवो होदि; विरोहादो।

§२३०. णाम-ट्ठवणा-आगमदव्व-णोआगमदव्वजाणुगसरीर-भवियणिक्खेवा सुगमा त्ति कट्टु तेसिमत्थमभणिय तव्वदिरित्तणोआगमदव्वदोससरूवपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

*** णोआगमदव्वदोसो णाम जं दव्वं जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम।**

है। और इसप्रकार शब्दनयमें नामनिक्षेप वन जाता है।

शंका–यदि ऐसा है तो शब्दनयमें संकेतका ग्रहण करना कठिन हो जायगा, अर्थात् यदि शब्दनय भिन्न भिन्न घटोंमें प्रवृत्त होनेवाले घट शब्दोंको भिन्न भिन्न मानता है तो शब्दनयमें 'इस घट शब्दका यह घटरूप अर्थ है' इसप्रकारके संकेतका ग्रहण करना कठिन हो जायगा, क्योंकि उसके मतसे भिन्न भिन्न वाच्योंके वाचक भी भिन्न भिन्न ही हैं और ऐसी परिस्थितिमें व्यक्तिशः संकेत ग्रहण करना शक्य नहीं है ?

समाधान–शब्दनयमें संकेतका ग्रहण करना यदि कठिन होता है तो होओ किन्तु यहां तो शब्दनयके विषयका कथन किया है।

दूसरे सुनयोंकी प्रवृत्ति सापेक्ष होती है इसलिये उनमें कुछ भी कठिनाई नहीं है। अथवा शब्दनयकी अपेक्षा बाह्य पदार्थमें नामकी प्रवृत्ति मत होओ तो भी शब्दनयमें नामनिक्षेप संभव ही है, क्योंकि सभी शब्दोंकी अपने आपमें प्रवृत्ति देखी जाती है। अर्थात् जिस समय घट शब्दका घटशब्द ही वाच्य माना जाता है बाह्य घट पदार्थ नहीं उस समय शब्दनयमें नामनिक्षेप वन जाता है। यदि कहा जाय कि बाह्य पदार्थमें विद्यमान दोष शब्द नामनिक्षेप होता है, अर्थात् जब दोष शब्द बाह्य पदार्थमें प्रवृत्त होता है तभी वह नामनिक्षेप कहलाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। अर्थात् इस नयकी दृष्टिसे दोष शब्दकी प्रवृत्ति स्वात्मामें होती है। बाह्य अर्थमें उसकी प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है।

§ २३०. नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेद ज्ञायकशरीर और भावी ये सब निक्षेप सुगम हैं ऐसा समझकर इन सब निक्षेपोंके स्वरूपका कथन नहीं करके तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोषके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं।

***जो द्रव्य जिस उपघातके निमित्तसे उपभोगका नहीं प्राप्त होता है, वह उपघात उस द्रव्यका दोष है। इसे ही तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष समझना चाहिये।**

§ २३१. एत्थ चोदओ भणदि दव्वादो दोसो पुधभूदो अपुधभूदो वा ? ण ताव पुधभूदो; तस्स एसो दोसो त्ति संबंधाणुववत्तीदो। ण च एसो अण्णसंबंधणिबंधणो; अणवत्थावत्तीदो। ण च अपुधभूदो; एक्कम्मि विसेसणविसेसियभावाणुववत्तीदो त्ति ? एत्थ परिहारो वुच्चदे–सिया पुधभूदं पि विसेसणं, सेंधवसादियाए सावियाए अज्जो खवणाहिओ पूजिदो त्ति सावियादो पुधभूदाए वि सादियाए विसेसणभावेण वट्टमाणाए उवलंभादो। णाणवत्था वि; पच्चासत्तिणिबंधणस्स विसेसणस्स अणवत्थाभावादो। सिया अपुधभूदं पि विसेसणं; णीलुप्पलमिदि उप्पलादो देसादीहि अभिण्णस्स णीलगुणस्स विसेसणभावेण वट्टमाणस्स उवलंभादो। तम्हा भयणावादम्मि ण एस दोसो त्ति।

§ २३१. **शंका**–यहाँ पर शंकाकार कहता है कि द्रव्यसे दोष भिन्न है कि अभिन्न। भिन्न तो हो नहीं सकता है, क्योंकि भिन्न मानने पर 'यह दोष इस द्रव्यका है' इस प्रकारका संबन्ध नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि किसी भिन्न संबन्धके निमित्तसे 'यह दोष इस द्रव्यका है' इसप्रकारका संबन्ध बन जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें अनवस्था दोष प्राप्त होता है। अर्थात् जैसे 'यह दोष इस द्रव्यका है' इस व्यवहारके लिये एक अन्य सम्बन्ध मानना पड़ता है उसी तरह उस सम्बन्धको उस द्रव्य और दोषका माननेके लिये अन्य सम्बन्ध मानना पड़ेगा और इसप्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि द्रव्यसे दोष अभिन्न है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यसे दोषको अभिन्न मानने पर द्रव्य और दोष ये दो न रहकर एक हो जाते हैं और एक पदार्थमें विशेषण-विशेष्यभाव नहीं बन सकता है।

समाधान–अब यहाँ इस शंकाका परिहार करते हैं–विशेष्यसे विशेषण कथंचित् पृथग्भूत भी होता है। जैसे, 'सिन्धुदेशकी साड़ीसे युक्त श्राविकाने आज आर्य क्षपणाधिपकी (आचार्यकी) पूजा की' यहाँ पर श्राविकासे साड़ी भिन्न है तो भी वह श्राविकाके विशेषणरूपसे पाई जाती है। ऊपर विशेषणको विशेष्यसे भिन्न मानकर जो अनवस्था दोष दे आये हैं वह भी नहीं आता है, क्योंकि जो विशेषण संवन्धविशेषके निमित्तसे होता है उसमें अनवस्था दोष नहीं आता है।

तथा कथंचित् अभिन्न भी विशेषण होता है। जैसे, नीलोत्पल। यहाँ पर नील गुण उत्पल (कमल) से देशादिककी अपेक्षा अभिन्न है तो भी वह उसके विशेषणरूपसे पाया जाता है। इसलिये विशेषणको विशेष्यसे सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानकर जो दोष दिये हैं वे भजनावाद अर्थात् स्याद्वादमें नहीं आते हैं।

इसप्रकार द्रव्य और दोषमें अनेकान्त दृष्टिसे भेद और अभेद बतलाकर जिन

(१) खवणाहिण पू–अ०, आ०, स०।

* तं जहा ।

§ २३२. केण दोसेण दव्वमुवभोगं ण गच्छदि त्ति एदेण पुच्छा कदा ।

* सादियाए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि ।

§ २३३. अग्गिदद्धं अग्गिदहणं, मूसयभक्खियं मूसयभक्खणमिदि वत्तव्वं ? कुदो ? भावसाहणम्मि दोण्हं सद्दाणं णिप्पत्तिदंसणादो । एदं देसामासियवयणं । तं कुदो णव्वदे ? 'एवमादि' वयणादो । सादियाए अग्गिदाहो मूसयभक्खणं च दोसो त्ति कुदो णव्वदे ? दद्धसादियपरिहियम्हेलियाए दोहग्गालच्छिसमागमदंसणादो ।

* भावदोसो ट्ठवणिज्जो ।

§ २३४. केण कारणेण ? गंथवहुत्तभएण ।

दोषके कारण द्रव्य उपभोगको प्राप्त नहीं होता है उस दोषको बतलानेके लिये पृच्छासूत्र कहते हैं–

* वह उपघात दोष कौनसा है ।

§ २३२. किस दोषसे द्रव्य उपभोगको नहीं प्राप्त होता है, इस सूत्रके द्वारा इसप्रकारकी पृच्छा की गई है ।

साड़ीका अग्निसे जल जाना अथवा चूहोंके द्वारा खाया जाना तथा इसीप्रकार और दूसरे भी उपघात दोष हैं ।

§ २३३. इस सूत्रमें अग्निदग्धका अर्थ अग्निके द्वारा जल जाना और मूपकभक्षितका अर्थ मूपकोंके द्वारा खाया जाना करना चाहिये, क्योंकि दग्ध और भक्षित इन दोनों शब्दोंकी भावसाधनमें निष्पत्ति देखी जाती है । 'सादियाए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि' यह वचन देशामर्षक है ।

शंका–यह कैसे जाना कि यह सूत्रवचन देशामर्षक है ?

समाधान–सूत्रमें आये हुए 'एवमादि' पदसे जाना जाता है कि यह वचन देशामर्षक है ।

शंका–साड़ीका अग्निसे जल जाना और चूहोंके द्वारा खाया जाना दोष है यह कैसे जाना ?

समाधान–जो स्त्री जली हुई साड़ीको पहनती है उसके दुर्भाग्य और अलक्ष्मीका समागम देखा जाता है, इससे जाना जाता है कि साड़ीका अग्निसे जल जाना आदि दोष है ।

* **भावदोषका कथन स्थगित करते हैं ।**

§ २३४. **शंका**–भावदोषका कथन स्थगित क्यों करते हैं ?

समाधान–उसके कथन करनेसे ग्रन्थके बहुत बढ़ जानेका भय है ।

---

(१) ता० प्रतौ अत्र सूत्रसूचकं चिह्नं नास्ति ।

*** कसाओ ताव णिक्खिवियव्वो णामकसाओ[1] ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तियकसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि।**

§ २३५. णिक्खेवत्थं मोत्तूण कसायसामियणयाणं परूवणं ताव कस्सामो। कुदो? अण्णहा णिक्खेवत्थावगमाणुववत्तीदो।

*** णेगमो[2] सव्वे कसाए इच्छदि।**

§ २३६. कुदो? संगहासंगहसरूवणेगमम्मि विसयीकयसयललोगववहारम्मि सव्वकसायसंभवादो।

*** संगहववहारा[3] समुप्पत्तियकसायमादेसकसायं च अवणेंति।**

§ २३७. किं कारणं? समुप्पत्तियकसायस्स पच्चयकसाए अंतब्भावादो। कुदो?

*** नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय, समुत्पत्तिककषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय इसप्रकार कषायका निक्षेप करना चाहिये।**

§ २३५. इस निक्षेपसूत्रके अर्थको छोड़कर किस कषायका कौन नय स्वामी है इसका प्ररूपण करते हैं, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो निक्षेपके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है।

*** नैगमनय सभी कषायोंको स्वीकार करता है।**

§ २३६. **शंका**–नैगमनय सभी कषायोंको क्यों स्वीकार करता है?

समाधान–नैगमनय भेदाभेदरूप है और समस्त लोकव्यवहारको विषय करता है, इसलिये उसमें नामकषाय आदि सभी कषायें सम्भव हैं।

*** संग्रहनय और व्यवहारनय समुत्पत्तिककषाय और आदेशकषायको स्वीकार नहीं करते हैं।**

§ २३७. **शंका**–इसका क्या कारण है?

समाधान–क्योंकि समुत्पत्तिककषायका प्रत्ययकषायमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इन दोनों नयोंकी अपेक्षा समुत्पत्तिक नामकी अलग कषाय नहीं है।

---

(१) "णामं ठवणा दविए उप्पत्ती पच्चए य आएसो। रसभावकसाए य तेण य कोहाइया चउरो॥"–आचा० नि० गा० १९०। विशेषा० गा० २९८०। (२) तुलना–"भावं सद्दाइनया अट्ठविहमसुद्धनेगमाईया। आएसुप्पत्तीओ सेसा जं पच्चयविगप्पा॥=शब्दादिनया भावकपायमेवैकमिच्छन्ति निरपचरितत्वात् नाधस्त्यान् सप्त, तथा नैगमादीया नैगमव्यवहारसंग्रहा अविशुद्धा ये तेऽष्टविधमपि। तथा शेषाः शुद्धनैगमव्यवहारसंग्रहा ऋसूत्रश्च नादेशोत्पत्तिकपायद्वयमिच्छन्ति। किं कारणमित्याह–यत् यस्मात्तौ प्रत्ययविकल्पौ प्रत्ययकपायात् मध्यमादभिन्नौ बन्धकारणाज्जायमानत्वाविशेषात्।"–विशेपा० को० गा० ३५५४। "तत्र नैगमस्य सामान्यविशेषरूपत्वात् नैकगमत्वाच्च तदभिप्रायेण सर्वेऽपि साधवो नामादयः।"–आचा० नि शी० गा० १९०। (३) "संग्रहव्यवहारौ तु कषायसम्बन्धाभावाद् आदेशसमुत्पत्ती नेच्छतः।"–आचा० नि० शी० गा० १९०।

पच्चओ दुविहो–अब्भंतरो बाहिरो चेदि। तत्थ अब्भंतरो कोधादिदव्वकम्मक्खंधा अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमसमुप्पण्णा जीवपदेसेहि एयत्तमुवगया पयडि-ट्ठिदि-अणुभागभेयभिण्णा। बाहिरो कोधादिभावकसायसमुप्पत्तिकारणं जीवाजीवप्पयं बज्झदव्वं। तत्थ कसायकारणत्तं पडि भेदाभावेण समुप्पत्तियकसाओ पच्चयकसाए पविट्ठो।

§ २३८. आदेसकसाओ वि ठवणकसाए पविसदि। कुदो? सब्भावट्ठवणप्पयआदेसकसायस्स सब्भावासब्भावट्ठवणावगाहिट्ठवणाणिक्खेवम्मि उवलंभादो।

* उजुसुदो[1] एदे च ठवणं च अवणेदि।

शंका–समुत्पत्तिककषायका प्रत्ययकषायमें अन्तर्भाव क्यों हो जाता है?

समाधान–क्योंकि आभ्यन्तर प्रत्यय और बाह्यप्रत्ययके भेदसे प्रत्यय दो प्रकारका है। उनमेंसे अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायके समागमसे उत्पन्न हुए और जीवप्रदेशोंके साथ एकत्वको प्राप्त हुए तथा प्रकृति स्थिति और अनुभागके भेदसे भिन्न क्रोधादिरूप द्रव्यकर्मोंके स्कन्धको आभ्यन्तरप्रत्यय कहते हैं। तथा क्रोधादिरूप भावकषायकी उत्पत्तिका कारणभूत जो जीव और अजीवरूप बाह्यद्रव्य है वह बाह्यप्रत्यय है। कषायके कारणरूपसे समुत्पत्तिककषाय और प्रत्ययकषाय इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है, इसलिये समुत्पत्तिककषाय प्रत्ययकषायमें गर्भित हो जाती है।

§ २३८. उसीप्रकार उक्त दोनों नयोंकी अपेक्षा आदेशकषाय भी स्थापनाकषायमें अन्तर्भूत हो जाती है, क्योंकि आदेशकषाय सद्भावस्थापनारूप है और स्थापनानिक्षेप सद्भाव और असद्भाव स्थापनारूप है अतः आदेशकषायका स्थापनाकषायमें अन्तर्भाव पाया जाता है।

विशेषार्थ–भेदाभेद नैगमनयका विषय है संग्रहनय और व्यवहार नयका नहीं। अतः समुत्पत्तिककषाय और आदेशकषायको ये दोनों नय नहीं स्वीकार करते हैं, क्योंकि समुत्पत्तिककषाय प्रत्ययकषायसे और आदेशकषाय स्थापनाकषायसे भिन्न भी है और अभिन्न भी। जब प्रत्ययके दो भेद करके बाह्यप्रत्ययको अलग गिनाते हैं तब वह समुत्पत्तिककषाय कहा जाता है और जब प्रत्ययसामान्यकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब समुत्पत्तिककषायका प्रत्ययकषायमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार जब स्थापनाके दो भेद करके सद्भावस्थापनाको अलग गिनाते हैं तब वह आदेशकषाय कही जाती है और जब स्थापना सामान्यकी अपेक्षा विचार करते हैं तब उसका स्थापनाकषायमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह सब विवक्षा संग्रहनय और व्यवहारनयमें घटित नहीं होती है। अतः संग्रह और व्यवहारनय इन दोनों कषायोंको नहीं स्वीकार करते हैं, यह ठीक कहा है।

* ऋजुसूत्रनय इन दोनोंको अर्थात् समुत्पत्तिककषाय और आदेशकषायको

(१) "ऋजुसूत्रस्तु वर्तमानार्थनिष्ठत्वात् आदेशसमुत्पत्तिस्थापना नेच्छति।"–आचा० नि० शी० गा० १९०।

§ २३६. कारणं पुव्वं परूविदं त्ति णेह परूविज्जदे।

* तिण्हं सद्दणयाणं णामकसाओ भावकसाओ च।

§ २४०. एदं पि सुत्तं सुगमं।

§ २४१. णामकसाओ ठवणकसाओ आगमदव्वकसाओ णोआगमजाणुगसरीरकसाओ भवियकसाओ च सुगमो त्ति कट्टु एदेसिमत्थमभणिय णोआगमतव्वदिरित्तदव्वकसायस्स अत्थपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

* णोआगमदव्वकसाओ, जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि।

§ २४२. सर्जो नाम वृक्षविशेषः, तस्य कषायः सर्जकषायः। शिरीषस्य कषायः

तथा स्थापनाकषायको स्वीकार नहीं करता है।

§ २३९. ऋजुसूत्रनय इन तीनों कषायोंको स्वीकार क्यों नहीं करता है इसका कारण पहले कह आये हैं, इसलिये यहाँ उसका कथन नहीं करते हैं। अर्थात् समुत्पत्तिककषायका प्रत्ययकषायमें और आदेशकषायका स्थापनाकषायमें अन्तर्भाव हो जाता है। तथा स्थापनानिक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है इसलिये इन तीनों कषायोंको छोड़कर नामकषाय, द्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय, रसकषाय और भावकषाय इन शेष कषायोंको ऋजुसूत्रनय स्वीकार करता है।

* शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीनों शब्दनयोंका नामकषाय और भावकषाय विषय है॥

§ २४०. यह सूत्र भी सरल है।

§ २४१. नामकषाय, स्थापनाकषाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यकषाय और भाविनोआगमद्रव्यकषाय इनका स्वरूप सुगम है ऐसा समझकर इनके स्वरूपका कथन नहीं करके नोकर्म तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषायके स्वरूपका प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

* सर्जकषाय, शिरीषकषाय इत्यादि नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय समझना चाहिये।

§ २४२. सर्ज साल नामके वृक्षविशेषको कहते हैं। उसके कसैले रसको सर्जकषाय कहते हैं। सिरस नामके वृक्षके कसैले रसको शिरीषकषाय कहते हैं।

(१) "शब्दस्तु नाम्नोऽपि कथञ्चिद् भावान्तर्भावात् नामभावाविच्छतीति।"–आचा० नि० शी० गा० १९०। (२) "सद्भावासद्भावरूपा प्रतिकृतिः स्थापना। कृतभीमभ्रूकुटयुत्कटललाटघटितत्रिशलरक्तास्यनयनसन्दष्टाधरस्पन्दमानस्वेदसलिलचित्रपुस्ताद्यक्षवराटकादिगतेति।"–आचा० नि० शी० गा० १९०। (३) "सज्जकसायाइओ नोकम्मदव्वओ कसाओ यं।"–विशेषा० गा० २९८२। आचा० नि० शी० गा० १९०।

शिरीषकषायः। कसाओ णाम दव्वस्सेव ण अण्णस्स "णिग्गुणा हु गुणा ॥१२१॥" इदि वयणादो। तत्थ वि पोग्गलदव्वस्सेव "रूव-रस-गंध-फासवंतो पोग्गला ॥१२२॥" इदि वयणादो। तदो दव्वेण कसायस्स विसेसणमणत्थयमिदि; णाणत्थयं; दुण्णयपरिसेहफलत्तादो। तं जहा, ण दुण्णएसु पुधभूदं विसेसणमत्थि; दव्व-खेत्त-काल-भावेहि एयंतेण पुधभूदस्स अत्थित्ताभावादो। णापुधभूदमवि; दव्व-खेत्त-काल-भावेहि एयंतेण अपुधभूदस्स विसेसणत्तविरोहादो। णोहयपक्खो वि; दोसु वि पक्खेसु उत्तदोसाणमक्कमेण णिवायप्पसंगादो। ण धम्मधम्मिभावो वि तत्थ संभवइ; एयंतेण पुधभूदेसु अपुधभूदेसु य तदणुववत्तीदो। भजणावादे पुण सव्वं पि घडदे। तं जहा, तिकालगोयराणंतपज्जायाणं समुच्चओ अजहउत्तिलक्खणो धम्मी, तं चेव दव्वं, तत्थ दवणगुणोवलंभादो। तिकालगोयराणंत-

शंका–कषाय द्रव्यका ही धर्म है अन्यका नहीं, क्योंकि "गुण स्वयं अन्य गुणोंसे रहित होते हैं ॥१२१॥" ऐसा वचन पाया जाता है। अतः कषाय गुणका धर्म तो हो नहीं सकता है। तथा द्रव्यमें भी वह पुद्गल द्रव्यका ही धर्म है, क्योंकि "रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गलमें ही पाये जाते हैं ॥१२२॥" ऐसा आगमका वचन है, इसलिये जब कषाय द्रव्यका ही धर्म है तो द्रव्यको कषायके विशेषणरूपसे ग्रहण करना निष्फल है अर्थात् कषायके साथ द्रव्य विशेषण नहीं लगाना चाहिये।

समाधान–कषायके साथ द्रव्य विशेषण लगाना निष्फल नहीं है, क्योंकि उसका फल दुर्नयोंका निषेध करना है। उसका खुलासा इसप्रकार है–दुर्नयोंमें विशेष्यसे विशेषण सर्वथा भिन्न तो बन नहीं सकता है, क्योंकि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न है उसका विशेषणरूपसे अस्तित्व नहीं पाया जाता है। अर्थात् वह विशेषण नहीं हो सकता है। तथा दुर्नयोंमें विशेषण विशेष्यसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं बन सकता है, क्योंकि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सर्वथा अभिन्न है उसको विशेषण माननेमें विरोध आता है। इसीप्रकार दुर्नयोंमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदरूप दोनों पक्षोंका ग्रहण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों पक्षोंमें पृथक् पृथक् जो दोष दे आये हैं वे एकसाथ प्राप्त होते हैं। दुर्नयोंमें धर्म-धर्मिभाव भी नहीं बन सकता है, क्योंकि सर्वथा भिन्न और सर्वथा अभिन्न पदार्थोंमें धर्म-धर्मिभाव नहीं बन सकता है। परन्तु स्याद्वादके स्वीकार करने पर सब कुछ बन जाता है। जिसका खुलासा इसप्रकार है–त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंके कथंचित् तादात्म्यरूप समुदायको धर्मी कहते हैं और वही द्रव्य कहलाता है, क्योंकि उसमें द्रवणगुण अर्थात् एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको प्राप्त होनेरूप धर्म पाया जाता है। तथा नयकी अपेक्षा कथंचित्

(१) तुलना–"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"–त० सू० ५।४०। (२) तुलना–स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।"–त० सू० ५।२३। (३)–सु प–आ०। (४) धम्मदव्वम्मिभा–अ०, आ०। धम्मदव्वियभा–स०।

पज्ञाया धम्मा णयमुहेण पावियभेदाभेदा। परमत्थदो पुण पत्तजच्चंतरभावं दव्वं। तम्हा दव्वं पि कसायस्स विसेसणं होदि कसाओ वि दव्वस्स णेगमणयावलंवणादो। तदो 'द्रव्यं च तत्कषायश्च सः, द्रव्यस्य कषायः द्रव्यकषायः' इदि दो वि समासा एत्थ अविरुद्धा त्ति दट्ठव्वा। सेसं सुगमं।

* पच्चयकसाओ[1] णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो।

§ २४३. 'जीवो कोहो होदि' त्ति ण घडदे; दव्वस्स जीवस्स पज्जयसरूवकोह-

भेद और कथंचित् अभेदको प्राप्त त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंको धर्म कहते हैं। परमार्थसे तो जो जात्यन्तरभावको प्राप्त है वही द्रव्य है। इसलिये नैगमनयकी अपेक्षा द्रव्य भी कषायका विशेषण हो सकता है और कषाय भी द्रव्यका विशेषण हो सकती है। अतः द्रव्यरूप जो कषाय है वह द्रव्यकषाय है अथवा, द्रव्यकी जो कषाय है वह द्रव्यकषाय है, इसप्रकार कर्मधारय और तत्पुरुष ये दोनों ही समास द्रव्यकषाय इस पदमें विरोधको प्राप्त नहीं होते हैं ऐसा समझना चाहिये। शेष कथन सुगम है।

विशेषार्थ–यहां यह शंका उठाई गई है कि कसैला रस पुद्गलद्रव्यमें ही पाया जाता है उसको छोड़कर अन्यत्र नहीं। अतः कसैले रसके लिये जो द्रव्यपदको सूत्रकारने विशेषण रूपसे ग्रहण किया है वह ठीक नहीं है। टीकाकारने इसका यह समाधान किया है कि विशेषण विशेष्यसे सर्वथा भिन्न भी नहीं होता, न सर्वथा अभिन्न ही और न सर्वथा उभयरूप ही। फिर भी जो एकान्तसे विशेषणको विशेष्यसे सर्वथा भिन्नादिरूप मानते हैं उनके इस मंतव्यका निषेध करनेके लिये चूर्णिसूत्रकारने द्रव्यपदको कषायके साथ ग्रहण किया है। जब 'शिरीषकी कषाय' इसप्रकार भेदकी प्रधानतासे विचार करते हैं तब शिरीष विशेषण और कषाय विशेष्य हो जाती है। तथा जब 'द्रव्य ही कषाय' इसप्रकार द्रव्यसे कषायको अभिन्न बतलाते हैं तब भी कषाय विशेष्य और द्रव्य विशेषण हो जाता है। इसके विपरीत 'कषायद्रव्यम्' यहां कषाय विशेषण और द्रव्य विशेष्य हो जायगा। अनेकान्तकी अपेक्षा यह सब माननेमें कोई विरोध नहीं है।

* अब प्रत्ययकषायका स्वरूप कहते हैं–क्रोधवेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा वह क्रोधकर्म क्रोध कहलाता है।

§ २४३. शंका–जीव क्रोधरूप होता है यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्य है और क्रोध पर्याय है, अतः जीवद्रव्यको क्रोधपर्यायरूप माननेमें विरोध आता है।

(१) "होइ कसायाणं बंधकारणं जं स पच्चयकसाओ।"–विशेषा० गा० २९८३। "प्रत्ययकषायाः कषायाणां ये प्रत्ययाः यानि बन्धकारणानि, ते चेह मनोज्ञेतरभेदाः शब्दादयः। अत एवोत्पत्तिप्रत्यययोः कार्यकारणगतो भेदः।"–आचा० नि० शी० गा० १९०।

भावावत्तिविरोहादो; णः पज्जएहिंतो पुधभूदजीवदव्वाणुवलंभादो। उवलंभे वा ण तं दव्वं; णिच्चभावेण किरियावज्जियस्स गुणसंकंतिविरहियस्स दव्वत्तविरोहादो। तम्हा दव्वपज्जायाणं णइगमणयावलंवणेण अण्णोण्णाणुगमो जेण होदि तेण 'जीवो कोहो होदि' त्ति घडदे।

§ २४४. दव्वकम्मस्स कोहणिमित्तस्स कथं कोहभावो? ण; कारणे कज्जुवयारेण तस्स कोहभावसिद्धीदो। जीवादो कोहकसाओ अव्वदिरित्तो; जीवसहावखंतिविणासणदुवारेण समुप्पत्तीदो। कोहसरूवजीवादो वि दव्वकम्माइं अपुधभूदाइं, अण्णहा अमुत्तसहावस्स जीवस्स मुत्तेण सरीरेण सह संबंधविरोहादो। मुत्तामुत्ताणं कम्मजीवाणं कथं संबंधो? ण; अणादिबंधणबंधत्तादो। तदो दव्वकम्मकसायाणमेयत्तुवलंभादो वा दव्वकम्मं कसाओ।

समाधान–नहीं, क्योंकि जीवद्रव्य अपनी क्रोधादिरूप पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न नहीं पाया जाता है। यदि पाया जाय तो वह द्रव्य नहीं हो सकता है, क्योंकि जो कूटस्थ नित्य होनेके कारण क्रियारहित है अतएव जिसमें गुणोंका परिणमन नहीं पाया जाता है उसको द्रव्य माननेमें विरोध आता है। इसलिये यतः द्रव्य और पर्यायोंका नैगमनयकी अपेक्षा परस्परमें अनुगम होता है अर्थात द्रव्य पर्यायका अनुसरण करता है और पर्याय द्रव्यका अनुसरण करती है। अतः जीव क्रोधरूप होता है यह कथन भी बन जाता है।

§ २४४. **शंका**–द्रव्यकर्म क्रोधका निमित्त है, अतः वह क्रोधरूप कैसे हो सकता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि कारणरूप द्रव्यकर्ममें कार्यरूप क्रोधभावका उपचार कर लेनेसे द्रव्यकर्ममें भी क्रोधभावकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् द्रव्यकर्मको भी क्रोध कह सकते हैं।

जीवसे क्रोधकपाय कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि जीवके स्वभावरूप क्षमा धर्मका विनाश करके क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। अर्थात् क्षमा जीवका स्वभाव है और उसका विनाश करके क्रोध उत्पन्न होता है, अतः वह भी जीवसे अभिन्न है। तथा क्रोधस्वरूप जीवसे द्रव्यकर्म भी एकक्षेत्रावगाही होनेके कारण अभिन्न है। क्योंकि ऐसा न मानने पर अमूर्त जीवका मूर्त शरीरके साथ सम्बन्ध माननेमें विरोध आता है।

शंका–कर्म मूर्त हैं और जीव अमूर्त, अतः इन दोनोंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि जीव अनादि कालसे कर्म बन्धनसे बंधा हुआ है, इसलिये कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए जीवके साथ मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध बन जाता है।

अतः जब क्रोधकपाय जीवसे कथंचित् अभिन्न है और उससे द्रव्य कर्म कथंचित् अभिन्न है तो द्रव्य कर्म और कपायोंका कथंचित् अभेद पाया जानेसे द्रव्यकर्म भी कपाय है ऐसा समझना चाहिये।

§ २४५. दव्वकम्मस्स उदएण जीवो कोहो त्ति जं भणिदं एत्थ चोअओ भणदि, दव्वकम्माइं जीवसंबंधाइं संताइं किमिदि सगकज्जं कसायसरूवं सव्वद्धं ण कुणंति? अलद्ध-विसिट्ठभावत्तादो । तदलंभे कारणं वत्तव्वं ? पागभावो कारणं । पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवा (भावा) वेक्खाए जायदे । तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं ।

§ २४६. एसो पच्चयकसाओ समुप्पत्तियकसायादो अभिण्णो त्ति पुध ण वत्तव्वो ? ण; जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चओ णाम । भिण्णो होदूण जो समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ त्ति दोण्हं भेदुवलंभादो ।

*** एवं माणवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो माणो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण माणो ।**

§ २४५. द्रव्यकर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है ऐसा जो कथन किया है उसपर शंकाकार कहता है-

शंका-जब द्रव्यकर्मोंका जीवके साथ संबन्ध पाया जाता है तो वे कषायरूप अपने कार्यको सर्वदा क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं ?

समाधान-सभी अवस्थाओंमें फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त न होनेके कारण द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कषायरूप कार्यको नहीं करते हैं ।

शंका-द्रव्यकर्म फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको सर्वदा प्राप्त नहीं होते इसमें क्या कारण है । उसका कथन करना चाहिये ?

समाधान-जिस कारणसे द्रव्यकर्म सर्वदा विशिष्टपनेको प्राप्त नहीं होते हैं वह कारण प्रागभाव है । प्रागभावका विनाश हुए विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा लेकर होता है, इसलिये द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं यह सिद्ध होता है ।

§ २४६. **शंका**-यह प्रत्ययकषाय समुत्पत्तिककषायसे अभिन्न है अर्थात् ये दोनों कषाय एक हैं इसलिये इसका पृथक् कथन नहीं करना चाहिये ।

समाधान-नहीं, क्योंकि जो जीवसे अभिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह प्रत्ययकषाय है और जो जीवसे भिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह समुत्पत्तिक-कषाय है अर्थात् क्रोधकर्म प्रत्ययकषाय है और उसके सहकारी कारण समुत्पत्तिककषाय हैं । इसप्रकार इन दोनोंमें भेद पाया जाता है, इसलिये प्रत्ययकषायका समुत्पत्तिककषायसे भिन्न कथन किया है ।

* इसीप्रकार मानवेदनीय कर्मके उदयसे जीव मानरूप होता है, इसलिये प्रत्यय-कषायकी अपेक्षा वह कर्म भी मान कहलाता है ।

*** मायावेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो माया होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण माया।**

*** लोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो लोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण लोहो।**

§ २४७. एदाणि तिण्णि वि सुत्ताणि सुगमाणि।

*** एवं णेगम-संगह-ववहाराणं।**

§ २४८. कुदो ? कज्जादो अभिण्णस्स कारणस्स पच्चयभावब्भुवगमादो।

*** उजुसुदस्स कोहोदयं पडुच्च जीवो कोहकसाओ।**

§ २४९. जं पडुच्चं कोहकसाओ तं पच्चयकसाएण कसाओ। बंधसंताणं जीवादो अभिण्णाणं वेयणसहावाणमुजुसुदो कोहादिपच्चयभावं किण्ण इच्छदे ? ण; बंधसंतेहिंतो

* मायावेदनीय कर्मके उदयसे जीव मायारूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा वह कर्म भी माया कहलाता है।

* लोभवेदनीय कर्मके उदयसे जीव लोभरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा वह कर्म भी लोभ कहलाता है।

§ २४७. ये तीनों ही सूत्र सुगम हैं।

इसप्रकार ऊपर चार सूत्रों द्वारा जो क्रोधादिरूप द्रव्यकर्मको प्रत्ययकषाय कह आये हैं वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे जानना चाहिये।

§ २४८. **शंका**—यह कैसे जाना कि उक्त कथन नैगमादिककी अपेक्षासे किया है ?

समाधान—चूँकि ऊपर कार्यसे अभिन्न कारणको प्रत्ययरूपसे स्वीकार किया है, अर्थात् जो कारण कार्यसे अभिन्न है उसे ही कषायका प्रत्यय बतलाया है, इसलिये यह कथन नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही बनता है।

विशेषार्थ—कारणकार्यभावके रहते हुए भी कारणसे कार्यको अभिन्न स्वीकार करनेवाले नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन ही नय हैं, ऋजुसूत्र नहीं; क्योंकि ऋजुसूत्रनय कार्यकारणभावको स्वीकार ही नहीं करता है। अतः नैगमादि तीन नयोंकी मुख्यतासे प्रत्ययकषायकी अपेक्षा क्रोधादि वेदनीय कर्मको प्रत्ययकषाय कहना संगत ही है।

***ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें क्रोधके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोधकषायरूप होता है।**

§ २४९. जिसकी अपेक्षा करके जीव क्रोधकषायरूप होता है ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें वही प्रत्ययकषायकी अपेक्षा कषाय है। अतः क्रोध कर्मके उदयकी अपेक्षासे जीव क्रोधकषायरूप होता है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें क्रोध कर्मका उदय प्रत्ययकषाय है।

शंका—बन्ध और सत्त्व भी जीवसे अभिन्न हैं और वेदनस्वभाव हैं, इसलिये ऋजु-

(१)–च्च तं आ०।

कोहादिकसायाणमुप्पत्तीए अभावादो । ण च कज्जमकुणंताणं कारणववएसो; अव्ववत्थावत्तीदो ।

§ २५०. बंधसंतोदयसरूवमेगं चेव दव्वं । तं जहा, कम्मइयवग्गणादो आवूरियसव्वलोगादो मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगवसेण लोगमेत्तजीवपदेसेसु अक्कमेण आगंतूण सबंधकम्मक्खंधा अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमुप्पण्णा कम्मपज्जाएण परिणयपढमसमए बंधववएसं पडिवज्जंति । ते चेव विदियसमयप्पहुडि जाव फलदाणहेट्ठिमसमओ त्ति ताव संतववएसं पडिवज्जंति । ते च्चेय फलदाणसमए उदयववएसं पडिवज्जंति । ण च णामभेदेण दव्वभेओ; इंद-सक्क-पुरंदरणामेहि देवरायस्स वि भेदप्प-

सूत्रनय क्रोधादि कर्मोंके बन्ध और सत्त्वको भी क्रोधादि प्रत्ययरूपसे क्यों नहीं स्वीकार करता है ? अर्थात् क्रोध कर्मके उदयको ही ऋजुसूत्र प्रत्ययकषाय क्यों मानता है, उसके बन्ध और सत्त्व अवस्थाको प्रत्ययकषाय क्यों नहीं मानता ?

समाधान–नहीं, क्योंकि क्रोधादि कर्मोंके बन्ध और सत्त्वसे क्रोधादिकषायोंकी उत्पत्ति नहीं होती है । तथा जो कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं उन्हें कारण कहना ठीक भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्था दोषकी प्राप्ति होती है, इसलिये ऋजुसूत्रनय बन्ध और सत्त्वको प्रत्ययरूपसे स्वीकार नहीं करता है ।

§ २५०. **शंका**–एक ही कर्मद्रव्य बन्ध, सत्त्व और उदयरूप होता है । इसका खुलासा इसप्रकार है--समस्त लोकमें व्याप्त कार्मण वर्गणाओंमेंसे अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायके समागमसे उत्पन्न हुए कर्मस्कन्ध आकर मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके निमित्तसे एकसाथ लोकप्रमाण जीवके प्रदेशोंमें संबद्ध होकर कर्मपर्यायरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें बन्ध इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं । जीवसे संबद्ध हुए वे ही कर्मस्कन्ध दूसरे समयसे लेकर फल देनेसे पहले समय तक सत्त्व इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं । तथा जीवसे संबद्ध हुए वे ही कर्मस्कन्ध फल देनेके समयमें उदय इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं । अर्थात् जिस समयमें कर्मस्कन्ध आत्मासे सम्बद्ध होकर कर्मरूप परिणत होते हैं उस समयमें उनकी बन्ध संज्ञा होती है । उसके दूसरे समयसे लेकर उदयको प्राप्त होनेके पहले समय तक उनकी सत्त्व संज्ञा होती है और जब वे फल देते हैं तो उनकी उदयसंज्ञा होती है । अतः एक ही कर्मद्रव्य बन्ध सत्त्व और उदयरूप होता है । यदि कहा जाय कि द्रव्य एक ही है फिर भी बन्ध आदि नामभेदसे द्रव्यमें भेद हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नामभेदसे द्रव्यमें भेदके मानने पर इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन नामोंके कारण एक देवराजमें भी भेदका प्रसङ्ग प्राप्त होता है । अर्थात् इन्द्र आदि नाम भेद होने पर भी जैसे देवराज एक है उसीप्रकार बंध आदि नाम भेदके होने पर भी कर्मस्कन्ध एक है, इसलिये ऋजुसूत्रनय जिसप्रकार कर्मोंके उदयको प्रत्ययकषायकी अपेक्षा कषायरूपसे स्वीकार करता

संगादो। तम्हा उदयस्सेव बंध-संताणं पि पच्चयकसाएण कसायत्तमिच्छियव्वं ? ण; कोहजणणाजणणसहावेण ट्ठिदिभेएण च भिण्णदव्वाणमेयत्तविरोहादो। ण च लक्खणभेदे संते दव्वाणमेयत्तं होदि; तिहुवणस्स भिण्णलक्खणस्स एयत्तप्पसंगादो। ण च एवं, उड्ढाधो-मज्झभागविरहियस्स एयस्स पमाणविसए अदंसणादो। तम्हा ण बंध-संतदव्वाणं कम्मत्तमत्थि; जेण कोहोदयं पडुच्च जीवो कोहकसाओ जादो तं कम्ममुदयगयं पच्चयकसाएण कसाओ त्ति सिद्धं। ण च एत्थ दव्वकम्मस्स उवयारेण कसायत्तं; उजुसुदे उवयाराभावादो। कधं पुण तस्स कसायत्तं ? उच्चदे—दव्वभावकम्माणि जेण जीवादो अपुधभूदाणि तेण दव्वकसायत्तं जुज्जदे।

* एवं माणादीणं वत्तव्वं।

है उसीप्रकार उसे उनके बन्ध और सत्त्वको भी प्रत्ययकषायकी अपेक्षा कषायरूपसे स्वीकार करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बन्ध उदय और सत्त्वरूप कर्मद्रव्यमें क्रोधको उत्पन्न करने और न करनेकी अपेक्षा तथा स्थितिकी अपेक्षा भेद पाया जाता है अर्थात् उदयागत कर्म क्रोधको उत्पन्न करता है किन्तु बन्ध और सत्त्व अवस्थाको प्राप्त कर्म क्रोधको उत्पन्न नहीं करता है तथा बन्धकी एक समय स्थिति है, उदयकी भी एक समय स्थिति है और सत्त्वकी स्थिति अपने अपने कर्मकी स्थितिके अनुरूप है अतः उन्हें सर्वथा एक माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि लक्षणकी अपेक्षा भेद होने पर भी द्रव्योंमें एकत्व हो सकता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भिन्न भिन्न लक्षणवाले तीनों लोकोंको भी एकत्वका प्रसङ्ग प्राप्त हो जाता है। यदि कहा जाय कि तीनों लोकोंको एकत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभागसे रहित एक लोक प्रमाणका विषय नहीं देखा जाता है इसलिये ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बन्ध और सत्त्वरूप द्रव्यके कर्मपना नहीं बनता है। अतः चूंकि क्रोधके उदयकी अपेक्षा करके जीव क्रोधकषायरूप होता है, इसलिये ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें उदयको प्राप्त हुआ क्रोधकर्म ही प्रत्ययकषायकी अपेक्षा कषाय है यह सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि उदय द्रव्यकर्मका ही होता है अतः ऋजुसूत्रनय उपचारसे द्रव्यकर्मको भी प्रत्ययकषाय मान लेगा सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऋजुसूत्रनयमें उपचार नहीं होता है।

शंका—यदि ऐसा है तो द्रव्यकर्मको कषायपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—चूंकि द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों ही जीवसे अभिन्न हैं इसलिये द्रव्यकर्ममें द्रव्यकषायपना बन जाता है।

* जिसप्रकार ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे द्रव्यक्रोधके उदयको प्रत्ययकषायकी अपेक्षा क्रोधकषाय कहा है उसीप्रकार मानादिकका भी कथन करना चाहिये।

§ २५१. सुगममेदं ।

※ समुप्पत्तियकसाओ[1] णाम, कोहो सिया जीवो सिया णोजीवो एवमट्ठभंगा ।

§ २५२. जीवमजीवं जीवे अजीवे च चत्तारि वि उवरिं हेट्ठा च ट्ठविय चत्तारि एगसंजोगभंगे चत्तारि[2] दुसंजोगभंगे च उप्पाइय मेलाविदे कोहुप्पत्तीए कारणाणि समुप्पत्तियकसाएण कोहसण्णिदाणि अट्ठ हवंति ।

§ २५३. अत्र स्याच्छब्दः क्वचिदर्थे[3] ग्राह्यः । तेण कत्थ वि जीवो समुप्पत्तीए कोहो, कत्थ वि णोजीवो, कत्थ वि जीवा, कत्थ वि णोजीवा, कत्थ वि जीवो[4] च णोजीवो च, कत्थ वि जीवा च णोजीवो च, कत्थ वि जीवो[5] च णोजीवा च, कत्थ वि जीवा च णोजीवा च कोहो त्ति सिद्धं ।

§ २५४. संपहि अट्ठण्हं भंगाणमुदाहरणपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणइ–

※ कधं ताव जीवो ?

§ २५१. यह सूत्र सरल है ।

※ समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा कहीं पर जीव क्रोधरूप है । कहीं पर अजीव क्रोधरूप है । इसीप्रकार आठ भङ्ग जानने चाहिये ।

§ २५२. एक जीव, एक अजीव, वहुत जीव और वहुत अजीव और इन ही चारोंको ऊपर और नीचे स्थापित करके चार एक संयोगी भङ्ग और द्विसंयोगी भङ्ग उत्पन्न करके सबको मिला देने पर क्रोधोत्पत्तिके आठ कारण होते हैं। समुत्पत्ति कषायकी अपेक्षासे इन आठ कारणोंकी क्रोध संज्ञा होती है।

§ २५३. यहाँ पर 'स्यात्' शब्द 'कहीं पर' इस अर्थमें लेना चाहिये। इसके अनुसार कहीं पर समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा जीव क्रोध होता है। कहीं पर अजीव क्रोध होता है। इसीप्रकार कहीं पर वहुत जीव, कहीं पर वहुत अजीव, कहीं पर एक जीव और एक अजीव, कहीं पर वहुत जीव और एक अजीव, कहीं पर एक जीव और वहुत अजीव तथा कहीं पर वहुत जीव और वहुत अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध होता है यह सिद्ध हुआ ।

§ २५४. अव इन आठ भंगोंके उदाहरण वतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

※ समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा जीव क्रोध कैसे है ?

(१) "खेत्ताइ समुप्पत्ती जत्तोप्पभवो कसायाणं ।"–विशेषा० गा० २९८२। "उत्पत्तिकषायाः शरीरोपधिक्षेत्रवास्तुस्थाण्वादयो यदाश्रित्य तेषामुत्पत्तिः ।"–आचा० नि० शी० गा० १९०। (२) चत्तारिमसंजोगभंगे च आ०, स०। चत्तारिमभंगसंजोगे च अ०। (३) स्याल्लिपिः क्वचिदर्थग्रा–स०। (४) जीवा च स०। (५) जीवो च णोजीवा च स०। (६) जीवा च णोजीवा च स०। जीवो च णोजीवो च अ०, आ०।

§ २५५. एदं पुच्छासुत्तं किमट्ठं वुच्चदे ? पुच्छंतस्सेव अंतेवासिस्स भणउ णापुच्छंतस्स इत्ति जाणावणट्ठं। अपुच्छंतस्स किण्ण उच्चदे ? वचिगुत्तिरक्खणणिमित्तं। अथवा अक्खेवो अंण्णेण कओ। तं जहा, अण्णो जीवो अण्णम्मि जीवम्मि कोहकसायमुप्पायंतो कथं कोहो; कोहुप्पत्तिणिमित्तस्स कज्जादो पुधभूदस्स कज्जभावविरोहादो। ण च एकम्मि कज्जकारणभावो अत्थि; अणुवलंभादो। किं च, ण कज्जुप्पत्ती वि जुज्जदे। तं जहा, णाणुप्पज्जमाणमण्णेहिंतो उप्पज्जइ; सामण्णविसेससरूवेण असंतस्स गद्दहसिंगस्स वि अण्णेहिंतो उप्पत्तिपसंगादो। तदो ण कस्स वि उप्पत्ती अत्थि। उप्पज्जमाणं कज्जमुवलंभइ त्ति ण वोत्तुं जुत्तं; तिरोहियस्स दव्वस्स आविब्भावे उप्पत्तिववहारुवलंभादो। अथवा, सव्व-

§ २५५. शंका–यह पृच्छाविषयक सूत्र किसलिये कहा है ?

समाधान–जो शिष्य प्रश्न करे उसे ही कहे जो प्रश्न न करे उसे न कहे, इस बातका ज्ञान करानेके लिये पृच्छासूत्र कहा है।

शंका–जो शिष्य प्रश्न न करे उसे क्यों न कहे ?

समाधान–वचनगुप्तिकी रक्षा करनेके लिये नहीं पूछनेवाले को न कहे।

विशेषार्थ–साधुओंके सत्यमहाव्रतके होते हुए भी वे निरन्तर गुप्तिकी रक्षा करनेमें उद्युक्त रहते हैं। जब केवल गुप्तिसे व्यवहार नहीं चलता है तभी वे भाषासमितिका आश्रय लेते हैं तथा दीक्षितों और इतर सज्जन पुरुषोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये सत्यधर्मका भी। इससे निश्चित हो जाता है कि साधु पुरुष प्रश्न नहीं करनेवाले शिष्यको कभी उपदेश नहीं देते हैं। इसी अभिप्रायसे ऊपर पूछनेवालेको ही कहे यह कहा है।

अथवा, 'कधं ताव जीवो' इस सूत्रके द्वारा किसी अन्यने आक्षेप किया है। उसका खुलासा इसप्रकार है–दूसरा जीव किसी दूसरे जीवमें क्रोधकषायको उत्पन्न करता हुआ क्रोधरूप कैसे हो सकता है, अर्थात् जो जीव किसी दूसरे जीवमें क्रोध उत्पन्न करता है वह जीव स्वयं क्रोधरूप कैसे है ? क्योंकि क्रोधकी उत्पत्तिमें निमित्त जीव क्रोधरूप कार्यसे भिन्न है, इसलिये उसे क्रोधरूप माननेमें विरोध आता है। तथा एक वस्तुमें कार्यकारण भाव बन भी नहीं सकता है, क्योंकि जो कारण हो वही कार्य भी हो ऐसा पाया नहीं जाता है। दूसरे कार्यकी उत्पत्ति भी नहीं बन सकती है। इसका खुलासा इसप्रकार है–जो स्वयं उत्पद्यमान नहीं है वह अन्यके निमित्तसे भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, यदि अनुत्पद्यमान पदार्थ भी अन्यसे उत्पन्न होने लगे तो सामान्य और विशेषरूपसे सर्वथा असत् गधेके सींगकी भी अन्यके निमित्तसे उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि कहा जाय कि कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तिरोहित पदार्थके प्रकट होनेमें उत्पत्ति शब्दका

(१) अणेण अ०, आ०।

मुप्पज्जमाणं सयमेव उप्पज्जइ; अणुप्पत्तिसहावस्सुप्पत्तिविरोहादो। एत्थ परिहारत्थमुत्तर-सुत्तं भणदि-

** मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो मणुस्सो कोहो।**

§ २५६. ण च अण्णादो अण्णम्मि कोहो ण उप्पज्जइ; अक्कोसादो जीवे कम्मकलंकं-किए कोहुप्पत्तिदंसणादो। ण च उवलद्धे अणुववण्णदा; विरोहादो। ण कज्जं तिरोहियं संतं आविब्भावमुवणमइ; पिंडवियारणे घडोवलद्धिप्पसंगादो। ण च णिच्चं तिरोहिज्जइ; अणाहियअइसयभावादो। ण तस्स आविब्भावो वि; परिणामवज्जियस्स अवत्थंतरा-भावादो। ण गद्दहस्स सिंगं अण्णेहिंतो उप्पज्जइ; तस्स विसेसेणेव सामण्णसरूवेण वि पुव्वमभावादो। ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ; सव्वकालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्ति-

व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् कुम्हार घटकी उत्पति नहीं करता है किन्तु मिट्टीमें छिपे हुए घटको प्रकट कर देता है। इस आविर्भावको ही लोग उत्पत्तिके नामसे पुकारते हैं। अथवा, उत्पन्न होनेवाले जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वयं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जिसका उत्पन्न होनेका स्वभाव नहीं है उसकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। इसप्रकार इस आक्षेपके निवारण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं-

** जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पतिककषाय की अपेक्षा क्रोध है।**

§ २५६. 'किसी अन्यके निमित्तसे किसी अन्यमें क्रोध उत्पन्न नहीं होता है' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोंसे कलंकित हुए जीवमें कटु वचनके निमित्तसे क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। और जो बात पाई जाती है उसके विषयमें यह कहना कि यह बात नहीं बन सकती है, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेमें विरोध आता है। 'कारणमें कार्य छिपा हुआ रहता है और वह प्रकट हो जाता है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मिट्टीके पिंडको विदारने पर घड़ेकी उपलब्धिका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कार्यको सर्वथा नित्य मान लिया जावे तो वह तिरोहित नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थमें किसी प्रकारका अतिशय नहीं हो सकता है। तथा नित्य पदार्थका आवि-र्भाव भी नहीं बन सकता है, क्योंकि जो परिणमनसे रहित है उसमें दूसरी अवस्था नहीं हो सकती है। अन्य कारणोंसे गधेके सींगकी उत्पत्तिका प्रसंग देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका पहले से ही जिसप्रकार विशेषरूपसे अभाव है इसीप्रकार सामान्यरूपसे भी अभाव है इसप्रकार जब वह सामान्य, और विशेष दोनों ही प्रकार से असत् है तो उसकी उत्पत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। तथा कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति मानना भी ठीक

(१)-कोहा ण अ०, आ०, स०। (२)-जीवो क-अ०, आ०। (३)-कलंकीए अ०, आ०, स०। (४)-सयाभा-अ०, आ०। "नित्यत्वादनाधेयातिशयस्य"-तत्त्वसं० पं० पृ० ७४। न्यायकु० पृ० १४३ टि० ३।

प्पसंगादो । णाणुप्पत्ती सव्वाभावप्पसंगादो । ण चेव (वं); उवलब्भमाणत्तादो । ण सव्वकालमुप्पत्ती वि; णिच्चस्सुप्पत्तिविरोहादो । ण णिच्चं पि; कमाकमेहि कज्जमकुणंतस्स पमाणविसए अवट्ठाणाणुववत्तीदो । तम्हा अण्णेहिंतो अण्णस्स सारिच्छ-तब्भावसामण्णेहि संतस्स विसेससरूवेण असंतस्स कज्जस्सुप्पत्तीए होदव्वमिदि सिद्धं ।

नहीं है, क्योंकि यदि कारणके बिना कार्य होने लगे तो सर्वदा सभी कार्योंकी उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि कार्यकी उत्पत्ति मत होओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यकी अनुत्पत्ति मानने पर सभीके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि सभीका अभाव होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थोंकी उपलब्धि पाई जाती है। यदि कहा जाय कि सर्वदा सबकी उत्पत्ति ही होती रहे, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य पदार्थकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, उसीप्रकार सर्वथा नित्य पदार्थ भी नहीं बनता है, क्योंकि जो पदार्थ क्रमसे अथवा युगपत् कार्यको नहीं करता है वह पदार्थ प्रमाणका विषय नहीं होता है। इसलिये जो सादृश्यसामान्य और तद्भावसामान्यरूपसे विद्यमान है तथा विशेषरूपसे अविद्यमान है ऐसे किसी भी कार्यकी किसी दूसरे कारणसे उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ–प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तुमें सर्वदा रहनेवाले अन्वयरूप धर्मको सामान्य या द्रव्य और व्यतिरेकरूप धर्मको विशेष या पर्याय कहते हैं। यद्यपि अन्वयरूप धर्म व्यतिरेकरूप धर्मसे सर्वथा अलग नहीं पाया जाता है इसलिये उसे व्यतिरेकरूप धर्मकी अपेक्षा भले ही हम अनित्य कह लें पर वह स्वयं ध्रुवस्वभाव है उसका कभी भी उत्पाद और विनाश नहीं होता है। वह अन्वय धर्म तद्भाव और सादृश्यके भेदसे दो प्रकारका है। ये वस्तुमें सर्वदा पाये जाते हैं। पर व्यतिरेक धर्म उत्पाद और ध्वंसस्वभाव है। प्रति समय एक व्यतिरेकरूप धर्मका उत्पाद होता है। वह अपनेसे पूर्ववर्ती व्यतिरेक धर्मका ध्वंस करके ही उत्पन्न होता है। लोकमें इसीको कार्य कहते हैं। और जिस व्यतिरेक धर्मका ध्वंस हुआ उसे तथा अन्वयरूप धर्मको कारण कहते हैं। कार्य शक्तिरूपसे सर्वदा पाया जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि उत्पन्न होनेवाला व्यतिरेक धर्म अपनेसे पूर्ववर्ती व्यतिरेकधर्म और अन्वय धर्मके अनुकूल ही पैदा होता है। यही सबब है कि एक जीव अजीवरूप नहीं हो जाता। यद्यपि जीव और अजीवमें सादृश्य सामान्य पाया जाता है पर तद्भाव सामान्य और उत्पन्न होनेवाले व्यतिरेक धर्मके अनुकूल पूर्ववर्ती व्यतिरेक धर्मके नहीं पाये जानेके कारण वह केवल सादृश्य सामान्यके निमित्तसे अजीवरूप नहीं हो सकता है। सहकारी कारणोंको जहां कार्य कह दिया जाता है वहां उपचार प्रधान है। उपचारका भी अन्तरंग कारण सादृश्यसामान्य है।

§ २५७. जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो तत्तो पुधभूदो संतो क
एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किंतु णइगमणओ जयिवसहा
वलंबिदो तेण ण एस दोसो । तत्थ कथं ण दोसो ? कारणम्मि णिलीं
मादो । तं जहा, णासंतकज्जमुप्पज्जइ; असदकरणादो उवायाणग्गहणादो स
वादो सत्तस्स सक्किज्जमाणस्सेव करणादो कारणभावादो चेदि । तदो कारणे
पि अत्थि त्ति इच्छियव्वं, णायागयस्स परिहरणोवायाभावादो । होदु
अत्थित्तं सत्त-पमेयत्त-पोग्गलत्त-णिच्चेयणत्त-मट्टियसहावत्तादिसरूवेण, ण
अत्थि तत्थ तब्भावाणुवलंभो त्ति; ण; तत्थ वि पमेयत्तादिसरूवेण तदत्थि
तम्हा जं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो वि कोहो त्ति सिद्धं ।

§ २५७. **शंका**–जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है वह मनु
अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है ?

समाधान–यदि यहां पर संग्रह आदि नयोंका अवलंबन लिया होता
अर्थात् संग्रह आदि नयोंकी अपेक्षा क्रोधसे भिन्न मनुष्य आदिक क्रोध नहं
सकते हैं । किन्तु यतिवृषभ आचार्यने चूंकि यहां पर नैगमनयका अवलंवन
लिये यह कोई दोष नहीं है ।

शंका–नैगमनयका अवलंबन लेने पर दोष कैसे नहीं है ?

समाधान–क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीक
है, इसलिये दोष नहीं है । उसका खुलासा इसप्रकार है–जो कार्य असद्
उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि असत्की उत्पत्ति नहीं होती है, कार्यके उपा
ग्रहण देखा जाता है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं पाई जाती है, जो कारण
करनेमें समर्थ है वह उसे ही करता है तथा कारणोंका सद्भाव पाया जाता
कारणोंमें कार्य शक्तिरूपसे कार्योत्पत्तिके पहले भी विद्यमान है यह स्वी
चाहिये, क्योंकि जो बात न्यायप्राप्त है उसके निषेध करनेका कोई उपाय नहीं

शंका–मिट्टीके पिंडमें सत्त्व, प्रमेयत्व, पुद्गलत्व, अचेतनत्व और मिट्टी
रूपसे घटका सद्भाव भले ही पाया जाओ, परन्तु दंडादिकमें घटका सद्भाव न
दंडादिकमें तद्भावलक्षण सामान्य अर्थात् मिट्टीस्वभाव नहीं पाया जाता है ।

समाधान–नहीं, क्योंकि दंडादिकमें भी प्रमेयत्व आदि रूपसे घटका
जाता है ।

इसलिये जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है वह भी क्रोध है यह

* कधं ताव णोजीवो ?

§ २५८. जीवो जीवस्स ताडण-मेहण-बंधण-चोंकण-गेल्लंछणादिवावारेण कोह मुप्पादेदि त्ति ताव जुत्तं; णोजीवो सयलवावारविरहिओ कोहमुप्पादेदि त्ति कधं जुज्जदे? एदमक्खेवं जइवसहाइरिएण मणम्मि काऊण सुत्तमेदं परूविदं ।

* कट्ठं वा लेंडुं वा पडुच्च कोहो समुप्पण्णो तं कट्ठं वा लेंडुं वा कोहो।

§ २५९. वावारविरहिओ णोजीवो कोहं ण उप्पादेदि त्ति णासंकणिज्जं; विद्धपायकंटए वि समुप्पज्जमाणकोहुवलंभादो, सगंगलग्गलेंडुअखंडं रोसेण दसंतमक्कडुवलंभादो च। सेसं सुगमं अदीदसुत्ते परूविदत्तादो ।

* एवं जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जदि जीवं वा णोजीवं वा जीवे वा णोजीवे वा मिस्सए वा सो समुप्पत्तियकसाएण कोहो ।

§ २६०. जहा जीव-णोजीवाणं एगसंखाए विसिट्ठाणं परूवणा कदा एवं सेसभंगाणं पि परूवणा कायव्वा त्ति भणंतेण जइवसहाइरिएण अंतेवासीणं सुहप्पबोहणट्ठमट्ठण्हं भंगा-

* समुत्पत्तिककपायकी अपेक्षा अजीव क्रोध कैसे है ?

§ २५८. 'मारना, सजा देना, बांधना, चोंकना और शरीरके किसी अवयवका छेदना आदि व्यापारोंके द्वारा जीव जीवके क्रोध उत्पन्न करता है, यह तो युक्त है परन्तु समस्त व्यापारोंसे रहित अजीव जीवके क्रोध उत्पन्न करता है यह कैसे बन सकता है' इस आक्षेपको मनमें करके यतिवृषभ आचार्यने उक्त सूत्र कहा है ।

* जिस लकड़ी अथवा ईंट आदिके टुकड़ेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है समुत्पत्तिककपायकी अपेक्षा वह लकड़ी या ईंट आदिका टुकड़ा क्रोध है ।

§ २५९. ताड़न मारण आदि व्यापारसे रहित अजीव क्रोधको उत्पन्न नहीं करता है ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जो कांटा पैरको वींध देता है उसके ऊपर भी क्रोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। तथा वन्दरके शरीरमें जो पत्थर आदि लग जाता है रोपके कारण वह उसे चवाता हुआ देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अजीव भी क्रोधको उत्पन्न करता है । शेप कथन सुगम है, क्योंकि इससे पहले सूत्रमें शेप कथनका प्ररूपण कर आये हैं ।

* इसप्रकार एक जीव या एक अजीव, अनेक जीव या अनेक अजीव, या मिश्र इनमेंसे जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिककपायकी अपेक्षा क्रोध है।

§ २६०. एक जीव और एक अजीवकी प्ररूपणा ऊपर जिसप्रकार की है उसीप्रकार शेप भंगोंकी भी प्ररूपणा कर लेना चाहिये इसप्रकार कहते हुए यतिवृषभ आचार्यने शिष्योंको

(१) लेंडुच्च को-अ०, आ०, स० । (२)-खंड रो-अ०, आ० । (३) मणं-स० ।

णमुच्चारणदुवारेण "जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जइ सो समुप्पत्तियकसाएण कोहो ओ (?)" त्ति पुव्वमवगयत्थो चेव परूविदो। णेसो पुणरुत्तं; अट्ठ-भंगुच्चारणमुहेण सेसभंगाणमत्थपरूवणफलत्तादो।

सुखपूर्वक ज्ञान करानेके लिये आठों भंगोंके नामोच्चारणद्वारा 'जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जइ सो समुप्पत्तियकसाएण कोहो' इसप्रकारसे पूर्व ज्ञात अर्थका ही कथन किया है किन्तु यह कथन पुनरुक्त दोषसे युक्त नहीं है, क्योंकि इसका फल आठ भंगोंके नामोच्चारणके द्वारा शेष भंगोंके अर्थका कथन करना है।

विशेषार्थ–यतिवृषभ आचार्य पहले 'समुप्पत्तियकसाओ णाम कोहो सिया जीवो सिया णोजीवो एवमट्ठभंगा' इस सूत्रके द्वारा प्रारंभके दो भंगोंको गिनाकर उसीप्रकार आठों भंगोंके कहनेकी सूचना कर आये हैं। फिर भी 'एवं जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जदि' इत्यादि सूत्रके द्वारा उन्हीं आठों भंगोंका निर्देश करते हैं। इसप्रकार एक ही विषयको पुनः कहनेसे पुनरुक्त दोष प्राप्त होता है जो कि किसी भी हालतमें इष्ट नहीं है। इस पर वीरसेनस्वामीका कहना है कि यद्यपि एक ही विषय दो वार कहा गया है फिर भी पुनरुक्त दोष नहीं आता है, क्योंकि आदिके दो भंगोंकी अर्थप्ररूपणा स्वयं चूर्णिसूत्रकारने ऊपर ही कर दी है पर शेष छह भंगोंकी समुच्चयरूपसे केवल सूचना ही की है। उनकी अर्थप्ररूपणा किसप्रकार करना चाहिये यह नहीं बतलाया है जिसके बतानेकी अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः दूसरी वार जो आठों भंगोंके नाम गिनाये हैं वे पुनः गिनाये जानेसे व्यर्थ हो जाते हैं फिर भी वे जिन छह भंगोंकी ऊपर अर्थप्ररूपणा नहीं की है उसे सूचित करते हैं इसलिये उनका पुनः गिनाया जाना सार्थक है। आठ भंगोंका नाम पुनः गिनाये जानेसे यह मालूम हो जाता है कि जिसप्रकार प्रारंभके दो भंगोंकी अर्थप्ररूपणा कर आये हैं उसीप्रकार शेष छह भंगोंकी भी कर लेना चाहिये। उसका खुलासा इसप्रकार है–जहां अनेक जीवोंके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा वे अनेक जीव क्रोध हैं। जहां अनेक अजीवोंके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहां वे अनेक अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध हैं। जहाँ एक जीव और एक अजीवके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ वह एक जीव और एक अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध है। जहाँ एक जीव और अनेक अजीवोंके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ वह एक जीव और अनेक अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध हैं। जहाँ अनेक जीव और एक अजीवके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ वे अनेक जीव और एक अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध हैं। जहाँ अनेक जीव और अनेक अजीवोंके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ वे अनेक जीव और अनेक अजीव समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोध हैं। इन छहों भंगोंके उदाहरण क्रमशः स्वयं टीकाकारने आगे दिये हैं।

§ २६१. दोण्हं भंगाणं पुव्वमत्थो परूविदो। संपहि सेसभंगाणमत्थो वुच्चदे। तं जहा, बहुआ वि जीवा कोहुप्पत्तीए कारणं होंति; सत्तुस्सेणं दट्ठूण कोहुप्पत्तिदंसणादो। णोजीवा बहुआ वि कोहुप्पत्तीए कारणं होंति, अप्पणो अणिट्ठणोजीवसमूहं दट्ठूण कोहुप्पत्तिदंसणादो। जीवो णोजीवो च कोहुप्पत्तीए कारणं होंति; सखग्गरिउदंसणेण कोहुप्पत्तिदंसणादो। जीवा णोजीवो च कारणं होंति; अप्पणो अणिट्ठगणोजीवेण सह सत्तुस्सेण्णं दट्ठूण तदुप्पत्तिदंसणादो। जीवो णोजीवा च कारणं होंति; सकोअंड-कंडरिउं दट्ठूण तदुप्पत्तिदंसणादो। जीवा णोजीवा च कारणं होंति; असि-परसु-कोंत-तोमर-रह-संदणसहियरिउबलं दट्ठूण तदुप्पत्तिदंसणादो।

*** एवं माण-माया-लोभाणं।**

§ २६२. एत्थ 'वत्तव्वं' इदि किरियाए अज्झाहारो कायव्वो, अण्णहा सुत्तत्थाणुववत्तीदो। कधं णोजीवे माणस्स समुप्पत्ती? ण; अप्पणो रूव-जोव्वणगव्वेण वत्थालंका-

§ २६१. दो भंगोंका अर्थ पहले कह आये हैं। अब शेष भंगोंका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है—बहुत जीव भी क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि अपने शत्रुकी सेनाको देखकर क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। तथा बहुत अजीव भी क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि अपने लिये अनिष्टकर अजीवोंके समूहको देखकर क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। एक जीव और एक अजीव ये दोनों भी क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि तलवार लिये हुए शत्रुको देखनेसे क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। अनेक जीव और एक अजीव भी क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि अपने लिये अनिष्टकारक एक अजीवके साथ शत्रुकी सेनाको देखकर क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। कहीं एक जीव और अनेक अजीव क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि धनुष और बाण सहित शत्रुको देखकर क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। कहीं अनेक जीव और अनेक अजीव क्रोधकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं, क्योंकि तरवार, फरसा, भाला, तोमर नामक अस्त्र, रथ और स्यन्दन सहित शत्रुकी सेनाको देखकर क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है।

*** जिसप्रकार समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा क्रोधका कथन कर आये हैं इसीप्रकार मान, माया और लोभका भी कथन करना चाहिये।**

§ २६२. इस सूत्रमें 'वत्तव्वं' इस क्रियाका अध्याहार कर लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना सूत्रका अर्थ नहीं बन सकता है।

शंका—अजीवके निमित्तसे मानकी उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने रूप अथवा यौवनके गर्वसे

(१)-सहावं द-आ०।-सरूवं द-अ०। (२) रहस्संदण-अ०, आ०। (३) तमुप्प-अ०, आ०। (४)-जोवण्णग-अ०, आ०।

रादिसु समुव्वहमाणमाणत्थी-पुरिसाणमुवलंभादो[1]। सेसं सुगमं।

* आदेसकसाएण[2] जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रूसिदो तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण।

§ २६३. भिउडिं काऊण भृकुटिं[3] कृत्वा, तिवलिदणिडालो त्रिवलितनिटलः, भृकुटिहेतोः त्रिवलितनिटल इत्यर्थः। एवं चित्रकर्मणि लिखितः क्रोधः आदेशकषायः।

§ २६४. आदेसकसाय-ट्ठवणकसायाणं को भेओ? अत्थि भेओ, सब्भावट्ठवणा कसायपरूवणा कसायबुद्धी च आदेसकसाओ, कसायविसयसब्भावासब्भावट्ठवणा ट्ठवणकसाओ, तम्हा ण पुणरुत्तदोसो त्ति।

वस्त्र और अलंकार आदिमें मानको धारण करनेवाले स्त्री और पुरुष पाये जाते हैं। अर्थात् वस्त्र अलंकार आदिके निमित्तसे स्त्री और पुरुषोंमें मानकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये समुत्पत्तिककषायकी अपेक्षा वे वस्त्र और अलंकार भी मान कहे जाते हैं।

शेष कथन सुगम है।

* भौंह चढ़ानेके कारण जिसके ललाटमें तीन वली पड़ गई हैं चित्रमें अंकित ऐसा रुष्ट हुआ जीव आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध है।

§ २६३. 'तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण' इस पदका अर्थ, भौंह चढ़ानेके कारण जिसके ललाटमें तीन वली पड़ गईं हैं, होता है। इसप्रकार चित्र कर्ममें अङ्कित जीव आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध है।

§ २६४. **शंका**–यदि चित्रमें लिखित क्रोध आदेशकषाय है तो आदेशकषाय और स्थापनाकषायमें क्या भेद है?

समाधान–आदेशकषाय और स्थापनाकषायमें भेद है, क्योंकि सद्भावस्थापना, कषायका प्ररूपण करना और यह कषाय है इसप्रकारकी बुद्धिका होना आदेशकषाय है। तथा कषायकी सद्भाव और असद्भावरूप स्थापना करना स्थापनाकषाय है। इसलिये आदेशकषाय और स्थापनाकषायका अलग अलग कथन करनेसे पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

विशेषार्थ–पहले आदेशकषायका स्थापनाकषायमें अन्तर्भाव करते समय यह बतला आये हैं कि आदेशकषाय सद्भावस्थापनारूप है और स्थापनाकषाय कषायविषयक सद्भाव और असद्भाव दोनों प्रकारकी स्थापनारूप है। यहाँ पर दोनोंमें भेद दिखलाते हुए जो यह लिखा है कि सद्भावस्थापना, 'यह कषाय है' इसप्रकारकी प्ररूपणा और 'यह कषाय है' इस-प्रकारकी बुद्धि यह सब आदेशकषाय है और कषायविषयक दोनों प्रकारकी स्थापना स्थापना-

---

(१) माणेत्थी–अ०, आ०। (२) "आएसओ कसाओ कइयवकयभिउडिभंगुरागारो। केई चित्ताइगओ ठवणाणत्थंतरो सोऽयं॥"–विशेषा० गा० २९८४। "आदेशकषायाः कृत्रिमकृतभृकुटीभङ्गुरादयः।"–आचा० नि० शी० गा० १९०। (३)–टिं वक्तृत्वात् ति–स०। (४)–त्वा तत्तिव–अ०, आ०।

* माणो थंद्धो लिक्खदे।

§ २६५. देव-रिसि-पिउ-माउ-सामि-सालाणं पणाममगच्छंतो थद्धो णाम। तस्स रूवं चित्तकम्मे लिहिदं संतं तं पि आदेसकसाओ।

* मायाँ णिगूहमाणो लिक्खदे।

§ २६६. णिगूहमाणो णाम वंचेंतो छलेंतो त्ति भणिदं होदि।

* लोहो णिव्वाइँदेण पंपागहिदो लिक्खदे।

कषाय है। इसका भी वही पूर्वोक्त तात्पर्य है, क्योंकि स्थापनाकषायकी तो दोनों जगह एक ही परिभाषा कही है। किंतु आदेशकषायकी परिभाषामें थोड़ा अन्तर दिखाई देता है। पहले केवल कषायविषयक सद्भावस्थापनाको आदेशकषाय कह आये हैं और यहाँ पर उसके अतिरिक्त 'यह कषाय है' इसप्रकारकी प्ररूपणा और इसप्रकारकी बुद्धिको आदेशकषाय कहा है। पर विचार करने पर यह प्रकार भी सद्भावस्थापनाके भीतर आ जाता है, इसलिये प्रथम कथन सामान्यरूपसे और दूसरा कथन उसके विशेष खुलासारूपसे समझना चाहिये, क्योंकि अधिकतर 'यह कषाय है' इसप्रकारकी प्ररूपणा और बुद्धि सद्भावस्थापनाके द्वारा ही हो सकती है। विशेषावश्यकभाष्यकारने 'कषायरूप सद्भावस्थापना आदेशकषाय है' इस मतका खंडन करके कषायका स्वांग लेनेवाले व्यक्तिको आदेशकषाय बतलाया है। पर व्यापक दृष्टिसे विचार किया जाय तो कषायका स्वांग लेनेवाला व्यक्ति भी तो सद्भावस्थापनाका एक भेद है अन्तर केवल सजीव और अजीवका ही है। कषायकी तदाकार नकल दोनों जगह की गई है। चित्रमें लिखा गया जीव भी कषायरूप पर्यायसे परिणत नहीं है और कषायका स्वांग करनेवाला पुरुष भी कषायरूप पर्यायसे परिणत नहीं है, अतः सद्भाव स्थापनामें दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये सद्भावस्थापनाको आदेशकषायरूपसे स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है।

* चित्रमें लिखित स्तब्ध अर्थात् गर्विष्ठ या अकड़ा हुआ पुरुष या स्त्री आदेशकषायकी अपेक्षा मान है।

§ २६५. देव, ऋषि, पिता, माता, स्वामी और सालेको नमस्कार नहीं करनेवाला पुरुष स्तब्ध कहलाता है। उसकी जो आकृति चित्रकर्ममें अंकितकी जाती है वह आदेशकषायकी अपेक्षा मान है।

* निगूहमान अर्थात् दूसरेको ठगते हुए या छलते हुए पुरुष या स्त्रीकी जो आकृति चित्रकर्ममें लिखी जाती है वह आदेशकषायकी अपेक्षा माया है।

§ २६६. यहां निगूहमानका अर्थ वंचना करनेवाला या छलनेवाला है।

* लालसाके कारण लम्पटतासे युक्त पुरुष या स्त्रीकी जो आकृति चित्रमें अंकित

(१) सद्दो अ०, आ०। (२)-कम्मेहि लि-आ०। (३)-या ग-आ०, अ०, स०। (४)-इतेण स०।

§ २६७. पंपा णाम लंपडत्तं, सयलपरिग्गहगहणट्टं हिययस्स विकासो णिव्वाइदं णाम, तेण णिव्वाइदेण[1] सह पंपागहिदमणुस्सो आलिहिदो लोहो होदि ।

* एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम ।

§ २६८. एदेसिं चित्तयम्मे लिहिदाणं चेव आदेसकसायत्तं होदि त्ति णियमो अत्थि (णत्थि) किंतु एदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा सेलकम्मे वा कया वि आदेसकसाओ होंति त्ति भणिदं होदि । 'कसाओ' त्ति एयवयणणिद्देसो बहुवाणं कथं जुज्जदे ? ण एस दोसो; कसायत्तं पडि एयत्तुवलंभादो ।

* एदं णेगमस्स ।

२६९. एदमिदि उत्ते समुप्पत्तियकसाया आदेसकसाया[2] च घेत्तव्वा । तेणेवं संबंधो कायव्वो, एदं[3] कसायदुवं णेगमस्स णेगमणए संभवदि ण अण्णत्थ, सेसणएसु पच्चय-ट्ठव-

---

की जाती है वह आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है ।

§ २६७. सूत्रमें आये हुए पंपा शब्दका अर्थ लम्पटता है और णिव्वाइद शब्दका अर्थ समस्त परिग्रहके ग्रहण करनेके लिये चित्तका विकाश अर्थात् चित्तका ललचना या लालसायुक्त होना है । इसप्रकार संसार भरके परिग्रहको अपनानेकी लालसासे युक्त लम्पटी मनुष्यकी जो आकृति चित्रमें अंकितकी जाती है वह आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है ।

*इसीप्रकार काष्ठकर्ममें या पोतकर्ममें लिखे गये क्रोध, मान, माया और लोभ आदेशकषाय कहलाते हैं ।

§ २६८. चित्रमें ही लिखे गये क्रोध, मान, माया और लोभ आदेशकषाय होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं हैं किन्तु लकड़ी पर उकेरे गये, वस्त्र पर छापे गये, भित्ति पर चित्रित किये गये और पत्थरमें खोदे गये क्रोध, मान, माया और लोभ भी आदेश कषाय हैं ऐसा उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये ।

शंका–सूत्रमें 'आदेसकसाओ' इसप्रकार कषायका एक वचनरूपसे उल्लेख किया है, वह अनेक क्रोधादिकके लिये कैसे युक्त हो सकता है ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कषाय सामान्यकी अपेक्षासे उन सब क्रोधादिकोंमें एकत्व पाया जाता है, इसलिये 'आदेसकसाओ' ऐसा एकवचन निर्देश बन जाता है ।

* ये दोनों समुत्पत्तिककषाय और आदेशकषाय नैगमनयमें संभव हैं ।

§ २६९. सूत्रमें आये हुए 'एदं' पदसे समुत्पत्तिककषाय और आदेशकषाय लेना चाहिये । इसलिये ऐसा सम्बन्ध करना चाहिये कि ये दोनों कषाय नैगमनयमें संभव हैं अन्य नयोंमें नहीं, क्योंकि शेष नयोंकी अपेक्षा प्रत्ययकषायमें समुत्पत्तिककषायका और स्थापनाकषायमें

---

(१) णिव्वाइतेण अ०, आ०, स० । (२)–साया घे–स० । (३) एदं स० ।

णकसाएसु समुप्पत्तियकसाय-आदेसकसायाणं जहाकमेण पवेसादो।

* रसकसाओ णाम कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा कसाओ।

§ २७०. 'रसः कषायोऽस्य रसकषायः' इति व्युत्पत्तेः रसकषायशब्दो द्रव्ये वर्तते द्रव्यकषाये नायमन्तर्भवति 'शिरीषस्य कषायः शिरीषकषायः' इति तस्योत्तरपदप्राधान्यात्। 'कसायरसं दव्वं कसाओ' त्ति एदं जुत्तं, दव्वकसायसद्दाणमेयत्तेण णिद्देसादो, 'कसायरसाणि दव्वाणि कसाओ' त्ति जं भणिदं तण्ण घडदे; अणेयसंखाणं दव्वाणमेयत्त-

आदेशकषायका अन्तर्भाव हो जाता है।

विशेषार्थ–शेष नयोंकी अपेक्षा प्रत्ययकषायमें समुत्पत्तिककषायका और स्थापना-कषायमें आदेशकषायका अन्तर्भाव हो जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि शेष नय चारों कषायोंको भेदरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा प्रत्ययकषायमें समुत्पत्तिककषायका और स्थापना कषायमें आदेशकषायका अन्तर्भाव कहा है। यहां शेष नयसे संग्रह और व्यवहारनय लिये गये हैं। क्योंकि ऋजुसूत्र आदि चारों नयोंके ये चारों ही कषाय अविषय हैं जिसका खुलासा ऊपर किया जा चुका है।

* जिस द्रव्य या जिन द्रव्योंका रस कसैला है उस या उन द्रव्योंको रसकषाय कहते हैं।

§ २७०. 'जिसका रस कसैला है उसे रसकषाय कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रसकषाय शब्द द्रव्यवाची है उसका द्रव्यकषायमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि 'शिरीषस्य कषायः शिरीषकषायः'की तरह द्रव्यकषाय उत्तरपदप्रधान होती है।

विशेषार्थ–'जिसका रस कसैला है' यहां बहुव्रीहिसमास है और बहुव्रीहिसमास अन्य पदार्थ प्रधान होता है, अतः रसकषाय शब्द द्रव्यवाची हो जाता है, क्योंकि रस-कषाय शब्द विशेष्य न रह कर बहुव्रीहि समासके द्वारा द्रव्यका विशेषण बना दिया गया है। इस रसकषाय शब्दमें बहुव्रीहि समास होनेके कारण इसे रसवाची नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि रसवाची शिरीषकषाय शब्दमें बहुव्रीहि समास न होकर तत्पुरुष समास है। तत्पुरुष समासमें उत्तर पदार्थ प्रधान रहता है। अतः शिरीषकषायमें पूर्व पदार्थ शिरीष द्रव्यकी या किसी अन्य पदार्थकी प्रधानता न होकर उत्तर पदार्थ कषायरसकी प्रधानता है।

शंका–जिसका रस कसैला है उस द्रव्यको कषाय कहते हैं ऐसा कहना तो ठीक है, क्योंकि सूत्रमें द्रव्य और कषाय शब्दका एक वचनरूपसे निर्देश किया है। परन्तु जिनका रस कसैला है उन द्रव्योंको कषाय कहते हैं, ऐसा जो कथन किया है वह संगत

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० २८३ टि० ३। (२) "रसओ रसो कसाओ।"–विशेषा० गा० २९८५। "रसतो रसकषायः कटुतिक्तकषायपञ्चकान्तर्गतः।"–आचा० नि० शी० गा० १९०।

विरोहादो; ण; कसायसमाणत्तणेण बहुवाणं पि दव्वाणमेयत्तुवलंभादो। णिंब-सज्ज-सिरिसकसायाणं भेदुवलंभादो ण कसायाणमेयत्तमिदि चे; ण; कसायसामण्णदुवारेण तेसिमेयत्तदंसणादो। किं[2] तं कसायसामण्णं ? सगण्णयवदिरेगेहि[3] कसायपच्चय-ववहारा-हिहाणाणमण्णय-वदिरेगणिमित्तं। तद्दुवारेण दव्वाणं सरिसत्तं होदि णेयत्तं चे; ण; सरिसेगसद्दाणमत्थभेदाभावादो। पुधभूदेसु सरिसत्तं चिट्ठदि त्ति चे; ण; उड्ढाहो-मज्झादिभेएण भिण्णेसु चेय एयत्तुवलंभादो। एयत्तवदिरित्ता के ते उड्ढादिभेया ?

नहीं है, क्योंकि अनेक संख्यावाले द्रव्योंको एक माननेमें विरोध आता है। इस शंकाका तात्पर्य यह है कि सूत्रमें कषाय शब्द एकवचन है अतः उसका एकवचन द्रव्यशब्दके साथ तो सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है किन्तु बहुवचन द्रव्य शब्दके साथ उसका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। किन्तु ग्रन्थकार उसे एकवचन द्रव्यशब्दके भी साथ लगाते हैं और बहुवचन द्रव्याणिके साथ भी लगाते हैं।

समाधान–नहीं, क्योंकि कषायसामान्यकी अपेक्षा कषायरसवाले बहुत द्रव्योंमें भी एकत्व पाया जाता है, इसलिये 'कसायरसं दव्वं कसाओ' की तरह 'कसायरसाणि दव्वाणि कसाओ' प्रयोग भी बन जाता है।

शंका–नीम, आम, सर्ज और शिरीष आदि भिन्न भिन्न जातिकी कषायोंमें भेद पाया जाता है, इसलिये सभी कषायोंको एक नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि कषायसामान्यकी अपेक्षा नीम आदि कषायोंमें एकपना देखा जाता है।

शंका–वह कषायसामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान–जो अपने अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा सभी कषायोंमें कषायविषयक ज्ञान, कषायविषयक व्यवहार और कषाय इत्याकारक शब्दके अन्वय और व्यतिरेकका कारण है वह कषायसामान्य है।

शंका–कषायसामान्यके द्वारा अनेक द्रव्योंमें सदृशता हो सकती है एकत्व नहीं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि सदृश और एक इन दोनों शब्दोंमें अर्थभेद नहीं है।

शंका–पृथक् पृथक् रहनेवाले पदार्थोंमें सदृशता ही पाई जाती है एकता नहीं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि ऊपरका भाग, नीचेका भाग और मध्यभाग इत्यादिकके भेदसे पदार्थोंमें भेद होते हुए भी उनमें जिसप्रकार एकता देखी जाती है। अर्थात् जैसे अवयवभेद होते हुए भी पदार्थ एक हैं। उसीप्रकार सादृश्यसामान्यकी अपेक्षा दो पदार्थ भी एक हैं।

यदि कहा जाय कि एकत्वको छोड़कर वे ऊपरला भाग आदि क्या हैं ? अर्थात्

(१) ण च क–अ०, आ०। (२) किन्तु क–अ०, आ०। (३)–सगणय–अ०, आ०। (४)–णाम-माणय–अ०, आ०।

सरिसत्तवदिरित्ता के वा दव्वादिभेया त्ति समाणमेयं। पुधभूददव्वावट्ठाइ सरिसत्तं अपुधभूददव्वावट्ठाइ एयत्तं चे; ण; सव्वहा पुधभूदेसु सरिसत्ताणुववत्तीदो। दव्वस्स कथं कसायववएसो; ण; कसायवदिरित्तदव्वाणुवलंभादो। अकसायं पि दव्वमत्थि त्ति चे; होदु णाम; किंतु 'अप्पियदव्वं ण कसायादो पुधभूदमत्थि' त्ति भणामो। तेण 'कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा सिया कसाओ' त्ति सिद्धं।

§२७१. सुत्तेण अउत्तो सियासद्दो कथमेत्थ उच्चदे? ण; सियासद्दपओएण विणा सव्वपओआणं अउत्ततुल्लत्तप्पसंगादो। तं जहा, कसायसद्दो पडिवक्खत्थं सगत्थादो ओसारिय सगत्थं चेव भणदि पईवो व्व दुस्सहावत्तादो। अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ–

कुछ नहीं है तो यहाँ भी ऐसा कहा जा सकता है कि सदृशतासे पृथग्भूत वे द्रव्यादिभेद क्या हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं हैं। इसलिये जिसप्रकार एकत्वसे भिन्न ऊपरला भाग आदि नहीं पाये जाते हैं उसीप्रकार सदृशतासे भिन्न द्रव्यादिभेद नहीं पाये जाते हैं; अतः दोनों पक्षमें शङ्कासमाधान समान है।

शंका–सदृशता पृथग्भूत द्रव्योंमें रहती है और एकता अपृथग्भूत द्रव्योंमें पाई जाती है?

समाधान–नहीं, क्योंकि जो द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं उनमें सदृशता नहीं बन सकती है।

शंका–द्रव्यको कषाय कैसे कहा जा सकता है?

समाधान–क्योंकि कषायरससे भिन्न द्रव्य नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यको कषाय कहनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है।

शंका–कषायरससे रहित भी द्रव्य पाया जाता है ऐसी अवस्थामें द्रव्यको कषाय कैसे कहा जा सकता है?

समाधान–कषायरससे रहित द्रव्य पाया जाओ, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यहां जिस द्रव्यके विचारकी मुख्यता है वह कषायरससे भिन्न नहीं है, ऐसा हमारा कहना है।

इसलिये जिसका या जिनका रस कसैला है उस द्रव्यको या उन द्रव्योंको कथंचित् कषाय कहते हैं यह सिद्ध हुआ।

§ २७१. **शंका**–'स्यात्' शब्द सूत्रमें नहीं कहा है फिर यहां क्यों कहा है?

समाधान–क्योंकि यदि 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न किया जाय तो सभी वचनोंके व्यवहारको अनुक्ततुल्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् स्यात् शब्दके प्रयोगके विना सभी वचन न कहे हुएके समान हैं। आगे कषाय शब्दका उदाहरण देकर उसीका खुलासा करते हैं—यदि कषाय शब्दके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग न किया जाय तो वह कषाय शब्द अपने वाच्यभूत अर्थसे प्रतिपक्षी अर्थोंका निराकरण करके अपने अर्थको ही कहेगा, क्योंकि वह दीपककी तरह दो स्वभाववाला है। अर्थात् जिसप्रकार दीपक दो काम करता

"अन्तर्भूतैवकारार्थाः गिरः सर्वाः स्वभावतः।
एवकारप्रयोगोऽयमिष्टतो नियमाय सः ॥१२३॥
निरस्यन्ती परस्यार्थं स्वार्थं कथयति श्रुतिः।
तमो विधुन्वती भास्यं यथा भासयति प्रभा ॥१२४॥"

§ २७२. एवं चेव होदु चे; ण; एक्कम्मि[1] चेव माहुलिंगफले तित्त-कडुवंबिल-मधुर-रसाणं रूव-गंध-फास-संठाणाईणमभावप्पसंगादो। एदं पि होउ चे; ण; दव्वलक्खणा-

है एक तो अपने प्रतिपक्षी अन्धकारको दूर करता है दूसरे अपने धर्म प्रकाशको व्यक्त करता है उसीप्रकार कषाय शब्द अपने प्रतिपक्षीभूत सभी अर्थोंका निराकरण करेगा और अपने अर्थ कषायको ही कहेगा। इस विषयमें दो उपयोगी श्लोक दिये जाते हैं–

"जितने भी शब्द हैं उनमें स्वभावसे ही एवकारका अर्थ छिपा हुआ रहता है, इसलिये जहां भी एवकारका प्रयोग किया जाता है वहां वह इष्टके अवधारणके लिये किया जाता है ॥१२३॥"

"जिसप्रकार प्रभा अन्धकारका नाश करती है और प्रकाश्य पदार्थोंको प्रकाशित करती है उसीप्रकार शब्द दूसरे शब्दके अर्थका निराकरण करता है और अपने अर्थको कहता है ॥१२४॥"

तात्पर्य यह है कि यदि कषाय शब्द द्रव्यके केवल कषायरूप अर्थको ही कहे और जो कषायशब्दके वाच्य नहीं हैं ऐसे अन्य रस, रूप, स्पर्श और गन्ध आदिका निराकरण करे तो द्रव्य केवल कषायरसवाला ही फलित होगा परन्तु सर्वथा एक धर्मवाला द्रव्य तो पाया नहीं जाता है, इसलिये वाच्यका अभाव हो जानेसे कषाय शब्दका कोई वाच्य ही नहीं रहेगा और इसप्रकार 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके विना कषाय शब्द अनुक्ततुल्य हो जायगा।

§ २७२. **शंका**–स्यात् पदके प्रयोगके विना यदि कषाय शब्द कषायरूप अर्थसे भिन्न अर्थोंका निराकरण करके अपने ही अर्थको कहता है तो कहे ?

समाधान–नहीं, क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जावे तो एक ही बिजोरेके फलमें पाये जानेवाले कषायरसके प्रतिपक्षी तीते, कडुए, खट्टे और मीठे रसके अभावका तथा रूप, गन्ध स्पर्श और आकार आदिके अभावका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका–स्यात् शब्दके प्रयोगके विना यदि एक ही बिजोरेमें कषायरसके प्रतिपक्षी उक्त रसादिकका अभाव प्राप्त होता है तो हो जाओ ?

समाधान–नहीं, क्योंकि वस्तुमें विवक्षित स्वभावको छोड़कर शेष स्वभावोंका अभाव मानने पर द्रव्यके लक्षणका अभाव हो जाता है। और उसके अभाव हो जानेसे द्रव्यके

(१) पक्कम्मि अ०, आ०।

भावेण दव्वस्स अभावप्पसंगादो। किं तं दव्वलक्खणं? तिकालगोयराणंतपज्जायाणं विस्ससाए अण्णोण्णाजहउंत्ती दव्वं। अत्रोपयोगी श्लोकः–

"नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१२५॥"

तम्हा दव्वम्मि अवुत्तासेसधम्माणं घडावणट्ठं सियासद्दो जोजेयव्वो। सुत्ते किमिदि ण पउत्तो? ण; तहापइंजासयस्स पओआभावे वि तदत्थावगमो अत्थि त्ति दोसाभावादो। उत्तं च–"तथाप्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोगः ॥१२६॥" इति।

§ २७३. एत्थ सत्तभंगी जोजेयव्वा। तं जहा, 'सिया कसाओ, सिया णो कसाओ' एत्थतणसियासद्दो [णोकसायं] कसायं कसाय-णोकसायविसयअत्थपज्जाए च दव्वम्मि

भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

शंका–वह द्रव्यका लक्षण क्या है?

समाधान–त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंका स्वभावसे ही एक दूसरेको न छोड़कर रहने रूप जो तादात्म्यसम्बन्ध है वह द्रव्य है। इस विषयमें यहाँ उपयोगी श्लोक देते हैं–

"जो नैगमादिनय और उनकी शाखा उपशाखारूप उपनयोंके विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायोंका परस्पर अभिन्न संबन्धरूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित् एक और कथंचित् अनेक है ॥१२५॥"

इसलिये द्रव्यमें अनुक्त समस्त धर्मोंके घटित करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना चाहिये।

शंका–'रसकसाओ' इत्यादि सूत्रमें स्यात् शब्दका प्रयोग क्यों नहीं किया है?

समाधान–नहीं, क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोगका अभिप्राय रखने वाला वक्ता यदि स्यात् शब्दका प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है अतएव स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। कहा भी है–

"स्यात् शब्दके प्रयोगकी प्रतिज्ञाका अभिप्राय रहनेसे 'स्यात्' शब्दका अप्रयोग देखा जाता है ॥१२६॥"

§ २७३. यहाँ सप्तभंगीकी योजना करनी चाहिये। वह इसप्रकार है–(१) द्रव्य स्यात् कषायरूप है, (२) द्रव्य स्यात् अकषायरूप है। इन दोनों भंगोंमें विद्यमान स्यात् शब्द क्रमसे नोकषाय और कषायको तथा कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायोंको द्रव्यमें

(१)–उत्ति दव्वं अ०, आ०। (२) आप्तमी० श्लो० १०७। (३) युक्त्यनु० श्लो० ४५। तुलना–"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते। विधौ निषेधेप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः॥"–लघी० श्लो० ६३। "सोऽप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते। यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७। (४) सत्तहंगी स०।

घडावेइ[1]। 'सिया अवत्तव्वं' कसायणोकसायविसयअत्थपज्जायसरूवेण, एत्थतण-सिया-सद्दो कसायणोकसायविसयवंजणपज्जाए[2] ढोएइ। 'सिया कसाओ च णोकसाओ च' एत्थतण-सियासद्दो कसाय-णोकसायविसयअत्थपज्जाए दव्वेण सह ढोएइ। 'सिया कसाओ च अवत्तव्वओ च' एत्थतणसियासद्दो णोकसायत्तं घडावेइ। 'सिया णोकसाओ च अवत्तव्वओ च' एत्थतणसियासद्दो कसायत्तं घडावेइ। 'सिया कसाओ च णोक-साओ च अवत्तव्वओ च' एत्थतणसियासद्दो कसायणोकसाय-अवत्तव्वधम्माणं तिण्हं पि कमेण भणमाणाणं दव्वम्मि अक्कमउत्तिं सूचेदि।

"कथञ्चित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित्।
कदाचिच्चेति पर्यायात् स्याद्वादः सप्तभङ्गभृत् ॥१२७॥"

इत्युक्तत्वात् स्याद्वादो (दः) क्रमेण वर्त्तते चेत्; न; उपलक्षणार्थमेतस्योक्तेः।

घटित करता है। (३) कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायरूपसे द्रव्य स्यात् अवक्तव्य है। इस भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द कषाय और नोकषायविषयक व्यंजनपर्यायोंको द्रव्यमें घटित करता है। (४) द्रव्य स्यात् कषायरूप और अकषायरूप है। इस चौथे भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायोंको द्रव्यमें घटित करता है। (५) द्रव्य स्यात् कषायरूप और अवक्तव्य है। इस पांचवे भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द द्रव्यमें नोकषायपनेको घटित करता है। (६) द्रव्य स्यात् अकषायरूप और अवक्तव्य है। इस छठे भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द द्रव्यमें कषायपनेको घटित करता है। (७) द्रव्य स्यात् कषायरूप, अकषायरूप और अवक्तव्य है। इस सातवें भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द क्रमसे कहे जानेवाले कषाय, नोकषाय और अवक्तव्यरूप तीनों धर्मोंकी द्रव्यमें अक्रमवृत्तिको सूचित करता है।

शंका–"कोई एक पदार्थ है। वह किसी एक स्वरूपसे है। उसकी उत्पत्ति आदिका कोई एक साधन भी है। उसका कोई एक अपादान भी है। वह किसी एकका सम्बन्धी भी है। वह किसी एक अधिकरणमें भी है तथा वह किसी एक कालमें भी है। इन पर्यायोंसे स्याद्वाद सात भंगवाला होता है ॥१२७॥"
इस कथनसे तो मालूम होता है कि स्याद्वाद क्रमसे रहता है

समाधान–नहीं, क्योंकि यह कथन उपलक्षणके लिये किया गया है।

विशेषार्थ–'रसकसाओ णाम दव्वं दव्वाणि वा कसाओ' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए वीरसेन स्वामीने वचनप्रयोग करते समय स्यात् पदकी आवश्यकता-अनावश्यकता, सप्तभंगी और स्याद्वादके क्रमवर्तित्व-अक्रमवर्तित्व पर प्रकाश डाला है। वचनप्रयोगमें स्यात् पदके प्रयोगकी आवश्यकता-अनावश्यकता पर विचार करते हुए वीरसेन स्वामीके लिखनेका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक वचनप्रयोगमें स्यात् पदकी योजना करनी ही चाहिये ऐसा

(१)–इ सिया णोकसाओ च सिया आ०। (२)–य अत्थवंजण–आ०।

कोई एकान्त नियम तो नहीं किया जा सकता है। फिर भी जहाँ वक्ताने स्यात् पदका प्रयोग न किया हो वहाँ उसका आशय स्यात् पदके प्रयोगका रहा है ऐसा समझ लेना चाहिये। जिसप्रकार प्रकाशमें दो शक्तियाँ होती हैं एक तो वह अन्धकारका नाश करता है और दूसरे प्रकाश्यभूत पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसीप्रकार प्रत्येक शब्दमें दो शक्तियाँ हैं एक तो वह अपने ही अर्थको कहता है और दूसरे वह अन्य शब्दोंके अर्थका निराकरण भी करता है। इसलिये यदि स्यात् पदका प्रयोग न किया जाय तो प्रत्येक द्रव्यमें विवक्षित शब्दके वाच्यभूत धर्मकी ही सिद्धि होगी और दूसरे धर्मोंका निराकरण हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। अतः वचनप्रयोगमें स्यात् पदका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। यदि न किया गया हो तो वहाँ वक्ताका अभिप्राय स्यात् पदके प्रयोग करनेका रहा है ऐसा समझकर उस वचनप्रयोगकी अर्थके साथ संगति कर लेना चाहिये। इस व्यवस्थाके अनुसार द्रव्यके कथंचित् कषायरसवाले सिद्ध हो जाने पर वह कथंचित् नोकषायवाला और कथंचित् अवक्तव्य आदि धर्मोंवाला भी सिद्ध होता है। रूप रसादि धर्मोंकी व्यंजनपर्यायोंका ही शब्दों द्वारा कथन किया जा सकता है अर्थपर्यायोंका नहीं। अतः पहले भंगमें 'कसाओ' पदसे कषायकी व्यंजन पर्यायोंका ग्रहण किया है और 'सिया' पदसे नोकषाय की व्यंजनपर्यायोंका और कषाय-नोकषायविषयक अर्थपर्यायोंका ग्रहण किया है। दूसरे भंगमें 'णोकसाओ' पदसे नोकषायविषयक-व्यंजनपर्यायोंका और 'सिया' पदसे कषाय की व्यंजनपर्यायोंका और कषाय-नोकषायविषयक अर्थपर्यायोंका ग्रहण किया है। तीसरे भंगमें 'अवत्तव्वं' पदसे कषाय-नोकषायविषयक अर्थ-पर्यायोंका और 'सिया' पदसे कषाय-नोकषायविषयक व्यंजनपर्यायोंका ग्रहण किया है। इसीप्रकार आगेके संयोगी चार भंगोंमें भी समझ लेना चाहिये। अब प्रश्न स्याद्वादके क्रम-वर्तित्व और अक्रमवर्तित्वका रह जाता है। सातों भंगोंमें वस्तुमें रहनेवाले सभी धर्म कहे तो क्रमसे गये हैं पर 'सिया' पदके द्वारा उनकी अक्रमवृत्ति सूचितकी गई है। इस पर शंकाकारका कहना है कि यहाँ पर 'सिया' पद अशेष धर्मोंकी अक्रमवृत्तिको भले ही सूचित करे पर 'कथञ्चित्केनचित्कश्चित्' इत्यादि गाथाके आधारसे तो मालूम होता है कि जो वस्तु वर्तमानमें विवक्षित स्वरूपसे है वह अन्य कालमें उस स्वरूपसे नहीं रहती। इसप्रकार जैसे वस्तुमें कालभेदसे स्वरूपभेद हो जाता है वैसे ही साधनादिकके भेदसे भी वस्तुमें भेद हो जाता है, इसलिये प्रतीत होता है कि स्याद्वाद क्रमसे रहता है फिर सातवें भंगमें 'सिया' पदके द्वारा अशेष धर्मोंकी अक्रमवृत्ति क्यों सूचितकी गई है। इस पर वीरसेन स्वामीने जो उत्तर दिया है वह मार्मिक है। वे लिखते हैं 'कथञ्चित् केनचित्कश्चित्' इत्यादि पर्यायोंके द्वारा जो स्याद्वादके सात भंग कहे हैं वे उपलक्षण रूपसे कहे गये हैं। इससे निश्चित होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती अनेक धर्म पाये जाते हैं। इसलिये स्याद्वाद क्रमवृत्ति भी है और अक्रमवृत्ति भी, यह सिद्ध होता है।

* तव्वदिरित्तं दव्वं दव्वाणि वा णोकसाओ।

§ २७४. तत्तो कसायरसादो वदिरित्तं तव्वदिरित्तं दव्वं दव्वाणि वा णोकसाओ। एदस्स सुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे जहा पुव्विल्लस्स सुत्तस्स अत्थो परूविदो तहा परूवेयव्वो।

* एदं णेगम-संगहाणं।

§ २७५. एसा जा परूवणा सा णेगम-संगहाणं दट्ठव्वा; तत्थ संगहसरूवसंववहार-दंसणादो।

* **ववहारणयस्स कसायरसं दव्वं कसाओ। तव्वदिरित्तं दव्वं णोकसाओ। कसायरसाणि दव्वाणि कसाया, तव्वदिरित्ताणि दव्वाणि णोकसाया।**

§ २७६. एदस्स सुत्तस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा, जाईए वत्तीए वा जं दव्वमेगवयणेण णिद्दिट्ठं तमेगवयणेणेव कसाओ त्ति वत्तव्वं; 'कसाया' त्ति भण्णमाणे संदेहुप्प-

---

* कषायरससे रहित एक द्रव्य या अनेक द्रव्य नोकषाय है।

§ २७४. इस सूत्रमें तद्व्यतिरिक्तका अर्थ कषाय रससे रहित किया है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि कषायरससे रहित एक द्रव्य या अनेक द्रव्य नोकषाय है। जिस प्रकार इससे पहले सूत्रका अर्थ कहा है उसीप्रकार इस सूत्रके अर्थका भी प्ररूपण करलेना चाहिये। अर्थात् द्रव्याणि पदके साथ एकवचन नोकषाय शब्दका सम्बन्ध, स्यात् पदकी संघटना तथा उसमें सप्तभंगीका कथन इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रमें वर्णित क्रमके अनुसार यहां भी समझ लेना चाहिये।

* यह कथन नैगम और संग्रहनयका विषय है।

§ २७५. ऊपर जो यह प्रतिपादन कर आये हैं कि जिसका या जिनका रस कसैला है ऐसा एक द्रव्य या अनेक द्रव्य कषाय है और इनसे अतिरिक्त नोकषाय है, यह कथन नैगम और संग्रहनयका विषय जानना चाहिये, क्योंकि इस कथनमें संग्रहरूप व्यवहार देखा जाता है।

* **व्यवहारनयकी अपेक्षा जिसका रस कसैला है ऐसा एक द्रव्य कषाय है और उससे अतिरिक्त द्रव्य नोकषाय है। तथा जिनके रस कसैले हैं ऐसे अनेक द्रव्य कषाय हैं और उनसे अतिरिक्त द्रव्य नोकषाय हैं।**

§ २७६. अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है–

जातिकी अपेक्षा अथवा व्यक्तिकी अपेक्षा जो द्रव्य एक वचनरूपसे कहा गया है उसे एक वचनरूपसे ही कषाय कहना चाहिये, क्योंकि उसे 'कषायाः' इसप्रकार बहुवचन रूपसे कहने पर सन्देह हो सकता है अथवा व्यवहारमें संकरदोषका प्रसंग आ सकता है।

त्तीदो, ववहारसंकरप्पसंगादो वा। होदु चे; ण; तहाणुवलंभादो। जत्थ बहुवयणेण दव्वमुद्दिट्ठं तत्थ 'कसाया' त्ति बहुवयणंतेणेव वत्तव्वं, अण्णहा परट्ठं कीरमाणस्स सद्दववहारस्स अभावो होज्ज, फलाभावादो।

*** उजुसुदस्स कसायरसं दव्वं कसाओ, तव्वदिरित्तं दव्वं णोकसाओ। णाणाजीवेहि परिणामियं दव्वमवत्तव्वयं।**

§ २७७. एदस्स सुत्तस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा, कसायरसाणि दव्वाणि कसाया,

---

शंका–जो वस्तु एकवचनरूपसे निर्दिष्ट है उसे बहुवचनरूपसे कहने पर यदि संदेह उत्पन्न होता है और संकरदोष प्राप्त होता है तो होओ ?

समाधान–नहीं, क्योंकि सन्देह तथा संकरदोष युक्त व्यवहार नहीं देखा जाता है।

तथा जहां बहुवचनरूपसे द्रव्यका निर्देश किया गया हो वहां 'कषायाः' इसप्रकार बहुवचनान्त ही प्रयोग करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो निष्फल होनेसे दूसरेको समझानेके लिये किये गये शब्द व्यवहारका अभाव हो जायगा, अर्थात् इसप्रकारके शब्द व्यवहारसे श्रोताको विवक्षित अर्थका बोध न हो सकेगा और इसलिये उसका करना और न करना बराबर हो जायगा।

विशेषार्थ–नैगमनय भेदाभेदको गौणमुख्यभावसे ग्रहण करता है और संग्रहनय एक या अनेकको एक रूपसे ग्रहण करता है, अतएव इन दोनों नयोंकी अपेक्षा कसैले रसवाले एक या अनेक द्रव्योंको एकवचन कषायशब्दके द्वारा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। पर व्यवहारनय एकको एकवचनके द्वारा और बहुतको बहुवचनके द्वारा ही कथन करेगा, क्योंकि यह नय भेदकी प्रधानतासे वस्तुको स्वीकार करता है। फिर भी यदि इस नयकी अपेक्षा एकको बहुवचनके द्वारा कहा जाय तो एक तो श्रोताको यह सन्देह हो जायगा कि वस्तु एक है और यह उसे बहुवचनके द्वारा कह रहा है इसका क्या कारण है। दूसरे एकको बहुवचनके द्वारा कहनसे एकवचन आदिका कोई नियम नहीं रहता है सभी वचनोंकी एक स्थान पर ही प्राप्ति हो जाती है अतः संकरदोष आ जाता है। इसीप्रकार बहुतको यदि एकवचनके द्वारा कहा जाय तो भी यह वचनव्यवहार पूर्वोक्त प्रकारसे निष्फल हो जाता है। अतः नैगम और संग्रह नय एक या अनेकको एकवचनके द्वारा और व्यवहारनय एकको एकवचनके द्वारा और बहुतको बहुवचनके द्वारा कथन करता है यह निश्चित हो जाता है।

*** ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा जिसका रस कसैला है ऐसा एक द्रव्य कषाय है और उससे अतिरिक्त द्रव्य नोकषाय है। तथा नाना जीवोंके द्वारा परिणामित द्रव्य अवक्तव्य है।**

§ २७७. अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–जिनके रस कसैले हैं

तव्वदिरित्ताणि दव्वाणि णोकसाया त्ति उजुसुदस्स अवत्तव्वं। कुदो? णाणाजीवेहि परिणामिदत्तादो। तं जहा, 'णाणाजीवेहि परिणामियाणि' 'णाणाजीवाणं बुद्धीए विसयीकयाणि' त्ति भणिदं होदि। एदस्स णयस्स अहिप्पाएण एगजीवस्स बुद्धीए एक्कम्मि खणे एक्को चेव अत्थो घेप्पदि णाणेयत्था त्ति। एयस्स जीवस्स अणेयकसायविसयाओ बुद्धीओ अक्कमेण किण्ण उप्पज्जंति? ण; एगउवजोगस्स अणेगेसु दव्वेसु अक्कमेण उत्तिविरोहादो। अविरोहे वा ण सो[1] एक्को उवजोगो; अणेगेसु अत्थेसु अक्कमेण वट्टमाणस्स एयत्त-विरोहादो। ण च एयस्स जीवस्स अक्कमेण अणेया उवजोआ संभवंति; विरुद्धधम्मज्झासेण जीवबहुत्तप्पसंगादो। ण च एओ जीवो अणेयत्तमल्लियइ; विरोहादो। तदो विसयीकयएयत्थणाणादो समुप्पण्णेगसद्दो वि एयत्थविसओ चेय। तेण

ऐसे अनेक द्रव्य कषाय हैं और इनसे अतिरिक्त द्रव्य नोकषाय हैं यह ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अवक्तव्य भंग है।

शंका–यह भंग ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अवक्तव्य क्यों है?

समाधान–क्योंकि बहुत कषाय और बहुत नोकषाय नाना जीवोंकी नाना बुद्धिके विषय हैं, इसलिये वे ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अवक्तव्य हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है–'नाना जीवोंके द्वारा परिणामितका अर्थ 'अनेक जीवोंकी बुद्धिके द्वारा विषय किये गये' होता है। और इस नयके अभिप्रायसे एक जीवकी बुद्धिके द्वारा एक समयमें एक ही अर्थ गृहीत होता है, अनेक अर्थ नहीं।

शंका–एक जीवके अनेक कषायविषयक बुद्धियां एकसाथ क्यों नहीं उत्पन्न होती हैं?

समाधान–नहीं, क्योंकि इस नयकी अपेक्षा एक उपयोगकी एक साथ अनेक द्रव्योंमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि एक साथ एक उपयोग अनेक द्रव्योंमें प्रवृत्ति कर सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर इस नयकी अपेक्षा वह एक उपयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि जो एकसाथ अनेक अर्थोंमें रहता है उसे एक माननेमें विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि एक जीवके एकसाथ अनेक उपयोग संभव हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार हो जानेसे उस एक जीवको जीवबहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् परस्परमें विरुद्ध अनेक अर्थोंको विषय करनेवाले अनेक उपयोग एक जीवमें एक साथ माननेसे वह जीव एक नहीं रह सकता है उसे अनेकत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि एक जीव अनेकपनेको प्राप्त हो जाओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। अतः एक अर्थको विषय

(१) ण एसो अ०।

कसायकरसाणि दव्वाणि कसाया तव्वदिरित्ताणि दव्वाणि णोकसाया त्ति अवत्तव्वं ।

§ २७८. अथवा, जिब्भिदिएण चेव रसोवगम्मदे, ण अण्णेण इंदिएण; अणुवलंभादो। ण चाणुमाणिज्जदि संभरिज्जदि वा; सुमरणाणुमाणाणं सामण्णविसयाणं विसेसे उत्तिविरोहादो। ण च सामण्णमत्थि; विसेसेसु अणुगय-अतुट्टसरूवसामण्णाणुवलंभादो । ण चाणेयाणं दव्वाणं मुहपक्खित्ताणं रसमक्कमेण जिब्भाए जाणदि, विसेसविसयस्स जिब्भिदियस्स एगत्तादो; एगेगदव्वरसे चेव एगक्खणे पउत्तिदंसणादो । ण च एगं जिब्भिदियमेगक्खणे अणेगेसु रसेसु वट्टदे; विरोहादो । अविरोहे वा ण तमेगमिंदियं; णाणत्थेसु अक्कमेण वट्टमाणस्स एयत्तविरोहादो । तेण णाणाजीवपरिणामियं दव्वमवत्तव्वं । किमट्ठमेगं चेव णाणमुप्पज्जइ; एगसत्तिसहियएयमणत्तादो । एवं संते बहु-

करनेवाले ज्ञानके निमित्तसे उत्पन्न हुआ एक शब्द भी एक अर्थको ही विषय करता है। इसलिये 'जिनके रस कसैले हैं ऐसे अनेक द्रव्य कषाय हैं और उनसे अतिरिक्त अनेक द्रव्य नोकषाय हैं' यह भंग ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अवक्तव्य है ।

§ २७८. अथवा, जिह्वा इन्द्रियके द्वारा ही रसका ज्ञान होता है, अन्य किसी भी इन्द्रियके द्वारा नहीं, क्योंकि जिह्वा इन्द्रियको छोड़कर दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा रसका ग्रहण नहीं देखा जाता है । यदि कहा जाय कि जिह्वा इन्द्रियको छोड़कर अन्य इन्द्रियोंके द्वारा रसका ग्रहण नहीं होता है तो न सही, पर उसका स्मरण अथवा अनुमानके द्वारा ग्रहण तो किया जा सकता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्मरण और अनुमान सामान्य वस्तुको विषय करते हैं अतः उनकी विशेषमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । तथा इस नयकी दृष्टिमें सामान्य है भी नहीं; क्योंकि विशेषोंमें अनुगत और जिसकी सन्तान नहीं टूटी है ऐसा सामान्य नहीं पाया जाता है । यदि कहा जाय कि मुखमें डाले गये अनेक द्रव्योंका रस एकसाथ जिह्वा इन्द्रियसे जान लिया जाता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि रसविशेषको विषय करनेवाली जिह्वा इन्द्रिय एक ही है, इसलिये प्रत्येक क्षणमें उसकी एक एक द्रव्यके रसमें ही प्रवृत्ति देखी जाती है । अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय एक समयमें एक ही द्रव्यका रस जानती है । यदि कहा जाय कि एक जिह्वा इन्द्रिय एक क्षणमें अनेक रसोंमें प्रवृत्ति करती है सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि एक क्षणमें एक जिह्वा इन्द्रियकी अनेक रसोंमें प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वह एक इन्द्रिय नहीं हो सकती है, क्योंकि जो नाना अर्थोंमें एकसाथ प्रवृत्ति करती है उसे एक माननेमें विरोध आता है । इसलिये नाना जीवोंकी बुद्धिके द्वारा विषय किया गया द्रव्य ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अवक्तव्य है ।

शंका–एक कालमें एक ही ज्ञान क्यों उत्पन्न होता है ?

(१) संभरि–अ०, आ० ।

अवग्गहस्स अभावो होदि चे; सच्चं; उजुसुदेसु बहुअवग्गहो णत्थि त्ति, एयसत्तिसहियएयमणब्भुवगमादो। अणेयसत्तिसहियमणदव्वब्भुवगमे पुण अत्थि बहुअवग्गहो; तत्थ विरोहाभावादो।

* णोआगमदो भावकसाओ कोहवेयओ जीवो वा जीवा वा कोहकसाओ।

समाधान–क्योंकि एक क्षणमें एक शक्तिसे युक्त एक ही मन पाया जाता है, इसलिये एक क्षणमें एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

शंका–यदि ऐसा है तो बहुअवग्रहका अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान–यह कहना ठीक है कि ऋजुसूत्रनयोंमें बहुअवग्रह नहीं पाया जाता है, क्योंकि इस नयकी दृष्टिसे एक क्षणमें एक शक्तिसे युक्त एक मन स्वीकार किया गया है। यदि अनेक शक्तियोंसे युक्त मनको स्वीकार कर लिया जाय तो बहुअवग्रह बन सकता है क्योंकि वहां उसके माननेमें विरोध नहीं आता है।

विशेषार्थ–ऋजुसूत्रनय वस्तुकी वर्तमानसमयवर्ती पर्यायको ही ग्रहण करता है और एक समयमें एक ही पर्याय होती है, इसलिये इस नयकी अपेक्षा कषायरसवाला एक द्रव्य कषाय और उससे अतिरिक्त एक द्रव्य नोकषाय कहा जायगा। तथा नाना जीवोंके द्वारा ग्रहण किये गये अनेक द्रव्य अवक्तव्य कहे जायंगे, क्योंकि यह नय एक समयमें अनेक पर्यायोंको स्वीकार नहीं करता है। यह नय एक समयमें अनेक विषयोंको नहीं ग्रहण करता है इसका कारण यह है कि इस नयकी अपेक्षा एक समयमें एक ही उपयोग होता है। और एक उपयोग अनेक विषयोंको ग्रहण नहीं कर सकता है अन्यथा उसे उपयोगबहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि इस नयकी अपेक्षा एक जीवके बहुत उपयोग कहे जावें तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसप्रकार उन अनेक उपयोगोंका आधार एक जीव नहीं हो सकता है किन्तु वह एक जीव अनेक उपयोगोंका आधार होनेसे अनेकरूप हो जायगा। अथवा जिह्वा इन्द्रिय एक है इसलिये एक समयमें एक कषायरसवाले द्रव्यका ही ग्रहण होगा अनेकका नहीं। इसका भी कारण एक कालमें एक शक्तिसे युक्त मनका पाया जाना है। इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि इस नयकी अपेक्षा बहु अवग्रह आदि ज्ञान नहीं हो सकते हैं। इसप्रकार इस नयकी अपेक्षा कषायरसवाला एक द्रव्य कषाय है और उससे अतिरिक्त एक द्रव्य नोकषाय है तथा बहुत कषाय और नोकषाय द्रव्य अवक्तव्य हैं।

* नोआगमभावनिक्षेपकी अपेक्षा क्रोधका वेदन करनेवाला एक जीव या अनेक

(१) "कसायकम्मोदओ य भावम्मि।"–विशेषा० गा० २९८५। "भावकषायाः शरीरोपधिक्षेत्रवास्तुस्वजनप्रेष्यार्थादिनिमित्ताविर्भूताः शब्दादिकामगुणकारणकार्यभूतकषायकर्मोदयाद् आत्मपरिणामविशेषाः क्रोधमानमायालोभाः।"–आचा० नि० शी० गा० १९०।

§ २७६. आगमभावकसाओ सुगमो त्ति तस्स विवरणमभणिय णोआगमभाव-कसायस्स विवरणं जइवसहाइरिएण भणिदं। कोहोदयसहिदजीवो जीवा वा कोहकसाओ त्ति भणंति णेगमसंगहणया। बहुआणं कथमेयत्तं? जाईए। एवं संते ववहारसंकरो पसज्जदि त्ति भणिदे; ण; तेसिं लोगसंववहारविसयअवेक्खाभावादो। ववहार-उजुसुदाणं पुण जहा रसकसायम्मि उत्तं तहा वत्तव्वं अविसेसादो। सद्दणयस्स कोहोदओ कोह-कसाओ, तस्स विसए दव्वाभावादो।

* [(१)]एवं माण-माया-लोभाणं।

जीव क्रोधकषाय है।

§ २७९. आगमभावकषायका स्वरूप सरल है इसलिये उसके स्वरूपको न कह कर यतिवृषभ आचार्यने नोआगमभावकषायका स्वरूप कहा है। क्रोधके उदयसे युक्त एक जीव या अनेक जीव क्रोधकषाय है इसप्रकार नैगमनय और संग्रहनय प्रतिपादन करते हैं।

शंका–बहुतोंको एकत्व कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् बहुत जीवोंके लिये एक वचनरूप कषायशब्दका प्रयोग कैसे संभव है?

समाधान–जातिकी अपेक्षा बहुतोंको एक माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये बहुत जीवोंके लिये एक वचनरूप कषायशब्दका प्रयोग बन जाता है।

शंका–ऐसा मानने पर व्यवहारमें संकरदोषका प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि नैगमनय और संग्रहनय लोकसंव्यवहारविषयक अपेक्षासे रहित हैं।

व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा जिसप्रकार रसकषायमें कथन कर आये हैं उसीप्रकार नोआगमकषायमें भी कथन करना चाहिये, क्योंकि दोनोंके कथनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

विशेषार्थ–व्यवहारनय एकको एकवचनके द्वारा और बहुतको बहुवचनके द्वारा स्वीकार करता है, इसलिये इस नयकी अपेक्षा क्रोधके उदयसे युक्त एक जीव नोआगम-भावक्रोधकषाय है और क्रोधके उदयसे युक्त अनेक जीव नोआगमभावक्रोधकषाय हैं। तथा ऋजुसूत्र एक कालमें एकको ही ग्रहण करता है अनेकको नहीं, इसलिये इस नयकी अपेक्षा क्रोधके उदयसे युक्त एक जीव नोआगमभावक्रोधकषाय है और क्रोधके उदयसे युक्त अनेक जीव अवक्तव्य हैं।

शब्दनयकी अपेक्षा क्रोधका उदय ही क्रोधकषाय है, क्योंकि शब्दनयके विषयमें द्रव्य नहीं पाया जाता है।

* जिसप्रकार ऊपर क्रोधकषायका कथन किया है उसीप्रकार मान, माया और

---

(१) एवं माया-अ०, आ०, स०।

§ २८०. सुगममेदं ।

* एत्थ छ अणियोगद्दाराणि ।

§ २८१. किमट्ठमेदाणि छ अणिओगद्दाराणि एत्थ उच्चंति ? विसेसिऊण भावकसायसरूवपरूवणट्ठं । सेसकसायाणं छ अणियोगद्दाराणि किण्ण उत्ताणि ? ण; तेहि एत्थ अहियाराभावादो । तं कुदो णव्वदे ? एदस्स विसेसपरूवणादो ।

* किं कसाओ ?

§ २८२. णेगम-संगह-ववहार-उजुसुदणयाणं कोहाइचउक्कवेयणओ जीवो कसाओ । कुदो ? जीववदिरित्तकसायाभावादो । तिण्हं सद्दणयाणं कोहाइचउक्कं दव्वकम्म-जीववदिरित्तं कसाओ; तेसिं विसए दव्वाभावादो ।

लोभका भी कथन करना चाहिये ।

§ २८०. यह सूत्र सुगम है ।

* यहाँ छह अनुयोगद्वारोंका कथन करना चाहिये ।

§ २८१. शंका–यहाँ पर छह अनुयोगद्वार किसलिये कहते हैं ?

समाधान–भावकषायके स्वरूपका विशेषरूपसे प्ररूपण करनेके लिये यहाँ पर छह अनुयोगद्वार कहे जाते हैं ।

शंका–शेष नामादि कषायोंके छह अनुयोगद्वार क्यों नहीं कहे ?

समाधान–नहीं, क्योंकि उन नामादि कषायोंका यहाँ अधिकार नहीं है ।

शंका–उन नामादि कषायोंका यहाँ अधिकार नहीं है, यह कैसे जाना जाता है ।

समाधान–क्योंकि यहाँ पर भावकषायका ही विशेष प्ररूपण किया है इससे जाना जाता है कि शेष कषायोंका यहाँ अधिकार नहीं है ।

* कषाय क्या है ?

§ २८२. नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोधादि चार कषायोंका वेदन करनेवाला जीव कषाय है, क्योंकि जीवको छोड़कर कषाय अन्यत्र नहीं पाई जाती है। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनयकी अपेक्षा क्रोधादिचतुष्क कषाय हैं, क्रोधादिरूप द्रव्यकर्म और जीव द्रव्य नहीं, क्योंकि इन तीनों शब्दनयोंके विषयमें द्रव्य नहीं पाया जाता है।

---

(१) एवं छ आ० । (२) "किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य । छहिं अणिओगद्दारें सव्वे भावाणुगंतव्वा ।"–मूलाचा० ८।१५। त० सू० १।६। "उद्देसे निद्देसे अ निग्गमे खेत्तकालपुरिसे य । कारणपच्चयलक्खणनए समोआरणाणुमए ॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं केच्चिरं हवइ कालं । कइ संतरमविरहियं भवागरिसफासणनिरुत्ती ॥"–अनु० सू० १५१। आ० नि० गा० १३७। "दुविहा परूवणा छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविहो य भवे ।"–आ० नि० गा० ८९१।

* कस्स कसाओ ?

§ २८३. णेगम-संगह-ववहार-उजुसुदाणं जीवस्स कसाओ। कुदो? जीवकसायाणं भेदाभावादो। ण च अभेदे छट्ठी विरुज्झइ; 'जलस्स धारा' त्ति अभेदे वि छट्ठीविहत्तिदंसणादो। अत्थाणुसारेण सद्दपउत्तीए अभावादो वा अभेदे वि छट्ठी जुज्जदे। तिण्हं सद्दणयाणं ण कस्स वि कसाओ; भावकसाएहिंतो वदिरित्तजीव-कम्मदव्वाणमभावादो। अथवा, ण तस्सेदमिदि पुधभूदेसु जुज्जदे; अव्ववत्थावत्तीदो। ण कारणस्स होदि; सगसरूवादो उप्पण्णस्स अण्णेहिंतो उप्पत्तिविरोहादो। ण स परेहिंतो उप्पज्जइ; उप्पण्णस्स उप्पत्तिविरोहादो। ण च अपुधभूदस्स होदि; सगंतोपवेसेण णट्ठस्स सामित्तवि-

विशेषार्थ–'कषाय क्या है' इसके द्वारा निर्देशका कथन किया है। वस्तुके स्वरूपके अवधारणको निर्देश कहते हैं। निर्देशकी इस परिभाषाके अनुसार कषायके स्वरूपका विचार करने पर नैगमादि चार नयोंकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंका वेदन करनेवाले जीवरूप कषाय सिद्ध होती है, क्योंकि कषाय जीवसे भिन्न नहीं पाई जाती है और प्रारंभके तीन नय तो द्रव्यको स्वीकार करते ही हैं तथा ऋजुसूत्र नय भी व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा द्रव्यको स्वीकार करता है। शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय क्रोधादिरूप सिद्ध होती है, क्योंकि इन नयोंका विषय द्रव्य न होकर पर्याय है।

* कषाय किसके होती है ?

§ २८३. नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा जीवके कषाय होती है, क्योंकि इन चारों नयोंकी अपेक्षा जीव और कषायमें भेद नहीं पाया जाता है। यदि कहा जाय कि यदि जीव और कषायमें अभेद है तो अभेदमें 'जीवकी कषाय' इसप्रकार षष्ठी विभक्ति विरोधको प्राप्त होती है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'जलकी धारा' यहां अभेदमें भी षष्ठी विभक्ति देखी जाती है। अथवा, अर्थके अनुसार शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये अभेदमें भी षष्ठी विभक्ति बन जाती है।

तीनों शब्दनयोंकी अपेक्षा कषाय किसीके भी नहीं होती है, क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें भावरूप कषायोंसे अतिरिक्त जीव और कर्मद्रव्य नहीं पाया जाता है। अथवा, 'यह उसका है' इसप्रकारका व्यवहार भिन्न दो पदार्थोंमें नहीं बन सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्थाकी आपत्ति प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि कषायरूप कार्य कारणका होता है अर्थात् कार्यरूप भावकषायके स्वामी उसके कारण जीवद्रव्य और कर्मद्रव्य कहे जा सकते हैं, सो भी बात नहीं है क्योंकि कोई भी कार्य अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये उसकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि वह कार्य अन्यसे उत्पन्न होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो उत्पन्न हो चुका है उसकी फिरसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि कषायरूप कार्य अपनेसे अभिन्न

रोहादो। तदो ण कस्स वि कसाओ त्ति सिद्धं।

* केण कसाओ ?

§ २८४. 'स्वमुपगतं स्वालम्बनं च कषति हिनस्ति इति कषायः' इति व्युत्पत्तेः कर्तृसाधनः कषायः। एदं णेगम-संगह-ववहार-उजुसुदाणं; तत्थ[1] कज्ज-कारणभावसंभवादो। तिण्हं सद्दणयाणं ण केण वि कसाओ; तत्थ कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीए। अहवा, ओदइएण भावेण कसाओ। एदं णेगमादिचउण्हं णयाणं। तिण्हं सद्दणयाणं पारिणामिएण भावेण कसाओ; कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। ण च देसादिणियमो कारणस्स अत्थित्तसाहओ; तिसु वि सद्दणएसु देसादीणमभावादो।

कारणका होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें कार्य-कारणका परस्परमें सर्वथा अभेद होनेसे कारण अपने कार्यमें प्रविष्ट हो जायगा और ऐसा होनेसे जब उसकी सत्ता ही नष्ट हो जायगी तो वह स्वामी नहीं हो सकेगा। इसलिये उसे स्वामी माननेमें विरोध आता है। इसलिये तीनों शब्दनयोंकी अपेक्षा कषाय किसीके भी नहीं होती है अर्थात् कषायका स्वामी कोई नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ–'कषाय किसके होती है' इसके द्वारा कषायका स्वामी बतलाया है। नगमादि चार नयोंकी अपेक्षा कषायका स्वामी जीव है। और शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषायका स्वामी कोई भी नहीं है। ऋजुसूत्र नयमें स्थूल ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा कषायका स्वामी जीव है।

* किस साधनसे कषाय होती है ?

§ २८४. जो अपनेको और प्राप्त हुए अपने आलंबनको कसती है अर्थात् घातती है वह कषाय है इस व्युत्पत्तिके अनुसार कषाय शब्द कर्तृसाधन है। यह नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समझना चाहिये, क्योंकि इन नयोंमें कार्यकारणभाव संभव है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों शब्दनयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। अथवा, कषाय औदयिकभावसे होती है। यह नैगम आदि चार नयोंकी अपेक्षा समझना चाहिये। शब्द आदि तीनों नयोंकी अपेक्षा तो कषाय पारिणामिक भावसे होती है, क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि देशादिकका नियम कारणके अस्तित्वका साधक है अर्थात् कषायमें देशादिकका नियम पाया जाता है अतः उसका कारण होना चाहिये, सो भी बात नहीं है, क्योंकि तीनों ही शब्दनयोंमें देशादिक नहीं पाये जाते हैं।

विशेषार्थ–'कषाय किस साधनसे होती है' इसके द्वारा कषायका साधन बतलाया

(१) तत्थ कारण–स०।

* कम्हि कसाओ ?

§ २८५. वत्थालंकाराइसु वज्झावलंवणेण विणा तदणुप्पत्तीदो। अहवा, जीवम्मि कसाओ। कथमभिण्णस्स अहियरणत्तं? ण; 'सारे हिदो थंभो' त्ति अभिण्णे वि अहियरणत्तुवलंभादो। तिण्हं सद्दणयाणं कसाओ अप्पाणम्मि चेव हिदो, तत्तो पुधभूदस्स कसायट्ठिदिकारणस्स अभावादो।

* केवचिरं कसाओ ?

है। नैगमादि चार नयोंकी अपेक्षा कषाय कर्तृसाधन है। अथवा कषायकी उत्पत्तिका कारण कर्मोंका उदय है इसलिये औदयिकभावसे कषाय होती है। पर शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि ये नय कार्यकारणभावके विना वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करते हैं। अथवा शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय पारिणामिक भावसे होती है। इसका यह तात्पर्य है कि कषायका कारण उदय नहीं है। कषायमें जो देशादिकके भेदसे भेद पाया जाता है वह शब्दादि नयोंका विषय नहीं है।

* कषाय किसमें होती है ?

§ २८५. वस्त्र और अलंकार आदिमें कषाय उत्पन्न होती है, क्योंकि वाह्य अवलंवनके विना कषायकी उत्पत्ति नहीं होती है। अथवा कषाय जीवमें होती है।

शंका–जीव कषायसे अभिन्न है, इसलिये उसे अधिकरणपना कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि 'सारमें स्तंभ स्थित है' अर्थात् स्तंभका आधार उसका सार है। यहाँ सारसे स्तंभका अभेद रहते हुए भी अधिकरणपना पाया जाता है। अतः अभेदमें भी अधिकरणपना संभव है। तीनों शब्दनयोंकी अपेक्षा कषाय अपनेमें ही स्थित है, क्योंकि इन नयोंकी अपेक्षा कषायकी स्थितिका कारण अर्थात् आधार कषायसे भिन्न नहीं पाया जाता है।

विशेषार्थ–'कषाय किसमें होती है' इसके द्वारा अधिकरणका कथन किया है। अधिकरण वाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे वाह्य अधिकरणमें निमित्तका ग्रहण किया है। अतः वस्त्रालंकारादिमें कषाय उत्पन्न होती है इसका यह अभिप्राय है कि वस्त्रालंकारादिके निमित्तसे कषाय उत्पन्न होती है। तथा आभ्यन्तर अधिकरणमें जीवका ग्रहण किया है। कषाय जीव द्रव्यकी अशुद्ध पर्याय है अतः उसका आधार जीव ही होगा। यद्यपि कषाय जीवसे अभिन्न पाई जाती है पर पर्याय-पर्यायीकी अपेक्षा कथंचित् भेद मानकर उन दोनोंमें आधार-आधेयभाव वन जाता है। यह सव कथन नैगमादि चार नयोंकी अपेक्षा समझना चाहिये। तीनों शब्दनय तो केवल वर्तमान पर्यायको ही स्वीकार करते हैं अतः उनकी अपेक्षा कषायका आधार उससे भिन्न नहीं हो सकता है।

* कषाय कितने कालतक रहती है ?

§ २८६. णाणाजीवे पडुच्च सव्वकालं कसाओ। एगजीवं पडुच्च सामण्णकसायस्स तिण्णि भंगा, कसायविसेसस्स पुण जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। अहवा, जहण्णेण एगसमओ। कुदो? मरणवाघादेहिंतो। उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। कुदो? चउण्हं कसायाणमुक्कस्सट्ठिदीए अंतोमुहुत्तपरिमाणत्तादो।

* कइविहो कसाओ?

§ २८६. नाना जीवोंकी अपेक्षा कषाय सदा पाई जाती है। एक जीवकी अपेक्षा कषायसामान्यके अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प हैं। तथा एक जीवकी अपेक्षा कषायविशेषका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। अथवा, कषायविशेषका जघन्यकाल एक समय है, क्योंकि मरण और व्याघातकी अपेक्षा एक समयवर्ती भी कषाय पाई जाती है। तथा कषायविशेषका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि चारों कषायोंकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण पाई जाती है।

विशेषार्थ–'कषाय कितने काल तक रहती है' इसके द्वारा कषायकी स्थिति कही गई है। नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा इसप्रकार कषायकी स्थितिका कथन दो प्रकारसे किया जाता है। तथा सामान्य और विशेषकी अपेक्षा कषाय दो प्रकारकी है। ये दोनों प्रकारकी कषायें नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा पाई जाती हैं। अर्थात् अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक ऐसा एक भी कालका क्षण नहीं है जिसमें कषायसामान्यका और कषायविशेष क्रोधादिका अभाव कहा जा सके। सर्वदा ही अनन्त जीव क्रोधादि चारों कषायोंसे युक्त पाये जाते हैं। इसप्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षा कषायविशेषका सद्भाव जब सर्वदा पाया जाता है तो कषायसामान्यका सद्भाव सर्वदा पाया जाना अवश्यंभावी है। एक जीवकी अपेक्षा कषायसामान्यके कालका विचार करने पर उसके अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादिसान्त ये तीन भेद हो जाते हैं। कषायसामान्यका अनादि-अनन्त काल अभव्य जीवकी अपेक्षासे होता है। अनादि-सान्त काल, जो भव्य जीव उपशमश्रेणी पर न चढ़ कर केवल क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो कर क्षीणकषाय हो गया है, उसके होता है, तथा सादि-सान्त काल उपशमश्रेणीसे गिरे हुए जीवके होता है। तथा एक जीवकी अपेक्षा कषायविशेषका काल एक तो मरण और व्याघातके विना और दूसरे मरण और व्याघातकी अपेक्षा इसतरह दो प्रकारसे होता है। मरण और व्याघातके विना प्रत्येक जीवके क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे प्रत्येकका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होता है जिसका आगे अद्धापरिमाणका निर्देश करते समय व्याख्यान किया है। पर मरण और व्याघातकी अपेक्षा प्रत्येक कषायका जघन्य काल एक समय भी पाया जाता है।

* कषाय कितने प्रकारकी है?

(१) कदिवि–आ०।

§ २८७. कसाय-णोकसायभेएण दुविहो, पंचवीसविहो वा।

* एत्तिए।

§ २८८. जहा कसाए अहियारा परूविदा तहा पेज्जदोसेसु वि एत्तिया चेव परूवेयव्वा, अण्णहा तण्णिण्णयाणुववत्तीदो।

* पाहुडं णिक्खिवियव्वं।

§ २८९. किमट्ठं णिक्खिप्पदे ? पेज्जदोसकसायाणमंतेट्ठिदपाहुडसद्दट्ठणिण्णयट्ठं।

* णामपाहुडं ट्ठवणपाहुडं दव्वपाहुडं भावपाहुडं चेदि, एवं चत्तारि णिक्खेवा एत्थ होंति।

§ २९०. जेणेदं सुत्तं देसामासियं तेण अण्णे वि णिक्खेवा बुद्धिमंतेहि आइरिएहि एत्थ कायव्वा।

§ २९१. णाम-ट्ठवण-आगमदव्व-णोआगमदव्वजाणुगसरीर-भवियदव्वणिक्खेवा

§ २८७. कषाय और नोकषायके भेदसे कषाय दो प्रकारकी है। अथवा, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ ये सोलह कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय, इसप्रकार कषाय पच्चीस प्रकारकी है।

* पेज्ज और दोषका भी इतने ही अधिकारोंद्वारा वर्णन करना चाहिये।

§ २८८. जिसप्रकार कषायमें छह अधिकारोंका कथन किया है उसीप्रकार पेज्ज और दोषके विषयमें भी इतने ही अधिकारोंका कथन करना चाहिये, अन्यथा पेज्ज और दोषका निर्णय नहीं हो सकता है।

* पाहुडका निक्षेप करना चाहिये।

§ २८९. शंका–यहां पर पाहुडका निक्षेप किसलिये किया जाता है ?

समाधान–पेज्जदोषपाहुड और कषायपाहुडके अन्तमें स्थित पाहुड शब्दके अर्थका निर्णय करनेके लिये यहां पर पाहुडका निक्षेप किया है।

* नामपाहुड, स्थापनापाहुड, द्रव्यपाहुड और भावपाहुड इसप्रकार पाहुडके विषयमें चार निक्षेप होते हैं।

§ २९०. चूंकि यह सूत्र देशामर्षक है इसलिये बुद्धिमान् आचार्योंको यहां पर इन चार निक्षेपोंके अतिरिक्त अन्य निक्षेप भी कर लेने चाहिये।

§ २९१. नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, आगमद्रव्यनिक्षेप, नोआगमद्रव्यनिक्षेपके भेद ज्ञायकशरीर और भावी ये सुगम हैं इसलिये उनके स्वरूपको न कहकर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-

(१)–णमवुत्तेट्ठिद–स०।–णमउत्तिट्ठिद–अ०, आ०।

सुगमा त्ति तेसिमत्थमभणिय तव्वदिरित्तणोआगमदव्वणिक्खेवसरूवपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

*** णोआगमदो दव्वपाहुडं तिविहं, सचित्तं अचित्तं मिस्सयं च ।**

§ २९२. तत्थ सचित्तपाहुडं णाम जहा कोसल्लियभावेण पट्ठविज्जमाणा हयगय-विलयायिया । अचित्तपाहुडं जहा मणि-कणय-रयणाईणि उवायणाणि । मिस्सयपाहुडं जहा ससुवण्णकरितुरयाणं कोसल्लियपेसणं ।

§ २९३. आगमदो भावपाहुडं सुगमं त्ति तमभणिय णोआगमभावपाहुडसरूव-परूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

*** णोआगमदो भावपाहुडं दुविहं, पसत्थमप्पसत्थं च ।**

§ २९४. आणंदहेउदव्वपट्ठवणं पसत्थभावपाहुडं । वइरकलहादिहेउदव्वपट्ठवणम-प्पसत्थभावपाहुडं । कथं दव्वस्स पसत्थापसत्थभाववएसो ? ण; पसत्थापसत्थभाव-

---

नोआगम द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपके कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

*** तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा पाहुड तीन प्रकारका है सचित्त अचित्त और मिश्र ।**

२९२. इस तीन पाहुडोंमेंसे उपाहाररूपसे भेजे गये हाथी, घोड़ा और स्त्री आदि सचित्त पाहुड हैं । भेंटस्वरूप दिये गये मणि, सोना और रत्न आदि अचित्तपाहुड हैं । स्वर्णके साथ हाथी और घोड़ेका उपहाररूपसे भेजना मिश्रपाहुड है ।

विशेषार्थ–तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेप कर्म और नोकर्मके भेदसे दो प्रकारका है । इनमेंसे कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपमें कर्मका और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यनिक्षेपमें सहकारी कारणोंका ग्रहण किया जाता है । इस व्याख्याके अनुसार ऊपर जो तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपके सचित्त, अचित्त और मिश्र इसप्रकार तीन भेद किये हैं वे वास्तवमें नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपके समझना चाहिये ।

§ २९३. आगमभावपाहुडका स्वरूप सुगम है इसलिये उसे न कहकर नोआगम-भावपाहुडके स्वरूपके कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

***प्रशस्तनोआगमभावपाहुड और अप्रशस्तनोआगमभावपाहुडके भेदसे नोआगम भावपाहुड दो प्रकारका है ।**

§ २९४. आनन्दके कारणभूत द्रव्यका उपहाररूपसे भेजना प्रशस्तनोआगमभाव-पाहुड है । तथा वैर और कलह आदिके कारणभूत द्रव्यका उपहाररूपसे भेजना अप्रशस्त-नोआगमभावपाहुड है ।

शंका–द्रव्यको प्रशस्त और अप्रशस्त ये संज्ञाएं कैसे प्राप्त हो सकती हैं ?

समाधान–ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि द्रव्य प्रशस्त और अप्रशस्त

णिमित्तस्स दव्वस्स उवयारेण पसत्थापसत्थभाववयणसाविरोहादो। ओवयारियभावेण विणा मुहियभावपाहुडस्स उदाहरणं किण्ण उच्चदे ? ण; तप्पेसणोवायाभावादो। एदेसिमुदाहरणपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

*** पसत्थं जहा दोगंधियं पाहुडं।**

§ २९५. परमाणंदाणंदमेत्तीणं 'दोगंधिय' इत्ति ववएसो, तेसिं कारणदव्वाणं पि उवयारेण 'दोगंधिय' ववएसो। तत्थ आणंदमेत्तीणं पट्ठवणाणुववत्तीदो तण्णिमित्तदव्व-

भावोंके होनेमें निमित्त होता है, इसलिये उपचारसे द्रव्यको भी प्रशस्त और अप्रशस्त संज्ञा देनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका–यहां औपचारिक नोआगमभावपाहुडकी अपेक्षा न करके मुख्य नोआगमभावपाहुडका उदाहरण क्यों नहीं कहा है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि मुख्य नोआगमभावपाहुड भेजा नहीं जा सकता है, इसलिये यहां औपचरिक नोआगम भावपाहुडका उदाहरण दिया गया है।

विशेषार्थ–नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपमें सहकारी कारणोंका ग्रहण किया जाता है और नोआगमभावनिक्षेपमें वर्तमान पर्यायका ग्रहण किया जाता है। इस व्याख्याके अनुसार प्रकृतमें नोआगमभावपाहुडके भेद प्रशस्त और अप्रशस्त पाहुडको वतलाते समय आनन्द और द्वेषरूप पर्यायका उपहार या भेटरूपसे कथन करना चाहिये था। पर ऐसा न करके चूर्णिसूत्रकारने आनन्द और द्वेषकी कारणभूत सामग्रीका प्रशस्त और अप्रशस्त नोआगमभावपाहुडरूपसे कथन किया है जो किसी भी हालतमें उपयुक्त नहीं है क्योंकि ये उदाहरण नोआगमभावपाहुडके न होकर नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम द्रव्यपाहुडके हो जाते हैं। इसका जयधवलाकारने जो उत्तर दिया है वह निम्नप्रकार है। यद्यपि यह ठीक है कि नोआगमभावमें वर्तमान पर्याय या उससे उपलक्षित द्रव्यका ग्रहण किया जाता है फिर भी यहां मुख्य नोआगमभावपाहुडका, जो कि आनन्द और कलहरूप पड़ता है, उपहाररूपमें अन्यके पास भेजना नहीं वन सकता है, इसलिये प्रकृतमें मुख्य नोआगमभावपाहुडका ग्रहण न करके उसके कारणभूत द्रव्यका नोआगमभावपाहुडरूपसे ग्रहण किया है।

अव प्रशस्त और अप्रशस्त नोआगमभावपाहुडके उदाहरणोंके कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

*** प्रशस्तनोआगमभावपाहुड, जैसे, दोग्रन्थरूप पाहुड।**

§ २९५. परमानन्द और आनन्दमात्रकी 'दो ग्रन्थ' यह संज्ञा है। किन्तु यहाँ परमानन्द और आनन्दके कारणभूत द्रव्योंको भी उपचारसे 'दो ग्रन्थ' संज्ञा दी है। उनमेंसे केवल परमानन्द और आनन्दरूप भावोंका भेजना वन नहीं सकता है, इसलिये उनके

पट्ठवणं दोगंधियपाहुडं। तत्थ दोगंधियपाहुडं दुविहं–परमाणंदपाहुडं, आणंदमेत्तिपाहुडं चेदि। तत्थ परमाणंददोगंधियपाहुडं जहा, जिणवइणा केवलणाणदंसणति(वि)लोयणेहि पयासियासेसभुवणेण उज्झियरायदोसेण भव्वाणमणवज्जबुहाइरियपणालेण पट्ठविद-दुवालसंगवयणकलावो तदेगदेसो वा। अवरं आणंदमेत्तिपाहुडं।

* अप्पसत्थं जहा कलहपाहुडं।

§ २६६. कलहणिमित्तगद्दह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो, तस्स विसज्जणं कलहपाहुडं। एदेसु पाहुडेसु केण पाहुडेण पयदं ? दोगंधियपाहुडेण सग्गापवग्गाणं-दकारणेण।

* संपहि णिरुत्ती उच्चदे।

§ २६७. प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यै-र्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्। अनेकार्थत्वाद्धातूनां

निमित्तभूत द्रव्योंका भेजना दोग्रन्थिक पाहुड समझना चाहिये। परमानन्दपाहुड और आनन्दपाहुडके भेदसे दोग्रन्थिक पाहुड दो प्रकारका है। उनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन-रूप नेत्रोंसे जिसने समस्त लोकको देख लिया है, और जो राग और द्वेषसे रहित है ऐसे जिन भगवान्के द्वारा निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्योंकी परंपरासे भव्यजनोंके लिये भेजे गये बारह अंगोंके वचनोंका समुदाय अथवा उनका एकदेश परमानन्द दोग्रन्थिकपाहुड कहलाता है। इससे अतिरिक्त शेष जिनागम आनन्दमात्रपाहुड है।

* अप्रशस्त नोआगमभावपाहुड, जैसे, कलहपाहुड।

§ २६६. गधा, जीर्ण वस्तु और विष आदि द्रव्य कलहके निमित्त हैं इसलिये उपचारसे इन्हें भी कलह कहते हैं। इस कलहके निमित्तभूत द्रव्यका भेजना कलहपाहुड कहलाता है।

शंका–इन प्रशस्त और अप्रशस्त पाहुडोंमेंसे प्रकृतमें किस पाहुडसे प्रयोजन है ?

समाधान–स्वर्ग और मोक्षसम्बन्धी आनन्दके कारणरूप दोग्रन्थिकपाहुडसे प्रकृतमें प्रयोजन है।

* अब पाहुड शब्दकी निरुक्ति कहते हैं।

§ २६७. जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकरके द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा, जिनके विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परंपरारूपसे लाया गया है वह प्राभृत है। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं इसलिये 'भृञ्' धातुका प्रस्थापित करना, धारण करना, व्याख्यान करना और लाना इतने अर्थोंमें होना विरोधको प्राप्त नहीं होता है। अथवा उप-सर्गके निमित्तसे इस 'भृञ्' धातुके अनेक अर्थ हो जाते हैं। यहां उपयोगी श्लोक देते हैं–

(१)–वयणा के–अ०, आ०। (२)–खेजयादि–स०।

नैतेष्वर्थेष्वस्य धातोर्वृत्तिर्विरुद्धा । उपसर्गसम्पातेन वाऽस्यानेकार्थता । अत्रोपयोगी श्लोकः–

"कश्चिद् मृद्नाति धात्वर्थं कश्चित्तमनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्टयन्यो [1]गीनां च त्रिविधा गतिः[2] ॥१२८॥"

§ २९८. संपहि जइवसहाइरियो णिरुत्तीसुत्तं भणइ ।

※ **पाहुडे त्ति का णिरुत्ती ? जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं ।**

§ २९९. पदाणि त्ति भणिदे मज्झिमत्थपदाणं गहणं कायव्वं । एदेहि पदेहि पुदं (फुडं) वत्तं सुगममिदि पाहुडं ।

"कीरइ पयाण काण वि आईमज्झंतवण्णसरलोवो ॥१२९॥"

त्ति दकारस्स लोवो कायव्वो

"एऐ छच्च समाणा दोण्णि अ संज्झक्खरा सरा अट्ठ ।
अण्णोण्णस्सविरोहा उवेंति सव्वे समाएसं ॥१३०॥"

"कोई उपसर्ग धातुके अर्थको बदल देता है, कोई धातुके अर्थका अनुसरण करता है और कोई धातुके अर्थमें विशेषता लाता है । इसप्रकार उपसर्गोंकी तीन प्रकारसे प्रवृत्ति होती है ॥१२८॥"

§ २९८. अब यतिवृषभ आचार्य पाहुडके निरुक्ति सूत्रको कहते हैं–

※ **पाहुड इस शब्दकी क्या निरुक्ति है ? चूंकि जो पदोंसे स्फुट अर्थात् व्यक्त है इसलिये वह पाहुड कहलाता है ।**

§ २९९. सूत्रमें 'पद' ऐसा कहनेसे मध्यमपद और अर्थपदोंका ग्रहण करना चाहिये। इन पदोंसे जो स्फुट अर्थात् व्यक्त या सुगम है वह पाहुड (पद+स्फुट) कहलाता है ।

"किन्हीं भी पदोंके आदि, मध्य और अन्तमें स्थित वर्ण और स्वरका लोप होता है ॥१२९॥"

इस नियमके अनुसार पदके दकारका लोप कर देना चाहिये । इसप्रकार दकारका लोप कर देने पर पअ+स्फुट रह जाता है। तब–

"अ, आ, इ, ई, उ और ऊ ये छह स्वर समान हैं । तथा ए और ओ ये दोनों सन्ध्यक्षर हैं । इसप्रकार ये आठों स्वर अविरोध भावसे एक दूसरेके स्थानमें आदेशको प्राप्त होते हैं ॥१३०॥"

---

(१) "क्रियायोगं गि । क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति··"–जैनेन्द्र० महा० १।२।१२९ । (२) गतः अ०, आ० । तुलना–"धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्टयन्योऽनर्थकोऽन्यः प्रयुज्यते ॥"–प्रा० गु० पृ० १०३ । (३) ध० सं० पु० १३३ । (४) यकार–स० । (५) ध० आ० प० ७८९ । (६) "लृदन्ताः समानाः ।"–सिद्धहेम० १।१।७ । (७) "ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ।" –सिद्धहेम० १।१।८ ।

त्ति दीहो पयारो कायव्वो ।

"दीसंति दोण्णि वण्णा संजुत्ता अहव तिण्णि चत्तारि ।
ताणं दुव्वललोवं काऊण कमो पओत्तव्वो ॥१३१॥"

एदीए गाहाए सयारलोओ कायव्वो ।

"वग्गे वग्गे आई अवट्ठिया दोण्णि दोण्णि जे वण्णा ।
ते णियय-णिययवग्गे तइअत्तणयं उवणमंति ॥१३२॥"

एदीए गाहाए फयारस्स भयारो, टयारस्स डयारो कायव्वो । "ख-घ-ध-भ-सा उण हत्तं ॥१३३॥" एदीए गाहाए भयारस्स हयारे कये पाहुडं त्ति सिद्धं । कसायविसयं सुदणाणं कसाओ तस्स पाहुडं कसायपाहुडं । कसायविसयपदेहि पुडं (फुडं) वत्तव्वमिदि वा कसायपाहुडं सुदमिदि के वि पढंति तेसिं पि ण दोसो; पदेहि भरिदमिदि णिद्देसादो । एवं

इस नियमके अनुसार पकारको दीर्घ कर देना चाहिये । इसप्रकार पकारको दीर्घ करने पर पा+स्फुट रह जाता है । तब–

"जिस पदमें दो, तीन या चार वर्ण संयुक्त दिखाई दें उसमेंसे दुर्बल वर्णका लोप करके शेषका प्रयोग क्रमसे करना चाहिये ॥१३१॥"

इस गाथानियमके अनुसार स्फुटके सकारका लोप कर देना चाहिये । ऐसा करने पर पा+फुट रह जाता है । तब–

"कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग इन प्रत्येक वर्गके आदिमें स्थित जो दो दो वर्ण अर्थात् क, ख, च, छ, ट ठ, त थ, और प फ हैं वे अपने अपने वर्गमें अपनेसे तीसरे वर्णपनेको क्रमसे प्राप्त होते हैं ॥१३२॥"

इस गाथाके नियमानुसार फुट शब्दमेंके फकारको भकार और टकारको डकार कर देना चाहिये । ऐसा करने पर 'पाभुड' हुआ । अनन्तर "ख, घ, ध, भ और स को ह हो जाता है ॥१३३॥" इस गाथाके नियमानुसार 'पाभुड' के भकारको हकार कर देने पर 'पाहुड' शब्द बन जाता है । यहां कषायविषयक श्रुतज्ञानको कषाय कहा है और उसके पाहुडको कषायपाहुड कहा है । कसायपाहुड पदकी पूर्वोक्त व्युत्पत्तिके स्थानमें 'कसायविसयपदेहि फुडं' यह व्युत्पत्ति कहनी चाहिये । तब जाकर कषायपाहुड शब्द बनता है जिसका अर्थ जो कषायविषयक पदोंसे भरा है वह कषायपाहुड श्रुत है ऐसा होता है । ऐसा कितने ही आचार्य व्याख्यान करते हैं पर उनका इसप्रकार व्याख्यान करना भी दोषरूप नहीं है, क्योंकि उनके अभिप्रायानुसार जो पदोंसे भरा हुआ है वह प्राभृत कहलाता है ऐसा निर्देश

(१)–णमंते स० । (२) पयार–अ०, आ०, स० । (३) उयार–अ०, आ०, स० । (४) दयार–स० ता० । (५) "खघथधभाम् ।"–हेम० प्रा० व्या ८।१।१८७ । त्रिविक्रम० १।३।२० । (६) पुदं अ० आ० । पुदडं स० । (७) पुडं–ता० ।

पेज्जदोसपाहुडस्स वि समासो दरिसेयव्वो । एवमुवक्कमो समत्तो ।

है । जिसप्रकार कषायपाहुडका समास दिखला आये हैं उसीप्रकार पेज्जपाहुड और दोषपाहुडका भी समास दिखलाना चाहिये ।

इसप्रकार उपक्रमका कथन समाप्त हुआ ।

विशेषार्थ–जितने प्राकृत व्याकरण हैं उनमें संस्कृत शब्दोंसे प्राकृत शब्द बनानेके नियम दिये हैं । ऊपर चूर्णिसूत्रकारने जो 'पाहुड' शब्दकी निरुक्ति की है । उसमें भी पद और स्फुट इन दो शब्दोंको मिलाकर पाहुड शब्द बनाया है । जिसका अर्थ जो पदोंसे स्फुट अर्थात् व्यक्त या सुगम हो उसे पाहुड कहते हैं यह होता है । पाहुडका संस्कृतरूप प्राभृत है । जिसका उल्लेख वीरसेनस्वामीने ऊपर किया है । पद+स्फुटसे पाहुड शब्द निष्पन्न करते समय वीरसेनस्वामीने प्राकृतव्याकरणसंबन्धी प्राचीन पांच गाथाओंका निर्देश किया है । पहली गाथामें यह बताया है कि जिस पदके आदि, मध्य और अन्तमें वर्ण या स्वर न हो उसका वहां लोप समझ लेना चाहिये । इस नियमके अनुसार प्राकृतमें कहीं कहीं विभक्तिका भी लोप हो जाता है । जैसे, जीवट्ठाणके 'संतपरूवणा' अनुयोगद्वारसम्बन्धी 'गइ इंदिए काए' इत्यादि सूत्रमें 'गइ' पदमें विभक्तिका लोप इसी नियमके अनुसार हुआ है । दूसरी गाथामें स्वरसंबन्धी नियमोंका उल्लेख किया है । सिद्ध हेमव्याकरणमें अ से लेकर ऌ तकके स्वरोंकी समान संज्ञा बताई है । पर प्राकृतमें ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर नहीं होते हैं अतः इस गाथामें अ आ इ ई उ और ऊ इन छह स्वरोंको ही समान कहा है । तथा सिद्धहेमव्याकरणमें ए ऐ ओ औ इन चार स्वरोंकी सन्ध्यक्षर संज्ञा की है । पर प्राकृतमें 'ऐ औ' ये स्वर नहीं हैं अतः इस गाथामें ए और ओ इन दोकी ही सन्ध्यक्षरसंज्ञा की है । अनन्तर गाथामें बताया है कि ये आठों स्वर परस्पर एक दूसरेके स्थानमें आदेशको प्राप्त होते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि संस्कृत शब्दसे प्राकृत शब्द निष्पन्न करते समय प्राकृतके प्रयोगानुसार किसी भी एक स्वरके स्थानमें कोई दूसरा स्वर हो जाता है । तीसरी गाथामें संयुक्त वर्णके लोपका नियम दिया है । ऐसे बहुतसे शब्द हैं जिनमें संस्कृत उच्चारण करते समय एक, दो आदि संयुक्त वर्ण पाये जाते हैं पर प्राकृत उच्चारणमें वे नहीं रहते । इस गाथामें इसीकी व्यवस्था की है । चौथी गाथामें यह बताया है कि प्रत्येक वर्गके पहले और दूसरे अक्षरके स्थानमें क्रमशः तीसरा और चौथा वर्ण हो जाता है । यह सामान्य नियम है । इसके अपवाद नियम भी बहुतसे पाये जाते हैं । पांचवी गाथाका केवल एक पाद ही उद्धृत किया गया है । इसमें यह बतलाया है कि किन अक्षरोंके स्थानमें ह हो जाता है । इस गाथांशमें ऐसे अक्षर ख घ ध भ और स ये पांच बताये हैं । यद्यपि अन्य प्राकृत व्याकरणोंमें ख घ थ ध और भ के स्थानमें ह होता है ऐसा सामान्य नियम आता है । और दिवस आदि शब्दोंमें स के स्थानमें ह

§ ३००. संपहि जइवसहाइरिएहि सुगमाओ त्ति जाओ ण वक्खाणिदाओ अद्धा-परिमाणणिद्देसगाहाओ तासिमत्थपरूवणा कीरदे। पढमं चेव अद्धापरिमाणणिद्देसो किमट्ठं कीरदे? ण; एदासु अद्धासु अणवगयासु सयलत्थाहियारविसयअवगमाणुववत्तीदो। तेण अद्धापरिमाणणिद्देसो पुव्वं चेव उच्चदे। तत्थ छसु गाहासु एसा पढमगाहा–

होनेका अपवाद नियम भी आता है पर उनमें स के स्थानमें ह करनेका सामान्य नियम नहीं मिलता। यहां उपर्युक्त नियमानुसार पद और स्फुट शब्दसे पाहुड शब्द बना कर अनन्तर उसका कषाय शब्दके साथ षष्ठी तत्पुरुष समास किया है। पर कितने ही आचार्य इसके स्थानमें 'कसायविसयपदेहि फुडं कसायपाहुडं' ऐसा कहते हैं। पहली निरुक्तिके अनुसार पाहुड शब्दका अर्थ शास्त्र और कसाय शब्दका अर्थ कषायविषयक श्रुतज्ञान करके अनन्तर इन दोनों पदोंका समास किया गया है। पर दूसरी निरुक्तिमें पहले कसाय और पदका समास कर लिया गया है और अनन्तर उसे फुड शब्दसे जोड़कर कसायपाहुड शब्द बनाया है। इस विषयमें वीरसेनस्वामीका कहना है कि यदि इसप्रकार भी कसायपाहुड शब्द निष्पन्न किया जाय तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि इसप्रकारकी निरुक्तिमें 'जो कषाय-विषयक पदोंसे भरा हुआ हो उस श्रुतको कसायपाहुड कहते हैं' कसायपाहुड शब्दका यह अर्थ हो जाता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि भृत शब्दसे फुड कैसे बनाया जाता है। चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रमें 'फुडं' पद ही रखा है इसलिये यह प्रश्न उत्पन्न होता है। क्योंकि वीरसेनस्वामीने जो आचार्यान्तरोंका अभिप्रायान्तर दिया है वह चूर्णिसूत्रके अनुसार निरुक्तिके विषयमें ही अभिप्रायान्तर समझना चाहिये। और इसलिये भृत शब्दसे फुड शब्द बनानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। यद्यपि व्याकरणके सामान्य नियमोंमें चतुर्थ अक्षर भ के स्थानमें द्वितीय अक्षर फ के होनेका कोई नियम नहीं मिलता है पर चूलिका पैशाचीमें भ के स्थानमें फ अक्षरके होनेका भी नियम पाया जाता है। संभव है इसीप्रकारके किसी नियमके अनुसार यहां भी भ के स्थानमें फ करके दूसरे आचार्य फुड का अर्थ भृत करते हों और उसीका उल्लेख यहां वीरसेन स्वामीने किया हो। जिसप्रकार ऊपर कसायपाहुड पदमें दो प्रकारसे समास किया है उसीप्रकार पेज्जदोसपाहुड पदमें भी दो प्रकारसे समास कर लेना चाहिये।

§ ३००. यतिवृषभ आचार्यने सुगम समझकर अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली जिन गाथाओंका व्याख्यान नहीं किया है अब उन गाथाओंके अर्थका प्ररूपण करते हैं।

शंका–सबसे पहले अद्धापरिमाणका निर्देश किसलिये किया है?

समाधान–क्योंकि इन कालोंके न जानने पर समस्त अर्थाधिकारोंके विषयका ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये अद्धापरिमाणका कथन सबसे पहले किया है।

(१)–सिताढप–अ०, आ०।–सिमढप–ता०।

आवलिय अणायारे चक्खिंदिय-सोद-घाण-जिब्भाए ।
मण-वयण-काय-पासे अवाय-ईहा-सुदुस्सासे ॥१५॥

§ ३०१. एदिस्से अत्थो उच्चदे-'आवलिय' इत्ति भणिदे अप्पाबहुअपयाणमोलि त्ति घेत्तव्वं। अप्पाबहुअपयाणि कमेण चेव उच्चंति; अक्कमेण भणणोवायाभावादो, तेण आवलिग्गहणं ण कायव्वमिदि तो क्खहिं एवं घेत्तव्वं एदेसिं सव्वपदाणद्धा(द्धा)ओ मुहुत्तदिवसादिपमाणाओ ण होंति; किंतु संखेज्जावलियमेत्ताओ होंति त्ति जाणावणट्ठं 'आवलिय' णिद्देसो कदो। 'एगावलिया' त्ति किण्ण घेप्पदे ? ण; बहुवयणणिद्देसेण तासिमाव-

---

अद्धापरिमाणका कथन छह गाथाओंमें है उनमेंसे यह पहली गाथा है-

अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोगका जघन्य काल आगे कहे जानेवाले स्थानोंकी अपेक्षा सबसे थोड़ा है जो संख्यात आवलीप्रमाण है। इससे विशेष अधिक चक्षु इन्द्रियावग्रहका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक श्रोत्रावग्रहका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक घ्राण अवग्रहका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक जिह्वावग्रहका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक मनोयोगका जघन्यकाल है। इससे विशेष अधिक वचनयोगका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक काययोगका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक स्पर्शनेन्द्रियावग्रहका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक किसी भी इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाले अवाय ज्ञानका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक किसी भी इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाले ईहाज्ञानका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक श्रुतज्ञानका जघन्य काल है। इससे विशेष अधिक श्वासोच्छ्वासका जघन्य काल है॥ १५ ॥

§ ३०१. इस गाथासूत्रका अर्थ कहते हैं। गाथामें आये हुये 'आवलिय' पदसे जिन स्थानोंमें कालका अल्पबहुत्व बतलाया है उन स्थानोंकी पंक्ति लेना चाहिये।

शंका-अल्पबहुत्वके स्थान क्रमसे ही कहे जायंगे, क्योंकि उनके एकसाथ कथन करनेका कोई उपाय नहीं है, इसलिये गाथामें आवलिय पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये ? अर्थात् उन स्थानोंकी आवलि अर्थात् पंक्ति तो स्वतः ही सिद्ध है, क्योंकि उनका कथन क्रमसे ही किया जा सकता है, अतः ऐसी अवस्थामें आवलि पद देना व्यर्थ है।

समाधान-यदि ऐसा है तो आवलिपदका अर्थ इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये-अल्पबहुत्वके इन समस्त स्थानोंके कालका प्रमाण मुहूर्त और दिवस आदि नहीं है, इस बातका ज्ञान करानेके लिये गाथामें 'आवलिय' पदका निर्देश किया है।

शंका-यहां एक आवलीका ग्रहण क्यों नहीं किया ?

समाधान-नहीं, क्योंकि 'आवलिय' पदमें बहुवचनका निर्देश होनेके कारण वे आवलियां बहुत सिद्ध होती हैं।

लियाणं वहुत्तसिद्धीदो। 'अणायारे'-पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारो णाम 'दंसणुवजोगो' त्ति भणिदं होदि। तम्मि अणायारे अद्धा जहण्णा वि अत्थि उक्कस्सा वि। तत्थ जा जहण्णा सा उवरि भण्णमाणसव्वद्धाहिंतो थोवा त्ति संबंधो कायव्वो। उक्कस्सा ण होदि त्ति कुदो णव्वदे? 'णिव्वाघादेणेदा होंति जहण्णाओ' त्ति पुरदो भण्णमाणगाहावयवादो। एतदप्पाबहुअमद्धाविसयमिदि कुदो णव्वदे? 'कोधद्धा माणद्धा' त्ति एत्थट्ठिदअद्धासद्दाणुउत्तीदो। एसा जहण्णिया अणायारद्धा तीसु वि दंसणेसु केवलदंसणवज्जिएसु संभवइ। तं कथं णव्वदे? अविसेसिदूण परूवणादो।

§ ३०२. 'चक्खिंदिय-सोद-घाण-जिब्भाए' चक्खिंदियं ति उत्ते चक्खिंदियजणिद-

---

प्रमाणसे पृथग्भूत कर्मको आकार कहते हैं। अर्थात् प्रमाणमें अपनेसे भिन्न वहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है उसे आकार कहते हैं। वह आकार जिस उपयोगमें नहीं पाया जाता है वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग कहलाता है। उस अनाकार उपयोगमें काल जघन्य भी होता है और उत्कृष्ट भी होता है। उसमें जो जघन्य काल पाया जाता है वह आगे कहे जानेवाले समस्त कालोंसे अल्प है, ऐसा यहां सम्वन्ध कर लेना चाहिये।

शंका—यहां अनाकार उपयोगमें जो काल कहा गया है वह उत्कृष्ट नहीं है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

समाधान—'णिव्वाघादेणेदा होंति जहण्णाओ' अर्थात् अनाकार उपयोगसे लेकर क्षपक तक चार गाथाओंके द्वारा जितने स्थान वतलाये हैं वे सव व्याघातके विना जघन्य काल हैं, इसप्रकार आगे कहे जानेवाले गाथाके अंशसे यह जाना जाता है कि अनाकार उपयोगमें यहां जो काल वतलाया है वह उत्कृष्ट काल नहीं है किन्तु जघन्य काल है।

शंका—यहां जो अल्पवहुत्व वतलाया है वह कालकी अपेक्षासे वतलाया है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

समाधान—'कोधद्धा माणद्धा' इस गाथा पदमें आये हुए अद्धा शब्दकी अनुवृत्तिसे जाना जाता है कि यहां जो अल्पवहुत्व वतलाया है वह कालकी अपेक्षासे है।

अनाकार उपयोगका यह जघन्य काल केवलदर्शनके सिवा शेष तीनों दर्शनोंमें पाया जाता है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—चूँकि विशेषता न करके सामान्य दर्शनोपयोगमें कालका प्ररूपण किया है। इससे जाना जाता है कि यहां केवलदर्शनके विना शेष तीन दर्शनोंका ग्रहण किया है।

§ ३०२. 'चक्खिंदियसोदघाणजिब्भाए' इस पदमें चक्षु इन्द्रिय ऐसा कहनेसे चक्षु

णाणस्स गहणं। कुदो ? कज्जे कारणोवयारादो। उवरि ईहावायणाणणिद्देसादो एत्थोग्गहणाणस्स गहणं कायव्वं। किमोग्गहणाणं णाम ? विसयविसयिसंपायसमणंतरमुप्पण्णणाणमोग्गहो। धारणाए गहणं किण्ण होदि ? ण; विसयविसयिसंपायसमणंतरं तदुप्पत्तीए अणुवलंभादो। ण च अंतरियउप्पण्णं णाणमिंदियजणियं होइ; अव्ववत्थावत्तीदो। धारणाए अवायंतब्भावेण पुध परूवणाभावादो वा ण तिस्से गहणं। कालंतरे संभरणणिमित्तसंसकारहेउणाणं धारणा, तव्विवरीयं णिण्णयणाणमवाओ त्ति अत्थि तेसिं भेदो, तेण ण धारणा अवाए पविसदि त्ति उत्ते; होउ तेण भेदो ण णिण्णयभावेण; दोसु वि तदुवलं-

इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय कारण है और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान कार्य है, इसलिये कार्यमें कारणका उपचार कर लेनेसे चक्षु इन्द्रियसे चक्षु इन्द्रियद्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानका ग्रहण करना चाहिये। तथा आगे ईहाज्ञान और अवायज्ञानका उल्लेख किया है, इसलिये यहां ईहा और अवाय ज्ञानका ग्रहण न करके अवग्रह ज्ञानका ग्रहण करना चाहिये।

शंका–अवग्रहज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान–विषय और विषयीके संपात अर्थात् योग्य देशमें स्थित होनेके अनन्तर उत्पन्न हुए ज्ञानको अवग्रह ज्ञान कहते हैं।

शंका–यहां चक्षुइन्द्रिय आदि पदोंसे धारणा ज्ञानका ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि विषय और विषयीके संपातके अनंतर ही धारणा ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं पाई जाती है अर्थात् धारणा ज्ञान उसके बाद कुछ अन्तरालसे होता है। और अन्तरालसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रियजनित नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्थाकी आपत्ति प्राप्त होती है। अथवा, धारणाज्ञानका अवायज्ञानमें अन्तर्भाव हो जानेके कारण उसका यहां पृथक् कथन नहीं किया है, इसलिये भी यहां उसका ग्रहण नहीं होता है।

शंका–जो संस्कार कालान्तरमें स्मरणका निमित्त है उसके कारणरूप ज्ञानको धारणा कहते हैं और इससे विपरीत केवल निर्णयस्वरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं, इसलिये इन दोनों ज्ञानोंमें भेद है। अतः अवायमें धारणाका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान–धारणा स्मरणके कारणभूत संस्कारका हेतु है और दूसरा ज्ञान ऐसा नहीं है इस रूपसे यदि दोनोंमें भेद है तो रहे, पर निर्णयरूपसे दोनों ज्ञानोंमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही ज्ञानोंमें निर्णय पाया जाता है, इसलिये अवायमें धारणाका अन्तर्भाव कर लेनेमें कोई दोष नहीं आता है।

(१) "विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः।"–सर्वार्थ० १।१५। अकलंक० टि० पृ० १३४। (२)–भावा ण स०।

भादो। "कालमसंखं संखं च धारणा ॥१३४॥" त्ति सुत्तवयणादो कालभेओ वि अत्थि चे; ण एसो धारणाए कालो किंतु धारणाजणिदसंसकारस्स, तेण ण तेसिं कालभेओ। कज्जभेएण कारणभेओ तं किज्जइ त्ति चे; होउ भेओ, किंतु ण सो एत्थ गुणहराइरिएण विवक्खिओ। अविवक्खिओ त्ति कथं णव्वदे? तदद्धप्पाबहुअणिद्देसाभावादो। तदो ओग्गहणाणस्सेव एत्थ गहणं कायव्वं। 'अद्धा' त्ति, 'जहण्णिया' त्ति पुव्वं व अणुवट्टदे, तेणेवं सुत्तत्थो वत्तव्वो-दंसणोवजोगजहण्णद्धादो चक्खिदियओग्गहणाणस्स जहण्णद्धा

शंका–'कालमंसंखं संखं च धारणा' अर्थात् असंख्यात अथवा संख्यात काल तक धारणा होती है ॥१३४॥" इस सूत्रके अनुसार अवाय और धारणा इन दोनों ज्ञानोंमें कालभेद भी पाया जाता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि उक्त सूत्रमें जो धारणाका काल कहा है वह धारणाका नहीं है किन्तु धारणाज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारका है, इसलिये उक्त दोनों ज्ञानोंमें कालभेद नहीं है।

शंका–कार्यके भेदसे कारणमें भेद पाया जाता है। इस नियमसे धारणा और अवाय ज्ञानमें भेद हो जायगा?

समाधान–इसप्रकार यदि दोनों ज्ञानोंमें भेद प्राप्त होता है तो होओ, किन्तु गुणधर आचार्यने उसकी यहां विवक्षा नहीं की है।

शंका–कार्यके भेदसे अवाय और धारणामें जो भेद है उसकी यहाँ गुणधर आचार्यने विवक्षा नहीं की यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–क्योंकि, धारणाके कालके अल्पबहुत्वका निर्देश उक्त गाथामें नहीं पाया जाता है, इससे जाता है कि कार्यके भेदसे अवाय और धारणामें जो भेद है उसकी गुणधर आचार्यने विवक्षा नहीं की है।

इसलिये प्रकृतमें चक्षुरिन्द्रिय पदसे धारणाका ग्रहण न करके तत्सम्बधी अवग्रहज्ञानका ही ग्रहण करना चाहिये।

जिसप्रकार अद्धा और जघन्य पदकी अनाकार उपयोगमें अनुवृत्ति हुई है उसीप्रकार यहां भी उक्त पदोंकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये इसप्रकार सूत्रका अर्थ कहना चाहिये–दर्शनोपयोगके जघन्य कालसे चक्षुइन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानका जघन्य काल विशेष अधिक है।

---

(१) "कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा।"–आ० नि० गा० ४। नन्दी० सू० ३४। (२) "अर्पितस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा"–सर्वार्थ० १।१५। "महोदये च कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम्" "अनन्तवीर्योऽपि तथा निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति।"–स्या० रत्ना० पृ० ३४९। अकलंक० टि० पृ० १३५।

विसेसाहिया त्ति । विसेसाहियत्तं कुदो णव्वदे ? 'सेसा हु सविसेसा' त्ति वयणादो ।

§ ३०३. 'सोद'–सोदिंदियजणिदोग्गहणाणं सोदमिदि घेत्तव्वं । कुदो ? कज्जे कारणुवयारादो । जहण्णद्धाविसेसाहियभावा पुव्वं व सव्वसुत्तेसु अहिसंबंधेयव्वा । तदो सोदिंदियओग्गहणाणस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया त्ति सिद्धं । विसेसाहियत्तं कथं णव्वदे ? एदम्हादो चेव सुत्तादो । ण च पमाणं पमाणंतरमवेक्खदे; अणवत्थावत्तीदो ।

§ ३०४. 'घाण'–घाणिंदियउप्पण्णओग्गहणाणमुवयारेण घाणं णाम । तत्थ जा जहण्णिया अद्धा सा विसेसाहिया । सेसं सुगमं । 'जिब्भाए'–जिब्भिदियजणिदओग्गहणाणमुवयारेण जिब्भा, तिस्से जा जहण्णिया अद्धा सा विसेसाहिया । 'मण-वयण-

शंका–दर्शनोपयोगके जघन्य कालसे चक्षु इन्द्रियजनित अवग्रहका जघन्य काल विशेष अधिक है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–'सेसा हु सविसेसा' अर्थात् शेषका काल विशेष अधिक है इस गाथा वचनसे जाना जाता है कि दर्शनोपयोगके जघन्य कालसे चक्षुइन्द्रियजनित अवग्रहका जघन्य काल विशेष अधिक है ।

§ ३०३. श्रोत्र पदसे श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ अवग्रहज्ञान ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि श्रोत्र कारण है और श्रोत्रइन्द्रियजन्य ज्ञान कार्य है । इसलिए कार्य में कारणका उपचार करके श्रोत्र इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी श्रोत्र कहलाता है । जघन्य काल और विशेषाधिकभावका जहाँ तक अधिकार है वहां तक सभी सूत्रोंमें पहलेके समान इन दोनोंका सम्बन्ध कर लेना चाहिये । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चक्षु इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके जघन्य कालसे श्रोत्रइन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानका जघन्य काल विशेष अधिक है ।

शंका–पूर्वज्ञानके कालसे इस ज्ञानका काल विशेष अधिक है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–इसी सूत्रसे जाना जाता है कि पूर्वज्ञानके कालसे इस ज्ञानका काल विशेष अधिक है ।

यदि कहा जाय कि इस सूत्रके कथनको प्रमाण सिद्ध करनेके लिये कोई दूसरा प्रमाण देना चाहिये सो भी ठीक नहीं है क्योंकि एक प्रमाण अपनी प्रमाणताके लिये दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता है, यदि ऐसा न माना जाय तो अनवस्था प्राप्त होती है ।

§ ३०४. घ्राण इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानको उपचारसे घ्राण कहते हैं । इस ज्ञानमें जो जघन्य काल पाया जाता है वह श्रोत्र इन्द्रियजन्य अवग्रहके जघन्य कालसे विशेष अधिक है । शेष कथन सुगम है । जिह्वा इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानको उपचारसे जिह्वा कहा है । इस ज्ञानमें जो जघन्य काल पाया जाता है वह घ्राण इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रह ज्ञानके कालसे विशेष अधिक है । जिह्वा इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानके जघन्य कालसे मनोयोगका जघन्यकाल विशेष अधिक है । मनोयोगके जघन्य कालसे

काय-पासे[1]-जिब्भिंदियओग्गहणाणद्धादो मणजोगद्धा जहण्णिया विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया वचिजोगद्धा विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया कायजोगद्धा विसेसाहिया। विसेसपमाणं सव्वत्थ संखेज्जावलियाओ। तं कथं णव्वदे ? गुरूवदेसादो। मण-वयण-कायजोगद्धाओ एगसमयमेत्ताओ वि अत्थि, ताओ एत्थ किण्ण गहिदाओ ? ण; णिव्वाघादे तासिमणुवलंभादो। 'णिव्वाघादद्धाओ चेव एत्थ गहिदाओ' त्ति कथं णव्वदे ? 'णिव्वाघादेणेदा हवंति' त्ति पुरदो भण्णमाणसुत्तावयवादो। पासिंदियजणिदोग्गहणाणमुवयारेण फासो। तम्हि जा जहण्णिया अद्धा सा विसेसाहिया। सव्वत्थ-विसेसपमाणं संखेज्जावलियाओ। णोइंदियओग्गहणाणजहण्णद्धाए अप्पाबहुअं किण्ण

वचनयोगका जघन्यकाल विशेष अधिक है। वचनयोगके जघन्य कालसे काययोगका जघन्य काल विशेष अधिक है। विशेषका प्रमाण सर्वत्र संख्यात आवलियां लेना चाहिये। अर्थात् विशेषाधिकसे उत्तरोत्तर सर्वत्र कालका प्रमाण संख्यात आवली अधिक लेना चाहिये।

शंका–यह कैसे जाना जाता है कि विशेषका प्रमाण सर्वत्र संख्यात आवलियां लेना चाहिये ?

समाधान–गुरुओंके उपदेशसे जाना जाता है।

शंका–मनोयोग, वचनयोग और काययोगका काल एक समयमात्र भी पाया जाता है, उसका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि व्याघातसे रहित अवस्थामें अर्थात् जब किसीप्रकारकी रुकावट नहीं होती तब मनोयोग, वचनयोग और काययोगका काल एक समयमात्र नहीं पाया जाता है।

शंका–यहाँ पर व्याघातसे रहित कालोंका ही ग्रहण किया है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–'णिव्वाघादेणेदा हवंति' अर्थात् व्याघातसे रहित अवस्थाकी अपेक्षा ही ये सब काल होते हैं, इसप्रकार आगे कहे जानेवाले गाथासूत्रके अंशसे यह जाना जाता है कि यहां पर व्याघातसे रहित कालोंका ही ग्रहण किया है। अर्थात् यहां पर जो काल बतलाए हैं वे उस अवस्थाके हैं जब एक ज्ञान या योगके बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं आती है। स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानको यहां पर उपचारसे स्पर्श कहा गया है। इस ज्ञानमें जो जघन्य काल पाया जाता है वह काययोगके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। सर्वत्र विशेषका प्रमाण संख्यात आवलियां लेना चाहिये।

शंका–मनसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रहज्ञानके जघन्य कालका अल्पबहुत्व क्यों नहीं कहा है ? अर्थात् कालोंके अल्पबहुत्वकी इस चर्चामें मनसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह-

(१)-तालो म-स०, अ०।

परूविदं ? ण एस दोसो, जहण्णमणजोगद्धाए अंतब्भावेण तिस्से पुधपरूवणाभावादो।

§ ३०५. 'अवाय-ईहा-सुदुस्सासे' अवायणाणोवजोगजहण्णिया अद्धा पासिंदिय-ओग्गहणाणस्स जहण्णद्धादो विसेसाहिया। एसा अवायणाणजहण्णद्धा सव्विंदिएसु सरिसा। तं कथं णव्वदे ? इंदियं पडि ओग्गहणाणस्सेव पुध परूवणाभावादो।

§ ३०६. ईहाए जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। का ईहा ? ओग्गहणाणग्गहिए अत्थे विण्णाणाउ-पमाण-देस-भासादिविसेसाकंखणमीहा। ओग्गहादो उवरिं अवायादो हेट्ठा जं णाणं विचारप्पयं समुप्पण्णसंदेहछिंदणसहावमीहा त्ति भणिदं होदि। ईहादो उवरिमं णाणं विचारफलप्पयमवाओ। तत्थ जं कालंतरे अविस्सरणहेउसंसकारुप्पाययं णाणं णिण्णयसरूवं सा धारणा। ओग्गहादीणं धारणंताणं चउण्हं पि मइणाणववएसो।

ज्ञान को क्यों नहीं सम्मिलित किया ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मनसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रहज्ञानके जघन्यकालका मनोयोगके जघन्य कालमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये उसका पृथक् कथन नहीं किया है।

§ ३०५. अवाय ज्ञानोपयोगका जघन्य काल स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुए अवग्रह-ज्ञानके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। यह अवाय ज्ञानका जघन्य काल सभी इन्द्रियोंमें समान है। अर्थात् सभी इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए अवायज्ञानका काल बराबर है।

शंका–यह अवायज्ञानका जघन्य काल सभी इन्द्रियोंमें समान होता है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–जिसप्रकार प्रत्येक इन्द्रियके अवग्रहज्ञानका काल अलग अलग कहा है उसप्रकार प्रत्येक इन्द्रियके अवायज्ञानका काल अलग अलग नहीं कहा है। इससे जाना जाता है कि अवायज्ञानका जघन्य काल सभी इन्द्रियोंमें समान होता है।

§ ३०६. ईहाका जघन्यकाल अवायके जघन्यकालसे विशेष अधिक होता है।

शंका–ईहा किसे कहते हैं ?

समाधान–अवग्रह ज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थमें विज्ञान, आयु, प्रमाण, देश, और भाषा आदिरूप विशेषके जाननेकी इच्छाको ईहाज्ञान कहते हैं। अवग्रहज्ञानके पश्चात् और अवायज्ञानके पहले जो विचारात्मक ज्ञान होता है जिसका स्वभाव अवग्रह-ज्ञानमें उत्पन्न हुए संदेहको दूर करना है वह ईहाज्ञान है, ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

ईहाके अनन्तर ईहारूप विचारके फलस्वरूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अवाय-ज्ञान कहते हैं अर्थात् ईहाज्ञानमें विशेष जानने की आकांक्षारूप जो विचार होता है उस विचारके निर्णयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं। अवायज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें काला-न्तरमें अविस्मरणके कारणभूत संस्कारको उत्पन्न करानेवाला जो निर्णयरूप ज्ञान होता है

कुदो ? इंदियजणिदत्तादो, इंदियजणिदणाणेण विसईकयत्थविसयत्तादो च । जदि एवं, तो अणायारस्स वि मदिणाणत्तं पावेदि; एयत्थावलंबणं पडि भेयाभावादो । ण; अंतरंगविसयस्स[1] उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो । तं कथं णव्वदे ? अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो । अव्वत्तग्गहणमणायारग्गहणमिदि किण्ण घेप्पदे ? ण; एवं संते केवलदंसणस्स णिरावरणत्तादो वत्तग्गहणसहावस्स अभावप्पसंगादो । तम्हा विसयविसयिसंपायादो

उसे धारणाज्ञान कहते हैं । अवग्रहसे लेकर धारणातक चारों ही ज्ञान मतिज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि एक तो ये चारों ही ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होते हैं और दूसरे, इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा विषय किये गये पदार्थको ही ये ज्ञान विषय करते हैं; इसलिये ये चारों ज्ञान मतिज्ञान कहलाते हैं ।

शंका–यदि ऐसा है तो अनाकार उपयोग भी मतिज्ञान हो जायगा, क्योंकि इन दोनोंका एक ही पदार्थ आलंवन है । अर्थात् जिस पदार्थको लेकर अनाकार दर्शन होता है उसीको लेकर मतिज्ञान होता है । उसकी अपेक्षासे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं पाया जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार किया है, इसलिये एक पदार्थको आलंवन मानकर दर्शनोपयोगको जो मतिज्ञानत्वकी प्राप्तिका प्रसंग उपस्थित किया है वह नहीं रहता है ।

शंका–दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ न माना जाय तो वह अनाकार नहीं बन सकता है, इससे जाना जाता है कि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ है ।

शंका–अव्यक्त ग्रहणको अनाकारग्रहण कहते हैं, ऐसा अर्थ क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ?

समाधान–नहीं, क्योंकि निरावरण होनेसे केवलदर्शनका स्वभाव व्यक्तग्रहण करनेका है । अब यदि अव्यक्तग्रहणको ही अनाकारग्रहण मान लिया जाता है तो केवलदर्शनके अभावका प्रसङ्ग प्राप्त होता है ।

(१) "अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्भुवगमादो ।"–ध० आ० प० ८६५ । (२) "दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्''आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका । आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिः आलोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका । प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम् । विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः ।"–ध० सं० पृ० १४५–१४९। "अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते । तथाहि–उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते । तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम् । यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावर्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति । तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तज्ज्ञानं भण्यते ।" –बृहद्द्रव्य० पृ० १७१ । लघी० ता० टी० पृ० १४ ।

पुव्वं चेव विसयीकयंतरंगो दंसणुवजोगो उप्पज्जदि त्ति घेत्तव्वो, अणायारत्तण्णहा-णुववत्तीदो ।

§ ३०७. आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं, तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं, तव्विवरीयमणायारं । 'विज्जुज्जोएण जं पुव्वदेसा-यारविसिट्ठसत्तागहणं तं ण णाणं होदि तत्थ विसेसग्गहणाभावादो' त्ति भणिदे; ण; तं वि णाणं चेव, णाणादो पुधभूदकम्मुवलंभादो। ण च तत्थ एयंतेण विसेसग्गहणाभावो, दिसा-देस-संठाण-वण्णादिविसिट्ठसत्तुवलंभादो ।

अत एव विषय और विषयीके संपातके पहले ही अन्तरंगको विषय करनेवाला दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा दर्शनोपयोग अनाकार नहीं बन सकता है ।

§ ३०७. सकल पदार्थोंके समुदायसे अलग होकर बुद्धिके विषयभावको प्राप्त हुआ कर्मकारक आकार कहलाता है । उस आकारके साथ जो उपयोग पाया जाता है वह साकार उपयोग कहलाता है और उससे विपरीत अनाकार उपयोग कहलाता है ।

शंका–बिजलीके प्रकाशसे पूर्वदिशा, देश और आकारसे युक्त जो सत्ताका ग्रहण होता है वह ज्ञानोपयोग नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें विशेष पदार्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि वहां पर ज्ञानसे पृथग्भूत कर्म पाया जाता है इसलिये वह भी ज्ञान ही है । यदि कहा जाय कि वहां विशेषका ग्रहण सर्वथा होता ही नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहां पर दिशा, देश, आकार और वर्ण आदि विशेषोंसे युक्त सत्ताका ग्रहण पाया जाता है ।

विशेषार्थ–यह तो सुनिश्चित है कि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप न तो पदार्थ ही हैं और न उनका स्वतन्त्ररूपसे ग्रहण ही होता है । नयज्ञान एक धर्मको ग्रहण करता है, इसका भी यही अभिप्राय है कि नय एक धर्मकी प्रधानतासे समस्त वस्तुको जानता है । अब यदि नयद्वारा पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञाता पदार्थको उतना ही मानने लगे, अभिप्रायान्तरको साधार स्वीकार न करे तो उसका वह अभिप्राय मिथ्या कहा जावेगा । और यदि वह अभिप्रायान्तरोंको उतना ही साधार स्वीकार करे जितना कि वह विवक्षित अभि-प्रायको स्वीकार करता है तो उसका वह अभिप्राय समीचीन माना जायगा । इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि केवल एक धर्मका ग्रहण नहीं होता है । और जो एक धर्मके द्वारा पदार्थका ग्रहण होता है वह नय है । अत एव प्रमाणज्ञान और दर्शन केवल विशेष

(१) "कम्मकत्तारभावो आगारो तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति ।"–ध० आ० प० ८६५ ।

और केवल सामान्यको न तो जान ही सकते हैं और यदा कदाचित् उनको केवल विशेष और केवल सामान्यको जाननेवाला मान भी लिया जाय तो वे समीचीन नहीं ठहरते हैं, क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, अतः इसप्रकारके पदार्थको जानने देखनेवाला ज्ञान और दर्शन ही समीचीन हो सकता है अन्य नहीं। इसप्रकार सामान्यविशेषात्मक पदार्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञान और दर्शनके सिद्ध हो जाने पर उन दोनोंमें क्या भेद है यह विचारणीय हो जाता है। छद्मस्थोंके दर्शन ज्ञानके पहले होता है और उसमें 'यह घट है पट नहीं' इसप्रकार बाह्य पदार्थगत व्यतिरेक प्रत्यय नहीं होता। तथा 'यह भी घट है यह भी घट है' इसप्रकार बाह्य पदार्थगत अन्वय प्रत्यय भी नहीं होता, इसलिये वह बाह्य पदार्थको नहीं ग्रहण करता है यह तो निश्चित हो जाता है। पर बाह्य पदार्थको जाननेके पहले आत्माका उसको ग्रहण करनेके लिये प्रयत्न अवश्य होता है जो कि स्वप्रत्यय-रूप पड़ता है। इस स्वप्रत्ययरूप प्रयत्नको ज्ञान तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि ज्ञानकी धारा घट पट आदि विकल्पसे प्रारंभ होती है इससे पहले नहीं। इससे पहले होनेवाली आत्मअवस्थाको तो शास्त्रकारोंने दर्शन कहा है, अतः उस स्वप्रत्ययको दर्शन स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकार अन्तरंग पदार्थको ग्रहण करनेवाले दर्शन और बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानके सिद्ध हो जाने पर ये दोनों विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर होते हैं या विषय-विषयीके सन्निपातके पहले दर्शन होता है और अनन्तर ज्ञान होता है इन विकल्पोंपर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। ज्ञान तो विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर ही होता है यह तो निर्विवाद है। पर दर्शनके विषयमें दो मत पाये जाते हैं। जिन आचार्योंने दर्शनका अर्थ 'यह घट है यह पट है' इसप्रकार पदार्थका आकार न करके सामान्य ग्रहणरूप माना है उनके मतसे विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर दर्शन होता है पर जिन आचार्योंके मतसे दर्शनका अर्थ अन्तरंग पदार्थका अवलोकन है उनके मतसे विषय और विषयीके सन्निपातके पहले दर्शन होता है। इसमेंसे अमुक मत समीचीन है और अमुक मत असमीचीन, यह तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि विवक्षाभेदसे जिनागममें दोनों मत समीचीन माने गये हैं। बहुतसे दार्शनिक ज्ञानको परप्रकाशक ही मानते हैं। उनके इस एकान्त मतका खण्डन करनेके लिये जैनाचार्योंने ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, यह व्यवस्था दी। इसप्रकार ज्ञानके स्वपरप्रकाशक निश्चित हो जाने पर अन्तरंग पदार्थ-को ग्रहण करनेवाला दर्शन है दर्शनके स्वरूपकी यह व्यवस्था नहीं रहती। किन्तु दर्शनका इससे भिन्न स्वरूप स्वीकार करना पड़ता है। दर्शनके इस भिन्न स्वरूपका निश्चय करते समय आत्मप्रयत्नके स्थानमें इन्द्रियप्रयत्नको प्रमुखता मिली। और इन्द्रियोंका व्यापार आत्मामें होता नहीं, इसलिये ज्ञेय पदार्थको प्रमुखता मिली। पर ज्ञान 'यह घट है यह पट है' इस प्रकारके विकल्परूप होता है, अत एव 'दर्शन अनाकार होता है' इसको प्रमुखता

§ ३०८. सुदणाणद्धा जहण्णिया विसेसाहिया। किं सुदणाणं णाम? मदिणाणजणिदं जं णाणं तं सुदणाणं णाम। "सुदं मइपुव्वं ॥१३५॥" इदि वयणादो। जदि एवं, तो ओग्गहपुव्वाणमीहावायधारणाणं पि सुदणाणत्तं पसज्जदे? ण; तेसिमोग्गहणाणविसयीकयत्थे वावदत्तादो लद्धमयिणाणववएसाणं सुदणाणत्तविरोहादो। किं पुण सुदणाणं णाम? मयिणाणपरिच्छिण्णत्थादो पुधभूदत्थावगमो सुदणाणं। तं दुविहं-सद्दलिंगजं, अत्थलिं-

मिली। यह सब विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर ही हो सकता है। अतः विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर और ज्ञानके पहले दर्शन स्वीकार किया गया। पर जहां स्वमतके मण्डन और परमत खण्डनकी प्रमुखता नहीं रही किन्तु सैद्धान्तिक व्यवस्था ही प्रमुख रही वहां स्वप्रकाशक दर्शन और परप्रकाशक ज्ञान है यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसके स्वीकार कर लेने पर आत्मप्रकाश इन्द्रियोंसे तो हो नहीं सकता है, क्योंकि इन्द्रियाँ आत्माको ग्रहण नहीं करती हैं, अतएव विषय और विषयीके सन्निपातके पहले दर्शन माना गया। फिर भी वह आत्मप्रयत्न चक्षु आदि विवक्षित इन्द्रियों द्वारा पदार्थोंके ज्ञानमें सहकारी होता है, अतएव उसे चक्षुदर्शन आदि संज्ञाएं प्राप्त हुईं। इतने विवेचनसे यह निश्चित हो जाता है कि स्वप्रकाशक दर्शन है और परप्रकाशक ज्ञान, यह सैद्धान्तिक मत है। तथा विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर पदार्थको कर्मरूपसे स्वीकार न करके जो सामान्य अवभास होता है वह दर्शन है और विकल्परूप जो अवबोध होता है वह ज्ञान है, यह दार्शनिक मत है।

§ ३०८. श्रुतज्ञानका जघन्य काल ईहाज्ञानके जघन्य कालसे विशेष अधिक है।

शंका–श्रुतज्ञान किसे कहते हैं?

समाधान–जो ज्ञान मतिज्ञानसे उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है, क्योंकि "श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है ॥१३५॥" ऐसा वचन है।

शंका–यदि मतिज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं तो अवग्रह ज्ञान पूर्वक होनेवाले ईहा, अवाय और धारणाज्ञान भी श्रुतज्ञान हो जायंगे?

समाधान–नहीं, क्योंकि ईहा, अवाय और धारणा ये तीनों ज्ञान अवग्रहज्ञानके द्वारा विषय किये गये पदार्थमें ही व्यापृत होनेसे मतिज्ञान कहलाते हैं, इसलिये उन्हें श्रुतज्ञान माननेमें विरोध आता है।

शंका–तो फिर श्रुतज्ञानका क्या स्वरूप है?

समाधान–मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थसे भिन्न पदार्थको जाननेवाले ज्ञानको श्रुत-

(१)–साधिया स०। (२) "श्रुतं मतिपूर्वं··"–त० सू० १।२०। (३) "अवग्गहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं। तं च दुविहं–सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि। धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो अवरो सद्दलिंगजो।"–ध० आ० प० ८७१। (४) तुलना–"परोक्षं द्विविधं प्राह-

गजं चेदि।

§३०९. तत्थ जं सद्दलिंगजं तं दुविहं-लोइयं लोउत्तरियं चेदि। सामण्णपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियणाणं लोइयसद्दजं। असच्चकारणविणिम्मुक्कपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियसुदणाणं लोउत्तरियसद्दजं। धूमादिअत्थलिंगजं पुण अणुमाणं णाम।

ज्ञान कहते हैं। वह श्रुतज्ञान शब्दलिंगज और अर्थलिंगजके भेदसे दो प्रकारका है।

§३०९. उनमें भी जो शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है वह लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे दो प्रकारका है। सामान्य पुरुषके मुखसे निकले हुए वचनसमुदायसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलनेके कारणोंसे रहित पुरुषके मुखसे निकले हुए वचन समुदायसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह लोकोत्तर शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। तथा धूमादिक पदार्थरूप लिंगसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।

विशेषार्थ—ऊपर श्रुतज्ञानके स्वरूप और भेदोंका विचार किया गया है। ऊपर श्रुतज्ञानका जो स्वरूप बतलाया है उसका सार यह है कि जो मतिज्ञाननिमित्तक होते हुए भी मतिज्ञानसे जाने गये पदार्थसे भिन्न पदार्थको जानता है वह श्रुतज्ञान है। यहां श्रुतज्ञानको मतिज्ञान निमित्तक कहनेका यह अभिप्राय है कि श्रुतज्ञान सीधा दर्शनपूर्वक कभी भी नहीं होता है, किन्तु श्रुतज्ञानकी धाराका प्रारंभ मतिज्ञानसे ही होता है। तथा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थसे भिन्न पदार्थको जानता है। इसके कहनेका यह अभिप्राय है कि मतिज्ञानकी धाराके प्राथमिक विकल्पको छोड़कर अन्य ईहा आदि विकल्प श्रुतज्ञान न कहे जावें। इस श्रुतज्ञानके मूलमें शब्दलिंगज और अर्थलिंगज इसप्रकार दो भेद किये हैं। शब्दलिंगजमें कर्णेन्द्रियकी प्रमुखतासे उत्पन्न होनेवाले श्रुतज्ञानका ग्रहण किया है और अर्थलिंगजमें शेष इन्द्रियोंकी प्रमुखतासे उत्पन्न होनेवाले श्रुतज्ञानका ग्रहण किया है। श्रुतज्ञानके इसप्रकार भेद करनेका मुख्य कारण परप्रत्यय और स्वप्रत्यय हैं। शब्दलिंगज श्रुतज्ञान परके निमित्तसे ही होगा और अर्थलिंगज श्रुतज्ञान परप्रत्ययके विना नेत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न हुए मतिज्ञानके निमित्तसे होता है। जब शास्त्र आदि स्वयं पढ़कर श्रुतज्ञान होता है तब उसे अर्थलिंगज श्रुतज्ञान ही समझना चाहिये, क्योंकि वहां कर्णेन्द्रियके विषयकी प्रमुखता न होकर नेत्र इन्द्रियके विषयकी प्रमुखता है। घट इस शब्दका ज्ञान कर्णेन्द्रियका विषय है और घट इस शब्दके आकारका ज्ञान नेत्र इन्द्रियका विषय है और यही ज्ञान

लिङ्गशब्दसमुद्भवम्॰॰"—जैनतर्कवा॰ पृ॰ १३१।

(१) तुलना—"आप्तोपदेशः शब्दः, स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्"—न्यायसू॰ १।१।७, ८। "शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति"—न्यायाव॰ टी॰ पृ॰ ४२।

§ ३१०. उस्सासजहण्णद्धा विसेसाहिया। एसो उस्सासजहण्णकालो विहुराउरेसु सुहुमेइंदिएसु अण्णेसु वा घेत्तव्वो। एवं पढमगाहत्थो परूविदो।

केवलदंसण-णाणे कसाय-सुक्केक्कए[1] पुधत्ते य।
पडिवादुवसामेंतय-खवेंतए संपराए य ॥१६॥

§ ३११. एदिस्से विदियगाहाए अत्थो उच्चदे। तं जहा, 'केवलदंसण-णाणे कसाय-सुक्के' तब्भवत्थकेवलिस्स[2] केवलणाण-केवलदंसणाणं जाओ जहण्णद्धाओ सकसायस्स जीवस्स सुक्कलेस्साए जहण्णद्धा च तिण्णि वि सरिसाओ उस्सासजहण्णद्धादो विसेसाहियाओ।

क्रमशः कर्णेन्द्रियजन्य और चक्षु इन्द्रियजन्य मतिज्ञान है। इसके अनन्तर मनके सम्बन्धसे जो घट पदार्थ विषयक अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। यदि यह श्रुतज्ञान सुनकर हुआ हो तो वह शब्दलिंगज कहा जायगा और घट शब्दके आकारको देखकर हुआ तो वह अर्थलिंगज कहा जायगा। शब्दलिंगज श्रुतज्ञानके लौकिक और लोकोत्तर इसप्रकार दो भेद किये हैं। जिनका स्वरूप ऊपर लिखा ही है।

§ ३१०. श्वासोच्छ्वासका जघन्य काल श्रुतज्ञानके जघन्यकालसे विशेष अधिक है। श्वासोच्छ्वासका यह जघन्य काल विकल और आतुरोंके, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियोंके अथवा अन्य जीवोंके पाया जाता है ऐसा ग्रहण करना चाहिये। इसप्रकार जघन्य अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली पहली गाथाके अर्थका कथन समाप्त हुआ।

तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका काल तथा सकषाय जीवके शुक्ललेश्याका काल, ये तीनों काल समान होते हुए भी इनमेंसे प्रत्येकका काल श्वासोच्छ्वासके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। इन तीनोंके जघन्य कालसे एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे उपशम श्रेणीसे गिरे हुए सूक्ष्मसांपरायिकका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे उपशम श्रेणी पर चढ़नेवाले सूक्ष्मसांपरायिकका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे क्षपकश्रेणीगत सूक्ष्मसांपरायिकका जघन्य काल विशेष अधिक है ॥ १६ ॥

§ ३११. अब इस दूसरी गाथाका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–'केवलदंसणणाणे कसायसुक्के' तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका जघन्य काल तथा कषायसहित जीवके शुक्ललेश्याका जघन्य काल ये तीनों ही काल समान हैं तथा प्रत्येक काल श्वासोच्छ्वासके जघन्य कालसे विशेष अधिक है।

(१)–सुक्केक्कए पुधत्ते य सा तब्भव–आ०। (२) "भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्। भवे तिष्ठतीति भवस्थः। तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम्।"–नन्दी० मलय०।

'कसायसुक्के' चेदि एत्थ च-सद्दो कायव्वो, अण्णहा समुच्चयत्थाणुववत्तीदो; ण; च-सद्देण विणा वि 'पुढवियादिसु' तदत्थावगमादो। तब्भवत्थकेवलिस्सेत्ति कथं णव्वदे? अंतोमुहुत्तकालण्णहाणुववत्तीदो।

शंका–'कसायसुक्के' यहां 'च' शब्दका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि 'च' शब्दके विना तीनोंका समुच्चयरूप अर्थ नहीं लिया जा सकता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि 'च' शब्दके विना भी पृथिवी आदिमें समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ–यहां यह शंका उठाई गई है कि जब कि केवलदर्शन, केवलज्ञान और सकषाय जीवके शुक्लेश्या इन तीनोंके काल समान हैं तो इन तीनोंके समुच्चयरूप अर्थके द्योतन करनेके लिये गाथामें आये हुए 'कसायसुक्के' इस पदके आगे 'च' शब्दका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि 'च' शब्दके विना समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। इसका समाधान वीरसेन स्वामीने यह किया है कि जिस प्रकार पृथिवी आदिमें 'च' शब्दका प्रयोग नहीं किया है तो भी वहां समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १० में एक शंका उठाई गई है कि जिसप्रकार 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति' यहां 'च' शब्दके विना ही समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें भी यदि 'च' शब्द न दिया जाय तो भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जायगा। मालूम होता है वीरसेन स्वामीने 'पुढवियादिसु' पदके द्वारा राजवार्तिकमें उद्धृत 'पृथिव्यापस्तेजोवायुः, इस सूत्रका निर्देश किया है।

शंका–यहांपर केवलज्ञान और केवलदर्शनका जघन्यकाल तद्भवस्थकेवलीकी अपेक्षासे है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–यदि केवलज्ञान और केवल दर्शनका जघन्यकाल तद्भवस्थ केवलीकी अपेक्षा न कहा जाय तो उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त नहीं बन सकता है। इससे प्रतीत होता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शनका जघन्यकाल तद्भवस्थ केवलीकी अपेक्षासे ही बतलाया है।

विशेषार्थ–तद्भवस्थकेवली और सिद्धकेवलीके भेदसे केवली दो प्रकारके हैं। जिस पर्यायमें केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी पर्यायमें स्थित केवलीको तद्भवस्थ केवली कहते हैं और सिद्ध जीवोंको सिद्ध केवली कहते हैं। यहां केवलज्ञान और केवलदर्शनका जघन्य काल जो अन्तमुहूर्त कहा है और आगे चलकर इन दोनोंका उत्कृष्ट काल जो अन्तर्मुहूर्त कहनेवाले

---

(१) तुलना–"स्यान्मतम्–च शब्दोऽनर्थकः। कुतः? अर्थभेदात् समुच्चयसिद्धेः। भिन्ना हि संसारिणो मुक्ताश्च, ततो विशेषणविशेष्यत्वानुपपत्तेः समुच्चयः सिद्धः, यथा पृथिव्याप्ते (व्यापस्ते) जोवायुरिति" –राजवा० २।१०, ३२।

§ ३१२. 'एक्काए पुधत्ते य' 'एक्काए' त्ति उत्ते एयत्तवियक्कअविचारज्झाणस्स गहणं कायव्वं। कथमेक्कसद्दो तस्स वाचओ? न; नामैकदेशादपि देवशब्दात् बलदेवप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशाङ्गादेः अविचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगेष्वसङ्क्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानम्। एदस्स ज्झाणस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। पुधत्तेत्ति उत्ते पुधत्तवियक्कवीचारज्झाणस्स पुव्वं व गहणं कायव्वं। कोऽस्यार्थः? पृथक्त्वेन भेदेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशाङ्गादेर्वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगेषु सङ्क्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानम्। एयस्स ज्झाणस्स

हैं वह, जिनका शरीर हिंस्र प्राणियोंके द्वारा खाया जानेसे अत्यन्त जर्जरित हो गया है, अत एव जिन्हें अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रह जाने पर केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई है और एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही जो मुक्त हो जानेवाले हैं उनकी अपेक्षा कहा गया है, अन्यकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन निरन्तर सोपयोग होनेसे अन्यकी अपेक्षा उनका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त नहीं बन सकता है। अन्यकी अपेक्षा इन दोनोंका काल सादि अनन्त है। यहां मुख्यरूपसे सोपसर्ग केवलीकी वर्तमान पर्याय विवक्षित है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त रहने पर केवलज्ञान हुआ इसलिये केवलदर्शन और केवलज्ञानका काल भी अन्तर्मुहूर्त कहा है।

§ ३१२. 'एक्काए पुधत्ते य' इस पदमें 'एक्काए' ऐसा कहनेसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका ग्रहण करना चाहिये।

शंका–एक शब्द एकत्ववितर्कअवीचाररूप ध्यानका वाचक कैसे है?

समाधान–क्योंकि नामके एकदेशरूप देव शब्दसे भी बलदेवका ज्ञान होता हुआ पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि यहांपर एक शब्दसे एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानका ग्रहण किया है।

एकरूपसे अर्थात् अभेदरूपसे वितर्कका अर्थात् द्वादशांग आदिरूप श्रुतका आलंबन लेकर जिस ध्यानमें वीचार नहीं होता है अर्थात् अर्थ व्यंजन और योगकी संक्रान्ति नहीं होती है वह एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान है। इस ध्यानका जघन्यकाल उपर्युक्त केवलज्ञान आदि तीनोंके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। 'पुधत्ते' ऐसा कहनेसे पहलेके समान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका ग्रहण करना चाहिये।

शंका–पृथक्त्ववितर्कवीचारका क्या अर्थ है?

समाधान–पृथक्त्वरूपसे अर्थात् भेदरूपसे वितर्कका अर्थात् द्वादशांगादिरूप श्रुतका आलंबन लेकर जिस ध्यानमें वीचार अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्ति परिवर्तन

(१) "वितर्कः श्रुतम्"–त० सू० ९।४३। (२) "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः।"–त० सू० ९।४४।

जहण्णद्धा विसेसाहिया। 'पडिवादुवसामेंतयखवेंतए संपराए अ'—'संपराए' त्ति उत्ते सुहुमसांपराइयस्स गहणं कायव्वं। वादरसांपराइयस्स गहणं किण्ण होदि ? ण; वादरसांपराइयअद्धादो संखेज्जगुणहीणस्स संकामयजहण्णकालस्स एदम्हादो विसेसाहियत्तदंसणादो।

§ ३१३. संपहि एवं सुत्तत्थो संबंधणिज्जो, उवसमसेढीदो पडिवदमाणो सुहुमसांपराइओ पडिवादसांपराइयो त्ति उच्चदे। तस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। सुहुमसांपराइओ उवसमसेढिं चढमाणो उवसामेंतसांपराइओ णाम। तस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। खवयसेढिं चढमाणसुहुमसांपराइओ खवेंतसांपराओ णाम। तम्हि खवेंतए संपराए जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। एवं विदियगाहाए अत्थो समत्तो।

माणद्धा कोहद्धा मायद्धा तहय चेव लोहद्धा।
खुद्धभवग्गहणं पुण किट्टीकरणं च बोद्धव्वा ॥१७॥

होता है वह पृथक्त्व वितर्कवीचार ध्यान है। इस ध्यानका जघन्य काल एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। 'पडिवादुवसामेंतयखवेंतए संपराए य' इसमें 'संपराय' ऐसा कहने पर उससे सूक्ष्मसांपरायिकका ग्रहण करना चाहिये।

शंका—संपराय इस पदसे वादरसांपरायिकका ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संक्रामकका जघन्य काल वादरसांपरायिकके जघन्य कालसे संख्यातगुणा हीन होता हुआ भी सूक्ष्मसांपरायिकके जघन्यकालसे विशेष अधिक देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि यहां पर 'संपराय' पदसे सूक्ष्मसांपरायिकका ग्रहण किया है।

§ ३१३. अब सूत्रके अर्थका इसप्रकार संवन्ध करना चाहिये—उपशमश्रेणीसे गिरनेवाला सूक्ष्मसांपरायिक प्रतिपातसांपरायिक कहा जाता है। इसका जघन्य काल पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। उपशमश्रेणीपर चढ़नेवाला सूक्ष्मसांपरायिक जीव उपशामक सांपरायिक कहलाता है। इसका जघन्य काल प्रतिपातसांपरायिकके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। क्षपकश्रेणी पर चढ़नेवाला सूक्ष्मसांपरायिक जीव क्षपकसूक्ष्मसांपरायिक कहलाता है। इस क्षपक सांपरायिकका जघन्य काल उपशामक सांपरायिकके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। इसप्रकार दूसरी गाथाका अर्थ समाप्त हुआ।

क्षपक सूक्ष्मसांपरायिकके जघन्यकालसे मानका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे क्रोधका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे मायाका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे लोभका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे क्षुद्रभवग्रहणका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे कृष्टिकरणका जघन्य काल विशेष अधिक है ॥ १७ ॥

(१) चलमा–स०। (२) समत्थो ता०।

§ ३१४. संपहि तइयगाहाए अत्थो उच्चदे। तं जहा, खवयसेढिं आरोहमाणसुहुमसांपराइयअद्धादो जहण्णिया माणद्धा विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया कोधद्धा विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया मायद्धा विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया लोहद्धा विसेसाहिया। तत्तो जहण्णिया खुद्दाभवग्गहणद्धा विसेसाहिया। खुद्दाभवग्गहणमेयवियप्पं खुद्दविसेसणण्णहाणुववत्तीदो त्ति ण वोत्तं जुत्तं; पज्जत्तजहण्णाउआदो वि दहरत्तं दट्ठूणं अपज्जत्तआउअस्स खुद्दाभवग्गहणत्तब्भुवगमादो। तं पि कुदो णव्वदे? जहण्णुक्कस्सविसेसणण्णहाणुववत्तीदो। जहण्णिया किट्टीकरणद्धा विसेसाहिया। एसा लोहोदएण खवगसेढिं चडिदस्स होदि। एवं तदियगाहाए अत्थपरूवणा कया।

§ ३१४. अब तीसरी गाथाका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–क्षपक श्रेणी पर चढ़नेवाले सूक्ष्मसांपरायिक जीवके जघन्य कालसे मानका जघन्य काल विशेष अधिक है। मानके जघन्य कालसे क्रोधका जघन्य काल विशेष अधिक है। क्रोधके जघन्य कालसे मायाका जघन्य काल विशेष अधिक है। मायाके जघन्य कालसे लोभका जघन्य काल विशेष अधिक है। लोभके जघन्य कालसे क्षुद्रभवग्रहणका जघन्य काल विशेष अधिक है।

शंका–क्षुद्रभवग्रहण एक प्रकारका ही है अर्थात् उसमें जघन्यकाल और उत्कृष्टकालका भेद नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जाय तो उसका क्षुद्र विशेषण नहीं बन सकता?

समाधान–ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पर्याप्तकी जघन्य आयुसे भी अपर्याप्तकी आयु कम होती है यह देखकर अपर्याप्तके भवधारणको क्षुद्रभवग्रहणरूपसे स्वीकार किया है।

शंका–यह भी कैसे जाना जाता है?

समाधान–यदि ऐसा न होता तो क्षुद्रभवग्रहणके जघन्य और उत्कृष्ट ये विशेषण नहीं बन सकते।

विशेषार्थ–क्षुद्रभवग्रहणमें क्षुद्र विशेषण, क्षुद्रभवग्रहणके जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं होते हैं, यह बतलानेके लिये नहीं दिया है। किन्तु पर्याप्त जीवकी जघन्य आयुसे लब्ध्यपर्याप्त जीवकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारकी आयु कम होती है, इसके ज्ञान करानेके लिये दिया है। इसका यह तात्पर्य है कि जितने भी पर्याप्त जीव हैं उन सबके आयुप्रमाणसे लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी आयु क्षुद्र अर्थात् अल्प होती है, यह बतलानेके लिये क्षुद्रभवग्रहणमें क्षुद्र विशेषण दिया गया है।

क्षुद्रभवग्रहणके जघन्य कालसे कृष्टीकरणका जघन्य काल विशेष अधिक होता है। यह जघन्य कृष्टि लोभके उदयके साथ क्षपकश्रेणी पर चढ़नेवाले जीवके होती है। इस प्रकार तीसरी गाथाके अर्थका कथन समाप्त हुआ।

संकामण-ओवट्टण-उवसंतकसाय-खीणमोहद्धा।
उवसामेंतयअद्धा खवेंतअद्धा य बोद्धव्वा ॥१८॥

§ ३१५. 'संकामणं' ति काए अद्धाए सण्णा ? अंतरकरणे कए जं णवुंसयवेयक्खवणं तस्स 'संकमणं' ति सण्णा। तत्थतणी जा जहण्णिया अद्धा सा संकमणद्धा णाम। सा विसेसाहिया। किमोवट्टणं णाम ? णवुंसयवेए खविदे सेसणोकसायक्खवणमोवट्टणं णाम। तत्थ ओवट्टणम्मि जा जहण्णिया अद्धा सा विसेसाहिया। उवसंतकसायस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। खीणकसायस्स जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। उवसमसेढिं चढमाणेण मोहणीयस्स अतरकरणं कदे सो 'उवसामओ' त्ति भण्णदि, तस्स उवसामेंतयस्स जा जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया। खवयसेढिं चढमाणेण मोहणीयस्स अंतकरणे कदे 'खवेंतओ' त्ति भण्णदि, तस्स जा जहण्णिया अद्धा विसेसाहिया।

कृष्टिकरणके जघन्य कालसे संक्रामणका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे अपवर्तनका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे उपशान्तकषायका जघन्यकाल विशेष अधिक है। इससे क्षीणमोहका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे उपशामकका जघन्य काल विशेष अधिक है। इससे क्षपकका जघन्य काल विशेष अधिक समझना चाहिये ॥ १८ ॥

§ ३१५. **शंका**—संक्रामण यह किस कालकी संज्ञा है ?

समाधान—अन्तरकरण कर लेने पर जो नपुंसकवेदका क्षपण होता है यहाँ उसकी संक्रामण संज्ञा है।

उसमें जो जघन्य काल लगता है उसे संक्रामणका जघन्य काल कहते हैं। वह संक्रामणका जघन्य काल कृष्टिकरणके जघन्य कालसे विशेष अधिक है।

शंका—अपवर्तन किसे कहते हैं ?

समाधान—नपुंसकवेदका क्षपण हो जाने पर शेष नोकषायोंके क्षपण होनेको यहाँ अपवर्तन कहा है।

इस अपवर्तनरूप अवस्थामें जो जघन्य काल लगता है वह संक्रामणके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। अपवर्तनके जघन्य कालसे उपशान्तकषायका जघन्य काल विशेष अधिक है। उपशान्तकषायके जघन्य कालसे क्षीणकषायका जघन्य काल विशेष अधिक है। उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला जीव चारित्र मोहनीयकर्मका अन्तकरण कर लेने पर उपशामक कहा जाता है। उस उपशामकका जो जघन्य काल है वह क्षीणकषायके जघन्य कालसे विशेष अधिक है। क्षपकश्रेणी पर चढ़नेवाला जीव चारित्रमोहनीयका अन्तरकरण कर लेने पर क्षपक कहा जाता है। उसका जो जघन्य काल है वह उपशामकके जघन्य कालसे

एवं चउत्थगाहाए अत्थो समत्तो ।

णिव्वाघादेणेदा होंति जहण्णाओ आणुपुव्वीए ।
एत्तो अणाणुपुव्वी उक्कस्सा होंति भजियव्वा ॥१६॥

§ ३१६. एदाओ जहण्णियाओ अद्धाओ 'णिव्वाघादेण' मरणादिवाघादेण विणा घेत्तव्वाओ त्ति भणिदं होदि । वाघादे संते पुण एगसमओ वि कत्थ वि संभवदि । 'आणुपुव्वीए' एदाणि उत्तपदाणि आणुपुव्वीए भणिदाणि । एत्तो उवरि जाणि पदाणि उक्कस्साणि ताणि 'अणाणुपुव्वीए' परिवादीए विणा 'भजियव्वा' वत्तव्वाणि होंति त्ति

विशेष अधिक है । इसप्रकार चौथी गाथाका अर्थ समाप्त हुआ ।

ऊपर चार गाथाओं द्वारा कहे गये ये अनाकार उपयोगादिके जघन्य काल व्याघातके विना अर्थात् व्याघातसे रहित अवस्थामें होते हैं और इन्हें इसी आनुपूर्वीसे ग्रहण करना चाहिये। इसके आगे जो उत्कृष्ट कालके स्थान कहनेवाले हैं वे आनुपूर्वीके विना समझने चाहियें ॥ १६ ॥

विशेषार्थ–ऊपर चार गाथाओं द्वारा दर्शनोपयोगसे लेकर क्षपक जीव तक स्थानोंमें जघन्य काल कह आये हैं। ये अपने पूर्ववर्ती स्थानोंकी अपेक्षा उत्तरवर्ती स्थानोंमें सविशेष होते हैं इसलिये आनुपूर्वीसे कहे गये समझना चाहिये । इनके आगे इन्हीं उपर्युक्त स्थानोंके जो उत्कृष्ट काल कहे गये हैं वे आनुपूर्वीके विना कहे गये हैं । इसका यह तात्पर्य है कि इन स्थानोंके उत्कृष्ट कालका विचार करते समय कुछ स्थानोंका उत्कृष्ट काल अपने पूर्ववर्ती स्थानोंके उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा दूना है और कुछ स्थानोंका उत्कृष्ट काल अपने पूर्ववर्ती स्थानोंके उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा सविशेष है अतः वहां सविशेषत्व या द्विगुणत्व इनमेंसे किसी एककी अपेक्षा कालकी आनुपूर्वी संभव नहीं है, अतः ये स्थान आनुपूर्वीके विना ही समझना चाहिये । यहां आनुपूर्वीका विचार स्थानोंकी अपेक्षा न करके कालकी अपेक्षा किया गया है । अतः उक्त स्थानोंके जघन्य कालमें जिसप्रकार कालकी अपेक्षा आनुपूर्वी संभव है उसप्रकार उक्त स्थानोंके उत्कृष्ट कालमें वह संभव नहीं, क्योंकि जघन्य स्थानोंकी तरह उत्कृष्ट सभी स्थान सविशेष न होकर कुछ स्थान सविशेष हैं और कुछ स्थान दूने हैं। स्थानकी अपेक्षा तो जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारके स्थानोंका एक ही क्रम है उसमें कोई अन्तर नहीं ।

§ ३१६. ये ऊपर कहे गये जघन्य काल निर्व्याघातसे अर्थात् मरणादिरूप व्याघातके विना ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जब किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा नहीं आती है उस अवस्थामें उक्त काल होते हैं ऐसा उक्त कथनका अभिप्राय है। व्याघातके होने पर तो किसी भी स्थानमें एक समय भी काल संभव है । ये ऊपर कहे गये स्थान आनुपूर्वीसे कहे गये हैं । इसके ऊपर जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे अनानुपूर्वी अर्थात् परिपाटीके विना कहनेके योग्य

बोद्धव्वं । एवं पंचमीए गाहाए अत्थो समत्तो ।

चक्खू सुदं पुधत्तं माणो वाओ तहेव उवसंते ।
उवसामेंत य अद्धा दुगुणा सेसा हु सविसेसा ॥२०॥

§ ३१७. एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे । तं जहा, चक्खुणाणोवजोग-सुदणाणोवजोग-पुधत्तवियक्कवीचार-माण-अवाय-उवसंतकसाय-उवसामयाणमद्धाओ उक्कस्सप्पाबहुगे भण्णमाणे सग-सगपाओग्गपदेसे दुगुणदुगुणा होदूण णिवदंति । अवसेसपदाणं सव्वउक्कस्सअद्धाओ 'सविसेसा हु' विसेसाहिया चेव होऊण अप्पप्पणो ट्ठाणे णिवदंति । एदेण छट्ठगाहासुत्तेण उक्कस्सप्पाबहुअ परूविदं ।

§ ३१८. संपहि एदस्स जोजणविहाणं उच्चदे । तं जहा, मोहणीयजहण्णखवणद्धाए उवरि चक्खुदंसणुवजोगस्स उक्कस्सकालो विसेसाहिओ । चक्खुणाणोवजोगस्स उक्कस्सकालो दुगुणो । दुगुणत्तं कुदो णव्वदे ? छट्ठगाहासुत्तादो । सोदणाणउक्कस्सकालो

हैं ऐसा समझना चाहिये । इसप्रकार पांचवीं गाथाका अर्थ समाप्त हुआ ।

चक्षुज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान, मान, अवायज्ञान, उपशान्तकषाय तथा उपशामक इनका उत्कृष्ट काल अपनेसे पहले स्थानके कालसे दूना होता है। और शेष स्थानोंका उत्कृष्ट काल अपनेसे पहले स्थानके कालसे विशेष अधिक होता है॥ २० ॥

§ ३१७. अब इस गाथाका अर्थ कहते हैं । वह इसप्रकार है–उत्कृष्ट अल्पबहुत्वके कहनेपर चक्षुज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यान, मान, अवाय, उपशान्तकषाय और उपशामक, इनके उत्कृष्ट काल, अपने अपने योग्य स्थानमें दूने दूने होकर प्राप्त होते हैं । और शेष स्थानोंके समस्त उत्कृष्ट काल सविशेष अर्थात् विशेष अधिक होकर ही अपने अपने स्थानोंमें प्राप्त होते हैं । इसप्रकार इस छठवीं गाथासूत्रके द्वारा उत्कृष्ट अल्पबहुत्व कहा है ।

§ ३१८. अब इस उत्कृष्ट अल्पबहुत्वकी योजना करनेकी विधिको कहते हैं । वह इसप्रकार है–चारित्रमोहनीयके जघन्य क्षपणाकालके ऊपर चक्षुदर्शनोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है । इससे चक्षुज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल दूना है ।

शंका–चक्षुदर्शनोपयोगके उत्कृष्ट कालसे चक्षुज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल दूना है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–ऊपर कहे गये इसी छठे गाथासूत्रसे जाना जाता है कि चक्षुदर्शनोपयोग के उत्कृष्ट कालसे चक्षुज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल दूना है ।

---

(१)–कसाय उव–अ०, आ० । (२)–त्तं कधं ण–अ०, आ० ।

विसेसाहिओ। एदस्स विसेसाहियत्तं कुदो णव्वदे ? 'सेसा हु सविसेसा' त्ति वयणादो। एसो अत्थो विसेसाहियट्ठाणे सव्वत्थ वत्तव्वो। घाणिंदियणाणुक्कस्सकालो विसेसाहिओ। जिब्भिंदियणाणुक्कस्सकालो विसेसाहिओ। मणजोगुक्कस्सकालो विसेसाहिओ। वचिजोगुक्कस्सकालो विसेसाहिओ। कायजोगुक्कस्सकालो विसेसाहियो। पासिंदियणाणुक्कस्सकालो विसेसाहियो। अवायणाणुक्कस्सकालो दुगुणो। दुगुणत्तं कुदो णव्वदे ? छट्ठगाहासुत्तादो। ईहाणाणुक्कस्सकालो विसेसाहियो। सुदणाणुक्कस्सकालो दुगुणो। एदस्स दुगुणत्तं छट्ठगाहासुत्तादो णायव्वं। उस्सासस्स उक्कस्सकालो विसेसाहियो। तब्भवत्थकेवलीणं केवलणाणदंसणाणं सकसायसुक्कलेस्साए च उक्कस्सकालो सत्थाणे

चक्षुज्ञानोपयोगके उत्कृष्ट कालसे श्रोत्रज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है।

शंका–चक्षुज्ञानोपयोगके उत्कृष्ट कालसे श्रोत्रज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–इसी छठे गाथासूत्रमें आए हुए 'सेसा हु सविसेसा' पदसे जाना जाता है कि चक्षुज्ञानोपयोगके उत्कृष्टकालसे श्रोत्रज्ञानोपयोगका उत्कृष्टकाल विशेष अधिक है।

इसप्रकार अन्य जिन स्थानोंका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक हो वहां सर्वत्र यही अर्थ कहना चाहिये।

श्रोत्रज्ञानोपयोगके उत्कृष्ट कालसे घ्राणेन्द्रियजन्य ज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे जिह्वाइन्द्रियजन्य ज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे मनोयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे वचनयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे काययोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे स्पर्शनइन्द्रियजन्य ज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। उससे अवायज्ञानका उत्कृष्ट काल दूना है।

शंका–स्पर्शनइन्द्रियजन्य ज्ञानोपयोगसे अवायज्ञानका उत्कृष्ट काल दूना है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–इसी छठे गाथासूत्रसे जाना जाता है कि स्पर्शनेन्द्रियजन्य ज्ञानोपयोगके उत्कृष्ट कालसे अवायज्ञानका उत्कृष्ट काल दुगुना है।

अवायज्ञानोपयोगके उत्कृष्ट कालसे ईहाज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे श्रुतज्ञानोपयोगका उत्कृष्ट काल दूना है। ईहाज्ञानके उत्कृष्ट कालसे श्रुतज्ञानका उत्कृष्ट काल दूना है यह छठे गाथासूत्रसे जानना चाहिये। श्रुतज्ञानके उत्कृष्ट कालसे श्वासोच्छ्वासका उत्कृष्टकाल विशेष अधिक है। तद्भवस्थकेवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका तथा कषायसहित जीवके शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट काल अपने अपने स्थानमें समान

(१)–ओ चक्खुणाणोवजोगस्स मण–अ०। (२)–लो विसेसाहियो सुदुगुणो स०।

सरिसो होदूण विसेसाहियो ।

§ ३१९. केवलणाणकेवलदंसणाणमुक्कस्सउवजोगकालो जेण 'अंतोमुहुत्तमेत्तो' त्ति भणिदो तेण णव्वदे जहा केवलणाण-दंसणाणमक्कमेणं[1] उत्ती ण होदि त्ति । अक्कमउत्तीए संतीए तब्भवत्थकेवलणाण-दंसणाणमुवजोगस्स कालेण अंतोमुहुत्तमेत्तेण ण होदव्वं, किंतु देसूणपुव्वकोडिमेत्तेण होदव्वं, गब्भादिअट्ठवस्सेसु अइक्कंतेसु केवलणाणदिवायरस्सुग्गमुवलंभादो । एत्थुवउज्जंती गाहा–

"[2]केइं भणंति जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो त्ति ।
सुत्तमवलंबमाणा[3] तित्थयरासायणाभीरू ॥१३४॥"

§ ३२०. एत्थ परिहारो उच्चदे । तं जहा, केवलणाणदंसणावरणाणं किमक्कमेण क्खओ, आहो कमेणेत्ति ? ण ताव कमेण; "खीणकसायचरिमसमए अक्कमेण घाइकम्मतियं

होते हुए भी प्रत्येकका श्वासोच्छ्वासके उत्कृष्टकालसे विशेष अधिक है ?

§ ३१९. शंका–चूंकि केवलज्ञान और केवलदर्शनका उत्कृष्ट उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है, इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी प्रवृत्ति एकसाथ नहीं होती है । यदि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी एकसाथ प्रवृत्ति मानी जाती तो तद्भवस्थकेवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनके उपयोगका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नहीं होना चाहिये किन्तु कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण होना चाहिये, क्योंकि गर्भसे लेकर आठ वर्ष कालके वीत जाने पर केवलज्ञान सूर्यकी उत्पत्ति देखी जाती है ? यहां इस विपयकी उपयुक्त गाथा देते हैं–

"तीर्थङ्करकी आसादनासे डरनेवाले कुछ आचार्य 'जं समयं जाणति नो तं समयं पासति जं समयं पासति नो तं समयं जाणति' इस सूत्रका अवलम्बन लेकर कहते हैं कि जिन भगवान जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं है ॥१३४॥"

§ ३२०. समाधान–अव उक्त शंकाका समाधान करते हैं । वह इसप्रकार है–केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरणका क्षय एकसाथ होता है या क्रमसे होता है ? इन दोनों कर्मोंका क्षय क्रमसे होता है ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा कहने पर उक्त कथनका "क्षीणकषाय गुणस्थानके अंतिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घातिया

(१)–ण वुत्ते ण स० । (२) सन्मति० २।४। "केचित् ब्रुवते 'यदा जानाति तदा न पश्यति जिनः' इति । सूत्रम् "केवली णं भंते, इमं रयणप्पभं पुढविं आयारेहिं पमाणेहिं हेऊहिं संठाणेहिं परिवारेहिं जं समयं जाणइ नो तं समयं पासइ । हंता गोयमा, केवली णं, इत्यादिकमवलम्बमानाः··एते च व्याख्यातारः तीर्थंकरासादनाया अभीरवः तीर्थंकरमासादयन्तो न बिभ्यतीति यावत्··"–सन्मति० टी० पृ० ६०५। (३) तुलना–"केवली णं भंते, इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठंतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ? गोयमा नो तिणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते, एवं वुच्चति–केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं जं समयं जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासति नो तं समयं जाणति··"–प्रज्ञा० प० ३० सू० ३१४।

विणट्ठं ॥१३५॥" इदि सुत्तेण सह विरोहादो। अक्कमेण विणासे संते केवलणाणेण सह केवलदंसणेण वि उप्पज्जेयव्वं, अक्कमेण अविकलकारणे संते तेसिं कमुप्पत्तिविरोहादो। एत्थुवउज्जंती गाहा–

"केवलणाणावरणक्खएण जादं तु केवलं [जहा] णाणं।
तह दंसणं पि जुज्जइ णिययावरणक्खए संते ॥१३६॥"

तम्हा अक्कमेण उप्पण्णत्तादो ण केवलणाणदंसणाणं कमउत्ती त्ति।

§३२१. होउ णाम केवलणाणदंसणाणमक्कमेणुप्पत्ती; अक्कमेण विणट्ठावरणत्तादो, किंतु केवलणाणदंसणुवजोगा कमेण चेव होंति सामण्ण-विसेसविसयत्तेण अव्वत्त-वत्त-सरूवाणमक्कमेण पउत्तिविरोहादो त्ति। एत्थ उवउज्जंती गाहा–

"दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स होइ पुव्वयरं।
होज्ज समो उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवजोगा ॥१३७॥"

कर्म एकसाथ नाशको प्राप्त हुए ॥१३५॥" इस सूत्रके साथ विरोध आता है। यदि कहा जाय कि दोनों आवरणोंका एकसाथ नाश होता है तो केवलज्ञानके साथ केवलदर्शन भी उत्पन्न होना चाहिये, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी उत्पत्तिके सभी अविकल कारणोंके एकसाथ मिल जाने पर उनकी क्रमसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यहां उपयुक्त गाथा देते हैं–

"केवलज्ञानावरणके क्षय हो जाने पर जिसप्रकार केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसीप्रकार केवलदर्शनावरण कर्मके क्षय हो जाने पर केवलदर्शनकी उत्पत्ति भी बन जाती है ॥१३६॥"

चूंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन एकसाथ उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति क्रमसे नहीं बन सकती है।

§ ३२१. शंका–केवलज्ञान और केवलदर्शनकी उत्पत्ति एकसाथ रही आओ, क्योंकि उनके आवरणोंका विनाश एक साथ होता है। किन्तु केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग क्रमसे ही होते हैं, क्योंकि केवलदर्शन सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे अव्यक्तरूप है और केवलज्ञान विशेषको विषय करनेवाला होनेसे व्यक्तरूप है, इसलिये उनकी एकसाथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। यहां इस विषयमें उपयुक्त गाथा देते हैं–

"दर्शनावरण और ज्ञानावरणका क्षय एकसाथ होने पर पहले केवलदर्शन उत्पन्न होता है या केवलज्ञान ? ऐसा पूछे जाने पर अक्रमोपयोगवादी भले ही ऐसा मान ले कि

---

(१) तुलना–"तदो णाणावरणदंसणावरणअंतराइयाणमेगसमयेण संतोदयवोच्छेदो।"–कषायपा० चू० गा० २३१। (२) सन्मति० २।५। (३)–वलं णाणं आ०। (४) तहा दं–आ०, स०। (५) उत्ति त्ति अ०, आ०, ता०। (६) सन्मति० २।९।

§ ३२२. होदि एसो दोसो, जदि केवलणाणं विसेसविसयं चेव केवलदंसणं पि सामण्णविसयं चेव। ण च एवं, दोण्हं पि विसयाभावेण अभावप्पसंगादो। तं जहा, ण ताव सामण्णमत्थि; विसेसवदिरित्ताणं तब्भावसारिच्छलक्खणसामण्णाणमणुवलंभादो। समाणेगपच्चयाणमुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो अत्थि सामण्णमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; अणेगासमाणाणुविद्धेगसमाणग्गहणेण जच्चंतरीभूदपच्चयाणमुप्पत्तिदंसणादो। ण सामण्णवदिरित्तो विसेसो वि अत्थि; सामण्णाणुविद्धस्सेव विसेसस्सुवलंभादो। ण च एसो सामण्ण-विसेसाणं संजोगो णाणेणेगेण विसयीकओ; पुधपसिद्धाणं तेसिमणुवलंभादो। उवलंभे वा संकराणालंवणपच्चया होंति, ण च एवं, तहा संते गहणाणुववत्तीदो।

दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ रही आओ, पर इतना निश्चित है कि केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग ये दोनों एकसाथ नहीं होते हैं ॥१३८॥"

§ ३२२. **समाधान**—यदि केवलज्ञान केवल विशेषको विषय करता और केवलदर्शन केवल सामान्यको विषय करता तो यह दोष संभव होता, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप विषयका अभाव होनेसे दोनोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। इसका खुलासा इसप्रकार है—केवल सामान्य तो है नहीं, क्योंकि अपने विशेषोंको छोड़ कर केवल तद्भाव सामान्य और सादृश्यलक्षण सामान्य नहीं पाये जाते हैं। यदि कहा जाय कि सामान्यके विना सर्वत्र समान प्रत्यय और एक प्रत्ययकी उत्पत्ति वन नहीं सकती है, इसलिये सामान्य नामका स्वतन्त्र पदार्थ है, सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि एकका ग्रहण अनेकानुविद्ध होता है और समानका ग्रहण असमानानुविद्ध होता है अतः सामान्यविशेषात्मक वस्तुको विषय करनेवाले जात्यन्तरभूत ज्ञानोंकी ही उत्पत्ति देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। तथा सामान्यसे सर्वथा भिन्न विशेष नामका भी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि सामान्यसे अनुविद्ध होकर ही विशेषकी उपलब्धि होती है।

यदि कहा जाय कि सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ होते हुए भी उनके संयोगका परिज्ञान एक ज्ञानके द्वारा होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा स्वतन्त्ररूपसे न तो सामान्य ही पाया जाता है और न विशेष ही पाया जाता है, अतः उनका संयोग नहीं हो सकता है। यदि सामान्य और विशेषका सर्वथा स्वतन्त्र सद्भाव मान लिया जाय तो समस्त ज्ञान या तो संकररूप हो जायंगे या आलम्बन रहित हो जायंगे। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उनका ग्रहण ही नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ—यदि सामान्यको सर्वथा स्वतन्त्र माना जाता है तो सभी पदार्थोंमें परस्पर कोई भेद नहीं रहता है। और ऐसी अवस्थामें एक पदार्थके ग्रहण करनेके समय

(१)–वत्तप्पसंगा–आ०।

§ ३२३. ण सामण्ण-विसेसाणं संबंधो वत्थु; तिकालविसयाणं गुणाणमजहवुत्तीए अणाइणिहणाए संबंधाणुववत्तीदो। ण गुण-विसेस-परमाणुदव्वं च (व्वाणं) समवाओ अत्थि अण्णकओ; अण्णस्स अणुवलंभादो (१)।

§ ३२४. न तार्किकपरिकल्पितः समवायः संघटयति; तत्र नित्ये क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। न स क्षणिकोऽपि; तत्र भावाभावाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। नान्यत आगच्छति; तत्परित्यक्ताशेषकार्याणामसत्त्वप्रसङ्गात्। नापरित्यज्य आग-

ही सभी ज्ञानोंकी युगपत् प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि ज्ञानमें भी विषयके भेदसे ही भेद पाया जाता है। पर जब विषयमें ही कोई भेद नहीं तो ज्ञानमें भेद कैसे हो सकता है। अतः एकसाथ अनेक ज्ञानोंकी प्राप्ति होनेसे संकरदोष आ जाता है। तथा विशेषको सर्वथा स्वतन्त्र मानने पर एक विशेषका दूसरे विशेषसे सत्त्वकी अपेक्षा भी भेद पाया जायगा और ऐसी अवस्थामें सभी विशेष चालनीन्यायसे असत्त्वरूप हो जाते हैं. इसप्रकार उनके असद्रूप हो जानेसे सभी ज्ञान निरालम्बन हो जाते हैं। पर ज्ञान न तो संकररूप ही होते हैं और न निरालम्बन ही होते हैं, अतः पदार्थोंको केवल सामान्यरूप और केवल विशेषरूप न मान कर उभयात्मक ही मानना चाहिये यह सिद्ध होता है।

§ ३२३. तथा सामान्य और विशेषके सम्बन्धको स्वतन्त्र वस्तु कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिकालवर्ती गुण अनादिनिधनरूपसे एक दूसरेको नहीं छोड़ते हुए रहते हैं इसलिये उनका संबन्ध नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि गुणविशेष और परमाणु द्रव्यका अन्यकृत समवायसम्बन्ध हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यकी उपलब्धि नहीं होती है।

§ ३२४. तथा तार्किकोंके द्वारा माना गया समवायसम्बन्ध भी सामान्य और विशेषका सम्बन्ध नहीं करा सकता है, क्योंकि वह नित्य है इसलिये उसमें क्रमसे अथवा एकसाथ अर्थक्रियाके माननेमें विरोध आता है। उसीप्रकार समवाय क्षणिक भी नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थमें भाव और अभावरूपसे अर्थक्रियाके माननेमें विरोध आता है। अर्थात् क्षणिक समवाय भावरूप अवस्थामें अर्थक्रिया करता है, या अभावरूप अवस्थामें ? भावरूप अवस्थामें तो वह अर्थक्रिया कर नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी उत्तरोत्तर क्षण एकक्षणवृत्ति हो जाते हैं। तथा अभावरूप अवस्थामें भी वह अर्थक्रिया नहीं कर सकता है, क्योंकि जो विनष्ट हो गया है वह स्वयं कार्यकी उत्पत्ति करनेमें असमर्थ है। अन्य पदार्थको छोड़ कर उत्पन्न होनेवाले पदार्थमें समवाय आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर समवायके द्वारा छोड़े गये समस्त कार्योंको असत्त्वका प्रसंग प्राप्त होता है। अन्य

(१) अण्णक्कमो अ-आ०, स०।

च्छति; निरवयवस्यापरित्यक्तपूर्वकार्यस्यागमनविरोधात्। न समवायः सावयवः; अनित्यतापत्तेः। न सोऽनित्यः; अनवस्थाऽभावाभ्यां तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न नित्यः सर्वगतो वा; निष्क्रियस्य व्याप्ताशेषदेशस्यागमनविरोधात्। नासर्वगतः; समवायबहुत्वप्रसङ्गात्। नान्येनानीयते; अनवस्थापत्तेः। न स्वत एति; 'सम्बन्धः समवायाऽऽगमनमपेक्षते, तदागमनमपि सम्बन्धम्' इतीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात्। न कार्योत्पत्तिप्रदेशे प्रागस्ति; सम्बन्धिभ्यां विना सम्बन्धस्य सत्त्वविरोधात्। न च तत्रोत्पद्यते; निरवयवस्योत्पत्तिविरोधात्। न समवायः समवायान्तरनिरपेक्ष उत्पद्यते; अन्यत्रापि तथा-

पदार्थको नहीं छोड़कर समवाय आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो निरवयव है और जिसने पहलेके कार्यको छोड़ा नहीं है ऐसे समवायका आगमन नहीं बन सकता है। समवायको सावयव मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसे अनित्यपनेकी प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि समवाय अनित्य होता है तो हो जाओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि समवायवादियोंके मतमें उत्पत्तिका अर्थ स्वकारणसत्तासमवाय माना है। अतः समवायकी भी उत्पत्ति दूसरे समवायकी अपेक्षासे होगी और ऐसा होने पर अनवस्था दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रसंगको वारण करनेके लिये समवायके स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे यदि उसकी उत्पत्ति स्वतः अर्थात् समवायान्तरनिरपेक्ष मानी जायगी तो समवायका अभाव हो जानेसे उसकी उत्पत्ति बन नहीं सकती है। समवायको नित्य और सर्वगत कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो क्रियारहित है और जो समस्त देशमें व्याप्त है उसका आगमन माननेमें विरोध आता है। यदि असर्वगत कहा जाय सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर समवायको बहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। समवाय अन्यके द्वारा कार्यदेशमें लाया जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् प्रकृत समवायको दूसरी वस्तु कार्यदेशमें लायगी और दूसरी वस्तुको तीसरी वस्तु लायगी इत्यादिरूप अनवस्था आ जाती है। समवाय स्वतः आता है ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'सम्बन्धियोंमें संबन्धव्यवहार समवायके आगमनकी अपेक्षा करता है और समवायका आगमन भी सम्बन्धव्यवहारकी अपेक्षा करता है' इसप्रकार इतरेतराश्रयदोष प्राप्त होता है। कार्यके उत्पत्तिदेशमें समवाय पहलेसे रहता है, ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्बन्धियोंके बिना सम्बन्धका सत्त्व माननेमें विरोध आता है। कार्यके उत्पत्तिदेशमें समवाय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय अवयवरहित है अर्थात् नित्य है इसलिये उसकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। समवाय दूसरे समवायकी बिना अपेक्षा किये उत्पन्न होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे पदार्थोंकी

(१)-नानित्य-अ०, आ०।

प्रसङ्गात्। न सापेक्षः; अनवस्थाप्रसङ्गात्। नेश्वरः संघटयति; तस्यासत्त्वात्। ततः स्वयमेवैकत्वापत्तिरिति स्थितम्। सामान्य-विशेषोभयानुभयैकान्तव्यतिरिक्तत्वात् जात्यन्तरं वस्त्विति स्थितम्। तदो सामण्णविसेसविसयत्ते केवलणाण-दंसणाणमभावो होज्ज णिव्विसयत्तादो त्ति सिद्धं। उत्तं च-

"अद्दिट्ठं अण्णादं केवलि एसो हु भासइ सया वि।
एयसमयम्मि हंदि हु वयणविसेसो ण संभवइ ॥१४०॥
अण्णादं पासंतो अदिट्ठमरहा सया वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्हो त्ति वा होइ ॥१४१॥"

§ ३२५. एसो दोसो मा होदु त्ति अंतरंगुज्जोवो केवलदंसणं, बहिरंगत्थविसओ पयासो केवलणाणमिदि इच्छियव्वं। ण च दोण्हमुवजोगाणमक्कमेण वुत्ती विरुद्धा; कम्मकयस्स

भी समवायादिककी अपेक्षा विना किये उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। समवाय दूसरे समवायकी अपेक्षा करके उत्पन्न होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। सामान्य और विशेषका सम्बन्ध ईश्वर करा देता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरका अभाव है। अतएव सामान्य और विशेष स्वयं ही एकपनेको प्राप्त हैं यह निश्चित होता है। इसका यह अभिप्राय है कि वस्तु न सामान्यरूप है, न विशेषरूप है न सर्वथा उभयरूप है और न अनुभयरूप है किन्तु जात्यन्तररूप ही वस्तु है ऐसा सिद्ध होता है।

अतः जब कि सामान्यविशेषात्मक वस्तु है तो केवलदर्शनको केवल सामान्यको विषय करनेवाला मानने पर और केवलज्ञानको केवल विशेषको विषय करनेवाला मानने पर दोनों उपयोगोंका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप पदार्थ नहीं पाये जाते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। कहा भी है-

"यदि दर्शनका विषय केवल सामान्य और ज्ञानका विषय केवल विशेष माना जाय तो केवली जिन जो अदृष्ट है ऐसे ज्ञात पदार्थको तथा जो अज्ञात है ऐसे दृष्ट पदार्थको ही सदा कहते हैं यह आपत्ति प्राप्त होती है। और इसलिये 'एक समयमें ज्ञात और दृष्ट पदार्थको केवली जिन कहते हैं' यह वचनविशेष नहीं बन सकता है ॥१४०॥"

"अज्ञात पदार्थको देखते हुए और अदृष्ट पदार्थको जानते हुए अरहंतदेव क्या जानते हैं और क्या देखते हैं ? तथा उनके सर्वज्ञता भी कैसे बन सकती है ॥१४१॥"

§ ३२५. ये ऊपर कहे गये दोष प्राप्त नहीं हो, इसलिये अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाला प्रकाश केवलज्ञान है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये। दोनों उपयोगोंकी एकसाथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि

(१) सन्मति० २।१२। (२) सन्मति० २।१३। (३)-ह्वुरहा स०।

कमस्स तदभावेण अभावमुवगयस्स तत्थ सत्तविरोहादो ।

"[1]परमाणुआइयाइं अंतिमखंधो त्ति मुत्तिदव्वाइं ॥१४२॥"

इदि वज्झत्थणिद्देसादो ण दंसणमंतरंगत्थविसयमिदि णासंकणिज्जं; विसयणिद्देसदुवारेण विसयिणिद्देसादो अण्णेण पयारेण अंतरंगविसयणिरूवणाणुववत्तीदो । जेण केवलणाणं स-परपयासयं, तेण केवलदंसणं णत्थि त्ति के वि भणंति । एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ–

"[2]मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो ।
केवलियं णाणं पुण णाणं त्ति य दंसणं त्ति य समाणं ॥१४३॥"

§ ३२६. एदं पि ण घडदे; केवलणाणस्स पज्जायस्स पज्जायाभावादो । ण

उपयोगोंकी क्रमवृत्ति कर्मका कार्य है और कर्मका अभाव हो जानेसे उपयोगोंकी क्रमवृत्तिका भी अभाव हो जाता है, इसलिये निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शनकी क्रमवृत्तिके माननेमें विरोध आता है ।

शंका–आगममें कहा है कि "अवधिदर्शन परमाणुसे लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्तिक द्रव्योंको देखता है॥१४२॥" इसमें दर्शनका विषय बाह्य पदार्थ बतलाया है, अतः दर्शन अन्तरंग पदार्थको विषय करता है यह कहना ठीक नहीं है ?

समाधान–ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'परमाणु आदियाइं' इत्यादि गाथामें विषयके निर्देश द्वारा विषयीका निर्देश किया है, क्योंकि अन्तरंग विषयका निरूपण अन्य प्रकारसे किया नहीं जा सकता है । अर्थात् अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है अतः अवधिदर्शनके विषयभूत अन्तरंग पदार्थको बतलानेका अन्य कोई प्रकार न होनेके कारण मूर्तिक पदार्थका अवलम्बन लेकर उसका निर्देश किया है ।

शंका–चूँकि केवलज्ञान स्व और पर दोनोंका प्रकाशक है, इसलिये केवलदर्शन नहीं है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । इस विषयकी उपयुक्त गाथा देते हैं–

"मनःपर्ययज्ञानपर्यन्त ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें विशेष अर्थात् भेद है । परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो ज्ञान और दर्शन दोनों समान हैं ॥१४३॥"

§ ३२६. **समाधान**–परन्तु उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, इसलिये उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है । अर्थात् यदि केवलज्ञानको स्वपरप्रकाशक माना जायगा तो उसकी एक कालमें स्वप्रकाशरूप और परप्रकाशरूप दो पर्यायें माननी पड़ेंगी । किन्तु केवलज्ञान स्वयं परप्रकाशरूप एक पर्याय है अतः उसकी स्वप्रकाशरूप दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है । पर्यायकी पर्यायें होती हैं ऐसा कहना भी

(१) "परमाणुआदियाइं अंतिमखंधं त्ति मुत्तिदव्वाइं । तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥" –गो० जीव० गा० ४८५ । (२) सन्मति० २।३ ।

पज्जायस्स पज्जाया अत्थि; अणवत्थाभावप्पसंगादो। ण केवलणाणं जाणइ पस्सइ वा; तस्स कत्तारत्ताभावादो। तम्हा स-परप्पयासओ जीवो त्ति इच्छियव्वं। ण च दोण्हं पयासाणमेयत्तं; वज्झंतरंगत्थविसयाणं सायार-अणायाराणमेयत्तविरोहादो।

§ ३२७. केवलणाणादो केवलदंसणमभिण्णमिदि केवलदंसणस्स केवलणाणत्तं किण्ण होज्ज? ण; एवं संते विसेसाभावेण णाणस्स वि दंसणत्तप्पसंगादो। ण च केवल-दंसणमव्वत्तं; खीणावरणस्स सामण्ण-विसेसप्पयंतरंगत्थवावदस्स अव्वत्तभावविरोहादो। ण च दोण्हं समाणत्तं फिट्टदि; अण्णोण्णभेएण भिण्णाणमसमाणत्तविरोहादो। किंच,

ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो पहली पर्यायकी दूसरी पर्याय, उसकी तीसरी पर्याय इसप्रकार उत्तरोत्तर पर्यायसन्तति प्राप्त होती है इसलिये अनवस्था दोष आता है। दूसरे, पर्यायकी पर्याय माननेसे पर्याय द्रव्य हो जाती है इसलिये उसमें पर्यायत्वका अभाव प्राप्त होता है। इसप्रकार पर्यायकी पर्याय मान कर भी केवलदर्शन केवलज्ञानरूप नहीं हो सकता है। तथा केवलज्ञान स्वयं न तो जानता ही है और न देखता ही है, क्योंकि वह स्वयं जानने और देखनेरूप क्रियाका कर्ता नहीं है, इसलिये ज्ञानको अन्तरंग और वहिरंग दोनोंका प्रकाशक न मान कर जीव स्व और परका प्रकाशक है ऐसा मानना चाहिये।

केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों प्रकाश एक हैं ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वाह्य पदार्थको विषय करनेवाले साकार उपयोग और अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले अनाकार उपयोगको एक माननेमें विरोध आता है।

§ ३२७. शंका–केवलज्ञानसे केवलदर्शन अभिन्न है, इसलिये केवलदर्शन केवलज्ञान क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रहती है, इसलिये ज्ञानको भी दर्शनपनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि केवलदर्शन अव्यक्त है, इसलिये केवलज्ञान केवलदर्शनरूप नहीं हो सकता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो आवरणसे रहित है और जो सामान्यविशेषात्मक अन्तरंग पदार्थके अवलोकनमें लगा हुआ है ऐसे केवलदर्शनको अव्यक्तरूप स्वीकार करनेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि केवलदर्शनको भी व्यक्त-रूप स्वीकार करनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंकी समानता अर्थात् अनेकता नष्ट हो जायगी सो भी वात नहीं है, क्योंकि परस्परके भेदसे इन दोनोंमें भेद है इसलिये इनमें असमानता अर्थात् एकताके माननेमें विरोध आता है। दूसरे यदि दर्शनका सद्भाव

(१) "परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसणं अणायारं। ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं॥" –सन्मति० २।११।

सत्त कम्माणि होज्ज आवरणिज्जाभावे आवरणस्स सत्तविरोहादो ।

§ ३२८. मइणाणं व जेण दंसणमावरणणिबंधणं तेण खीणावरणिज्जे ण दंसणमिदि के वि भणंति । एत्थुवउज्जंती गाहा–

"[1]भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण संभवइ ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसदो दंसणं णत्थि ॥१४४॥"

§ ३२९. एदं पि ण घडदे; आवरणकयस्स मइणाणस्सेव होउ णाम आवरण-कयचक्खु-अचक्खु-ओहिदंसणाणमावरणाभावेण अभावो ण केवलदंसणस्स; तस्स कम्मेण अजणिदत्तादो । ण कम्मजणिदं केवलदंसणं; सगसरूवपयासेण विणा णिच्चेय-णस्स जीवस्स णाणस्स वि अभावप्पसंगादो ।

न माना जाय तो दर्शनावरणके विना सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करनेयोग्य दर्शनके अभाव मानने पर उसके आवरणका सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

§ ३२८. चूंकि दर्शन मतिज्ञानके समान आवरणके निमित्तसे होता है इसलिये आवरणके नष्ट हो जाने पर दर्शन नहीं रहता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । इस विषयमें उपयुक्त गाथा इसप्रकार है–

"जिसप्रकार ज्ञानावरणसे रहित जिन भगवान्‌में मतिज्ञान नहीं पाया जाता है उसीप्रकार दर्शनावरण कर्मसे रहित जिन भगवान्‌में विशेषरूपसे अर्थात् ज्ञानसे भिन्न दर्शन भी नहीं पाया जाता है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं ॥१४४॥"

§ ३२९. पर उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि जिसप्रकार मतिज्ञान आवरणका कार्य है, इसलिये आवरणके नष्ट हो जाने पर मतिज्ञानका अभाव हो जाता है उसीप्रकार आवरणका अभाव होनेसे आवरणके कार्य चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शनका भी अभाव होता है तो होओ पर इससे केवलदर्शनका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि केवलदर्शन कर्मजनित नहीं है । अर्थात् आवरणके रहते हुए केवलदर्शन नहीं होता है किन्तु उसके अभावमें होता है इसलिये आवरणका अभाव होने पर मतिज्ञानकी तरह केवलदर्शनका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

यदि कहा जाय कि केवलदर्शनको कर्मजनित मान लिया जाय तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसे कर्मजनित माना जायगा तो जिन भगवानके दर्शनावरणका अभाव हो जानेसे केवलदर्शनकी उत्पत्ति नहीं होगी और उसकी उत्पत्ति न होनेसे वे अपने स्वरूपको न जान सकेंगे जिससे जीव अचेतन हो जायगा और ऐसी अवस्थामें उसके ज्ञानका भी अभाव प्राप्त होगा ।

(१) सन्मति० २।६। (२)–चक्खु ओहिचक्खुदंस–स० ।

"जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं ।
अविसेसिदूण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥१४५॥"

एदीए गाहाए सह विरोहो कथं ण जायदे ? ण विरोहो; सामण्णसद्दस्स जीवे पउत्तीदो। सामण्णविसेसप्पओ जीवो कथं सामण्णं ? ण; असेसत्थपयासभावेण राय-दोसाणमभावेण य तस्स समाणत्तदंसणादो । तम्हा केवलणाण-दंसणाणमक्कमेणुप्पण्णाणं अक्कमेणुवजुत्ताणमत्थित्तमिच्छियव्वं । एवं संते केवलणाण-दंसणाणमुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तमेत्तकालो कथं जुज्जदे ? सीह-वग्घ-छवल्ल-सिव-सियालाईहि खज्जमाणेसु उप्पण्ण-केवलणाण-दंसणुक्कस्सकालग्गहणादो जुज्जदे । एदेसिं केवलुवजोगकालो बहुओ किण्ण

शंका–"यह सफेद है यह पीला है इत्यादिरूपसे पदार्थोंकी विशेषता न करके और पदार्थोंके आकारको न लेकरके जो सामान्य ग्रहण होता है उसे जिनागममें दर्शन कहा है ॥१४५॥" इस गाथाके साथ 'दर्शनका विषय अन्तरंग पदार्थ है' इस कथनका विरोध कैसे नहीं होता है अर्थात् होता ही है ?

समाधान–पूर्वोक्त कथनका इस गाथाके साथ विरोध नहीं होता है, क्योंकि उक्त गाथामें जो सामान्य शब्द दिया है उसकी प्रवृत्ति जीवमें जाननी चाहिये अर्थात् 'सामान्य' पद से यहां जीवका ग्रहण किया है ।

शंका–जीव सामान्यविशेषात्मक है वह केवल सामान्य कैसे हो सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जीव समस्त पदार्थोंको विना किसी भेदभावके जानता है और उसमें राग-द्वेषका अभाव है इसलिये जीवमें समानता देखी जाती है । इसलिये एकसाथ उत्पन्न हुए और एकसाथ उपयुक्त हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनका अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये ।

शंका–यदि ऐसा है तो केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंका उत्कृष्टरूपसे अन्तर्मुहूर्त काल कैसे वन सकता है ?

समाधान–चूँकि, यहां पर सिंह, व्याघ्र, छवल्ल, शिवा और स्याल आदिके द्वारा खाये जानेवाले जीवोंमें उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनके उत्कृष्ट कालका ग्रहण किया है इसलिये इनका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल वन जाता है ।

शंका–व्याघ्र आदिके द्वारा खाये जानेवाले जीवोंके केवलज्ञानके उपयोगका काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक क्यों नहीं होता है ?

(१)–गो० जीव० गा० ४८२। द्रव्यसं० गा० ४३ । (२) "तत्र आत्मनः सकलवाह्यसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात् ।"–ध० सं० पृ० १४७। "सामान्यग्रहणम् आत्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत् ? आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन् 'इदं जानामि इदं न जानामि' इति विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति । तेन कारणेन सामान्यशब्देन आत्मा भण्यते ।"–बृहद्द्रव्य० पृ० १७३। (३)–त्लसिया–अ०, आ०, स० ।

होदि ? ण; चरमदेहधारीणमवमच्चुवज्जियाणं सावएहिं खज्जमाणसरीराणं उक्कस्सेण वि अंतोमुहुत्तावसेसे चेव केवलुप्पत्तीदो। तब्भवत्थकेवलुवजोगस्स देसूणपुव्वकोडिमेत्तकाले संते किमट्ठमेसो कालो परूविदो ? दड्ढद्धंगाणं जज्जरीकयावयवाणं च केवलीणं विहारो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं।

§ ३३०. एयत्तवियक्कअवीचारझाणस्स उक्कस्सकालो विसेसाहियो। पुधत्तवियक्कवीचारझाणस्स उक्कस्सकालो दुगुणो। कुदो एदं णव्वदे? गाहासुत्तादो। पडिवदमाणसुहुमसांपराइयस्स उक्कस्सकालो विसेसाहिओ। चडमाणसुहुमसांपराइयउवसामयस्स उक्क-

समाधान–नहीं, क्योंकि जो अपमृत्युसे रहित हैं किन्तु जिनका शरीर हिंस्रप्राणियोंके द्वारा खाया गया है ऐसे चरमशरीरी जीवोंके उत्कृष्टरूपसे भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयुके शेष रहने पर ही केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इसलिये ऐसे जीवोंके केवलज्ञानका उपयोगकाल वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होता है।

शंका–तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञानका उपयोगकाल कुछ कम पूर्वकोटीप्रमाण पाया जाता है, ऐसी अवस्थामें यहां यह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही काल किसलिये कहा है ?

समाधान–जिनका आधा शरीर जल गया है और जिनके शरीरके अवयव जर्जरित कर दिये गये हैं ऐसे केवलियोंका विहार नहीं होता है, इस बातका ज्ञान करानेके लिये यहां केवलज्ञानके उपयोगका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है।

विशेषार्थ–यद्यपि यह ठीक है कि तद्भवस्थकेवलीका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि प्रमाण है पर यहां ऐसे तद्भवस्थ केवलीकी विवक्षा न होकर, जिनका शरीर जलकर या हिंस्र प्राणियोंके द्वारा खाये जानेसे जर्जरित हो गया है और जिन्हें अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुके शेष रहने पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसे तद्भवस्थ केवलीकी विवक्षा है, अतएव इस अपेक्षासे केवलज्ञान और केवलदर्शनके जघन्य और उत्कृष्ट कालको अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहनेमें कोई बाधा नहीं आती है।

§ ३३०. केवलज्ञानके उत्कृष्ट कालसे एकत्ववितर्कअवीचारध्यानका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका उत्कृष्ट काल दूना है।

शंका–एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानके उत्कृष्ट कालसे पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका उत्कृष्ट काल दूना है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान–इस ही छठे गाथासूत्रसे जाना जाता है कि एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानके उत्कृष्ट कालसे पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका उत्कृष्ट काल दूना है।

पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानके उत्कृष्ट कालसे उपशान्तकषायसे गिरते हुए सूक्ष्मसांपरायिक जीवका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे चढ़नेवाले उपशामक सूक्ष्मसांपरायिक

(१) पच्चदे अ०, आ०।

स्सकालो विसेसाहियो। सुहुमसांपराइयक्खवयस्स उक्कस्सकालो विसेसाहियो। माण-उक्कस्सकालो दुगुणो। कोहउक्कस्सकालो विसेसाहिओ। मायाउक्कस्सकालो विसेसा-हिओ। लोहउक्कस्सकालो विसेसाहिओ। खुद्दाभवग्गहणउक्कस्सकालो विसेसाहिओ। किट्टीकरणुक्कस्सकालो विसेसाहिओ। संकामयउक्कस्सकालो विसेसाहिओ। ओवट्टणाए उक्कस्सकालो विसेसाहिओ। उवसंतकसायस्स उक्कस्सकालो दुगुणो। खीणकसायस्स उक्कस्सकालो विसेसाहिओ। अंतरकरणे कदे चारित्तमोहणीयस्स उवसामओ णाम होदि। तस्स उक्कस्सकालो दुगुणो। अंतकरणे कदे चारित्तमोहणीयस्स खवओ णाम होदि। तस्स उक्कस्सकालो विसेसाहिओ। एवमद्धाणमप्पाबहुअं परूविदं।

§ ३३१. संपहि पण्णारससु अत्थाहियारेसु एत्थ पढमत्थाहियारपरूवणट्ठं जइव-सहाइरिओ उत्तरसुत्तं भणदि–

* एत्तो सुत्तसमोदारो।

जीवका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे क्षपक सूक्ष्मसांपरायिक जीवका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे मानका उत्कृष्ट काल दूना है। इससे क्रोधका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे मायाका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे लोभका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे क्षुद्रभवग्रहणका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे कृष्टिकरणका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे संक्रामकका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे अप-वर्तनाका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे उपशान्तकषायका उत्कृष्ट काल दूना है। इससे क्षीणकषायका उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। अन्तरकरणके कर लेने पर जीव चारित्रमोह-नीयका उपशामक होता है। इस उपशामकका उत्कृष्ट काल क्षीणकषायके उत्कृष्ट कालसे दूना है। अन्तरकरण कर लेने पर जीव चारित्रमोहनीयका क्षपक होता है। इस क्षपकका उत्कृष्ट काल उपशामकके उत्कृष्ट कालसे विशेष अधिक है। इसप्रकार कालोंके अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ।

§ ३३१. अब यहां पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे पहले अर्थाधिकारका कथन करनेके लिये यतिवृषभ आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं–

* इस अल्पबहुत्वके कथनके अनन्तर सूत्रका अवतार होता है।

विशेषार्थ–'पेज्जं वा दोसो वा' इत्यादि कही जानेवाली गाथाके पहले बारह संबन्ध गाथाओं, पन्द्रह अधिकारोंके नामोंका निर्देश करनेवाली दो गाथाओं और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छह गाथाओंका व्याख्यान किया जा चुका है। इनमेंसे बारह संबन्ध गाथाएं पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे किस अर्थाधिकारमें कितनी गाथाएँ आई हैं केवल इसका कथन करती हैं, इसलिये उनका पन्द्रह अर्थाधिकारोंके मूल विषयके प्रतिपादनसे कोई संबन्ध नहीं है। अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छह गाथाएं विवक्षित स्थानोंमें केवल कालके

§ ३३२. 'एत्तो' एदम्हादो अप्पाबहुआदो उवरि त्ति भणिदं होदि। 'सुत्तसमोदारो' सुत्तस्स अवयारो 'होदि' त्ति संबंधणिज्जं। पुव्विल्लबारहगाहाओ अद्धाणमप्पाबहुए पडिबद्धगाहाओ च सुत्तं चेव; गुणहरमुहविणिग्गयत्तादो। तासिं सुत्तसण्णामकाऊण एत्तो उवरिमगाहाणं सुत्तसण्णा किमट्ठं कीरदे? एत्तो उवरिमगाहाओ कसायपाहुडस्स पण्णारसअत्थाहियारेसु पडिबद्धाओ, पुव्वुत्तबारहगाहाओ अद्धापरिमाणणिद्देसगाहाओ च सयलाहियारसाहारणत्थपरूवणादो ण तत्थ पडिबद्धाओ त्ति जाणावणट्ठं। 'सं' इदि विसेसणं किमट्ठं उच्चदे? णिरुद्धदोसाणुसंगेण अवयारो कीरदि त्ति जाणावणट्ठं।

अल्पबहुत्वका कथन करती हैं, इसलिये इनका भी पन्द्रह अर्थाधिकारोंके मूल विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा नामनिर्देश करनेवाली दो गाथाएं पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामोंका उल्लेखमात्र करती हैं, इसलिये इनका भी पन्द्रह अर्थाधिकारोंके प्रतिपाद्य विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है, इस बातका विचार करके यतिवृषभ आचार्यने 'पेज्जं वा दोसो वा' इत्यादि गाथाके पहले 'एत्तो सुत्तसमोदारो' यह चूर्णिसूत्र कहा है, क्योंकि पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे पेज्जदोसविहत्ती नामक पहले अर्थाधिकारके प्रतिपाद्य विषयका यहींसे प्रारंभ होता है। इसके पहले जो कुछ कहा गया है वह विषयकी उत्थानिकामात्र है।

§ ३३२. सूत्रमें आये हुए 'एत्तो' पदका अर्थ 'इस अल्पबहुत्वके ऊपर' ऐसा होता है। जिससे ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये कि इस अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके ऊपर 'सुत्तसमोदारो' सूत्रका अवतार होता है।

शंका–पन्द्रह अधिकारोंमेंसे किस अधिकारमें कितनी गाथाएं हैं इसका कथन करनेवाली पहलेकी बारह गाथाएं और कालोंके अल्पबहुत्वसे सम्बन्ध रखनेवाली छह गाथाएं सूत्र ही हैं, क्योंकि ये गाथाएं गुणधर आचार्यके मुखसे निकली हैं। फिर भी इन अठारह गाथाओंको सूत्र न कहकर आगे आनेवाली गाथाओंको किसलिये सूत्र कहा है?

समाधान–इस अल्पबहुत्वसे आगेकी गाथाएं कषायप्राभृतके पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे सम्बन्ध रखती हैं। किन्तु पहलेकी बारह गाथाएं और अद्धापरिमाणनिर्देशसम्बन्धी छह गाथाएं समस्त अधिकारोंके साधारण अर्थका कथन करनेवाली होनेसे पन्द्रह अधिकारोंमेंसे किसी एक ही अधिकारसे सम्बन्ध नहीं रखती हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये इन गाथाओंको छोड़कर शेष गाथाओंको ही सूत्र संज्ञा दी गई है।

शंका–समवतार पदमें 'सं' यह विशेषण किसलिये दिया है?

समाधान–दोषोंके संसर्गको दूर करके सूत्रका अवतार किया जाता है, इस बातका ज्ञान करानेके लिये समवतार पदमें 'सं' विशेषण दिया है।

विशेषार्थ–यद्यपि पहले बारह संबन्ध गाथाओं, पन्द्रह अर्थाधिकारोंके नामोंका निर्देश करनेवाली दो गाथाओं और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छह गाथाओं इसप्रकार

पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स ।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायए को कहिं वा वि ॥२१॥

§ ३३३. एदस्स[1] गणहरगुणहराइरियआसंकासुत्तस्स पेज्जदोसत्थाहियारपडिबद्धस्स अत्थो वुच्चदे। तं जहा, 'कस्स' 'कम्मि' त्ति वे वि पदाणि अंतोभावियविच्छत्थाणि, तेणेवं सुत्तत्थो संबंधेयव्वो । कस्स णयस्स कम्मि कम्मि कसायम्मि पेज्जं होदि । तदिओ 'वा' सद्दो कसायम्मि जोजेयव्वो । तेण विदिओ अत्थो एवं वत्तव्वो–कम्मि वा कसायम्मि

कुल वीस गाथाओंका व्याख्यान किया जा चुका है, फिर भी प्रकृतमें वारह सम्बन्ध गाथाएं और छह अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली गाथाएं इसप्रकार कुल अठारह गाथाओंको सूत्र क्यों नहीं कहा इसप्रकार शंका की गई है। इसका यह कारण है कि पन्द्रह अर्थाधिकारोंका नामनिर्देश करनेवाली दो गाथाओंका समावेश एकसौ अस्सी गाथाओंमें हो जाता है और एकसौ अस्सी गाथाओंको 'गाहासदे असीदे' इत्यादि गाथाके द्वारा सूत्र संज्ञा दे ही आये हैं। उपर्युक्त अठारह गाथाओंका उन एकसौ अस्सी गाथाओंमें समावेश नहीं होता इसलिये यह शंका बनी रहती है कि अठारह गाथाएं सूत्र हैं या नहीं ? अतः केवल इन अठारह गाथाओंके सम्बन्धमें शंका की गई है। इस शंकाका जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि यद्यपि कषायप्राभृतमें आई हुई सभी गाथाएं सूत्र हैं फिर भी इन अठारह गाथाओंका पन्द्रह अर्थाधिकारोंके मूल विषयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका ज्ञान करानेके लिये इससे आगे कहे जानेवाले ग्रन्थको सूत्र कहा है। यहां सूत्रका अर्थ ग्रन्थ है। जिससे 'इस अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके आगे कषायप्राभृत ग्रन्थका अवतार होता है इसप्रकार निष्कर्ष निकाल लेनेसे दोसौ तेतीस गाथाओंको सूत्र संज्ञा भी प्राप्त हो जाती है और 'एत्तो सुत्तसमोदारो' इस वचनकी भी सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

*** किस नयकी अपेक्षा किस किस कषायमें पेज्ज होता है अथवा किस कषायमें किस नयकी अपेक्षा दोष होता है ? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है ?**

§ ३३३. संघके धारक गुणधर आचार्यके द्वारा कहे गये पेज्जदोष नामक अर्थाधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाले इस आशंका सूत्रका अर्थ कहते हैं। वह इसप्रकार है–'कस्स' और 'कम्मि' इन दोनों पदोंमें वीप्सारूप अर्थ गर्भित है। इसलिये सूत्रका अर्थ इसप्रकार लगाना चाहिये–किस नयकी अपेक्षा किस किस कषायमें पेज्ज (द्रव्य) होता है ? गाथामें आये हुए तीसरे 'वा' शब्दको 'कसायम्मि' इस पदके साथ जोड़ना चाहिये। इसलिये दूसरा अर्थ इसप्रकार कहना चाहिये–अथवा किस कषायमें किस नयकी अपेक्षा दोष होता है ? कौन

(१) एदिस्से ग–स०।

कस्स वा णयस्स दोसो वा होदि त्ति। को को णओ कम्मि कम्मि दव्वे दुट्ठो वा होदि को वा कम्मि पियायदे त्ति।

§ ३३४. अपिशब्दो निपातत्वादनेकेष्वर्थेषु वर्तमानोऽप्यत्र चेदित्येतस्यार्थ (र्थे) ग्राह्यः। एतेनाशङ्का द्योतिता आत्मीया गुणधरवाचकेन। उवरि जत्थ 'अवि' सद्दो णत्थि, तत्थ वि एसो चेव अणुवट्टावेयव्वो। एवमासंकिऊण गुणहराइरिएण गंथेण विणा वक्खाणिज्जमाणत्थो णिण्णिबंधणो दुरवहारो त्ति जइवसहाइरिएण णिबंधणं भणिदं।

*** एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा। तं जहा, णेगम-संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो, माया पेज्जं, लोहो पेज्जं।**

§ ३३५. 'एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स' इत्ति ण वत्तव्वं, अभणिदे वि अवगम्ममाणत्तादो। ण एस दोसो; मंदबुद्धिजणमस्सिऊण परूविदत्तादो। कोहो दोसो; अङ्गसन्ताप-

कौन नय किस किस द्रव्यमें दुष्ट होता है और कौन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है?

§ ३३४. 'अपि' शब्द निपातरूप होनेसे यद्यपि अनेक अर्थोंमें पाया जाता है तो भी यहां 'चेत्' इस अर्थमें उसका ग्रहण करना चाहिये। इसके द्वारा गुणधर वाचकने अपनी आशंका प्रकट की है। आगे जिस सूत्रगाथामें 'अपि' शब्द नहीं पाया जाता है वहां भी इसी 'अपि' शब्दकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये। इसप्रकार आशंका करके गुणधर आचार्य ग्रन्थके विना जिस अर्थका व्याख्यान करते हैं वह अर्थ निबन्धनके विना धारण करनेके लिये कठिन है इसलिये यतिवृषभ आचार्यने निबन्धन कहा है। अर्थात् उक्त गाथासूत्रमें केवल कुछ आशंकाएं की हैं और उनके द्वारा ही वे प्रकृत अर्थके निरूपणकी सूचना करते हैं। किन्तु जबतक उसका सम्बन्ध नहीं बतलाया जायगा तब तक उस अर्थको ग्रहण करना कठिन होगा। अतः प्रकृत अर्थका सम्बन्ध बतलानेके लिये यतिवृषभ आचार्यने सूत्र कहा है।

*** इस गाथाके पूर्वार्धका विशेष विवरण करना चाहिये। वह इसप्रकार है–नैगमनय और संग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया पेज्ज है और लोभ पेज्ज है।**

३३५. शंका–चूर्णिसूत्रमें 'एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स' यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इसके नहीं कहने पर भी उसका ज्ञान हो जाता है?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन्दबुद्धि प्राणियोंका विचार करके उक्त पद कहा है।

क्रोध दोष है, क्योंकि क्रोधके करनेसे शरीरमें संताप होता है, शरीर कांपने लगता है, उसकी कान्ति बिगड़ जाती है, आंखोंके सामने अँधियारी छा जाती है, कान बहरे हो

(१) "सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसिऊण भासा विभासा विवरणं ति वुत्तं होदि।"–जयध० प्रे० पृ० ३११९। (२) "कोहं माणं च[illegible] बेइ संगहो दोसं। माया[illegible] रागं॥"–विशेषा० गा० ३५३६। (३) [illegible]।

कम्पच्छायाभङ्गान्ध्य-बाधिर्य्य-मो (मौ) क्य-स्मृतिविलोपादिहेतुत्वात्, पितृमात्रादि-प्राणिमारणहेतुत्वात्, सकलानर्थनिबन्धनत्वात्। माणो दोसो क्रोधपृष्ठभावित्वात्, क्रोधोक्ताशेपदोपनिबन्धनत्वात्। माया पेज्जं प्रेयोवस्त्वालम्बनत्वात्, स्वनिष्पत्त्युत्तरकाले मनसः सन्तोपोत्पादकत्वात्। लोहो पेज्जं आल्हादनहेतुत्वात्।

§ ३३६. क्रोध-मान-माया-लोभाः दोषः आस्रवत्वादिति चेत्; सत्यमेतत्; किन्त्वत्र आल्हादनानाल्हादनहेतुमात्रं विवक्षितं तेन नायं दोषः। प्रेयसि प्रविष्टदोषत्वाद्वा माया-लोभौ प्रेयान्सौ। अरइ-सोय-भय-दुगुंछाओ दोसो; कोहोव्व असुहकारणत्तादो। हस्स-

जाते हैं, मुखसे शब्द नहीं निकलता है, स्मृति लुप्त हो जाती है आदि। तथा गुस्सेमें आकर मनुष्य अपने पिता और माता आदि प्राणियोंको मार डालता है और गुस्सा सकल अनर्थोंका कारण है।

मान दोष है, क्योंकि वह क्रोधके अनन्तर उत्पन्न होता है और क्रोधके विषयमें कहे गये समस्त दोषोंका कारण है। माया पेज्ज है, क्योंकि उसका आलम्बन प्रिय वस्तु है, अर्थात् अपने लिये प्रिय वस्तुकी प्राप्ति आदिके लिये ही माया की जाती है। तथा वह अपनी निष्पत्तिके अनन्तर कालमें मनमें सन्तोषको उत्पन्न करती है, अर्थात् मायाचारके सफल हो जाने पर मनुष्यको प्रसन्नता होती है। इसीप्रकार लोभ पेज्ज है, क्योंकि वह प्रसन्नताका कारण है।

§ ३३६. **शंका**–क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों दोष हैं, क्योंकि वे स्वयं आस्रवरूप हैं या आस्रवके कारण हैं?

समाधान–यह कहना ठीक है किन्तु यहां पर कौन कषाय आनन्दकी कारण है और कौन आनन्दकी कारण नहीं है इतनेमात्रकी विवक्षा है इसलिये यह कोई दोष नहीं है। अथवा प्रेममें दोषपना पाया ही जाता है, अतः माया और लोभ प्रेय अर्थात् पेज्ज हैं।

विशेषार्थ–यद्यपि कषायोंके स्वरूपका विचार करनेसे चारों कषाय दोषरूप हैं, क्योंकि वे संसारकी कारण हैं। उनके रहते हुए जीव कर्मबन्धसे मुक्त होकर स्वतन्त्र नहीं हो सकता। पर यहां इस दृष्टिकोणसे विचार नहीं किया गया है। यहां तो केवल इस बातका विचार किया जा रहा है कि उक्त चार कषायोंमेंसे किन कषायोंके होने पर जीवको आनन्दका अनुभव होता है और किन कषायोंके होने पर जीवको दुःखका अनुभव होता है। इन चारों कषायोंमेंसे क्रोध और मानको इसलिये दोषरूप बतलाया है कि उनके होने पर जीव अपने विवेकको खो बैठता है और उनसे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। तथा माया और लोभको इसलिये पेज्जरूप बतलाया है कि उनके होनेका मुख्य कारण प्रिय वस्तु है या उनके सफल हो जाने पर आनन्द होता है।

अरति, शोक, भय और जुगुप्सा दोषरूप हैं, क्योंकि ये सब क्रोधके समान अशु-

रइ-इत्थि-पुरिस-णवुंसयवेया पेज्जं; लोहो व्व रायकारणत्तादो। कधमेदमणुद्दिट्ठं णव्वदे ? गुरूवएसादो, देसामासियचुण्णिसुत्तमवलंबिय पयट्टादो।

*** ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो पेज्जं।**

§ ३३७. क्रोध-मानौ दोष इति न्याय्यं तत्र लोके दोषव्यवहारदर्शनात्, न माया तत्र तद्व्यवहारानुपलम्भादिति; न; मायायामपि अप्रत्ययहेतुत्व-लोकगर्हितत्वयोरुपलम्भात्। न च लोकनिन्दितं प्रियं भवति; सर्वदा निन्दातो दुःखोत्पत्तेः।

भके कारण हैं। तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद पेज्जरूप हैं, क्योंकि ये सब लोभके समान रागके कारण हैं।

शंका–अरति आदि दोषरूप हैं और हास्य आदि पेज्जरूप हैं यह सब तो चूर्णिसूत्रकारने नहीं कहा है, इसलिये ये अमुकरूप हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान–गुरुके उपदेशसे जाना जाता है। अथवा चूर्णिसूत्र देशामर्षक है, इसलिये उसका अवलंबन लेकर उक्त कथन किया गया है।

विशेषार्थ–हास्य, रति और तीनों वेद पेज्ज हैं तथा अरति, शोक, भय और जुगुप्सा दोष हैं यह व्यवस्था चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रमें नहीं दी है। उन्होंने केवल क्रोध और मानको दोष तथा माया और लोभको पेज्ज कहा है, अतः हास्यादि पेज्जरूप हैं और अरति आदि दोषरूप हैं यह चूर्णिसूत्रसे तो नहीं जाना जाता है फिर इन्हें पेज्ज और दोषरूप जो कहा गया है वह युक्त नहीं है यह उपर्युक्त शंकाका सार है। इसका जो समाधान किया गया है वह निम्नप्रकार है–यद्यपि चूर्णिसूत्रकारने अपने चूर्णिसूत्रमें हास्यादिको पेज्ज और अरति आदिको दोष नहीं कहा है यह ठीक है फिर भी क्रोध और मानको दोष तथा माया और लोभको पेज्ज कहने वाला उपर्युक्त सूत्र देशामर्षक है इसलिये देशामर्षकभावसे 'हास्यादि पेज्ज हैं और अरति आदि दोष हैं' इस कथनका भी ग्रहण हो जाता है। देशामर्षकका अर्थ पृष्ठ १२ के विशेषार्थमें खोल आये हैं, इसलिये वहांसे जान लेना चाहिये।

*** व्यवहार नयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ पेज्ज है।**

§ ३३७. **शंका**–क्रोध और मान दोष हैं यह कहना तो युक्त है, क्योंकि लोकमें क्रोध और मानमें दोषका व्यवहार देखा जाता है। परन्तु मायाको दोष कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मायामें दोषका व्यवहार नहीं देखा जाता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि मायामें भी अविश्वासका कारणपना और लोकनिन्दितपना देखा जाता है। और जो वस्तु लोकनिन्दित होती है वह प्रिय नहीं हो सकती है, क्योंकि

(१) "मायं पि दोसमिच्छइ ववहारो जं परोवघायाय। नाओवादाणे च्चिय मुच्छा लोभो त्ति तो रागो॥"–विशेषा० गा० ३५३७।

§ ३३८. लोहो पेज्जं लोभेन रक्षितद्रव्यस्य सुखेन जीवनोपलम्भात्। इत्थि-पुरिसवेया पेज्जं सेसणोकसाया दोसो; तहा लोए संववहारदंसणादो।

※ उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णोदोसो णोपेज्जं, माया णो दोसो णोपेज्जं, लोहो पेज्जं।

§ ३३९. कोहो दोसो त्ति णव्वदे; सयलाणत्थहेउत्तादो। लोहो पेज्जं त्ति एदं पि सुगमं, तत्तो समुप्पज्जमाणंतोसुवलंभादो। पंपावसेण कुभोयणं भुंजंतस्स मलिणपट्टत्थोर-वसणस्स कत्तो आहलादो? ण; तहेव तस्स संतोसुवलंभादो। किंतु माण-मायाओ णो-दोसो णोपेज्जं त्ति एदं ण णव्वदे पेज्ज-दोसवज्जियस्स कसायस्स अणुवलंभादो त्ति।

§ ३४०. एत्थ परिहारो उच्चदे, माण-माया णोदोसो; अंगसंतावाईणमकारणत्तादो। तत्तो समुप्पज्जमाणअंगसंतावादओ दीसंति त्ति ण पच्चवट्टादुं जुत्तं; माणणिबंधणकोहादो

निन्दासे हमेशा दुःख ही उत्पन्न होता है।

३३८. लोभ पेज्ज है, क्योंकि लोभके द्वारा बचाये हुए द्रव्यसे जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता हुआ पाया जाता है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद पेज्ज हैं, और शेष नोकषाय दोष हैं क्योंकि लोकमें उनके बारेमें इसीप्रकारका व्यवहार देखा जाता है।

※ ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान न दोष है और न पेज्ज है, माया न दोष है और न पेज्ज है तथा लोभ पेज्ज है।

§ ३३९. शंका–क्रोध दोष है यह तो समझमें आता है, क्योंकि वह समस्त अनर्थोंका कारण है। लोभ पेज्ज है यह भी सरल है, क्योंकि लोभसे आनन्द उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। यदि कहा जाय कि तीव्र लालचके कारण जो कुभोजन करता है जिसके कपड़े मैले हैं अथवा जिसके पास पहननेके पूरेसे वस्त्र भी नहीं है उसे आनन्द कैसे हो सकता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लोभी पुरुषको ऐसी ही बातोंसे संतोष प्राप्त होता है, इसलिये लोभ पेज्ज है, यह कहना ठीक है। किन्तु मान और माया न दोष हैं और न पेज्ज हैं, यह कहना नहीं बनता, क्योंकि पेज्ज और दोषसे भिन्न कषाय नहीं पाई जाती है?

§ ३४०. समाधान–यहां उक्त शंकाका समाधान करते हैं–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा मान और माया दोष नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों अंगसंताप आदिके कारण नहीं हैं। यदि कहा जाय कि मान और मायासे अंगसंताप आदि उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं सो ऐसा कहना भी

(१) "उज्जुसुयमयं कोहो दोसो सेसाणमयमणेगंतो। रागो त्ति व दोसो त्ति व परिणामवसेण अवसेओ॥ संपयगाहि त्ति नओ न उवजोगदुगमेगकालम्मि। अप्पीइपीइमेत्तोवओगओ तं तहा दिसइ॥ माणो रागो त्ति मओ साहंकारोवओगकालम्मि। सो चेव होइ दोसो परगुणदोसोवओगम्मि॥ माया लोभो चेवं परोवघाओवओगओ दोसो। मुच्छोवओगकाले रागोऽभिस्संगलिंगो त्ति॥"–विशेषा० गा० ३५३८–४१। (२)–णदोसुव–अ०, आ०।

मायाणिबंधणलोहादो च समुप्पज्जमाणाणं तेसिमुवलंभादो । ण च ववहियं कारणं; अणवत्थावत्तीदो । ण च वे वि पेज्जं; तत्तो समुप्पज्जमाणआहलादाणुवलंभादो । तम्हा माण-माया वे वि णोदोसो णोपेज्जं ति जुज्जदे ।

* सद्दस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो दोसो । कोहो माणो माया णोपेज्जं, लोहो सिया पेज्जं ।

§ ३४१. कोह-माण-माया-लोहा चत्तारि वि दोसो; अट्ठकम्मासवत्तादो, इह-परलोयविसेसदोसकारणत्तादो । अत्रोपयोगी श्लोकः–

> क्रोधात्प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघातमाप्नोति ।
> शाठ्यात्प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशको लोभः ॥१४६॥"

§ ३४२. कोहो माणो माया णोपेज्जं; एदेहिंतो जीवस्स संतोस-परमाणंदाणमभावादो । लोहो सिया पेज्जं; तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो ।

युक्त नहीं है, क्योंकि वहां जो अंगसंताप आदि देखे जाते हैं, वे मान और मायासे न होकर मानसे होनेवाले क्रोधसे और मायासे होनेवाले लोभसे ही सीधे उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं। अतः व्यवधानयुक्त होनेसे वे कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि व्यवहितको कारण माननेसे अनवस्था दोष प्राप्त होता है । उसीप्रकार मान और माया ये दोनों पेज्ज भी नहीं हैं, क्योंकि उनसे आनन्दकी उत्पत्ति होती हुई नहीं पाई जाती है । इसलिये मान और माया ये दोनों न दोष हैं और न पेज्ज हैं, यह कथन बन जाता है ।

* शब्दनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ दोष है । क्रोध, मान और माया पेज्ज नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है ।

§ ३४१. क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों दोष हैं, क्योंकि ये आठों कर्मोंके आश्रवके कारण हैं तथा इस लोक और परलोकमें विशेष दोषके कारण हैं । यहां उपयोगी श्लोक देते हैं–

"मनुष्य क्रोधसे प्रीतिका नाश करता है, मानसे विनयका घात करता है और शठतासे विश्वास खो बैठता है । तथा लोभ समस्त गुणोंका नाश करता है ॥१४६॥"

§ ३४२. क्रोध, मान, और माया ये तीनों पेज्ज नहीं हैं, क्योंकि इनसे जीवको संतोष और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती है । लोभ कथंचित् पेज्ज है, क्योंकि रत्नत्रयके

(१)–स सदा–स० । (२) "सद्दादणयं माणे मायाए वि य [illegible] । [illegible] जओ स तत्थेव अवरद्धो ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥"–विशेषा० गा० ३५४२–४४ । (३) "कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥"–दशवै० ८।३।३८ । "क्रोधात्प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघात-मवाप्नोति । शाठ्यात् प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥"–प्रशम० श्लो० २५ ।

सवत्थुविसयलोहो णोपेज्जं; तत्तो पावुप्पत्तिदंसणादो। ण च धम्मो ण पेज्जं; सुह-दुक्खकारणाणं धम्माधम्माणं पेज्जदोसत्ताभावे तेसिं दोण्हं पि अभावप्पसंगादो।

§ ३४३. 'दुट्ठो व कम्हि दव्वे' त्ति एयस्स गाहावयवस्स अत्थो वुच्चदि त्ति। जाणाविद-सुत्तेण णेदं परूवेदव्वं सुगमत्तादो; ण एस दोसो; मंदमेहजणाणुग्गहट्ठं परूविदत्तादो।

* णेगमस्स।

§ ३४४. णेगमणयस्स ताव उच्चदे; सव्वेसिं णयाणमक्कमेण भणणोवायाभावादो।

* दुट्ठो सिया जीवे सिया णो जीवे एवमट्ठभंगेसु।

§ ३४५. सियासद्दो णिवायत्तादो जदि वि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे, तो वि एत्थ वि काले देसे' त्ति एदेसु अत्थेसु वट्टमाणो घेत्तव्वो। 'जीवे' एकस्मिन् जीवे क्वचित् चेद् द्विष्टो भवति, स्पष्टं तथोपलम्भात्। 'सिया णोजीवे' क्वचित्कदाचिदजीवे द्विष्टो

विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है। तथा शेष पदार्थविषयक पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पापकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कहा जाय कि धर्म ज्ज नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुख और दुःखके कारणभूत धर्म अधर्मको पेज्ज और दोषरूप नहीं मानने पर धर्म और अधर्मके भी अभावका प्राप्त होता है।

§ ३४३. अब गाथाके 'दुट्ठो व कम्हि दव्वे' इस अंशका अर्थ कहते हैं–

शंका–पूर्वोक्त सूत्रके द्वारा गाथाके इस अंशके अर्थका ज्ञान हो ही जाता है, इस उसका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सरल है।

समाधान–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन्दबुद्धि जनोंके अनुग्रहके लिये गाथाके अंशके अर्थका कथन किया है।

* 'दुट्ठो व कम्हि दव्वे' इस पादका अर्थ नैगमनयकी अपेक्षा कहते हैं।

§ ३४४. पहले नैगमनयकी अपेक्षा कहते हैं, क्योंकि समस्त नयोंकी अपेक्षा एकसाथ करनेका कोई उपाय नहीं है।

* नैगमनयकी अपेक्षा जीव किसी कालमें या किसी देशमें जीवमें द्विष्ट अर्थात् क्त होता है और किसी कालमें या किसी देशमें अजीवमें द्विष्ट होता है। इसी- आठों भंगोंमें समझना चाहिये।

§ ३४५. 'स्यात्' शब्द निपातरूप होनेसे यद्यपि अनेक अर्थोंमें रहता है तो भी यहां किसी भी कालमें और किसी भी देशमें' इस अर्थमें उसका ग्रहण करना चाहिये। जीवमें अर्थात् एक जीवमें कहीं पर और किसी कालमें द्विष्ट होता है, यह बिलकुल है, क्योंकि जीव जीवसे द्वेष करता हुआ पाया जाता है। कहीं पर और किसी कालमें एक अजीवमें द्विष्ट अर्थात् द्वेषयुक्त होता है, क्योंकि कभी कभी इसप्रकारसे अजीवमें

भवति; कदाचित्तथाऽप्रियत्वदर्शनात्। 'एवमट्ठभंगेसु' एदेहि दोहि भंगेहि सह अट्ठसु भंगेसु दुट्ठो वत्तव्वो। तं जहा, सिया जीवेसु, सिया णोजीवेसु, सिया जीवे च णोजीवे च, सिया जीवे च णोजीवेसु च, सिया जीवेसु च णोजीवे च, सिया जीवेसु च णोजीवेसु च जीवो दुट्ठो होदि त्ति अट्ठ भंगा। ण च एदेसु कोहुप्पत्ती अप्पसिद्धा; उवलंभादो।

*** 'पियायदे को कहिं वा वि' त्ति एत्थ वि णेगमस्स अट्ठ भंगा।**

§ ३४६. 'कः कस्मिन्नर्थे प्रियायते' इत्यत्रापि नैगमनयस्याष्टौ भंगा वक्तव्याः। न चैतेऽप्रसिद्धाः; उपलम्भात्। के ते अट्ठ भंगा? वुच्चदे-सिया जीवे, सिया णोजीवे, सिया जीवेसु, सिया णोजीवेसु, सिया जीवे च णोजीवे च, सिया जीवे च णोजीवेसु च, सिया जीवेसु च णोजीवे च, सिया जीवेसु च णोजीवेसु च पियत्तं होदि णेगमस्स। कुदो एदस्स अट्ठभंगा वुच्चंति? संगहासंगहविसयत्तादो।

अप्रीति देखी जाती है। इसीप्रकार आठों भंगोंमें समझना चाहिये। अर्थात् इन दोनों भंगोंके साथ आठों भंगोंमें द्विष्टका कथन करना चाहिये। वह इसप्रकार है-जीव कहीं और कभी अनेक जीवोंमें, कहीं और कभी अनेक अजीवोंमें, कहीं और कभी एक जीवमें और एक अजीवमें, कहीं और कभी एक जीवमें और अनेक अजीवोंमें, कहीं और कभी अनेक जीवोंमें और एक अजीवमें तथा कहीं और कभी अनेक जीवोंमें और अनेक अजीवोंमें द्वेषयुक्त होता है। इसप्रकार ये आठ भंग हैं। इन एक जीव आदि आठ भंगोंका आश्रय लेकर क्रोधकी उत्पत्ति अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि एक जीव आदिको लेकरके उसकी उत्पत्ति देखी जाती है।

*** गाथाके 'पियायदे को कहिं वा वि' इस चतुर्थ पादमें भी नैगमनयकी अपेक्षा आठ भंग होते हैं।**

§ ३४६. 'कौन किस पदार्थमें प्रेम करता है' यहां पर भी नैगमनयकी अपेक्षा आठ भंगोंका कथन करना चाहिये। ये आठों भंग अप्रसिद्ध हैं सो भी बात नहीं है, क्योंकि इनकी उपलब्धि होती है।

शंका-वे आठ भंग कौनसे हैं?

समाधान-नैगमनयकी अपेक्षा कहीं और कभी जीवमें, कहीं और कभी अजीवमें, कहीं और कभी अनेक जीवोंमें, कहीं और कभी अनेक अजीवोंमें, कहीं और कभी एक जीवमें और एक अजीवमें, कहीं और कभी एक जीवमें और अनेक अजीवोंमें, कहीं और कभी अनेक जीवोंमें और एक अजीवमें तथा कहीं और कभी अनेक जीवोंमें और अनेक अजीवोंमें जीव प्रेम करता है।

शंका-ये आठों भंग नैगमनयकी अपेक्षा कैसे बन सकते हैं?

समाधान-क्योंकि नैगमनय संग्रह और असंग्रह दोनोंको विषय करता है, इस

* एवं ववहारणयस्स ।

§ ३४७. जहा णेगमस्स अट्ठ भंगा उत्ता तहा ववहारस्स वि वत्तव्वा । एदेसु अट्ठसु पियापियभावेण लोगसंववहारदंसणादो । न्यायश्चर्यते लोकसंव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्, यत्र स नास्ति न स न्यायः, फलरहितत्वात् ।

* संगहस्स दुट्ठो सव्वदव्वेसु ।

§ ३४८. द्विष्टः सर्वद्रव्येषु भवति जीवः; प्रियेष्वपि कचित्कदाचिदप्रियत्वदर्शनात्, एतस्यास्मिन् सर्वथा प्रीतिरेवेति नियमानुपलम्भात् ।

* पियायदे सव्वदव्वेसु ।

§ ३४९. सर्वद्रव्येषु प्रियायते सर्वो जीवः; भूत-भविष्यद्वर्त्तमानकालेषु पर्यटतो जीवस्य जात्यादिवशेन विषादिष्वपि प्रीत्युपलम्भात् । पुव्विल्लअट्ठभंगे एसो किण्ण इच्छदि ? इच्छदि, किंतु थोवक्खरेहि अत्थे णज्जमाणे बहुवक्खरुच्चारणमणत्थयमिदि अट्ठभंगेहि

लिये उसकी अपेक्षा इन आठों भंगोंके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

* इसीप्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा आठ भंग होते हैं ।

§ ३४७. जिसप्रकार नैगमनयकी अपेक्षा आठ भंग कहे हैं उसीप्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आठ भंग कहने चाहिये, क्योंकि इन आठोंमें प्रिय और अप्रियरूपसे लोकव्यवहार पाया जाता है । न्यायका अनुसरण भी लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये किया जाता है । परन्तु जो न्याय लोकव्यवहारकी सिद्धिमें सहायक नहीं है वह न्याय नहीं है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं पाया जाता है ।

* संग्रहनयकी अपेक्षा जीव सभी द्रव्योंमें द्विष्ट है ।

§ ३४८. संग्रहनयकी अपेक्षा जीव सभी द्रव्योंमें द्विष्ट अर्थात् द्वेषयुक्त है, क्योंकि प्रिय पदार्थोंमें भी कभी और कहीं पर अप्रीति देखी जाती है । तथा इस जीवकी इस पदार्थमें सर्वथा प्रीति ही है ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं पाया जाता है ।

* तथा संग्रहनयकी अपेक्षा जीव सभी द्रव्योंमें प्रीति करता है ।

§ ३४९. संग्रहनयकी अपेक्षा सभी जीव सभी द्रव्योंमें प्रीति करते हैं, क्योंकि भूतकालमें भविष्यकालमें और वर्तमानकालमें भ्रमण करते हुए जीवके जाति आदिकी परवशताके कारण विषादिकमें भी प्रीति पाई जाती है, अर्थात् संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव कभी कभी ऐसी जातिमें जन्म लेता है, जिसमें विष भी अच्छा लगता है ।

शंका–संग्रहनय पहले नैगमनयकी अपेक्षा कहे गये आठ भंगोंको क्यों नहीं स्वीकार करता है ?

समाधान–यद्यपि संग्रहनय पहले नैगमनयकी अपेक्षासे कहे गये आठ भंगोंको स्वीकार

(१) "न्यायश्चर्यते"–ध० आ० प० ७८९ । (२) णिज्जमाणे आ० ।

ण परूवणं कुणइ संगहणओ।

§ ३५०. 'संगह-ववहाराणं दुट्ठो सव्वदव्वेसु पियायदे सव्वदव्वेसु' इदि केसिं पि आइरियाणं पाठो अत्थि। तत्थ संगहस्स पुव्वं व कारणं वत्तव्वं। ववहारणओ पुण लोगसंववहारपरतंतो तेण जहा सव्ववहारा दीसइ तहा चेव ववहारइ ववहारणओ। लोगो च कज्जवसेण सव्वदव्वेसु दुट्ठो पिओ य दीसइ अट्ठभंगगएसु। ण च अट्ठहि भंगेहि वयणविसयसंववहारो दीसइ, सव्वदव्वं कत्थ वि कया वि सव्वस्स पियमप्पियं चेदि संववहारदंसणादो। तम्हा संगहववहाराणं सरिसत्तमेत्थ इच्छियव्वमिदि बिदियस्स पाठस्स अत्थो।

करता है किन्तु यह नय संग्रहप्रधान है अतः इस नयकी दृष्टिमें थोड़े अक्षरोंके द्वारा अर्थका ज्ञान हो जाने पर बहुत अक्षरोंका उच्चारण करना निष्फल है, इसलिये यह नय आठों भंगोंके द्वारा प्ररूपण नहीं करता है।

§ ३५०. किन्हीं आचार्योंके मतसे 'संग्रहनय और व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव सभी द्रव्योंमें द्वेष करता है और सभी द्रव्योंमें प्रीति करता है' ऐसा भी पाठ पाया जाता है। इनमेंसे संग्रहनयकी अपेक्षा पहलेके समान कारण बतलाना चाहिये। अर्थात् 'संग्रहनयकी अपेक्षा जीव सभी द्रव्योंमें द्वेष करता है और सभी द्रव्योंमें राग करता है' इसका जो कारण पहले कह आये हैं उसीका यहां भी कथन करना चाहिये। परन्तु व्यवहारनय लोकव्यवहारके अधीन है अतः जहां जैसा व्यवहार दिखाई देता है व्यवहारनय उसके अनुसार ही प्रवृत्ति करता है। अतः आठ भंगोंको प्राप्त हुए सभी द्रव्योंमें मनुष्य कार्यवश द्वेष करता हुआ और प्रेम करता हुआ देखा जाता है। पर आठों भंगोंके द्वारा वचनविषयक व्यवहार नहीं दिखाई देता है, क्योंकि सभी द्रव्य कहीं पर भी और किसी कालमें भी सभीको प्रिय और अप्रिय होते हैं ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इसलिये यहां पर संग्रहनय और व्यवहारनयकी समानता स्वीकार करना चाहिये। यह दूसरे पाठका अर्थ है।

विशेषार्थ–"दुट्ठो वा कम्हि दव्वे" इत्यादि गाथाका अर्थ करते हुए वीरसेन स्वामीने दो पाठोंका उल्लेख किया है। पहला पाठ इसप्रकार है–'एवं ववहारणयस्स। संगहस्स दुट्ठो सव्वदव्वेसु। पियायदे सव्वदव्वेसु।' दूसरा पाठ इसप्रकार है–'संगहववहाराणं दुट्ठो सव्वदव्वेसु, पियायदे सव्वदव्वेसु।' इनमेंसे पहले पाठको स्वयं वीरसेन स्वामीने स्वीकार किया है और दूसरे पाठको अन्य आचार्योंके द्वारा माना गया बतलाया है। संग्रहनयकी दृष्टिसे इन दोनों पाठोंके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही पाठोंमें संग्रहनयकी अपेक्षा जीव समस्त द्रव्योंमें द्विष्ट होता है और समस्त द्रव्योंमें प्रेम करता है' यह अर्थ स्वीकार किया है। भेद केवल व्यवहारनयकी अपेक्षासे अर्थ करनेमें है। पहले पाठके अनुसार इस गाथांशका अर्थ करने पर व्यवहारनयसे नैगमनयका अनुसरण करना है और दूसरे पाठके

* एवमुजुसुअस्स।

§ ३५१. कुदो? जेण एत्थुद्देसे संगह-ववहारेहि सरिसो। तं पि कुदो? बहुसद्दुच्चारणाए फलाभावादो। ण च णिप्फलेण ववहरंति ववहारिणो तेसिमयाणत्तप्पसंगादो।

* सद्दस्स णोसव्वदव्वेहि दुट्ठो अत्ताणे चेव अत्ताणम्मि पियायदे।

§ ३५२. एत्थ जुत्ती उच्चदे, रो(दो)सस्स अहियरणं जीवो अजीवो वा ण होदि;

अनुसार उक्त गाथांशका अर्थ करने पर व्यवहारनयको संग्रहनयका अनुसरण कराया है। वीरसेनस्वामीने इन दोनों ही पाठोंकी संगति बिठलाई है। पहले पाठको स्वीकार करके वीरसेनस्वामीने जो उत्तर दिया है वह निम्नप्रकार है–जिसप्रकार नैगमनयसे आठ भंग कह आये हैं उसीप्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा आठ भंग जानना चाहिये, क्योंकि इन आठोंमें प्रिय और अप्रियरूपसे लोकसंव्यवहार देखा जाता है। तथा दूसरे पाठको स्वीकार करके जो उत्तर दिया है वह निम्नप्रकार है–आठों भंगोंको प्राप्त सभी द्रव्योंमें कार्यवश राग और द्वेष करता हुआ जीव देखा तो जाता है पर इन आठों भंगोंके द्वारा वचनविषयक संव्यवहार नहीं दिखाई देता है। इन दोनों अर्थों पर ध्यानसे जब विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इनके कथनमें केवल विवक्षाभेद है। पहले पाठमें लोकसंव्यवहारको प्रमुखता दी गई है और इसप्रकार आठ भंगोंका सद्भाव स्वीकार किया गया है। तथा दूसरे पाठमें आठ प्रकारका लोकसंव्यवहार मान कर भी वचनव्यवहार आठ प्रकारका नहीं माना गया है और इसप्रकार आठ भंगोंका निषेध किया है।

* इसीप्रकार ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समझना चाहिये।

§ ३५१. **शंका**–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा भी इसीप्रकार क्यों समझना चाहिये?

समाधान–चूंकि इस विषयमें ऋजुसूत्रनय संग्रह और व्यवहारनयके समान है। अतः ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा भी इसीप्रकार समझना चाहिये।

शंका–इस विषयमें ऋजुसूत्र संग्रह और व्यवहारनयके समान कैसे है?

समाधान–क्योंकि निष्फल होनेसे जिस प्रकार संग्रहनय बहुत शब्दोंके उच्चारणको स्वीकार नहीं करता है उसी प्रकार ऋजुसूत्र नय भी निष्फल होनेसे बहुत शब्दोंके उच्चारणको स्वीकार नहीं करता है। जिसका कोई फल नहीं है ऐसा व्यवहार व्यवहारी पुरुष कभी भी नहीं करते हैं, क्योंकि वे यदि निष्फल व्यवहार करने लगें तो उन्हें अज्ञानीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

* शब्द नयकी अपेक्षा समस्त द्रव्योंके निमित्तसे न जीव द्वेष करता है और न राग करता है किन्तु आत्मा अपने आपमें द्वेष करता है और राग करता है।

§ ३५२. इस विषयमें युक्ति देते हैं–दोषका आधार न तो जीव है और न अजीव

(१)–सुदस्स आ०। (२)–तेसिं मायाण–स०।

एदम्मि णए दव्वाभावादो। ण दोसस्स दोसंतरमाहारो; सरूवलद्धीए अणिमित्ताणं पुध-भूदाणमाहारत्तविरोहादो, अण्णेण अण्णम्मि धारिज्जमाणे अणवत्थाप्पसंगादो। ण च अण्णो अण्णस्स उप्पत्तिणिमित्तं होदि; अणुप्पत्तिसहावस्स उप्पत्तिविरोहादो। अविरोहे च सामण्ण-विसेसेहि असंतस्स गद्दहसिंगस्स वि परदो समुप्पत्ती होज्ज; अविसेसादो। ण च एवं, गद्दहस्स मत्थए उप्पण्णसिंगाणुवलंभादो। ण च उप्पज्जणसहावमण्णत्तो उप्पज्जइ; तत्थ अण्णवावारस्स फलाभावादो। ण च अण्णम्हि रुट्ठे तस्स रोसस्स फलमण्णो भुंजइ; तत्थेव अंगसंतावादिफलोवलंभादो। ण रुट्ठेण अण्णम्हि उप्पाइयदुक्खं पि तेण कयं; अप्पणो चेय तस्सुप्पत्तीदो, विस-सत्थग्गिवावाराणं चक्कवट्टिविसयाणं फलाणुवलंभादो। तदो अत्ता अत्ताणे चेव दुट्ठो पियायदे चेदि सिद्धं।

ही, क्योंकि शब्दनयमें द्रव्य नहीं पाया जाता है। दोपका दूसरा दोप भी आधार नहीं है, क्योंकि इस नयकी अपेक्षा जो जिसके स्वरूपकी प्राप्तिमें निमित्त नहीं हैं ऐसे भिन्न पदार्थोंको आधार माननेमें विरोध आता है। तथा अन्य पदार्थ अन्य पदार्थको धारण करता है इसलिये एक दोप दूसरे दोपका आधार हो जायगा यदि ऐसा माना जाय तो अनवस्था प्राप्त होती है। तथा इस नयकी अपेक्षा दूसरा पदार्थ दूसरे पदार्थकी उत्पत्तिका निमित्त भी नहीं हो सकता है, क्योंकि इस नयकी अपेक्षा पदार्थ अनुत्पत्तिस्वभाव है, इसलिये उसकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि पदार्थ अनुत्पत्तिस्वभाव है अतः उसकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, सो भी वात नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सामान्य और विशेष दोनोंरूपसे अविद्यमान गधेके सींगकी दूसरेसे उत्पत्ति होने लगेगी, क्योंकि उससे इसमें कोई विशेपता नहीं है। यदि कहा जाय कि अन्यसे गधेके सींगकी उत्पत्ति होती है सो भी वात नहीं है, क्योंकि गधेके मस्तक पर उत्पन्न हुआ सींग नहीं पाया जाता है। तथा जिसका स्वभाव उत्पन्न होना है वह अन्यके निमित्तसे उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पन्न होनेवाले पदार्थमें अन्य पदार्थके व्यापारका कोई फल नहीं पाया जाता है।

किसी अन्यके रुष्ट होने पर उस दोपका फल कोई अन्य भोगता है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि जो रुष्ट होता है उसीमें शरीरसंताप आदि फल पाये जाते हैं। रुष्ट पुरुषके द्वारा किसी अन्यमें उत्पन्न किया गया दुःख उस रुष्ट पुरुषके द्वारा किया गया है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अपने आप ही उस दुःखकी उत्पत्ति होती है तथा चक्रवर्तीके ऊपर किये गये विष, शस्त्र और अग्निके प्रयोगोंका फल नहीं पाया जाता है, इससे भी मालूम होता है कि अपने आप ही दुःख उत्पन्न होता है। इसलिये शब्दनयकी अपेक्षा आत्मा अपने आपमें ही द्वेष करता है और राग करता है यह सिद्ध हुआ।

(१) [illegible] । (२) [illegible] ।

** णेगमस्स असंगहियस्स वत्तव्वएण बारस अणिओगद्दाराणि पेज्जेहि दोसेहि ।**

§ ३५३. णेगमो दुविहो संगहिओ असंगहिओ चेदि । तत्थ असंगहियणेगमस्स वत्तव्वएण वाचिएण बारस अणियोगद्दाराणि होंति, अण्णेसिं पुण णयाणं वत्तव्वएण पण्णारस होंति बहुवा थोवा वा, तत्थ णियमाभावादो । अहवा, णेगमस्स असंगहियस्स वत्तव्वएण जाणि पेज्जदोसाणि समपविभत्तकसायचउक्कविसयाणि, तेहि बारस अणियोगद्दाराणि वत्तइस्सामो त्ति सुत्तत्थो ।

§ ३५४. एसो णेगमो संगहिओ असंगहिओ चेदि जइ दुविहो तो णत्थि णेगमो; विसयाभावादो । ण तस्स संगहो विसओ; संगहणएण पडिगहिदत्तादो । ण विसेसो, ववहारणएण पडिगहिदत्तादो । ण च संगहविसेसेहिंतो वदिरित्तो विसओ अत्थि, जेण णेगमणयस्स अत्थित्तं होज्ज ?

§ ३५५. एत्थ परिहारो वुच्चदे–संगह-ववहारणयविसएसु अक्कमेण वट्टमाणो णेगमो । ण च एसो संगह-ववहारणएसु णिवददि, भिण्णविसयत्तादो । ण च एगवि-

* असंग्रहिक नैगमनयकी वक्तव्यतासे पेज्ज और दोषकी अपेक्षा बारह अनुयोगद्वार होते हैं ।

§ ३५३. संग्रहिक और असंग्रहिकके भेदसे नैगमनय दो प्रकारका है । उनमेंसे असंग्रहिक नैगमनयके कथनसे बारह अनुयोगद्वार होते हैं । किन्तु अन्य नयोंके कथनसे पन्द्रह भी होते हैं, अधिक भी होते हैं और कम भी होते हैं, क्योंकि अन्य नयोंके कथनसे कितने अनुयोगद्वार होते हैं, इसका कोई नियम नहीं पाया जाता है । अथवा, असंग्रहिक नैगमनयके वक्तव्यसे जो पेज्ज और दोष चारों कषायोंके विषयमें समरूपसे विभक्त हैं अर्थात् क्रोध और मान दोषरूप हैं और माया और लोभ पेज्जरूप हैं, उनकी अपेक्षा बारह अनुयोगद्वारोंको बतलाते हैं, यह उक्त सूत्रका अर्थ है ।

§ ३५४. **शंका**–यह नैगमनय संग्रहिक और असंग्रहिकके भेदसे यदि दो प्रकारका है तो नैगमनय कोई स्वतंत्र नय नहीं रहता है, क्योंकि इसका कोई विषय नहीं पाया जाता है । नैगमका विषय संग्रह है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसको संग्रहनय ग्रहण कर लेता है । नैगमनयका विषय विशेष भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उसे व्यवहारनय ग्रहण कर लेता है । और संग्रह और विशेषसे अतिरिक्त कोई विषय भी नहीं पाया जाता है, जिसको विषय करनेके कारण नैगमनयका अस्तित्व सिद्ध होवे ?

§ ३५५. **समाधान**–अब इस शंकाका समाधान कहते हैं–नैगमनय संग्रहनय और व्यवहारनयके विषयमें एकसाथ प्रवृत्ति करता है, अतः वह संग्रह और व्यवहारनयमें अन्तर्भूत

(१) णेगमसंगहिय-अ०, आ० । णेगमासंगहिय-स० ।

सएहि दुविसओ सरिसो; विरोहादो। तो क्खहिं 'दुविहो णेगमो' त्ति ण घडदे, ण; एयम्मि जीवम्मि वट्टमाणअहिप्पायस्स आलंबणभेएण दुब्भावं गयस्स आधारजीवस्स वि दुब्भावत्ताविरोहादो।

§ ३५६. 'एदाणि बारस अणियोगद्दाराणि कम्हि वत्तव्वाणि' त्ति वुत्ते पेज्जेसु दोसेसु च। कुदो? आहारस्स करणत्तविवक्खाए 'पेज्जेहि दोसेहि' त्ति सिद्धीदो। अहवा सहट्ठे तइया दट्ठव्वा, तेण पेज्जेहि दोसेहि सह बारस अणिओगद्दाराणि वत्तव्वाणि त्ति सिद्धं। 'काणि ताणि बारस अणियोगद्दाराणि' त्ति उत्ते तेसिं णिद्देसट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि–

*** एगजीवेण सामित्तं कालो अंतरं णाणाजीवेहि भंगविचओ संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भागाभागाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो त्ति।**

नहीं होता है, क्योंकि उसका विषय इन दोनोंके विषयसे भिन्न है। और केवल एक एकको विषय करनेवाले नयोंके साथ दोनोंको विषय करनेवाले नयकी समानता नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है।

शंका–यदि ऐसा है तो दो प्रकारका नैगमनय नहीं बन सकता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि एक जीवमें विद्यमान अभिप्राय आलंबनके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। और अभिप्रायके भेदसे उसका आधारभूत जीव दो प्रकारका हो जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इसीप्रकार नैगमनय भी आलम्बनके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है।

§ ३५६. 'ये बारह अनुयोगद्वार किस विषयमें कहना चाहिये' ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि पेज्जों और दोषोंके विषयमें ये बारह अनुयोगद्वार कहना चाहिये, क्योंकि आधारकी करणरूपसे विवक्षा कर लेने पर पेज्जोंकी अपेक्षा और दोषोंकी अपेक्षा ये बारह अनुयोगद्वार कहना चाहिये ऐसा सिद्ध हो जाता है। आशय यह है कि चूर्णिसूत्रकारने आधारकी करण विवक्षा करके 'पेज्जेहिं दोसेहिं' इसप्रकारसे तृतीया विभक्ति रक्खी है अतः उसका अर्थ करणपरक न लेकर विषयपरक ही लेना चाहिये। अथवा, 'पेज्जेहिं' और 'दोसेहिं' इन पदोंमें 'सह' इस अर्थमें तृतीया विभक्ति समझना चाहिये। इसलिये पेज्ज और दोषोंका आलम्बन लेकर ये बारह अनुयोगद्वार कहना चाहिये, यह सिद्ध होता है। वे बारह अनुयोगद्वार कौन हैं, ऐसा पूछने पर उनका नामनिर्देश करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

* एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, और अन्तर तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम इसप्रकार पेज्ज और दोषोंके विषयमें बारह अनुयोगद्वार होते हैं।

§ ३५७. उच्चारणाकत्तारेण आइरिएण जहा सादि-अद्धुव-भावाणिओगद्दारेहि सह पण्णारस अत्थाहियारा परूविदा तहा जइवसहाइरिएण 'पेज्जं वा दोसं वा' एदिस्से गाहाए अत्थं भणंतेण किण्ण परूविदा ? ण ताव सादि-अद्धुवअहियारा परूविज्जंति, णाणेगजीवविसयकालंतरेहि चेव तदवगमादो। ण भावो वि; णिक्खेवम्मि परूविद-णोआगमभावस्स दव्वकम्मजणिदत्तेण ओदइयभावेण सिद्धस्स पेज्जस्स दोसस्स य भावा-णियोगद्दारे पुणो परूवणाणुववत्तीदो। उच्चारणाइरिएण पुण अकयणिक्खेवणमंदमेह-जणाणुग्गहट्ठं पण्णारसअत्थाहियारेहि परूवणा कया, तेण दो वि उवएसा अविरुद्धा।

§ ३५८. संतपरूवणमादीए अकाऊण मज्झे किमट्टं सा कया ? णाणेगजीव-विसयसंतपरूवणट्ठं। संतपरूवणाए आदीए परूविदाए एगजीवविसया चेव होज्ज एगजी-वविसयाहियाराणमादीए पठिदत्तादो। णाणाजीवाहियारेसु पठिदा णाणाजीवविसया

§ ३५७. शंका–उच्चारणावृत्तिके कर्ता आचार्यने जिसप्रकार सादि अनुयोगद्वार, अध्रुव अनुयोगद्वार और भाव अनुयोगद्वारके साथ पन्द्रह अनुयोगद्वार कहे हैं, उसीप्रकार यतिवृषभाचार्यने 'पेज्जं वा दोसं वा' इस गाथाका अर्थ कहते समय पन्द्रह अर्थाधिकार क्यों नही कहे ?

समाधान–सादि अर्थाधिकार और अध्रुव अर्थाधिकारका अलगसे कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि नानाजीवविषयक और एकजीवविषयक काल और अन्तर अर्थाधिकारोंके द्वारा ही उक्त दोनों अर्थाधिकारोंका ज्ञान हो जाता है। भाव अर्थाधिकारका भी कथन अलगसे नहीं किया जा सकता है, क्योंकि द्रव्यकर्मसे उत्पन्न होनेके कारण पेज्ज और दोष औदयिकभावरूपसे प्रसिद्ध हैं अतः उनका निक्षेपोंमें नोआगमभावरूपसे कथन किया है इसलिये उनका भावानुयोगद्वारके द्वारा फिरसे कथन करना ठीक नहीं है। किन्तु उच्चारणाचार्यने इसप्रकारका समावेश न करके निक्षेप पद्धतिसे अनभिज्ञ मन्दबुद्धि जनोंका उपकार करनेके लिये पन्द्रह अर्थाधिकारोंके द्वारा कथन किया है, इसलिये दोनों ही उपदेशोंमें विरोध नहीं है।

§ ३५८. शंका–उपर्युक्त चूर्णिसूत्रमें सत्प्ररूपणाको सभी अनुयोगद्वारोंके आदिमें न रख कर मध्यमें किसलिये रखा है ?

समाधान–नाना जीवविषयक और एक जीवविषयक अस्तित्वके कथन करनेके लिये उसे मध्यमें रखा है। यदि सत्प्ररूपणाका सभी अनुयोगद्वारोंके आदिमें कथन किया जाता तो एक जीवविषयक अधिकारोंके आदिमें पठित होनेके कारण वह एक जीवविषयक अस्तित्वका ही कथन कर सकती।

शंका–जब कि नाना जीवविषयक अर्थाधिकारोंमें सत्प्ररूपणा कही गई है तो वह नाना जीवविषयक ही क्यों नहीं हो जाती है ?

चेव किण्ण होदि ? ण; एगजीवाविणाभाविणाणाजीवाहियारेसु पठिदाए णाणेगजीव-विसयत्तणेण विरोहाभावादो। णाणेगजीवाहियाराणमाईए पठिदा वि उभयविसया होदि त्ति किण्ण घेप्पदे ? ण; एगजीवाहियारेहि अंतरिदाए णाणाजीवाहियारेसु उत्ति-विरोहादो। संतपरूवणाए भेदाभावादो णाणाजीवेहि भंगविचओ ण वत्तव्वो ? ण; सावहारण-अणवहारणसंतपरूवणाणमेयत्तविरोहादो। संतपरूवणा पुण कत्थ होदि ? सव्वाहियाराणमाईए चेव, बारसअत्थाहियाराणं जोणिभूदत्तादो।

समाधान–नहीं, क्योंकि एक जीवके अविनाभावी नानाजीवविषयक अर्थाधिकारोंमें पठित होनेसे वह नाना जीव और एक जीव दोनोंको विषय करती है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

शंका–नाना जीवविषयक अर्थाधिकार और एक जीवविषयक अर्थाधिकार इन दोनोंके आदिमें यदि उसका पाठ रखा जाय तो भी वह दोनोंको विषय करती है, ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते हो ?

समाधान–नहीं, क्योंकि इसप्रकारसे पाठ रखने पर वह एक जीवविषयक अर्थाधिकारसे व्यवहित हो जाती है इसलिये उसकी नानाजीवविषयक अर्थाधिकारोंमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है।

शंका–नाना जीवविषयक भंगविचय नामक अर्थाधिकारका सत्प्ररूपणासे कोई भेद नहीं है, इसलिये नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय नामक अर्थाधिकार नहीं कहना चाहिये ?

समाधान–नहीं, क्योंकि सत्प्ररूपणा अवधारणरहित है अर्थात् सामान्यरूप है और भंगविचय अवधारणसहित है अतः इनको एक माननेमें विरोध आता है।

शंका–तो सत्प्ररूपणा कहां होती है ?

समाधान–सभी अर्थाधिकारोंके आदिमें ही सत्प्ररूपणा होती है क्योंकि वह बारहों ही अर्थाधिकारोंकी योनिभूत है।

विशेषार्थ–सभी अधिकारोंके प्रारंभमें सत्प्ररूपणाका कथन किया जाता है तदनुसार सूत्रमें उसका पाठ भी सबसे पहले होना चाहिये। पर चूर्णिसूत्रकारने उसका पाठ सबसे पहले न रखकर अनेक जीवोंकी अपेक्षा कहे गये अधिकारोंके मध्यमें रखा है। चूर्णिसूत्रकारने ऐसा क्यों किया ? इसका वीरसेनस्वामीने यह कारण बतलाया है कि सत्प्ररूपणाके विषय नाना जीव और एक जीव दोनों होते हैं। अर्थात् सत्प्ररूपणामें नाना जीव और एक जीव दोनोंका अस्तित्व बतलाया जाता है, इसलिये चूर्णिसूत्रकारने एक जीवविषयक अधिकारोंके आदिमें उसका पाठ न रखकर अनेक जीवविषयक अधिकारोंके मध्यमें उसका नामनिर्देश किया है, जिससे सत्प्ररूपणामें दोनों प्रकारके अधिकारोंकी प्रवृत्ति हो सकती है। इसप्रकार यद्यपि सत्प्ररूपणाके पाठको मध्यमें रखनेकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है तो

§ ३५९. संपहि बालजणउप्पत्तिणिमित्तमुच्चारणाइरियपरूविदसमुक्कित्तणं सादि-अद्धुवअहियारे च वत्तइस्सामो । तं जहा, समुक्कित्तणाए दुविहो णिद्देसो-ओघेण आदेसेण य । ओघेण अत्थि पेज्जदोसं । एवं जाव अणाहारो त्ति वत्तव्वं । णवरि, कसायाणुवादेण कोहकसाईसु माणकसाईसु च अत्थि दोसो । मायकसाइलोहकसाईसु अत्थि पेज्जं । संजमाणुवादे सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदेसु अत्थि पेज्जं । एवं समुक्कित्तणा समत्ता ।

भी उसका प्रतिपादन सभी अधिकारोंके प्रारंभमें ही करना चाहिये, क्योंकि किसी वस्तुका अस्तित्व जाने बिना उसके स्वामी आदिका ज्ञान नहीं किया जा सकता है और इसीलिये वीरसेनस्वामीने चूर्णिसूत्रकारके द्वारा प्रतिपादित स्वामित्व आदि अनुयोगद्वारोंके आदिमें सबसे पहले उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये समुत्कीर्तन अधिकार अर्थात् सत्प्ररूपणाका कथन किया है।

§ ३५९. अब बालजनोंकी व्युत्पत्तिके लिये उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये समुत्कीर्तना, सादि और अध्रुव इन तीन अर्थाधिकारोंको बतलाते हैं । वे इसप्रकार हैं-समुत्कीर्तना अर्थाधिकारमें दो प्रकारसे निर्देश किया जाता है-एक ओघकी अपेक्षा और दूसरे आदेशकी अपेक्षा। ओघकी अपेक्षा पेज्ज और दोष दोनोंका अस्तित्व है। अनाहार मार्गणा तक इसीप्रकार उनके अतित्वका कथन करना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है कि कषायमार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी और मानकषायी जीवोंमें दोषका अस्तित्व है तथा मायाकषायी और लोभकषायी जीवोंमें पेज्जका अस्तित्व है । संयम मार्गणाके अनुवादसे सूक्ष्मसांपरायगत शुद्धिको प्राप्त संयतोंमें केवल पेज्जका अस्तित्व है । इसप्रकार समुत्कीर्तना अर्थाधिकार समाप्त हुआ ।

विशेषार्थ-ऊपर जो पन्द्रह अनुयोगद्वार बतला आये हैं उनका कथन ओघ और आदेश दो प्रकारसे किया गया है । ओघनिर्देश द्वारा विवक्षित वस्तुकी प्ररूपणा सामान्यरूपसे की जाती है । और आदेश निर्देशद्वारा आश्रयभेदसे विवक्षित वस्तुका कथन किया जाता है। पर आश्रयभेदके रहते हुए जहां ओघप्ररूपणा अविकलरूपसे संभव होती है उस आदेश प्ररूपणाको भी ओघके समान कहा जाता है। और जहां ओघप्ररूपणा घटित नहीं होती है उसके अपवाद पाये जाते हैं वह आदेशप्ररूपणा कही जाती है। उदाहरणके लिये ऊपरका समुत्कीर्तना अधिकार ले लीजिये । इसमें पहले आश्रयभेदकी विवक्षाके बिना पेज्ज और दोषका अस्तित्व स्वीकार किया गया है । यह ओघप्ररूपणा है । इसके आगे अनाहारकों तक ओघके समान कथन करनेकी सूचना की है। यहां यद्यपि आश्रयभेद स्वीकार कर लिया गया है पर आश्रयभेदके रहते हुए भी पेज्ज और दोषके अस्तित्वमें कोई अन्तर नहीं आता । सर्वत्र पेज्ज और दोषका समानरूपसे पाया जाना संभव है, इसलिये इस आदेश प्ररूपणाको ओघके समान कहा है। इसके आगे 'णवरि' कह कर कषायमार्गणामें और संयममार्गणाके अवान्तरभेद सूक्ष्मसांपराय संयममें उपर्युक्त प्ररूपणाके कुछ अपवाद बतलाये

§ ३६०. सादि-अद्धुवाणुगमेण दुविहो णिद्देसो–ओघेण आदेसेण य। ओघेण पेज्जदोसं किं सादियं किमणादियं किं धुवं किमद्धुवं ? एगजीवं पडुच्च सादि अद्धुवं; पेज्जे दोसे वा सव्वकालमवट्ठिदजीवाणुवलंभादो। णाणाजीवे पडुच्च अणादियं धुवं; पेज्जे दोसे च वट्टमाणजीवाणं आइयंताभावादो। आएसेण सव्वत्थ पेज्जदोसं सादि अद्धुवं; एगेगमग्गणासु सव्वकालमवट्ठिदजीवाभावादो। एवं सादि-अद्धुवअहियारा वे वि समत्ता।

हैं, अतः यह आदेश प्ररूपणा है। इसीप्रकार आगे भी जहां पर 'आदेसेण य' ऐसा न कह कर 'णवरि' पदके द्वारा सामान्यप्ररूपणाके अपवाद दिये जायं वहां उस प्ररूपणाको आदेशप्ररूपणा समझना चाहिये।

§ ३६०. सादि और अध्रुवानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है--ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश।

शंका–ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्ज और दोष क्या सादि हैं, क्या अनादि हैं, क्या ध्रुव हैं अथवा क्या अध्रुव हैं ?

समाधान–एक जीवकी अपेक्षा पेज्ज और दोष दोनों सादि और अध्रुव हैं, क्योंकि पेज्जमें और दोषमें एक जीव सर्वदा स्थित नहीं पाया जाता है। नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्ज और दोष दोनों अनादि और ध्रुव हैं, क्योंकि पेज्ज और दोषमें विद्यमान जीवोंका आदि और अन्त नहीं पाया जाता है।

आदेशनिर्देशकी अपेक्षा सभी मार्गणाओंमें पेज्ज और दोष सादि और अध्रुव हैं, क्योंकि किसी भी मार्गणामें एक जीव सर्वकाल अवस्थित नहीं पाया जाता है। इसप्रकार सादि और अध्रुव ये दोनों ही अर्थाधिकार समाप्त हुए।

विशेषार्थ–पेज्ज और दोषका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। एक जीव इससे अधिक काल तक पेज्ज और दोषमें नहीं पाया जाता है, अतः ओघनिर्देशसे एक जीवकी अपेक्षा पेज्ज और दोषको सादि और अध्रुव कहा है। इसप्रकार यद्यपि पेज्ज और दोषका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है फिर भी उनकी सर्वदा सन्तान नहीं टूटती है, कोई न कोई जीव पेज्ज और दोषसे युक्त सर्वदा बना ही रहता है। अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक ऐसा एक भी क्षण नहीं है जिस समय पेज्ज और दोषका अभाव कहा जा सके। अतः ओघनिर्देशसे नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्ज और दोषको अनादि और ध्रुव कहा है। आदेशमें जीवकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंकी अपेक्षा विचार किया गया है। चूंकि एक अवस्थामें सर्वकाल कोई भी जीव सर्वदा अवस्थित नहीं रहता है, अतः इनके अवस्था-भेदके साथ पेज्ज और दोष भी बदलते रहते हैं, और इसीलिये आदेशकी अपेक्षा पेज्ज और दोष सादि और अध्रुव हैं।

(१)–वेव ता–स०, आ०। (२) आदिअंता–आ०।

§ ३६१. संपहि जइवसहाइरियसामित्तसुत्तस्स अत्थो वुच्चदे।

* कालजोणि सामित्तं।

§ ३६२. सामित्तं कालस्स जोणी उप्पत्तिकारणं। कुदो? सामित्तेण विणा काल-परूवणाणुववत्तीदो। तेण सामित्तं कालादो पुव्वं चेव उच्चदि त्ति भणिदं होदि।

§ ३६३. सामित्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। ओघेण ताव उच्चदे–

* दोसो को होइ ?

§ ३६४. 'दोसो कस्स होदि' त्ति एत्थ वत्तव्वं सस्सामिसंबंधुज्जोवणट्ठं, अण्णहा सामित्तपरूवणाणुववत्तीदो। एत्थ परिहारो उच्चदे, छट्ठी भिण्णा वि अत्थि, जहा 'देव-दत्तस्स वत्थमलंकारो वा' त्ति। अभिण्णा वि अत्थि, जहा 'जलस्स धारा, उप्फ(प्प)लस्स फासो' वा त्ति। जेण दोहि पयारेहि छट्ठी संभवइ तेण 'जीवादो कोहस्स भेदो मा होह-(हि)दि त्ति भएण छट्ठीणिद्देसो ण कओ। सस्सामिसंबंधे अणुज्जोइदे कुदो सामित्तं णव्वदे?

§ ३६१. अब यतिवृषभ आचार्यके द्वारा कहे गये स्वामित्वविषयक सूत्रका अर्थ कहते हैं–

* स्वामित्व अर्थाधिकार काल अर्थाधिकारकी योनि है।

§ ३६२. स्वामित्व कालकी योनि अर्थात् उत्पत्तिकारण है, क्योंकि स्वामित्व अर्थाधि-कारकी प्ररूपणाके विना काल अर्थाधिकारकी प्ररूपणा नहीं बन सकती है। इसलिये काल अर्थाधिकारके पहले स्वामित्व अर्थाधिकारका कथन किया है, यह उक्त सूत्रका अभिप्राय है।

§ ३६३. स्वामित्वानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश।

अब ओघनिर्देशकी अपेक्षा कथन करते हैं–

* दोषरूप कौन जीव होता है ?

§ ३६४. शंका–दोषका स्वामी बतलानेके लिये सूत्रमें 'दोसो कस्स होदि' इसप्रकार षष्ठीविभक्त्यन्त कथन करना चाहिये, अन्यथा स्वामित्वकी प्ररूपणा नहीं बन सकती है ?

समाधान–यहां इस शंकाका परिहार करते हैं–षष्ठी विभक्ति भेदमें भी होती है। जैसे, देवदत्तका वस्त्र या देवदत्तका अलंकार। तथा षष्ठी विभक्ति अभेदमें भी होती है। जैसे, जलकी धारा, कमलका स्पर्श। इसप्रकार चूंकि दोनों प्रकारसे षष्ठी विभक्ति संभव है, इसलिये जीवसे क्रोधका कहीं भेद सिद्ध न हो जाय, इस भयके कारण सूत्रमें 'दोसो कस्स होदि' इसप्रकार षष्ठी निर्देश न करके 'दोसो को होदि' ऐसा कहा है।

शंका–षष्ठी विभक्तिके द्वारा स्वस्वामिसम्बन्धको स्पष्ट न करने पर स्वामित्वका ज्ञान कैसे हो सकता है?

पयरणादो। अथवा छट्ठीए अत्थे पढमाणिद्देसोयं कओ त्ति दट्ठव्वो, तेण दोसो कस्स होदि त्ति सिद्धं। किंच, अत्थावत्तीदो वि संबंधो सस्सामिलक्खणो अत्थि त्ति णव्वदे। तं जहा, दोसो पज्जाओ, ण सो दव्वं होदि; णिस्सहावस्स दव्वासयस्स उप्पत्ति-विणासलक्खणस्स तिकालविसयतिलक्खणदव्वभावविरोहादो। ण च दव्वं दोसो होदि; तिलक्खणस्स दव्वस्स एयलक्खणत्तविरोहादो। तदो सिद्धो भेदो दव्वपज्जायाणं। दव्वादो अपुधभूदपज्जायदंसणादो सिया ताणमभेदो वि अत्थि। ण सो एत्थ घेप्पइ, सामित्तम्मि भण्णमाणे तदसंभवादो। तदो अत्थादो 'दोसो कस्स होदि' त्ति णव्वदे। 'कोह-माण-माया-लोहेसु दोसो को होदि' त्ति किण्ण उच्चदे ? ण; णए अस्सिदूण एदस्स अत्थस्स पुव्वं चेव परूविदत्तादो। ण च सामित्ते एसा परूवणा संभवइ; विरोहादो। तदो पुव्विल्ल-अत्थो चेव घेत्तव्वो।

समाधान-प्रकरणसे स्वामीका ज्ञान हो जाता है। अथवा, षष्ठी विभक्तिके अर्थमें चूर्णिवृत्तिकारने प्रथमा विभक्तिका निर्देश किया है ऐसा समझना चाहिये, इसलिये 'दोसो को होदि' इस सूत्रका 'दोष किसके होता है' यह अर्थ बन जाता है। दूसरे, यहां पर स्वस्वामिलक्षण सम्बन्ध है यह बात अर्थापत्तिसे भी जानी जाती है। उसका खुलासा इस प्रकार है-दोष यह पर्याय है। और पर्याय द्रव्य हो नहीं सकती है, क्योंकि जो दूसरे स्वभावसे रहित है, जिसका आश्रय द्रव्य है और जो उत्पत्ति और विनाश रूप है उसे तीनों कालोंके विषयभूत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यलक्षणवाला द्रव्य माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि दोष द्रव्य है ऐसा मान लेना चाहिये। सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिलक्षणात्मक द्रव्यको केवल एकलक्षणरूप माननेमें विरोध आता है। इसलिये द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद सिद्ध हो जाता है। तथा पर्यायें द्रव्यसे अभिन्न देखी जाती हैं इसलिये द्रव्य और पर्यायोंमें कथंचित् अभेद भी पाया जाता है। पर यहां अभेदका ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि स्वामित्वका कथन करते समय अभेद बन नहीं सकता है। इसलिये 'दोसो को होदि' इसका अर्थ अर्थापत्तिसे दोष किसके होता है यह जाना जाता है।

शंका-'दोसो को होदि' इस सूत्रका क्रोध, मान, माया और लोभ इनमेंसे कौन दोष है, ऐसा अर्थ क्यों नहीं किया गया है ?

समाधान-नहीं, क्योंकि नयोंका आश्रय लेकर इस अर्थका कथन पहले ही कर आये हैं। और स्वामित्व अनुयोगद्वारमें यह प्ररूपणा संभव भी नहीं है, क्योंकि स्वामित्व-प्ररूपणासे उक्त प्ररूपणाका विरोध आता है। इसलिये यहां पहलेका अर्थ ही लेना चाहिये।

विशेषार्थ-नैगमादि नयोंकी अपेक्षा कौन कषाय दोषरूप है और कौन कषाय पेज्जरूप है इसका कथन पहले ही 'पेज्जं वा दोसो वा' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते समय कर आये हैं, अतः फिरसे यहां उनके व्याख्यान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं

§ ३६५. ण च एदं पुच्छासुत्तमिदि आसंकियव्वं: किंतु पुच्छाविसयमासंकासुत्तमिदं। कुदो ? चेदिच्चेदेण अज्झाहारिदेण संबंधादो।

* अण्णदरो णेरइयो वा तिरिक्खो वा मणुस्सो वा देवो वा।

§ ३६६. णाणोगाहणाउअ-पत्थडिंदय-सेढीवद्धादीहि विसेसाभावपरूवणट्ठं अण्ण-

है। तथा क्रोधादि पेज्ज और दोषके भेद हैं। पर यहां स्वामित्वानुयोगद्वारका विचार चल रहा है, अतः यहां पेज्ज और दोषके विकल्पोंकी प्ररूपणा संभव भी नहीं है। इसलिये प्रकृतमें 'दोसो को होदि' इसका 'दोषका स्वामी कौन है' यही अर्थ लेना चाहिये।

§ ३६५. 'दोसो को होदि' यह पृच्छासूत्र है ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिये। किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि यह पृच्छाविषयक आशंका सूत्र है क्योंकि ऊपरसे अध्याहार-रूपसे आये हुए 'चेत्' पदके साथ इस सूत्रका सम्बन्ध है, इसलिये इसे पृच्छासूत्र न समझ कर पृच्छाविषयक आशंकासूत्र समझना चाहिये।

विशेषार्थ–वीरसेन स्वामीने 'दोसो को होइ' इसे पृच्छासूत्र न कहकर पृच्छाविषयक आशंका सूत्र कहा है। इसका कारण यह है कि इस सूत्रमें 'चेत्' इस पदका अध्याहार किया गया है। पृच्छा अन्यके द्वाराकी जाती है और आशंका स्वयं उपस्थित की जाती है। पृच्छावाक्य केवल प्रश्नार्थक रहता है और आशंका वाक्य प्रश्नार्थक होते हुए भी उसमें 'चेत्' पदका होना अत्यन्त आवश्यक है। यहां पर 'दोसो को होइ' इस सूत्रमें यद्यपि 'चेत्' पद नहीं पाया जाता है फिर भी ऊपरसे उसका अध्याहार किया गया है। इसलिये इसे वीर-सेन स्वामीने पृच्छाविषयक आशंका सूत्र कहा है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि इसी प्रकारके और भी बहुतसे सूत्र इसी कसायपाहुड या षट्खंडागममें पाये जाते हैं उन्हें वहां पृच्छासूत्र भी कहा है। वहां पर भी 'चेत्' पदका अध्याहार करके उन्हें पृच्छाविषयक आशंकासूत्र क्यों नहीं कहा। और यदि वहां उतनेसे ही काम चल जाता है तो प्रकृतमें भी 'चेत्' पदका अध्याहार न करके इसे भी पृच्छासूत्र कह देते, फिर यहां इसे आशंका-सूत्र कहनेका क्या प्रयोजन है। इस प्रश्नका यह समाधान है कि प्रकृतमें 'पेज्जं वा दोसो वा' इस गाथाका व्याख्यान चल रहा है और इस गाथाके अन्तमें गुणधर आचार्यने जो 'अपि' पद दिया है वह 'चेत्' इस अर्थमें दिया है और उसका स्पष्टीकरण करते हुए वीर-सेन स्वामीने ऊपर बताया है कि इसके द्वारा गुणधर आचार्यने अपनी आशंका प्रकट की है। मालूम होता है इसी अभिप्रायसे वीरसेन स्वामीने इसे आशंका सूत्र कहा है।

*कोई नारकी, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य अथवा कोई देव दोषका स्वामी है।

§ ३६६. ज्ञान, अवगाहन, आयु, पाथड़े, इन्द्रक और श्रेणीबद्ध इत्यादिकी अपेक्षा दोषके स्वामीपनेमें कोई विशेषता नहीं आती है, अर्थात् उपर्युक्त चारों गतिके जीवोंके यथासंभव ज्ञान, अवगाहन और आयु आदिके अन्तरसे दोषके स्वामीपनेमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

दरग्गहणं। 'देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्सा चेव सामिणो होंति' त्ति कथं णव्वदे? चउगइ-वदिरित्तजीवाणमभावादो। ण च दोससामित्ते भण्णमाणे सिद्धाणं संभवो अत्थि; तेसु पेज्ज-दोसाभावादो। एवं सव्वासु मग्गणासु चिंतिय वत्तव्वं।

* एवं पेज्जं।

§ ३६७. जहा दोसस्स परूवणा सामित्तविसया कया तहा पेज्जस्स वि अव्वामोहेण कायव्वा; विसेसाभावादो। एवं सामित्तं समत्तं।

*** कालाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य।**

§ ३६८. तत्थ ओघेण ताव उच्चदे।

*** दोसो केवचिरं कालादो होदि? जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं।**

§ ३६९. कुदो? मुदे वाघादिदे वि कोहमाणाणं अंतोमुहुत्तं मोत्तूण एग-दोसमयादी-

---

तथा स्वर्गों और नरकोंमें विवक्षित पटल, श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिल या विमानोंमें निवास करनेसे भी दोषके स्वामीपनेमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है, यह बतलानेके लिये सूत्रमें 'अन्यतर' पदका ग्रहण किया है।

शंका–देव नारकी तिर्यंच और मनुष्य ही दोषके स्वामी हैं, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान–क्योंकि चार गतियोंके अतिरिक्त दोषी जीव नहीं पाये जाते हैं। यदपि कहा जा सकता है कि चार गतियोंके अतिरिक्त भी सिद्ध जीव हैं किन्तु दोषके स्वामीपनेका कथन करते समय सिद्ध जीवोंकी विवक्षा संभव नहीं है, क्योंकि सिद्धोंमें पेज्ज और दोष दोनोंका अभाव है, अतः देव, नारकी तिर्यंच और मनुष्य ही दोषके स्वामी होते हैं यह निश्चित हो जाता है।

जिसप्रकार गतिमार्गणामें दोषके स्वामीपनेका कथन किया है उसीप्रकार सभी मार्गणाओंमें विचार कर उसका कथन करना चाहिये।

* दोषके स्वामीके समान पेज्जके स्वामीका भी कथन करना चाहिये।

§ ३६७. जिसप्रकार दोषकी स्वामित्वविषयक प्ररूपणा की है उसीप्रकार व्यामोहसे रहित होकर सावधानीपूर्वक पेज्जकी भी स्वामित्वविषयक प्ररूपणा करनी चाहिये, क्योंकि दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। इसप्रकार स्वामित्व अर्थाधिकार समाप्त हुआ।

* कालानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है, ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश।

§ ३६८. उनमेंसे पहले ओघकी अपेक्षा कालका कथन करते हैं–

* दोष कितने कालतक रहता है? जघन्य और उत्कृष्टरूपसे दोष अन्तर्मुहूर्त कालतक रहता है।

शंका–जघन्य और उत्कृष्ट कालसे भी दोष अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही क्यों रहता है?

§ ३६९. समाधान–क्योंकि जीवके मर जाने पर या जीवके [illegible]

णमणुवलंभादो[1]। जीवट्ठाणे[2] एगसमओ कालम्मि परूविदो, सो कधमेदेण सह ण विरुज्झदे; ण; तस्स अण्णाइरियउवएसत्तादो। कोह-माणाणमेगसमयमुदओ होदूण विदियसमए किण्ण फिट्टदे[3]? ण; साहावियादो। उवसमसेढीदो ओदरमाणपेज्जवेदगे एगसमयं दोसेण परिणमिय तदो कालं कादूण देवेसुप्पण्णे दोसस्स एयसमयसंभवो दीसइ, देवेसुप्पण्णस्स पढमदाए लोभोदयणियमदंसणादो[4] त्ति णासंकणिज्जं; एदस्स सुत्तस्साहिप्पाएण तहाविहणियमाणब्भुवगमादो[5]। अहवा, तहाविहसंभवमविवक्खिय पयट्टमेदं सुत्तमिदि वक्खाणेयव्वं[6]; अप्पिदाणप्पिदसिद्धीए सव्वत्थ विरोहाभावादो। एव-

घटके आ जाने पर भी क्रोध और मानका काल अन्तर्मुहूर्त छोड़कर एक समय, दो समय आदिरूप नहीं पाया जाता है। अर्थात् किसी भी अवस्थामें दोष अन्तर्मुहूर्तसे कम समय तक नहीं रह सकता।

शंका–जीवस्थानमें कालानुयोगद्वारका वर्णन करते समय क्रोधादिकका काल एक समय भी कहा है अतः वह कथन इस कथनके साथ विरोधको क्यों नहीं प्राप्त होता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि जीवस्थानमें क्रोधादिकका काल जो एक समय कहा है वह अन्य आचार्यके उपदेशानुसार कहा है।

शंका–क्रोध और मानका उदय एक समय तक रह कर दूसरे समयमें नष्ट क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान–नहीं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त तक रहना उसका स्वभाव है।

शंका–उपशम श्रेणीसे उतर कर पेज्जका अनुभव करनेवाला कोई जीव एक समय तक दोपरूपसे परिणमन करके उसके अनन्तर मरकर देवोंमें उत्पन्न हुआ। उसके दोपका सद्भाव एक समय भी देखा जाता है, क्योंकि देवोंमें उत्पन्न हुए जीवके प्रथम अवस्थामें लोभके उदयका नियम देखा जाता है।

समाधान–ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस सूत्रके अभिप्रायानुसार उस प्रकारका नियम नहीं स्वीकार किया है। अथवा उस प्रकारकी संभावनाकी विवक्षा न करके यह सूत्र कहा है ऐसा व्याख्यान करना चाहिये, क्योंकि मुख्यता और गौणतासे

(१) "कोहादिकसायोवजोगजुत्ताणं जहण्णकालो मरणवाघादेहि गसमयमेत्तो त्ति जीवट्ठाणादिसु परूविदो सो एत्थ किण्ण इच्छिज्जदे ? ण, चुण्णिसुत्ताहिप्पाएण तहासंभवाणुवलंभादो।"–कसायपा० उपजोगा० प्रे० का० पृ० ५८५७। (२) "अणप्पिदकसायादो कोधकसायं गंतूण एगसमयमच्छिय कालं करिय णिरयगइं मोत्तूणण्णगइसुप्पण्णस्स एगसमओवलंभादो। कोधस्स वाघादेण एगसमओ णत्थि वाघादिदे वि कोधस्सेव समुप्पत्तीदो। एवं सेसतिण्हं कसायाणं पि एगसमयपरूवणा कायव्वा। णवरि एदेसिं तिण्हं कसायाणं वाघादेण वि एगसमयपरूवणा कायव्वा। मरणेण एगसमए भण्णमाणे माणस्स मणुसगइं मायाए तिरिक्खगइं लोभस्स देवगइं मोत्तूण सेसासु तिगईसु उप्पाएअव्वो। कुदो ? णिरयमणुसतिरिक्खदेवगईसु उप्पण्णाणं पढमसमए जहाकमेण कोधमाणमायाणं चेवुदयदंसणादो।"– जीवट्ठा० कालाणु० पृ० ४४४। (३) किण्ण ट्ठविदे ण अ०, आ०। (४) कदो अ०, आ०। (५)–यमदंस–अ०, आ०। (६)–क्खाणि–अ०, आ०।

मचक्खुदंसणि-भवसिद्धिय-अभवसिद्धियाणं। एइंदियादिसु अचक्खुदंसणीसु कोहमाण-द्धाणमेगसमयावसेसे चक्खुदंसणीसु उववण्णेसु एगसमओ किण्ण लब्भदे ? ण; अच-क्खुदंसणस्स छदुमत्थेसु सव्वद्धमणपायादो।

* एवं पेज्जमणुगंतव्वं।

वस्तुकी सिद्धि करने पर कहीं भी विरोध नहीं आता है। इसीप्रकार अचक्षुदर्शनी, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक जीवोंके भी दोष अन्तर्मुहूर्तकाल तक समझना चाहिये।

विशेषार्थ–चूर्णिसूत्रकारने पेज्ज और दोषका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है और जीवट्ठाणमें कालानुयोगद्वारमें कषायका काल बतलाते समय जघन्यकाल एक समय भी कहा है यही इन दोनों उपदेशोंमें मतभेद है। इसका समाधान वीरसेनस्वामीने दो प्रकारसे किया है। एक तो वीरसेनस्वामीने यह बतलाया है ये दोनों उपदेश भिन्न दो आचार्योंके हैं, इसलिये इनमें परस्पर विरोध न मानकर मान्यताभेद मानना चाहिये। इसका यह अभिप्राय है कि मरण और व्याघातके विना प्रत्येक कषाय अन्तर्मुहूर्त कालतक रहती है यह बात तो दोनों आचार्योंको सम्मत है। पर मरण और व्याघातके होने पर कषायका काल एक समय भी है यह जीवट्ठाणकारको मान्य है यतिवृषभ आचार्यको नहीं। इनके मतसे मरण और व्याघातके होने पर चालू कषायमें उसके कालतक वाधा नहीं पड़ती। और इसीलिये उन्हें देवगति आदिके पहले समयमें लोभ आदिका ही उदय होता है यह नियम भी मान्य नहीं है। इनके मतसे जब विवक्षित कषायका काल पूरा हो जाता है तभी वह कषाय बदलती है। दूसरे उत्तर द्वारा वीरसेनस्वामीने दोनों उपदेशोंका समन्वय किया है। वीरसेनस्वामीका कहना है कि व्याघात आदिसे जो कषायका जघन्य काल एक समय देखा जाता है उसकी विवक्षा न करके कषायके काल सम्बन्धी इस चूर्णिसूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। गुणधर भट्टारकने अद्धापरिमाणका निर्देश करते समय दर्शनोपयोग आदिके जघन्य काल कहे हैं वे व्याघातसे रहित अवस्थाकी अपेक्षासे ही कहे हैं। इससे मालूम होता है कि गुणधर भट्टारकको व्याघातके होने पर उन दर्शनोपयोग आदिके जघन्य काल वहां बतलाये हुए जघन्य कालसे कम भी इष्ट हैं। इन स्थानोंमें क्रोधादिके जघन्य काल भी सम्मिलित हैं। बहुत कुछ संभव है कि इस चूर्णिसूत्रकी प्रवृत्ति इन्हींके अनुसार हुई हो। यदि ऐसा हो तो यह मान्यता भेद न होकर विवक्षा भेदसे कथन भेद ही समझना चाहिये।

शंका–क्रोध और मानका काल एकसमय मात्र शेष रहने पर चक्षुदर्शनवाले जीव जब एकेन्द्रियादि अचक्षुदर्शनियोंमें उत्पन्न होते हैं तो उस समय अचक्षुदर्शनीके क्रोध और मानका काल एक समय प्रमाण क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अचक्षुदर्शनका छद्मस्थोंके सर्वदा विरह नहीं होता है।

* इसीप्रकार पेज्जके विषयमें समझना चाहिये।

§ ३७०. कुदो ? अंतोमुहुत्तमेत्तजहण्णुक्कस्सकालपडिबद्धत्तेण तत्तो भेदाभावादो। एत्थ वि एयसमयसंभवमासंकिय पुव्वं व परिहारेयव्वं। एवमोघपरूवणा गदा।

* आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु पेज्जदोसं केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णेण एगसमओ[1]।

§ ३७१. कुदो ? तिरिक्ख-मणुस्सेसु पेज्ज-दोसेसु अंतोमुहुत्तमच्छिदेसु तेसिमद्धाए एगसमयावसेसाए णेरइएसु उप्पण्णेसु एगसमयउवलंभादो।

§ ३७२. उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। कुदो ? साभावियादो। एवं सेसाणं सव्वमग्गणाणं

§ ३७०. शंका–पेज्जके विषयमें भी इसीप्रकार क्यों समझ लेना चाहिये ?

समाधान–क्योंकि पेज्ज भी अन्तर्मुहूर्तमात्र जघन्य और उत्कृष्ट कालके साथ सम्बद्ध है, अर्थात् पेज्जका भी जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, इसलिये दोषसम्बन्धी काल प्ररूपणासे पेज्जसम्बन्धी कालप्ररूपणामें कोई भेद नहीं है। यहां पर भी एक समय कालकी आशंका करके पहलेके समान उसका परिहार कर लेना चाहिये।

विशेषार्थ–पहले दोषका कथन करते समय यह बतला आये हैं कि सामान्यकी अपेक्षा उसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तसे कम नहीं हो सकता। इसीप्रकार पेज्जका भी समझना चाहिये। मरण और व्याघातादिसे इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। चक्षुदर्शनी जीव माया और लोभके कालमें एक समय शेष रह जाने पर एकेन्द्रियादि अचक्षुदर्शनवाले जीवोंमें उत्पन्न हो जाते हैं यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि अचक्षुदर्शन छद्मस्थ जीवोंके सर्वदा पाया जाता है। अतः अचक्षुदर्शनी जीवोंके दोषके समान पेज्जकी भी एक समय सम्बन्धी प्ररूपणा नहीं बन सकती है।

इसप्रकार ओघप्ररूपणा समाप्त हुई।

* आदेशकी अपेक्षा गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें पेज्ज और दोषका काल कितना है ? जघन्य काल एक समय है।

§ ३७१. शंका–नारकियोंमें पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय कैसे है ?

समाधान–पेज्ज और दोषमें तिर्यंच और मनुष्योंके अन्तर्मुहूर्त कालतक रहने पर जब पेज्ज और दोषका काल एक समय शेष रह जाय तब मरकर उनके नारकियोंमें उत्पन्न होने पर नारकियोंके पेज्ज और दोषका काल एक समयमात्र पाया जाता है। अतः नारकियोंके पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समयमात्र कहा है।

§ ३७२. नारकियोंमें पेज्ज और दोषका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

शंका–नारकियोंमें पेज्ज और दोषका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कैसे है ?

समाधान–क्योंकि उत्कृष्ट रूपसे अन्तर्मुहूर्त कालतक रहना पेज्ज और दोषका स्वभाव

(१) "गदीसु णिक्खमणपवेसणेण एगसमयो होज्ज।"–कसाय० उवजोगा० प्रे० का० पृ० ५८५७।

वत्तव्वं। णवरि कोधकसाइ-माणकसाइ-मायाकसाइ-लोभकसाईसु जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। कुदो ? अंतोमुहुत्तेण विणा कसायंतरसंकंतीए अभावादो। कम्मइयकायजोगीसु जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण तिण्णि समया। कुदो ? तिसु चेव समएसु कम्मइयकायजोगुवलंभादो। एवमणाहारीसु। एवं कालो समत्तो।

* एवं सव्वाणियोगद्दाराणि अणुगंतव्वाणि।

§ ३७३. जहा सामित्त-कालाणियोगद्दाराणि परूविदाणि तहा सेसाणि वि जाणिऊण परूवेयव्वाणि।

§ ३७४. चुण्णिसुत्तपरूविदसामित्त-कालाणियोगद्दाराणि परूविय संपहि उच्चारणाइरियपरूविदअणियोगद्दाराणं परूवणं कस्सामो।

§ ३७५. अंतराणुगमेण दुविहो णिद्देसो–ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्जदोसाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। णवरि, पेज्जस्स

है, अतः ऊपर पेज्ज और दोषका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा है।

गतिमार्गणामें नरकगतिगत नारकियोंमें पेज्ज और दोषके कालका जिसप्रकार वर्णन किया है उसीप्रकार शेष मार्गणाओंमें करना चाहिये। किन्तु कषायमार्गणा, कार्मणकाययोग और अनाहारक जीवोंमें इतनी विशेषता है कि कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी और लोभकषायी जीवोंमें पेज्ज और दोषका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त हुए बिना एक कषाय दूसरी कषायमें संक्रान्त नहीं होती है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तके बाद ही कषायमें परिवर्तन होता है। योग मार्गणाकी अपेक्षा कार्मणकाययोगियोंमें पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल तीन समय है, क्योंकि कार्मणकाययोग उत्कृष्ट रूपसे तीन समय तक ही पाया जाता है। कार्मणकाययोगियोंमें पेज्ज और दोषके कालका जिसप्रकार वर्णन किया है उसीप्रकार अनाहारकोंमें भी पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय समझना चाहिये।

इसप्रकार कालानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

* इसीप्रकार सब अनुयोगद्वारोंको समझ लेना चाहिये।

§ ३७३. ऊपर जिसप्रकार स्वामित्व अनुयोगद्वार और कालानुयोगद्वारका कथन कर आये हैं उसीप्रकार शेष अनुयोगद्वारोंको भी समझकर उनका कथन करना चाहिये।

§ ३७४. इसप्रकार चूर्णिसूत्रके द्वारा कहे गये स्वामित्व और कालानुयोगद्वारका कथन करके अब उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये शेष अनुयोगद्वारोंका कथन करते हैं–

§ ३७५. अन्तरानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्ज और दोषका अन्तरकाल कितना है ? पेज्ज और

जहण्णेण एगसमओ। एवं णेदव्वं जाव अणाहारएत्ति। णवरि, पेज्जस्स एयसमय-संभवो समयाविरोहेणाणुगंतव्वो; सव्वत्थ तदसंभवादो। पंचमण-पंचवचि-वेउव्विय-मिस्स०आहार०आहारमिस्स०कम्मइय०सुहुमसांपराइय-सासण-सम्मामिच्छादिट्ठीसु णत्थि अंतरं। कुदो? पेज्जदोसाणं जहण्णंतरकालादो वि एदेसिं वुत्तपदकालाणं थोवत्तुवलंभादो। ण च पदंतरगमणमेत्थ संभवइ; एक्कम्मि पदे णिरुद्धे पदंतरगमणाविरोहादो। एवमंतरं समत्तं।

§ ३७६. णाणाजीवेहि भंगविचयाणुगमेण दुविहो णिद्देसो, ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्जं दोसो च णियमा अत्थि। सुगममेदं। एवं जाव अणाहारएत्ति वत्तव्वं।

दोपका अन्तर जघन्य और उत्कृष्ट दोनोंकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त होता है। इतनी विशेपता है कि पेज्जका जघन्य अन्तर एक समय भी होता है। इसीप्रकार अनाहारक मार्गणा तक कथन करना चाहिये। इतनी विशेपता है कि पेज्जका जघन्य अन्तर जो एक समय संभव है वह जिसप्रकार आगममें विरोध न आवे उसप्रकार लगा लेना चाहिये, क्योंकि सब स्थानोंमें पेज्जका जघन्य अन्तर एक समय नहीं पाया जाता है।

विशेपार्थ–पेज्ज या दोपका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। पेज्जके बाद दोपका और दोपके बाद पेज्जका ही उदय होता है, अतः पेज्ज और दोपका अन्तरकाल भी अन्तर्मुहूर्त ही होगा। परन्तु पेज्जका जघन्य अन्तर एक समय भी हो सकता है। यथा–कोई सूक्ष्म सांपरायगुणस्थानवर्ती जीव उपशान्तकपाय हुआ और वहां एक समय रह कर मरा और पेज्जके उदयसे युक्त देव हुआ। इसप्रकार पेज्जका जघन्य अन्तर एक समय हो जाता है। पेज्जका यह जघन्य अन्तर सर्वत्र संभव नहीं है।

पांचों मनोयोगी, पांचों वचनयोगी, वैक्रियकमिश्रकाययोगी, आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, कार्मणकाययोगी, सूक्ष्मसांपरायसंयमी, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें पेज्ज और दोपका अन्तर नहीं पाया जाता है, क्योंकि पेज्ज और दोपके जघन्य अन्तरकालसे भी इन ऊपर कहे गये स्थानोंका काल अल्प पाया जाता है। यदि कहा जाय कि यहां पर पदान्तरगमन संभव है सो भी बात नहीं है, क्योंकि एक पदमें रुके रहने पर पदान्तरगमनके माननेमें विरोध आता है।

इसप्रकार एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३७६. नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगमसे निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। उनमेंसे ओघकी अपेक्षा पेज्ज भी सर्वदा नियमसे है और दोप भी सर्वदा नियमसे है, क्योंकि पेज्ज और दोपके धारक जीव सर्वदा पाये जाते हैं। इसप्रकार यह कथन सुगम है। सान्तर मार्गणाओंको और जिनमें पेज्ज और दोप पाये नहीं जाते हैं उन मार्गणाओंको छोड़कर अनाहारक मार्गणा तक शेप सभी मार्गणाओंमें ओघके समान

णवरि, मणुस्सअपज्जत्तएसु णाणेगजीवं पेज्जदोसे अस्सिऊण अट्ठभंगा। तं जहा, सिया पेज्जं, सिया णोपेज्जं, सिया पेज्जाणि, सिया णोपेज्जाणि, सिया पेज्जं च णोपेज्जं च, सिया पेज्जं च णोपेज्जाणि च, सिया पेज्जाणि च णोपेज्जं च, सिया पेज्जाणि च णोपेज्जाणि च।

§ ३७७. एवं दोसस्स वि अट्ठ भंगा वत्तव्वा। णाणाजीवप्पणाए कधमेकजीवभंगुप्पत्ती? ण, एगजीवेण विणा णाणाजीवाणुववत्तीदो। एवं वेउव्वियमिस्स० आहार० आहारमिस्स० अवगदवेद-उवसमसम्माइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठीसु अट्ठ भंगा वत्तव्वा। सुहुमसांपराइयसंजदेसु सिया पेज्जं सिया पेज्जाणि त्ति। एत्थ णिरयदेवगदीसु

नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्ज और दोषका अस्तित्व कहना चाहिये। सान्तरमार्गणाओंमेंसे मनुष्यलब्ध्यपर्याप्तकोंमें इतनी विशेषता है कि मनुष्यलब्ध्यपर्याप्तकोंमें नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा पेज्ज और नोपेज्जका आश्रय लेकर आठ भंग होते हैं। वे इसप्रकार हैं– कभी एक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी अपेक्षा एक पेज्जभाव होता है। कभी एक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी अपेक्षा एक नोपेज्जभाव होता है। कभी अनेक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी अपेक्षा अनेक पेज्जभाव होते हैं। कभी अनेक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी अपेक्षा अनेक नोपेज्ज भाव होते हैं। कभी पेज्ज और नोपेज्ज धर्मसे युक्त एक एक ही लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पाया जाता है, इसलिये एक साथ एक पेज्जभाव और एक नोपेज्जभाव होता है। कभी पेज्ज धर्मसे युक्त एक और नोपेज्ज धर्मसे युक्त अनेक लब्धपर्याप्तक मनुष्य पाये जाते हैं। इसलिये एक पेज्जभाव और अनेक नोपेज्जभाव होते हैं। कभी अनेक पेज्जधर्मसे युक्त और एक नोपेज्ज धर्मसे युक्त लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पाया जाता है, अतः अनेक पेज्जभाव और एक नोपेज्जभाव होता है। कभी पेज्जधर्मसे युक्त अनेक और नोपेज्जधर्मसे युक्त अनेक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पाये जाते हैं, अतः अनेक पेज्जभाव और अनेक नोपेज्जभाव होते हैं।

§ ३७७. इस प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके प्रति दोषके भी आठ भंग कहना चाहिये।

शंका–भंगविचयमें नाना जीवोंकी प्रधानतासे कथन करने पर एक जीवकी अपेक्षा भंग कैसे बन सकते हैं?

समाधान–नहीं, क्योंकि एक जीवके बिना नाना जीव नहीं बन सकते हैं, इसलिये भंगविचयमें नाना जीवोंकी प्रधानताके रहने पर भी एक जीवकी अपेक्षा भी भंग बन जाते हैं।

इसीप्रकार वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, अपगतवेद, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें प्रत्येकमें आठ आठ भंग कहना चाहिये। परन्तु सूक्ष्मसांपरायिक संयमी जीवोंमें कदाचित् एक पेज्ज है और कदाचित् अनेक पेज्ज हैं इसप्रकार दो भंगोंका ही कथन करना चाहिये।

शंका–नरकगति और देवगतिमें यथाक्रम पेज्ज और दोष कदाचित् होता है।

जहाकमं पेज्जदोसं सिया अत्थि त्ति वत्तव्वं, उवजोगसुत्तस्साहिप्पाएण तत्थेगकसायोवजुत्ताणं पि जीवाणं कदाचित्कभावेण संभवोवलंभादो त्ति णासंकणिज्जं; उच्चारणाहिप्पाएण चदुसु वि गदीसु चदुकसाओवजुत्ताणं णियमा अत्थित्तदंसणादो। एवं णाणजीवेहि भंगविचओ समत्तो।

§ ३७८. भागाभागाणुगमेण दुविहो णिद्देसो–ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण

अर्थात् नरकगतिमें पेज्ज और देवगतिमें दोष कभी कभी पाया जाता है सर्वदा नहीं, ऐसा कथन करना चाहिये, क्योंकि उपयोग अधिकारगतसूत्रके अभिप्रायानुसार नरकगति और देवगतिमें एक कषायसे उपयुक्त जीवोंका भी कभी कभी संभव पाया जाता है।

समाधान–ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उच्चारणाचार्यके अभिप्रायानुसार चारों ही गतियोंमें चारों कषायोंसे उपयुक्त जीवोंका अस्तित्व नियमसे देखा जाता है,

इस प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय अनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

विशेषार्थ–जिन मार्गणाओंसे युक्त जीव कभी होते और कभी नहीं भी होते उन्हें सान्तर मार्गणा कहा है। आगममें ऐसी मार्गणाएं आठ गिनाई हैं। कषायसहित अपगतवेद भी एक ऐसा स्थान है जो सर्वदा नहीं पाया जाता। इसप्रकार ये उपर्युक्त स्थान सान्तर होनेसे इनमें कभी एक और कभी अनेक जीव पाये जाते हैं। इसलिये इनके पेज्ज और दोषके साथ प्रत्येक और संयोगी भंग उत्पन्न करने पर आठ भंग होते हैं जो ऊपर गिनाये हैं। पर सूक्ष्मसंपरायमें पेज्जभाव ही होता है, इसलिये वहां एक जीवकी अपेक्षा पेज्जभाव और नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्जभाव ये दो ही भंग होंगे। तथा इन मार्गणास्थानोंको छोड़ कर जिनमें कषाय संभव है ऐसी शेष सभी मार्गणाओंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्जभाव और नाना जीवोंकी अपेक्षा दोषभाव ये दो भंग ही होंगे। यद्यपि यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि आगे उपयोगाधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने यह बताया है कि देव और नारकी कदाचित् एक कषायसे और कदाचित् दो, तीन और चार कषायोंसे उपयुक्त होते हैं इसलिये नारकियोंमें पेज्ज और देवोंमें दोष कभी होता और कभी नहीं होता, इस दृष्टिसे यहां भंगोंका संग्रह क्यों नहीं किया? पर इस विषयमें उच्चारणाका अभिप्राय चूर्णिसूत्रकारसे मिलता हुआ नहीं है। उच्चारणाका यह अभिप्राय है कि चारों गतिके जीव सर्वदा चारों कषायोंसे उपयुक्त होते हैं। और यहां उच्चारणाके अभिप्रायानुसार भंगविचयका कथन किया जा रहा है, इसलिये यहां चूर्णिसूत्रके अभिप्रायका संग्रह नहीं किया।

§ ३७८. भागाभागानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेश-

(१) "तदो का च गदी एगसमएण एगकसाओवजुत्ता वा दुकसाओवजुत्ता वा तिकसायोवजुत्ता वा चदुकसायोवजुत्ता वा त्ति एदं पुच्छासुत्तं। तदो णिदरिसणं णिरयदेवगदीणमेदे वियप्पा अत्थि। सेसाओ गदीओ णियमा चदुकसायोवजुत्ताओ।"–कसाय० उपयोग० प्रे० पृ० ५९१६। (२) चदुकसाएसु कसाओव –अ०, आ०। (३) अत्थित्ति–अ०।

पेज्जं सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? दुभागो सादिरेओ। दोसो सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? दुभागो देसूणो[1]। एवं सव्वतिरिक्ख०सव्वमणुस्स०सव्वएइंदिय०सव्वविगलिंदिय०सव्वपंचिंदिय०पंचकायबादरसुहुम-तसपज्जत्तापज्जत्त-दोवचिजोगि-कायजोगि-ओरालियकायजोगि-ओरालियमिस्सकायजोगि-आहारकायजोगि-आहारमिस्सकायजोगि-कम्मइयकायजोगि-णवुंसयवेद-मदिअण्णाणि-सुदअण्णाणि-मणपज्जवणाणि-संजद-सामाइय-छेदोवट्ठावण-परिहारविसुद्धिसंजद-संजदासंजद-चक्खुदंस०अचक्खुदंसण-किण्ह-णील-काउ-पम्मले०भवसिद्धिय-अभवसिद्धिय-मिच्छादि०असण्णि-आहारि-अणाहारि त्ति वत्तव्वं।

§ ३७९. आदेसेण णिरयगदीए णेरइएसु पेज्जं सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? संखेज्जदिभागो। दोसो सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? संखेज्जा भागा। एत्थ कोह-माण-

निर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्ज युक्त जीव सब जीवोंके कितने भाग प्रमाण हैं? पेज्ज-युक्त जीव सब जीवोंके कुछ अधिक आधेभाग प्रमाण हैं। दोषयुक्त जीव सब जीवोंके कितने भाग प्रमाण हैं? दोषयुक्त जीव सब जीवोंके कुछ कम आधेभाग प्रमाण हैं। अर्थात् आधेसे कुछ अधिक जीव पेज्जरूप हैं और आधेसे कुछ कम जीव दोषरूप हैं। इसीप्रकार पांचों प्रकारके तिर्यंच, चारों प्रकारके मनुष्य, बादर और सूक्ष्म तथा उनमें पर्याप्त और अपर्याप्त भेदवाले सभी प्रकारके एकेन्द्रिय जीव, पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे सभी प्रकारके विकलेन्द्रिय जीव, संज्ञी और असंज्ञी तथा उनमें पर्याप्त और अपर्याप्त भेदवाले सभी पंचेन्द्रिय जीव, बादर और सूक्ष्मरूप पांचों स्थावरकाय, पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके त्रसकाय, सामान्य वचनयोगी और अनुभयवचनयोगी इसप्रकार दो वचनयोगी, सामान्य काययोगी, औदारिककाययोगी, औदारिकमिश्र काययोगी, आहारककाययोगी, आहारक-मिश्रकाययोगी, कार्मणकाययोगी, नपुंसकवेदी, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, सामान्य संयत, सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, संयतासंयत, चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शनवाले, कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावाले, कपोतलेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि, असंज्ञी, आहारी और अनाहारी इन जीवोंमें भी [illegible]। अर्थात् ऊपर कहे गये स्थानोंमेंसे विवक्षित स्थानमें कुछ अधिक आधे भाग प्रमाण पेज्जयुक्त जीव हैं और कुछ कम आधेभाग प्रमाण दोषयुक्त जीव हैं।

§ ३७९. आदेशनिर्देशकी अपेक्षा नरकगतिमें नारकियोंमें पेज्जयुक्त नारकी [illegible] नारकी जीवोंके कितने भाग प्रमाण हैं? पेज्जयुक्त नारकी [illegible] भाग प्रमाण हैं। दोषयुक्त नारकी सामान्य नारकियोंके कितने भाग प्रमाण हैं? दोषयुक्त नारकी सामान्य नारकियोंके संख्यात बहुभाग हैं। नरकगतिमें क्रोध और [illegible]

(१)–देसू अ०, आ० । (२) [illegible]

[कसाया]दोसो, माया-लोभकसाया पेज्जं, णव णोकसाया णोपेज्जं णोदोसो त्ति घेत्तव्वं, अण्णहा णेरइएसु भागाभागाभावो होज्ज; णवुंसयवेदोदइल्लाणं णेरइयाणं सव्वेसिं पि पेज्जभावुवलंभादो। एवमण्णासु मग्गणासु वि; तिवेदोदयवदिरित्तमग्गणाभावादो। पुव्विल्लवक्खाणेण कधं ण विरोहो ? अप्पियाणप्पियणयावलंबणादो ण विरोहो। एवं सत्तसु पुढवीसु। देवगदीए पेज्जं सव्वजीवाणं केवडिओ भागो ? संखेज्जा भागा। दोसो

लोभकषाय पेज्ज हैं तथा नौ नोकषाय नोपेज्ज और नोदोष हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा नारकियोंमें भागाभागका अभाव हो जायगा, क्योंकि पूर्वोक्त कथनानुसार पेज्ज और दोषकी व्यवस्था करने पर नपुंसकवेदके उदयसे युक्त सभी नारकियोंके पेज्जभाव पाया जाता है। इसीप्रकार अन्य मार्गणाओंमें भी समझना चाहिये, क्योंकि तीनों वेदोंके उदयके बिना कोई मार्गणा नहीं पाई जाती है।

शंका–पहले अरति, शोक, भय और जुगुप्साको दोषरूप और शेष नोकषायोंको पेज्जरूप कह आये हैं और यहाँ पर सभी नोकषायोंको नोपेज्ज और नोदोषरूप कहा है। अतः पूर्व कथनके साथ इस कथनका विरोध क्यों नहीं है ?

समाधान–मुख्य और गौण नयका अवलंबन लेनेसे विरोध नहीं है।

विशेषार्थ–ऊपर 'पेज्जं वा दोसो वा' इस गाथाका व्याख्यान करते समय नैगमनयकी अपेक्षा नौ नोकषायोंमेंसे हास्य, रति और तीनों वेदोंको पेज्ज तथा शेष नोकषायोंको दोष कहा है। और यहां असंग्रहिक नैगमनयकी अपेक्षा बारह अनुयोगद्वारोंका कथन करते समय नौ नोकषायोंको नोपेज्ज और नोदोष कहा है जो युक्त नहीं प्रतीत होता। इसका यह समाधान है कि यदि यहां पूर्वोक्त दृष्टिसे नौ नोकषायोंको पेज्ज और दोष माना जायगा तो पेज्ज और दोषरूपसे सभी मार्गणाओंमें जीवोंका भागाभाग करना कठिन हो जायगा। और पेज्ज और दोषकी अपेक्षा जीवोंका भागाभाग न हो सकनेसे अन्य अनुयोगद्वारोंके द्वारा भी पेज्ज और दोषरूपसे जीवोंका स्पर्शन, क्षेत्र, काल और अल्पबहुत्व आदि नहीं बताये जा सकेंगे। अतः ऊपर जिस दृष्टिसे नौ नोकषायोंको पेज्ज और दोष कहा है उसे गौण कर देना चाहिये और नौ नोकषाय नोपेज्ज और नोदोष हैं इस दृष्टिको प्रधान करके यहां पेज्ज और दोषकी अपेक्षा बारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा जीवोंका स्पर्शन, क्षेत्र भागाभाग आदि कहना चाहिये। नैगमनयमें यह सब विवक्षा भेद असंभव भी नहीं है। क्योंकि उसकी गौण और मुख्य भावसे सभी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार विचार करने पर विवक्षाभेदसे दोनों कथन समीचीन हैं यह सिद्ध हो जाता है।

सामान्य नारकियोंमें पेज्ज और दोषकी अपेक्षा जिसप्रकार भागाभाग बतलाया है उसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें समझना चाहिये।

देवगतिमें पेज्जयुक्त देव समस्त देवोंके कितने भाग हैं ? पेज्जयुक्त देव समस्त

सव्वजीवाणं केवडिओ भागो ? संखेज्जदिभागो। एवं पंचमण०तिण्णिवचि०वेउव्विय० वेउव्वियमिस्स०इत्थिवेद-पुरिस०विभंग०आभिणिबोहिय०सुद०ओहिणाणि-ओहिदंस०तेउलेस्सा-सुक्कलेस्सा-सम्मादि०खइय०वेदग०उवसम०सासण०सम्मामिच्छा०सण्णि त्ति वत्तव्वं। चत्तारिकसाएसु सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदेसु च णत्थि भागाभागं; एगपदत्तादो। एवं भागाभागं समत्तं।

देवोंके संख्यात बहुभाग हैं। दोषयुक्त देव समस्त देवोंके कितने भागप्रमाण हैं ? दोषयुक्त देव समस्त देवोंके संख्यातवें भाग हैं। इसीप्रकार पांचों मनोयोगी, सामान्य और अनुभयको छोड़कर तीनों वचनयोगी, वैक्रियिककाययोगी, वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, अवधिदर्शनी, तेजोलेश्यावाले, शुक्लेश्यावाले, सामान्य सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संज्ञी इन जीवोंके भी समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित उक्त मार्गणास्थानोंमें संख्यात बहुभाग पेज्जयुक्त और संख्यात एकभाग दोषयुक्त जीव हैं। चारों कषायोंमें और सूक्ष्मसांपरायिकशुद्धिसंयत जीवोंमें भागाभाग नहीं पाया जाता है, क्योंकि वहां एक ही स्थान है, अर्थात् विवक्षित स्थानोंको छोड़कर अन्यत्र चारों कषायोंसे उपयुक्त जीव सर्वदा पाये जाते हैं। किन्तु विवक्षित स्थानोंमेंसे कषाय मार्गणामें जहां जो कषाय है वहां उसीका उदय है अन्यका नहीं इसलिये एक स्थान है। तथा सूक्ष्मसांपरायमें केवल लोभका ही उदय है अतः वहां भी दो स्थान नहीं हैं, अतः इनमें भागाभाग नहीं होता।

विशेषार्थ–भागाभागमें कौन किसके कितने भागप्रमाण हैं इसका खुलासारूपसे विचार किया जाता है। प्रकृतमें सामान्यरूपसे और विशेषरूपसे पेज्ज और दोषभावको प्राप्त जीव किसके कितने भाग हैं यह बताया गया है। लोकमें जितने सकषाय जीव हैं उनमें आधेसे अधिक जीव पेज्जभावको प्राप्त हैं और आधेसे कुछ कम जीव दोषभावको प्राप्त हैं। मार्गणास्थानोंकी अपेक्षा विचार करने पर इनकी प्ररूपणा चार प्रकारसे की जाती है। कुछ मार्गणास्थानोंमें पेज्ज और दोषभावको प्राप्त जीवोंकी प्ररूपणा ओघके समान है। कुछ मार्गणास्थानोंमें संख्यात बहुभाग जीव दोषभावको प्राप्त और संख्यात एक भाग जीव पेज्जभावको प्राप्त हैं। तथा कुछ मार्गणास्थानोंमें संख्यात बहुभाग जीव पेज्जभावको प्राप्त हैं और संख्यात एकभाग जीव दोषभावको प्राप्त हैं। तथा चारों कषायवाले और सूक्ष्मसांपरायसंयत ये ऐसी मार्गणाएं हैं जिनमें पेज्ज और दोषकी अपेक्षा भागाभाग संभव नहीं है। जिन मार्गणाओंमें पेज्ज और दोषकी अपेक्षा ओघके समान या संख्यात बहुभाग और संख्यात एकभाग प्रमाण जीव हैं उनके नाम ऊपर लिखे ही हैं।

इसप्रकार भागाभागानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३८०. परिमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो–ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्ज-दोसविहत्तिया केत्तिया[1] ? अणंता। एवं तिरिक्खा, सव्वएइंदिय-वणप्फदि० णिगोद० वादर-सुहुमपज्जत्तापज्जत्त-कायजोगि-ओरालिय० ओरालियमिस्स० कम्मइय० णवुंस० कोह-माण-माया-लोहक० मदि-सुदअण्णाणि-असंजद० अचक्खुदंसण० तिण्णिलेस्सा-भवसिद्धि० अभवसिद्धि० मिच्छादिट्ठि-असण्णि-आहार-अणाहारएत्ति वत्तव्वं।

§ ३८१. आदेसेण णिरयगईए णेरइएसु पेज्ज-दोसविहत्तिया केत्तिया? असंखेज्जा। एवं सत्तसु पुढवीसु। पंचिंदियतिरिक्ख-पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्तापज्जत्त-जोणिणिय-मणुस्स-मणुस्सअपज्जत्त-देवा भवणवासियादि जाव अवराइदंता सव्वविगलिंदिय-पंचिंदिय [पंचिंदियपज्जत्तापज्जत्त] तस–तसपज्जत्तापज्जत्त-चत्तारिकसाय (-रिकाय) बादरसुहुम०

§ ३८०. परिमाणानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेश-निर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्ज और दोषसे युक्त जीव कितने हैं? अनन्त हैं। इसीप्रकार तिर्यंच सामान्य, सभी एकेन्द्रिय, वनस्पतिकायिक, निगोद जीव, बादर वनस्पतिकायिक, सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, बादर निगोद जीव, सूक्ष्मनिगोद जीव, बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त, बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिकपर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, बादर निगोद पर्याप्त, बादर निगोद अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद पर्याप्त, सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त, सामान्य काययोगी, औदारिककाययोगी, औदारिकमिश्रकाययोगी, कार्मणकाययोगी, नपुंसकवेदी, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, असंयत, अचक्षुदर्शनी, कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावाले, कपोतलेश्यावाले, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि, असंज्ञी, आहारक और अनाहारक इनमें भी कहना चाहिये। अर्थात् उपर्युक्त स्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्जरूप और दोषरूप जीव अनन्त हैं।

§ ३८१. आदेशनिर्देशकी अपेक्षा नरकगतिमें नारकियोंमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव कितने हैं? असंख्यात हैं। इसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें कथन करना चाहिये। पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच, योनिमती तिर्यंच, सामान्य मनुष्य, अपर्याप्त मनुष्य, भवनवासियोंसे लेकर अपराजित विमान तक प्रत्येक स्थानके देव, पर्याप्त और अपर्याप्त सभी विकलेन्द्रिय, सामान्य पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, समान्य त्रस, त्रस पर्याप्त, त्रस अपर्याप्त, पृथिवीकायिक, बादर पृथिवीकायिक, सूक्ष्म पृथिवीकायिक, बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, बादर पृथिवीकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म पृथिवीकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म पृथिवीकायिक अपर्याप्त, अप्कायिक, बादर अप्कायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, बादर अप्कायिक पर्याप्त, बादर अप्कायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त, सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त, तेजकायिक, बादर तेजकायिक, सूक्ष्म तेजकायिक, बादर तेजकायिक पर्याप्त,

(१) केवलिया स०।

पज्जत्तापज्जत्त-पंचमण०पंचवचि०[वेउव्वियकायजोगि] वेउव्वियमिस्स०इत्थिवेद-पुरिस० विभंग०आभिणिवोहिय०सुद०ओहि०संजदासंजद-चक्खुदंसण-ओहिदंसण-तेउ-पम्म-सुक्कलेस्सा०[सम्मा०]खइयसम्मा०वेदग०उवसम०सासण०सम्मामि०सण्णि त्ति वत्तव्वं।

§ ३८२. मणुस्सपज्जत्त-मणुसिणीसु पेज्जदोसविहत्तिया केत्तिया ? संखेज्जा। सव्वट्ठ० देवाणमेवं चेव। एवमाहार०आहारमिस्स०अवगद०मणपज्जव०संजद०सामाइय०छेदो-वट्ठावण०परिहार०सुहुमसांपराइएत्ति वत्तव्वं। एवं परिमाणं समत्तं।

वादर तेजकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म तेजकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म तेजकायिक अपर्याप्त, वायुकायिक, वादर वायुकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, वादर वायुकायिक पर्याप्त, वादर वायुकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त, पांचों मनोयोगी, पांचों वचनयोगी, वैक्रियिककाययोगी, वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, विभंगज्ञानी, आभिनि-वोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, संयतासंयत, चक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, तेजोलेश्या-वाले, पद्मलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावाले, सामान्य सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्-दृष्टि, औपशमिक सम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संज्ञी जीवोंमें इसी प्रकार कथन करना चाहिये। अर्थात् इनमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव असंख्यात हैं।

§ ३८२. मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनियोंमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव कितने हैं ? संख्यात हैं। सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें भी इसीप्रकार अर्थात् संख्यात जानने चाहिये। इसीप्रकार आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, अपगतवेदी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत, सामायिक-संयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, और सूक्ष्मसांपरायिक संयतोंमें भी कथन करना चाहिये। अर्थात् इन ऊपर कहे गये स्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव संख्यात होते हैं। इस प्रकार परिमाणानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

विशेषार्थ–परिमाणानुयोगद्वारमें पेज्ज और दोषसे युक्त जीवोंकी संख्या बतलाई गई है। जिसकी प्ररूपणा ओघ और आदेशके भेदसे दो प्रकारकी है। ओघप्ररूपणामें पेज्ज और दोषसे युक्त समस्त जीवराशिका प्रमाण अनन्त बतलाया है। तथा जिन मार्गणाओंमें जीवोंकी संख्या अनन्त है पेज्ज और दोषकी अपेक्षा उनकी प्ररूपणाको भी ओघके समान कहा है। शेष मार्गणास्थानोंमें पेज्ज और दोषसे युक्त जीवोंकी संख्याकी प्ररूपणाका पृथक् निर्देश किया है। इनमेंसे जिन मार्गणास्थानोंमें असंख्यात जीव हैं उनमें पेज्ज और दोषभावकी अपेक्षा भी उनकी संख्या असंख्यात कही है और जिन मार्गणास्थानोंमें संख्यात जीव हैं उनमें पेज्ज और दोषभावकी अपेक्षा उन जीवोंकी संख्या संख्यात कही है। असंख्यात और संख्यातवाली मार्गणाओंके नाम ऊपर दिये गये हैं।

§ ३८०. परिमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो–ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्ज-दोसविहत्तिया केत्तिया[1] ? अणंता। एवं तिरिक्खा, सव्वएइंदिय-वणप्फदि० णिगोद० बादर-सुहुमपज्जत्तापज्जत्त-कायजोगि-ओरालिय० ओरालियमिस्स० कम्मइय० णवुंस० कोह-माण-माया-लोहक० मदि-सुदअण्णाणि-असंजद० अचक्खुदंसण० तिण्णिलेस्सा-भवसिद्धि० अभवसिद्धि० मिच्छादिट्ठि-असण्णि-आहार-अणाहारएत्ति वत्तव्वं।

§ ३८१. आदेसेण णिरयगईए णेरइएसु पेज्ज-दोसविहत्तिया केत्तिया? असंखेज्जा। एवं सत्तसु पुढवीसु। पंचिंदियतिरिक्ख-पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्तापज्जत्त-जोणिणिय-मणुस्स-मणुस्सअपज्जत्त-देवा भवणवासियादि जाव अवराइदंता सव्वविगलिंदिय-पंचिंदिय [पंचिंदियपज्जत्तापज्जत्त] तस-तसपज्जत्तापज्जत्त-चत्तारिकसाय (-रिकाय) बादरसुहुम०

§ ३८०. परिमाणानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेश-निर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्ज और दोषसे युक्त जीव कितने हैं? अनन्त हैं। इसीप्रकार तिर्यंच सामान्य, सभी एकेन्द्रिय, वनस्पतिकायिक, निगोद जीव, बादर वनस्पतिकायिक, सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, बादर निगोद जीव, सूक्ष्मनिगोद जीव, बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त, बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिकपर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, बादर निगोद पर्याप्त, बादर निगोद अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद पर्याप्त, सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त, सामान्य काययोगी, औदारिककाययोगी, औदारिकमिश्रकाययोगी, कार्मणकाययोगी, नपुंसकवेदी, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, असंयत, अचक्षुदर्शनी, कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावाले, कपोतलेश्यावाले, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि, असंज्ञी, आहारक और अनाहारक इनमें भी कहना चाहिये। अर्थात् उपर्युक्त स्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्जरूप और दोषरूप जीव अनन्त हैं।

§ ३८१. आदेशनिर्देशकी अपेक्षा नरकगतिमें नारकियोंमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव कितने हैं? असंख्यात हैं। इसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें कथन करना चाहिये। पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच, योनिमती तिर्यंच, सामान्य मनुष्य, अपर्याप्त मनुष्य, भवनवासियोंसे लेकर अपराजित विमान तक प्रत्येक स्थानके देव, पर्याप्त और अपर्याप्त सभी विकलेन्द्रिय, सामान्य पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, समान्य त्रस, त्रस पर्याप्त, त्रस अपर्याप्त, पृथिवीकायिक, बादर पृथिवीकायिक, सूक्ष्म पृथिवीकायिक, बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, बादर पृथिवीकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म पृथिवीकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म पृथिवीकायिक अपर्याप्त, अप्कायिक, बादर अप्कायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, बादर अप्कायिक पर्याप्त, बादर अप्कायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त, सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त, तेजकायिक, बादर तेजकायिक, सूक्ष्म तेजकायिक, बादर तेजकायिक पर्याप्त,

(१) केवलिया स०।

पज्जत्तापज्जत्त-पंचमण०पंचवचि०[वेउव्वियकायजोगि] वेउव्वियमिस्स०इत्थिवेद-पुरिस० विभंग०आभिणिबोहिय०सुद०ओहि०संजदासंजद-चक्खुदंसण-ओहिदंसण-तेउ-पम्म-सुक्कलेस्सा०[सम्मा०]खइयसम्मा०वेदग०उवसम०सासण०सम्मामि०सण्णि त्ति वत्तव्वं।

§ ३८२. मणुस्सपज्जत्त-मणुसिणीसु पेज्जदोसविहत्तिया केत्तिया ? संखेज्जा। सव्वट्ठ० देवाणमेवं चेव। एवमाहार०आहारमिस्स०अवगद०मणपज्जव०संजद०सामाइय०छेदो-वट्ठावण०परिहार०सुहुमसांपराइएत्ति वत्तव्वं। एवं परिमाणं समत्तं।

बादर तेजकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म तेजकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म तेजकायिक अपर्याप्त, वायुकायिक, बादर वायुकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, बादर वायुकायिक पर्याप्त, बादर वायुकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त, पांचों मनोयोगी, पांचों वचनयोगी, वैक्रियिककाययोगी, वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, विभंगज्ञानी, आभिनि-बोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, संयतासंयत, चक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, तेजोलेश्या-वाले, पद्मलेश्यावाले, शुक्लेश्यावाले, सामान्य सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्-दृष्टि, औपशमिक सम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संज्ञी जीवोंमें इसी प्रकार कथन करना चाहिये। अर्थात् इनमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव असंख्यात हैं।

§ ३८२. मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनियोंमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव कितने हैं ? संख्यात हैं। सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें भी इसीप्रकार अर्थात् संख्यात जानने चाहिये। इसीप्रकार आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, अपगतवेदी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत, सामायिक-संयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, और सूक्ष्मसांपरायिक संयतोंमें भी कथन करना चाहिये। अर्थात् इन ऊपर कहे गये स्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें पेज्ज और दोषसे विभक्त जीव संख्यात होते हैं। इस प्रकार परिमाणानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—परिमाणानुयोगद्वारमें पेज्ज और दोषसे युक्त जीवोंकी संख्या बतलाई गई है। जिसकी प्ररूपणा ओघ और आदेशके भेदसे दो प्रकारकी है। ओघप्ररूपणामें पेज्ज और दोषसे युक्त समस्त जीवराशिका प्रमाण अनन्त बतलाया है। तथा जिन मार्गणास्थानोंमें जीवोंकी संख्या अनन्त है पेज्ज और दोषकी अपेक्षा उनकी प्ररूपणाको भी ओघके समान कहा है। शेष मार्गणास्थानोंमें पेज्ज और दोषसे युक्त जीवोंकी संख्याकी प्ररूपणाको आदेश-निर्देश कहा है। इनमेंसे जिन मार्गणास्थानोंमें असंख्यात जीव हैं उनमें पेज्ज और दोष-भावकी अपेक्षा भी उनकी संख्या असंख्यात कही है और जिन मार्गणास्थानोंमें संख्यात जीव हैं उनमें पेज्ज और दोषभावकी अपेक्षा उन जीवोंकी संख्या संख्यात कही है। अनन्तादि संख्यावाली मार्गणाओंके नाम ऊपर दिये गये हैं।

§ ३८४. फोसणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो-ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्ज-दोसविहत्तिएहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? सव्वलोगो। एवं सव्वासिमणंतरासीणं वत्तव्वं। चत्तारिकाय०बादर०तेसिमपज्जत्त-सव्वसुहुम०तेसिं पज्जत्तापज्जत्त०बादरवणप्फदि०पत्तेय०

मान क्षेत्रका विचार क्षेत्रानुयोगद्वारमें किया जाता है। परन्तु यहां पर जीवोंके क्षेत्रका विचार करते समय स्वस्थानस्वस्थान आदि अवस्थाओंकी अपेक्षा उसका कथन नहीं किया है। किन्तु समस्त जीवराशिका अधिकसे अधिक वर्तमान क्षेत्र कितना है और मार्गणा-विशेषकी अपेक्षा उस उस मार्गणामें स्थित जीवराशिका अधिकसे अधिक वर्तमान क्षेत्र कितना है इसका ही प्रकृत अनुयोगद्वारमें कथन किया है जो ऊपर बतलाया ही है। यद्यपि यह उत्कृष्ट क्षेत्र किसी अवस्थाविशेषकी अपेक्षा ही घटित होगा पर यहां इसकी विवक्षा नहीं की गई है। अब यदि अवस्थाओंकी अपेक्षा जीवोंके वर्तमान क्षेत्रका विचार करें तो वह इसप्रकार प्राप्त होता है। प्रकृतमें पेज्ज और दोषका अधिकार है अतः पेज्ज और दोषके साथ केवलिसमुद्घात नहीं पाया जाता, क्योंकि वह क्षीणपेज्जदोषवाले जीवके ही होता है, शेष नौ अवस्थाएं पाई जाती हैं। अतः ओघकी अपेक्षा इन नौ अवस्थाओंमेंसे स्वस्थानस्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात और उपपादकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंका वर्तमान क्षेत्र सर्व लोक है तथा शेष चार अवस्थाओंकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवां भाग वर्तमान क्षेत्र है। इसीप्रकार जिन जिन मार्गणाओंमें अनन्त जीव बताये हैं उनका तथा पृथिवीकायिक आदि ऊपर कही हुई कुछ असंख्यात संख्यावाली राशियोंका वर्तमान क्षेत्र भी सर्वलोक होता है। परन्तु यह सर्वलोक क्षेत्र उन उन मार्गणाओंमें संभव सभी अवस्थाओंकी अपेक्षा न हो कर कुछ अवस्थाओंकी अपेक्षा ही होता है, क्योंकि कुछ अवस्थाओंकी अपेक्षा वर्तमान क्षेत्र लोकका असंख्यातवां भाग ही है। इनके अतिरिक्त संख्यात और असंख्यात संख्यावाली शेष सभी मार्गणाओंमें पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंका वहां संभव सभी अवस्थाओंकी अपेक्षा वर्तमान क्षेत्र लोकका असं-ख्यातवां भाग है। केवल स्वस्थानस्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा वायुकायिक पर्याप्त जीव इसके अपवाद हैं। क्योंकि इन अवस्थाओंकी अपेक्षा उनका वर्तमान क्षेत्र लोकका संख्यातवां भाग है।

इस प्रकार क्षेत्रानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३८४. स्पर्शनानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है-ओघनिर्देश और आदेश-निर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है? समस्त लोकका स्पर्श किया है। ऊपर जिन अनन्त राशियोंका समस्त लोक क्षेत्र कह आये हैं उन सबका स्पर्शन भी ओघप्ररूपणाके समान सर्व लोक कहना चाहिये। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंका, बादर पृथिवीकायिक,

णिगोदजीवपडिट्टिद० तेसिमपज्जत्ताणं च ओघभंगो।

§ ३८५. आदेसेण णिरयगईए णेरइएहि पेज्जदोसविहत्तिएहि केवडियं खेत्तं पोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, छ चोद्दसभागा वा देसूणा। पढमाए खेत्तभंगो। विदियादि जाव सत्तमि त्ति पेज्जदोसविहत्तिएहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, एक्क वे तिण्णि चत्तारि पंच छ चोद्दसभागा वा देसूणा। पंचिंदियतिरिक्ख-पंचिंदिय-

वादर जलकायिक, वादर अग्निकायिक और वादर वायुकायिक जीवोंका तथा इन चार प्रकारके वादरोंके अपर्याप्त जीवोंका, तथा पृथिवीकायिक आदि समस्त सूक्ष्म जीवोंका तथा इनके पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका, वादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर और वादर निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर जीवोंका तथा इन दोनोंके अपर्याप्त जीवोंका ओघप्ररूपणाके समान सर्व लोक स्पर्शन जानना चाहिये।

विशेषार्थ—स्पर्शनानुयोगद्वारमें अतीत और वर्तमानकालीन क्षेत्रका विचार किया जाता है। भविष्यत्कालीन क्षेत्र अतीतकालीन क्षेत्रसे भिन्न नहीं होता है इसलिये उसका एक तो स्वतन्त्र कथन नहीं किया जाता और कदाचित् भविष्यत्कालीन क्षेत्रका उल्लेख भी कर दें तो भी उससे क्षेत्रमें कोई न्यूनाधिकता नहीं आती है। तात्पर्य यह है कि जहां जितना अतीतकालीन क्षेत्र है वहां भविष्यत्कालीन क्षेत्र भी उतना ही है न्यूनाधिक नहीं, इसलिये सर्वत्र उसका स्वतन्त्र कथन नहीं किया जाता है। स्पर्शनका कथन भी स्वस्थानस्वस्थान आदि दश अवस्थाओंकी अपेक्षासे किया जाता है। पर प्रकृतमें उन अवस्थाओंकी विवक्षा न करके समस्त जीवराशिका और प्रत्येक मार्गणामें स्थित जीवराशिका अधिकसे अधिक वर्तमान और अतीत कालीन स्पर्शन कितना है इसका उल्लेख किया है। ऊपर वे जीवराशियां वतलाई गई हैं जिनका वर्तमान और अतीत दोनों स्पर्शन सर्वलोक वन जाते हैं। पर अवस्थाविशेषकी अपेक्षा विचार करने पर इन उपर्युक्त राशियोंका वर्तमानकालीन और अतीतकालीन स्पर्शन कम है इसका निर्देश जीवट्ठाण आदिमें किया है इसलिये वहांसे जान लेना चाहिये। यद्यपि यहां पेज्ज और दोपकी अपेक्षा स्पर्शनका विचार किया गया है पर इतने मात्रसे इसमें कोई अन्तर नहीं आता है।

§ ३८५. आदेशनिर्देशकी अपेक्षा नरकगतिमें पेज्जवाले और दोपवाले नारकियोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है? लोकके असंख्यातवें भाग वा त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। पहली पृथिवीमें नारकियोंका स्पर्श क्षेत्रप्ररूपणाके समान लोकका असंख्यातवां भाग जानना चाहिये। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवीतकके पेज्जवाले और दोपवाले नारकियोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है? लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका वा त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम एक भाग, दो भाग, तीन भाग, चार भाग, पांच भाग और छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है।

तिरिक्खपज्जत्त-पंचिंदियतिरिक्खजोणिणी-पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्तएसु पेज्ज-दोसविहत्तिएहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो सव्वलोगो वा। एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मणुसअपज्जत्त-सव्वविगलिंदिय-पंचिंदिय-तस०तेसिमपज्जत्त०बादरपुढवि०आउ०तेउ०वणप्फदिपत्तेय०णिगोदपडिट्ठिद०पज्जात्ताणं च वत्तव्वं। बादरवाउपज्जत्त० लोगस्स संखेज्जदिभागो सव्वलोगो वा।

§ ३८६. देवगदीए देवेसु पेज्जदोसविहत्तिएहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, अट्ठ णव चोद्दसभागा वा देसूणा। एवं भवणवासियादि जाव सोहम्मीसाणेत्ति वत्तव्वं। णवरि, भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसियाणं अद्धुट्ठ अट्ठ णव चोद्दसभागा

विशेषार्थ—यहां सामान्य नारकी और सातों नरकके नारकियोंका वर्तमानकालीन और अतीतकालीन स्पर्श बतलाया है। ऊपर जो लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्श कहा है वह सर्वत्र वर्तमानकालीन स्पर्श जानना चाहिये। यद्यपि विहारवत्स्वस्थान आदि कुछ अवस्थाओंकी अपेक्षा अतीतकालीन स्पर्श भी लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण होता है पर यहां अवस्थाविशेषोंकी अपेक्षा प्ररूपणाकी मुख्यता नहीं है। तथा ऊपर त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग और एक भाग, दो भाग आदि रूप जो स्पर्श कहा है वह क्रमसे सामान्य नारकी और दूसरी, तीसरी आदि पृथिवियोंके नारकियोंका अतीतकालीन स्पर्श जानना चाहिये। पहली पृथिवीमें दोनों प्रकारका स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग है। अवस्थाविशेषोंकी अपेक्षा कहां कितना वर्तमान कालीन स्पर्श है और कहां कितना अतीतकालीन स्पर्श है यह अन्यत्रसे जान लेना चाहिये।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती और पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तकोंमें पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है? लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और सर्व लोक क्षेत्रका स्पर्श किया है। इसीप्रकार मनुष्य पर्याप्त और योनिमती मनुष्योंके तथा लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य और सभी विकलेन्द्रिय, जीवोंके, तथा पंचेन्द्रिय और त्रस तथा इन दोनोंके अपर्याप्त जीवोंके तथा बादर पृथिवी कायिक पर्याप्त, बादर जलकायिक पर्याप्त, बादर अग्निकायिक पर्याप्त, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्त और निगोदप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर पर्याप्त जीवोंके स्पर्श कहना चाहिये। बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवोंने लोकका संख्यातवां भाग और सर्व लोक स्पर्श किया है।

§ ३८६. देवगतिमें देवोंमें पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है? लोकके असंख्यातवें भाग और त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग और नौ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। इसीप्रकार भवनवासियोंसे लेकर सौधर्म और ऐशान स्वर्गतकके देवोंके स्पर्शका कथन करना चाहिये। इतनी विशेषता है कि भवनवासी, व्यन्तर

(१) तिरि० पज्जत्तापज्जत्तएं अ०।

वा देसूणा। सणक्कुमारादि जाव सहस्सारेत्ति अदीदेण अट्ठ चोद्दसभागा वा देसूणा, वट्टमाणेण लोगस्स असंखेज्जदिभागो। आणद-पाणद-आरण-अच्चुद० लोगस्स असंखेज्जदिभागो, छ चोद्दसभागा वा देसूणा। णवगेवज्जादि जाव सव्वट्ठेत्ति खेत्तभंगो।

और ज्योतिषी देवोंका स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम साढ़े तीन भाग, आठ भाग और नौ भाग प्रमाण है। सानत्कुमार स्वर्गसे लेकर सहस्रारस्वर्ग तकके देवोंने अतीत कालकी अपेक्षा त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। और वर्तमान कालकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंने लोकके असंख्यातवें भाग और त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। तथा नौ ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धितकके देवोंका स्पर्श क्षेत्रके समान है।

विशेषार्थ–सर्वत्र देवोंका वर्तमानकालीन स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है। कुछ ऐसी अवस्थाएं हैं जिनकी अपेक्षा देवोंका अतीतकालीन स्पर्श भी लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है पर उसकी यहां पर विवक्षा नहीं की अथवा 'वा' शब्दके द्वारा उसका समुच्चय किया है। और अतीतकालीन स्पर्श जहां जितना है उसे अलगसे कह दिया है। सामान्य देवोंका और सौधर्म ऐशान स्वर्ग तकके देवोंका अतीतकालीन स्पर्श जो त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग और नौ भाग कहा है उसका कारण यह है कि विहारवत्स्वस्थान वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातकी अपेक्षा देवोंका अतीतकालीन स्पर्श त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग बन जाता है पर मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा देवोंने अतीत कालमें त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम नौ भाग क्षेत्रका ही स्पर्श किया है अधिकका नहीं, क्योंकि देव एकेन्द्रियोंमें जो मारणान्तिक समुद्घात करते हैं वह ऊपरकी ओर ही करते हैं जो कि तीसरे नरकसे ऊपर तक त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम नौ भागमात्र ही होता है। इसी विशेषता को बतलानेके लिये उक्त देवोंका अतीत कालीन स्पर्श दो प्रकारसे कहा है। तथा भवनत्रिकका अतीत कालीन स्पर्श त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे साढ़े तीन राजु और कहा है। इसका यह कारण है कि भवनत्रिक स्वतः नीचे तीसरे नरक तक और ऊपर सौधर्म ऐशान स्वर्ग तक ही विहार कर सकते हैं इसके आगे उनका विहार परके निमित्तसे ही हो सकता है। इस विशेषताको बतलानेके लिये भवनत्रिकका अतीतकालीन स्पर्श तीन प्रकारसे कहा है। नौग्रैवेयकसे लेकर सभी देवोंका अतीतकालीन स्पर्श भी लोकका असंख्यातवां भाग है, क्योंकि यद्यपि उन्होंने सर्वार्थसिद्धितकके क्षेत्रका स्पर्श किया है पर उन देवोंका प्रमाण स्वल्प है अतः उनके द्वारा स्पर्श किये गये समस्त क्षेत्रका जोड़ लोकका असंख्यातवां भाग ही होता है, अधिक नहीं।

§ ३८७. पंचिंदिय-तसपज्जत्तएहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, अट्ठ चोद्दसभागा वा देसूणा सव्वलोगो वा। एवं पंचमणजोगि-पंचवचिजोगि-इत्थि-पुरिसवेद-विभंगणाणि-चक्खुदंसण-सण्णि त्ति वत्तव्वं।

§ ३८८. वेउव्वियकायजोगीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, अट्ठ तेरस चोद्दसभागा वा देसूणा। तिरिक्ख-मणुससंबंधिवेउव्वियमेत्थ ण गहिदं। तं कधं णव्वदे ? सव्वलोगो त्ति णिद्देसाभावादो।

---

§ ३८७. पंचेन्द्रियपर्याप्त और त्रस पर्याप्त जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है ? लोकके असंख्यातवें भाग, त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग और सर्व लोक क्षेत्रका स्पर्श किया है। इसीप्रकार पांचों मनोयोगी, पांचों वचनयोगी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, विभंगज्ञानी, चक्षुदर्शनी और संज्ञी जीवोंका स्पर्श कहना चाहिये।

विशेषार्थ—उक्त जीवोंका सर्वत्र वर्तमानकालीन स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग है। तथा कुछ ऐसी अवस्थाएं हैं जिनकी अपेक्षा अतीत कालीन स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग है पर उसके यहां कहनेकी विवक्षा नहीं की या 'वा' शब्दके द्वारा उसका समुच्चय कर लिया है। मारणान्तिक और उपपादपद परिणत उक्त जीव ही त्रसनालीके बाहर पाये जाते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये उक्त जीवोंका अतीतकालीन स्पर्श दो प्रकारसे कहा है।

§ ३८८. वैक्रियिककाययोगी जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है ? लोकके असंख्यातवें भाग तथा त्रस नालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग और तेरह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। यहां पर तिर्यंच और मनुष्यसम्बन्धी वैक्रियिकका ग्रहण नहीं किया है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि यहां पर वैक्रियिककाययोगकी अपेक्षा समस्त लोक प्रमाण स्पर्शका निर्देश नहीं किया है इससे जाना जाता है कि यहां तिर्यंच और मनुष्यसम्बन्धी वैक्रियिकका ग्रहण नहीं किया है।

विशेषार्थ—वैक्रियिककाययोगी जीवोंका वर्तमानकालीन स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग ही है। स्वस्थानस्वस्थानपदकी अपेक्षा अतीतकालीन स्पर्श भी लोकका असंख्यातवां भाग होता है पर उसके कहनेकी यहां विवक्षा नहीं है या 'वा' शब्दके द्वारा उसका समुच्चय कर लिया है। वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे जिन्हें वैक्रियिकशरीर प्राप्त है उनका मारणान्तिक समुद्घात त्रसनालीके भीतर मध्य लोकसे नीचे छह राजु और ऊपर सात राजु क्षेत्रमें ही होता है इस बातका ज्ञान करानेके लिये यहां अतीतकालीन स्पर्श दो प्रकारसे कहा है। यद्यपि मनुष्य और तिर्यंच भी विक्रिया करते हैं और यदि यहां इनकी विक्रियाकी अपेक्षा स्पर्श कहा जाय तो विक्रिया प्राप्त मनुष्य और तिर्यंचोंके मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा अतीतकालमें सर्व लोक स्पर्श हो सकता है पर यहां इसका

§ ३८९. वेउव्वियमिस्स०आहार०आहारमिस्स०अवगद०मणपज्जव०संजद०सामाइ० छेदोवट्ठा०परिहारविसुद्धि०सुहुम०संजदाणं खेत्तभंगो। आभिणिवोहिय-सुद-ओहिणाणीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो अट्ठ चोद्दसभागा वा देसूणा। एवमोहिदंसण-खइय०सम्मादिट्ठि-वेदग०उवसम०सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति वत्तव्वं। एवं सासणसम्मादिट्ठीणं। णवरि, वारह चोद्दसभागा वा देसूणा। संजदासंजदाणं छ चोद्दसभागा वा देसूणा। एवं फोसणं समत्तं।

संग्रह नहीं किया गया है, यह इसीसे स्पष्ट है कि यहां वैक्रियिककाययोगी जीवोंका अतीत कालीन स्पर्श सर्व लोक नहीं कहा है।

§ ३८९. वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, अपगतवेदी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत, सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत और सूक्ष्मसांपरायिकसंयत जीवोंका स्पर्श इनके क्षेत्रके समान है। अर्थात् इनका क्षेत्र जिसप्रकार लोकका असंख्यातवां भाग है उसीप्रकार स्पर्श भी लोकका असंख्यातवां भाग है। लोकके असंख्यातवें भाग सामान्यकी अपेक्षा दोनोंमें कोई भेद नहीं है, अतः उक्त मार्गणाओंका स्पर्श क्षेत्रके समान कहा है।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है ? लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। इसी प्रकार अवधिदर्शनी, सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, औपशमिक सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंका स्पर्श कहना चाहिये। तथा इसीप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका भी स्पर्श कहना चाहिये। पर इतनी विशेषता है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम वारह भाग क्षेत्रका भी स्पर्श किया है। तथा संयतासंयतोंका त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है।

विशेषार्थ–उपर्युक्त सभी मार्गणाओंमें वर्तमानकालीन स्पर्श लोकका असंख्यातवां भाग है। यद्यपि यहां संयतासंयतोंका वर्तमानकालीन स्पर्श नहीं कहा है पर वह प्रकरणसे लोकका असंख्यातवां भाग जान लेना चाहिये। अतीतकालीन स्पर्शमें जो विशेषता है वह ऊपर कही ही है। सासादन सम्यग्दृष्टि देव मारणांतिक समुद्घात करते हुए भवनवासी देवोंके निवासस्थानके मूल भागसे ऊपर ही समुद्घात करते हैं और छठी पृथिवी तकके सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी मनुष्य और तिर्यंचोंमें मारणान्तिक समुद्घात करते हैं इस विशेषताके वतलानेके लिये सासादनसम्यग्दृष्टियोंका अतीतकालीन स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम वारह भाग भी कहा है।

इसप्रकार स्पर्शनानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३९०. कालाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्जदोस-विहत्तिया केवचिरं कालादो होंति? सव्वद्धा। एवं जाव अणाहारएत्ति वत्तव्वं। णवरि मणुसअपज्जत्ताणं जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। एवं वेउव्वियमिस्स०सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छादिट्ठि-उवसमसम्मादिट्ठीणं वत्तव्वं। आहार० आहारमिस्स० जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। एवं अवगद०सुहुमसांपराइ-याणं वत्तव्वं। एवं कालो समत्तो।

§ ३९०. कालानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीव कितने कालतक पाये जाते हैं? सर्व कालमें पाये जाते हैं। इसीप्रकार अनाहारक मार्गणातक कथन करना चाहिये। इतनी विशेषता है कि पेज्ज और दोषकी अपेक्षा मनुष्य अपर्याप्तकोंका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण है। मनुष्य अपर्याप्तकोंके समान वैक्रियिक-मिश्रकाययोगी, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और उपशमसम्यग्दृष्टि जीवोंके कालका कथन करना चाहिये। आहारककाययोगी और आहारकमिश्रकाययोगी जीवोंका पेज्ज और दोषकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसीप्रकार अपगतवेदी और सूक्ष्मसाम्परायिक संयतोंके कालका कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ–इस अनुयोगद्वारमें नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्ज और दोषविभक्तिवाले जीवोंके कालका विचार किया गया है। सामान्यरूपसे पेज्ज और दोषसे युक्त जीव सर्वदा ही पाये जाते हैं इसलिये इनका ऊपर सर्व काल कहा है। तथा सान्तरमार्गणाओं और सकषायी अपगतवेदी जीवोंको छोड़ कर सकषायी शेष मार्गणावाले जीव भी सर्वदा पाये जाते हैं इसलिये इनका काल भी ओघके समान है। शेष रहीं सान्तर मार्गणाओंमें स्थित जीवोंके कालमें और सकषायी अपगतवेदी जीवोंके कालमें विशेषता है, इसलिये उसे विशेषरूपसे अलग बताया है। जिनके पेज्ज या दोषमें एक समय शेष रह गया है ऐसे नाना जीव मर कर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंमें उत्पन्न हुए और वहां वे एक समय तक पेज्ज या दोषके साथ रहे, द्वितीय समयमें उनके पेज्ज और दोषरूप कषाय बदल गई। ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय बन जाता है। अथवा जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पेज्ज और दोषके साथ एक समय तक रहे और द्वितीय समयमें मर कर अन्य गतिको प्राप्त हो जाते हैं उनके भी पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय बन जाता है। इसीप्रकार वैक्रियिकमिश्रकाययोगमें भी एक समयसम्बन्धी कालकी प्ररूपणा कर लेना चाहिये। जिनके पेज्ज और दोषके कालमें एक समय शेष है ऐसे बहुतसे उपशम-सम्यग्दृष्टि जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होते हैं तब सासादनसम्यग्दृष्टियोंके पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय बन जाता है। या सासादनके जघन्य काल एक समयकी

§ ३९१. अंतराणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण पेज्जदोसविहत्तियाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? णत्थि अंतरं। एवं जाव अणाहारएत्ति वत्तव्वं। णवरि, मणुसअपज्जत्ताणं जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। एवं सासणसम्मादिट्ठि-सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति वत्तव्वं। वेउव्वियमिस्सकायजोगीणं जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण बारस मुहुत्ता। आहारमिस्सकायजोगीणं

अपेक्षा भी पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय बन जाता है। जिनके पेज्ज या दोषके कालमें एक समय शेष है ऐसे बहुतसे सम्यग्दृष्टि जीव जब सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होते हैं तब मिश्रगुणस्थानमें पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय बन जाता है। या जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव पेज्ज और दोषके साथ एक समय रह कर द्वितीय समयमें सबके सब मिथ्यात्व या सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाते हैं उन सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंके पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंके समान उपशमसम्यग्दृष्टियोंके भी पेज्ज और दोषके जघन्य कालकी प्ररूपणा कर लेना चाहिये। जिनके पेज्ज और दोषमें एक समय शेष है ऐसे बहुतसे जीव एकसाथ आहारककाययोग या आहारकमिश्रकाययोगको प्राप्त हुए और दूसरे समयमें उनके पेज्ज या दोषभाव बदल गया ऐसे आहारककाययोगी और आहारकमिश्रकाययोगी जीवोंके पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय पाया जाता है। या जो आहारककाययोगी एक समय तक पेज्ज और दोषके साथ रहे और दूसरे समयमें उनके अन्य योग आजाता है उनके भी पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय पाया जाता है। अपगतवेदियोंमें मरणकी अपेक्षा पेज्ज और दोषका जघन्य काल एक समय होता है। उसमें भी दोषका उपशमश्रेणी चढ़नेकी अपेक्षा और पेज्जका उपशमश्रेणी चढ़ने और उतरने दोनोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय बन जाता है। उत्कृष्ट काल उन उन मार्गणाओंके उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा कहा है। अर्थात् जिस मार्गणाका जितना उत्कृष्ट काल है उस मार्गणामें उतना पेज्ज और दोषका उत्कृष्ट काल होगा, जो ऊपर कहा ही है।

इसप्रकार कालानुयोगद्वारका वर्णन समाप्त हुआ।

§ ३९१. अन्तरानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंका अन्तर काल कितना है ? नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं पाया जाता है। इसीप्रकार अनाहारक मार्गणातक कथन करना चाहिये। इतनी विशेषता है कि पेज्ज और दोषकी अपेक्षा मनुष्य अपर्याप्तकोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण है। इसीप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके अन्तरका कथन करना चाहिये। वैक्रियिकमिश्रकाययोगियोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर बारह मुहूर्त है। आहारक-

जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण वासपुधत्तं। अवगदवेदस्स पेज्जदोसविहत्तीए जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण छम्मासा। एवं सुहुमसांपराइयाणं पि वत्तव्वं। उवसमसम्मादिट्ठीणं पेज्जदोसविहत्तीए जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण चउवीस अहोरत्ताणि। एवमंतरं समत्तं।

§ ३९२. भावाणुगमेण सव्वत्थ ओदइओ भावो। एवं भावो समत्तो।

§ ३९३. अप्पाबहुआणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण सव्वत्थोवा दोसविहत्तिया, पेज्जविहत्तिया विसेसाहिया। एवं सव्वतिरिक्ख-सव्वमणुस्स-सव्वएइंदिय-सव्वविगलिंदिय-पंचिंदिय-पंचिंदियपज्जात्तापज्जात्त-तस-तसपज्जत्तापज्जत्त-पंचकाय-बादर सुहुम-पज्जत्तापज्जत्त-दोवचि०कायजोगि-ओरालिय०ओरालियमिस्स०आहार०आहारमिस्स०कम्मइय०णवुंसयवेद-मदिअण्णाण-सुदअण्णाण-मणपज्जव०

मिश्रकाययोगी जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है। पेज्ज और दोषके विभागकी अपेक्षा अपगतवेदी जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। इसीप्रकार सूक्ष्मसांपरायिक जीवोंके अन्तरका कथन करना चाहिये। पेज्ज और दोषके विभागकी अपेक्षा उपशमसम्यग्दृष्टि जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर चौवीस दिन रात है।

विशेषार्थ–यहां नाना जीवोंकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंका अन्तरकाल बताया गया है। सान्तर मार्गणाओंको और सकषायी अपगतवेदी जीवोंको छोड़कर शेष मार्गणाओंमें पेज्जवाले और दोषवाले जीव सर्वदा पाये जाते हैं इसलिये उनका अन्तरकाल नहीं पाया जाता। सान्तर मार्गणाओंका जो जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल है वही यहां उन उन मार्गणाओंकी अपेक्षा पेज्जवाले और दोषवाले जीवोंका अन्तर काल जानना चाहिये।

इसप्रकार अन्तर अनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३९२. भावानुगमकी अपेक्षा कथन करने पर सर्वत्र पेज्ज और दोषसे भेदको प्राप्त हुए जीवोंमें औदयिक भाव है। इसप्रकार भाव अनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

§ ३९३. अल्पबहुत्व अनुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है–ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। उनमेंसे ओघनिर्देशकी अपेक्षा दोषयुक्त जीव सबसे स्तोक हैं। इनसे पेज्जयुक्त जीव विशेष अधिक हैं। इसीप्रकार सभी तिर्यंच, सभी मनुष्य, सभी एकेन्द्रिय सभी विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, त्रसकायिक, त्रसकायिक पर्याप्त, त्रसकायिक अपर्याप्त, पांचों स्थावरकाय, उन्हीं पांचों स्थावरकायिक जीवोंके बादर और सूक्ष्म तथा उन्हींके पर्याप्त और अपर्याप्त, सामान्य और अनुभय ये दो वचनयोगी, काययोगी, औदारिककाययोगी, औदारिकमिश्रकाययोगी, आहारककाययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी, कार्मणकाययोगी, नपुंसकवेदी, मति अज्ञानी, श्रुताज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत,

संजद०सामाइय०छेदोवट्ठावण०परिहार०संजदासंजद-असंजद-चक्खुदंसण-अचक्खुदंसण-किण्ह-णील-काउ-पम्मलेस्सिय-भवसिद्धिय-अभवसिद्धिय-मिच्छादिट्ठि-असण्णि-आहार-अणाहारएत्ति वत्तव्वं ।

§ ३९४. आदेसेण णिरयगईए णेरइएसु सव्वत्थोवा पेज्जविहत्तिया, दोसविहत्तिया संखेज्जगुणा। एवं सत्तसु पुढवीसु। देवगदीए देवेसु सव्वत्थोवा दोसविहत्तिया; पेज्जविहत्तिया संखेज्जगुणा। एवं सव्वदेवाणं। पंचमण०तिण्णिवचि०वेउव्विय०वेउव्वियमिस्स०इत्थिवेद-पुरिसवेद-विभंगणाण-आभिणिवोहिय०सुद०ओहि०ओहिदंसण-तेउ०सुक्क०सम्मा०खइय०वेदग०उवसम०सासण०सम्मामिच्छाइट्ठि-सण्णि त्ति वत्तव्वं। एवमप्पाबहुगे समत्ते-

पेज्जदोसविहत्ती समत्ता होदि।

एवमसीदिसदगाहासु तदियगाहाए अत्थो समत्तो।



सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, संयतासंयत, असंयत, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, कृष्णलेश्यावाले नीललेश्यावाले, कापोतलेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि, असंज्ञी, आहारक और अनाहारक इनका कथन करना चाहिये। अर्थात् उक्त मार्गणाओंमें दोपविभक्त जीव सबसे थोड़े हैं और पेज्जविभक्त जीव उनसे विशेष अधिक हैं।

§ ३९४. आदेशनिर्देशकी अपेक्षा नरकगतिमें नारकियोंमें पेज्जयुक्त जीव सबसे थोड़े हैं। दोपयुक्त जीव उनसे संख्यातगुणे हैं। इसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें कथन करना चाहिये। देवगतिमें देवोंमें दोपयुक्त जीव सबसे थोड़े हैं। इनसे पेज्जयुक्त जीव संख्यातगुणे हैं। इसीप्रकार सभी देवोंमें कथन करना चाहिये। तथा पांचों मनोयोगी, सत्य, असत्य और उभय ये तीन वचनयोगी, वैक्रियिककाययोगी, वैक्रियिकमिश्रकाययोगी, स्त्रीवेदी, पुरुपवेदी, विभंगज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, अवधिदर्शनी, तेजोलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावाले, सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और संज्ञी इनका भी इसीप्रकार कथन करना चाहिये। इसप्रकार अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके समाप्त होने पर-

पेज्जदोपविभक्ति अधिकार समाप्त होता है।

इसप्रकार एकसौ अस्सी गाथाओंमेंसे तीसरी गाथाका अर्थ समाप्त हुआ।



१. पेज्जदोसविहत्तिगयगाहा-चुण्णिसुत्ताणि

[1]पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए ।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥ १ ॥

चु०सु०–[2]णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो । तं जहा, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । [3]आणुपुव्वी तिविहा । [4]णामं छव्विहं । [5]पमाणं सत्तविहं । [6]वत्तव्वदा तिविहा । [7]अत्थाहियारो पण्णारसविहो ॥ १ ॥

[8]गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि ।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥ २ ॥
[9]पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेव ।
तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥ ३ ॥
[10]चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ ।
सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥ ४ ॥
[11]दंसणमोहस्सुवसामणाए पण्णारस होंति गाहाओ ।
पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥ ५ ॥
[12]लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स ।
दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥ ६ ॥
[13]चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि ।
ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए ॥ ७ ॥
[14]चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स ।
एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण ॥ ८ ॥

---

(१) पृ० १० । (२) पृ० १३ । (३) पृ० २७ । (४) पृ० ३० । (५) पृ० ३९ । (६) पृ० ९६ । (७) पृ० १४९ । (८) पृ० १५१ । (९) पृ० १५५ । (१०) पृ० १५९ । (११) पृ० १६० । (१२) पृ० १६३ । (१३) पृ० १६४ । (१४) पृ० १६६ ।

[1]किट्टीकयवीचारे संगहणीखीणमोहपट्ठवए ।
सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥ ९ ॥
[2]संकामणओवट्टणकिट्टीखवणाए एक्कवीसं तु ।
एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ ॥१०॥
[3]पंच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य ।
चत्तारि य तिण्णि उभे पंच य एक्कं तह य छक्कं ॥११॥
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च ।
दो पंचेव य एक्का अण्णा एक्का य दस दो य ॥१२॥

(१) [4]पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय ।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेय ॥१३॥

(२) [5]सम्मत्तदेसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च ।
दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

चु०सु०–[6]अत्थाहियारो पण्णारसविहो । [7]तं जहा, पेज्जदोसे १ । [8]विहत्तिट्ठिदि-अणुभागे च २ । [9]बंधगे त्ति बंधो च ३, संकमो च ४ । [10]वेदए त्ति उदओ च ५, उदीरणा च ६ । [11]उवजोगे च ७ । चउट्ठाणे च ८ । वंजणे च ९ । सम्मत्ते त्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दंसणमोहणीयक्खवणा च ११ । [12]देसविरदी च १२ । 'संजमे उवसामणा च खवणा च' चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४ । [13]'दंसणचरित्तमोहे' त्ति पदपरिवूरणं । [14]अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५ । एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

[15]तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि । तं जहा, पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि, कसायपाहुडे त्ति वि । तत्थ अभिवाहरणणिप्पण्णं पेज्जदोसपाहुडं । [16]णयदो णिप्पण्णं कसायपाहुडं ।

[17]तत्थ पेज्जं णिक्खिवियव्वं–णामपेज्जं ट्ठवणपेज्जं दव्वपेज्जं भावपेज्जं चेदि । [18]णेगम-संगहववहारा सव्वे इच्छंति । [19]उजुसुदो ट्ठवणवज्जे । [20]सद्दणयस्स णामं भावो च । [21]णोआगमदव्वपेज्जं तिविहं–हिदं पेज्जं, सुहं पेज्जं, पियं पेज्जं । गच्छगा च सत्तभंगा । [22]एदं णेगमस्स । संगहववहाराणं उजुसुदस्स च सव्वं दव्वं पेज्जं । [23]भावपेज्जं ट्ठवणिज्जं ।

---

(१) पृ० १६८ । (२) पृ० १७० । (३) पृ० १७१ । (४) पृ० १७७ । (५) पृ० १७८ । (६) पृ० १८४ । (७) पृ० १८५ । (८) पृ० १८६ । (९) पृ० १८७ । (१०) पृ० १८८ । (११) पृ० १८९ । (१२) पृ० १९० । (१३) पृ० १९१ । (१४) पृ० १९२ । (१५) पृ० १९७ । (१६) पृ० १९९ । (१७) पृ० २५८ । (१८) पृ० २५९ । (१९) पृ० २६२ । (२०) पृ० २६४ । (२१) पृ० २७१ । (२२) पृ० २७४ । (२३) पृ० २७६ ।

दोसो[1] णिक्खिवियव्वो णामदोसो ट्ठवणदोसो दव्वदोसो भावदोसो चेदि । णेगमसंगहववहारा सव्वे णिक्खेवे इच्छंति । उजुसुदो ट्ठवणवज्जे । सद्दणयस्स[2] णामं भावो च । णोआगमदव्वदोसो[3] णाम जं दव्वं जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम । तं जहा[4], सादियाए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि । भावदोसो ट्ठवणिज्जो ।

कसाओ[5] ताव णिक्खिवियव्वो णामकसाओ ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तियकसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि । णेगमो सव्वे कसाए इच्छदि । संगहववहारा समुप्पत्तियकसायमादेसकसायं च अवणेंति । उज्जुसुदो[6] एदे च ठवणं च अवणेदि । तिण्हं[7] सद्दणयाणं णामकसाओ भावकसाओ च । णोआगमदव्वकसाओ, जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि ।

पच्चयकसाओ[8] णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो । एवं[9] माणवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो माणो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण माणो । मायावेयणीयस्स[10] कम्मस्स उदएण जीवो माया होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण माया । लोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो लोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण लोहो । एवं णेगमसंगहववहाराणं । उजुसुदस्स कोहोदयं पडुच्च जीवो कोहकसाओ । एवं[11] माणादीणं वत्तव्वं ।

समुप्पत्तियकसाओ[12] णाम, कोहो सिया जीवो सिया णोजीवो एवमट्ठभंगा । कधं ताव जीवो ? मणुस्सं[13] पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो मणुस्सो कोहो । कधं[14] ताव णोजीवो ? कट्ठं वा लेंडुं वा पडुच्च कोहो समुप्पण्णो तं कट्ठं वा लेंडुं वा कोहो । एवं जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जदि जीवं वा णोजीवं वा जीवे वा णोजीवे वा मिस्सए वा सो समुप्पत्तियकसाएण कोहो । एवं[15] माणमायालोभाणं ।

आदेसकसाएण[16] जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रुसिदो तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण । माणो[17] थद्धो लिक्खदे । माया णिगूहमाणो लिक्खदे । लोहो णिव्वाइदेण पंपागहिदो लिक्खदे । एवमेदे[18] कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम । एदं णेगमस्स ।

रसकसाओ[19] णाम कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा कसाओ । तव्वदिरित्तं[20] दव्वं दव्वाणि

(१) पृ० २७७ । (२) पृ० २७९ । (३) पृ० २८० । (४) पृ० २८२ । (५) पृ० २८३ । (६) पृ० २८४ । (७) पृ० २८५ । (८) पृ० २८७ । (९) पृ० २८९ । (१०) पृ० २९० । (११) पृ० २९२ । (१२) पृ० २९३ । (१३) पृ० २९५ । (१४) पृ० २९८ । (१५) पृ० ३०० । (१६) पृ० ३०१ । (१७) पृ० ३०२ । (१८) पृ० ३०३ । (१९) पृ० ३०४ । (२०) पृ० ३११ ।

वा णोकसाओ। एदं णेगमसंगहाणं। ववहारणयस्स कसायरसं दव्वं कसाओ तव्वदिरित्तं दव्वं णोकसाओ। कसायरसाणि दव्वाणि कसाया तव्वदिरित्ताणि दव्वाणि णोकसाया। [1]उजुसुदस्स कसायरसं दव्वं कसाओ तव्वदिरित्तं दव्वं णोकसाओ। णाणाजीवेहि परिणामियं दव्वमवत्तव्वयं। [2]णोआगमदो भावकसाओ कोहवेयओ जीवो वा जीवा वा कोहकसाओ। [3]एवं माणमायालोभाणं।

[4]एत्थ छ अणियोगद्दाराणि। किं कसाओ? [5]कस्स कसाओ? केण[6] कसाओ? [7]कम्हि कसाओ? केवचिरं कसाओ? [8]कइविहो कसाओ? [9]एत्तिए।

पाहुडं णिक्खिवियव्वं णामपाहुडं ट्ठवणपाहुडं दव्वपाहुडं भावपाहुडं चेदि। एवं चत्तारि णिक्खेवा एत्थ होंति। [10]णोआगमदो दव्वपाहुडं तिविहं। सचित्तं अचित्तं मिस्सयं च। णोआगमदो भावपाहुडं दुविहं—पसत्थमप्पसत्थं च। [11]पसत्थं जहा दोगंधियं पाहुडं। [12]अप्पसत्थं जहा कलहपाहुडं।

संपहि णिरुत्ती उच्चदे। [13]पाहुडे त्ति का णिरुत्ती? जम्हा पदेहि फुडं तम्हा पाहुडं। ॥१३-१४॥

[14]आवलिय अणायारे चक्खिंदियसोदघाणजिब्भाए।
मणवयणकायपासे अवायईहासुदुस्सासे ॥१५॥
[15]केवलदंसणणाणे कसायसुक्केक्कए पुधत्ते य।
पडिवादुवसामेंतय खवेंतए संपराए य ॥१६॥
[16]माणद्धा कोहद्धा मायद्धा तहय चेव लोहद्धा।
खुद्दभवग्गहणं पुण किट्टीकरणं च बोद्धव्वा ॥१७॥
[17]संकामणओवट्टणउवसंतकसायखीणमोहद्धा।
उवसामेंतयअद्धा खवेंतअद्धा य बोद्धव्वा ॥१८॥
[18]णिव्वाघादेणेदा होंति जहण्णाओ आणुपुव्वीए।
एत्तो अणाणुपुव्वी उक्कस्सा होंति भजियव्वा ॥१९॥
[19]चक्खू सुदं पुधत्तं माणो वाओ तहेव उवसंते।
उवसामेंत य अद्धा दुगुणा सेसा हु सविसेसा ॥२०॥

---

(१) पृ० ३१२। (२) पृ० ३१५। (३) पृ० ३१६। (४) पृ० ३१७। (५) पृ० ३१८। (६) पृ० ३१९। (७) पृ० ३२०। (८) पृ० ३२१। (९) पृ० ३२२। (१०) पृ० ३२३। (११) पृ० ३२४। (१२) पृ० ३२५। (१३) पृ० ३२६। (१४) पृ० ३३०। (१५) पृ० ३४२। (१६) पृ० ३४५। (१७) पृ० ३४७। (१८) पृ० ३४८। (१९) पृ० ३४९।

चु०सु०–[1]एत्तो सुत्तसमोदारो।

(३) पेज्जं वा[2] दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायए को कहिं वा वि ॥२१॥

चु०सु०–[3]एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा। तं जहा, णेगम-संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो, माया पेज्जं, लोहो पेज्जं। [4]ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो पेज्जं। [5]उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णोदोसो णोपेज्जं, माया णोदोसो णोपेज्जं, लोहो पेज्जं। [6]सद्दस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो दोसो, कोहो माणो माया णोपेज्जं, लोहो सिया पेज्जं।

[7]णेगमस्स दुट्ठो सिया जीवे सिया णोजीवे एवमट्ठभंगेसु। '[8]पियायदे को कहिं वा वि' त्ति एत्थ वि णेगमस्स अट्ठ भंगा। [9]एवं ववहारणयस्स। संगहस्स दुट्ठो सव्वदव्वेसु, पियायदे सव्वदव्वेसु। [10]एवमुजुसुअस्स। सद्दस्स णोसव्वदव्वेहि दुट्ठो अत्ताणे चेव अत्ताणम्मि पियायदे।

[11]णेगमस्स असंगहियस्स वत्तव्वएण बारस अणिओगद्दाराणि पेज्जेहि दोसेहि। [12]एगजीवेण सामित्तं कालो अंतरं णाणाजीवेहि भंगविचओ संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भागाभागाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो त्ति।

[13]कालजोणि सामित्तं। दोसो को होइ? [14]अण्णदरो णेरइयो वा तिरिक्खो वा मणुस्सो वा देवो वा। [15]एवं पेज्जं। कालाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। दोसो केवचिरं कालादो होदि? जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। [16]एवं पेज्जमणुगंतव्वं। [17]आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु पेज्जदोसं केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेण एगसमओ। [18]एवं सव्वाणियोगद्दाराणि अणुगंतव्वाणि ॥२१॥



(१) पृ० ३६२। (२) पृ० ३६४। (३) पृ० ३६५। (४) पृ० ३६७। (५) पृ० ३६८। (६) पृ० ३६९। (७) पृ० ३७०। (८) पृ० ३७१। (९) पृ० ३७२। (१०) पृ० ३७४। (११) पृ० ३७६। (१२) पृ० ३७७। (१३) पृ० ३८२। (१४) पृ० ३८४। (१५) पृ० ३८५। (१६) पृ० ३८७। (१७) पृ० ३८८। (१८) पृ० ३८९।

२. कषायप्राभृतगाथानुक्रमणिका



३. अवतरणसूची



४. ऐतिहासिक नामसूची



५. भौगोलिक नामसूची



६. ग्रन्थनामोल्लेख



७. गाथा-चूर्णिसूत्रगतशब्दसूची

(१) सर्वत्र स्थूल संख्यांक गाथागत शब्दोंके और सूक्ष्म संख्यांक चूर्णिसूत्रगत शब्दोंके पृष्ठके सूचक हैं। जिस शब्दको काले टाईप में दिया है उसकी व्युत्पत्ति या परिभाषा चूर्णिसूत्रमें आई है।

८. जयधवलागतविशेषशब्दसूची[1]

(१) यहां ऐसे शब्दोंका ही संग्रह किया है जिनके विषयमें ग्रन्थमें कुछ कहा है या जो संग्रहकी दृष्टिसे आवश्यक समझे गये। चौदह मार्गणाओं या उनके अवान्तर भेदोंके नाम अनुयोगद्वारोंमें पुनः पुनः आये हैं, अतः यहां उनका संग्रह नहीं किया है। जिस पृष्ठ पर जिस शब्दका लक्षण, परिभाषा या व्युत्पत्ति पाई जाती है उस पृष्ठके अंकको बड़े टाईपमें दिया है।

स० प्रतिके कुछ अन्य पाठान्तर

पृष्ठ	पं०	मुद्रित	पाठान्तर
३२	१	संवंवणिवंधणत्तादो ।	विवक्खाणिवंधणत्तादो ।
४७	२	अद्दव्वे	अदव्वे
८३	५	परिवादिकरण	परिवादीकरण-
१२०	१	गोयरविहिं	गोयारविहिं
१२६	१	–कहाणं सव्वं	–कहणसव्वं
१५७	२	तदणु [व] वत्तीदो ।	तदणुववत्तीदो ।
१६४	४	जह तत्थ	जहा तत्थ

